संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

द्वादश-खण्ड

जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन

प्रधान सम्पादक

स्व. पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय

प्रो. श्रीनिवास रथ

सम्पादक

प्रो. फूलचन्द्र जैन प्रेमी

प्रो. रामशंकर त्रिपाठी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

द्वादश-खण्ड

जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन

प्रवर प्रधान सम्पादक

पुण्यश्लोक पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

प्रधान सम्पादक

आचार्य श्रीनिवास रथ

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
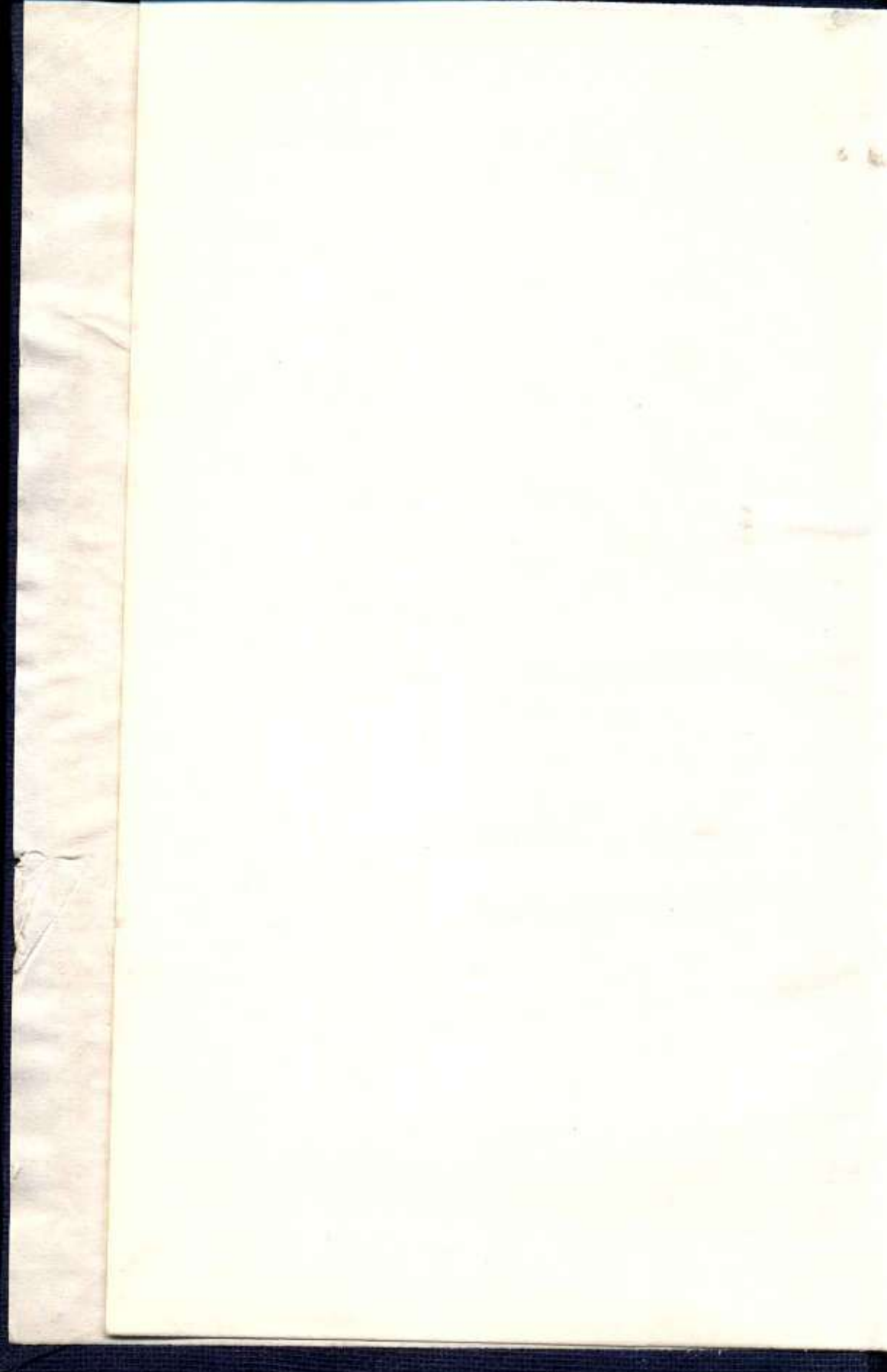
लखनऊ

संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

द्वादश-खण्ड

जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन

प्रवर प्रधान सम्पादक

पुण्यश्लोक पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

प्रधान सम्पादक

आचार्य श्रीनिवास रथ

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

प्रकाशक :

राजकिशोरयादवः

निदेशक :

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ

प्राप्ति स्थान :

विक्रय विभाग :

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, नया हैदराबाद,

लखनऊ-२२६ ००७

फोन : २७८०२५१, फैक्स : २७८१३५२

ई-मेल : **nideshak@upsansthanam.org**

प्रथम संस्करण :

वि.सं. २०६४ (२००७ ई.)

प्रतियाँ : ११००

मूल्य : ३६०.००/- (तीन सौ साठ रुपये)

मुद्रक : शिवम् आर्ट्स, निशातगंज, लखनऊ। दूरभाष : २७८२३४८, २७८२१७२

संस्कृत-वाङ्मय-बृहदितिहासं परिभाषिताष्टादशाश्वासम्।
मनसि विभाव्याकलितोपायाः श्रीयुतबलदेवोपाध्यायाः।।

प्रवर प्रधान सम्पादक

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

(संवत् १९५६-२०५६ : १८९९-१९९९ ई.)
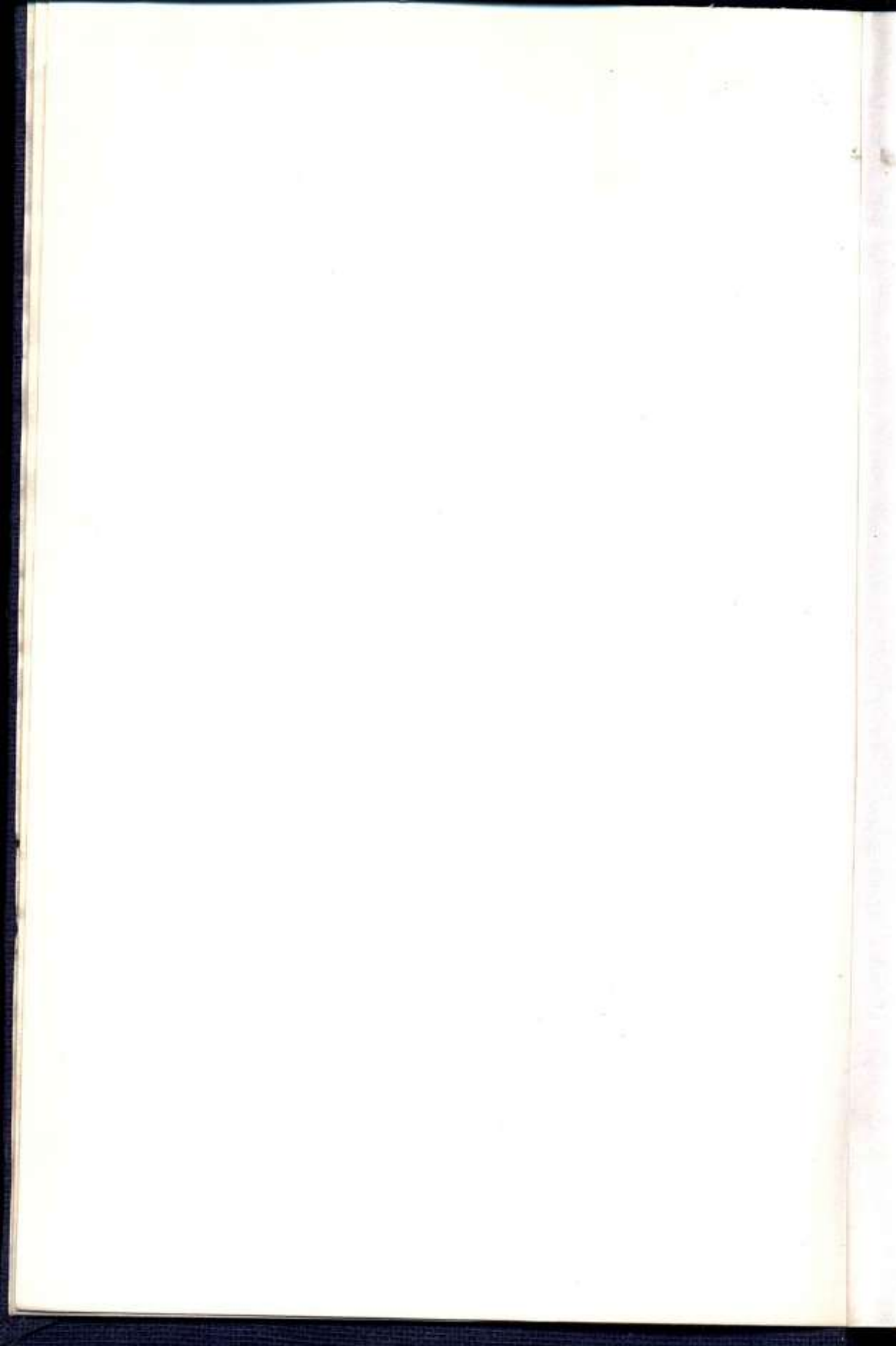
प्रकाशकीय

संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य ही सर्वाधिक विवेक प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक कार्य में अपनी तर्क बुद्धि का प्रयोग करता है, जो उसका दर्शन है। हमारा भारतीय दर्शन मुख्य रूप से आस्तिक और नास्तिक दो प्रमुख धाराओं में विभक्त है। नास्तिक दर्शनों के रूप में बृहस्पति प्रवर्तित चार्वाक दर्शन, ऋषभ देव प्रवर्तित जैन दर्शन तथा गौतम बुद्ध प्रवर्तित बौद्ध दर्शनकी गणना होती है।

जैन दर्शन का विकास चौबीस तीर्थङ्करों के उपदेशों के रूप में हुआ। यह आचार प्रधान दर्शन है, जो भूतों से पृथक् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों में विभक्त जैनदर्शन जगत् को जीवन तथा अजीव भेद से व्याख्यायित करता है। गुण तथा द्रव्य पर्याय, पुद्गल, अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद, सप्तभङ्गीनय आदि जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त हैं। कर्मपुद्गलों से भाव मुक्ति इस मत में जीवन्मुक्ति तथा कर्म के सभी भावों से आत्यन्तिक रूप से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। जैन दर्शन प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा शब्द ये तीन प्रमाण मानता है।

बौद्ध दर्शन का बीज भगवान् तथागत के धर्मोपदेशों में निहित है, जो कालान्तर में चार दार्शनिक सम्प्रदायों के रूप में फलित हुआ। बौद्धमत की प्रमुख शाखाओं महायान तथा हीनयान से दो-दो दार्शनिक सम्प्रदाय अभिव्यक्त हुए। प्रथम से विज्ञानवाद या योगाचार तथा माध्यमिक या शून्यवाद, और द्वितीय से वैभाषिक या बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद तथा सौत्रान्तिक या बाह्यानुमेयार्थवाद विकसित हुए। नामों के आधार सृष्टिकारण विषयक सिद्धान्त हैं। बौद्धदर्शन का मौलिक कार्यकारण-सिद्धान्त 'प्रतीत्य समुत्पाद' के नाम से ख्यात है जिसके अङ्ग क्रमिक परम्परा से कारण कार्यरूप से बद्ध हैं। बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन कहलाता है। निर्वाण या बुद्धत्व की प्राप्ति ही इस दर्शन के अनुसार मोक्ष है।

लोकायत या लोकायतिक नाम से प्रसिद्ध चार्वाक दर्शन भौतिकवादी दर्शन है जिसकी पृष्ठभूमि सृष्टिकारण विषयक औपनिषद मतों में दृष्टिगत होती है। इस दृष्टि से काल, नियति, यदृच्छा, स्वभाव आदि उपनिषदुक्त सृष्टि-कारणों का उल्लेख किया जा सकता है। इस दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता, किन्तु आचार्य बृहस्पति के कुछ सूत्रों को चार्वाक सूत्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। इन सूत्रों के अनुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों के संयोग से उत्पन्न शरीर, इन्द्रिय तथा विषय का सङ्घटन ही चैतन्य में हेतु है। चैतन्य ही जीव है तथा मृत्यु ही मोक्ष है। इसके अनुसार अर्थकाम ही पुरुषार्थ हैं तथा प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। यह दर्शन लौकिक मार्ग को ही व्यवहार्य मानता है।

यह मेरा सौभाग्य रहा है कि संस्थान का कार्य आरम्भ करते ही अखिल भारतीय व्यास महोत्सव में प्रधान सम्पादक प्रो. रथ सहित खण्ड के अधिकांश विद्वान लेखकों से वाराणसी में भेंट हो गयी है। प्रधान सम्पादक जी से इस खण्ड पर विचार विमर्श में इस बृहद् योजना का विशेष ज्ञान हुआ। मैं इस योजना के प्रवर प्रधान सम्पादक स्व. पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय जी के चरणों में प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिन्होंने इस योजना को साकार रूप देते हुए इसके लेखन और सम्पादन का कार्य सम्बन्धित विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों के हाथों में दिया।

इस खण्ड के जैन दर्शन भाग के **सम्पादक प्रो. फूलचन्द जैन** तथा बौद्ध दर्शन भाग के **सम्पादक प्रो. रामशंकर त्रिपाठी** जी का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी सम्पादनकला और दीर्घकालीन शास्त्रीय ज्ञान से इसे अभिसिञ्चित किया है। खण्ड के सभी विद्वान् लेखकों के प्रति आभारी हूँ जिनके ज्ञान सम्पदा से यह ग्रन्थ मण्डित है।

इस खण्ड के लेखन सम्पादन में गति लाकर वर्तमान स्वरूप देने वाले मेरे पूर्वाधिकारी **श्री प्रमोद कुमार पाण्डेय** को साधुवाद देता हूँ, जिनके प्रयास से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। सम्पादन मुद्रण में आने वाले गतिरोधों को दूर करने में सदा सभी को सहयोग पूर्वक वाँछित सूचना तथा सामग्री उपलब्ध कराने वाले अपने सहयोगी **डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी** को भी हार्दिक शुभकामना देता हूँ। वाङ्मय प्रकाशन कार्य से जुड़े संस्थान के सभी कर्मियों तथा शिवम आर्ट्स के प्रवन्धक एवं सहयोगियों को भी साधुवाद देता हूँ जिनका इस कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है।

विनयानवत

नाग पञ्चमी **राज किशोर यादव**

वि०सं० २०६४ निदेशक

निवेदनम्

ऋतु-बाणग्रहक्षोणीमित-वैक्रमवत्सरे।
बलियामण्डलग्रामे स्वर्णवर्षेति संज्ञिते।। १ ।।

ज्येष्ठस्तनूजनुर्मूर्ति-देवी-रामसुचित्तयोः।
संस्कृताधीतिरक्षार्थं शरीरव्यक्तिमादधे।। २ ।।

संस्काराद् बलदेवाख्य उपाध्यायकुलध्वजः।
शास्त्रानुष्ठाननिरतः सुद्ध्युपास्यो विचक्षणः।। ३ ।।

स्वदेशतिलकं बालगङ्गाधरमनुस्मरन्।
गीर्वाण-भारतीज्ञानमानरक्षा-परायणः।। ४ ।।

समीक्ष्याबोधवैक्लव्यं दास्यदैन्यसमुद्भवम्।
शास्त्रेष्वाकलयाञ्चक्रे नवजागरणौषधम्।। ५ ।।

शास्त्रेषून्मीलितं तत्त्वचिन्तनं सुप्रतिष्ठितम्।
दास्यानुपातविच्छिन्नं पुनरुद्धर्तुमुद्यतः।। ६ ।।

चिरत्नशास्त्ररत्नानां निधानं जनभाषया।
निबद्धैः सुलभं नूत्नैश्चक्रे ग्रन्थैः परःशतैः।। ७ ।।

निगमागमसाहित्य-पुराणदर्शनेक्षणः।
भारतीयासु विद्यासु यावज्जीवं कृतश्रमः।। ८ ।।

अधीती सर्वशास्त्रेषु काशीपाण्डित्यदीपकः।
पद्मभूषणसम्मानमण्डितः शिष्यवत्सलः।। ९ ।।

अथ संस्कृत-संस्थानं कृत्स्नं संस्कृतवाङ्मयम्।
अधिकृत्यैतिह्यदृशा ग्रन्थनिर्माणकाम्यया।। १० ।।

सम्पादनविभक्त्यर्थं नवत्युत्तरवर्षभाक्।
काशीमुपेत्य संस्थानाधिकृतैः प्रार्थितः सुधीः।। ११ ।।

युवेव सम्भृतोत्साहः प्रवया अपि सस्पृहम्।
सम्पादनधुरं गुर्वीं वोढुमग्रेसरोऽभवत्।। १२ ।।

विद्यानां सङ्ख्यया ग्रन्थान् विभज्याष्टादशात्मकान्।
इष्टं ज्ञानमहासत्रं चक्रे सुपरिभाषितम्।। १३ ।।

शिष्या रात्रिन्दिवं नैकग्रन्थानां निर्मितौ भृशम्।
सन्नद्धा गुरुणाशीर्भिः कृतास्तत्त्वार्थदर्शिना।। १४ ।।

संस्थानोपक्रमं प्राज्ञः स्वातन्त्र्योत्तरभारते।
दास्यध्वान्तहरं मेने ज्योतिषामुदयोपमम्।। १५ ।।

ततः संस्कृतसंस्थानाध्यक्ष्यभारं सुदुर्वहम्।
ग्रन्थनिर्माणसौकर्यमुद्दिश्यैव स ऊढवान्।। १६ ।।

वेद वेदाङ्गसाहित्यवाङ्मयैतिह्यसम्भृतान्।
समीक्ष्यैकादशग्रन्थान् प्राकाश्यमनयत् कृती।। १७ ।।

ऋतुबाणनभोनेत्रमितेऽब्दे वैक्रमे वशी।
पुरुषायुषमासाद्य परब्रह्मण्यलीयत।। १८ ।।

गुरुणा मूलतस्तेन यथा ग्रन्थाः प्रकल्पिताः।
तथैव ते प्रकाश्यन्तेऽधुनाऽस्माभिर्यथामति।। १९ ।।

जैन-सौगत-चार्वाक-दर्शनाख्यो चतुर्दशः।
ग्रन्थोऽयं गुरवे तस्मै सप्रणामं निवेद्यते।। २० ।।

गुरु पूर्णिमा
सं. २०६४

श्रीनिवास-रथः
'श्रीलीला' १२ उदयनमार्गः
उज्जयिनी

अस्मदीयम्

'संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास' के अन्तर्गत संकल्पिक 'जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन का प्रस्तुत खण्ड ग्रन्थ योजना में बारहवाँ खण्ड है। इस योजना की भूमिका में सम्मिलित सभी मनस्वी विद्वज्जनों से विस्तृत विचार विमर्श के उपरान्त पुण्यश्लोक आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने इस उपक्रम को अठारह खण्डों में विभक्त किया था। इस खण्ड के लिये जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन तथा चार्वाक दर्शन को सूचीबद्ध किया था। दार्शनिक धरातल पर ये तीनों प्रस्थान सृष्टि के लिये किसी के कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करते। वे 'मोक्ष' को अपनी-अपनी दृष्टि से परिभाषित करते हैं।

जैन दार्शनिक चिन्तन व्यावहारिक पृष्ठभूमि में आधार प्रधान है। रागद्वेष पर विजय प्राप्त करना भव-बन्धन से मुक्त होने का साधन है। भवबन्धन की ग्रन्थियों का खुल जाना 'निगण्ठ' की वह स्थिति है जो 'अर्हत्' की पदवी में निहित है। इस पदवी पर सर्वज्ञ तीर्थङ्करों की प्रतिष्ठा मानी जाती है। जैन मत के अनुयायी आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव से वर्धमान महावीर तक चौबीस तीर्थङ्करों की गणना करते हैं। यह गणना निश्चित ही स्मृति परम्परा में ऐतिहासिक ही हो सकती है, परन्तु इतिहास-दृष्टि में अधुनातन ऐतिहासिक-काल की सीमा में पार्श्वनाथ तथा वर्धमान महावीर ऐतिहासिक महापुरुष हैं जो अपने तपोबल से तीर्थङ्कर पदवी पर प्रतिष्ठित माने जाते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ था। हमने 'बलदेवचरितम्' में काशी और पार्श्वनाथ को प्रणामाञ्जलि अर्पित की है।

तीर्थङ्करा ऋषभदेवपरम्परायां
काशी तपोभिरनयन्जितीर्थवत्ताम्।
श्रीपार्श्वनाथचरणाम्बुजरेणुपूता
काशी त्रिरत्नवसुधेति मताऽर्हतानाम्।।

भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह को महाव्रत के रूप में स्वीकार किया है। वर्धमान महावीर ने पाचवें महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य को सम्मिलित किया और अपरिग्रह की पूर्णता के लिये वस्त्रधारण करना भी त्याग दिया।

जैन सिद्धान्त मूलतः अर्धमागधी में निबद्ध हैं। अङ्ग, उपाङ्ग, प्रकीर्ण तथा छेदसूत्रों में तीर्थङ्करों के उपदेश प्रतिफलित हुए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र के अनन्तर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर से कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र तक तत्त्वार्थसूत्र, प्रपञ्चसार, आप्त-मीमांसा तथा प्रमाण-मीमांसा आदि जैन दर्शन के अमूल्य ग्रन्थरत्नों का भण्डार उपलब्ध होता है जो संस्कृत में निबद्ध है। जैन दर्शन, सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान जिसके अन्तर्गत जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्वों का अर्थात्

इन सात पदार्थों का यथोचित ज्ञान अभीष्ट होता है और सम्यक्-चारित्र अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवम् अपरिग्रह का निरन्तर पालन को अपनी आधार मीमांसा के अनुरूप मोक्ष का साधन निरूपित करता है। जैन दार्शनिक चिन्तन में अस्तिकाय के रूप में – जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म की गणना द्रव्यों में की जाती है तथा काल को भी द्रव्य कहा गया है। जैन दर्शन में स्याद्वाद तथा 'सप्तभङ्गीनय' तार्किक विचार पद्धति के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं जो विश्व के सभी दार्शनिकों के लिये गम्भीर चिन्तन के आयाम उद्घाटित करते हैं। यहाँ यह भी हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है कि जैन अनुशासन में धर्म और अधर्म की द्रव्यान्तर्गत गणना के कारण सारा चिन्तन आचार मीमांसा पर विशेष रूप से अवलम्बित दृष्टिगोचर होता है।

जैन दर्शन के विकास में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का अपना-अपना महत्त्व है। श्वेताम्बर अपने आगमों की गणना में एकादश अङ्ग, द्वादश उपाङ्ग, दश प्रकीर्णक, छह छेदसूत्र, दो सूत्र तथा चार मूलसूत्रों को सम्मिलित करते हैं। श्वेताम्बर आगमों को महावीर के उपदेशों का मौलिक संकलन स्वीकार करते हैं। आगमों की प्राकृत व्याख्या को निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि ग्रन्थों का आकार मिला था। आगमों की संस्कृत व्याख्या नवम शताब्दी से ग्यारहवीं तथा बारहवी शताब्दी तक के आचार्यों की देन है। आचार्य मलयगिरि ने आगमों की अपनी प्राञ्जल संस्कृत व्याख्या में गम्भीर दार्शनिक प्रश्नों को उपस्थापित किया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय की परम्परा में आचार्य भद्रबाहु को अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है, मौर्यकाल में पाटलिपुत्र संघ के अध्यक्ष थे। प्राचीन परम्परा के अति दुर्लभ ग्रन्थों के भागों को जोड़कर आगमों के रूप में उसके उद्धार का श्रेय आचार्य धरसेन तथा उनके शिष्य पुष्पदन्त तथा भूतबलि को है। इन आचार्यों ने 'षट्खण्डागम' अर्थात् जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा तथा महाबन्ध नामक छह आगम खण्डों को पुनरुद्धार किया था। इन आगमों में कर्म तथा जीव सिद्धान्त का मौलिक तथा विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। आगमों के प्रथम पाँच खण्डों की विशद व्याख्या धवला टीका में तथा अन्तिम खण्ड की व्याख्या महाधवला टीका में उपलब्ध होती है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में आगमों के उद्धार की एक और धारा 'कसायपाहुक' में संकलित हुई है। इसके प्राकृत भाष्य को 'चूर्णिग्रन्थ' कहते हैं। इन दोनों की विशाल व्याख्या 'जयद्यवला' में उपलब्ध होती है जो प्राकृत तथा संस्कृत की मणिप्रवाल शैली में उपनिबद्ध है। जैन पुराण साहित्य के विशाल भण्डार में चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव तथा नौ प्रतिवासुदेवों को मिलाकर तिरेसठ शलाका पुरुषों का 'माहात्म्य अंकित हुआ है। आचार्य जिनसेन तथा हेमचन्द्राचार्य की भूमिका पुराणों के लिए महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन के क्षेत्र में शोध अध्ययन की भावी दिशा, अनेक ग्रन्थागारों में अभी तक अज्ञात और अल्पज्ञात ग्रन्थों के समावित अनुशीलन पर निर्भर है।

जैन धर्म दर्शन के आधिकारिक विद्वान् डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया के सहयोगी डॉ. फूलचन्द जी जैन 'प्रेमी' ने बड़े परिश्रम से सम्पादन के दायित्व का निर्वाह किया है तथा अपने शोधपूर्ण आलेखों से ग्रन्थ की उपादेयता की श्रीवृद्धि की है। जैन पुराण साहित्य तथा जैन दर्शन में अध्यात्म पर डॉ. पन्नालाल जैन तथा पं. जगमोहन लाल ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। पं. जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री ने कर्म सिद्धान्त के प्रमुख ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया है। डॉ. फूलचन्द जैन जैसे विद्वान् जो 'प्रेमी' के रूप में सुपरिचित है जानते हैं कि ज्ञान का प्रसार ही उसका फूल है। मैं उनके माध्यम से सभी सहयोगी विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

बौद्ध दर्शन के विकास में हीनयान, महायान तथा वज्रयान के सम्प्रदायगत विस्तार की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। गौतमबुद्ध के उपदेश की भाषा मगध की लोक भाषा थी जिसे अब पालि के रूप में जाना जाता है। बुद्ध के उपदेश निर्वाण के उपरान्त उनके दो प्रमुख अनुचर शिष्य आनन्द और उपालि के द्वारा लिपिबद्ध किये गये। आनन्द ने उपदेशों का संग्रह सुत्तपिटक में तथा उपालि ने उनके उपदिष्ट आचार संहिता को विनयपिटक में संकलित किया था। अभिधम्मपिटक परवर्ती काल की रचना है तथा सुत्तपिटक में निहित सिद्धान्तों का या बुद्ध के प्रवचनों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करता है। बौद्ध दर्शन के सैद्धान्तिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों की तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से इस पिटक के सातों विभाग नितान्त उपादेय और महत्त्वपूर्ण हैं।

हीनयान के मत में बुद्ध महापुरुष हैं तथा उन्होंने अपने प्रयत्नों से निर्वाण प्राप्त किया था। इस प्रस्थान ने निवृत्तिपरक दृष्टिकोण को अपनाया था। इसके विपरीत महायान के विद्वान् बुद्ध को लोकोत्तर पुरुष मानते हैं तथा गौतमबुद्ध को उनका अवतार सिद्ध करते हैं। महायान प्रवृत्ति मार्ग पर अवस्थित है तथा भक्ति प्रधान होकर बोधिसत्व की आराधना पर बल देता है। महायान सम्प्रदाय का विपुल साहित्य संस्कृत में लिखा गया है। यह मत चार भागों में बँटा हुआ है। वस्तु जगत को सत्य मानने वाले इस पन्थ को 'वैभाषिक' कहते है। इसी मत को 'सर्वास्तिवाद' भी कहा जाता है। दूसरा मत है 'सौत्रान्तिक' जो अनुमान को स्वीकार करता है। तीसरा मत योगाचार है जिसे विज्ञानवाद भी कहा जाता है। इस मत में सब कुछ शून्य का ही विवर्त है। महायान के चारों सम्प्रदायों को गुरुवर्य उपाध्यायजी एक सुन्दर श्लोक से समझते थे।

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयरतासा विवर्त्तोऽखिलः।
अथोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।

महायान सम्प्रदाय का विपुल संस्कृत साहित्य आज सहज सुलभ नहीं है। बहुत कुछ तिब्बती तथा सिंहली अनुवादों में प्राप्त होता है। महायान के नौ ग्रन्थ-सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमितासूत्र, गण्डव्यूह-सूत्र, दशभूमिक-सूत्र, रत्नकूट, समाधिराज सूत्र, सुखावती व्यूह, सुवर्णप्रभास-सूत्र तथा लङ्कावतार-सूत्र विशिष्ट ऐतिहासिक और शास्त्रीय महत्त्व के हैं। कुछ मूल तथा कुछ अनुवादों में उपलब्ध इन सिद्धान्त ग्रन्थों का बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों के विकास एवं विस्तार की दृष्टि से बड़ा योगदान है।

वज्रयान महायान के विस्तार के साथ योगाचार और मन्त्रयान के माध्यम से विकसित हुआ प्रतीत होता है। वज्रयान में वज्र शून्यता का प्रतीक है तथा उसकी परिभाषा अविनाशी के रूप में की गई है।

दृढं सारमसौशीर्यं अच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते।।

वज्रयान के आचार्यों में सिद्ध परम्परा का बड़ा महत्त्व है। इन सिद्धों में चौरासी सिद्ध प्रसिद्ध हैं।

आचार्य रामशंकर त्रिपाठी ने बड़े परिश्रम से बौद्ध दर्शन के गूढ तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। बौद्ध दर्शन के समकालिक आचार्यों में उनका अग्रणी स्थान है। आचार्य त्रिपाठी का योगदान सभी के लिये अभिनन्दनीय है।

चार्वाक दर्शन नितान्त भौतिकतावादी दर्शन है। इस मत के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य बृहस्पति को दिया गया है। चार्वाक दर्शन का अनुयायी वर्ग किसी सम्प्रदाय के रूप में कहीं भी प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु भारतीय दार्शनिक चिन्तन की सत्य निष्ठा और वस्तुनिष्ठता को पग पग पर प्रमाणित करता है। भारतीय दर्शनों के आचार्य चार्वाक के मत की चर्चा करते हैं और उस परम्परा में स्वयं चार्वाक दर्शन की विकास यात्रा भी परिलक्षित होती है। चार्वाक मत में आकाश तत्त्व तथा अनुमान की स्वीकृति उसके मूल चिन्तन की परिवर्धित सीमाओं को प्रकाशित करता है। प्रायः विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के आचार्य सर्वप्रथम प्रहार चार्वाक मत पर ही करते हैं। अधुनातन युग के आचार्य गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग ने अपने 'अलिविलासिसंलापः' में चार्वाक को 'सकलदार्शनिकप्रथमः ही कहा है।

चार्वाक दर्शन के सांगोपांग विवेचन में **प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी** जी तथा आयुष्मान् **डॉ. पीयूष कान्त दीक्षित** ने विविध पक्षों को उजागर किया है। हम दोनों मनस्वी आचार्यों को कृतज्ञता पूर्वक साधुवाद अर्पित करते हैं।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान इस गौरवपूर्ण अनुष्ठान को बड़ी निष्ठा से सम्पन्न कर रहा है। पूर्व निदेशक **श्री प्रमोद कुमार पाण्डेय** तथा वर्तमान निदेशक **श्रीयुत राज किशोर यादव** प्रस्तुत खण्ड के प्रकाशन में निरन्तर सक्रिय सहयोग प्रदान करते रहे हैं। लेखक,

सम्पादक तथा प्रधान सम्पादक के बीच निरन्तर सम्पर्क की भूमिका में **डॉ. चन्द्र कान्त द्विवेदी** का आत्मीय अनुबन्ध अभिनन्दनीय है। पूर्व खण्डों के समान प्रस्तुत प्रकाशन की भव्यता के लिये 'शिवम् आर्ट्स' के अथक प्रयास तथा समर्पित सेवा भाव के प्रति धन्यवाद ज्ञापन के साथ हम जैन बौद्ध चार्वाक दर्शन का यह द्वादश खण्ड आचार्य प्रवर उपाध्याय जी को 'त्वदीय वस्तु' के रूप में अर्पित करते हैं।

आषाढ कृष्ण एकादशी
संवत् २०६४
६ अगस्त, २००७

श्रीनिवास रथ
''श्रीलीला''
१२, उदयन मार्ग, उज्जैन

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास

विषय-सूची

द्वादश-खण्ड

जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन

१. जैन दर्शन

१. सम्पादकीय प्रस्तावना १-३०

जैनदर्शन का वैशिष्ट्य ३, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और परम्परा ४, जैनधर्म-दर्शन नास्तिक नहीं है ५, ईश्वर कर्तृत्व का निषेध ६, वैचारिक अहिंसा और अनेकान्तवाद १७, भारतीय न्यायविद्या के विकास में जैनाचार्यों का योगदान २६।

२. जैन संस्कृति : उद्भव एवं विकास ३१-५७

प्राग्वृत्त ३१, जैनधर्म के आद्यप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव ३१, अन्य तीर्थंकर ३२, अरिष्टनेमि ३३, पार्श्वनाथ ३३, तीर्थंकर वर्धमान महावीर ३४, तीर्थंकर-उपदेश : द्वादशांगश्रुत ३५, उपलब्ध श्रुत ३६, धर्म, दर्शन और न्याय ३७, जैन दर्शन और जैन न्याय : उद्भव और विकास ३८, उद्भव ३८, विकास ४०, आदिकाल अथवा समन्तभद्र-काल ४०, दार्शनिक जगत् को आचार्य समन्तभद्र का अवदान ४१, मध्यकाल अथवा अकलंक-काल ४८, दूषणोद्धार ५०, नव-निर्माण ५३, अन्त्यकाल (मध्य-उत्तरवर्ती) अथवा प्रभाचन्द्रकाल ५५।

३. जैनदर्शन और उसके प्रमुख अङ्ग ५८-१२६

भारतीय दर्शन और उनका विभाजन ५८, आस्तिक और नास्तिक के रूप में दर्शनों का विभाजन ६१, जैनदर्शन और उसका उद्देश्य ६३, जैन दर्शन के प्रमुख अंग ६५, तत्त्व मीमांसा ७१, पदार्थ

मीमांसा ७८, पंचास्तिकाय-मीमांसा ७६, अनेकान्त-विमर्श ८०, अनेकान्त का स्वरूप ८१, स्याद्वाद-विमर्श ८५, स्याद्वाद : जैनदर्शन का एक मौलिक सिद्धान्त ८५, स्याद्वाद का सार्वत्रिक उपयोग ८६, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद ८७, अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी : भेद-विमर्श ६१, न्याय और उसके अंग ६२, न्यायविद्या ६२, प्रमाण और नय ६४, प्रमाण-विमर्श प्रमाण का प्रयोजन ६५, जैनन्याय में प्रमाण का स्वरूप ६७, प्रमाण-भेद ६६, जैनन्याय में प्रमाण-भेद १००, परोक्ष-प्रमाण १०३, तर्कशास्त्र में परोक्ष के भेद १०४, अनुमान के अंग-साध्य और साधन १०५, अविनाभाव-भेद १०६, हेतु-भेद १०७, अनुमान के अवयव १०८, प्रत्यक्ष प्रमाण-विमर्श १११, नय-विमर्श ११४, नय प्रमाण है या अप्रमाण ? ११७, वाद-विद्या ११८, मध्य युग ११८, कथा का आरम्भ ११६, दार्शनिक कथाएँ ११६, जैनदर्शन में कथा-मान्यता १२१, जय-पराजयव्यवस्था १२४।

४. जैन तार्किक और उनके न्यायग्रन्थ १२७-१३७

आचार्य गृद्धपिच्छ १२७, स्वामी समन्तभद्र १२७, सिद्धसेन १२८, देवनन्दि-पूज्यपाद १२८, श्रीदत्त १२८, पात्रस्वामी १२६, अकलंकदेव १२६, हरिभद्र १२६, सिद्धसेन (द्वितीय) १३०, वादीभसिंह १३०, बृहदनन्तवीर्य १३०, विद्यानन्द १३१, कुमारनन्दि (कुमारनन्दि भट्टारक) १३१, अनन्तकीर्ति १३२, माणिक्यनन्दि १३२, देवसेन १३२, वादिराज १३३, प्रभाचन्द्र १३३, अभयदेव १३४, लघु अनन्तवीर्य १३४, देवसूरि १३४, हेमचन्द्र १३४, भावसेन त्रैविद्य १३४, लघु समन्तभद्र १३५, अभयचन्द्र १३५, रत्नप्रभसूरि १३५, मल्लिषेण १३५, अभिनव धर्मभूषणयति १३५, शान्तिवर्णी १३६, नरेन्द्रसेन भट्टारक १३६, चारुकीर्ति भट्टारक १३६, विमलदास १३६, अजितसेन १३६, यशोविजय १३७, बीसवीं शती के जैन तार्किक १३७।

५. जैनदर्शन में अध्यात्म १३८-१४५

६. जैन कर्मसिद्धान्त : नामकर्म के विशेष सन्दर्भ में १४६-१५५

कर्म विषयक साहित्य १४७, कर्मबंध और उसकी प्रक्रिया १४७, अष्टविध कर्म १४६, नामकर्म और इसका वैशिष्ट्य १४६, नामकर्म का स्वरूप १५०, नामकर्म और उसकी प्रकृतियाँ १५१।

७. जैन कर्म-सिद्धान्त के प्रमुख ग्रन्थ १५६-१७८

धवला टीका १५६, विषय-परिचय १५७, धवला में अन्यान्य वैशिष्ट्य गणित के क्षेत्र में धवला का मौलिक अवदान १६१, व्याकरण-शास्त्र १६१, न्यायशास्त्र १६२, शास्त्रों के नामोल्लेख १६२, प्राचीन दार्शनिकों के नामोल्लेख १६२, तीर्थस्थानों, नगरों के नामोल्लेख १६३, जयधवल टीका १६३, विषय परिचय १६४, पेज्जदोस विभक्ति १६४, स्थिति विभक्ति १६५, अनुभाग विभक्ति १६५, प्रदेश विभक्ति १६५, बन्धक १६५, संक्रम १६६, वेदक १६६, उपयोग १६६, चतु:संस्थान १६६, व्यंजन १६७, दर्शनमोहोपशामना १६७, दर्शनमोहनीयक्षपणा १६७, देशविरत १६७, संयम १६८, चारित्रमोहोपशामना १६८, चारित्रमोहक्षपणा १६८, गोम्मटपंजिका १६८, मन्दप्रबोधिनी १६६, गोम्मटसार जीवकाण्ड १६६, गुणस्थान १७०, जीव समास १७१, पर्याप्ति १७१, प्राण १७१, संज्ञा १७१, मार्गणा १७१, उपयोग १७१, अन्तर्भाव १७२, आलाप १७२, गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड १७२, प्रकृतिसमुत्कीर्तन १७२, बन्धोदय-सत्वाधिकार १७२, सत्वस्थान भंगाधिकार १७३, त्रिचूलिका अधिकार १७३, बन्धोदय सत्त्वयुक्तस्थान समुत्कीर्तन १७३, प्रत्ययाधिकार १७४, भावचूलिका १७४, त्रिकरणचूलिका अधिकार १७४, कर्मस्थितिरचना अधिकार १७४, गोम्मटसार-जीवतत्त्वप्रदीपिका १७४, जीवतत्त्वप्रदीपिका १७५, लब्धिसार-क्षपणासार टीका १७५, क्षपणासार (संस्कृत) १७६, पंचसंग्रहटीका १७६, कर्म-प्रकृति १७६, कर्म-विपाक १७७, सिद्धान्तसार-भाष्य १७७, कर्म-प्रकृति-भाष्य १७७, त्रिभंगी टीका १७७, भावसंग्रह १७८, निष्कर्ष १७८।

८. जैन आचार-मीमांसा १७६-२२६

श्रावकाचार : श्रावकों की आचार-पद्धति १८०, संस्कार और उनका महत्त्व १८०, संस्कार से सम्बन्धित जैन साहित्य १८१, संस्कारों की संख्या १८१, आदिपुराण और उसमें प्रतिपादित संस्कार १८२, प्रमुख सोलह संस्कार : स्वरूप और विधि १८३, शुभ मुहूर्त १८७, विधि १८७, श्रावक के तीन मनोरथ १८६, हिंसा के चार भेद १६३, श्रावक धर्म : विकास के सोपान १६३, चारित्रपाहुड १६६, तत्त्वार्थसूत्र १६८, रत्नकरण्डक श्रावकाचार १६८, रत्नमाला १६८, कार्तिकेयानुप्रेक्षागत श्रावकाचार १६६, पद्मचरित १६६, वराङ्गचरित १६६, हरिवंश पुराण १६६, महापुराण २००, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २००, उपासकाध्ययन २००, अमितगति श्रावकाचार २०१, चारित्रसार ग्रन्थगत-श्रावकाचार २०१, वसुनन्दि-श्रावकाचार २०१, सागारधर्मामृत २०२, धर्मसंग्रह २०२, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार २०२, गुणभूषण श्रावकाचार २०३, धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार २०३, लाटीसंहिता २०४, उमास्वामी श्रावकाचार २०४, पूज्यपाद-श्रावकाचार २०४, व्रतसार २०४, व्रतोद्योतन श्रावकाचार २०५, श्रावकाचार सारोद्धार २०५, भव्यधर्मोपदेश-उपासकाध्ययन २०५, पद्मनन्दि पंचविंशतिका ग्रन्थगत-श्रावकाचार २०५, पद्मनन्दि पंचविंशतिका ग्रन्थगत-श्रावकाचार २०५, भावसंग्रह २०६, पुरुषार्थनुशासनगत श्रावकाचार २०६, कुन्दकुन्द श्रावकाचार २०६, श्रावक धर्म-प्रदीप २०६, श्रावक प्रज्ञप्ति २०७, धर्मविन्दु २०७, श्रावकधर्म विधि प्रकरण २०७, षट्स्थान प्रकरण २०७, श्राद्धदिन-कृत्यसूत्र २०८, श्रावकधर्म विधि २०८, श्राद्धगुण विवरण २०८, श्राद्धविधि २०६, श्रमणाचार २०६, श्रमणाचार विषयक साहित्य २१०, श्रमणों की अचार-संहिता २१०, मूलगुण २११, महाव्रत २१२, समिति २१३, इन्द्रिय निग्रह २१३, षड्-आवश्यक २१५, शेष सात मूलगुण २१५, लोच २१६, अचेलकत्व २१६, अस्नान २१६, क्षितिशयन २१७, आदन्तघर्षण २१७, स्थित-भोजन २१७, एकभक्त २१८, प्राकृतिक एवं सहज जीवन के प्रतीक हैं ये मूलगुण २१८, उत्तरगुण २१६, आहार, विहार और व्यवहार २१६, आर्यिकाओं की आचार-पद्धति २२०, चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान २२०, आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द २२०, आर्यिकाओं का वेष २२१, आर्यिकाओं की वसतिका २२१,

समाचार : विहित एवं निषिद्ध २२२, आहारार्थ गमन विधि २२३, स्वाध्याय सम्बन्धी विधान २२३, वंदना-विनय सम्बन्धी व्यवहार २२४, आर्यिका और श्रमण संघ : परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा २२४, आर्यिकाओं के गणधर २२५।

९. जैन पुराण साहित्य २२७-२४१

आदिपुराण २३०, पुराणकथा और कथानायक २३०, उत्तरपुराण २३१, आचार्य जिनसेन और गुणभद्र : एक परिचय २३२, हरिवंशपुराण २३३, हरिवंशपुराण का आधार २३३, हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन २३४, हरिवंशपुराण का रचना स्थान और समय २३४, हरिवंशपुराण की कथावस्तु २३४, पद्मपुराण २३४, रामकथा-साहित्य २३५, जैन रामकथा के दो रूप २३५, विद्याधर काण्ड २३६, राम और सीता विवाह २३६, वनभ्रमण २३७, सीता-हरण और खोज २३८, युद्ध २३८, उत्तरचरित २३६, रविषेणाचार्य २३६, शान्तिनाथ पुराण २४१।

२. बौद्ध दर्शन

१०. भूमिका २४३-२७५

महायान का उद्भव एवं विकास २४६, महायानसूत्रों की बुद्धवचनता २५३, वस्तुसत्ता २६०, परमाणु २६३, आलयविज्ञान २६४, निर्वाण २६५, बुद्धवचन २६६, धर्मचक्र २६६, द्विविध नैरात्म्य २६७, द्विविध आवरण २६८, द्विविधि सत्य २६८, प्रमाण विचार २६६, त्रिकाय व्यवस्था २६६, बुद्धगुण २७२, एकयानवाद २७३, कृतज्ञता-ज्ञापन २७४।

११. भगवान बुद्ध की शिक्षा २७६-२८४

त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन २७७, धर्मचक्रों की नेयनीतार्थता २७८, प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन २७८, द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन २७६, तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन २७६, भगवान् की शिक्षा की सार्वभौमिकता २८१, भाषा

२८१, मानव-समता २८१, मानवश्रेष्ठता २८१, व्यावहारिकता २८२, मध्यमा प्रतिपदा २८२, प्रतीत्यसमुत्पाद २८३, कर्मस्वातन्त्र्य २८४।

१२. अठारह बौद्ध निकाय २८५-२६६

निकायों की परिभाषा २८६, महासांघिक २८६, स्थविरवाद २८७, सर्वास्तिवाद २८७, एकव्यावहारिक २८७, लोकोत्तरवाद २८७, प्रज्ञप्तिवादी २८८, वात्सीपुत्रीय २८८, सम्मितीय २८८, महीशासक २८६, धर्मगुप्तक २८६, काश्यपीय २६०, विभज्यवाद २६०, निकाय-परम्परा २६०, अठारह निकायों के सामान्य सिद्धान्त २६१, ज्ञान में ग्राह्य (विषय) के आकार का अभाव २६२, ज्ञान में स्वसंवेदनत्व का अभाव २६२, बाह्यार्थ का अस्तित्व २६३, तीनों कालों की सत्ता २६३, निरुपधिशेष निर्वाण २६४, बोधि से पूर्व गौतम बुद्ध का पृथग्जन होना २६४, महायानसूत्रों की अप्रामाणिकता २६५।

१३. स्थविरवाद २६७-३३६

परमार्थ धर्म विचार २६७, शील-विमर्श ३०७, समाधि-विमर्श ३१३, चतुष्क नय के अनुसार ३२१, पंचक नय के अनुसार ३२१, चार अरूप ध्यान ३२४, प्रज्ञा-विमर्श ३२७, विशुद्धि और ज्ञान ३३८।

१४. वैभाषिक दर्शन (सर्वास्तिवाद) ३४०-३५७

परिभाषा ३४०, सर्वास्तिवादियों के नयभेद ३४१, धर्मप्रविचय ३४२, सास्रव-अनास्रव ३४३, संस्कृत-असंस्कृत ३४३, विस्तार ३४३, अविज्ञप्ति ३४४, असंस्कृत ३४४, नित्य-अनित्य ३४५, स्कन्ध-आयतन-धातु ३४५, मनोधातु ३४६, पदार्थ-विभाजन का अन्य प्रकार ३४७, हेतु-फलवाद ३४६, वैशिष्ट्य ३५१, सत्यद्वय व्यवस्था ३५१, परमार्थ सत्य ३५१, परमाणु विचार ३५२, ज्ञानमीमांसा ३५२।

१५. सौत्रान्तिक दर्शन ३५८-३६६

सौत्रान्तिक निकाय का उद्भव एवं विकास ३५८, विभिन्न मत ३५८, समीक्षा ३५६, सौत्रान्तिक विचारों का उद्भव एवं विकास ३६१,

बुद्धवचनों की नेय-नीतार्थता ३६४, सौत्रान्तिक आचार्य और उनकी कृतियाँ ३६७, सौत्रान्तिक दर्शन के प्रमुख आचार्य ३६६, आचार्य भदन्त ३६६, श्रीलात ३६६, कृतियाँ ३७०, कुमारलात ३७१, कुमारलात का समय ३७२, कृतियाँ ३७३, अन्य प्राचीन आचार्य ३७३, वसुबन्धु ३७३, परवर्ती परम्परा ३७६, आचार्य दिङ्नाग ३७७, समय ३७८, युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक ३७८, आचार्य शुभगुप्त ३८०, समय ३८०, कृतियाँ ३८२, प्रमुख सौत्रान्तिक सिद्धान्त ३८२, फलस्थ पुद्गल ३८४, सौत्रान्तिक दर्शन की दस विशेषताएं ३८४, क्षणभङ्ग सिद्धि ३८४, सूत्रप्रामाण्य ३८५, परमाणुवाद ३८५, द्रव्यसत्त्व-प्रज्ञप्तिसत्त्व ३८५, ज्ञान की साकारता ३८६, साकार ज्ञानों के भेद ३८७, कार्य और कारण की भिन्नकालिकता ३८८, प्रहाण और प्रतिपत्ति ३८८, ध्यानाङ्गों की विशेषता ३८८, प्रमाण आदि सम्यग्ज्ञान ३८६, बुद्ध, बोधिसत्त्व और बुद्धकाय ३६०, काय ३६०, ज्ञानमीमांसा ३६०, विविध ज्ञान ३६१, प्रत्यक्ष के भेद ३६४, मार्ग और फलव्यवस्था ३६६।

१६. योगाचार दर्शन (विज्ञानवाद) ३६७-४४१

सत्याकार विज्ञानवादियों के भेद ३६७, आगमानुयायी विज्ञानवाद ३६६, पदार्थ मीमांसा ३६६, लक्षण विचार ४००, आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान ४०२, कतिपय प्रश्न ४०४, आश्रित 'बीज-आलय' ४०७, वासना के प्रकार ४०८, गोत्र विचार ४१०, आलयविज्ञान साधक युक्तियाँ ४१३, क्लिष्ट मनोविज्ञान ४२०, मनोविज्ञान साधक युक्तियाँ ४२४, दो सत्य ४३०, कार्यकारणव्यवस्था ४३१, प्रमाणव्यवस्था ४३२, मार्ग-फलव्यवस्था ४३२, बाह्यार्थ के निरास के लिए अन्य युक्तियाँ ४३६, मार्ग एवं फल व्यवस्था ४३७, युक्ति प्रयोग ४३८, प्रमाण और प्रमाणफल व्यवस्था ४३६।

१७. माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) ४४२-५०२

स्वातन्त्रिक माध्यमिक ४४२, प्रासङ्गिक माध्यमिक ४५३, पुद्गल एवं धर्म की निःस्वभावता या सस्वभावता ४५४, श्रावकपिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है-इसका प्रतिपादन ४६२, धर्मनैरात्म्य ४६३, पुद्गलनैरात्म्य ४६४।

१८. महायान साहित्य　　५०३-५३२

महायानसूत्र ५०३, सद्धर्मपुण्डरीक ५०३, ललितविस्तर ५०५, लङ्कावतार ५०७, सुवर्णप्रभास ५०८, गण्डव्यूह ५१०, तथागगुह्यक ५१२, समाधिराज ५१४, दशभूमीश्वर ५१६, प्रमुदिता ५१७, विमला ५१७, प्रभाकरी ५१७, अर्चिष्मती ५१८, सुदुर्जया ५१८, अभिमुखी ५१८, अचला ५१८, साधुमती ५१६, धर्ममेघा ५१६, प्रज्ञापारमितासूत्र ५१६, अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता ५२१, अवतंसक ५२५, रत्नकूट ५२५, राष्ट्रपालपरिपृच्छा ५२६, कारण्डव्यूह ५२७, अक्षोभ्यव्यूह एवं करुणा पुण्डरीक ५२७, सुखावतीव्यूह ५२८, अवदान साहित्य ५२८, अवदानशतक ५२८, दिव्यादान ५२८, बौद्धसंकर साहित्य ५२६, महावस्तु ५२६, अश्वघोष साहित्य ५३०।

१६. महायान के प्रमुख आचार्य　　५३३-५५५

नागार्जुन ५३३, आर्यदेव ५३४, बुद्धपालित ५३४, भावविवेक ५३५, चन्द्रकीर्ति ५३६, असङ्ग ५३६, वसबन्धु ५३७, स्थिरमति ५३६, दिङ्नाग ५४०, धर्मकीर्ति ५४१, बोधिधर्म ५४४, शान्तरक्षित ५४७, कमलशील ५४८, आचार्य पद्मसंभव ५४६, तिब्बत में बौद्धधर्म की स्थापना ५५०, दार्शनिक मान्यता ५५१, दीपाङ्कर श्रीज्ञान ५५४।

सहायक ग्रन्थ　　५५६-५५८

३. चार्वाक दर्शन

२०. चार्वाक दर्शन　　५५६-६२६

प्रास्ताविक ५६१, चार्वाक दर्शन : ऐतिहासिक दृष्टि ५६३, वैदिक काल ५६३, औपनिषदकाल ५६३, रामायण महाभारत काल ५६४, पौराणिक काल ५६८, दार्शनिक काल ५७६, चार्वाकदर्शन के मूल स्रोत ६०७, चार्वाक दर्शन की तत्त्व मीमांसा ६२७, ज्ञान मीमांसा ६२८, आचार मीमांसा ६२८, मोक्ष ६२६।

२१. चार्वाक-लोकायत ६३०-६५६

चार्वाक दर्शन के प्रणेता बृहस्पति ६३०, चार्वाक के सिद्धान्त ६३२, अदृष्ट एवं ईश्वर का निषेध ६३४, जीव एवं चैतन्य की अवधारणा ६३४, शरीरात्मवाद में स्मरण का उपपादन ६३५, परलोक का प्रतिषेध ६३७, चार्वाक का नव्य एवं प्राच्य भेद ६३८, नव्य परम्परा में अनुमान एवं गगन मान्य ६३६, तत्त्व मीमांसा ६४०, काम ही परम-पुरुषार्थ ६४०, अनुमान एवं शब्द के प्रामाण्य का प्रतिषेध ६४१, व्याप्ति की दुरवबोधता ६४३, उपाधि से विधुर सम्बन्ध रूप व्याप्ति का भी ग्रह असम्भव ६४५, उपाधि-लक्षण ६४६, सम एवं असम व्याप्ति ६४८, व्याप्ति ज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष ६४६, अनुमान को मानने पर व्यवहार की अनुपपत्ति का वारण ६४६, स्वभाव-वाद ६५०, कर्म एवं कर्म फल पर चार्वाक की अवधारणा ६५२, प्रामाणिक ग्रन्थ न होने का कारण ६५४, चार्वाक दर्शन की समाज में समरसता ६५५।

विषय एवं लेखक सङ्केत

१. जैन-दर्शन

१. सम्पादकीय/प्रस्तावना - डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी
पी. २३/४५, पी. ६ शारदानगर,
खोजवाँ वाराणसी।

२. जैन संस्कृति : उद्भव एवं विकास - डॉ. दरबारीलाल कोठिया

३. जैनदर्शन और उसके प्रमुख अङ्ग - स्व. डॉ. दरबारीलाल कोठिया

४. जैन तार्किक और उनके न्यायग्रन्थ - डॉ. दरबारीलाल कोठिया

५. जैन दर्शन में अध्यात्म - पं. जगमोहनलाल शास्त्री
कटनी (म.प्र.)

६. जैन कर्मसिद्धान्त : नामकर्म के विशेष सन्दर्भ में - डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी

७. जैन कर्म-सिद्धान्त के प्रमुख ग्रन्थ - पं. जवाहरलाल जैन
उदयपुर (राजस्थान)

८. जैन आचार-मीमांसा - डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी

९. जैन पुराण साहित्य - डॉ. पन्नालाल जैन
४ नया कुँआ, कटरा बाजार
सागर (म.प्र.)

२. बौद्ध दर्शन

१०. भूमिका - प्रो. रामशंकर त्रिपाठी
प्लाट नं. २/५, आशापुर
सारनाथ वाराणसी

११. भगवान बुद्ध की शिक्षा - ” ”

१२. अठारह बौद्ध निकाय - ” ”

१३. स्थविरवाद - प्रो. रामशंकर त्रिपाठी

१४. वैभाषिक दर्शन (सर्वास्तिवाद) - " "

१५. सौत्रान्तिक दर्शन - " "

१६. योगाचार दर्शन (विज्ञानवाद) - " "

१७. माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) - " "

१८. महायान साहित्य - " "

१६. महायान के प्रमुख आचार्य - " "

३. चार्वाक दर्शन

२०. चार्वाक दर्शन - प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी
गणेशपुरी कालोनी, सुसुवाही, वाराणसी

२१. चार्वाक-लोकायत - प्रो. पीयूष कान्त दीक्षित
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
श्री लाल.बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत
विद्यापीठ, कटबरिया सराय, नई दिल्ली

संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

द्वादश खण्ड

जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन

जैन-दर्शन

सम्पादक

प्रो. फूलचन्द्र जैन प्रेमी

आचार्य एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

जीवन-वृत्त

प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन प्रेमी

पिता का नाम	:	सिंघई नेमिचन्द्र जैन बैसाखिया
जन्म तिथि	:	१२.०७.१९४८
जन्म स्थान	:	दलपतपुर, सागर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्याचार्य, शास्त्राचार्य (जैनदर्शन), प्राकृताचार्य एम.ए., पी-एच.डी., सिद्धान्तशास्त्री
शिक्षा संस्थाएं	:	श्री शान्ति निकेतन जैन, कटनी, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, संस्कृत विश्वविद्यालय, बी.एच.यू., वाराणसी
विशेषज्ञता	:	जैनधर्म दर्शन, संस्कृति, प्राकृत-संस्कृत-साहित्य
सम्प्रति कार्यक्षेत्र	:	प्रोफेसर एवं जैनदर्शन विभागाध्यक्ष, श्रमण विद्या-संकाय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी पूर्व-अध्यक्ष, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, उपाधिष्ठाता, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी, संयोजक-अखिल भारतीय जैन विद्वत् सम्मेलन, श्रवणबेलगोला (२००५-२००६)
प्रकाशित शोध पत्र	:	७० से अधिक
प्रकाशित आलेख	:	३० से अधिक
प्रकाशित मौलिक ग्रन्थ	:	१. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, २. लाडनूं के जैन मन्दिर का कला वैभव, ३. वैदिक व्रात्य और श्रमण संस्कृति : एक तुलनात्मक अध्ययन, ४. जैनधर्म में श्रमण संघ
प्रकाशित सम्पादित ग्रन्थ	:	१. मूलाचार भाषा वचनिका, २. प्रवचन परीक्षा, ३. अभिनन्दन ग्रन्थ (अनेक), ४. आदिपुराण परिशीलन, ५. आत्म प्रबोध, ६. आत्मानुशासन
पुरस्कार	:	राष्ट्रीय स्तर के सात पुरस्कारों से पुरस्कृत १. चांदमल पाण्ड्या पुरस्कार (१९८१), २. महावीर पुरस्कार (१९८८), ३. चम्पालाल सांड साहित्य पुरस्कार (१९९०), ४. उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ से विशिष्ट पुरस्कार (१९९७), ५. श्रुतसंवर्धन संस्थान पुरस्कार एवं "जैन रत्न" की सम्मानित उपाधि, ६. गोम्मटेश्वर विद्यापीठ पुरस्कार (२००२), ७. महाकवि आचार्य ज्ञानसागर एकादश पुरस्कार (इक्यावन हजार की सम्मान निधि के साथ) २००६
पत्राचार हेतु वर्तमान पता	:	प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', बी. २३/४५, पी-६ अनेकान्त विद्या भवन, शारदानगर कालोनी, खोजवाँ, वाराणसी-२२१०१०
फोन नम्बर	:	(०५४२) २३१५४५१, फैक्स - ०५४२-२३११८१७
मोबाइल नम्बर	:	९४५०१७९२५४

सम्पादकीय

जैनदर्शन का वैशिष्ट्य

भारतीय दर्शन के प्राचीन मूलशास्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहाँ विभिन्न दार्शनिक मतों में शास्त्रार्थ एवं लेखन आदि के माध्यम से परस्पर खण्डन-मण्डन की समृद्ध परम्परायें रही हैं। तत्त्वानुशीलन की दृष्टि से सौहार्द भावपूर्वक इन परम्पराओं का प्रचलन स्वस्थ कहा जा सकता है, किन्तु जहाँ एक-दूसरे को नीचा दिखाने या अपमानित करने आदि के उद्देश्य से सम्पन्न इन परम्पराओं से विखण्डन की स्थितियाँ ही अधिक निर्मित होती हैं। ऐसे कार्यों के परिणाम भी अपने देश, समाज, साहित्य एवं संस्कृति-सभी को भुगतने पड़े। परस्पर दार्शनिक मतों के खण्डन-मण्डन पूर्ण वातावरण में चुनौतियों का मुकाबला करने और अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु अनेकान्तवादी जैन दार्शनिकों को भी इन परम्पराओं को अपनाना पड़ा, फिर भी आचार्य उमास्वामी, सिद्धसेन दिवाकर जैसे अनेक ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने समन्वय के सूत्रों की रक्षा अन्त तक की। और इसका प्रमुख कारण रहा, उनका अनेकान्तवादी चिन्तनधारा के प्रति अटल विश्वास।

जैनदर्शन की यही विशेषता रही कि उसने सत्यान्वेषण के द्वार कभी बन्द नहीं होने दिये और ऐसा करने हेतु किसी पुरुष विशेष को उसका अधिकार भी नहीं दिया, चाहे वह कितना ही बड़ा या ईश्वर ही क्यों न हो? तीर्थंकर महावीर की यह अमृतवाणी-"अप्पणा सच्चमेसेज्जा"-अर्थात् सत्य की खोज तुम स्वयं करो-यह वचन बहुत महत्त्व रखता है। इस प्रकार के सूत्रों से युक्त स्वस्थ चिन्तनधाराओं ने जैनदर्शन को उत्कृष्ट वैज्ञानिक दर्शन की मान्यता का गौरव प्रदान किया। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भी सत्य की खोज के अधिकारों की स्वतन्त्रता है। यद्यपि जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है तो विज्ञान ने इस स्वतंत्रता का जहाँ सदुपयोग किया वहाँ आशातीत प्रगति और समृद्धि के द्वार उद्घाटित हुए, किन्तु जहाँ उसने इसका दुरुपयोग किया, वहाँ विनाश के भयावह परिणाम भी देखने को मिले। यही बात दर्शन के क्षेत्रों में भी लागू होती है। ईश्वर सृष्टि कर्तृत्ववादी, और वेद प्रामाण्यवादी दार्शनिकों के साथ ही श्रमण परम्परा के ही बौद्ध दार्शनिकों तथा जैनाचार्यों के मध्य भी परस्पर वाद-विवाद, शास्त्रार्थ और शास्त्रों के माध्यम से खण्डन-मण्डन बराबर होते रहे। वस्तुतः धर्म-दर्शन के क्षेत्र में परस्पर मतभेदों का होना स्वाभाविक एवं सामान्य माना जाना चाहिए था, किन्तु दुराग्रहवश जैनधर्म-दर्शन को नास्तिक दर्शन की कोटि में रख दिया गया। यद्यपि इन सब कारणों से जैन धर्म-दर्शन-संस्कृति, साहित्य और समाज को विभिन्न क्षेत्रों

में घोर उपेक्षा तथा अनेक संकटों का सामना करना पड़ा, किन्तु जैनधर्म-दर्शन और संस्कृति की अविरल धारा की अपनी विशिष्ट संयम साधना, सदाचरण तथा अपने शास्वत उदार सिद्धान्तों और समृद्ध परम्पराओं की मजबूत बुनियाद पर अटल विश्वास के कारण प्राचीन काल से ही भारत में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में अपनी विशेष पहचान और महत्त्वपूर्ण स्थान आजतक बना है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और परम्परा

वस्तुतः जैनधर्म दर्शन के अन्य नामों में आर्हत, निर्ग्रन्थ तथा श्रमण रूप से प्रचलित हैं। इसके अनुसार श्रमण की मुख्य विशेषतायें हैं-चित्तवृत्तिकी चंचलता, संकल्प-विकल्प और इष्टानिष्ट भावनाओं से विरत रहकर, उपशान्त रहना, समभाव पूर्वक स्व पर कल्याण करना। इन विशेषताओं से युक्त श्रमणों द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और आचरित संस्कृति को श्रमण-संस्कृति कहा जाता है। यह संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण सदा से गरिमामण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है। इपनी इन विशेषताओं के कारण ही अपने देश में अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद भी इस संस्कृति ने अपना पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर युग निर्माता ऋषभदेव को श्रमण संस्कृति अर्थात् जैनधर्म का आद्य प्रवर्तक माना गया है। ऋषभदेव से लेकर तीर्थंकरों की जो परम्परा प्रारम्भ हुई, वह प्रागैतिहासिक काल में होने से उस समय की ऐतिहासिक स्थिति की जानकारी नहीं हो सकती, पर यह तो स्पष्ट है कि वह परम्परा श्रमण संस्कृति की वाहक थी, वैदिक संस्कृति का मूल स्रोत इससे नितान्त भिन्न था। यद्यपि दीर्घकाल से एक साथ रहने के कारण परस्पर आदान-प्रदान भी खूब होता रहा। वस्तुतः श्रमण संस्कृति अध्यात्म की पोषक है। इसीलिए श्रमण संस्कृति ने जहां चिन्तन के धरातल पर आत्मा, परमात्मा, कर्म-सिद्धान्त तथा मोक्ष आदि तत्त्वों को प्रधानता दी, वहीं वैदिक संस्कृति ने इनके साथ ही देवी-देवता, प्रकृति, गृह-जीवन की सफलता आदि को भी प्रमुख मान भौतिक कल्याण या इहलौकिक लक्ष्यों पर अधिक बल दिया है। यहीं से जैन संस्कृति की विशिष्टता का बिन्दु शुरू होता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसमें समृद्ध तथा प्राचीन जैन-धर्म और उसकी विशाल सांस्कृतिक परम्पराओं की विशेष उपेक्षा हुई है। जबकि यह श्रमण परम्परा विभिन्न कालखण्डों और क्षेत्रों में आर्हत्, व्रात्य, श्रमण, निर्ग्रन्थ, जिन तथा जैन इत्यादि नामों से सदा विद्यमान और विख्यात रही है। इतिहास में इसकी अनदेखी या इसे भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करने अथवा इसके उपेक्षित होने की सभी को पीड़ा होना भी स्वाभाविक है।

आश्चर्य तब और भी अधिक होता है जब विभिन्न प्रमाणों, विशेषकर अनेक वैदिक पुराणों आदि से यह सिद्ध हो चुका है कि जैनधर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम से हमारे देश का "**भारतवर्ष**" नाम विख्यात हुआ। इतना ही नहीं, अपने भारत देश का इससे भी पूर्व प्राचीन "अजनाभवर्ष" नाम भी ऋषभदेव के पिता नाभिराज के नाम से प्रसिद्ध था। किन्तु इस विषय में अनेक विद्वान् आज भी आग्रहवश विभिन्न भ्रान्त धारणायें बनाये हुए हैं। इसी तरह जैनधर्म के आद्य संस्थापक या प्रवर्तक के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएं पाठ्य तथा इतिहास पुस्तकों आदि तक में प्रचलित हैं। जबकि इसके आदि-संस्थापक अन्तिम तीर्थंकर महावीर नहीं अपितु प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं, जो कि ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध हो चुके हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जैकोबी ने विभिन्न प्रमाणों से ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक सिद्ध किया। विश्वविख्यात विद्वान् डॉ. राधाकृष्णन ने भी अपने ग्रन्थ इण्डियन फिलॉसफी (भाग-एक, पृष्ठ-२८७) में जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करते हुए यजुर्वेद आदि वैदिक साहित्य में प्रयुक्त ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि-इन तीर्थकरों के नामों की ओर संकेत किया है। इन्होंने भी ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक माना और बतलाया कि श्रीमद्‌भागवत पुराण से भी इसका समर्थन होता है। इस तरह अब विद्वान् यह स्वीकार करने लगे हैं कि वैदिक साहित्य में वातरसनामुनि, केशी, व्रात्य, पणि, यति, नाग आदि तथा ऋषभ आदि कुछ तीर्थंकरों के नामोल्लेख श्रमण संस्कृति की प्राचीनता और मौलिकता के द्योतक हैं।

जैनधर्म-दर्शन नास्तिक नहीं है

भारतीय दर्शन का जब हम अध्ययन करते हैं, तब सामान्यतः कुछ आग्रही विद्वान् भारतीय धर्म-दर्शन का विभाजन ही आस्तिक धर्म-दर्शन के आधार पर करके चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन के साथ ही जैनधर्म-दर्शन को "नास्तिक" दर्शन की श्रेणी में रख देते हैं। वस्तुतः धर्म-दर्शन का इस तरह विभाजन या भारतीय दर्शनों के विभाजन की यह विधि ही मिथ्या होने से नितान्त अज्ञान एवं आग्रहमूलक है। क्योंकि आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक और पुनर्जन्म आदि मान्यताओं में जो गहरा विश्वास रखता है, तथा जिसकी आधारभूत तात्त्विक मान्यतायें ही यही हैं, तब उसे नास्तिक कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि ये ही तो आस्तिकता के आधारभूत गुण हैं। तब इस मान्यता और परिभाषा की कसौटी के अनुसार तो जैनधर्म-दर्शन जितना आस्तिकता की कसौटी पर खरा उतरता है, उतने तो आस्तिक कहलाने वाले धर्मदर्शन भी खरे नहीं उतरते हैं। तब जैनधर्म-दर्शन तो श्रेष्ठ "आस्तिक" धर्म-दर्शन सिद्ध होता है। अतः जैनधर्म-दर्शन को नास्तिक दर्शन की श्रेणी में रखना नितान्त आग्रहपूर्ण होने से मिथ्या है, इस मिथ्या धारणा का निर्मूलन अब

और भी अति आवश्यक है। आशा है कि भारतीय दार्शनिक इस दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार कर इस भूल का परिमार्जन करेंगे।

ईश्वर कर्तृत्व का निषेध

जैनधर्म-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसने ईश्वर की अपेक्षा प्रत्येक जीव और उसके आत्म-स्वातंत्र्य को प्रमुखता दी और कहा कि-प्रत्येक जीव में स्वयं ईश्वर या परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। इसे किसी ईश्वर या अदृश्य शक्ति की नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक आत्मा की उन्नति उसके पुरुषार्थ पर निर्भर करती है। ईश्वर तो एक आत्मिक आदर्श है, जो राग-द्वेष रहित परम वीतरागी है, जो पूर्ण शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष में स्थित है। उनकी पूजा-भक्ति भी सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए नहीं, अपितु उनके गुणों के ग्राहक बनकर, उन जैसे बनकर अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए की जाती है। हाँ यह बात जरूर है कि जिस तरह पेड़ के नीचे जाने पर व्यक्ति को उस पेड़ की छाया स्वतः मिल जाती है, माँगी नहीं जाती, उसी प्रकार पवित्र भावों से प्रभु की शरण या भक्ति स्तवन आदि से सुख रूपी शीतलता की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, उनसे इनकी आकांक्षा या याचना करना तो अज्ञान ही कहा जाएगा।

जैनदर्शन पुरुष विशेष (ईश्वर) में विश्वास नहीं करता अपितु प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा बनने की शक्ति का उद्घोष करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जीव स्वयं ही अपना प्रभु (ईश्वर) है, अन्य कोई नहीं। अतः प्रत्येक जीव को अपना आत्म-विकास स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से करना है, अन्य के आश्रय या दया से नहीं। क्योंकि स्वयं के सुख-दुख या मुक्ति में किसी बाहरी ईश्वर का कर्तृत्व या हस्तक्षेप जैनधर्म नहीं मानता। जैनधर्म ने मनुष्य के भाग्य को ईश्वर और देवों के हाथ से निकालकर स्वयं मनुष्य के ही हाथ में रखा है। तीर्थकरों ने ईश्वर कर्तृत्व विषयक मान्यता के विरूद्ध क्रान्ति करते हुए कहा था कि प्रत्येक आत्मा (जीव) अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है, कोई ईश्वर आदि बाहरी शक्ति न तो उसे कुछ दे सकती है और न ही उसके पाप या अपराध आदि माफ कर सकती है। वह जैसा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल भोगना पड़ेगा। उसके दुःखों से मुक्ति का उपाय क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों एवं राग-द्वेष आदि (दोषों) से पूर्णतः मुक्त होना है।

कोई यह पूछ सकता है कि जैन धर्म के अनुयायी भी तो तीर्थंकरों की पूजा-भक्ति आदि रूप उपासना करते हैं, तब क्या इसमें कर्तृत्व भावना नहीं छिपी? किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जैनधर्म में मूलतः तीर्थंकरों से सांसारिक सुख की चाह या अन्य कोई इच्छापूर्ति हेतु उपासना की परम्परा नहीं है, अपितु उपासना का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि उनके

आदर्शों पर चलकर, उनसे प्रेरणा ग्रहण कर तथा अपना पुरुषार्थ जगाकर वैसी संयम साधना करके कषायमुक्त होकर उन जैसा बनने का प्रयत्न करें। तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के मंगलाचरण में आचार्य उमास्वामी (ईसा की प्रथम शती) ने कहा भी है-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद् गुणलब्धये।।

अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन (खण्डन) करने वाले हैं, समस्त पदार्थों के ज्ञाता सर्वज्ञ हैं-ऐसे वीतरागी पवित्र सर्वज्ञ (जिनेन्द्रदेव) को, उनके इन गुणों की प्राप्ति के लिए, मैं उन्हें नमन करता हूँ।

इस तरह देखते हैं कि आराधक की भक्ति और श्रद्धा में कर्तृत्वबुद्धि नहीं, अपितु सामने विराजमान आराध्य तीर्थंकर भगवान् के उन गुणों के प्रति भक्ति है, जिन गुणों के कारण व्यक्ति पूज्य या आराध्य बना है, ताकि उन गुणों से प्रेरणा प्राप्तकर अपने आत्मा में भी उन गुणों का विकास करके एक दिन वह स्वयं भी आराध्य के समान बन सके। जो धर्म को सर्वशक्तिमान मानकर कर्तृत्व भाव से ईश्वर, अवतार, देवी, देवता या भगवान् के किसी रूप की मूर्ति बनाकर अराधना करते हैं, उनके यहाँ मूर्ति-पूजा का उद्देश्य उनके गुणों की पूजा नहीं, अपितु अपनी भक्ति-पूजा से उन्हें प्रसन्न करके उनका अनुग्रह प्राप्त करना या अपनी कोई सांसारिक इच्छा या मनोकामना पूर्ति करना है। जबकि जैनधर्म में आदर्श की पूजा का समर्थक होने से यहाँ मूर्ति पूजा के द्वारा मूर्तिमान के गुणों की पूजा का विधान है। इसलिए जिन-मार्ग (जैनधर्म) प्रकाश का मार्ग है। प्रकाशधर्मी होने के कारण जीव को सम्यग्दर्शन (सच्चा श्रद्धान) होने पर वह सच्चा ज्ञान प्राप्त करता है, तत्पश्चात् उसकी धार्मिक-आध्यात्मिक क्रियायें। इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय द्वारा आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग-प्रशस्त किया है।

चिन्तनधारा : वस्तुतः जैनदर्शन का आचार-विचार आत्मानुलक्ष्यी है। "अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है-यह अध्यात्म की मूल मान्यता है। आत्मवादी जैनदर्शन ने परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए वीतरागता को ही प्रमुखता दी है। जैनदर्शन के अनुसार राग-द्वेष ही संसार का और वीतरागता ही मुक्ति (मोक्ष) का मार्ग है, जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की एकरूपता से प्राप्त होता है। अध्यात्म के धरातल पर जीवन का चरम विकास श्रमण-संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य सच्चे सुख की प्राप्ति है। यह सुख आत्म स्वातंत्र्य से ही संभव है। कर्मबन्धन युक्त संसारी जीव इसकी पहचान नहीं कर पाता। वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है। श्रमण संस्कृति व्यक्ति को इस भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निःश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है।

इसलिए निःश्रेयस् की प्राप्ति रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चलकर सम्भव है। सम्यक्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपनी समग्रता में इस मोक्षमार्ग का निर्माण करते हैं। प्राचीन काल से लेकर श्रमणधरा के प्रत्येक महान् साधकों ने सर्वप्रथम स्वयं के जीवन में इस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का अनुसरण किया और अपनी साधना की उपलब्धियों के अनन्तर इसी मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। इससे जो आचार-संहिता निर्मित हुई, वह श्रमण परम्परा की एक समग्र "आचार-संहिता" बनी, जिसमें सामान्य गृहस्थ (श्रावक) एवं इसके बाद श्रमण (साधु) के संयमी जीवन से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक की साधना और उसके अनुरूप आचार-सम्बन्धी नियम-उपनियम आदि का विधान किया गया है।

आध्यात्मिक विकास के लिए आचार की प्रथम सीढ़ी सम्मत्तं, सम्मादिट्ठि या सम्यग्दर्शन है। बिना इसके ज्ञान विकास का साधन नहीं हो सकता और संयम साधना भी सम्यक् नहीं हो सकती। इसीलिए श्रावक और श्रमण दोनों के लिए सम्यग्दर्शन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसके बाद ज्ञान स्वतः विकासोन्मुखी हो जाता है। किन्तु ज्ञान की समग्रता साधना के बिना सम्भव नहीं। इसीलिए "णाणस्स सारं आयारो" तथा "चरित्तं खलु धम्मो" कहकर आचार या चारित्र, संयम एवं तपश्चरण को विशेष रूप से आवश्यक माना गया है। सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति आचारमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए क्रमशः श्रावक एवं श्रमण के आचार को स्वीकार करता है अथवा सामर्थ्य के अनुसार श्रमणधर्म स्वीकार कर लेता है। श्रावक और श्रमण के आचार का स्वतन्त्र रूप से विस्तृत विवेचन करके जैन मनीषियों ने जीवन के समग्र विकास के लिए स्वतंत्र रूप से आचार संहिताओं का निर्माण किया है। विभिन्न युगों में देश-काल और परिस्थितियों के अनुकूल नियमोपनियमों में विकास भी हुआ है, तथापि सम्यक्चारित्र का मूल लक्ष्य आध्यात्मिक विकास करते हुए मुक्ति प्राप्त करना ही रहा है।

तत्त्व विवेचन : भारतीय दर्शनों में प्रायः दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसके लिए सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में किसी न किसी रूप में तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। बिना तात्त्विक चिन्तन के कोई भी दर्शन अधूरा ही है। उपनिषद् का तत्त्वज्ञान आत्मदर्शन पर विशेष बल देता है। क्योंकि उसी आत्मदर्शन से प्रत्येक मानव का सर्वोच्च साध्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु तथागत बुद्ध ने इसी आत्मदर्शन को संसार का मूल कारण माना है। उन्होंने निर्वाण के लिए चिकित्साशास्त्र की तरह दुःख, दुःख समुदय, दुःखनिरोध और मार्ग-इन चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया। उनके अनुसार आत्मदृष्टि का नाशकर नैरात्म्य भावना से दुःखनिरोध होता है। जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-मोक्ष प्राप्ति के इन तीन साधनों को रत्नत्रय कहा गया। ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। सामान्य विशेष रूप से इन तत्त्वों का अधिगम करना सम्यग्ज्ञान है तथा राग-द्वेष आदि दोषों

का परिहार करना सम्यक् चारित्र है। इस रत्नत्रय में सर्वाधिक महत्त्व सम्यग्दर्शन का इसलिए है कि इसे मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी कहा गया है। सम्यग्दर्शन का सामान्य अर्थ है तत्त्वार्थ का सच्चा श्रद्धान्। वस्तुतः मोक्षमार्ग में तत्त्वार्थ का सच्चा श्रद्धान्। वस्तुतः मोक्षमार्ग में तत्त्वज्ञान से अधिक उसमें सम्यक् आस्था उपयोगी है और यही आस्था या श्रद्धान धर्म की वह भूमि है, जिस पर शील (सदाचार) का महावृक्ष उत्पन्न होता है। यथार्थ श्रद्धान के अभाव में ज्ञान भी कार्यकारी नहीं हो सकता। अतः ज्ञान को हितावह बनाने का कार्य सम्यग्दर्शन ही करता है।

जब जैनदर्शन में तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन के रूप में परिभाषित किया गया, तब यह जानना स्वाभाविक है कि ये तत्त्व कौन है? जैनदर्शन में सात तत्त्वों का विवेचन किया गया है, वे हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें पुण्य, पाप के संयोजन से ये ही नवपदार्थ कहे जाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल-ये छह द्रव्य भी इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इन सात तत्त्वों में मोक्ष अन्तिम तत्त्व है। इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि मोक्ष प्राप्ति क्यों आवश्यक है ? जिसकी प्राप्ति के लिए जीव उपलब्ध सांसारिक सुखों का परित्याग करके स्वेच्छा से संयम साधना के कष्ट झेलता है ? इसका उत्तर भी स्पष्ट है कि जीव अपने स्वातन्त्र्य के स्वरूप का भान किये बिना और उसके सुखद रूप की झांकी पाये बिना, केवल परतन्त्रता तोड़ने के लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती, जिसके बल पर मुमुक्ष तपस्या और साधना के घोर कष्टों को स्वेच्छा से झेलता है। अतः उस आधारभूत आत्मा के मूल स्वरूप का ज्ञान मुमुक्षु को सर्वप्रथम होना ही चाहिए, जो कि कर्मों के आवरण से आबद्ध है और जिसे छूटना है। इसीलिए तीर्थंकर महावीर ने इन तत्त्वों के साथ ही साथ उस जीव तत्त्व का ज्ञान करना भी आवश्यक बताया, जिस जीव को यह संसार होता है और जो बन्धन काटकर मोक्ष पाना चाहता है।

बंध दो वस्तुओं का होता है। अतः जिस अजीव के सम्पर्क में इसकी विभाव परिणति हो रही है और जिसमें राग-द्वेष करने के कारण उसकी धारा चल रही है और जिन कर्म-पुद्गलों से बद्ध होने के कारण यह जीव स्व-स्वरूप से च्युत है, उस अजीव तत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है। इस तरह जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षु के लिए सर्वप्रथम जानना आवश्यक है।

दशवैकालिक (४/१२) में कहा भी है कि जो नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा? अतः संयम का स्वरूप जानने के लिए जीवादि तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

प्रस्तुत मूल ग्रन्थ प्रवचन परीक्षा के लेखक विद्वान् ने सर्वज्ञ की सत्ता न मानने वाले मीमांसा दर्शन के इस मत का खण्डन किया है। उत्तरपक्ष के रूप में सर्वज्ञसिद्धि हेतु इन्होंने विक्रम की ११वीं शती के महाकवि जैनाचार्य वीरनन्दि विरचित ''चन्द्रप्रभचरितम्'' नामक महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में प्ररूपित "तत्त्व संसिद्धिः" विषयक तेरह पद्यों को अपने मत के समर्थन में उद्धृत किये हैं। (देखिए मूलग्रन्थ के पृष्ठ २१-२२ पर)

वस्तुतः वैदिक दर्शनों में सर्वज्ञता के विषय में दो पक्ष हैं। इनमें मीमांसक सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नहीं करते, जबकि अन्य सभी वैदिक दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। श्रमण परम्परा के अनीश्वरवादी जैन, बौद्ध और सांख्य भी सर्वज्ञ की सत्ता मानते हैं। वैदिक दर्शनों में मीमांसक को छोड़कर ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति में निमित्तकारण मानने वाले जीव को उसके कर्मों का फल देने वाले, उसी के अनुग्रह से ऋषियों द्वारा वेद को अवतार मानने वाले अन्य सभी दर्शन ईश्वरवादी हैं। अतः समस्त कारकों का ज्ञान होने के कारण वे ईश्वर में सर्वज्ञता को भी अनादि अनन्त मानते हैं। किन्तु मुक्त होते ही उनका समस्त ज्ञान जाता रहता है। अतः ईश्वर मुक्तात्माओं में विलक्षण है।

इधर अनीश्वरवादी दर्शनों में बौद्ध अनात्मवादी दर्शन है। सांख्यदर्शन ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानता है, अतः उनके अनुसार पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध छूटते ही मुक्तात्मा ज्ञानशून्य हो जाता है। किन्तु इन सभी दर्शनों में एक मात्र जैनदर्शन ही ऐसा दर्शन है जो मुक्त हो जाने पर भी जीव की सर्वज्ञता स्वीकार करता है। क्योंकि जैनदर्शन चैतन्य आत्मा को को शाश्वत अनन्त ज्ञान, दर्शन, बल और सुख रूप अनन्त-चतुष्टय से परिपूर्ण मानता है। आत्मा के ये स्वाभाविक गुण प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं, किन्तु अज्ञान और मिथ्यात्वादि के कारण संसार-अवस्था में कर्मों के आवरण से वे आवृत्त (ढके) होने से वे पूर्णतः प्रकट नहीं हो पाते। किन्तु जब कोई आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय पूर्वक जैसे-जैसे उत्कृष्ट संयम, तप, ध्यान और योग की साधना करता जाता है, वैसे-वैसे उसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय-इन चारी घातिया कर्मों का आवरण दूर हो जाता है और उसके ये स्वाभाविक गुण पूर्ण प्रकाशमान अर्थात् प्रकट हो जाते हैं और वह केवल ज्ञान प्राप्त करके पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ एवं वीतरागी बन जाता है। ऐसा सर्वज्ञ ही दूसरे सभी सांसारिक जीवों को मोक्ष मार्ग के उपदेष्टा होने का अधिकारी है। ऐसा होने पर उसके उपदेशों में अज्ञानजन्य और राग-द्वेषजन्य असत्यता का पूर्णतः अभाव हो जाता है। इसीलिए तीसरी शताब्दी के प्रखर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है-

आप्तेनोछिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।। ५।।

अर्थात् आप्त को नियम से वीतरागी, सर्वज्ञ और आगम का उपदेष्टा होना चाहिए, इसके बिना आप्तता (सर्वज्ञता) हो ही नहीं सकती।

इस तरह जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। किन्तु मीमांसक जीव, अजीव, पुण्य, पाप और सुख-दुःख स्वीकार करके भी मोक्ष के विषय में विवाद करते हैं और मोक्ष के सद्भाव को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं-

घृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नैति जातुचित्।
विशुद्धयति कुतश्चित्तं तथा।।

(यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य आ. सोमदेवसूरिकृत, भाग-२५०)

अर्थात् जैसे घिस गया कोयला कभी सफेद नहीं हो सकता वैसे ही स्वभाव से मलिन मन भी कैसे शुद्ध हो सकता है ? और मन की शद्धि के बिना आत्मशुद्धि नहीं हो सकती और आत्मशुद्धि के बिना मोक्ष भी नहीं हो सकता-इसी दृष्टि से प्रस्तुत प्रवचन परीक्षा ग्रन्थ में ग्रान्थकार ने आ. वीरनन्दि के चन्द्रप्रभचरित के इस विषयक विवेचन को उद्धृत करते हुए मीमांसकों के मोक्षाभाव को पूर्वपक्ष मानकर उसका खण्डन किया है गया है।

वे कहते हैं कि मोक्षाभाव रूप मीमांसकों की यह विप्रतिपत्ति उचित नहीं है, इसमें अनुमान प्रमाण से बाधा आती है। क्योंकि जैनदर्शन में ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म माने गये हैं और इन आठ कर्मों के क्षय को मोक्ष कहा है, जो कि अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। अनुमान के आधार पर किसी विशिष्ट पुरुष में समस्त आवरणों का क्षय हुए बिना उसमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती।

इसी के आगे ग्रन्थकार सर्वज्ञसिद्धि के प्रसंग में कहते हैं कि कर्म को देखकर उसके कारणों का सद्भाव मान लेना अनिवार्य होता है। अतः यहाँ सर्वज्ञता कार्य है और समसत कर्मों का क्षय उसका कारण है। सर्वज्ञता का बाधक कोई प्रमाण नहीं हैं, अतः सर्वज्ञता को असिद्ध नहीं ठहराया जा सकता। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थ का सद्भाव या असद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता, अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष सर्वज्ञ का बाधक नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष-यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में पुनः मीमांसक शंका करते हैं कि व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि वह पुरुष है, जैसे कोई राहगीर। इस अनुमान से बाधा आने के कारण सर्वज्ञता का सद्भाव कैसे मान लें?

उत्तरपक्ष-इस शंका का समाधन जैनाचार्य देते हुए कहते हैं कि जिस तरह पुरुषत्व के रहते हुए भी किसी व्यक्ति में समस्त वेदों के अर्थज्ञान का अतिशय प्रकट हो जाता है,

अतः मीमांसकों की यह आशंका व्यर्थ है। इसी प्रकार उपमान एवं अर्थापत्ति प्रमाण तथा पौरुषेय आगम से भी सर्वज्ञता के अभाव की सिद्धि सम्भव नहीं है। अभाव प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना सम्भव नहीं, क्योंकि जिसे एक बार देख लिया जाये उसी का अभाव सिद्ध किया जा सकता है। सर्वज्ञ चक्षुगोचर ही नहीं है, उसे देखा नहीं, तब उसका अभाव कैसे सिद्ध हो सकेगा?

इस तरह सर्वज्ञता सिद्ध हो जोने पर मोक्ष भी अपने आप सिद्ध हो जाता है। अन्तिम तत्त्व मोक्ष सिद्ध होने पर जीव, अजीव, आस्रव, बन्धु, संवर एवं निर्जरा-इन तत्त्वों की भी संसिद्धि सहज ही हो जाती है।

प्रमाण और नय-प्रवचनपरीक्षाकार ने (पृष्ठ-३५ पर) आचार्य अकलंकदेव (ईसा की आठवीं शती) कृत लघीयस्त्रय की निम्नलिखित कारिका भी उद्धृत की है-

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम
स्तान् त्वत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक्।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षावानकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम्।। ५० ।।

चूँकि जैनदर्शन में प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान होता है, अतः एकान्तवादी बौद्ध आदि अपने मत का अभ्यास करके प्रत्यक्ष से ग्राह्य और परीक्षा करने के लिए भी शक्य अनेकान्तात्मक तत्त्व की ओर लक्ष्य नहीं करते। अतः तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले ऐसे एकान्तवादी सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इसलिए विचारशील निर्दोष परीक्षकजन वीर जिनेन्द्र की ही शरण में जाते हैं। अतः दोष और आवरण से रहित सर्वज्ञाता, ज्ञानवान् तथा स्याद्वादी आपके लिए हमारा नमन है।

जैन दर्शन में सत्ता की परिभाषा उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक रूप से की गई तथा पदार्थ के यथार्थज्ञान के लिए प्रमाण के साथ ही "नय" जैसे मौलिक विषय की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया तथा स्याद्वाद और अनेकान्तवाद रूप बुद्धि एवं वचनशैली का प्रतिपादन करते हुए, बड़े ही दावे के साथ यह भी कहा कि-

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचंद शास्त्री ने अपनी कृति "जैनन्याय" (भूमिका पृष्ठ-५-६) में ठीक ही लिखा है कि-जैनदर्शन प्रमाण और नय से वस्तु की सिद्धि मानता है। स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है। यह ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, अतः उसे आत्मा शब्द से भी

कहते हैं। अनन्त धर्मवाली वस्तु के किसी एक धर्म को जानने ज्ञान को "नय" कहते हैं। इसके दो भेद हैं। जो नय वस्तु को केवल द्रव्य की मुख्यता से ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं तथा जो नय वस्तु की पर्याय की मुख्यता से ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

इस तरह नय, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद जैनदर्शन की मौलिक देन है, इसीलिए अन्य दर्शनों में इनकी ध्वनि सुनाई नहीं देती। अनेकान्तवाद के दो फलितवाद हैं- १. सप्तभंगीवाद और २. नयवाद। ये सब जैनदर्शन की मौलिक विशेषतायें हैं। जैन आचार्यों ने इनके निरूपण और विवेचन में प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश इन प्राचीन भाषाओं में बड़े-बड़े अनेक मूल ग्रन्थ लिखे हैं और अनेकान्तवाद के बल से ही अन्य दार्शनिकों का निराकरण और खण्डन किया है। जब बादरायण जैसे सूत्रकारों ने उसके खण्डन में सूत्र रचे और उन सूत्रों के भाष्यकारों ने अपने भष्यों में स्याद्वाद का खण्डन किया तथा वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित जैसे बड़े-बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद की आलोचना की तो जैन विद्वानों ने भी उनका डटकर सामना किया और उसके संरक्षण के लिए शास्त्रार्थ भी किये। इस संघर्ष के फलस्वरूप जहाँ एक ओर अनेकान्त का तर्कपूर्ण विकास हुआ वहाँ दूसरी ओर उसका प्रभाव भी विरोधी दार्शनिकों पर पड़ा।

दक्षिण भारत में जैनाचार्यों का मीमांसक तथा वेदान्तियों के बीच में जो विवाद हुए उसका असर मीमांसादर्शन तथा वेदान्त पर पड़ा। मीमांसक कुमारिल भट्ट ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में जैनाचार्य समन्तभद्र की शैली और शब्दों में तत्त्व को त्रयात्मक बतलाया है तथा रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्त दृष्टि का ही उपयोग किया है।

इस तरह यदि अन्तरशास्त्रीय दृष्टि से गहन अध्ययन किया जाए तो भारतीय दर्शन इसके शास्त्रों और अनेक मौलिक विचारों के विकास में जैनाचार्यों का महनीय योगदान है। प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन जैन आगमों में तो जैनदर्शन के अनेक सूत्र बीज रूप में दिखलाई देते ही हैं, साथ ही ईसा की प्रथम शती से ही इन्हीं आगमिक सूत्रग्रन्थों के आधार पर जैन न्यायविद्या को विकसित करते हुए संस्कृत भाषा में इस विषयक शताधिक मौलिक और विशाल टीका ग्रन्थों की रचना करके जैनाचार्यों ने संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि की है। जैनदर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार के लेखन की परम्परा बीसवीं सदी के अंत तक अबाध रूप में जारी रही।

आचारधर्म : आध्यात्मिक उन्नति के लिए जैनधर्म का आचारपक्ष बहुत ही उत्कृष्ट मार्ग है जो रत्नत्रय में सम्यक्चारित्र के रूप में प्रतिष्ठित है। तृतीय शती के जैनाचार्य स्वामी

समन्तभद्र ने धर्म की परिभाषा बतलाई है कि "संसार-दुःखतः सत्त्वान् यो धरति उत्तमे सुखे सः धर्मः" अर्थात् जो जीवों को सांसारिक दुःखों से निकालकर उत्तम सुख प्रदान करे वही धर्म है। मेरा विश्वास है कि धर्म का आविर्भाव सर्वकल्याण की भावना से ही हुआ था। किसी भी धर्म का उद्देश्य किसी को कष्ट पहुँचाना नहीं है। धर्म से तात्पर्य किसी विशिष्ट नाम अथवा रूढ़िग्रस्त धर्म से नहीं, अपितु एक ऐसे सार्वभौम धर्म से है, जो शाश्वत है।

इसलिए जैनधर्म में चारित्र या आचार की विशेष महत्ता है। चारित्र कैसा होना चाहिए ? इसका स्वरूप हमें पाँच व्रतों-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में मिलता है। जैनपरम्परा में साधु या श्रमण जब इन व्रतों को पूर्णरूप से धारण करते हैं, तो ये पाँच व्रत महाव्रत कहे जाते हैं और साधुओं को महाव्रती कहा जाता है, तथा जब कोई गृहस्थ इन्हीं व्रतों को अपनी-अपनी क्षमता और सीमाओं के अनुसार अल्प या अणु रूप में ग्रहण करता है तो उसे श्रावक या अणुव्रती कहा जाता है तथा उसके इन व्रतों को 'अणुव्रत' कहते हैं।

आध्यात्मिक विकास की पूर्णता में श्रावक या गृहस्थ धर्म पूर्वार्ध है और श्रमणधर्म या मुनिधर्म उत्तरार्ध है। श्रमणधर्म की नींव गृहस्थधर्म पर मजबूत होती है। त्याग और भोग इन दोनों को श्रावक समन्वयात्मक दृष्टि में रखकर आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होते रहते हैं। इसलिए समाज के अभ्युत्थान में श्रावक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह समाज की रीढ़ है।

समन्तभद्राचार्य ने अपने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' नामक ग्रन्थ में जहाँ दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत-इन तीन गुणव्रतों के माध्यम से 'स्वच्छ समाज निर्माण' के मादण्ड बतलाये-वहीं, १. देशावकाशिक (मर्यादित देश, क्षेत्र या स्थान में निर्धारित समय तक रहना), २. सामायिक (समताभावधारण करके पापों का निश्चित समय तक त्याग), ३. प्रोषधोपवास (पर्व आदि में चतुर्विध आहार का त्याग) तथा ४. वैयावृत्य (सेवा)-ये चार शिक्षाव्रत 'वैयक्तिक विकास' के चार बिन्दु बतलाये हैं। पूर्वोक्त तीन गुणव्रतों में दिग्व्रत द्वारा सार्वभौम अनाक्रमण वृत्ति को स्वीकार किया गया है।

जैनधर्म में मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति को परिग्रह (मूर्च्छा परिग्रहः-तत्त्वार्थसूत्र ७/१७) कहा है और इसके त्याग को अपरिग्रह। इसका आधार प्राप्त सम्पदा या सामग्री का समविभाजन। "असंविभागी न हु तस्स मोक्खो" उक्ति के अनुसार समविभाजन के बिना तो किसी जीव की मुक्ति भी संभव नहीं है। इसमें सामाजिक और आर्थिक समानता का तत्त्व निहित है।

गृहस्थधर्म में अपरिग्रह व्रत का अर्थ यह है कि किसी कार्य में जहाँ सीमित साधनों से काम चल जाता है, वहाँ अमर्यादित और अनावश्यक साधनों को जुटाना मूर्खता है।

जहाँ जरूरत से ज्यादा संग्रह होगा, वहाँ शोषण और विषमता होगी, क्योंकि संग्रह के लिए सहजीवियों का शोषण, उत्पीड़न और अनैतिक मार्ग अपनाया जाता है। अतः तीर्थंकर महावीर ने अपरिग्रह के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया और श्रावक के अपरिग्रह अणुव्रत को 'परिग्रह-परिमाण व्रत' नाम दिया।

श्रमण और श्रावक के इस आचारमार्ग या धर्म से प्रभावित होकर जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी ने कहा था कि-"जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें श्रावक और श्रमण दोनों को एक ही तीर्थ (Religious Order) में स्थान मिलता है। यह जैनधर्म की मौलिकता ही नहीं, अपितु इसकी प्राणशक्ति है, जिसके कारण इतने विरोध को झेलते हुए भी जैनधर्म ने अपना अस्तित्व कभी नहीं खोया।

अहिंसा की व्यावहारिकता : यह सत्य है कि प्रायः सभी स्वस्थ चिन्तनधारायें "अहिंसा" को केन्द्र में रखकर प्रसारित होती हैं। क्योंकि यह पहले की कह चुके हैं कि जैनधर्म मूलतः अहिंसा प्रधान धर्म है और इसके सभी तीर्थंकरों ने अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में ही अपने समस्त उपदेश दिये। इनमें इतिहास प्रसिद्ध प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव, बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर का नाम अहिंसक क्रान्ति को प्रभावी बनाने में विशेष उल्लेखनीय है। जैनधर्म में "अहिंसा" सिद्धान्त का जितना विस्तृत, सूक्ष्म और गहन विवेचन किया गया है, उतना ही उसे व्यावहारिक धरातल भी प्रदान किया गया है। व्यवहार में कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से यह अहिंसा-तत्त्व आत्मिक रूप मे परिणत हो जाता है। इसीलिए जैनाचार्यों ने विचार किया है कि यह "अहिंसा" सिद्धान्त इतना जटिल या गहन न बनकर रह जाये कि इसका व्यावहारिक प्रयोग ही कठिन हो जाए। प्रत्येक व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन अहिंसा से ओतप्रोत बन सके, ऐसी व्यावहारिक अहिंसा का भी उन्होंने प्रतिपादन किया, क्योंकि धर्म का आत्मभूत लक्षण अहिंसा ही है। इसके बिना धर्म की कल्पना व्यर्थ है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा भी है, "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्"। इसलिए चाहे श्रमण हो या श्रावक, सभी का यह कर्तव्य है कि वह अपनी स्थिति के अनुसार अहिंसा की मर्यादा में चले, क्योंकि एक गृहस्थ श्रावक के लिए अहिंसा की एक मर्यादा है, उससे अधिक की अपेक्षा करना भी अहिंसा का अतिवाद ही कहलायेगा और ऐसी स्थिति में वह अहिंसा अव्यवहारिक बनकर रह जायेगी।

इतना ही नहीं, मान लीजिए किसी बालक के पेट में कृमि (कीड़े) हो गये हैं, तो उनसे मुक्त होने के लिए जैनधर्म यह कभी नहीं कहता कि उसे औषधि नहीं देनी चाहिए, क्योंकि औषधि देने से जो कृमि मरेंगे, उस हिंसा में प्रमत्तयोग नहीं होगा, क्योंकि औषधि देने वाले चिकित्सक का उद्देश्य और अभिप्राय बालक की जीवनरक्षा का है, न कि कृमि मारना। इसी

प्रकार राजा का भी यह धर्म कदापि नहीं है कि वह पापियों को तथा दुराचारियों को प्राणदण्ड न देवें, अथवा शत्रु पर चढ़ाई न करें और वहां पर अस्त्र-शस्त्र न चलावें। इसमें धर्म किसी प्रकार बाधक नहीं बनता, क्योंकि राजा जो दण्ड देता है अथवा जो लड़ाई में हिंसा करनी पड़ती है, उसका सदाचार की प्रवृत्ति और प्रजा एवं देश रक्षा करने का उद्देश्य रहता है, न कि जीवघात करने का। इसलिए राष्ट्र की उन्नति के लिए अहिंसा धर्म को अपायकारक बतलाना बड़ी भारी भूल है। पानी छानने से भी जन्तुशास्त्र के नियमानुसार वह पूर्णतः जीवराशि रहित तो नहीं होता, पर यह कहकर जो जैनियों का पानी व्यर्थ बतला देते हैं, वह भी अज्ञान तो है ही, उन्हें इस जीवरक्षा के कार्य से हतोत्साहित करना भी है।

अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप : सभी तीर्थंकरों तथा उनकी परम्परा के आचार्यों ने अहिंसा का स्पष्ट और वयावहारिक स्वरूप रखा। इसके स्वरूप के विषय में कोई भ्रम न रहे, अतः उन्होंने पहले हिंसा का स्वरूप बतलाया कि 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' (तत्त्वार्थसूत्र ७/१३) अर्थात् प्रमाद के योग से किसी भी जीव (प्राणों) का घात या वध करना हिंसा है। इस हिंसा का त्याग ही अहिंसा है। उन्होंने कहा-"क्रोध, मान, माया, लोभ-इन चार कषायों तथा राग आदि भावों से युक्त प्रवृत्ति ही प्रमाद है और इस प्रमाद से युक्त मन-वचन-काय की किसी भी प्रवृत्ति या क्रिया के ,ारा अपने या दूसरे के द्रव्य अथवा भाव प्राणों का घात करने या कष्ट पहुँचाने को "हिंसा" कहते हैं और इससे विरत रहना "अहिंसा" है। मूलतः हिंसा-अहिंसा प्रत्येक व्यक्ति के भावों पर निर्भर है। इसके अनुसार जो कोई अहिंसा का सार्वभौम अर्थात् मन-वचन और काय तथा कृत (स्वयं न करना), कारित (दूसरे से न कराना) और अनुमोदना (उस हिंसा का समर्थन न करने) से पूर्णतः पालन करता है, उसके लिए अहिंसा "महाव्रत" रूप होती है, जिनका पालन श्रमण अर्थात् मुनि करते हैं और इस अहिंसा व्रत का जब कोई गृहस्थ व्यक्ति अणु या छोटे या देश रूप में पालन करता है तब वह "श्रावक" कहलाता है और उसकी यही अहिंसा "अणुव्रत" रूप कहलाती है।

वस्तुतः एक गृहस्थ के लिए अहिंसा व्रत को अधिक व्यावहारिक बनाने हेतु हिंसा का विभाजन चार भागों या रूपों में किया, ताकि एक गृहस्थ अपने धर्म, समाज, कुटुम्ब, राष्ट्र आदि के प्रति उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों से विमुख न रहे और अपने श्रावक-धर्म का अच्छी तरह पालन करता हुआ क्रमशः विकास करते हुए इस अणुव्रत तक की यात्रा पूर्ण क अपने आत्मकल्याण के उद्देश्य को प्राप्त करे।

हिंसा के चार भेद इस प्रकार हैं-

(१) **संकल्पी हिंसा**-जानबूझकर, संकल्प करके किसी को सताना, कष्ट पहुँचाना अथवा उसके प्राणों का घात करना संकल्पी हिंसा है। प्रत्येक श्रावक को इस प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग आवश्यक है।

(२) **विरोधी हिंसा**-धर्म, समाज और राष्ट्र-इनकी अस्मिता पर कोई आक्रमण करता है, तो उनकी रक्षार्थ अर्थात् अत्याचारियों से स्व-धन-जन की रक्षा करने में जो हिंसा हो जाती है, वह विरोधी हिंसा है।

(३) **आरम्भी हिंसा**-गृहस्थ द्वारा घर-गृहस्थी के विविध कार्यों के करने में जो हिंसा हो जाती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं।

(४) **उद्योगी हिंसा**-गृहस्थ द्वारा अपने आश्रितों के पालन-पोषण हेतु अत्यावश्यक आजीविका तथा यथा योग्य उद्योग धन्धे या व्यवसाय के सम्पादन में सावधानी के बावजूद जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी हिंसा है। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि प्रत्येक श्रावक का यह भी कर्तव्य है कि वह अपनी अजीविका हेतु ऐसे कार्यों या साधनों का चयन करें। जो हिंसक, लोकनिंदक और धर्मविरुद्ध न हों।

अहिंसा अणुव्रत का भी शुद्धता से पालन करने वालों के लिए जिन पाँच दोषों या अतिचारों का त्याग अनिवार्य बतलाया गया है, वे इस प्रकार हैं-

(१) **बन्ध**-त्रस जीवों को पीड़ादायक कठिन बंधन में बाँधना, कैद या पिंजरे आदि में बन्द करके रखना। जैसे-पशु-पक्षियों आदि किसी भी मूक, असहाय निपराधी जीवों को बलात् पिंजरे तथा अन्य प्रकार के बन्धनों में रखना।

(२) **वध**-किसी भी प्राणी को लाठी, डण्डा, कोड़ा, पत्थर आदि से मारना, पीटना, दुःख देना।

(३) **छविच्छेद**-किसी भी प्राणियों आदि के अंग-भंग करना, नाक-कान छेदना, उन्हें विरूप कर देना।

(४) **अतिभार**-पशुओं या मजदूरों आदि पर उनके सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना या उन्हें ढोने (वहन करने) के लिए बाध्य करना।

(५) **अन्न-पान-निरोध**-पशुओं या अन्य किसी भी प्राणियों का किसी भी कारण से भोजन, पानी, वेतन रोक देना या इनकी जीवनोपयोगी आवश्यकताओं का (भले ही कुछ समय के लिए सही) रोक देना, अन्नपान निरोध है। इन पाँच अतिचारों (दोषों) से अहिंसा अणुव्रत में दूषण लगता है।

वैचारिक अहिंसा और अनेकान्तवाद

अहिंसा को जीवन व्यवहार में लाने एवं उसके पालन करने के लिए वैचारिक मतभेदों को दूर करने का मार्ग जैनधर्म में "अनेकान्त" सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित किया गया।

अनेकान्तवाद वह सिद्धान्त है जो वस्तुतत्त्व विषयक वैज्ञानिक अनुभव पर आधारित है, जो व्यक्ति को उदार एवं सम्यक्-दृष्टि प्रदान करता है। अनेकान्तवाद की यह व्यवस्था है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण-धर्म होते हैं। उनके अनेक पहलू होते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्ति, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उसका वर्णन करते हैं, क्योंकि सत्य किसी व्यक्ति या धर्म की बपौती नहीं है। सबकी बात सहिष्णुतापूर्वक सुनो और जिस दृष्टिकोण से वह कही गयी है उसे उसी दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारे बड़े-से-बड़े विरोधी की बात भी किसी न किसी दृष्टिकोण से सही हो सकती है। उदारतापूर्वक समन्वय-बुद्धि से उस बात को सुनने और उस पर विचार करने की आवश्यकता है। ऐसी दृष्टि प्राप्त होने पर कदाग्रह, हठवाद, पक्षपात आदि के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। समस्त पारस्परिक विवाद एवं झगड़े समाप्त करने का यह अमोघ उपाय है, क्योंकि अनेकान्तवाद के अनुसार परस्परविरोधी प्रतीत होने वाले दो सापेक्षिक सत्य, अपेक्षा भेद से सत्य हो सकते हैं। इसी यथार्थ को स्वीकार करते ही परस्पर संघर्ष और विवाद का कोई मुद्दा ही नहीं रह जाता। अनेकान्त विचारधारा वाला व्यक्ति जो कथन करता है, वह **स्याद्वाद** पद्धति से करता है। ''ही'' के स्थान में ''भी'' का प्रयोग करता है। अपनी बात ही सम्पूर्ण सत्य है और अन्य सबका मत सर्वथा असत्य है-ऐसा एकान्त दावा वह नहीं करता।

इस प्रकार सहिष्णुता पूर्ण उदार समन्वय बुद्धि, पारस्परिक शान्ति की विधायक है। इसका प्रयोग मात्र दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सामाजिक, राजनैतिक तथा लौकिक जीवन के भी प्रत्येक क्षेत्रों में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है और उसके द्वारा शांति का सम्प्रसारण होगा ही। इसीलिए जैनधर्म के इस सापेक्षिक अनेकान्त सिद्धान्त को वैचारिक और व्यावहारिक अहिंसा कहें तो अत्युक्ति न होगी।

वैचारिक हिंसा, शारीरिक हिंसा से कम नहीं होती अपितु वह तो अधिक भयावह होती है। ज्यादातर देखा जाता है कि वैचारिक हिंसा शारीरिक हिंसा का निमित्त बन जाती है। इसीलिए ''अनेकान्त'' सिद्धान्त द्वारा वैचारिक हिंसा का समाधान संभव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनन्त-धर्म (गुण) और पर्याये होती हैं, उन्हें देखने-समझने के लिए भी उतने ही दृष्टिकोण चाहिए। आग्रहवश किसी एक ही दृष्टि से वस्तु के सत्य को देखने का अर्थ है, मात्र अपने स्वीकृत सिद्धान्त का समर्थन और दूसरों की स्वीकृतियों का खंडन। इसी तरह के दुराग्रह ही वैचारिक हिंसा के जन्मदाता होते हैं। वैचारिक जगत् का अनेकान्त दर्शन ही नैतिक जगत में आकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण करता है।

जैसा कि कहा गया है कि जैनधर्म में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है और जैनधर्म और अहिंसा एक दूसरे के पर्यायवाची माने जाते हैं। अनेकान्त सिद्धान्त ने भी वैचारिक क्षेत्रों में फैली हिंसा को रोकने का कार्य किया है। तीर्थंकर महावीर के युग में भी तीन सौ तिरेसठ (३६३) मत प्रचलित थे। आज की तरह ये सभी अपने-अपने वचनों, कथनों और मतों

को ही सही तथा दूसरों को मिथ्या कहकर परस्पर कलह में लिप्त रहते थे। तीर्थंकर महावीर ने अनेकान्त दृष्टि का बल देकर चिंतन की एक सुव्यवस्थित एवं स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात करके वस्तु की पूर्णता को जानने की एक नई दृष्टि प्रदान की। अनेकान्त चिंतन, संकीर्णताओं की कटीली झाड़ियों को एक सुन्दर उद्यान में बदलने की प्रक्रिया है। वस्तुतः दुनिया के देश और मनुष्यों के बीच की अधिकांश समस्यायें, असम्मान, बैर, अविश्वास और आग्रह की समस्यायें हैं। इसका समाधान अनेकान्त की इस भावना में ढूँढा जा सकता है कि-हम एक दूसरे की भावनाओं की कद्र करें।

सर्वोदय की भावना-तीर्थंकर महावीर ने अनेकान्त सिद्धान्त के फलितार्थ के रूप में "सर्वोदय" की भावना मानव के हृदय में स्थायीभाव के रूप में विद्यमान होने की बात कही। इसीलिए उनके धर्मतीर्थ को भी "सर्वोदय तीर्थ" कहा जाता है, जिसमें मात्र मानव ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण लोक के छोटे-बड़े सभी जीवों को निर्भयता से जीने और अपना पूर्ण विकास करने का सुअवसर उपलब्ध है। सर्वोदय का अर्थ ही है "सभी का उदय" अर्थात् सभी को आध्यात्मिक और भौतिक सभी प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति का समान अवसर प्राप्त होना।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी के युक्त्यानुशासन (श्लोक ६१) में तीर्थंकर महावीर के इस अनेकान्तात्मक तीर्थ को "सर्वोदय तीर्थ" के रूप में प्रतिपादित करते हुए सर्वोदय की सर्वप्रथम अवधारणा प्रस्तुत करते हुए कहा कि-

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य कल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।।

हे वीर जिनेन्द्र ! आपका तीर्थ मुख्य और गौण की अपेक्षा समस्त धर्मों (अपेक्षाओं) की व्यवस्था से युक्त है। और वह सम्पूर्ण आपदाओं का अन्त करने वाला और स्वयं अंत रहित (अविनाशी) सर्वोदय रूप है।

सर्वोदय तीर्थ का यह भी सन्देश है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है। तीर्थंकर महावीर ने वस्तु के जिस अनेकान्तात्मक सर्वोदय स्वरूप को प्रतिपादित किया उसमें वस्तु स्वातन्त्र्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। उन्होंने कहा कि विश्व का प्रत्येक द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र एवं अपने परिणमन का कर्ता-हर्ता स्वयं है, कोई दूसरा नहीं।

समानता और सुख का स्रोत : समता-समता के जीवन की विषमताओं में संतुलन बना रहता है और जीवन में संतुलन बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसके बिगड़ने से जीवन नौका ही डगमगा जायेगी। वीतरागता ही समभाव का सर्वोच्च शिखर है। समभाव की वृद्धि से सुखवृद्धि का एक चामत्कारिक प्रयोग सफल होता है। क्योंकि प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभावी हर हाल में खुश रहता है।

जैनधर्म की मान्यता है कि संसार में किसी को सुख दुख देने वाला न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है। प्रत्येक जीव की जो पापमय परिणति है, वही दुःख देने वाली है, अहितकारी है और वही उसकी शत्रु है। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप जो परिणति है, वही सुख देने वाली है, वही मित्र है, वही हितकारी है। अपने बांधे हुए शुभाशुभ कर्म ही सुख-दुःख के कारण हैं। अन्यों को कारण मानना समझना अज्ञानता है, मिथ्या है। जो व्यक्ति उपर्युक्त तथ्य पर निश्चयपूर्वक श्रद्धा करता है, निश्चय ही वही सच्चा सुख प्रदान करता है। क्योंकि इस मान्यता से वह सुख-दुःख आने पर समता भाव रखता है।

समता के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ-इन चार भावनाओं का प्रतिपादन करते हुए जैनधर्म में कहा गया है कि-

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव !।।

अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव हो, गुणवान् व्यक्तियों को देखकर मेरे हृदय में प्रमोद (उल्लास) की भावना जाग्रत हो तथा कष्ट या दुःखी प्राणियों के प्रति मेरे मन में सदा करुणाभाव हो, साथ ही विरोधी जीवों के प्रति मेरे मन में मध्यस्थ भाव हो। इन्हीं चार भावनाओं को हम इस प्रकार समझ सकते हैं -

१. **मैत्री भावना**-सब प्राणियों के प्रति मित्रता और प्रेम की भावना रखना ही मैत्री है। इसमें भाईचारा और इससे भी बढ़कर विश्वबंधुत्व की भावना छिपी है। संसार के सभी प्राणी सुखी रहें, स्वस्थ रहें - यह हमारी सनातन कामना रही है। समस्त विश्व को एक घोंसले के रूप में देखना हमारे तीर्थंकरों एवं आचार्यों की शाश्वत भावना रही है। इसके अन्तर्गत "मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे" इस प्रकार की मंगल कामना प्रत्येक जीव के हृदय में रहना चाहिए।

२. **प्रमोद भावना**-जो अपने से अधिक उन्नत, गुणवान, ज्ञानवान अथवा गौरवशाली हो, उसकी सेवा-स्तुति करना और उन्हें देखकर आनन्द का अनुभव करना ही प्रमोद भावना है। दूसरों के अच्छे और महान कार्यों की सराहना उनकी चर्या का अभिन्न अंग ही नहीं, अपितु किसी भद्र पुरुष का आवश्यक गुण भी माना जाता है। ऐसा न करने वाले को असभ्य तक कहा जाता है। सभ्य का अपराध क्षमा करना भी इसी के अन्तर्गत आता है। इसमें भी क्षमा याचना की तथा कभी भी प्रमाद या किसी के प्रति असत् प्रवृत्ति होने पर तुरन्त क्षमा याचना कर लेना क्रमशः वक्ता और श्रोता की शालीनता तथा क्षमा भावना को व्यक्त करता है। इसके अन्तर्गत "गुणी जनों को देखकर हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवें" की भावना सदा मन में होनी चाहिए।

३. **कारुण्य भावना**-दीन-दुखियों के प्रति करुणा की भावना रखना, उसे सुख पहुँचाना ही करुणा है। समाज में सत्य, अहिंसा, दया, सहयोग आदि मानव मूल्यों की तरह करुणा भी महत्वपूर्ण है। यह करुणा मात्र मनुष्यों तक ही नहीं, अपितु संसार के छोटे-बड़े सभी जीवों के प्रति होना आवश्यक है।

४. **माध्यस्थ भावना**-जो अपने विरोधी या द्वेषी, शत्रु या विपरीत बुद्धि या वृत्तिवाले हो उसके प्रति क्रोध आदि न करके, तटस्थता का भाव रखना माध्यस्थ भावना है। प्रकारांत से यह क्षमा रूपी जीवनमूल्य का पर्याय है। इसे हम अहिंसा का ही एक अंग मान सकते हैं।

जैनधर्म में गुणों की पूजा की जाती है किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, इसका सप्रमाण उदाहरण जैनधर्म का अनादि निधन "णमोकार महामंत्र" है। जो इस प्रकार है-

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

इस मंत्र की साधना से अनेक दुःखों से छुटकारा मिलता है और सुख की प्राप्ति होती है। आश्चर्य यह है कि आज इच्छाओं की पूर्ति में ही अज्ञानी सुख की खोज करता है। आशा रूपी गड्ढा प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। अनन्त जन्मों में इसकी पूर्ति सम्भव नहीं हो पायी। इसलिए आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने कहा है -

आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा ते विषयैषिणा।।

इसलिए जिस मार्ग से इच्छाओं पर संयम पाया जा सके, इंद्रिय-संयम किया जा सके, ऐसा मार्ग ही जिनशासन जैनधर्म है। इसको धारण करने से निराकुलता रूपी शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है।

जैन आगम साहित्य और उसकी परम्परा - प्राकृत भाषा में निबद्ध जैन आगम साहित्य विशाल है। आज यह प्रमुख रूप से अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध है। इन दोनों भाषाओं का यह आगम साहित्य प्रमुख रूप में जैन धर्म की दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्पराओं में उपलब्ध है। यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा मान्य उपलब्ध अर्धमागधी आगम साहित्य को दिगम्बर जैन परम्परा मान्य नहीं करती। दिगम्बर परम्परा यह मानती है कि आगे उल्लिखित आगम साहित्य लुप्त हो चुका है। मात्र बारहवें दृष्टिवाद अंग का कुछ अंश कसायपाहुड और षट्खण्डागम के रूप में उपलब्ध होता है। किन्तु बारह अंग आगमों और चौदह पूर्व आगम शास्त्रों का विस्तृत विषय परिचय एवं

विवरण के उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। प्रस्तुत प्रवचन परीक्षा में भी इन आगमों का विषय परिचय और परिमाण आदि का विवरण विशेष उल्लेखनीय है। अतः उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है -

गोम्मटसार जीवकाण्ड (गाथा ३३४) में आचार्य नेमिचंद सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है-

पण्णंवणिज्जाभावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो।।

अनभिलप्य पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण श्रुत में निबद्ध हैं। अर्थात् जो केवलज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं किन्तु वचन के द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता है, इस तरह जिनका वचन के द्वारा निरूपण हो सके ऐसे पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय भाव है। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं, उनका अनन्तवां भाग श्रुत में निबद्ध है। बुद्धि आदि ऋद्धियों के धनी गणाधरों ने अर्हन्त सर्वज्ञदेवरूपी हिमालय से निकली वचनरूपी गंगा के अर्थरूपी निर्मल जल से प्रक्षालित अन्तःकरण द्वारा समस्त श्रुत को ग्रन्थ रूप से निबद्ध कर भव्यात्माओं का अनुपम उपकार किया है।

"केवलणाणदिवायर" केवलज्ञान रूपी सूर्य जिनके भासमान हो चुका है ऐसे अर्हन्त सर्वज्ञदेवरूपी हिमाचल पर्वत से निकली हुई वचनरूपी गंगा के अर्थरूपी जल से प्रक्षालित है अन्तःकरण जिनका, ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धियों के अधीन गणधरों ने जिनवचन रूप मोतियों की श्रुत रूप माला गूंथी। समस्त श्रुत के अक्षर १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ बीस अंक प्रमाण हैं। ये अपुनरुक्त अक्षर श्रुत के हैं। इस मूल वर्ण राशि में मध्यम पद के अक्षर १६३४८३०७८८८ से भाग देने पर जो लब्ध आया श्रुत की अप्रविष्ट संज्ञा हुई, शेष जितने अक्षर रहे - वे अंगबाह्य कहलाये।

आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम्।। तत्त्वार्थवार्तिक १/२०/६३।।

अर्थात् आरातीय आचार्यकृत अंग अर्थ के आधार से रचे गये अंग बाह्य हैं। श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु बुद्धिवाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अङ्गबाह्य हैं।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार वर्तमान में ग्यारह अंग, चौदह पूर्व की उपलब्धि नहीं है। जितना भी श्रुत उपलब्ध है अंग बाह्य है। वह हमारे लिए पूजनीय, वन्दनीय, मननीय और चिन्तनीय है। क्योंकि श्रुतज्ञान स्व-पर उपकारी ज्ञान है। श्रुतज्ञान का माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है -

सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाण तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं।। गोम्मटसार जी.का. ३६६।।

अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान व केवल ज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जिस तरह श्रुतज्ञान द्रव्य और पर्यायों को जानता है उसी तरह केवल ज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है। विशेषता इतनी है कि केवल ज्ञान निरावरण होने से समस्त पदार्थों को उनके सम्पूर्ण गुण व पर्यायों को स्पष्ट रूप से विषय करता है, जबकि श्रुतज्ञान आवरण सहित होने से अस्पष्ट रूप से विषय करता है। श्रुतज्ञान पिता है, केवलज्ञान पुत्र है।

सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण द्वादशांग की श्रद्धा निर्दोष रूप से करता है। यदि एक अक्षर की श्रद्धा न करे और पूरे श्रुत की श्रद्धा भी करे तो सम्यक्त्व दूषित हो जाता है।

अंगप्रविष्ट श्रुत आचारंग आदि बारह अंगों रूप हैं। बारह अंगों के नाम व वर्णित विषय इस प्रकार हैं-

यहाँ प्रवचनपरीक्षा में प्रतिपादित द्वादशाङ्ग आगमों का क्रमशः परिचय प्रस्तुत है-

१. **आचाराङ्ग**-आचाराङ्ग में आठ प्रकार की शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप श्रमण चर्या का प्रतिपादन है। इसमें पदों की संख्या १८००० है। (एक-एक पद का प्रमाण मध्यम पद के अक्षर रूप हैं)

२. **सूत्रकृताङ्ग** - इस अंग में ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का निरूपण है। इसमें ३६००० पद हैं।

३. **स्थानाङ्ग**-इसमें अर्थों के एक-एक, दो-दो आदि अनेक आश्रय रूप से पदार्थों का कथन किया जाता है। इसमें पदों की संख्या ४२००० है।

४. **समवायाङ्ग**-समवायाङ्ग में सर्वपदार्थों की समानता रूप से समवाय का विचार किया गया है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है। जैसे धर्म-अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के तुल्य असंख्यात प्रदेश होने से इन्हें द्रव्यरूप समवाय कहा जाता है। जम्बूद्वीप सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक, नन्दीश्वर द्वीप की वापिका ये सब एक लाख योजन विस्तार वाले होने से इनका क्षेत्र की दृष्टि से समवाय है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों दस कोड़ा-कोड़ी प्रमाण होने से इनका काल की दृष्टि से समवाय है। क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चरित्र-ये सब अनन्त विशुद्ध रूप से भाव समवाय वाले हैं। इसमें कुल पद १६४००० हैं।

५. **व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग** - इस अंग में "जीव है या नहीं" इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का उत्तर निरूपण है। इसके पदों की संख्या २२८००० है।

६. **ज्ञातृधर्मकथांग**-इस अंग में अनेक आख्यान और उपाख्यानों का वर्णन है। पदों की संख्या ५५६००० है।

७. **उपासकाध्ययनाङ्ग**-यहाँ श्रावक धर्म का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। पदों की संख्या ११७०००० है।

८. **अन्तकृद्दशाङ्ग**-संसार का अन्त जिन्होंने कर दिया है, वे अन्तकृत हैं-जैसे वर्द्धमान तीर्थकर के तीर्थ में नेमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, निष्कम्बल, पाल और अम्बष्ठपुत्र-ये दस मुनि घोरोपसर्ग सहन करके सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर अन्तकृतकेवली हुए। उसी प्रकार ऋषभादि तेईस तीर्थंकरों के समय में दस-दस मुनि घोरोपसर्ग सहन करके अन्तकृतकेवली हुए हैं। उन दस मुनियों का विवरण जिसमें है उसको अन्तकृद्दशांग कहते हैं अथवा अन्तःकृतों की दशा अन्तःकृत दशा, उसमें अर्हद् आचार्य होने की विधि तथा सिद्ध होने वालों की अन्तिम विधि का वर्णन है। इस अंग में २३२८००० पद हैं।

९. **अनुत्तरौपपादिकदशांग**-विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर हैं। उन अनुत्तरों में उत्पन्न होने वालों को अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। भगवान महावीर के समय में ऋषिदास, वान्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र-ये दस मुनि घोर उपसर्ग सहन करके विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार ऋषभादि तेईस तीर्थङ्करों के समय में अन्य-अन्य दस-दस मुनिराज दारुण उपसर्ग सहन कर विजयादि अनुत्तरों में उत्पन्न हुए। उन अनुत्तरौपपादिक की दशा का वर्णन जिसमें पाया जाता है उस अंग का नाम अनुत्तरौपपादिक दशा है। इसमें विजयादि अनुत्तर विमानों की आयु, विक्रिया, क्षेत्र आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या ९२४४०० है।

१०. **प्रश्नव्याकरणाङ्ग**-इस अंग में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप-विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है तथा उसमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है। पद संख्या ९३१६०० है।

११. **विपाक सूत्राङ्ग**-इस अंग में पुण्य और पाप के विपाक का विचार (कथन) है। पद संख्या १८४००००० है।

१२. **दृष्टिवाद अंग**-इसमें ३६३ कुवादियों के मतों के निरूपण पूर्वक खण्डन पाया जाता है। क्रियावादियों के १८० भेद, अक्रियावादियों के ८४ भेद, अज्ञानवादियों के ६७ तथा वैनयिकों के ३२ भेद हैं। इसमें कुल पद १०८६८५६००५ हैं।

दृष्टिवाद अंग के पांच भेद हैं-१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत, ५. चूलिका।

पूर्वगत के १४ भेद हैं –उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबन्दुसार। इनका परिचय इस प्रकार है-

१. **उत्पादपूर्व**-जीव, पुद्गल, काल आदि की जिस काल में, जिस क्षेत्र में पर्याय से उत्पत्ति होती है उन सबका वर्णन करने वाला यह उत्पादपूर्व है। पद संख्या ८६ लाख मानी जाती है।

२. **अग्रायणी**-जिसमें क्रियावादी की प्रक्रिया अग्रणी के समान अंगादि तथा स्वसमय के विषय का विवेचन किया गया वह अग्रायणी पूर्व है। पद संख्या १ करोड़ मान्य है।

३. **वीर्यवाद**-इसमें छद्मस्थ और केवलियों की शक्ति, सुरेन्द्र, असुरेन्द्र आदि की ऋद्धि वा नरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के सामर्थ्य और द्रव्यों के समीचीन लक्षणादि का वर्णन है। पदसंख्या ७० लाख मान्य है।

४. **अस्तिनास्तिप्रवाद**-इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश-इन पाँच अस्तिकायों और नयों का अस्ति-नास्ति रूप अनेक पर्यायों का विवेचन हैं पद संख्या ६० लाख मान्य है।

५. **ज्ञानप्रवाद**-जिसमें प्रादुर्भाव विषयों के आयतन स्वरूप ज्ञानियों के पांच ज्ञानों का और अज्ञानियों के विषयों के आयतन इन्द्रियों का विभाग किया जाता है, वह ज्ञानप्रवाद है। पदसंख्या १ कम १ करोड़ मान्य है।

६. **सत्यप्रवाद**-जिसमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ता के अनेक प्रकार मृषाभिधान और दस प्रकार के सत्य के सद्भाव का वर्णन है, वह सत्यप्रवाद है। पद संख्या १ करोड़ छः मान्य है।

७. **आत्मप्रवाद**-इसमें आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म और षट्जीवनिकाय के भेदों का निरूपण है। पद संख्या २६ करोड़ मान्य है।

८. **कर्मप्रवाद**-जिसमें कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा, उपशम आदि दशाओं का तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आदि स्थिति का तथा प्रदेश समूहों का वर्णन किया जाता है वह कर्मप्रवाद पूर्व है। पद संख्या १ कम ८० लाख मान्य है।

६. **प्रत्याख्यान पूर्व**-इसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, आराधना, विशुद्धि का उपक्रम आदि व मुनियों के आचरण का कारण तथा परिमित अपरिमित द्रव्य के प्रत्याख्यान आदि का वर्णन है। पद संख्या ८४ लाख मान्य है।

१०. **विद्यानुवाद**-इसमें समस्त विद्याएँ, आठ महानिमित्त, उनका विषय, रज्जु राशिविधि, श्रेणी, क्षेत्र, लोक प्रतिष्ठा, समुद्घात आदि का विवेचन है। पद १ कम १० लाख मान्य है।

११. **कल्याणवाद**-जिसमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारागणों का गमनक्षेत्र, उपपादक्षेत्र, शकुन आदि का वर्णन है तथा अर्हत्, कामदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि का एवं गर्भ, जन्म, तप, केवल ज्ञान एवं मोक्ष इन पंच कल्याणकों का वर्णन है, वह कल्याणपूर्व कहलाता है। इसमें २६ करोड़ पद मान्य हैं।

१२. **प्राणवादपूर्व**-कायचिकित्सा आदि आठ अंग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिप्रक्रम, प्राणापान के विभाग का इसमें विस्तार से वर्णन है। पद संख्या १३ करोड़ मान्य है।

१३. **क्रियाविशालपूर्व**-लेखनक्रिया आदि पुरुषों की ७२ कलाओं का, स्त्रियों की ६४ कलाओं का तथा शिल्प काव्य गुण दोष, छन्द, क्रिया का फल व उसके भोक्ता आदि का इसमें विस्तारपूर्वक वर्णन है। पदसंख्या ६-करोड़ मान्य है।

१४. **लोकबिन्दुसार**-आठ प्रकार का व्यवहार, चार बीजराशि, परिकर्म आदि गणित तथा सारी श्रुतसम्पत्ति का वर्णन जिसमें है वह लोकबिन्दुसार है। पद संख्या १२ १/२ (साढ़े बारह) मान्य है।

सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग के पदों की संख्या ११२८३५८००५ (एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है।)।

भारतीय न्यायविद्या के विकास में जैनाचार्यों का योगदान

इस यथार्थता को सभी स्वीकार करते हैं कि न्यायशास्त्र ही वह प्रमुख माध्यम है, जिसके द्वारा दर्शनशास्त्र को दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। विचार-सम्प्रेषण का माध्यम न्यायविद्या या तर्कशास्त्र का बन जाना भारतीय दार्शनिकों की महान् उपलब्धि थी।

भारतीय दर्शनों से भिन्न होकर न्यायशास्त्र एक स्वतंत्र नये प्रस्थान के रूप में विकसित हो सका, जिसे "भारतीय तर्कशास्त्र" के नाम से भी सम्बोधित किया गया। यह एक वास्तविकता है, क्योंकि अपने-अपने दर्शन के विकास हेतु, साथ ही प्रतिपक्षी को अपने मत से प्रभावित करने के लिए सभी दार्शनिकों के लिए इस तर्कशास्त्र का मह व भी स्वीकार करना पड़ा। इन्हीं भारतीय दर्शनों के विवेचन के फलस्वरूप जिस वाद या प्रणाली का प्रारम्भ हुआ, उसका सर्वोत्कृष्ट विकास भारतीय न्यायशास्त्र या प्रमाणमीमांसा है। प्राचीन शास्त्रों में "आन्वीक्षिकी" नाम से इसका उल्लेख मिलता है। वर्तमान में इसे तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र, हेतुविद्या और प्रमाणशास्त्र नामों से जाना जाता है।

भारतीय न्यायशास्त्र के विकास में जिन प्रमुख तीन दार्शनिक-परम्पराओं का नाम विशेषता के साथ लिया जाता है उनमें न्याय-वैशेषिक, बौद्ध तथा जैन मुख्य हैं। यहाँ जैन न्यायविद्या के योगदान की संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है।

वैसे भी भारतीय इतिहास में समस्त भारतीय विद्याओं के विकास में जैनाचार्यों का जितना अधिक योगदान है, तदनुसार उसका मूल्यांकन और सम्पूर्ण भारतीय इतिहास ग्रन्थों में उनका उल्लेख न के बराबर है। धर्म-दर्शन-न्याय, संस्कृति, साहित्य, व्याकरण, छन्द-कोश-ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, भूगोल-खगोल आदि विविध विषयों पर जैनाचार्यों द्वारा लिखित एक से बढ़कर एक बेजोड़ शास्त्र विभिन्न प्राचीन भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हैं, किन्तु इनके योगदान की उपेक्षा चिन्ता का विषय है।

भारतीय न्यायविद्या और इनके शास्त्रों के विकास में जैनाचार्यों का महनीय योगदान है। प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन जैन आगमों में तो जैन न्यायविद्या के सूत्र बीज रूप में दिखलाई पड़ते ही हैं साथ ही ईसा की प्रथम शती से ही इन्हीं आगमिक सूत्रों के आधार पर जैन न्यायविद्या को विकसित करते हुए संस्कृत भाषा में जैन न्यायशास्त्रों का लेखन प्रारम्भ करके बीसवीं शती तक भारतीय न्यायविद्या के विकास में महनीय योगदान करते हुए संस्कृत वाङ्मय की तो श्रीवृद्धि की ही है, साथ ही न्यायविद्या की नवीन विधा नव्यन्याय जैसी जटिल शैली में भी अनुपम जैन न्यायशास्त्रों की रचना करके जैनन्याय विधा को चरम विकास के स्थान तक पहुँचाया। इसीलिए आ० लघुअनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला में इस न्यायविद्या को "अमृत" कहा है।

विकास की दृष्टि से जैन न्याय तीन युगों में विभक्त है - (१) आगम युग का जैन न्याय, (२) दर्शन युग का जैनन्याय, (३) प्रमाण-व्यवस्था युग का जैन न्याय।

इनमें प्रथम युग जैनधर्म के अन्तिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के अस्तित्वकाल ईसापूर्व ५९९ से ५२७ तक का है। अतः यहाँ से लेकर ईसा की प्रथम शती तक का काल

आगम युग है। द्वितीय युग ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्ध से लेकर सातवीं-आठवीं शती तक का काल दर्शन युग का जैनन्याय है। तथा तृतीय काल ईसा की आठवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक का काल प्रमाण-व्यवस्था युग का जैन न्याय है।

वस्तुतः जैनदर्शन ने अपने को न्याय विद्या तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु ज्ञानात्मक चिंतन के लिए कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थापित किये हैं, जिनका प्रयोजन वस्तु के स्वरूप पर विशाल दृष्टि से विचार करना तथा संकुचित दृष्टि का निषेध करना है। इसी उद्देश्य से सत्ता की परिभाषा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक रूप से की गई तथा पदार्थ के यथार्थज्ञान के लिए प्रमाण के अतिरिक्त नय की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया तथा स्याद्वाद और अनेकान्तवाद रूप बुद्धि एवं वचनशैली का प्रतिपादन करते हुए, यह भी बड़े दावे के साथ कहा कि-

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।

जैनन्याय नामक अपने ग्रन्थ में पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री ने ठीक ही लिखा है। वास्तविकता यह है कि जैन-धर्मदर्शन न तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता है और न ही वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करता है। यहाँ न तो ईश्वर कर्तृत्व या सांसारिक कामनाओं की पूर्ति हेतु ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रलोभन है, न ही मोक्ष प्राप्ति से संयम साधना में किसी प्रकार की छूट है। इसीलिए वैदिक दार्शनिक जब दर्शनों का विभाजन आस्तिक और नास्तिक के रूप में करते हैं, तब अपने को आस्तिक और जैनदर्शन को नास्तिक दर्शनों की कोटि में रख देते हैं। यह तो एक पक्षीय निर्णय और विभाजन हो गया। यदि दर्शन जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में भी इसी तरह की मनमानी चलने लगे तो सभी एक दूसरे को नास्तिक सिद्ध करने लगेंगे। और तब तो हम या कोई भी कह सकते हैं कि जो हमारे आगमों, धर्मशास्त्रों और देवों को माने वह आस्तिक, जो इन्हें न माने वह नास्तिक है।

यद्यपि गणधरों द्वारा ग्रथित आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग ग्रन्थ जिनमें भगवान महावीर के उपदेश संकलित थे, दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से लुप्त हैं किन्तु वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा में अर्धमागधी प्राकृत आगमों में पर्याप्त मात्रा में जैनदर्शन के सभी तत्व मूलरूपमें विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त आगमिक व्याख्याओं तथा मूल सूत्रों आदि में तो जैन दर्शन के विकास की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि अधिकांश व्याख्या साहित्य दार्शनिक त वों की विवेचनाओं से भरा हुआ है। किन्तु जैन न्याय विद्या के स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर के समय से ही हुआ। इसके पूर्व जैन न्याय के स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रायः

अभाव था। विक्रम की तीसरी शती के वेदान्त दर्शन के आचार्य वादरायण ने ब्रह्मसूत्र (दो/२/३३) स्याद्वाद सिद्धान्त का विरोध दिखाने का प्रयत्न किया है। इससे जैन न्याय की प्राचीनता का पता चलता है।

जैन आगम सूत्रों में स्थान-स्थान पर न्याय के प्राणीभूत अंगों का उल्लेख मिलता है। उनके आधार पर जैन विचार पद्धति की रूपलेखा और मौलिकता सहज समझी जा सकती है। इन्हीं के आधार पर जैनन्याय साहित्य को संस्कृत भाषा साहित्य के माध्यम से जिन प्रमुख जैनाचार्यों ने प्रमुखता से उसका विकास एवं समृद्ध करने में योगदान किया, उनमें प्रमुख हैं-आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, समन्तभद्र स्वामी, सिद्धसेन दिवाकर, देवनन्दि पूज्यपाद, पात्रकेसरी, भट्ट अकलंकदेव, हरिभद्रसूरि, वादीभसिंह, बृहद् अनन्तवीर्य, विद्यानन्द स्वामी, कुमारनंदि, अनन्तवीर्य, देवसेन, माणिक्यनन्दि, वादिराज प्रभाचन्द, अभयदेवसूरि, लघुअनन्तवीर्य, देवसूरि, हेमचन्द्रसूरि, भावसेन-त्रैविद्य, अभयचन्द्र, मल्लिषेण, अभिनव धर्मभूषणयति, शान्तिवर्णी, नरेन्द्रसेन भट्टारक, चारूकीर्ति भट्टारक, विमलदास, अजितसेन, उपाध्याय-यशोविजयगणि आदि प्रमुख हैं।

इन सभी प्रमुख आचार्यों ने जैन न्यायविद्या के श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रणयन करके इस साहित्य को समृद्ध करने में अपना महनीय योगदान किया है। इतना ही नहीं, इस विद्या का बीच में समाप्तप्रायः पठन-पाठन को विकास की गति आगे बढ़ाते हुए बीसवीं शती के जिन विद्वानों का भी महान योगदान है, उनमें प्रमुख हैं-न्यायदिवाकर पं० पन्नालाल जी, पं० गोपालदास वरैया, न्यायाचार्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी, पं० माणिकचंद जी कौन्देय, पं० सुखलाल जी संघवी, पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य, पं० दलसुख भाई मालवणिया, पं० कैलाशचंद शास्त्री, न्यायाचार्य डा० दरबारीलाल कोठिया आदि।

"संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" योजना के अन्तर्गत जैन बौद्ध चार्वाक दर्शन के इस बारहवें खण्ड के लिये सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व. पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय जैसे महामनीषी की अध्यक्षता में आयोजित अनेक बैठकों में इसके सम्पादक श्रद्धेय गुरुवर्य स्व. डॉ. दरबारी लाल जी कोठिया के साथ मुझे भी सम्मिलित होने और मार्गदर्शन प्राप्ति के अवसर मिले। आ. कोठिया जी का स्थायी निवास वाराणसी से बीना हो जाने के बाद आ. कोठिया जी के सुझाव के नुसार अनुसार आचार्य जी ने इसके सम्पादन का कार्य मुझे सम्हला दिया। डॉ. कोठिया जी ने अधिकांश निबंधों का सम्पादन भी कर दिया था। इस बीच उनके दिवंगत हो जाने के बाद मुझे उनका पूरा उत्तरदायित्व सम्हालना पड़ा। इस ग्रन्थ में संग्रहीत सभी निबंध लेखक विद्वानों के प्रति विशेष आभार और धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। सभी विद्वानों ने अपने निबंधों में विवेच्य विषय का काफी अच्छा और सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है। जैनधर्म-दर्शन और इसके संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित प्रायः सभी प्रमुख विधाओं के सम्मिलित हो जाने से इस प्रकार की एक साथ, एक ग्रन्थ में इतनी विपुल और

विविध सामग्री अब तक देखने में नहीं आई। इस दृष्टि से जैनधर्म-दर्शन और साहित्य का यह एक महत्त्वपूर्ण उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ सिद्ध होगा-ऐसी आशा और कामना है।

प्रस्तुत खण्ड के प्रकाशन के अवसर पर श्रद्धेय पद्मभूषण स्व. आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय जी, पद्मभूषण स्व. प्रो. विद्या निवास मिश्र जी एवं गुरुवर्य स्व. डॉ. दरबारी लाल जी कोठिया का पुण्यस्मरण करना अपना प्रथम और पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इन्हीं के मंगल आशीष, यथोचित मार्गदर्शन, बहुमूल्य सुझावों एवं स्नेहपूर्ण प्रेरणाओं से इस ग्रन्थ को इस अच्छे रूप में प्रस्तुत करने में बहुत सहयोग प्राप्त हुआ है।

इस योजना के वर्तमान अध्यक्ष प्रो. श्रीनिवास जी रथ, उज्जैन, संस्थान के निदेशक डॉ. पी.के. पाण्डेय एवं सह निदेशक बंधुवर डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी जी के भरपूर सहयोग के प्रति विशेष आभार व्यक्त करता हूँ। अन्य उन विद्वानों, सन्दर्भित ग्रन्थ-लेखकों, अन्यान्य प्रकाशक संस्थानों और मित्रों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनसे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में किञ्चित् भी सहयोग प्राप्त हुआ है। आशा है कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से जहाँ जिज्ञासु पाठकों को लाभ होगा, वहीं अनुसंधित्सुओं को भारतीय शास्त्रों के अध्ययन-अनुसंधान की दिशा में जैनधर्म-दर्शन और साहित्य को सन्दर्भित करने और इसके मूल शास्त्रों के अध्ययन-अनुसंधान की प्रेरणा भी प्राप्त होगी। मेरा ऐसा मानना है कि वैदिक और श्रमण-इन प्राचीन दोनों धाराओं के सम्मिलित अध्ययन के विना सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और संस्कृति का अध्ययन अधूरा है। इत्यलम्।

विनीत

तीर्थंकर ऋषभदेव निर्वाण दिवस — प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी
माघ कृष्ण १४, वीर निर्वाण सं. २५३३ — आचार्य एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
दिनांक १८ जनवरी २००६ — सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

जैन संस्कृति : उद्भव और विकास

प्राग्वृत्त

हम यहाँ जैन संस्कृति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। इस संस्कृति में धर्म, दर्शन, न्याय आदि का समावेश है। सर्वप्रथम जैनधर्म की चर्चा करेंगे। जैन धर्म भारत की आध्यात्मिक उर्वरा-भूमि में उत्पन्न हुआ, विकसित हुआ और समृद्ध हुआ है। यह भारतीय धर्म होते हुए भी वैदिक और बौद्ध दोनों भारतीय धर्मों से भिन्न है। इसके प्रवर्तक २४ तीर्थंकर हैं, जो वैदिक धर्म के २४ अवतारों तथा बौद्ध धर्म के २४ बुद्धों से भिन्न हैं। इन सभी का तत्त्व-निरूपण भी भिन्न भिन्न है। यह अवश्य है कि कितनी ही बातों में उनमें साम्य भी है, जो स्वाभाविक है, क्योंकि सदियों से ही नहीं, सहस्राब्दियों से एक साथ रहनेवालों में एक दूसरे से प्रभावित होना और आदान-प्रदान करना बहुत संभव है।

जैनधर्म के आद्यप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव

तीर्थ का अर्थ है जिसके द्वारा संसार समुद्र तरा जाए-पार किया जाए और वह है अहिंसा धर्म। उसका जिन्होंने प्रवर्तन किया, उपदेश दिया, उन्हें तीर्थंकर कहा गया है। वे २४ माने गए हैं। जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार प्रसिद्ध है-ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्मनाथ, शांति, कुन्थु, अरह, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, और वर्धमान-महावीर।

इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं। जैन साहित्य में इन्हें प्रजापति, आदिब्रह्मा, आदिनाथ, बृहद्देव, पुरुदेव, नाभिसूनु और वृषभ नामों से भी समुल्लेखित किया गया है। युगारंभ में इन्होंने प्रजा को आजीविका के लिए कृषि (खेती), मसि (लिखना-पढ़ना, शिक्षण), असि (रक्षा के हेतु तलवार, लाठी आदि चलाना), शिल्प, वाणिज्य (विभिन्न प्रकार का व्यापार करना) और सेवा - इन षट्कर्मों (जीवनवृत्तियों) के करने की शिक्षा दी थी, इसलिए इन्हें "प्रजापति"[१], माता के गर्भ में आने पर हिरण्य (सुवर्ण रत्नों) की वर्षा होने से "हिरण्यगर्भ"[२], दाहिने पैर के तलुए में बैल का चिह्न होने से "ऋषभ", धर्म का प्रवर्तन

---

१. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक २।

२. जिनसेन, महापुराण, १२-६५, विमलसूरि-पउमचरियं, ३-६८।

करने से "वृषभ"[1], शरीर की अधिक ऊंचाई होने से "बृहद्देव"[2] एवं पुरुदेव, सबसे पहले होने से "आदिनाथ"[3] और सबसे पहले मोक्षमार्ग का उपदेश करने से "आदिब्रह्मा"[4] कहा गया है। इनके पिता का नाम नाभिराय होने से इन्हें "नाभिसूनु" भी कहा गया है। इनकी माता का नाम मरुदेवी था। ये आसमुद्रान्त सारे भारत (वसुधा) के अधिपति थे-पृथ्वी का अन्य कोई शासक नहीं था। अन्त में विरक्त होकर व समग्र राजपाट को छोड़कर दीक्षापूर्वक दिगम्बर साधु हो गये थे। मोक्षमार्ग का प्रथम उपदेश देने से आद्य तीर्थंकर (धर्मोपदेष्टा) के रूप में समग्र जैन साहित्य में मान्य हैं।

भरत इनके ज्येष्ठ पुत्र थे, जो उनके राज्य के उत्तराधिकारी तो हुए ही, प्रथम सम्राट भी थे और जिनके नाम पर हमारे राष्ट्र का नाम **"भारत"** पड़ा। श्रीमद्भागवत् पुराण (स्कन्ध-५ अध्याय-४) में कहा है ''भगवान ऋषभदेव के अपनी कर्मभूमि अजनाभवर्ष में सौ पुत्र प्राप्त हुए, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र महायोगी 'भरत' को उन्होंने अपना राज्य दिया और उन्हीं के नाम से लोक इसे **''भारतवर्ष''** कहने लगे -**''येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।''** इसके पूर्व अपने इस भारतवर्ष का नाम ऋषभदेव के पिता नाभिराज के नाम पर **''अजनाभवर्ष''** प्रसिद्ध था।

वैदिक धर्म में भी ऋषभदेव को एक अवतार के रूप में माना गया है। ''भागवत'' में 'अर्हन्' राजा के रूप में इनका विस्तृत वर्णन है। इसमें भरत आदि १०० पुत्रों का कथन जैनधर्म की तरह ही किया गया है। अन्त में वे दिगम्बर (नग्न) साधु होकर सारे भारत में विहार करने का भी उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद आदि प्राचीन वैदिक साहित्य में भी इनका आदर के साथ संस्तवन किया गया है।

अन्य तीर्थंकर

ऋषभदेव के पश्चात् द्वितीय अजितनाथ से लेकर इक्कीसवें नमिनाथ पर्यन्त तीर्थंकर हुए[5], जिन्होंने ऋषभदेव की तरह अपने अपने समय में धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन किया। जैन पुराणों और अन्य जैन साहित्य में इनका सविशेष वर्णन है। ऋषभदेव के बाद और नमि के बीच में ऐसे समय भी आए, जब जैनधर्म का विच्छेद सा हो गया, जिसका पुनःस्थापन इन तीर्थंकरों ने किया और इससे ये तीर्थंकर अथवा धर्मप्रवर्त्तक कहे गए।

---

१. आ० समन्तभद्र, स्वयम्भू स्तोत्र, श्लोक ५।
२. मदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिंशिका, श्लोक ६, संपा० डॉ० दरबारी लाल कोठिया।
३-४. मानतुङ्ग, भक्तामर आदिनाथ स्तोत्र, श्लोक १, २५ ।
५. आ० कुन्दकुन्द, चउवीस-तित्थयरभत्ति, गाथा ३, ४ तथा समन्तभद्र स्वयम्भूस्तोत्र।

अरिष्टनेमि

२१वें तीर्थंकर नमि के पश्चात् २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ हुए। ये श्रीकृष्ण के बड़े ताऊ समुद्रविजय के तनय तथा उनके चचेरे भाई थे। ये बचपन से सात्विक, प्रतिभावान और बलशाली थे। इनके जीवन में एक घटना ऐसी घटी, जिसने उनके जीवन को ही मोड़ दिया। जब इनकी बारात जूनागढ़ पहुँची, तो नगर के बाहर एक बाड़े में घिरे हुए पशुओं के चीत्कार को इन्होंने सुना। सुनकर रथ के सारथी से इसका कारण पूछा। सारथी ने कहा - "महामान्य राजकुमार! बरात में जो मांसभक्षी राजा आए हैं उनके मांसभक्षण हेतु इन्हें मारा जावेगा।" इसे सुनते ही राजकुमार अनिष्टनेमि संसार से विरक्त हो गए और पशुओं को घेरे से मुक्त कराकर विवाह का त्याग करते हुए निकटवर्ती ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) पर चढ़ गए। वहाँ पहुँच कर समस्त वस्त्राभूषण त्यागकर दिगम्बर साधु हो गए। घोर तपस्या और ध्यान करके वीतराग-सर्वज्ञ बन गए। वर्षों तक जनसामान्य को अहिंसा तथा मोक्षमार्ग का उन्होंने उपदेश किया। अन्त में उसी ऊर्जयन्तगिरि से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर विघ्न विनाश के लिए इन्हें स्मरण किया गया है। अनेक इतिहासविद् विद्वानों ने इन्हें श्रीकृष्ण की तरह ऐतिहासिक महापुरुष मान लिया है।

पार्श्वनाथ

अरिष्टनेमि के एक हजार वर्ष बाद तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए, जिनका जन्म वाराणसी में हुआ। इनके पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थीं। एक दिन कुमार पार्श्व वन-क्रीडा के लिए गंगा के किनारे गये। जहाँ एक तापसी पंचाग्नितप कर रहा था। वह अग्नि में पुराने और पोले लक्कड़ जला रहा था। पार्श्व की पैनी दृष्टि उधर गयी और देखा कि उस लक्कड़ में एक नाग-नागिनी का जोड़ा है और जो अर्धमृतक-जल जाने से मरणासन्न अवस्था में है। कुमार पार्श्व ने यह बात तापसी से कही। तापसी झुंझलाकर बोला - "इसमें कहाँ नाग-नागिन है? और जब उस लक्कड़ को फाड़ा, उसमें मरणासन्न नाग-नागिनी को देखा। पार्श्व ने "णमोकारमंत्र" पढ़कर उस नाग-नागिनी के युगल को संबोधा, जिसके प्रभाव से वह मरकर देव जाति से धरणेन्द्र पद्मावती हुआ। जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथ की अधिकांश मूर्तियों के मस्तक पर जो फणामण्डल बना हुआ देखा जाता है वह धरणेन्द्र के फणामण्डल मण्डप का अंकन है, जिसे उसने कृतज्ञतावश योग-मग्न पार्श्वनाथ पर कमठ द्वारा किये गये उपसर्गों के निवारणार्थ अपनी विक्रिया से बनाया था।

उपर्युक्त घटना से प्रतीत होता है कि पार्श्व के समय में कितनी मूढ़ताएं-अज्ञानताएं धर्म के नाम पर लोक में व्याप्त थीं। पार्श्वकुमार इसी निमित्त को पाकर विरक्त हो प्रव्रजित हो गये, न विवाह किया और न राज्य किया। कठोर तपस्या कर तीर्थंकर केवली बन गये

और जगह-जगह पदयात्रा करके लोक में फैली मूढ़ताओं को दूर किया तथा सम्यक् तप, ज्ञान का सम्यक् प्रचार किया। अन्त में बिहार प्रदेश में स्थित सम्मेद-शिखर पर्वत से, जिसे आज "पार्श्वनाथ हिल" कहा जाता है, तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने मुक्ति-लाभ किया। इनकी ऐतिहासिकता के प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं और उनके अस्तित्व को मान लिया गया है। प्रसिद्ध दार्शनिक सर राधाकृष्णन् ने भी अपने भारतीय दर्शन में इसे स्वीकार किया है।

तीर्थंकर वर्धमान महावीर

पार्श्वनाथ से अढ़ाई-सौ वर्ष पश्चात् ईसा पूर्व ५२६ में जैनधर्म के अंतिम एवं २४वें तीर्थंकर महावीर हुए, जिन्हें जैन वाङ्मय में वर्द्धमान, वीर, अतिवीर और सन्मति-इन चार नामों से भी उल्लेखित किया गया है। इसके पिता वैशाली गणतंत्र के निकट स्थित कुण्डपुर (क्षत्रिय कुण्डग्राम) के नृपति सिद्धार्थ और माता त्रिशला थीं। त्रिशला का दूसरा नाम प्रियकारिणी भी था। यह वैशाली गणराज्य के नायक राजा चेटक की पुत्री और बिम्बसार अपरनाम राजा श्रेणिक की रानी चेलना की सगी बड़ी बहन थीं। उस समय के सभी राजघरानों से महावीर का निकट संबन्ध था, जिस प्रकार पार्श्वनाथ के समय में अनेक प्रकार की मूढ़ताएं (देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और गुरुमूढ़ता) लोक में व्याप्त थीं, उसी प्रकार महावीर के समय में धर्म के नाम पर नरमेध, गोमेध, अश्वमेध, अजमेध आदि हिंसापूर्ण यज्ञों की प्रचुरता थी तथा **"याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति"** जैसे वाक्यों से उनका समर्थन किया जाता था। महावीर ने इस स्थिति को देखकर उसे बदलने का निर्णय किया और भरी जवानी में ३० वर्ष की वय में ही राजमहल के सुखों का त्याग कर वे दिगम्बर मुद्राधारी साधु बन गए और मौनपूर्वक १२ वर्ष घोर तपस्या की। फलतः ४२ वर्ष की अवस्था में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ हो गए।

उन्होंने ३० वर्ष तक विहार करके उक्त हिंसापूर्ण यज्ञों का निषेध किया तथा अहिंसापूर्ण आत्मयज्ञ करने का उपदेश दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नरमेध, मेध आदि यज्ञ बंद हो गए और लोगों के हृदय में अहिंसा को ही धर्म मानने के प्रति आस्था दृढ़ हो गई। वैदिक धर्म के महान् विद्वान् एवं वैदिक कर्मकाण्ड के कर्ता गौतम इन्द्रभूति और उनके महाविद्वान् १० भाई भी अहिंसा के प्रति आस्थावान बन गए। इतना ही नहीं, महावीर के पादमूल में पहुँच कर उनके शिष्य हो गए। इन्द्रभूति तो उनका प्रधान गणधर (प्रथम शिष्य) बन गया और महावीर के उपदेश को उन्होंने चहुँ ओर फैलाया।

ध्यातव्य है कि पार्श्वनाथ की परम्परा के एक दिगम्बर साधु के दीक्षित और दीर्घकाल तक नग्न रहना, केशलुंचन करना, खड़े-खड़े आहार ग्रहण करना आदि दिगम्बर साधु चर्या को पालने वाले, किन्तु उसे बाद में कष्टदायी ज्ञातकर त्याग देने वाले तथा **मध्यम मार्ग के प्रवर्त्तक गौतमबुद्ध** ने भी महावीर के अहिंसा प्रचार में प्रबल सहयोग किया। "दीघनिकाय"

आदि बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर **"णिग्गंथनातपुत्त"** नाम से उनके सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। आज वे ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में विश्रुत और सर्वमान्य हैं। जैनों की तीनों परम्पराओं में निगंथनातपुत्र वर्धमान को अंतिम और २४वां तीर्थंकर माना जाता है। सभी अपने को उनका अनुयायी मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। यह भी उल्लेख्य है कि ई० सन् १९७४-७५ में समग्र भारत और विश्व के अनेक देशों में उनकी पावन २५०० (पच्चीस सौ) वीं निर्वाण-कल्याणक तिथि पूरे वर्ष तक मनाई गई थी। साथ ही ई. सन् २००० में उनका २६०० वाँ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया गया था जिसके समारोह भारत के सभी राज्यों एवं विदेशों में आयोजित हुए थे और जिनमें पूरे राष्ट्र ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की थीं। जैन परम्परा में आज उन्हीं का शासन विद्यमान है। अंत में उन्होंने पावा से मोक्ष प्राप्त किया।

तीर्थंकर-उपदेश : द्वादशांगश्रुत

इन २४ तीर्थंकरों ने अपने-अपने समय में धर्ममार्ग से च्युत हो रहे जन समुदाय को संबोधित किया और उसे धर्ममार्ग में लगाया। इसी से इन्हें धर्ममार्ग-मोक्षमार्ग का नेता तीर्थप्रवर्त्तक-तीर्थंकर कहा गया है। जैन सिद्धान्त के अनुसार "तीर्थंकर" नाम की एक पुण्य (प्रशस्त) कर्म प्रकृति है। उसके उदय से तीर्थंकर होते और वे तत्त्वोपदेश करते हैं। आचार्य विद्यानंद ने स्पष्ट कहा है[2] कि "बिना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशना" अर्थात् बिना तीर्थंकर-पुण्यनामकर्म के तत्त्वोपदेश संभव नहीं है। (आप्तपरीक्षा, कारिका १६)

इन तीर्थंकरों का वह उपदेश जिनशासन, जिनागम, जिनश्रुत, द्वादशांग, जिनप्रवचन आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। उनके इस उपदेश को उनके प्रमुख एवं प्रतिभाशाली शिष्य विषयवार भिन्न-भिन्न प्रकरणों में निबद्ध (ग्रथित) करते हैं। अतएव उसे प्रबंध एवं ग्रन्थ भी कहते हैं। उनके उपदेश को निबद्ध करने वाले वे प्रमुख शिष्य जैनवाङ्मय में "गणधर" कहे जाते हैं। ये गणधर अत्यन्त सूक्ष्मबुद्धि के धारक एवं विशिष्ट क्षयोपशम वाले होते हैं। उनकी धारणाशक्ति और स्मरणशक्ति असाधारण होती है।

इनके द्वारा निबद्ध वह उपदेश **द्वादशाङ्ग**-अङ्गप्रविष्ट कहा जाता है।[1] **अंगप्रविष्ट के विषयक्रम से १२ भेद हैं** जिनकी मूल 'अंग आगम' संज्ञा है। वे हैं:- १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन, ८. अंतःकृत्दशांग, ९. अनुत्तरौपपादिकदशांग, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद।

---

१. ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये।
धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।। अकलंक, लघीयस्त्रय, १

२. विद्यानन्द, आप्तपरीक्षा, का० १६।

इनमें अन्तिम १२वें **दृष्टिवाद अंग के ५ भेद** हैं-१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। परिकर्म के ५, पूर्वगत के १४ और चूलिका के ५ भेद हैं।

परिकर्म के ५ भेद ये हैं -१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (यह ५वें अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति से भिन्न है)।

पूर्वगत के १४ भेद इस प्रकार हैं -१. उत्पाद, २. आग्रायणीय, ३. वीर्यानुवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद, ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यान प्रवाद, १०. विद्यानुवाद, ११. कल्याणवाद, १२. प्राणावाय, १३. क्रियाविशाल और १४. लोकबिन्दुसार।

चूलिका के ५ भेद हैं - १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता और ५. आकाशगता। इनमें उनके नामानुसार विषयों का वर्णन है।[1]

अंगप्रविष्ट उपदेश गणधरों द्वारा निबद्ध किया जाता है।[2] अंगबाह्य उपदेश उसके आधार से उनके शिष्यों-प्रशिष्यों (आचार्यों) द्वारा रचा जाता है।[3] इससे वह अंगबाह्य कहा जाता है, किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से दोनों ही प्रकार का श्रुत समान है, क्योंकि उसके उपदेष्टा भी परम्परा से तीर्थंकर ही माने जाते हैं।

इस अंगबाह्य जिनोपदेश के १४ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं[4] हैं - १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्प्य, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धिका। इस अंगबाह्य श्रुत में श्रमणाचार का मुख्यतया वर्णन है।

उत्तरकाल में अल्पमेधा के धारक उत्तरवर्ती आचार्य इसी श्रुत का आश्रय लेकर अपने विविध ग्रंथों की रचना करते हैं और उनके द्वारा उसी जिनोपदेश को जन-जन तक पहुंचाने का प्रशस्त प्रयास करते हैं तथा क्षेत्रीय भाषाओं में भी उसे ग्रथित करते हैं। इनका स्रोत (मूल) तीर्थंकर-उपदेश होने से उन्हें भी प्रमाण माना जाता है।

उपलब्ध श्रुत

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का श्रुत तीर्थंकर अजित तक, अजित का सम्भव तक और सम्भव का अभिनंदन तक, इस तरह पूर्व तीर्थंकर का श्रुत उत्तरवर्ती अगले तीर्थंकर तक

---

१. अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, १-२०।
२. वीरसेन, धवलाटीका, पुस्तक १, पृ० १०८-११२, जय ध० प्र० पृ० ९३-१२२ ।
३. अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक १-२०-१२, पृ० ७२, भा० ज्ञा० संस्क० १९४४ ।
४. वही, १-२०-१३, पृ० ७८ ।

रहा। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व का द्वादशांग श्रुत तब तक रहा, जब तक महावीर तीर्थंकर (धर्मोपदेष्टा) नहीं हुए। आज जो आंशिक द्वादशांग श्रुत उपलब्ध है वह अंतिम २४ वें तीर्थंकर महावीर से संबद्ध है। अन्य सभी तीर्थंकरों का श्रुत लेखबद्ध न होने तथा स्मृतिधारकों के न रहने से नष्ट हो चुका है। वर्द्धमान महावीर का द्वादशांग श्रुत भी पूरा उपलब्ध नहीं है। प्रारम्भ में वह आचार्य-शिष्य परम्परा में स्मृति के आधार पर विद्यमान रहा। उत्तर काल में स्मृतिधारकों की स्मृति मन्द पड़ जाने पर उसे निबद्ध किया गया।

दिगम्बर परम्परा के[1] अनुसार वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध हैं वह १२वें अंग दृष्टिवाद का कुछ अंग हैं, जो धरसेनाचार्य को आचार्य परम्परा से प्राप्त था और जिसे उनके शिष्य आचार्य भूतबली और पुष्पदन्त ने उनसे प्राप्त कर **षट्खण्डागम** नामक आगम ग्रन्थ में लेखबद्ध किया। शेष ११ अंग और १२वें अंग का बहुभाग नष्ट हो चुका है।

श्वेताम्बर परम्परा[2] के अनुसार आचार्य क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणी के नायकत्व में तीसरी और अन्तिम बलभी वाचना में संकलित ११ अंग मौजूद हैं, जिन्हें दिगम्बर परम्परा में मान्य नहीं किया गया। श्वेताम्बर परम्परा १२वें अंग दृष्टिवाद का समग्र रूप में विच्छेद स्वीकार करती है। जबकि दिगम्बर परम्परा कसायपाहुड और षट्खण्डागम-इन दो आगम ग्रन्थों के आधार पर इस दृष्टिवाद का कुछ ज्ञान वर्तमान में उपलब्ध मानती है, शेष प्रथम से लेकर ग्यारहवें अंग तक सभी का लोप मानती है।

आवश्यक है कि दोनों परम्पराओं के अवशेष श्रुत का तटस्थभाव से अध्ययन करें और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालें, जिनकी संभावना है और हम सभी मिलकर जैन संघ एवं जैनश्रुत को अखंड बनाएं।

धर्म, दर्शन और न्याय

उक्त श्रुत में तीर्थंकर महावीर ने जहाँ धर्म का उपदेश दिया वहाँ दर्शन और न्याय का भी उपदेश दिया है। इन तीनों में भेद करते हुए उन्होंने बताया कि मुख्यतया आचार का नाम धर्म है। धर्म का जिन विचारों द्वारा समर्थन एवं संपोषण किया जाता है, वे विचार दर्शन हैं और धर्म के संपोषण के लिए प्रस्तुत विचारों को युक्ति-प्रतियुक्ति, खंडन-मंडन, प्रश्न-उत्तर एवं शंका-समाधानपूर्वक दृढ़ करना न्याय प्रमाणशास्त्र है।

इन तीनों के पार्थक्य को समझने के लिए हम यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सब जीवों पर दया करो, किसी जीव की हिंसा न करो अथवा सत्य बोलो, असत्य मत बोलो आदि विधि और निषेधरूप आचार का नाम धर्म है। जब इसमें "क्यों" का सवाल उठता है तो उसके समर्थन में कहा जाता है कि जीवों पर दया करना कर्तव्य है, गुण (अच्छा)

---

१. वीरसेन, जयधवला, पु० १, पृ० २५, धवला, पुस्तक १, पृ० ६६, गो० जी० ३६७ ।

२. वीरसेन, धवला, पु० १, प्रस्तावना पृ० ७१, जयध० पृ० ८७।

है, पुण्य है और इससे सुख मिलता है। किन्तु जीवों की हिंसा करना अकर्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख मिलता है। इसी तरह सत्य बोलना कर्तव्य है, गुण है, पुण्य है और उससे सुख मिलता है।

इस प्रकार के विचार दर्शन कहे जाते हैं और जब इन विचारों को दृढ़ करने के लिए यों कहा जाता है कि यदि अहिंसा जीव का स्वभाव न माना जाए तो कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता, सब सबके भक्षक या घातक हो जाएंगे। परिवार में, देश में और विश्व के राष्ट्रों में अनवरत हिंसा रहने पर शान्ति और सुख कभी उपलब्ध नहीं हो सकेंगे।

इसी प्रकार सत्य बोलना मनुष्य का स्वभाव न माना जाए तो संसार में अविश्वास छा जाएगा और लेन-देन आदि के सारे लोक-व्यवहार लुप्त हो जाएंगे और वे अविश्वसनीय बन जावेंगे। इस तरह धर्म के समर्थन में प्रस्तुत विचार रूप दर्शन को दृढ़ करना न्याय (युक्ति या प्रमाणशास्त्र) है।

तात्पर्य यह है कि धर्म जहाँ सदाचार के विधान और असदाचार के निषेध के रूप हैं वहाँ दर्शन उनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य, पुण्यापुण्य और सुख-दुःख का विवेक जागृत करता है तथा न्याय दर्शन रूप विचारों को हेतुपूर्वक मस्तिष्क में बिठा देता है।

वस्तुतः न्यायशास्त्र से दर्शनशास्त्र को जो दृढ़ता मिलती है वह स्थायी, विवेकयुक्त और निर्णयात्मक होती है। यही कारण है कि सभी भारतीय (जैन, बौद्ध और वैदिक) धर्मों में दर्शनशास्त्र और न्यायशास्त्र का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया है तथा दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इतना ही नहीं, उन पर बल देते हुए इन्हें विकसित एवं समृद्ध किया गया है।

जैन दर्शन और जैन न्याय : उद्भव और विकास

(क) उद्भव :

हम पहले जैनश्रुत के १२वें अंग दृष्टिवाद का उल्लेख कर आए हैं। इसमें जैनदर्शन और न्याय के उद्गम बीज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। आचार्य भूतबली और पुष्पदन्त द्वारा निबद्ध "षट्खंडागम"[1] में, जो दृष्टिवाद अंग का ही अंश है, "सिया पज्जत्ता", "सिया अपज्जत्ता", "मणुस अपज्जत्ता दव्वपमाणेण केवडिया", "अखंखेज्जा"[2] जैसे "सिया" (स्यात्) शब्द और प्रश्नोत्तरी शैली को लिए हुए प्रचुर वाक्य पाए जाते हैं।

---

१. भगवती २-८, तित्थोगा० ८०१, सत्तरिसयठाण ३२७ तथा पं० दलसुख मालवणिया, आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २६, २७, सन्मति ज्ञानपीठ आ० संस्क० १९९६।

२. भूतबलि-पुष्पदन्त, षट्खण्डागम १/१/७९, धव० पु० १, पृ० ३१९।

"षट्खंडागम" के आधार से रचित आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि आर्षग्रन्थों में भी उनके कुछ और अधिक उद्गमबीज मिलते हैं।[1] "सिय अत्थिणत्थि उहयं" "जम्हा" जैसे युक्तिप्रवण वाक्यों एवं शब्दप्रयोगों द्वारा उनमें प्रश्नोत्तरपूर्वक विषयों को दृढ़ किया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा में मान्य (भगवतीसूत्र ७, २, २७३ आदि) आगमों में भी जैनदर्शन और जैनन्याय के बीज मिलते हैं। उनमें अनेक जगह "से केणट्ठेणं भंते एवमुच्चई जीवाणं, भंते किं सासया असासया? गोयमा। जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा। दव्वट्ठयाए सासया भवट्ठयाए असासया।" जैसे तर्कगर्भ प्रश्नोत्तर प्राप्त होते हैं।

ध्यातव्य है कि "सिया" या "सिय" प्राकृत शब्द हैं, जो संस्कृत के 'स्यात्' शब्द के पर्यायवाची हैं और कथंचिदर्थबोधक हैं तथा स्याद्वाददर्शन एवं स्याद्वादन्याय के प्रदर्शक हैं। द्वादशांग में अन्तिम दृष्टिवाद अंग का जो स्वरूप दिया गया है, उसमें बतलाया गया है[2] कि जिसमें विविध दृष्टियों-वादियों की मान्यताओं का प्ररूपण और उनकी समीक्षा है वह दृष्टिवाद है। यह समीक्षा हेतुओं एवं युक्तियों के बिना संभव नहीं है।

इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि जैनदर्शन और जैनन्याय का उद्गम दृष्टिवाद-अंगश्रुत से हुआ है। जैन मनीषी यशोविजय[3] ने भी लिखा है कि "स्याद्वादार्थो दृष्टिवादार्णवोत्थः" अर्थात् स्याद्वादार्थ-जैन दर्शन और जैनन्याय दृष्टिवादरूप अर्णव (समुद्र) से उत्पन्न हुए हैं। यहाँ यशोविजय ने दृष्टिवाद को अर्णव (समुद्र) बतलाकर उसकी विशालता, गंभीरता और महत्ता को प्रकट किया है तथा स्याद्वाद का उद्भव उससे प्रतिपादित किया है। यथार्थ में स्याद्वाददर्शन और स्याद्वादन्याय ही जैनदर्शन एवं जैनन्याय हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने सभी तीर्थंकरों को "स्याद्वादी" कहकर उनके उपदेश को बहुत स्पष्ट रूप में स्याद्वाद-न्याय, जिसमें दर्शन भी अंतर्भूत है, बतलाया है।[4] उनके उत्तरवर्ती अकलंकदेव[5] तो कहते हैं कि ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकर स्याद्वादी-स्याद्वाद के उपदेशक हैं। आचार्य समन्तभद्र, अकलंक, यशोविजय के सिवाय सिद्धसेन[6], विद्यानंद[7] और हरिभद्र जैसे दार्शनिकों एवं तार्किकों ने भी स्याद्वाददर्शन और स्याद्वाद नयाय को जैनदर्शन और जैनन्याय प्रतिपादित किया है। यह संभव है कि वैदिक और बौद्ध दर्शनों एवं न्यायों का विकास जैनर्शन और जैनन्याय के विकास में प्रेरक हुआ हो तथा उनकी

---

१. वही, १/२/५०, धव० पु० ३, पृ० २६२।
२. कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, गा० १३, १४।
३. अकलंक, त० वा०, १/२०/१२, पृ० ७४, भा०ज्ञानपीठ संस्क० १६४४।
४. यशोविजय, अष्टसहस्रीटीका, पृ० १।
५. समन्तभद्र, स्वयम्भू, सम्भवजिनस्तोत्रश्लोक, ४(१४), अरजिनस्तोत्र श्लोक १७(१.२) आप्तमी० १३।
६. अकलंक, लघीय०, मंगलपद्य १।
७. द्वात्रिंशिका, १-३०, ४-१५।

क्रमिक शास्त्ररचना जैन दर्शन और जैन न्याय की क्रमिक शास्त्ररचना में बलप्रद हुई हो। समकालीनों में ऐसा आदान-प्रदान या प्रेरणा-ग्रहण स्वाभाविक है, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

(ख) विकास :

अब उनके विकास पर विचार किया जाता है। काल की दृष्टि से उनके विकास को तीन कालखंडों में विभक्त किया जा सकता है और उन कालखंडों के नाम निम्न प्रकार रखे जा सकते हैं :-

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्र-काल (ई० २०० से ई० ६५०)।
२. मध्यकाल अथवा अकलंक-काल (ई० ६५० से ई० १०५०)।
३. उत्तरमध्ययुग (अन्त्यकाल) अथवा प्रभाचन्द्र-काल (ई० १०५० से १७००)।

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्र-काल :

जैनदर्शन के विकास का आरम्भ यों तो आचार्य कुन्दकुन्द[१] से उपलब्ध होने लगता है। उनके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि प्राकृत ग्रन्थों में दर्शन के बीज प्राप्त हैं। भगवती सूत्र (५/३/१६१-१६२), स्थानांगसूत्र (२५८) आदि अनेक स्थल में भी दर्शन की चर्चायें मिलती[२] हैं। आ० गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र[३] में, जो जैन संस्कृत वाङ्मय का आद्यसूत्र ग्रन्थ है, सिद्धान्त के साथ दर्शन और न्याय का भी अच्छा प्ररूपण है।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने उस आरम्भ को आगे बढ़ाया और बहुत स्पष्ट किया है। उनकी उपलब्ध पांच कृतियों में चार कृतियाँ हैं सो तीर्थंकरों के स्तवनरूप में होने पर भी उनमें दर्शन और न्याय के प्रचुर उपकरण पाये जाते हैं, जो प्रायः उनसे पूर्व अप्राप्य हैं। उन्होंने इनमें एकान्तवादों का निराकरण करके अनेकान्त और स्याद्वाद की प्रस्थापना की है। उनकी वे चार कृतियाँ हैं - १. आप्तमीमांसा (देवागम), २. युक्त्यनुशासन, ३. स्वयम्भू और ४. जिनशतक। इनमें उन्होंने स्याद्वाद और सप्तभङ्गनय का सुन्दर एवं प्रौढ़ संस्कृत में प्रतिपादन किया है, जो उस प्राचीन जैन संस्कृत-वाङ्मय में पहली बार मिलता है।

प्रतीत होता है कि समन्तभद्र ने भारतीय दार्शनिक एवं तार्किक क्षेत्र में जैन दर्शन और जैन न्याय के युग प्रवर्तक का कार्य किया है। उनसे पूर्व जैन संस्कृति के प्राणभूत "स्याद्वाद" को प्रायः आगमरूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक विषयों के निरूपण में ही उपयोग किया जाता था तथा सीधी-सादी एवं सरल विवेचना की जाती थी। जैसा कि

---

१. विद्यानन्द, अष्टसहस्री पृ० २३८।
२. कुन्दकुन्द, पंचास्ति० गा० ८-१०।
३. पं० दलसुख मालवणिया, आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० १३६,१३७।

हम "सिया" "सिय" के सन्दर्भ में पहले देख आये हैं। उसके समर्थन में विशेष युक्तिवाद की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। परन्तु समन्तभद्र के काल में उसकी आवश्यकता बढ़ गई, क्योंकि ई० २री, ३री शताब्दी का समय भारतवर्ष के दार्शनिक इतिहास में अपूर्व क्रांति का था। इस समय विभिन्न दर्शनों में अनेक प्रभावशाली दार्शनिक हुए हैं।

यद्यपि महावीर और बुद्ध के अहिंसापूर्ण उपदेशों से यज्ञप्रधान वैदिक परम्परा का प्रभाव बहुत क्षीण हो गया था और श्रमण - जैन तथा बौद्ध परम्परा का, जो अहिंसा, तप, त्याग और ध्यान पर बल देती थी, प्रभाव प्रायः सर्वत्र फैल गया था। किन्तु कुछ शताब्दियों के पश्चात् वैदिक संस्कृति का पुनः प्रभाव बढ़ गया और वैदिक विद्वानों द्वारा श्रमण-परम्परा के उक्त अहिंसादि सिद्धांतों की आलोचना एवं खंडन आरंभ हो गया था। फलतः बौद्ध परम्परा में अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, बसुबिंदु आदि विद्वानों तथा जैन परम्परा में कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ प्रभृति मनीषियों का उद्‌भव हुआ। इन्होंने अपने सिद्धांतों का संपोषण, प्रतिष्ठापन करने के साथ ही वैदिक विद्वानों की आलोचनाओं का उत्तर भी दिया तथा उनके हिंसापूर्ण क्रियाकांड का खंडन किया। बाद को वैदिक परम्परा में कणाद, जैमिनि, अक्षपाद, वादरायण आदि महा-उद्योगी प्राज्ञ हुए और उन्होंने अपने सिद्धांतों का समर्थन तथा श्रमण विद्वानों के खंडन-मंडन का जवाब दिया।

यद्यपि वैदिक परम्परा वैशेषिक, मीमांसा, न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि अनेक शाखाओं में विभाजित थी और उनके भी परस्पर खंडन-मंडन आलोचन-प्रत्यालोचन चलता था। किन्तु श्रमणों और श्रमण सिद्धान्तों के विरुद्ध (खण्डन में) सब एक थे और सभी अपने सिद्धान्तों का आधार प्रायः वेद को मानते थे। इसी दार्शनिक उठापटक में ईश्वर- कृष्ण, विन्ध्यवासी, वात्स्यायन, असंग, वसुबन्धु आदि विद्वान् दोनों परम्पराओं में आविर्भूत हुए और उन्होंने स्वपक्ष के समर्थन एवं परपक्ष के खंडन के लिए अनेक शास्त्रों की रचना की। इस तरह वह समय सभी दर्शनों का अखाड़ा बन गया था। सभी दार्शनिक एक दूसरे को परास्त करने में लगे थे। इस सबका आभास इस काल के रचे एवं उपलब्ध दार्शनिक साहित्य से होता है।

दार्शनिक जगत् को आचार्य समन्तभद्र का अवदान

इसी समय जैन परम्परा में दक्षिण भारत में महामनीषी समन्तभद्र का उदय हुआ, जो उनकी उपलब्ध कृतियों से प्रतिभाशाली और तेजस्वी पांडित्य से युक्त प्रतीत होते हैं। उन्होंने उक्त दार्शनिकों के संघर्ष को देखा और अनुभव किया कि परस्पर के आग्रह से वास्तविक तत्त्व लुप्त हो रहा है। सभी दार्शनिक अपने अपने पक्षाग्रह के अनुसार तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। कोई तत्त्व को मात्र भाव (अस्तित्व) रूप, कोई अभाव (नास्तित्व) रूप, कोई अद्वैत (एक) रूप, कोई द्वैत (अनेक) रूप, कोई अपृथक् (अभेद) रूप आदि मान रहा

है। जो तत्त्व (वस्तु) का एक-एक अंश है, उसका पूरा (समग्र) नहीं है। इस सबकी झलक हमें उनकी "आप्तमीमांसा" में मिलती है। उसमें उन्होंने इन सभी एकान्त मान्यताओं को प्रस्तुत कर स्याद्वाद से उनका समन्वय कर उन सभी को स्वीकार किया है।

भाव (विधि) वादी का मत था[1] कि तत्त्व (समग्र-समूहवस्तु) भावरूप ही है, अभावरूप नहीं - "सर्वं सर्वत्र विद्यते" - सब सब जगह है। न प्रागभाव है, न प्रध्वंसाभाव है, न अन्योन्याभाव है, न अत्यंताभाव है।

इसके विपरीत (शून्य) वादी का कथन[2] था कि अभावरूप ही तत्त्व है। शून्य के सिवाय कुछ नहीं है। न प्रमाण है और न प्रमेय है।

अद्वैतवादी प्रतिपादन करता था[3] कि तत्त्व एक ही है, अनेक का प्रतिभास माया विजृम्भित अथवा अविद्योपकल्पित है। अद्वैतवादी भी एक नहीं थे, वे भिन्न भिन्न रूप में त व का प्ररूपण करते थे। कोई एक मात्र ब्रह्म का कथन करते थे। कोई मात्र ज्ञान का, कोई मात्र बाह्यार्थ का और कोई शब्दमात्र का निरूपण करते थे।

द्वैतवादी[4] इसका विरोध करके तत्व को द्वैत (अनेक) बतलाते थे। वैशेषिक तत्त्व को सात पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव) रूप, नैयायिक १६ पदार्थ (प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान) रूप, सांख्य २५ (पुरुष, प्रकृति, महान्, अहंकार, १६ का गण, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, १ मत, ५ तन्मात्राएं तथा इन ५ तन्मात्राओं से उत्पन्न ५ भूत - १. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथ्वी) रूप कहते थे।

अनित्यवादी[5] कहते थे कि वस्तु प्रति समय नष्ट हो रही है, कोई भी स्थिर नहीं है। अन्यथा जन्म, मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि नहीं हो सकते, जो स्पष्ट दिखाई देते हैं और बतालते हैं कि वस्तु अनित्य है, नित्य नहीं है।

नित्यवादी का कहना था[6] कि यदि वस्तु अनित्य होता तो उसके नाश हो जाने पर यह संपूर्ण जगत् और वस्तुएं फिर दिखाई नहीं देतीं। एक व्यक्ति, जो बाल्य, युवा और वार्धक्य में अन्वयरूप से विद्यमान रहता है, स्थायी नहीं रह सकता। अतः वस्तु नित्य है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १-६, १०,११, १२, ३१, ३२ तथा १०-५, ६, ७, ८।
२. आप्तमीमांसा कारिका ६, १०, ११।
३. वही, का० १२।
४. वही, का० २४।
५. वही, का० २८।
६. वही, का० ४१।

इसी तरह भेद-अभेदवाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, देव-पुरुषार्थवाद आदि एक-एक वाद (पक्ष) को माना जाता था और परस्पर में संघर्ष होता था।[१]

यद्यपि श्रमण और श्रमणेतरों के वादों की चर्चा जैन परम्परा के दृष्टिवाद एवं भगवतीसूत्र (१-६, २-५, ५६, ६-३२ आदि, उत्तराध्ययन (अध्ययन २३) और सूत्रकृतांग (२-७)[२] में तथा बौद्ध परम्परा के त्रिपिटकों[३] में भी उपलब्ध होती है। किन्तु वह उतने प्रबल रूप में नहीं हैं, जितने सशक्त रूप में समन्तभद्र के काल में वह उभरकर आई। इसी से समन्तभद्र ने इन प्रचलित वादों का स्पष्ट और कुछ विस्तार से कथन करते हुए उन वादों में दोष प्रदर्शित किये तथा उन सभी को स्याद्वाद द्वारा स्वीकार किया। उन्होंने किसी के पक्ष को मिथ्या बतलाकर तिरस्कृत नहीं किया। अपितु उन्हें वस्तु का अपना एक-एक अंश बताया, क्योंकि वस्तु अनंतधर्मा है।[४] जो उसके जिस धर्म को देखेगा वही धर्म उसे उस समय दिखाई देगा, ऐसी स्थिति में द्रष्टा को यह विवेक रखना आवश्यक है कि वह वस्तु को उतना ही न मान बैठे। विवक्षित धर्म की अपेक्षा उसका दर्शन और कथन सही होने पर भी अविवक्षित, किन्तु विद्यमान अन्य धर्मों की अस्वीकृति होने से वह मिथ्या है अतः एक-एक अंश को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। मिथ्या तभी है जब वह इतर का तिरस्कार करता[५] है।

आचार्य समन्तभद्र ने विपक्ष के सभी उक्त विरोधी पक्ष-युगलों में स्याद्वाद द्वारा सप्तभंगी[६] (सप्तवाक्यनय) की विशद योजना करके उनके आपसी संघर्षों को जहाँ शमन करने की दृष्टि प्रदान की वहाँ उन्होंने पक्षाग्रहशून्य विचार-सरणिकी समन्वयवादी दृष्टि भी प्रस्तुत की। यही दृष्टि स्याद्वाद है, जो परम्परा से उन्हें प्राप्त थी। स्याद्वाद में सभी पक्षों (वादों) का समादर एवं समावेश है। एकान्त दृष्टियों (एकान्तवादों) में अपनी-अपनी ही मान्यता का आग्रह होने से उनमें अन्य (विरोधी) पक्षों का न समादर है और न समावेश है।

समन्तभद्र की यह अनोखी, किन्तु सही अहिंसक दृष्टि भारतीय दार्शनिकों, विशेषकर उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों के लिए मार्गदर्शन सिद्ध हुई। सिद्धसेन, श्रीदत्त, पात्रस्वामी, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, वादीभसिंह आदि तार्किकों ने उनका पूरा अनुगमन किया है। सम्भवतः इसी कारण उन्हें इस कलियुग में स्याद्वादतीर्थप्रभावक[६], स्याद्वादाग्रणी[७] आदि रूप में स्मरण किया गया है और श्रद्धापूर्वक उनका गुणगान किया गया है।

---

१. वही, का० ३७।

२. वही, का० ६१, ६६, ७३, ७६, ८८, ८६ आदि।

३-४. आगमयुग का जैन दर्शन (वादविद्याखण्ड), पृ० १७०, १७१।

५. आप्तमी० का० २२। ८. वही, का० १०८।

६. वही, का० १४, २३, ३४, ५६, ५७, ५६, ६०, ७१, ७२, ७५, ७८, ८३, ६१, ६६, ६८।

७. अकलंक, अष्टशती, मंगलपद्य २।

हम पहले कह आये हैं कि समन्तभद्र से पूर्व आगमों में स्याद्वाद और सप्तभङ्गी का निर्देश अवश्य मिलता है। किन्तु वह बहुत कम और आगमिक विषयों के निरूपण में है। पर उन दोनों का जितना विशद, विस्तृत और व्यावहारिक प्रतिपादन समन्तभद्र की कृतियों में[1] उपलब्ध है, उतना उनसे पूर्व नहीं है। समन्तभद्र ने स्याद्वाद द्वारा सप्तभंगनयों (सात उत्तर वाक्यों) से ४४ अनेकान्तरूप वस्तु की व्यवस्था का विधान किया और उस विधान को व्यावहारिक भी बनाया।[2] उदाहरण के लिए हम उनके आप्तमीमांसागत भाववाद और अभाववाद के समन्वय को यहाँ प्रस्तुत करते हैं।[3] इन्हें सप्तभंगी नय व्यवस्था भी कहते हैं। यहाँ **सप्तभंगी की दार्शनिक विवेचना** प्रस्तुत है-

१. **स्यादस्ति**-अर्थात् स्यात् (कथंचित्) वस्तु भावरूप ही है, क्योंकि वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से वैसी ही प्रतीत होती है। यदि उसे परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से भी भावरूप माना जाये, तो "न" का व्यवहार अर्थात् अभाव का व्यवहार कहीं भी नहीं हो सकेगा। फलतः प्रागभाव के अभाव हो जाने पर वस्तु अनादि (अनुत्पन्न) प्रध्वंसाभाव के अभाव में अनन्त (विनाशका अभावशाश्वत विद्यमान), अन्योन्याभाव के अभाव में सव सवरूप (परस्पर भेद का अभाव) और अत्यन्ताभाव के अभाव में स्वरूप रहित (अपने-अपने प्रातिस्विक् रूप की हानि) रूप हो जायेगी। जब कि वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है, परस्पर भिन्न रहती है और अपने-अपने स्वरूप को लिए हुए है। अतः वस्तु स्वरूपचतुष्टय की अपेक्षा से भावरूप ही है।

२. **स्यात् नास्ति**-अर्थात् स्यात् (कथंचित्) वस्तु अभावरूप ही है, क्योंकि वह परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से वैसा ही अवगत होती है। यदि उसे सर्वथा (स्व और पर दोनों से) अभावरूप ही स्वीकार किया जाये, तो विधि (सद्भाव) रूप में होनेवाले ज्ञान और वचन वे समस्त व्यवहार लुप्त हो जाएंगे और उस स्थिति में समस्त जगत् अन्ध (ज्ञान के अभाव में अज्ञानी) तथा मूक (वचन के अभाव में गूँगा) हो जायेगा, क्योंकि (शून्य) वाद में न ज्ञेय है, न उसे जानने वाला ज्ञान है, न अभिधेय है और न उसे कहने वाला वचन है। ये सभी (चारों) भाव (सद्भाव) रूप हैं। इस तरह वस्तु को सर्वथा अभाव (शून्य) मानने पर न ज्ञान-ज्ञेय का और न वाच्य-वाचक का व्यवहार हो सकेगा--कोई व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अतः वस्तु पर चतुष्टय से अभावरूप ही है।

---

१. विद्यानन्द, अष्टस० पृ० २६५।
२. आप्तमी० का० १०४, युक्त्यनुशा० का० ४५, स्वयम्भू का० १०१, ११८ आदि।
३. वही, का० १०४, २३।

३. **स्यादस्ति-नास्ति**-अर्थात् वस्तु कथंचित् उभयरूप ही है, क्योंकि क्रमशः दोनों विवक्षाएं होती हैं। ये दोनों विवक्षाएं तभी संभव हैं जब वस्तु कथंचित् दोनों रूप हो। अन्यथा वे दोनों विवक्षायें क्रमशः भी संभव नहीं है।

४. **स्यात् अवक्तव्य**-अर्थात् वस्तु कथंचित् अवक्तव्य ही है, क्योंकि दोनों को एक साथ कहा नहीं जा सकता। एक बार में उच्चरित एक शब्द एक ही अर्थ (वस्तु धर्म-भाव या अभाव) का बोध कराता हे, अतः एक साथ दोनों विवक्षाओं के होने पर वस्तु को कह न सकने से वह अवक्तव्य ही है।

इन चार भंगों को दिखलाकर वचन की शक्यता और अशक्यता के आधार पर समन्तभद्र ने अपुनरुक्त तीन भंग और बतलाकर सप्तभंगी संयोजित की है। वे तीन भंग ये हैं[1] -

५. **स्यात् अस्ति अवक्तव्य**-अर्थात् वस्तु कथंचित् भाव और अवक्तव्य ही है।

६. **स्यात् नास्ति अवक्तव्य**-अर्थात् वस्तु कथंचित् अभाव और अवक्तव्य ही है।

७. **स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य**-अर्थात् वस्तु कथंचित् भाव, अभाव और अवक्तव्य ही है।

इन सात भंगों से न कम हैं, न अधिक हैं। इन ७ से ही वस्तु की सही-सही व्यवस्था होती है। वास्तव में ये सात भंग सात उत्तरवाक्य[2] हैं। जो प्रश्नकर्ता के सात प्रश्नों के उत्तर हैं। उसके सात प्रश्नों का कारण उसकी सात जिज्ञासायें हैं, उन सात जिज्ञासाओं का कारण उसके सात संदेह हैं और उन सात संदेहों का भी कारण वस्तुनिष्ठ सात धर्म (१. सत्, २. असत्, ३. उभय, ४. अवक्तव्यत्व, ५. सत्वक्तव्यत्व, ६. असत्वक्तव्यत्व और ७. सत्वासत्वावक्तव्यत्व) हैं। ये सात धर्म वस्तु में स्वभावतः हैं, और स्वभाव में तर्क नहीं होता। (स्वभावोऽतर्कगोचरः)

इस तरह समन्तभद्र ने भाव और अभाव के पक्षों में होनेवाले आग्रह को समाप्त कर दोनों को सम्यक् बतलाया तथा उन्हें वस्तु के अपने वास्तविक धर्म निरूपित किया।

इसी प्रकार उन्होंने द्वैत-अद्वैत (एकानेक), नित्य-अनित्य भेद-अभेद-अपेक्षा-अनपेक्षा, हेतुवाद-अहेतुवाद, पुण्य-पाप आदि युगलों के एक-एक पक्ष को लेकर होने वाले वादियों के विवाद को समाप्त करते हुए दोनों को सत्य बतलाया। दोनों को ही वस्तुधर्म निरूपित किया। उन्होंने युक्तिपूर्वक कहा[3] कि वस्तु को सर्वथा अद्वैत (एक) मानने पर क्रिया-कारक का भेद, पुण्य-पाप का भेद, लोक-परलोक का भेद, बंध-मोक्ष का भेद, स्त्री-पुरुष का भेद

---

१. वही, का० १४, १५, १६, १७, १८, १६, २०, २२।

२. वही, का० ६, १०, ११, १२, १३, १४, २०।

३. वही, का० १६, अवक्तव्योत्तरा, शेषास्त्रयोभङ्गा स्वहेतुतः।

आदि लोक प्रसिद्ध अनेकत्व का व्यवहार नहीं बन सकेगा, जो यथार्थ है, मिथ्या नहीं है। इसी तरह वस्तु को सर्वथा अनेक स्वीकार करने पर कर्ता ही फल भोक्ता होता है और जिसे बंध होता है उसे ही मोक्ष (बंध से छूटना) होता है, आदि व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी। इसी प्रकार वस्तु को सर्वथा उभय, सर्वथा अवक्तव्य मानने पर भी लोक व्यवस्था समाप्त हो जाएगी। अतः वस्तु कथंचित् एक ही है क्योंकि उसका सभी गुणों और पर्यायों में अन्वय (एकत्व) पाया जाता है। वस्तु कथंचित् अनेक ही है क्योंकि वह उन गुणों और पर्यायों से अविष्कृभूत है। आगे यहाँ भी भाव और अभाव की तरह अद्वैत और द्वैत में तीसरे आदि ५ भंगों की और योजना करके सप्तभंगनय से वस्तु को समन्तभद्र ने अनेकान्त सिद्ध किया है।

नित्य-अनित्य आदि एकान्त मान्यताओं में भी सप्तभंगी पद्धति से समन्वय किया है। उन सभी को वास्तविक बतलाकर वस्तु को नित्य अनित्य की अपेक्षा अनेकान्तात्मक प्रकट किया है।[1] उन्होंने सयुक्तिक प्रतिपादन किया है कि अपने विरोधी के निषेधक "सर्वथा" (एकान्त) के आग्रह को छोड़कर उस (विरोधी) के संग्राहक "स्यात्" (कथंचित्) के वचन से तत्त्व का निरूपण करना चाहिए। इस प्रकार के निरूपण करना चाहिए। इस प्रकार के निरूपण अथवा स्वीकार में वस्तु और उसके सभी धर्म सुरक्षित रहते हैं। एक-एक पक्ष तो सत्यांशों को ही निरूपित या स्वीकार करते हैं, संपूर्ण सत्य को नहीं। संपूर्ण सत्य का निरूपण तो तभी संभव है जब सभी पक्षों को आदर दिया जाए, उनका लोप, तिरस्कार, निषेध या उपेक्षा (अस्वीकार) न किया जाए। समन्तभद्र ने[2] स्पष्ट घोषणा की कि "निरपेक्ष-इतर तिरस्कार पक्ष सम्यक् नहीं है, सापेक्ष-इतर संग्राहक पक्ष ही सम्यक् (सत्य प्रतिपादक) है।

श्रवणवेलगोला के शिलालेखों और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के समुल्लेखों आदि से अवगत होता है कि समन्तभद्र ने अपने समय में प्रचलित एकांतवादों का स्याद्वाद द्वारा अपनी कृतियों में ही समन्वय नहीं किया, अपितु भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर के सभी देशों तथा नगरों में पदयात्रा करके वादियों से शास्त्रार्थ भी किये और उन एकान्तवादों के विवाद भी स्याद्वाद से समाप्त किये। उदाहरण के लिए श्रवणवेलगोला का एक शिलालेख नं० ५४ यहाँ दे रहे हैं[3] :-

---

१. डा० दरबारी लाल कोठिया, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परि०, पृ० १७३।
२. आप्तमी० का० २४, २५, २६, २७, २८ से ३६।
३. वही, का० ५६, ५७, ५८, ५६, ६०।

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु ठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।

इस पद्य में समन्तभद्र अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि राजन्! मैंने सबसे पहले पाटलिपुत्र (पटना) नगर में भेरी बजाई, उसके बाद मालव, सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम) और वैदिश (विदिशा) में बाद के लिए वादियों का आहूत किया और अब करहाटक (कोल्हापुर) में, जहाँ विद्याभिमानी बहुत वादियों का गढ़ है, सिंह की तरह वाद के लिए विचरता हुआ आया हूँ।"

वादार्थी के अतिरिक्त वे एक अन्य पद्य में अपना और भी विशेष परिचय देते हुए कहते हैं[1] :-

आचार्योऽहं शृणु कविरहं वादिराट् पंडितोऽहं
दैवज्ञोऽहं जिन भिषगहं मान्त्रिकस्तांत्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्।।

यह परिचय भी समन्तभद्र ने वाद के लिए आयोजित किसी राजसभा में दिया है और कहा है कि "हे राजन्! मैं आचार्य हूँ, मैं कवि हूँ, मैं वादिराट् हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं देवज्ञ हूँ, मैं भिषग् हूँ, मैं मांत्रिक हूँ, मैं तांत्रिक हूँ, और तो क्या मैं इस समुद्रवलया पृथ्वी पर आज्ञासिद्ध हूँ-जो आदेश दूँ वही होता है तथा सिद्ध सारस्वत भी हूँ-सरस्वती मुझे सिद्ध हैं।"

समन्तभद्र ने एकान्तवादों को तोड़ा नहीं, जोड़ा है और वस्तु को अनेकान्तस्वरूप सिद्ध किया है।[2] साथ ही प्रमाण का लक्षण[3], उसके भेद, प्रमाण का विषय[4], प्रमाण के फल की व्यवस्था[5] ,नयलक्षण[6], सप्तभंगी की समस्त वस्तुओं में योजना[7], अनेकान्त में भी अनेकान्त का प्रतिपादन[8], हेतुलक्षण[9] वस्तु का स्वरूप[10], स्याद्वाद की संस्थापना[11], सर्वज्ञ की सिद्धि[12] आदि जैनदर्शन एवं जैनन्याय के आवश्यक अंगों एवं विषयों का भी प्रतिपादन किया,

१. वही, का० १०८। २. पं० जुगल किशोर मुख्तार, स्वयम्भू० प्रस्तावना, पृ० ६४।
३. वही, प्रस्तावना, पृ० १०३, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, ई० १९५१।
४. तत्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम् युक्त्यनुशा० का० ४६।
५. स्वयम्भू० का० ६३, आप्तमी० का० १०१।
६,७,८,९. आप्तमी० १०७, १०२, १०६, २३।
१०. स्वयम्भू १०३।
११. आप्तमी० का० १०६
१२. वही, का० १०७।

जो उनके पूर्व प्रायः उपलब्ध नहीं होता अथवा बहुत कम प्राप्त होता है। अतएव यह काल जैनदर्शन और जैनन्याय के विकास का आदिकाल है और इस काल को समन्तभद्रकाल कहा जा सकता है, जैसा कि उपरिनिर्दिष्ट उनकी उपलब्धियों से अवगत होता है। निःसंदेह जैनदर्शन और जैनन्याय के लिए किया गया उनका यह महाप्रयास है।

समन्तभद्र के इस कार्य को उनके उत्तरवर्ती श्रीदत्त, पूज्यपाद देवनन्दि, सिद्धसेन, मल्लवादी, सुमति, पात्रस्वामी आदि दार्शनिकों एवं तार्किकों ने अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं द्वारा अग्रसारित किया। श्रीदत्त ने जो ६३ वादियों के विजेता थे[३], जल्प-निर्णय, पूज्यपाद देवनंदि ने[४], सार-संग्रह, सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेन ने सन्मति, मल्लवादी ने द्वादशारनयचक्र, सुमतिदेव ने सन्मतिटीका और पात्रस्वामी ने त्रिलक्षणकदर्शन जैसी तार्किक कृतियों को रचा है। दुर्भाग्य से जल्पनिर्णय, सारसंग्रह, सन्मति टीका और त्रिलक्षणकदर्शन आज उपलब्ध नहीं है, केवल उनके ग्रंथों में तथा शिलालेखों में उल्लेख पाए जाते हैं। सिद्धसेन का सन्मति तर्क और मल्लवादी का द्वादशारनयचक्र उपलब्ध हैं, जो समंतभद्र की कृतियों के आभारी हैं।

इस काल में और भी दर्शन एवं न्याय के ग्रंथ रचे गये होंगे, और जो आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। बौद्ध, वैदिक और जैनशास्त्र भंडारों का अभी पूरी तरह अन्वेषण नहीं हुआ। अन्वेषण होने पर कोई ग्रंथ उनमें उपलब्ध हो जाए, यह संभव है। पहले अश्रुत एवं दुर्लभ "सिद्धिविनिश्चय" "प्रमाण-संग्रह" जैसे अनेक ग्रंथ कुछ दशकपूर्व प्राप्त हुए और अब वे भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुके हैं। जैन साधुओं में धर्म और दर्शन के ग्रंथों को रचने की प्रवृत्ति रहती थी। बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित (ई० ७वीं, ८वीं शती) और उनके साक्षात् शिष्य कमलशील ने[१] क्रमशः तत्वसंग्रह तथा उसकी टीका में जैनतार्किकों के तर्कग्रंथों के उद्धरण प्रस्तुत करके उनकी विस्तृत आलोचना की है। परन्तु वे ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं।[४]

इस तरह हम देखते हैं कि इस आदिकाल अथवा समंतभद्रकाल (ई० २०० से ई० ६५०) में जैनदर्शन और जैनन्याय की एक योग्य एवं उत्तम भूमिका बन चुकी थी।

२. मध्यकाल अथवा अकलंक-काल

यह काल ई० सन् ६५० से ई० सन् १०५० तक माना जाता है। इस काल के आरंभ

---

१. आप्तमी० का० १-४, ११३।

२. वही, का० ५।

३. त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये तत्त्वार्थश्लोक, पृ० २८।

४. इन्होंने समन्तभद्र के रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक ८४, ८५, ८६ का आधार अपनी सर्वार्थसिद्धि ६-१ की व्याख्या में लिया है।

में उक्त भूमिका पर जैनदर्शन और जैनन्याय का उत्तुंग एवं सर्वांगपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल एवं तीक्ष्णबुद्धि तार्किक-शिल्पी ने खड़ा किया वह है सूक्ष्म प्रज्ञ-अकलंकदेव।

अकलंकदेव के काल में भी आचार्य समंतभद्र से अधिक दार्शनिक मुठभेड़ थी। एक ओर शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्यायनिष्णात नैयायिक उद्योतकर आदि वैदिक विद्वान् जहाँ अपने-अपने पक्षों पर आरूढ़ थे, वहीं दूसरी ओर धर्मकीर्ति, उनके तर्कपटु शिष्य एवं समर्थ व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि जैसे बौद्ध मनीषी भी अपनी मान्यताओं पर आग्रहबद्ध थे। शास्त्रार्थों और शास्त्रों के निर्माण की पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिक का प्रयत्न था कि जिस किसी तरह वह अपने पक्ष को सिद्ध करे और परपक्ष का निराकरण कर अपनी विजय प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त परपक्ष को असद्प्रकारों से तिरस्कृत एवं पराजित किया जाता था। विरोधी को "पशु" "अह्नीक", "जड़मति" जैसे अभद्र शब्दों का प्रयोग तो सामान्य था।

यह काल जहाँ तर्क के विकास का मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस काल में दर्शन और न्याय का बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्त्व के संरक्षण के लिए छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे असद् साधनों का खुलकर प्रयोग करना और उन्हें स्वपक्षसिद्धि का साधन एवं शास्त्रार्थ का अंग मानना इस काल की देन बन गई थी।[1] क्षणिकवाद, नैरात्मवाद, शून्यवाद, शब्दाद्वैत-ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत आदि वादों का पुरजोर समर्थन इस काल में किया गया और कट्टरता से विपक्ष का निरास किया गया।

सूक्ष्मदृष्टि अकलंक इस समग्र स्थिति का अध्ययन किया तथा सभी दर्शनों का गहरा एवं सूक्ष्म अभ्यास किया। तत्कालीन शिक्षा केन्द्रों - कांची, नालन्दा आदि विश्वविद्यालयों में प्रछन्न वेष में तत्तत्शास्त्रों का अध्ययन किया।

समन्तभद्र द्वारा पुनः स्थापित स्याद्वाद और अनेकान्त को ठीक तरह से न समझने के कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानों तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि वैदिक मनीषियों ने अपनी एकान्त दृष्टि का समर्थन करते हुए स्याद्वाद और अनेकान्त की समीक्षा की अकलंक ने उनका उत्तर देने के लिए महाप्रयास करके दो अपूर्व कार्य किए। एक तो स्याद्वाद और अनेकान्त पर विपक्ष द्वारा किए गए आक्षेपों का सबल जवाब दिया।[2] दूसरा कार्य उन्होंने जैन दर्शन और जैनन्याय के चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन किया, जिनमें उन्होंने न केवल अनेकान्त और स्याद्वाद पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया, अपितु उन सभी एकान्तपक्षों में दूषण भी प्रदर्शित किए तथा उनका अनेकान्त दृष्टि से समन्वय भी किया। उनके वे दोनों कार्य हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

१. तत्त्वसंग्रह का० १३६४ से १३७६ तक १६ कारिकाएँ दृष्टव्य हैं।

२. उदाहरण के लिए श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ५४/६७ में सुमतिदेव के "सुमतिसप्तक" नाम के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का उल्लेख है, पर वह अनुपलब्ध है।

दूषणोद्धार

आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने आप्त की सर्वज्ञता और उनके उपदेश-स्याद्वाद (श्रुत) की सहेतुक सिद्धि की है।[1] दोनों में साक्षात् (प्रत्यक्ष) और असाक्षात् (परोक्ष) का भेद बतलाते हुए उन्होंने दोनों को सर्वतत्त्वप्रकाशक कहा है।[2] आप्त (अरहंत) और उनके उपदेश (स्याद्वाद) दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनमें अन्तर इतना ही है कि जहाँ आप्त वक्ता है वहाँ स्याद्वाद उनका वचन है। यदि वक्ता प्रमाण है तो उसका वचन भी प्रमाण माना जाता है। आप्तमीमांसा में "अर्हत्" को युक्तिपुरस्सर आज्ञा-सिद्ध किया है। वचन ही में से वह भी प्रमाण है।

मीमांसक कुमारिल को यह सह्य नहीं हुआ, क्योंकि वे किसी पुरुष को सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते। अतएव समन्तभद्र द्वारा मान्य "अर्हत्" की सर्वज्ञता पर कुमारिल आपत्ति करते हुए कहते हैं[3] :-

एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाधनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्।
नर्ते तदागमात्सिद्‌ध्येन्न च तेनागमो विना।।

"जो सूक्ष्म तथा अतीत आदि विषयक अतीन्द्रिय केवलज्ञान जीव (पुरुष) के माना जाता है वह आगम के बिना सिद्ध नहीं होता और आगम उसके बिना संभव नहीं, इस प्रकार दोनों में अन्योन्याश्रय दोष होने से न अर्हत् सर्वज्ञ हो सकता है और न उनका आगम (स्याद्वाद) ही सिद्ध हो सकता है।"

यह "अर्हत्" की सर्वज्ञता और उनके स्याद्वाद पर कुमारिल का एक साथ आक्षेप है। समन्तभद्र के उत्तरवर्ती जैनतार्किक आचार्य अकलंक ने कुमारिल के इस आक्षेप का जवाब देते हुए कहा है[4] :-

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्‌ध्येन्न च तेन विनाऽऽगमः।
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धेऽनादिरिष्यते।।

---

१. न्यायसूत्र १/१/१, ४/२/५०, १/२/२,३,४ आदि का भाष्य व न्या० वा०।
२. न्यायविनिश्चय, का० १, ४१२, ४१३, ३७२, ३७३, ३७४।
३. आप्तमी० का० ५, ११३।
४. वही, का० १०५।

"यह सत्य है कि अनुमान द्वारा सिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता, तथापि उनमें अन्योन्याश्रय नहीं है, क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) को अर्थबल (प्रतीतिवश) से माना जाता है। दोनों (केवलज्ञान और आगम) का प्रबन्ध (प्रवाह) बीजाङ्कुर प्रबन्ध की तरह अनादि माना गया है। अतः उनमें अन्योन्याश्रय है। अतएव "अर्हत्" की सर्वज्ञता और उनका उपदेश स्याद्वाद दोनों ही युक्तसिद्ध हैं।"

यहाँ देखें कि समन्तभद्र ने जो अनुमान (आप्तमीमांसा कारिका ४, ५, ६) से सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की सिद्धि की है और जिसका कुमारिल ने उक्त प्रकार से आपत्ति उठाकर खण्डन किया है, अकलंकदेव ने उसी का बहुत विशदता के साथ सहेतुक उत्तर दिया है तथा सर्वज्ञता (केवलज्ञान) और आगम (स्याद्वाद) में बीजाङ्कुर सन्तति की तरह अनादि प्रवाह बतलाया है।

बौद्धतार्किक धर्मकीर्ति ने भी स्याद्वाद पर निम्न प्रकार से आक्षेप किया है[1] :-

एतेनैव यत्किंचिदयुक्तमश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्।।

"कपिलमत के खण्डन से ही अयुक्त, अश्लील और आकुल जो "किंचित्" (स्यात्) का प्रलाप है वह खण्डित हो जाता है, क्योंकि वह भी एकान्त सम्भव है।"

यहाँ धर्मकीर्ति ने स्पष्टतया समन्तभद्र के "सर्वथा एकान्त के त्यागपूर्वक किंचित् के विधानरूप" स्याद्वाद लक्षण (आप्तमी० १०४) का खण्डन किया है। समन्तभद्र से पूर्व जैनदर्शन में स्याद्वाद का इस प्रकार से लक्षण उपलब्ध नहीं होता। उनके पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द ने सप्तभंगों के नाम तो दिये हैं परन्तु स्याद्वाद की उन्होंने कोई परिभाषा अंकित नहीं की। यहाँ धर्मकीर्ति द्वारा खण्डन में प्रयुक्त "तदप्येकान्त सम्भवात्" पद भी ध्यान देने योग्य है, जिससे ध्वनित होता है कि उनके समक्ष सर्वथा एकान्त के त्याग रूप स्याद्वाद की वह मान्यता रही है, जो "किंचित्", "कथंचित्" के विधान द्वारा व्यक्त की जाती थी, उसी का खण्डन धर्मकीर्ति ने "तदप्येकान्तसम्भवात्" - वह भी एकान्त संभव है जैसे शब्दों द्वारा किया है।

धर्मकीर्ति के इस आक्षेप का उत्तर समन्तभद्र के उत्तरवर्ती अकलंकदेव ने निम्न प्रकार दिया :-

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादं,
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे।

---

१. मीमांसाश्लोक०, श्लोक ८७, ८८।

न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किंचित्,
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः।।

"कोई बौद्ध विज्ञप्तिमात्र तत्त्वको (न्यायविनिश्चय, का० १७०) मानते हैं, कोई बाह्य पदार्थ के सद्भाव को स्वीकार करते हैं तथा कोई इन दोनों को लोकदृष्टि से अंगीकार करते हैं और कोई कहते हैं कि न बाह्य तत्त्व है, न आभ्यन्तर तत्त्व है, न उनको जाननेवाला है और न उसका अन्य फल है, ऐसा विरुद्ध प्रलाप करते हैं, उन्हें अश्लील, उन्मत्त, जड़बुद्धि, आकुल और आकुलताओं से व्याप्त कहा जाना चाहिए।"

यहाँ देखें, अकलंक ने स्याद्वाद पर किये गये धर्मकीर्ति के आक्षेप का "सेर को सवा सेर" जैसा सबल उत्तर दिया है।

एक दूसरी जगह "अनेकान्त" (स्याद्वाद के वाच्य) पर भी धर्मकीर्ति उपहास पूर्वक आक्षेप करते हैं[१] :-

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति।।

"यदि सब पदार्थ उभय रूप - अनेकान्तात्मक हैं, तो उनमें कुछ भेद न होने से किसी को "दही खा" कहने पर वह ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं दौड़ता।"

यहाँ धर्मकीर्ति ने जिस उपहास एवं व्यंग्य के साथ अनेकान्त की खिल्ली उड़ाई है, अकलंकदेव ने भी उसी उपहास के साथ धर्मकीर्ति को उत्तर दिया है[२] :-

दध्युष्ट्रादेरभेदत्व-प्रसंगादेकचोदनम्।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोपि विदूषकः।।
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो बन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते।।
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति।।

"दही और ऊँट को एक बतलाकर दोष" देना धर्मकीर्ति का पूर्वपक्ष (अनेकान्त) को न समझना है और वे दूषक (दूषण प्रदर्शक) होकर भी विदूषक-दूषक नहीं, उपहास के ही पात्र हैं, क्योंकि सुगत भी पूर्व पर्याय में मृग थे और वह मृग भी सुगत हुआ, फिर भी सुगत वंदनीय और मृग भक्षणीय कहा गया है और इस तरह सुगत एवं मृग में

१. अकलंकग्रन्थत्रय, न्यायवि० का० ४१२, ४१३।
२. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक १-१८२, १८३।

पर्यायभेद से जिस प्रकार क्रमशः वंदनीय एवं भक्षणीय की भेद-व्यवस्था तथा एकचित्तसंतान की अपेक्षा से उनमें अभेद व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार वस्तुबल (प्रतीतिवश) से सभी पदार्थों में भेद और अभेद दोनों की व्यवस्था है। अतः किसी को "दही खा" कहने पर वह ऊँट को खाने के लिए क्यों दौड़ेगा, क्योंकि सत् सामान्य की अपेक्षा उसे उनमें अभेद होने पर भी पर्याय (पृथक्-पृथक् प्रत्यय के विषय) की अपेक्षा से उनमें स्पष्टतया भेद है। संज्ञा-भेद भी है। एक का नाम दही है और दूसरे का नाम ऊँट है, तब जिसे दही खाने को कहा वह दही ही खायेगा, ऊँट को नहीं, क्योंकि दही भक्षणीय है, ऊँट भक्षणीय नहीं। जैसे सुगत वन्दनीय एवं मृग भक्षणीय है। यही वस्तु-व्यवस्था है। भेदाभेद (अनेकान्त) तो वस्तु का स्वरूप है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

यहाँ अकलंक ने धर्मकीर्ति के आक्षेप का शालीन उपहासपूर्वक, किन्तु चुभने वाला करारा उत्तर दिया है। यह विदित है कि बौद्ध परम्परा में आप्त रूप से मान्य सुगत पूर्वजन्म में मृग थे, उस समय वे मांस भक्षियों के भक्ष्य थे। किन्तु जब वही पूर्ण पर्याय का मृग मरकर सुगत हुआ तो वह वंदनीय हो गया। इस प्रकार एकचित्त संतान की अपेक्षा उनमें अभेद है और मृग तथा सुगत इन दो पूर्वापर अवस्थाओं की दृष्टि से उनमें भेद है। इसी तरह जगत् की प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्षदृष्ट भेदाभेद (अनेकान्त) को लिए हुए है। कोई वस्तु इस स्याद्वाद मुद्रांकित अनेकान्त की अवहेलना नहीं कर सकती।

इस तरह अकलंकदेव ने विभिन्न वादियों द्वारा स्याद्वाद और अनेकान्त पर आरोपित दूषणों का सयुक्तिक परिहार किया।

नव-निर्माण

आचार्य अकलंकदेव का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि जैनदर्शन और जैनन्याय के जिन आवश्यक तत्त्वों का विकास और प्रतिष्ठा उनके समय तक नहीं हो सकी थी, उनका उन्होंने विकास एवं प्रतिष्ठा की। इसके हेतु उन्होंने दर्शन और न्याय के निम्न चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया[1]--

१. न्याय-विनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)
२. सिद्धि-विनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)
३. प्रमाण-संग्रह (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)
४. लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति समन्वित)

बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्ति ने बौद्धदर्शन और बौद्धन्याय को प्रमाणवार्तिक एवं प्रमाणविनिश्चय जैसे कारिकात्मक ग्रन्थों के रूप में निबद्ध किया है उसी तरह अकलंकदेव

---

१. न्यायविनिश्चय, का० ३७२, ३७३, ३७४।

ने भी ये चारों ग्रन्थ कारिकात्मक रूप में रचे हैं। न्याय-विनिश्चय में ४३०, सिद्धिविनिश्चय में ३६७, प्रमाणसंग्रह में ८७ और लघीयस्त्रय में ७८ कारिकाएं हैं। चारों ग्रंथों की कुल कारिकाएं ९६२ हैं। प्रत्येक कारिका सूत्रात्मक, बहूर्थगर्भ और गम्भीर है। चारों ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट और दुरूह हैं। इन चारों पर उनकी स्वोपज्ञवृत्तियों के अलावा वैदुष्यपूर्ण व्याख्याएं भी लिखी गयी हैं।

न्यायविनिश्चय ग्रन्थ पर स्याद्वादविद्यापति आचार्य वादिराज (ई० १०२५) ने न्यायविनिश्चयालंकार अपरनाम न्यायविनिश्चयविवरण, सिद्धिविनिश्चय पर तार्किकशिरोमणि आचार्य बृहदनन्तवीयं (ई० ८५०) ने सिद्धिविनिश्चयालंकार तथा इन्होंने ही प्रमाणसंग्रह पर प्रमाणसंग्रहभाष्य और आचार्य माणिक्यनन्दि (ई० १०२८) के शिष्य आचार्य प्रभाचन्द्र (ई० १०४३) ने लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रयालंकार अपरनाम न्यायकुमुदचन्द्र नाम की विस्तृत एवं प्रौढ़ टीकाएं लिखी हैं। इनमें प्रमाणसंग्रहभाष्य अनुपलब्ध है। शेष तीनों टीकाएं उपलब्ध हैं और अपने मूल के साथ प्रकाशित हैं। प्रमाणसंग्रहभाष्य का उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चयालंकार में अनेक स्थलों पर किया है और उससे विस्तारपूर्वक जानने की सूचनाएं की हैं।[1] इससे प्रतीत होता है कि वह अधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण व्याख्या रही है।

अकलंकदेव ने इन चारों तर्क ग्रन्थों में अन्य दार्शनिकों की एकान्त मान्यताओं और सिद्धान्तों की कड़ी तथा मर्मस्पर्शी समीक्षा की है। जैनदर्शन में मान्य प्रमाण, नय और निक्षेप के स्वरूप, उनके भेद, विषय तथा प्रमाणफल का विवेचन इनमें विशदतया किया है। इसके अतिरिक्त जैन दृष्टि से किये गये प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदों, प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और मुख्य- इन दो प्रकारों की प्रतिष्ठा, परोक्षप्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम- इन पांच भेदों का निर्धारण, उनकी सयुक्तिक सिद्धि, उनके लक्षणों का प्रणयन तथा इन्हीं परोक्ष भेदों में उपमान, अर्थापत्ति, संभव, अभाव आदि अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों का अंतर्भाव, सर्वज्ञ की विविध युक्तियों से विशेष सिद्धि, अनुमान के साध्य-साधन अंगों के लक्षण और भेदों का विस्तृत निरूपण, कारण हेतु, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि अनिवार्य नये हेतुओं की प्रतिष्ठा, अन्यथानुपपत्ति के अभाव से एक अकिंचित्कर हेत्वाभास का स्वीकार और उसके भेदरूप से असिद्धादि हेत्वाभासों का प्रतिपादन, जय-पराजय व्यवस्था, दृष्टान्त, धर्मी, वाद, जाति और निग्रहस्थान के स्वरूप आदि का कितना ही नया प्रतिष्ठापन करके जैनदर्शन और जैनन्याय को अकलंकदेव ने न केवल समृद्ध एवं परिपुष्ट किया, अपितु उन्हें भारतीय दर्शनों एवं न्यायों में वह प्रतिष्ठित

---

१. कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः-विद्यानन्द, त० श्लो० पृ० २८०, तथैवहि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्तदाह-विद्यानन्द, पत्र परीक्षा पृ० ५, जैन तर्क० अनु० पृ० १६४ टि०।

एवं गौरवपूर्ण स्थान दिलाया, जो बौद्धदर्शन और बौद्धन्याय को धर्मकीर्ति ने दिलाया। अतः अकलंक को जैनदर्शन और जैनन्याय के मध्यकाल का प्रतिष्ठाता और इसीलिये उनके इस काल को "अकलंककाल" कहा जा सकता है।

अकलंकदेव ने जैनदर्शन और जैनन्याय को जो दिशा दी और उनका जो निर्धारण किया उसी का अनुगमन उत्तरवर्ती प्रायः सभी जैन दार्शनिकों एवं नैयायिकों ने किया है। हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनंदि, विद्यानंद, अनंतवीर्यप्रथम, वादिराज, माणिक्यनंदि आदि मध्ययुगीन जैनतार्किकों ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी एवं प्रभावपूर्ण बनाया। उनके गंभीर एवं सूत्रात्मक निरूपण और चिंतन को इन तार्किकों ने अपने ग्रंथों में सुविस्तृत, सुपुष्ट और सुप्रसारित करके बहुत महत्त्व दिया। हरिभद्र की अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, वीरसेन की सिद्धान्त एवं तर्कबहुला धवला-जय-धवलाटीकाएँ, वादन्यायविचक्षण, कुमारनंदि का वादन्याय[2], विद्यानंद के आचार्य विद्यानंद महोदय[3], तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनालंकार, अनंतवीर्य प्रथम की सिद्धिविनिश्चय टीका व प्रमाणसंग्रहभाष्य, वादिराज के न्याय-विनिश्चय विवरण, प्रमाण-निर्णय और माणिक्यनंदि का परीक्षामुख (आद्य जैन न्यायसूत्र), अकलंक के वाङ्मय से पूर्णतया प्रभावित एवं उसके आभारी तथा उल्लेखनीय दार्शनिक एवं तार्किक रचनाएं हैं, जिन्हें अकलंककाल (मध्यकाल) की महत्त्वपूर्ण देन कहा जा सकता है।

३. अन्त्यकाल (मध्य-उत्तरवर्ती) अथवा प्रभाचन्द्रकाल

यह काल जैनदर्शन और जैनन्याय के विकास का अंतिम काल कहा जाता है। इस काल में मौलिक ग्रंथों के निर्माण की क्षमता कम हो गई और व्याख्या ग्रंथों का निर्माण मुख्यतया हुआ। यह काल तार्किक ग्रंथों के सफल और प्रभावशाली व्याख्याकार जैन-तार्किक प्रभाचन्द्र से आरंभ होता है। उन्होंने इस काल में अपने पूर्ववर्ती जैनदार्शनिकों एवं तार्किकों का अनुगमन करते हुए जैनदर्शन और जैनन्याय के ग्रंथों पर जो विशालकाय व्याख्या ग्रंथ

---

१. ये चारों ग्रंथ बड़े मार्मिक और तत्त्वस्पर्शी हैं। दार्शनिक विद्वानों द्वारा ये अवश्य अध्येतव्य हैं। आप्तमीमांसा पर लिखी उनकी अष्टशती भी उसी श्रेणी की प्रौढ़ रचना है। तत्त्वार्थसूत्र पर रचा गया उनका तत्त्वार्थवार्तिक व उसका भाष्य मिश्रीमिश्रित दुग्ध की तरह सिद्धान्त और दर्शन का मिला हुआ सुपाच्य एवं मिष्ट पाथेय है।

२. इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये - "सिद्धि वि० लिखित पृ० १२ इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालंकारे" वही, पृ० १६, आदि देखें- जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र-परिशीलन, पृ० २५० का टिप्पणी, लेखक कृत।

३. इसका उल्लेख विद्यानन्द ने त०श्लो० वा० पृ० २७२, ३८५, अष्ट सं० पृ० २८६, २९० में किया है, जो वर्तमान में अनुपलब्ध है और जिसका उल्लेख विद्यानन्द से तीन-चार सौ वर्ष बाद होने वाले देवसूरि (१२वीं शती) ने भी स्याद्वादरत्नाकर पृ० २४९ में किया है।

लिखे हैं वे अतुलनीय हैं। उत्तरकाल में उन जैसे व्याख्याग्रंथ नहीं लिखे गए। अतएव इस काल को प्रभाचन्द्रकाल कहा गया है। प्रभाचन्द्र ने अकलंकदेव के लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रयालंकार अपरनाम न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है।

न्यायकुमुदचन्द्र वस्तुतः न्याय रूपी कुमुदों को विकसित करने वाला चन्द्र है। इसमें प्रभाचन्द्र ने अकलंक के लघीयस्त्रय की कारिकाओं और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति तथा उनके दुरूह पदवाक्यादिकों की विशद् एवं विस्तृत व्याख्या तो की ही है, किन्तु प्रसंगोपात्त विविध तार्किक चर्चाओं द्वारा अनेक अनुद्घाटित तथ्यों एवं विषयों पर भी नया प्रकाश डाला है। इसी तरह उन्होंने अकलंक के वाङ्मय-मंथन से प्रसूत माणिक्यनंदि के आद्य जैन न्यायसूत्र परीक्षामुख पर, जिसे "न्यायविद्यामृत" कहा गया है[1] **परीक्षामुखालंकार** अपरनाम **प्रमेयकमलमार्तण्ड** नाम की प्रमेयबहुला एवं तर्कगर्भा व्याख्या रची है। इसमें भी प्रभाचन्द्र ने अपनी तर्कपूर्ण प्रतिभा का पूरा उपयोग किया है। परीक्षामुख के प्रत्येक सूत्र का विस्तृत एवं विशद व्याख्यान किया है। इसके साथ ही अनेक शंकाओं का सयुक्तिक समाधान प्रस्तुत किया है। मनीषियों को यह व्याख्या ग्रन्थ इतना प्रिय है कि वे जैनदर्शन और जैनन्याय संबन्धी प्रश्नों के समाधान के लिए इसे बड़ी रुचि से पढ़ते हैं और अपने समाधान प्राप्त कर लेते हैं। वस्तुतः प्रभाचन्द्र के ये दोनों व्याख्या ग्रन्थ मूल जैसे ही हैं, जो उनकी तर्कणा और यश को प्रसृत करते हैं।[2]

आचार्य प्रभाचन्द्र के कुछ ही काल बाद अभयदेव ने सिद्धसेन के "सन्मतिसूत्र" पर विस्तृत सन्मतितर्क टीका लिखी है। यह टीका अनेकान्त और स्याद्वाद पर विशेष प्रकाश डालती है। देवसूरि का स्याद्वादरत्नाकर अपरनाम प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार टीका भी उल्लेखनीय है। ये दोनों व्याख्याएँ प्रभाचन्द्र की उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं से प्रभावित एवं उनकी आभारी है। प्रभाचन्द्र की तर्कपद्धति और शैली इन दोनों में परिलक्षित है।

इन व्याख्याओं के सिवाय इस काल में लघु अनंतवीर्य ने परीक्षामुख पर मध्यम परिणाम की परीक्षामुखवृत्ति अपरनाम प्रमेयरत्नमाला की रचना की है। यह वृत्ति मूलसूत्रों का तो व्याख्यान करती ही है, सृष्टिकर्त्ता जैसे वादग्रस्त विषयों पर भी अच्छा एवं विशद् प्रकाश डालती है। लघीयस्त्रय पर लिखी अभयचन्द्र की लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा, मल्लिषण सूरि की स्याद्वादमंजरी, आशाधर का प्रमेयरत्नाकर, भावसेन का विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेन की न्यायमणिदीपिका, अभिनव-धर्मभूषणयति की न्यायदीपिका, नरेन्द्रसेन की प्रमाणप्रमेयकलिका, विमलदास की सप्तभंगीतरंगिणी, चारुकीर्ति के अर्थप्रकाशिका तथा प्रमेयरत्नालंकार, यशोविजय के अष्टसहस्रीविवरण, जैनतर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु इस काल के उल्लेखनीय दार्शनिक एवं तार्किक महान् ग्रन्थ हैं।

१-२. लघु अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला, श्लोक २, ३।

अंतिम तीन तार्किकों ने अपनी रचनाओं में नव्यन्यायशैली को भी अपनाया है, जो गंगेश उपाध्याय (१२वीं शती) से उद्भूत हुआ और पिछले तीन-चार दशक तक अध्ययन-अध्यापन में विद्यमान रहा। इसके बाद जैनदर्शन और जैनन्याय का कोई मौलिक या व्याख्या ग्रंथ लिखा गया हो, यह अज्ञात है। फलतः उत्तरकाल में जैनदर्शन और जैनन्याय का प्रवाह अवरुद्ध हो गया। यही स्थिति अन्य भारतीय दर्शनों एवं न्याय क्षेत्र की हुई है। उनके अध्ययन-अध्यापन और शास्त्रप्रणयन की जो प्राचीन परम्परा (पद्धति) थी क्रमशः ह्रास होता गया। किन्तु अब इन विधाओं का पुनः विकास आवश्यक है।

जैन दर्शन और उसके प्रमुख अङ्ग

व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है[1] कि **'दृश्यतेऽवलोक्यते पदार्थोऽनेनेति दर्शनम्'**-जिसके द्वारा पदार्थ वस्तु स्वरूप देखा जाये-जाना जाये वह दर्शन है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर कोषकारों ने[2] इस शब्द का प्रयोग नेत्र, स्वप्न, बुद्धि, धर्म, दर्पण और शास्त्र इन छह अर्थों में किया है, क्योंकि इन छहों के द्वारा देखा जाता है। प्रकृत में वह बुद्धि (विचार) और उसे निबद्ध करने वाला शास्त्र इन दो अर्थों में विवक्षित है। इन दोनों के द्वारा जड़-चेतन, लोक-परलोक, कुशल-अकुशल (पुण्य-पाप), हेय-उपादेय, सूक्ष्म-स्थूल भूत-भावी आदि पदार्थों (विषयों) का गहराई से चिन्तन एवं निर्णय किया जाता है। जो चिन्तक जितनी गहराई और अपने ज्ञान की सीमाओं से उक्त पदार्थों का चिन्तन करेगा, उसका वह चिन्तन उसी प्रकार का होगा। यही कारण है कि तत्त्व-चिन्तकों के चिन्तनों और उनके द्वारा निबद्ध शास्त्रों में साम्य नहीं है। फलतः दर्शन एक न होकर अनेक हैं। पश्चिमी दर्शन, पूर्वी दर्शन, यूनानी दर्शन, भारतीय दर्शन जैसे भेदों में वे विभक्त हैं।

भारतीय दर्शन और उनका विभाजन

यहाँ सामान्यतया भारतीय दर्शनों और विशेषतया जैनदर्शन का विमर्श किया जायेगा।

भारतीय दर्शन दो वर्गों में विभक्त है-१. वैदिक और २. अवैदिक। जो वेद के आधार पर स्थापित है अथवा जिनमें प्रायः वेद को प्रमाण मानकर तत्त्व का प्रतिपादन है वे वैदिक दर्शन कहे गये हैं और जो विशिष्ट व्यक्ति के अनुभव, तर्क और वचन को प्रमाण स्वीकार कर तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं वे अवैदिक दर्शन माने गये हैं। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त-ये छह वैदिक दर्शन कहे गये हैं, क्योंकि ये छह दर्शन वेद को अपना आधार मानते हैं तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक-ये तीन दर्शन विशिष्ट व्यक्ति (क्रमशः अर्हत्, सुगत और बृहस्पति) के अनुभव के आधार पर प्रतिपादित होने से अवैदिक दर्शन कहे गये हैं। यद्यपि न्यायदर्शन के प्रतिष्ठाता अक्षपाद, वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद, निरीश्वर सांख्य दर्शन के जन्मदाता कपिल और सेश्वर सांख्य (योग) दर्शन के संस्थापक पतञ्जलि भी व्यक्ति विशेष हैं और उनके द्वारा प्रतिष्ठित होने से ये चार वैदिक

---

१. हीरावल्लभशास्त्री, प्राक्कथन, प्रमाण-प्रमेयकलिका, पृ. २४, १९६१।

२. 'नेत्रे स्वप्ने बुद्धौ धर्मे दर्पणे शास्त्रे च दर्शनशब्दः। - मेदिनीकोष।

दर्शन भी अवैदिक दर्शन ठहरते हैं तथापि इन दर्शनों पर मूल प्रभाव वेद का ही माना जाता है। इन पर उक्त ऋषियों का स्वतंत्र भाव से प्रभाव नहीं है, जैसा कि श्रौतेतर दर्शनों पर अर्हत्, बुद्ध और बृहस्पति का है।

उक्त वैदिक दर्शनों में सांख्य दर्शन और मीमांसा दर्शन दो-दो प्रशाखाओं में विभाजित है। सांख्य दर्शन की दो प्रशाखाएं हैं-१. सेश्वर सांख्य और २. निरीश्वर सांख्य। इनमें सेश्वर सांख्य योगदर्शन तथा निरीश्वर सांख्य प्रकृतिवादी दर्शन कहा जाता है। मीमांसा की भी दो प्रशाखाएं हैं -१. पूर्वमीमांसा और २. उत्तरमीमांसा। इनमें कर्मकाण्ड को पूर्वमीमांसा और ज्ञानकाण्ड (वेदान्त) को उत्तरमीमांसा कहा गया है। यद्यपि पूर्व मीमांसा में ज्ञान क्रियाओं-नित्य नैमित्तिक अनुष्ठानों का उपदेश होने से वह दर्शन न होकर केवल धर्म है। किन्तु प्रभाकर गुरु और कुमारिल भट्ट ने उसमें पदार्थ, द्रव्य, प्रमाण आदि दार्शनिक विषयों का समावेश कर उसे भी दर्शन का रूप दिया है। उसके बाद तो वह दो भिन्न दर्शनों-प्रभाकर और भाट्ट के रूप में दार्शनिक क्षेत्र में उभर कर आयी और दर्शन कोटि में समाविष्ट हो गयी-उत्तरवर्ती टीकाकारों तथा अन्य दर्शनग्रन्थकारों ने इन्हें अपने मण्डन-खण्डन का विषय भी बना लिया है।[१]

यहाँ चिन्तनीय है कि ज्ञानकाण्ड मीमांसा का उत्तर भाग कैसे बना ? प्रतीत होता है कि श्रमणों-बौद्धों व आर्हतों के अहिंसा, दया, समता, त्याग, तप, समाधि (ध्यान) जैसे आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रचार का मीमांसा (हिंसात्मक यज्ञादि अनुष्ठानों) पर प्रभाव पड़ा और जनता को विशेषतया प्रबुद्धजनों को सोचने का अवसर मिला तथा कर्मकाण्ड के विरुद्ध आत्म-विद्या की ओर उन्होंने कदम उठाया। फलतः वेदों- यज्ञादि क्रियाकाण्डों का अन्त - समापन होकर वेदान्त (आत्मविद्या) का व्यापक प्रचार हुआ और उपनिषदों की रचना की गयी जिनमें आत्म-विद्या का प्रभावक ढंग से प्रतिपादन किया गया। अतः उनमें प्रामाणिकता लाने के लिए वेदान्त (ज्ञान काण्ड) का मीमांसा का उत्तरभाग मान लिया गया। परन्तु क्रियाकाण्ड से ज्ञानकाण्ड का पूर्व-पश्चिम की तरह क्या सम्बन्ध? यथार्थ में ज्ञानकाण्ड आत्म-विद्या है जिसे माण्डूक्य (१/१/४१५) तथा छान्दोग्य उपनिषदों में परा (उत्कृष्ट) विद्या कहा गया है और जिसकी प्राप्ति क्षत्रियों से बतलाई गयी है। ये क्षत्रिय कौन थे ? ये थे क्षत्रियकुलोत्पन्न तीर्थंकर, जो आत्म-विद्या की ही उपासना करते और उसी का उपदेश देते थे। इसी को प्रबुद्ध जनों ने उपनिषदों के रूप में ग्रथित किया तथा उसे मीमांसा का उत्तर भाग मान लिया गया। इन्हीं उपनिषदों में कर्मकाण्ड को अपरा विद्या बताया और उसकी प्राप्ति ब्राह्मणों से कही गयी है। इसका अंशतः समापन या अप्रभाव उसी ज्ञानपुञ्ज (आत्म-विद्या) से हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक राधाकृष्णन् ने लिखा है-[२]

---

१. माण्डूक्य तथा छान्दोग्योपनिषद्।

२. डॉ. राधाकृष्णन् भारतीयदर्शन पृ. २४३-२४४ सं. द्वितीय, १९६९।

'उपनिषदों ने प्राचीन वैदिक क्रियाकाण्ड को ऊँचे आध्यात्मवाद से जोड़ने का प्रयत्न किया। किन्तु तत्कालीन पीढ़ी ने उसमें बिलकुल अभिरुचि नहीं दिखायी। फलतः उपनिषदों का ऊँचा अध्यात्मवाद लोकप्रिय नहीं हो सका। उसने पूरे समाज को कभी प्रभावित नहीं किया। एक ओर यह दशा थी, दूसरी ओर याज्ञिक धर्म अब भी बलशाली था। मनुष्य का मस्तिष्क नियमित क्रियाकाण्ड की परिधि में घूमा करता था। कुछ मंत्रों का उच्चारण किये बिना या कुछ विधि-नियमों का अनुष्ठान किये बिना कोई न जाग सकता था, न उठ सकता था, न बाल बनवा सकता था, न स्नान कर सकता था, न मुँह धो सकता था और न कुछ खा सकता था। यह वह समय था, जब एक क्षुद्र निष्फल धर्म ने कोरे मूढ़ विश्वासों और सारहीन वस्तुओं के द्वारा अपना कोष भर लिया था। किन्तु एक शुष्क और हृदयहीन दर्शन, जिसके पीछे अहंकार और अत्युक्तियों से पूर्ण एक शुष्क (विरस) और स्वमताभिमानी धर्म हो, विचारशील मनुष्यों को कभी भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता और न जनता को ही अधिक समय तक सन्तुष्ट रख सकता है। उपनिषदों का ब्रह्मवाद और वेदों का बहुदेवतावाद, उपनिषदों का आध्यात्मिक जीवन और वेदों का क्रियाकाण्ड, उपनिषदों का मोक्ष और संसार तथा वेदों का स्वर्ग और नरक, यह तर्कविरुद्ध संयोग अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। अतः पुनर्निर्माण की सख्त जरूरत थी। समय एक ऐसे धर्म की प्रतीक्षा कर रहा था, जो गम्भीर और अधिक अध्यात्मिक हो तथा मनुष्यों के साधारण जीवन में उतर सके या लाया जा सके। धर्म के सिद्धान्तों का उचित सम्मिश्रण करने के पहले यह आवश्यक था कि सिद्धान्तों के उस बनावटी सम्बन्ध को तोड़ डाला जाये, जिसमें लाकर उन्हें एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध स्थापित किया गया था।'

उपर्युक्त प्रतिपादन से ज्ञात होता है कि उपनिषदों से पूर्व वेदों का प्रायः सर्वत्र प्रभाव था। किन्तु जनता उनके क्रियाकाण्ड से ऊब गयी थी, अतएव उपनिषद् रचे गये। उन्होंने व्यापक तौर पर आत्मविद्या का प्रचार कर वेदों के प्रभाव को कम कर दिया। फलतः औपनिषद् ज्ञान 'वेदान्त' कहा जाने लगा।

यहाँ प्रश्न उठता है कि औपनिषद् ज्ञान आया कहाँ से और उसकी परम्परा क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जब जनता की रुचि वैदिक क्रियाकाण्ड से हट गयी और उससे ऊब आ गयी तो नूतन परिवर्तन लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः उन्होंने क्षत्रिय-श्रमणों से आध्यात्मिक-विद्या को प्राप्त किया तथा उसे उपनिषदों के रूप में ग्रथित किया। माण्डूक्य और छान्दोग्य उपनिषदों में स्पष्ट कहा गया है कि 'विद्या दो प्रकार की होती है- १. परा और २. अपरा।

परा (उत्कृष्ट) आत्म-विद्या है और अपरा (जघन्य) कर्मकाण्ड विद्या। परा-विद्या की प्राप्ति क्षत्रियों से होती है व अपरा विद्या की प्राप्ति ब्राह्मणों से।' ये क्षत्रिय परा विद्या के शिक्षक थे और थे तीर्थंकर, जो सदा आत्मविद्या से सम्पन्न और क्रियाकाण्ड से दूर रहते

थे। ये श्रमण कहे जाते थे और 'ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तः' (रत्नकरण्ड, श्लोक १०) रहते थे।

उपनिषद् उपदेश तो अध्यात्म का देते थे किन्तु व्यवहार में आचरण क्रियाकाण्ड का ही होता था। फल यह हुआ कि कालान्तर में पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों अलग-अलग हो गये तथा उत्तरमीमांसा 'वेदान्त' दर्शन एवं पूर्व मीमांसा 'मीमांसक' दर्शन कहा जाने लगा।

आस्तिक और नास्तिक के रूप में दर्शनों का विभाजन

उक्त वैदिक और अवैदिक रूप में विभक्त भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के रूप में भी विभाजित कर उनके कथन करने का प्रचलन है। इसके अनुसार उपर्युक्त छहों वैदिक दर्शन आस्तिक और तीनों–जैन, बौद्ध तथा चार्वाक-अवैदिक दर्शन नास्तिक कहे जाते हैं। पर इस विभाग का कोई मजबूत या सबल आधार प्राप्त नहीं है।

ईश्वर को मानने या ना मानने के आधार पर यदि आस्तिक और नास्तिक माने जाएँ, तो निरीश्वरवादी सांख्य और मीमांसा (कर्मकाण्ड) - ये दोनों ईश्वर को स्वीकार न करने तथा ईश्वर का निषेध करके ब्रह्म को अंगीकार करने से वेदान्त- ये तीनों दर्शन नास्तिक दर्शन कहे जावेंगे तथा नास्तिक कहे जाने वाले जैन और बौद्ध ये दोनों दर्शन क्रमशः 'अर्हत्' और बुद्ध के रूप में ईश्वर को स्वीकार करने से नास्तिक दर्शन नहीं कहे जा सकेंगे। केवल एक चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन कहा जायेगा, क्योंकि 'बृहस्पति गुरु' के सिवाय वह ईश्वर को न सृष्टिकर्ता और न उपास्य देवता स्वीकार करता है।

वेद को प्रमाण मानना, न मानना भी आस्तिक-नास्तिक का आधार नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की मान्यता संकुचित दृष्टिकोण की द्योतक है। अन्यथा जो आगम या त्रिपिटक को मानता है वह आस्तिक है और जो उन्हें नहीं मानता वह नास्तिक है-ये भी आस्तिक और नास्तिक की परिभाषाएँ बतायी जा सकती हैं। अतः विनिगमनाविरह होने से आस्तिक-नास्तिक का यह आधार भी युक्त नहीं है।

'पाणिनीय व्याकरण के 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४/४/६०) इस सूत्र पर काशिका और महाभाष्य लिखने वाले टीकाकार क्रमशः कैय्यट और पतंजलि ने इसका अर्थ किया है कि जो परलोक (पुनर्जन्म-कर्मफल) को मानता है वह आस्तिक है और जो उसे नहीं मानता वह नास्तिक है। इन परिभाषाओं के आधार पर यदि आस्तिक और नास्तिक माना जाए तो जैन और बौद्ध भी आस्तिक दर्शन सिद्ध होते हैं, क्योंकि दोनों दर्शनों ने परलोक - पुनर्जन्म (नाना योनियों में पुनः जन्म) और उसके जनक शुभाशुभ कर्मों को स्वीकार किया है। जैन दार्शनिक स्वामी समंतभद्र (ई. २री शती) ने लिखा है–

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धय -शुद्धितः।।

"नाना प्रकार की इच्छाओं आदि की उत्पत्ति अपने कर्मानुसार होती है और वह कर्म अच्छे, बुरे भावों तथा कार्यों से जीव के साथ बंध को प्राप्त होता है। ऐसे समस्त जीव दो प्रकार के हैं – १. शुद्ध (जिनमें शुद्ध होने की शक्ति की अभिव्यक्ति है) और २. अशुद्ध (जिनमें शुद्ध होने की शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है)।'

इस तरह पाणिनि के अनुसार परलोक की मान्यता-अमान्यता के आधार पर केवल चार्वाकदर्शन नास्तिक तथा शेष सभी भारतीय दर्शन जिनमें जैन और बौद्ध भी हैं, आस्तिक दर्शन सिद्ध होते हैं। चार्वाक दर्शन न ईश्वर मानता है, न परलोक मानता है, न उसके जनक शुभाशुभ कर्मों को स्वीकार करता है और न उनके शुभाशुभ फल को ही अंगीकार करता है।

षड्दर्शनसमुच्चयकार हरिभद्र और उनके टीकाकार गुणरत्न ने भी जैन तथा बौद्ध दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा है और केवल चार्वाक दर्शन को नास्तिक दर्शन बतलाया है।

वस्तुतः भारतीय दर्शनों में यह आस्तिक-नास्तिक विभाजन बहुत संकुचित प्रतीत होता है। इस प्रकार के विभाजन में हीनता और उच्चता या तिरस्कार और सम्मान का भाव प्रदर्शित होता है, जो 'अहंभाव' से प्रेरित है। अतः भारतीय दर्शनों का पूर्वोक्त वैदिक और अवैदिक दर्शन विभाग ही युक्त है। इसे दूसरे शब्दों में श्रमण और श्रमणेतर दर्शन विभाग भी कहा जा सकता है। इन विभागों में किसी दर्शन के प्रति न असम्मान-सम्मान का भाव है, न परनिंदा -आत्मप्रशंसा है और न संकुचित दृष्टिकोण है।

दर्शनों में जो भेद आया है उसका कारण हम पहले बता आए हैं कि चिंतकों के चिंतन, चिंतनशैली और ज्ञान की सीमाओं में अंतर पड़ने से उनमें भेद होना स्वाभाविक है। हम उनके प्रवर्तकों की नियत पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकते। हाँ, तत्त्व की गहराई में जाने के लिए ज्ञान की स्वच्छता, पूर्वाग्रहमुक्ति, रागद्वेषरहितता और तर्कदृष्टि का होना अनिवार्य है। इनमें न्यूनाधिकता होने पर उनकी तत्त्वप्ररूपणा में अन्तर होना संभव है और यही अन्तर दर्शनभेद का जनक है। यही कारण है कि उल्लिखित दर्शनों में मत-भिन्नता, समालोचन और परस्पर खण्डन उपलब्ध है। स्पष्ट है कि कणाद, अक्षपाद, कपिल आदि दर्शन प्रवर्तकों के तत्त्वज्ञान और तत्वप्ररूपण में पर्याप्त मतभेद और परस्पर समालोचना है। पर तीर्थंकर ऋषभादि महावीर पर्यन्त धर्मोपदेष्टाओं के तत्त्वज्ञान और तत्त्वोपदेश में मतभेद या परस्पर खण्डन दृष्टिगोचर नहीं होता।

उदाहरण के लिए एक जीवतत्त्व को लें। उसे कोई अणु, कोई विभु और कोई समवाय सम्बन्ध से ज्ञान गुण वाला कहते हैं। किन्तु सभी ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त तत्त्वोपदेष्टाओं ने उसे स्वशरीर -परिमाण (अणु-गुरुदेह पमाणो — द्रव्यसंग्रह गाथ १०)

तथा स्वभावतः ज्ञान स्वरूप प्रतिपादित किया है।[1] उनके स्याद्वाद, अनेकान्त, सप्तभंगी, कर्मवाद आदि अन्य सिद्धान्तों में भी परस्पर मतभेद नहीं है। और परस्पर में खण्डन या आलोचन है। दिगम्बर श्वेताम्बर और स्थानक तीनों परम्पराओं में अहिंसादि तत्त्वोपदेश में भी कोई दार्शनिक या तात्त्विक मतभेद नहीं है। तीनों ने एक स्वर से ऋषभादि महावीर पर्यन्त सभी (२४) तीर्थंकरों और उनके तत्त्वोपदेश को मान्य किया है, मात्र उनकी आचार पद्धति में भेद है।

अतः सांख्ययोग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा (पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा) जैन, बौद्ध और चार्वाक-ये छह भारतीय दर्शन हैं। ये सभी दर्शन भारत में उत्पन्न हुए, और समृद्ध हुए हैं। ये भारत की बहुमूल्य विचार-सम्पदा हैं। षड्दर्शनसमुच्चयकार ने भी इन्हीं छह भारतीय दर्शनों का अपने षड्दर्शनसमुच्चय में निरूपण किया है।

१३वीं शताब्दी में माधवाचार्य ने भी इन्हीं छह दर्शनों और उनसे उत्पन्न अवान्तरदर्शनों को मिलाकर सोलह दर्शनों का अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में कथन किया और उनके प्रतिपाद्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन विविध होते हुए भी अनुसंधान, समीक्षा और पदार्थविज्ञान के स्रोत होने से अनुसंधित्सुओं के लिए मह त्त्वपूर्ण है। उन्हें सुन्दर **'गुलदस्ता'** कहा जाए, तो अत्युक्ति न होगी।

जैनदर्शन और उसका उद्देश्य

सम्प्रति जैनदर्शन और उसके अंगों पर विमर्श किया जाता है। इससे जहाँ जैनदर्शन की तत्त्वप्ररूपणा अवगत होगी वहाँ यह भी ज्ञात होगा कि भारतीय संस्कृति एवं तत्त्वज्ञान को उसका क्या योगदान है ?

'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसने रागद्वेष आदि शत्रुओं को जीत लिया है वह 'जिन' है। अर्हत्, अरहन्त, जिनेन्द्र, वीतराग, परमेष्ठी, आप्त आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं। उनके द्वारा उपदिष्ट दर्शन जैनदर्शन हैं। हम पहले यह स्पष्ट कर आए हैं कि आचार का नाम धर्म है और विचार का नाम दर्शन है तथा युक्ति-प्रतियुक्ति रूप हेतु आदि से उस विचार को सुदृढ़ करना न्याय है। जैनदर्शन का निर्देश है कि आचार का अनुपालन विचारपूर्वक किया जाये। लोक व्यवहार में हम देखते हैं कि मिट्टी की हांडी को भी जब खरीदा जाता है तो उसे सब ओर से ठोक-बजाकर ही लिया जाता है, फिर धर्म जैसी उभयलोक सुखप्रद आध्यात्मिक वस्तु को तो और विशेष रूप से देख-परख कर ही स्वीकार करना चाहिए।

---

१. नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव द्रव्यसंग्रह, गाथा १०।

वस्तुतः विचारपूर्वक स्वीकार किया गया आचार सत्य और सुखद होता है। आचार यदि धर्म-प्रासाद की नींव है तो विचार उसकी दर्शनरूप ईंटों से बनी दीवाल एवं छत है तथा युक्ति-प्रतियुक्ति न्याय रूप उसके कपाट हैं। धर्म, दर्शन और न्याय-इन तीनों के सुमेल से ही व्यक्ति के आध्यात्मिक उन्नयन का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। अतः जैन धर्म का जो'आत्मोदय' के साथ 'सर्वोदय'-सबका कल्याण उद्दिष्ट है[1] उसका समर्थन करना जैन दर्शन का लक्ष्य है। जैन धर्म में अपना ही कल्याण नहीं चाहा गया है, अपितु सारे राष्ट्र, राष्ट्र की जनता और विश्व के जनसमूह, यहां तक कि प्राणीमात्र के सुख एवं कल्याण की कामना की गई है।[2] छोटे से छोटे प्राणियों की रक्षा करने पर भी जैन दर्शन में पूरा जोर दिया गया है। जैन दर्शन उसका सयुक्तिक एवं विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। जैन धर्म और जैन दर्शन अथवा जैन आचार और जैन विचार दोनों में अहिंसा का पालन अनिवार्यतः निदिष्ट है। ऐसी अहिंसा भी त्याज्य कही गई है, जो कायरता को उत्पन्न करती है तथा जो हिंसा तो नहीं कर रहा, किन्तु हिंसा का निरन्तर चिंतन कर रहा है उसे जैनधर्म में महाहिंसक कहा गया है।

युद्ध में रत योद्धा और खेत को जोतने वाला कृषक राष्ट्ररक्षा और आत्मरक्षा के लिए विपुल हिंसा करते हुए भी अहिंसक माने गये हैं क्योंकि उनका ध्येय हिंसा करने का नहीं है, मात्र राष्ट्र समाज और आत्मरक्षा का है। एक मछुआ सुबह से शाम तक जाल डाले नदी के किनारे बैठा रहता है किन्तु उसके जाल में संयोग से एक भी मछली नहीं फँसती, फिर भी उसका चिन्तर हर समय हिंसा का रखने से उसे महाहिंसक कहा गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि अहिंसा धर्म होते हुए भी उसे विचारगत होने से दर्शन भी माना गया है। तात्पर्य यह है कि आचारगत होने पर वह धर्म है और विचारगत होने पर वह दर्शन है। इसी से कई लेखकों ने 'अहिंसादर्शन' जैसे नामों से ग्रन्थ लिखे हैं। वास्तव में पहले अहिंसा विचार में आती है और पश्चात् वह इस क्रिया रूप परिणत होती है। यही बात हिंसा में है। वह भी पहले विचार में आती है, तत्पश्चात् क्रिया में उभरती है। इसी कारण अहिंसा को 'परमब्रह्म' कहकर उसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है तथा हिंसा को निंद्य बताया गया है।

इस तरह जैनधर्म और जैनदर्शन दोनों का उद्देश्य तत्त्वज्ञान के सिवाय एक और है। वह है जीव को 'शाश्वत सुखी बनाना'। उसका उपाय है संसार के बन्धनों और स्वयं

---

१. "सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव - समन्तभद्र युक्त्यनु. का. ६१।

२. क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः
काले वर्षं प्रदिशतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि।।

३. आशाधर सागारधर्मामृत। - नित्यमंगल कामना।

उपार्जित कर्मबन्धनों से छुटकारा पाना। यह व्यक्ति के पुरुषार्थ एवं विवेक पर निर्भर है। सबसे बड़ा बंधन है अपने राग, द्वेष, मोहि, अहंकार, छल, कपट, लोभ आदि आत्मविकार और उनका बाह्य कारण है पुद्गल कर्म जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ भेदों में विभक्त है। आत्मविकारों और ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों को दूर करने का साधन सम्यक्दर्शन (समीचीन श्रद्धा) सम्यक्ज्ञान (तत्त्व ज्ञान) और सम्यक् आचरण इन तीनों की समग्रता एवं सम्प्राप्ति है, जो पुरुषार्थ एवं विवेक से संभव है।

जैन दर्शन के प्रमुख अंग-

१. द्रव्य-मीमांसा
२. तत्त्व-मीमांसा
३. पदार्थ-मीमांसा
४. पंचास्तिकाय-मीमांसा
५. अनेकान्त- विमर्श
६. स्याद्वाद विमर्श
७. सप्तभंगी विमर्श

१. द्रव्य-मीमांसाः-ज्ञातव्य है कि जहाँ वैशेषिक, भाट्ट और प्रभाकर दर्शनों में द्रव्य और पदार्थ दोनों को स्वीकार कर उनका विवेचन किया गया है। तथा सांख्य और बौद्ध दर्शनों में क्रमशः तत्त्व और आर्यसत्यों का कथन किया गया है, वेदान्त दर्शन में केवल ब्रह्म (आत्मतत्व) और चार्वाक दर्शन में भूततत्त्वों को माना गया है, वहाँ जैनदर्शन में द्रव्य, पदार्थ, तत्त्व, और अस्तिकाय को स्वीकार कर उन सबका पृथक्-पृथक् विस्तृत निरूपण किया गया है।[1]

जो ज्ञेय के रूप में वर्णित है और जिनमें हेय-उपादेय का विभाजन नहीं है पर तत्त्वज्ञान की दृष्टि से जिनका जानना जरूरी है तथा गुण और पर्यायों वाले हैं एवं उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त हैं, वे द्रव्य हैं।

तत्त्व का अर्थ मतलब या प्रयोजन है। जो अपने हित का साधक है वह उपादेय है और जो आत्महित में बाधक है वह हेय है। उपादेय एवं हेय की दृष्टि से जिनका प्रतिपादन है उन्हें तत्त्व कहा गया है।

---

१. त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्काय - लेश्याः,
पंचान्ये चास्तिकाया व्रत समिति-गति-ज्ञान-चारित्रभेदाः।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः।। - स्तवनसंकलन।
(अ) अष्टपाहुड, दंसणपाहुड, गा. १६।

भाषा के पदों द्वारा जो अभिधेय है वे पदार्थ हैं। उन्हें पदार्थ कहने का एक अभिप्राय यह भी है कि 'अर्थ्यतेऽभिलष्यते मुमुक्षुभिरित्यर्थः' मुमुक्षुओं के द्वारा उनकी अभिलाषा की जाती है, अतः उन्हें अर्थ या पदार्थ कहा गया है।

अस्तिकाय की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो 'अस्ति' और 'काय' दोनों है। 'अस्ति' का अर्थ 'है' है और 'काय' का अर्थ 'बहुप्रदेशी' है अर्थात् जो द्रव्य है' होकर कायवाले - बहुप्रदेशी हैं, वे 'अस्तिकाय' हैं।[1] ऐसे पाँच ही द्रव्य हैं- १. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश और ५. जीव, ६. कालद्रव्य एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है।

इस तरह जैनदर्शन में द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ और अस्तिकाय के रूप में वस्तु-व्यवस्था का निर्देश है। आगे हम इन्हीं का विशेष कथन करते हैं।

(अ) द्रव्य का स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्द[2] और गृद्धपिच्छ[3] ने द्रव्य का स्वरूप दो तरह से बतलाया है। एक है, जो सत् है वह द्रव्य है और सत् वह है जिसमें उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (स्थिति) ये तीनों पाये जाते हैं। विश्व की सारी वस्तुएँ इन तीन रूप हैं। उदाहरणार्थ एक स्वर्ण घट को लीजिए। जब उसे मिटाकर स्वर्णकार मुकुट बनाता है तो हमें घट का विनाश, मुकुट का उत्पाद और स्वर्ण के रूप में उसकी स्थिति तीनों दिखायी देते हैं। इसका सबसे बड़ा साक्ष्य (प्रमाण) यह है[4] कि घट चाहने वाले को उसके मिटने पर शोक मुकुट चाहने वाले को मुकुट बनने पर हर्ष और स्वर्ण चाहने वाले को उसके मिटने पर न शोक होता है और मुकुट बनने पर न हर्ष होता है किन्तु वह मध्यस्थ (शोक-हर्ष विहीन) रहता है, क्योंकि वह जानता है कि स्वर्ण दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है।

इससे स्पष्ट है कि स्वर्णघट घट-मुकुट पर्यायों (अवस्थाओं) की अपेक्षा विनाश और उत्पाद शील है तथा दोनों पर्यायों में विद्यमान रहने से ध्रुव है। इस प्रकार वह त्रिलक्षण-(उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त) होने से सत् है और सत् ही द्रव्य (वस्तु) का लक्षण है। इसी तरह प्रत्येक सत् प्रतिसमय परिणमनशील होने से उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को लिए हुए हैं। ऐसा कोई सत् नहीं जो न उत्पन्न हो, न विनष्ट हो और न ध्रुव हो। तथा ऐसा भी कोई सत् नहीं, जो मात्र उत्पन्न होता हो या मात्र विनष्ट होता हो या मात्र ध्रुव रहता हो। उत्पत्ति के साथ विनाश और स्थिति का, विनाश के साथ उत्पत्ति और स्थिति का तथा स्थिति के साथ उत्पत्ति और विनाश का सदैव अविनाभाव रहता है। इतना ही विशेष है कि

---

१. पंचास्तिकाय, गा. ४-५ द्रव्य सं. गा. २४।
२. पंचास्तिकाय, गा. १०।
३. त.सू.५-२९, ३०।
४. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।- समन्तभद्र, आप्तमी. का ५९।

पूर्व पर्याय की अपेक्षा विनाश, उत्तर पर्याय की अपेक्षा उत्पाद और द्रव्य (सत्) की अपेक्षा पूर्वोत्तर पर्यायों में विद्यमानता रहती है। अतएव जैन दर्शन में द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों के सुमेल को माना गया है।

द्रव्य का दूसरा लक्षण यह है[1] कि जिसमें गुण और पर्याय दोनों पाये जायें-वह द्रव्य है। उदाहरणार्थ एक आम्रफल को लें- वह जब खट्टे रस से मीठे रस रूप या हरे रूप से पीले रूप को प्राप्त करता है तो उसमें रूप-रसादिगुण और रूपान्तर -रसान्तर रूप अवस्थाएँ दोनों उपलब्ध होती हैं 'द्रवन्ति गुणपर्यायान्' या 'द्रूयन्ते गुणपर्यायैः' अर्थात् जो गुण-पर्यायों को प्राप्त करते हैं अथवा उनके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं- उन्हें द्रव्य कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय दोनों हों, ऐसा कोई सत् या द्रव्य नहीं, जिसमें गुण और पर्याय न हों।

(आ) द्रव्य के भेद

मूलतः द्रव्य के दो भेद हैं-[2] १. जीव और २. अजीव। चेतन को जीव और अचेतन को अजीव द्रव्य कहा गया है। तात्पर्य यह कि जिसमें चेतना पायी जाती है वह जीव द्रव्य है और जिसमें चेतना नहीं है वह अजीवद्रव्य है। चेतना का अर्थ है जिसके द्वारा जाना और देखा जाए और इसलिए उसके दो भेद कहे हैं-१. ज्ञान चेतना और २. दर्शन चेतना। ज्ञान चेतना को ज्ञानोपयोग और दर्शनचेतना को दर्शनोपयोग भी कहते हैं। व्यवसायात्मक रूप से जो वस्तु का विशेष ग्रहण होता है वह ज्ञानचेतना अथवा ज्ञानोपयोग है और अव्यवसाय (विकल्परहित) रूप से जो पदार्थ का सामान्य ग्रहण होता है वह दर्शनचेतना अथवा दर्शनोपयोग है। पूज्यपाद-देवनंदि ने कहा है-[3] 'साकारं ज्ञानं निराकारं दर्शनम्' आकार विकल्प सहित ग्रहण का नाम ज्ञान है और आकार रहित ग्रहण का नाम दर्शन है। इनका विशेष कथन आगे किया जावेगा।

(इ) जीवद्रव्य और उसके भेद

जीवद्रव्य दो वर्गों में विभक्त है[4]-१. संसारी और २. मुक्त। संसारीजीव वे हैं, जो संसार में जन्म-मरण - व्याधि आदि के चक्र में फँसे हुए हैं। ये नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-इन चारों गतियों में बार-बार पैदा होते और मरते हैं तथा जैसा उनका कर्मविपाक होता है तदनुसार वे वहाँ अच्छा-बुरा फल भोगते हैं। ये दो तरह के हैं[5] -१. त्रस और २. स्थावर। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियके भेद से त्रसजीव चार

---

१. गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'-त. सू. ५-३८।
२. द्रव्यसं. गा. १, त.सू. ५-१, २, ३।
३. सर्वार्थसिद्धि २-६।
४. त.सू. २-१०, पंचास्तिकाय, गा. १०६।
५. त.सू. २-१२।

प्रकार के हैं।[1] दो इन्द्रिय आदि जीवों की भी अनेक जातियाँ हैं। उदाहरण के लिए पंचेन्द्रिय जीवों को लें। इनके दो भेद हैं[2]- १. संज्ञी, २. असंज्ञी। जिनके मन पाया जाए वे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। मनुष्य, देव, और नारकी संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव वे हैं जिनके मन न हो और जो सोच-विचार न कर सकते हों तथा न शिक्षा ग्रहण कर सकते हों। तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी, संज्ञी पंचेद्रिय सभी प्रकार के जीव होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी तीन भेद हैं-१. जलचर (जल में रहने वाले मगर, मत्स्य आदि।) २. थलचर (जमीन पर चलने वाले गाय, भैंस, गदहा, शेर, हाथी आदि) और ३. नभचर (आकाश में उड़ने वाले कौआ, कोयल, कबूतर, चिड़िया आदि पक्षी)। जिनके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय (स्पर्श बोध कराने वाली इंद्रिय) पायी जाती है, वे स्थावर जीव हैं।[3] ये पांच प्रकार के होते है। -१. पृथ्वी-कायिक, २. जलकायिक, ३. अग्निकायिक, ४. वायुकायिक और ५. वनस्पतिकायिक। इनमें वनस्पतिकायिक और जलकायिक जीवों में आज विज्ञान ने भी चेतना स्वीकार कर ली है। पृथ्वी और जल के संसर्ग से नाना वनस्पतियों और नाना अनाजों के उत्पन्न होने से पृथ्वी भी जीव हैं। जल डालने से अग्नि बुझ जाती है या उस पर कोई आवरण कर देने से वह बुझ जाती है तथा वायु का आगमन रुक जाने पर प्राणसंधारण संभव नहीं होता। अतः इन्हें भी वैज्ञानिकों को प्रयोग करके देखना चाहिए। उनमें भी सूक्ष्मचेतना पाई जाती है।

मुक्तजीव वे कहे गए हैं[4] जो संसार के बंधनों और दुःखों से छूट मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जैनदर्शन में ऐसे जीवों को 'परम-आत्मा' परमात्मा कहा गया है। ये दो प्रकार के होते हैं- १. सकल परमात्मा (आप्त), और २. निकल परमात्मा (सिद्ध)। जिनका कुछ कल (अघातिया कर्म रूप मल) अवशेष है वे सकल परमात्मा (जीवन मुक्त ईश्वर) हैं। जिनका वह कल (अघाति कर्ममल) दूर हो जाता है वे **(निः निर्गतः-निष्कान्तः कलोऽघातिचतुष्टयरूपो येषाम् ते)** निकल परमात्मा (सिद्ध परमेष्ठी) है। समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा (का. ४ से ७) में ऐसे परमात्मा की सयुक्तिक सिद्धि की है और कहा है कि जिस विशिष्ट जीव के दोष और आवरण सर्वथा दूर हो जाते हैं वह परमात्मा हो जाता है। जीव की यह उत्कृष्ट अवस्था उसके त्याग, सहिष्णुता, ज्ञानोपलब्धि, तपस्या आदि से प्राप्त होती है।

(ई) अजीवद्रव्य और उसके भेद

हम पहले कह आए हैं कि चेतना-रहित द्रव्य अजीवद्रव्य है। इसे निर्जीव जड़, अचेतन आदि नामों से भी कहा जाता है। जैसे-काष्ठ, लोष्ठ आदि। इसके पांच भेद हैं[5]-

---

१. वही २-१४।
२. त.सू. २-११, २४।
३. तत्त्वार्थसूत्र २-१३, २२। द्रव्यसं. गा. ११।
४. द्रव्यसं., गा. १४, त.सू. १०-१,-२, ३।
५. त.सू. ५-१, २, ४, द्रव्यसं. गा. १५।

१. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश और ५. काल। इनमें पुद्गल तो सभी के नेत्र आदि पांचों इन्द्रियों द्वारा अनुभव में अहर्निश आता है। शेष चार द्रव्य अतीन्द्रिय हैं। जीव और पुद्गल की गति, स्थिति, आधार और परिणमन में अनिवार्य निमित्त (सहायक) होने से उनकी उपयोगिता एवं आवश्यकता सिद्ध है। तथा युक्ति और आगम से भी वे सिद्ध हैं।

१. पुद्गल[1] - जो पूरण-गलन (बनने-मिटने) के स्वभाव को लिए हुए है, उसे पुद्गल कहा गया है। जैसे घड़ा, कपड़ा, चटाई मकान, वाहन आदि।

यह सूक्ष्म और स्थूल अथवा अणु और स्कन्ध के रूप में समस्त लोक में पाया जाता है। यह इन्द्रिय ग्राह्य और इन्द्रिय-अग्राह्य दोनों प्रकार का है। इसमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श पाये जाते हैं, जो उस के गुण हैं। रूप पांच प्रकार का है-काला, पीला, नील, लाल और सफेद। इन्हें यथा योग्य मिलाकर और रूप भी बनाये जा सकते हैं। इनका ज्ञान चक्षुःइन्द्रिय से होता है। रस भी पांच तरह का है-खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला और चर्परा। इनका ग्रहण रसना (जिह्वा) इन्द्रिय से होता है। गन्ध दो प्रकार का है-सुगन्ध और दुर्गन्ध। इन दोनों गन्धों का ज्ञान घ्राण (नासिका) इन्द्रिय से होता है। स्पर्श के आठ भेद हैं-कड़ा, नरम, हलका, भारी, ठंडा, गर्म, चिकना और रूखा। इन आठों स्पर्शों का ज्ञान स्पर्शन इन्द्रिय से होता है। ये रूपादि बीस गुण पुद्गल में ही पाये जाते हैं[2], अन्य द्रव्यों से नहीं। अतः पुद्गल को ही रूपी (मूर्तिक) और शेष द्रव्यों को अरूपी (अमूर्तिक) कहा गया है।

शब्द[3] पौद्गलिक है। उसका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है। इसे वैशेषिक दर्शन की तरह जैन दर्शनों में आकाश का गुण नहीं माना गया और न सांख्य दर्शन की तरह उसे आकाश की जनक शब्द तन्मात्रारूप कहा गया है, क्योंकि शब्द का प्रतिरोध, कर्ण पूरण, खुले श्रोत्र द्वारा ग्रहण, बन्द श्रोत से अग्रहण आदि होता है। इसके अतिरिक्त शब्द को मशीन द्वारा ग्रहण करके उसके केसैट आदि भी तैयार किये जाते हैं और पुनः पुनः उन्हें सुना जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि शब्द पुद्गल है। बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, विविध आकार, छाया, धूप अन्धेरा, चांदनी, भेद (टुकड़ा) - ये सब पुद्गल की ही अवस्थाएं हैं।[4]

जैनदर्शन में पुद्गल द्रव्य का बहुत सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। शब्द रूप परिणत होने वाली भाषा वर्गणा, शरीर आदि रूप होने वाली आहार वर्गणा, शुभाशुभ कर्म रूप अथवा ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन करने वाली कार्माणवर्गणा आदि पुद्गल के २३ भेदों का[5] आगम-ग्रन्थों में बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है, जो अन्यत्र कम लभ्य

---

१. त.सू. ५-५, द्रव्यसं. गा. १५, १६।
२. द्रव्यसं. गा. १५, त.सू. ५-२३।
३. त.सू. ५-१६; द्रव्यसं. गा. १६।
४. द्रव्यसं. १६ त.सू. ५-२४।
५. नेमिचन्द्र सि.च. गोम्मटसार, जी.का.।

है। अणुबम, उद्रजन बम, दूरभाष, आकाशवाणी, दूरदर्शन, वायुयान, प्रक्षेपास्त्र आदि इसी पुद्‌गल द्रव्य का विकास है।

२. **धर्म-द्रव्य**-यह द्रव्य[१] गमन करते हुए जीवों और पुद्‌गलों की गति में उदासीन (सामान्य) सहायक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मछली की गति में जल, रेल के चलने में रेल की पटरी अथवा वृद्ध के गमन में लाठी। यह द्रव्य 'तिलेषु तैलम्' की तरह लोक में सर्वत्र व्याप्त है। इसके बिना कोई भी जीव या पुद्‌गल गति नहीं कर सकता। इसके कुम्हार के चाक की कीली आदि और उदाहरण दिये जा सकते हैं।

३. **अधर्म द्रव्य**-यह[२] धर्म द्रव्य से विपरीत है। यह जीवों और पुद्‌गलों की स्थिति (ठहरने) में सामान्य निमित्त है। जैसे वृक्ष की छाया पथिक को ठहरने में सहायक होती है अथवा यात्री को धर्मशाला या स्टेशन। ध्यातव्य है कि यह अधर्म द्रव्य और उपर्युक्त धर्मद्रव्य दोनों अप्रेरक निमित्त हैं[३] और अतीन्द्रिय हैं तथा दोनों पुण्य एवं पापरूप धर्म-अधर्म नहीं है- उनसे ये दोनों पृथक् हैं।

४. **आकाश-द्रव्य**[४] -यह जीव आदि सभी (पांचों) द्रव्यों को अवकाश देता है। सभी द्रव्य इसी में अवस्थित हैं। अतः सबके अवस्थान में यह सामान्य निमित्त हैं यह दो भागों में विभक्त है[५] १. लोकाकाश और २. आलोकाकाश। जितने आकाश में, जो उसका असंख्यात वां भाग है, जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और उसके चारों ओर केवल एक आकाश द्रव्य है और जो चारों ओर अनन्त-अनन्त है वह अलोकाकाश है। यह इसकी अवगाहन शक्ति की विशेषता है कि असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्‌गल, असंख्यात कालाणू, एक असंख्यात प्रदेशी धर्मद्रव्य और एक असंख्यात प्रदेशी अधर्म द्रव्य ये सब परस्पर के अविरोधपूर्वक अवस्थित हैं। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं है। यद्यपि यह अमूर्तिक (रूपादिरहित) है इसलिए यह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। तथापि आगम और अनुमान से उसका अस्तित्व सिद्ध है।

५. **कालद्रव्य** -यह[६] द्रव्यों की वर्तना, परिणमन, क्रिया, परत्व (ज्येष्ठत्व) और अपरत्व (कनिष्ठत्व) के व्यवहार में सहायक (उदासीन-अप्रेरक निमित्त) होता है। यह द्रव्य न हो, तो जीवों में बाल्य, युवा, वार्धक्य और पुद्‌गलों में नवीनता, जीर्णता जैसा परिवर्तन,

---

१. द्रव्य सं. गा. १७, त.सू. ५-१७, पंचास्ति. ८५।
२. द्रव्यसंग्रह गा. १८, त.सू. ५-१७ पंचास्ति गा. ८६।
३. पंचास्ति, गा. ८८, ८९, द्रव्यसं. गा. १७, १८।
४. द्रव्यं सं. गा. १९, त.सू. ५-१८, पंचास्ति. गा. ९०।
५. पंचास्ति गा. ९१, द्रव्यसं. गा. २०।
६. पंचास्ति गा. १००, द्रव्य सं. गा. २१, २२।

ऋतु-पलटन, दिन-रात पक्ष-मास-वर्ष आदि का विभाग, आयु की अपेक्षा ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि का व्यवहार सम्भव नहीं है।

यह दो प्रकार का है-१. निश्चय काल और २. व्यवहारकाल। जो द्रव्यों की वर्त्तना (सत्ता) में निमित्त है वह निश्चय काल अथवा परमार्थ काल है तथा जो द्रव्यों के परिवर्तन आदि से जाना जाता है वह व्यवहार काल है। तात्पर्य यह कि जिसकी सहायता से द्रव्यों में वर्तना (अस्तित्व) है वह परमार्थ काल है। यह सभी द्रव्यों के अस्तित्वमें उसी प्रकार अप्रेरक निमित्त है जिस प्रकार गति स्थिति और अवगाह में क्रमशः धर्म, अधर्म और आकाश अप्रेरक निमित्त है। सब द्रव्यों की वर्तना (अस्तित्व) का उपादान कारण वे स्वयं हैं और निमित्त यह काल है।

कालद्रव्य को सभी भारतीय आस्तिक दर्शनों में स्वीकार किया गया है। किन्तु जैन दर्शन में उसे एक-एक अणुरूप और असंख्यात माना गया है।[1] कहा गया है कि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक अणु रूप काल द्रव्य अवस्थित हैं और इस तरह काल द्रव्य असंख्यात हैं तथा समग्र लोकाकाश में रहकर व गतिकर जीवों, पुद्गलों, धर्म, अधर्म और आकाश-इन द्रव्यों के परिणमनों में सामान्य निमित्त होते हैं। ये कालाणु रत्नों की राशि के समान एक-दूसरे में प्रवेश न करते हुए अमिलित रूप में अवस्थित हैं।

तत्त्व मीमांसा

तत्त्व का अर्थ है प्रयोजनभूत वस्तु। जो अपने मतलब की वस्तु है और जिससे अपना हित अथवा स्वरूप पहचाना जाता है वह तत्त्व है। 'तस्य भावः तत्त्वम्' अर्थात वस्तु के भाव (स्वरूप) का नाम तत्त्व है। ऋषियों या शास्त्रों का जितना उपदेश है उसका केन्द्र जीव (आत्मा) रहा है। उपनिषदों में आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान पर अधिक बल दिया गया है और इनके माध्यम से आत्मा के साक्षात्कार की बात कही गयी है[2]। जैनदर्शन तो पूरी तरह आध्यात्मिक है। अतः इसमें आत्मा को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है।[3] १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा। मूढ आत्मा को बहिरात्मा, जागृत आत्मा को अन्तरात्मा और अशेष गुणों से सम्पन्न आत्मा को परमात्मा कहा गया है। ये एक ही आत्मा के उन्नयन की विकसित तीन श्रेणियाँ हैं। जैसे एक आरम्भिक अबोध बालक शिक्षक, पुस्तक, पाठशाला आदि की सहायता से सर्वोच्च शिक्षा पाकर सुबोध बन जाता है वैसे ही एक मूढात्मा सत्संगति, सदाचार-अनुपालन, ज्ञानाभ्यास आदि को प्राप्त कर

१. द्रव्य संग्रह गाथा २२।
२ श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सन्ततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।।
३. कुन्दकुन्द, मोक्ष प्राभृत गा. ४, ५, ६, ७।

अन्तरात्मा (महात्मा) बन जाता है और वही ज्ञान, ध्यान तप आदि के निरन्तर अभ्यास से कर्म-कलङ्क से मुक्त होकर परमात्मा (अरहन्त व सिद्ध रूप ईश्वर) हो जाता है। इस दिशा में जैन चिन्तकों का चिन्तन (आत्म विद्या की ओर लगाव) अपूर्व है।

इसके लिए तीर्थकरों ने सात तत्त्वों की श्रद्धा, निष्ठा, आस्था पर अधिक बल दिया गया है। उन्होंने कहा है कि प्रत्येक भव्य (योग्यता की अभिव्यक्ति से सम्पन्न) जीव इन सात तत्त्वों का श्रद्धान करके आत्महित के मार्ग में आ सकता है। वह संसार के बंधनों को तोड़कर परमात्मा बन सकता है। उन्होंने उन तत्वों का निर्देश भी किया, जो आज गुरु-परम्परा या शास्त्रपरम्परा से हमें प्राप्त है। आचार्य गृद्धपिच्छ ने[१, २] तत्त्वार्थसूत्र में, जो 'अर्हत् प्रवचन' के नाम से प्रसिद्ध है, लिखा है तत्त्वार्थ की श्रद्धा सम्यक् दर्शन है। सही रूप में तभी देखा परखा जा सकता है जब तत्त्वार्थ की श्रद्धा हो। ये तत्त्वार्थ (तत्त्व) सात हैं[३]-१. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। इनके संयोग से आस्रव और बंध तथा उनके वियोग से संवर, निर्जरा और मोक्ष इस प्रकार ये ५ तत्त्व निष्पन्न होते हैं। ये पांचों उनके अशुद्ध और शुद्ध परिणाम हैं। बंध और आस्रव दोनों अशुद्ध भाव हैं। बंध का कारण आस्रव है और ये दोनों संसार के कारण हैं। किन्तु संवर, निर्जरा और मोक्ष शुद्ध भाव है। मोक्ष जीव का पूर्णतया शुद्ध स्वभाव है और संवर एवं निर्जरा उसकी प्राप्ति के साधन (उपाय) हैं। जब तक संवर और निर्जरा का आश्रय नहीं लिया जायेगा तब तक जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव शाश्वत चिदानंद रूप मुक्ति की प्राप्ति के लिए न केवल मोक्ष त त्त्व के अस्तित्व की श्रद्धा करना और उसे समझना आवश्यक है, अपितु उसके साधक तत्त्व-संवर और निर्जरा तथा बाधक तत्त्व-बंध और आस्रव तत्त्व के अस्तित्व की श्रद्धा भी करना और उन्हें समझना अनिवार्य हैं। इन पांचों भावों के अतिरिक्त उनके आश्रयभूत मूल भाववान् जीव और अजीव (कर्म-पुद्गल) के अस्तित्व की भी श्रद्धा करना और उन्हें समझना उतना ही जरूरी है। अतएव जैन दर्शन में इन सात तत्त्वों का प्रतिपादन विस्तृत किया गया है और उनका उतना ही और वैसा ही महत्त्व है जितना और जैसा महत्त्व बौद्ध दर्शन में चतुरार्यसत्यों का है।

१. जीव तत्त्व - यह सर्वोपरि प्रतिष्ठित और शाश्वत तत्त्व है। यह चेतना लक्षण वाला है, ज्ञाता-दृष्टा है और अनंतगुणों से सम्पन्न है। चेतना वह प्रकाश है जिसमें चेतन-अचेतन सभी पदार्थों को प्रकाशित करने की शक्ति है। वह दो प्रकार की है-

---

१. गृद्धपिच्छ, त.सू. १-२, ४; द्र.सं. गा. २८।

२. गृद्धपिच्छ, त.सू. १-२, ४; द्र.सं. गा. २८।

३. द्र.सं.गा. ३, ४, ५; त.सू. २-८, ६; पंचास्ति, गा. ४०, ४१, ४२।

१. ज्ञानचेतना (ज्ञानोपयोग) और २. दर्शनचेतना (दर्शनोपयोग)। विशेष-ग्रहण का नाम ज्ञान-चेतना है और पदार्थ के सामान्य-ग्रहण का नाम दर्शनचेतना है। ज्ञान चेतना के आठ भेद हैं - १. मति, २. श्रुत, ३. अवधि-ये तीन ज्ञान सम्यक् दर्शन के साथ होने पर सम्यक् होते है। और मिथ्यादर्शन के साथ होने पर मिथ्या भी होते हैं। इस तरह १. सम्यक् मतिज्ञान, २. सम्यक् श्रुतवान, ३. सम्यक् अवधिज्ञान, ४. मिथ्यामतिज्ञान, ५. मिथ्याश्रुतज्ञान ६. मिथ्या अवधिज्ञान (विभंगावधि), ७. मनःपर्ययज्ञान और ८. केवल-ज्ञान ये आठ ज्ञानोपयोग हैं। अंतिम दोनों ज्ञान सम्यक् ही होते हैं, वे मिथ्या नहीं होते।

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह **मतिज्ञान** है। और इस मतिज्ञानपूर्वक जो उत्तरकाल में चिन्तनात्मक ज्ञान होता है वह **श्रुतज्ञान** है। इन्द्रिय और मन निरपेक्ष एवं आत्मसापेक्ष जो मूर्तिक (पुद्गल) का सीमायुक्त ज्ञान होता है वह **अवधिज्ञान** है। इस अवधिज्ञान के द्वारा जाने गए पदार्थ के अनंतवें भाग को जो ज्ञान जानता है वह **मनःपर्ययज्ञान** है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों से संबंधित और तीनों लोकों में विद्यमान समग्र पदार्थों को युगपत् जानने वाला ज्ञान **केवलज्ञान** कहा गया है। यह ज्ञान जिसे हो जाता है वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा कहा जाता है। इन ज्ञानों के अवान्तर भेद भी जैनदर्शन में प्रतिपादित हैं, जो ज्ञातव्य हैं।

दर्शन चेतना के चार भेद हैं[1]-१. चक्षुर्दर्शन, २. अचक्षुर्दर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४. केवलदर्शन। नेत्रों से होने वाला पदार्थ का सामान्य दर्शन **चक्षुर्दर्शन** है और शेष इन्द्रियों एवं मन से होने वाला सामान्य दर्शन **अचक्षुर्दर्शन** है। अवधिज्ञान से पूर्व जो दर्शन होता है वह **अवधिदर्शन** है। केवल ज्ञान के साथ ही जो समस्त वस्तुओं का युगपत् दर्शन होता है वह **केवलदर्शन** है। उल्लेखनीय है कि अल्पज्ञों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है[2] और वह क्रमशः होता है। इसका कारण उनके आवरण का क्षयोपशम (उदयाभावी क्षय-अनुदय) क्रमशः होता है, किन्तु सर्वज्ञ को केवलदर्शन और केवलज्ञान दोनों एक साथ होते हैं, उनमें क्रम नहीं होता, क्योंकि उनके दर्शन और ज्ञान के आवरणों (प्रतिबंधकों) का अभाव युगपत् होता है।

केवली जिस समय देखता है उसी समय जानता भी है जब जानता है तो उसी समय देखता भी है। श्वेताम्बर परम्परा उनके क्रम को स्वीकार करती है। पर दोनों के आवारक कर्मों (दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनों) का अभाव एक साथ मानती है। ऐसी स्थिति में केवलदर्शन और केवलज्ञान दोनों एक साथ ही होंगे। इसके संबंध में जैन दर्शन ग्रंथों में विशेषचर्चा है। सिद्धसेन ने दोनों को अभिन्न सिद्ध किया है।[3]

---

१. पंचास्ति गा. ४२; स.सि. २-९; द्रव्यसं. गा. ४।
२. स.सि. २-९; द्रव्यसं. गा. ४४; नियम. गा. १६०।
३. त.सू., १-३१, ३२।

ज्ञातव्य है कि दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना में अन्तर यह है कि दर्शनचेतना वस्तु के नामोल्लेख पूर्वक उसके किसी आकार विशेष को ग्रहण नहीं करती, जबकि ज्ञानचेतना वस्तु के विशेषों को अन्तर्जल्प या बहिर्जल्पपूर्वक ग्रहण करती है। अतएव दर्शन को निराकार अथवा **निर्विकल्पक** और ज्ञान को साकार अथवा **सविकल्पक** कहा गया है। पहले आठ ज्ञानों में आरम्भ के तीन ज्ञानों को सम्यक् और मिथ्या दोनों बताया गया है। उसका कारण आधारभेद है। जब वे सम्यग्दृष्टि के होते हैं तब से सम्यक् ज्ञान कहे जाते हैं और जब मिथ्यादृष्टि (यथार्थदृष्टि से शून्य) के होते हैं तो वे मिथ्याज्ञान माने जाते हैं। उदाहरणार्थ उन्मत्त पुरुष को लें।

उन्मत्त पुरुष जैसे विकृत मस्तिष्क के कारण भार्या को कभी माता और कभी भार्या कहता या जानता है। अथवा जैसे शराबी उलटा सीधा कहता या जानता है। वही स्थिति इन तीन (मति, श्रुत और अवधि) ज्ञानों की हैं जब ये मिथ्यादृष्टि के होते हैं तो वह मिथ्यात्व के कारण सत्-असत् का भेद न कर इन ज्ञानों से स्वेच्छापूर्वक उपलब्धि करता है। किन्तु जब ये ही ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होते हैं तो वह इन ज्ञानों से वस्तु को सही जानता है। तात्पर्य यह कि आधार के भेद से इन तीन ज्ञानों को सम्यक् और मिथ्या दोनों प्रकार का माना गया है। ज्ञातव्य है कि सत्योन्मुखी दृष्टि सम्यग्दर्शन है और असत्योन्मुखी दृष्टि मिथ्यादर्शन। ध्यान रहे मनःपर्यय और केवल- ये दोनों ज्ञान सत्योन्मुखी दृष्टि वाले सम्यग्दृष्टि संयमी योगी के ही होते हैं। अतः ये दोनों ज्ञान सम्यक् ही होते हैं, मिथ्या नहीं।

यह जीवतत्त्व आध्यात्मिक दृष्टिसे तीन प्रकार का है[१]। अर्थात् इनके उत्थान की तीन श्रेणियां हैं। जैसा कि हम पहले संकेत कर आये हैं। वे हैं - १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, और ३. परमात्मा। जब तक जीव स्व के साथ देहादिक का ममत्व सम्बन्ध रखता है, उनके मिलने और बिछुड़ने पर हर्ष एवं विषाद करता है तथा उन्हीं में आसक्त रहता है तब तक वह बहिरात्मा अथवा मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसी को मूढ़ात्मा कहा गया है। यही बहिरात्मा स्वतः अथवा किसी सम्यग् उपदेष्टा के उपदेशकों को सुनकर स्वको स्व और पर (देहादिक) को पर जान लेता है और पर के संग से अपने को उसी प्रकार दूर रखता है जिस प्रकार कमल जल से भिन्न रहता है, उन देहादिक पर में आसक्त नहीं होता, तो वह अन्तरात्मा कहा जाता है।

गीता में सम्भवतः ऐसे ही अन्तरात्मा को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है। यह अन्तरात्मा भी तीन प्रकार है[२]-१. जघन्य, २. मध्यम और ३. उत्तम। मिथ्यात्व का त्याग कर जिसने सम्यक्त्व (स्वयरभेद श्रद्धा) को प्राप्त कर लिया है, पर त्याग के मार्ग में अभी प्रवृत्त नहीं

---

१. कुन्दकुन्द, अष्टपा., मोक्ष प्रा. गा. ४, ५, ६, ७।

२. दौलतराम छह-ढाला ३-४, ५, ६।

हो सका वह जघन्य अन्तरात्मा है। इसे जैन परिभाषा में 'अविरत-सम्यग्दृष्टि' कहा जाता है। तथा जिसने सम्यक्त्व के साथ आंशिक संयमी जीवन बिताना आरम्भ कर दिया है, घर में रहता है, पर अनासक्त भाव से, हिंसा आदि पांच पापों को जिसने स्थूल रूप से छोड़ दिया है, सदाचार और न्यायपूर्वक सभी (सामाजिक पारिवारिक एवं राष्ट्रीय) कर्तव्यों का पालन करता हुआ मर्यादित जीवन बिताता है, सेवा, व्यापार, उद्योग आदि जीवन वृत्तियों में सन्तोषपूर्वक न्यायनिष्ठा रखता है वह मध्यम अन्तरात्मा है। इसी को श्रावक या उपासक भी कहा गया है। यह अपनी शक्त्यनुसार विषय वासनाओं एवं बाह्य वस्तुओं से विरत होता हुआ वहाँ तक विरत हो जाता है जब वह मात्र कोपीन धारण करने योग्य बन जाता है। वह अपने में सहिष्णुता, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि गुणों को निरन्तर के अभ्यास से प्राप्त करता है। और जब वह अपने को निर्ग्रम योग्य बना लेता है कि वह कोपीन भी छोड़कर दिगम्बर हो जाता है तो वह उत्तम अन्तरात्मा है। इसी को साधु मुनि, ऋषि, अनगार योगी, यति आदि कहा जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि तपस्वी (साधु) वही है ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन रहता है- **'ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।'** यही उत्तम अन्तरात्मा तप और ध्यान द्वारा नवीन पुरातन कर्मों को निर्जीर्ण करके जब कर्मकलङ्क से मुक्त हो जाता है तो वह परमात्मा कहा जाता है। फिर उसे संसार परिभ्रमण नहीं करना पड़ता। अनन्त काल तक वह अपने अनन्त गुणों में लीन होकर शाश्वत सुख (निःश्रेयस) का अनुभव करता है। जैन दर्शन में मुक्त जीवों की अवस्थिति लोक के अग्रभाग (सिद्धशिला) में मानी गयी है।[1] वे अनन्त हैं और उनमें अनन्त मुक्त जीव और मिलने पर भी वे अनन्त ही रहेंगे। उनमें वृद्धि होने पर वह राशि अनन्त ही कही जावेगी। अनन्त में अनन्त जोड़ने, अनन्त घटाने, अनन्त का गुणा या भाग करने पर भी वह राशि अनन्त ही रहेगी। शून्य में शून्य जोड़ने, घटाने गुणा करने या भाग देने पर भी जैसे शून्य ही रहता है।

गुणस्थान-उल्लेखनीय है कि इस जीव तत्त्व के आध्यात्मिक विकास या उन्नयन की चौदह श्रेणियां जैन आगमों में निरूपित हैं।[2] जिन्हें **'गुणस्थान'** (आत्मगुणों को विकसित करने के दर्जे) संज्ञा दी गयी है। वे हैं-१. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरत, ५. देशविरत, ६. सर्वविरत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशान्त मोह, १२. क्षीण मोह, १३. सयोग केवली और १४. अयोग केवली। इन चौदह गुणस्थानों में बारहवें गुणस्थान तक जीव संसारी कहलाता है। किन्तु निश्चय ही वह तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करेगा और वहां तथा चौदहवें गुणस्थान

---

१. नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, द्रव्यसं. गा. १४।

२. वही, गा. १३।

में वह 'परमात्मा' संज्ञा को प्राप्त कर लेता है तथा कुछ ही क्षणों में गुणस्थानातीत होकर 'सिद्ध' हो जाता है।

इस तरह जीव का स्थायी एवं अन्तिम पड़ाव यही 'सिद्ध' स्थान है जहां उसकी उसकी आध्यात्मिक यात्रा या विकास पूरा हो जाता है। यहाँ हम हिन्दी के सुप्रसिद्ध जैन कवि दौलतराम का एक पद्य उद्धृत कर रहे हैं-

संसार खार अपार पारावार, तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये।।

निज माहिं लोक अलोक-गुण-परजाय प्रतिबिम्बित भये।
रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।।

२. **अजीव तत्त्व**-यों तो जीव के सिवाय सभी द्रव्य (पुद्‌गल आदि पांचों) अजीव हैं। उनमें किसी में भी चेतना न होने से अचेतन हैं। उनका विवेचन द्रव्य-मीमांसा में किया जा चुका है। पर यहाँ उस अजीव से मतलब है, जो जीव को अनादि से बन्धनबद्ध किये हुए है और जिससे ही वस्तुतः जीव को छुटकारा पाना है। वह है पुद्‌गल, और पुद्‌गलों में भी सभी पुद्‌गल नहीं क्योंकि वे तो छूटे हुए ही हैं। किन्तु कार्माणवर्गणा के जो कर्मरूप परिणत पुद्‌गल स्कन्ध है और जो जीव के कषाय एवं योग के निमित्त से उससे बंधे है। तथा प्रतिसमय बंध रहे हैं उन कर्म रूप पुद्‌गल स्कन्धों की यहाँ अजीव तत्त्व से विवक्षा है, जिन्हें तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छ ने 'भेत्तारं कर्मभूभृताम्' पद के द्वारा 'कर्मभूभृत्' कहा है। इन्हें ही हेय ज्ञात कर आत्मा से दूर करना है। जैन दर्शनों में इन कर्मों को ज्ञानावरण आदि आठ भागों में विभक्त किया गया है। आत्मदर्शन, स्वरूपोपलब्धि, सिद्धत्व आदि आत्मगुण उन्हीं के कारण अवरुद्ध रहते हैं। उनका विशेष कथन बन्धतत्त्व के विवेचन में किया जायेगा।

३. **आस्रव तत्त्व**-जिनके द्वारा आत्मा में कर्मस्कन्धों का प्रवेश होता है उन्हें आस्रव कहा गया है। यह दो प्रकार का है[1]। १. भावास्रव और २. द्रव्यास्रव। आत्मा के जिन कलुषितभावों या मन, वचन और शरीर की क्रिया से कर्म आते हैं उन भावों तथा मन, वचन और शरीर की क्रिया को **भावास्रव** तथा कर्मागमन को **द्रव्यास्रव** प्रतिपादित किया गया है। भावास्रव के अनेक भेद हैं -१. मिथ्यात्व २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग। इनमें मिथ्यात्व के ५, अविरति के ५, प्रमाद के १५, कषाय के ४ और योग के ३ कुल ३२ भेद हैं। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो कार्माणवर्गणा के पुद्‌गलस्कन्ध आते हैं उनमें कर्मरूप शक्ति होना द्रव्यास्रव है। इसके ज्ञानावरण आदि आठ मूलभेद हैं और उनके उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस हैं।

१. वही, गा. २६, ३०।
२. वही, गा. ३२, ३३।

४. **बन्ध तत्त्व**-आत्मा के जिन अशुद्ध भावों से कर्म आत्मा से बंधें वे अशुद्ध भाव (राग, द्वेष, छल-कपट, क्रोध मान आदि) भावबंध हैं। ये अशुद्ध भाव कर्म व आत्मा को परस्पर चिपकाने (बांधने) में गोंद का कार्य करते हैं। कर्म पुद्‌गलों तथा आत्मा के प्रदेशों का जो अन्योन्य प्रवेश है। दूध-पानी की तरह उनका घुल-मिल जाना है वह द्रव्य बन्ध है। एक दूसरी तरह से भी बंध के भेद कहे गए हैं।[1] वे हैं- १. प्रकृति, २. स्थिति, ३. अनुभाग और ४. प्रदेश। इनमें प्रकृति और प्रदेश योगों (शरीर, वचन और मन की क्रियाओं) से होते हैं। स्थिति एवं अनुभाग कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के निमित्त से होते हैं।

प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, जैसे-नीम का कड़ुवा गन्ने का मीठा स्वभाव है वैसे ही ज्ञानावरण रूप हुए पुद्‌गल कर्मों का ज्ञान को रोकना, दर्शनावरण रूप हुए कर्मपुद्‌गलों का दर्शन को रोकना, वेदनीय का सुख-दुःख की वेदना कराना, मोहनीय का आत्मस्वरूप को विकृत कर पर में इष्टानिष्ट की बुद्धि पैदा कराना, आयु का मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच (पशु) पर्याय में नियतकाल तक स्थित रखना, नामकर्म का अनेक अवस्थाओं आकारों आदि में शरीर को उत्पन्न करना, गोत्र का ऊँच-नीचपना पैदा करना और अन्तरायकर्म का स्वभाव दानादिक में बाधा पहुंचाता है। यही **प्रकृतिबन्ध** है।

जितने कर्मप्रदेश जिनकी संख्या अनंत होती है, एक साथ आत्मा में आते और आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप में अवस्थित होते हैं, यह प्रदेश बन्ध है। वे कर्म प्रदेश जितने काल (मर्यादा) तक ठहरते हैं, वह स्थितिबंध है। वे कर्मप्रदेश मन्द, तीव्र भाव से अपना फल देते हैं, यह **अनुभाग बन्ध** है। ये चारों बंध आत्मा को तब तक बांधे रहते हैं जब तक वह तीव्र और महापुरुषार्थ उस बंधन को तोड़ने के लिए नहीं करता।

५. **संवरतत्त्व**-आस्रव तत्त्व के कथन में जिन आस्रवों को (कर्म के आने के द्वारों को) कहा गया है उनको रोक देना संवर है।[1] कर्म के द्वार बन्द हो जाते हैं तब कर्म आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकते। जैसे - सछिद्र जलयान (नाव आदि) के छोटे-बड़े सब छिद्र बंद कर देने पर जलयान में जल का प्रवेश नहीं होता। संवर नये कर्मों का प्रवेश रोकता है। इसके कई प्रकार हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र- ये उसके भेद हैं, जो आगत कर्मों को आत्मा में आने नहीं देते।

६. **निर्जरा तत्त्व**-ज्ञात-अज्ञात में आये कर्मों को तप आदि के द्वारा बाहर निकालने का जो प्रयत्न है वही निर्जरा है। यह सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार की है।[2] जो कर्म अपना फल देकर चला जाता है वह सविपाक निर्जरा हैं। यह निर्जरा प्रत्येक जीव के प्रति समय होती रहती है, पर इससे बंधन नहीं टूटता है। तप के द्वारा जो बंधन तोड़ा

---

१. गृद्धपिच्छ, त.सू. ८-१; द्रव्यसं. गा. ३४, ३५।

२. द्रव्य सं. गा. ३६; त.सू. ६-३, १६, २०।

जाता है वह अविपाक निर्जरा है। जीव को अपने उद्धार के लिए यही निर्जरा सार्थक होती है। अर्थात् उसी से शिवफल (मोक्ष) प्राप्त होता है।

७. **मोक्ष तत्त्व**-यह वह तत्त्व एवं तथ्य है जिसके लिए मुमुक्ष अनेक भवों से प्रयत्न करते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं। एक वे जो अतीतकाल से संबंध रखते हैं और अनादिकाल से बंधे चले आ रहे हैं तथा दूसरे वे हैं जो आगामी हैं। आगामी कर्मों का अभाव बंध हेतुओं (आस्रव) के अभाव (संवर) से होता है। अतीत संबंधी (पूर्वोपात्त) कर्मों का अभाव निर्जरा द्वारा होता है। इस प्रकार समस्त कर्मों का छूट जाना मोक्ष है।[1] यही शुद्ध अवस्था जीव की वास्तविक अपनी अवस्था है, जो सादि होकर अनंत है। इसी को प्राप्त करने के लिए आत्मा बाह्य और आभ्यंतर तपों, उत्तम क्षमादि धर्मों एवं चारों शुक्लध्यानों को करता है और नाना उपसर्गों एवं परीषहों को सहनकर उन पर विजय पाता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म-इन तीनों प्रकार के कर्मों से रहित हो जाने पर आत्मा 'सिद्ध' हो जाता है।

ये सात तत्त्व हैं जो मुमुक्षु के लिए सबसे पहले श्रद्धातव्य हैं और उसके बाद प्रमाण और नयों से विज्ञातव्य है।

पदार्थ मीमांसा

उक्त सात तत्वों में पुण्य और पाप को सम्मिलित कर देने पर नौ पदार्थ कहे गए हैं।[2] इन नौ पदार्थों का प्रतिपादन आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय (गाथा १०८) में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। उसके बाद नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव ने भी उनका अनुसरण किया है।[3] तत्त्वार्थसूत्रकार ने सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्दर्शन कहकर उन सात तत्त्वों की ही प्ररूपणा की है। नौ पदार्थों की उन्होंने चर्चा नहीं की[4] यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के अन्त में उन्होंने पुण्य और पाप दोनों का कथन किया है। किन्तु वहाँ उनका पदार्थ के रूप में निरूपण नहीं है। बल्कि बंधतत्त्व का वर्णन करने वाले इस अध्याय में समग्र कर्म प्रकृतियों को पुण्य और पाप दो भागों में विभक्तकर साता वेदनीय, शुभायुः, शुभनाम और शुभगोत्र को पुण्य तथा असातावेदनीय, अशुभायुः, अशुभनाम और अशुभगोत्र को पाप कहा है।[5] ध्यान रहे यह विभाजन अघातिप्रकृतियों की अपेक्षा है, घातिप्रकृतियों की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वे सभी (४७) पाप-प्रकृतियां ही हैं।

---

१. त.सू. १०-२, ३, द्रव्य सं. गा. ३७।

२. जीवा जीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं। संवर-णिज्जर बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठ।। - पंचास्ति.,गा. १०८।

३. द्रव्य सं. गा. २८। 'इह पुण्यपापग्रहणं कर्तव्यम्, नव पदार्था इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्।।

४. त.सू. १-४।

५. त.सू. ८-२५, २६।

यहाँ एक और उल्लेखनीय बात है। वह यह कि कुन्दकुन्द के नौ पदार्थों में जीव और अजीव के बाद पुण्य और पाप तथा उनके पश्चात आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष- इस प्रकार क्रम दिया गया है जबकि तत्त्वार्थसूत्रकार ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह क्रम रखा है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने क्रम तो तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार रखा है और पुण्य और पाप का कथन भी उन्हीं के अनुसार किया है। किन्तु तत्त्वों की अपेक्षा पदार्थों का उनका निरूपण कुन्दकुन्द की दृष्टि का आभारी है। इसे अपनी-अपनी विवेचना शैली अथवा कथन करने की विवक्षा समझना चाहिए। किसी तत्त्व या पदार्थ को आगे-पीछे रखने में कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं आता। यह तथ्य है कि जिन्होंने तत्त्वों का कथन किया है उन्होंने पदार्थों का नहीं और जिन्होंने पदार्थों का प्रतिपादन किया उन्होंने अलग से तत्त्वों का निरूपण नहीं किया। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

पंचास्तिकाय-मीमांसा

जैन दर्शन में उक्त द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ के अलावा अस्तिकायों का निरूपण किया गया है। कालद्रव्य को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकश और जीव) अस्तिकाय हैं[1] क्योंकि ये 'हैं' इससे इन्हें 'अस्ति' ऐसी संज्ञा दी गई है और काय (शरीर) की तरह बहुत प्रदेशों वाले हैं, इसलिए ये 'काय' हैं। इस तरह ये पांचों द्रव्य 'अस्ति' और 'काय' दोनों होने से 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं। पर कालद्रव्य 'अस्ति' सत्तावान होते हुए भी 'काय' (बहुत प्रदेशों वाला) नहीं है। उसके मात्र एक ही प्रदेश हैं। इसका कारण यह है कि उसे एक-एक अणुरूप माना गया है और वे अणुरूप काल द्रव्य असंख्यात हैं, क्योंकि वे लोकाकाश के, जो असंख्यात प्रदेशों वाला है, एक-एक प्रदेश पर एक-एक जुदे-जुदे रत्नों की राशि की तरह अवस्थित हैं। जब कालद्रव्य अणुरूप है तो उसका एक ही प्रदेश है इससे अधिक नहीं। अन्य पाँचों द्रव्यों में प्रदेश बाहुल्य है, इसी से उन्हें 'अस्तिकाय' कहा गया है और कालद्रव्य को अनस्तिकाय।

काल द्रव्य और अन्य द्रव्यों में इसी वैलक्षण्य को दिखाने के लिए पंचास्तिकायों का द्रव्यों से पृथक् प्रतिपादन किया गया है। कालद्रव्य को असंख्यात अणुरूप और उन्हें लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर अवस्थित क्यों माना गया, इस संबंध में हमने अन्यत्र विचार किया है।[2] जैन दार्शनिकों में 'अग्रणी' आचार्य कुन्दकुन्द ने इन पंचास्तिकायों का निरूपण एक स्वतंत्र 'पंचत्थिसंगहसुत्त' (पंचास्तिकाय सूत्र) ग्रन्थ द्वारा किया है। इससे उसका महत्त्व स्पष्ट है।

---

१. द्रव्य सं. गा. २३, २४, २५।

२. वही, गा. २२ का हिन्दी रूपान्तर पृ. १०५, १०६ वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी।

अनेकान्त-विमर्श

'अनेकान्त' जैनदर्शन का उल्लेखनीय सिद्धान्त है। वह इतना व्यापक है कि वह लोक (लोगों) के सभी व्यवहारों में व्याप्त है। उसके बिना किसी का व्यवहार चल नहीं सकता। आ. सिद्धसेन ने कहा है[1] कि लोगों के उस अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को हम नमस्कार करते हैं, जिसके बिना उनका व्यवहार किसी तरह भी नहीं चलता। अमृतचन्द्र उसके विषय में कहते हैं[2] कि अनेकान्त परमागम जैनागम का प्राण है और वह वस्तु के विषय में उत्पन्न एकान्तवादियों के विवादों को उसी प्रकार दूर करता है जिस प्रकार हाथी को लेकर उत्पन्न जन्मान्धों के विवादों को सचक्षुः (नेत्रवाला) व्यक्ति दूर कर देता है। समन्तभद्र का कहना है[3] कि वस्तु को अनेकान्त मानना क्यों आवश्यक है? वे कहते हैं कि एकान्त के आग्रह से एकान्त समझता है कि वस्तु उतनी ही है, अन्य रूप नहीं है, इससे उसे अहंकर आ जाता है और अहंकार से उसे राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं, जिससे उसे वस्तु का सही दर्शन नहीं होता। पर अनेकान्ती को एकानत का आग्रह न होने से उसे न अहंकार पैदा होता है और न राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। फलतः उसे उस अनन्तधर्मात्मक अनेकान्त रूप वस्तु का सम्यक्दर्शन होता है, क्योंकि एकान्त का आग्रह न करना दूसरे धर्मों को भी उसमें स्वीकार करना सम्यग्दृष्टि का स्वभाव है। और इस स्वभाव के कारण ही अनेकान्ती के मन में पक्ष या क्षोभ पैदा नहीं होता, वह साम्य भाव को लिए रहता है।

वस्तु अनेकान्त-स्वरूप है यह बतलाने के लिए सिद्धसेन[4] अपनी चतुर्थ द्वात्रिंशिका में एक उदाहरण के माध्यम से कहते हैं कि जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में सम्मिलित हैं उसी तरह समस्त एकान्त दृष्टियां अनेकान्त में मिली हैं। परन्तु जैसे पृथक्-पृथक् नदियों में समुद्र नहीं देखा जाता वैसे ही पृथक्-पृथक् एकान्तों में अनेकान्त उपलब्ध नहीं होता। जहाँ एक एकान्त दूसरे एकान्त का निषेध एवं तिरस्कार करता है वहाँ अनेकान्त सब एकान्तों को गले लगाता-अपनाता है- उनका निषेध या तिरस्कार नहीं करता और इस तरह उनके अस्तित्व को स्थिर रखता है। यह अनेकान्त की सबसे बड़ी विशेषता है। यह अनेकान्त उन एकान्तों का समूह है, जो अमृत स्वादु हैं, भगवान् है, जिनवचन है, सापेक्ष

---

१. जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमोऽणेयंत वायस्स।। - सिद्धसेन।

२. परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्ध - सिन्धुरविधानम्।
सकल-नय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।। - अमृतचन्द्र, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लो. १।

३. एकान्त धर्माभिनिवेशमूला रागादयोऽहं कृतिजा जनानाम्।
एकान्तहानाच्च स यत्तदेव स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते।। - समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन कारिका ५१

४. उदधाविव सर्वसिन्धव, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरि त्स्विवो दधिः।। - द्वात्रिंशिका ४-५।

है और समताधारकों के लिए प्रशमसुख एवं सम्यग्ज्ञान का जनक है वह सबका कल्याण करे।[1] यह अनेकान्त की कितनी उच्च दृष्टि है, जो सबके कल्याण का उद्घोष करता है, इससे उसकी उदारता और त्याग स्पष्ट प्रकट होता है।

अनेकान्त का स्वरूप

विचारणीय है कि वह अनेकान्त क्या है ? अनेकान्त पद में दो शब्द हैं जिनसे वह बना है। एक है 'अनेक' और दूसरा है 'अन्त'। 'अनेक' का अर्थ है नाना और 'अन्त' का अर्थ है धर्म। जिसमें नाना धर्म हों या जो नाना धर्मात्मक हो वह अनेकान्त है। यद्यपि 'अन्त' शब्द के समाप्ति, विनाश, छोर, धर्म आदि अनेक अर्थ हैं, कि यहाँ 'धर्म' अर्थ विवक्षित है। विश्व की समस्त वस्तुएँ नाना धर्मों को लिए हुए हैं, इसलिए सब अनेकान्त हैं। वस्तु की यह अनेकान्त रूपता उसमें स्वयं है-आरोपित या काल्पनिक या अविद्या या माया कल्पित नहीं है। एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो सर्वथा एकान्त स्वरूप हो। यह लोक, जो हमारे व आपके प्रत्यक्ष गोचर है, चर-अचर अथवा चेतन-अचेतन जैसे परस्पर-विरुद्ध दो द्रव्यों का समुदाय है। वह सत् सामान्य की अपेक्षा एक होता हुआ भी परस्पर-विरोधी दो द्रव्यों की अपेक्षा, जो यथार्थ है, अनेक भी है और इस तरह वह अनेकान्त बना बैठा है। चेतन और अचेतन ये दोनों द्रव्य भी स्वयं अनेकान्त स्वरूप हैं। चेतनद्रव्य में हर्ष, विषाद, सुख, दुःख इन क्रमवर्ती परिणामों और चेतना आदि सहवर्ती गुणों की अपेक्षा नानात्व और स्वयं अपनी अपेक्षा एकत्व दोनों धर्म विद्यमान हैं।

इसी तरह अजीव द्रव्य भी है। मान लीजिए कि हम एक भवन में बैठे हुए हैं। वह भवन क्या एक है ? नहीं, वह भी एक और अनेक दोनों रूप हैं। भवन-सामान्य की अपेक्षा वह एक है, लम्बाई-चौड़ाई में स्थित दो-दो दीवालों की अपेक्षा वह अनेक भी तो हैं और इस तरह वह भी अनेकान्त को अपने में समाये हुए है। दूर न जाइए, जिस पानी को पीकर हम अपने प्राणों की रक्षा करते हैं इससे वह अमृत कहा जाता है और वही पानी तैरते समय गुटका लग जाने पर घातक भी है। अतः वह विषसंज्ञा को भी प्राप्त है।

कौन नहीं जानता कि अग्नि कितनी उपकारक है। वह हमारे भोजन बनाने आदि में सहायक होती है और वही अग्नि किसी मकान में लग जाने पर कितनी संहारक बन जाती है। इस तरह उसमें पाचकत्व, दाहकत्व जैसे परस्पर विरोधी अनेक धर्मों को हम देखते ही हैं।

जो भोजन भूखे का प्राणरक्षक होता है वही भोजन अजीर्ण वाले अथवा टायफाइड वाले रुग्ण व्यक्ति के लिए विष है। मकान, किताब, कपड़ा, सभा, संघ, समिति, परिषद,

---

१. भद्दं मिच्छादंसण-समूह मइयस्स अभिसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग सुहाहिगम्मस्स।। -सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र, तृतीय काण्ड

देश आदि ये सब अनेकान्त ही तो हैं। अकेली ईंटों चूने, गारे का नाम मकान नहीं है। उनके मिलाप का नाम 'मकान' है। एक-एक पन्ना किताब नहीं है, नाना पन्नों के समूह का नाम किताब है। आतान या वितान रूप एक-एक सूत का नाम कपड़ा नहीं है, ताने-बाने रूप अनेक सूतों के संयोग का नाम कपड़ा है। एक व्यक्ति को कोई सभा, संघ, समिति, परिषद नहीं कहता, व्यक्तियों के समुदाय को ही सभा, संघ, समिति आदि कहा जाता हैं। एक-एक व्यक्ति मिलकर जाति और अनेक जातियाँ मिलकर देश बनते हैं। इस भाग या उस भाग का नाम दीवाल नहीं है, दोनों मिलकर दीवाल हैं। इस तट या उस तट का नाम नदी नहीं है, परस्पर विरुद्ध दोनों तटों का नाम नदी है। जो एक व्यक्ति है वह किसी का मित्र है, किसी का अमित्र है, किसी का पिता है, किसी का पुत्र है, किसी का मामा है, किसी का भानजा है आदि अनेक संबंधों से बंधा हुआ है। इससे वह एक होकर भी अनेक है। इस तरह वह एक अनेक होता हुआ अनेकान्त बना हुआ है।

देवदत्त को बुलाने पर देवदत्त आता है, यज्ञदत्त आदि नहीं। अतएव देवदत्त अपनी अपेक्षा से है और यज्ञदत्तादि की अपेक्षा से नहीं है और इस तरह वह भी परस्परविरुद्ध अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों को अपने में समाये हुए है। उसमें केवल अस्तित्व धर्म माना जाये, नास्तित्व धर्म न माना जाये तो जैसे देवदत्त को बुलाने पर वह आता है, उसी प्रकार यज्ञदत्तादि को भी आ जाना चाहिए, क्योंकि उनका उसमें निषेध नहीं है। किन्तु जब उसमें उनकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म स्वीकार किया जाता है तो यज्ञदत्तादि का देवदत्त में अभाव होने से वे नहीं आते। अतः देवदत्त स्वद्रव्य, क्षेत्र-काल, भाव की अपेक्षा अस्तित्वधर्म वाला है। और यज्ञदत्तादि परचतुष्टय की अपेक्षा कथाचित् नास्तित्व धर्मवाला भी है। इस प्रकार वह भी अनेकान्त रूप हैं।

एक शिक्षक ने बोर्ड पर लकीर खींचकर छात्रों से कहा कि इस लकीर को छोटी करो, पर उसे मिटाना नहीं। सब छात्र असमंजस में पड़ गए कि बिना मिटाये वह छोटी कैसे हो सकती है। एक चतुर छात्र उठा और शिक्षक के हाथ से चाक लेकर उस बोर्ड के पास पहुँचा और धीरे से उस लकीर के नीचे बड़ी लकीर खींच दी, वह लकीर छोटी हो गई, सब छात्र आश्चर्यचकित रह गए। अब शिक्षक ने सबसे कहा कि इसे बड़ी बनाओ पर उसमें वृद्धि नहीं करना, फिर लड़के असमंजस में पड़ गए और सोचने लगे कि उस लकीर में वृद्धि किये बिना वह बड़ी कैसे हो सकती है। पुनः वही चतुर छात्र बोर्ड के पास गया और उस लकीर को बढ़ाये बिना उसके नीचे उसने छोटी लकीर खींच दी। अब वह लकीर सबको बड़ी दिखाई देने लगी। इस उदाहरण से इतना ही बतलाना इष्ट है कि उस लकीर में लघुत्व और दीर्घत्व ये परस्पर विरुद्ध दोनों धर्म स्वरूपतः विद्यमान हैं और उसके ऊपर तथा नीचे खींची गई लकीरों से उसमें छोटेपन और बड़ेपन का अपेक्षा से व्यवहार हुआ। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो -दो धर्म विद्यमान हैं। यही अनेकान्त हैं। एक उदाहरण और दिया जाता है।

किसी स्थान पर चार जन्मांध विद्यमान थे। वहाँ से एक हाथी के निकलने की उन्होंने आवाज सुनी और चारों के चारों दौड़कर हाथी से लिपट गये। किसी ने उसके पैर पकड़ लिये, किसी ने उसकी पूँछ पकड़ी, किसी ने उसकी छाती पकड़ी और किसी ने उसकी सूंढ हाथों में ले ली और सबके सब चिल्लाने लगे। जिसने पैर पकड़े थे, उसने कहा कि हाथी खंभे जैसा होता है। दूसरा बोला, जिसने उसकी पूंछ पकड़ी थी कि हाथी मूसल जैसा होता है। तीसरे ने कहा जिसने उसकी छाती पकड़ी थी कि हाथी दीवाल सरीखा होता है और चौथा बोला, जिसने उसकी सूंड़ पकड़ी थी कि हाथी तो रस्सा जैसा होता है। तुम सबका कहना गलत है। इस प्रकार चारों जन्मांध अपनी-अपनी बात पर दृढ़ रहकर परस्पर विवाद करने लगे। कोई दृष्टि संपन्न समझदार व्यक्ति अकस्मात् वहाँ आ पहुँचा। उसने सबकी बात को सुना। उस दृष्टि संपन्न व्यक्ति ने उन्हें समझाया और कहा कि आप सबका कहना सही है। सबको मिलादो, तो हाथी का स्वरूप बन जायेगा। आप लोग उसके एक-एक अंग को पूरा हाथी मान रहे हैं, जो यथार्थ नहीं है। सब अंगों का समुच्चय ही हाथी है। सभी जन्मांधों ने अपनी गल्ती को स्वीकार किया तथा उस दृष्टि सम्पन्न महानुभाव को धन्यवाद दिया।[1]

अनेकान्त वस्तुतः वह विशाल समुद्र है, जिसमें अनन्त बिन्दुएँ समायी हुई हैं। परस्पर-विरुद्ध दो धर्मों के अनन्त युगल उसमें विद्यमान हैं, जिनके आश्रय से उसमें अनन्त सप्तभंगियाँ भी समाविष्ट है। सत्व, असत्त्व, उभय, अवक्तव्यत्व, सत्त्वावक्तव्यत्व, असत्त्वावक्तव्यत्व, और सत्त्वा सत्त्वावक्तव्यत्व- ये सात धर्म वस्तु में स्वभावतः हैं। इसी प्रकार एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म युगलों से होने वाली अनन्त सप्तभंगियाँ वस्तु में योजित होती हैं। अनेकान्त में विरोध वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव-ये वादियों द्वारा उद्भावित किये जाने वाले आठ दोष भी नहीं हैं। सभी धर्म अपनी-अपनी अपेक्षाओं (विवक्षाओं) से हैं, अतः विरोधादि के होने की सम्भावना नहीं है। जिस अपेक्षा से वस्तु में सत्त्वादि माने जाते हैं उसी अपेक्षा से असत्त्वादि मानने पर विरोधादि हो सकते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। स्वचतुष्टय से सत्त्वादि और परचतुष्टय से असत्त्वादि माने गये हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब जैनदर्शन में 'सर्वं क्षणिकम्' इस बौद्ध मान्यता की तरह 'सर्वं अनेकान्तात्मकम्' की मान्यता है, तो अनेकान्त भी स्वयं एक वस्तु है, उसे भी अनेकान्त रूप होना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि अनेकान्त भी कथंचित् अनेकान्तरूप है। प्रमाण का विषय होने से वह अनेकान्त है तथा नय का विषय होने से

---

१. अकलंक, तत्त्वार्थ वार्तिक १-६-६।

वह सापेक्ष एकान्त भी है और इस प्रकार अनेकान्त अनेकान्त और एकान्त दोनों रूप होने से अनेकान्त भी है। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है-

> अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः।
> अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।। स्वयम्भूस्तोत्र, श्लो. १०६।

अनेकान्त के भेद-यह अनेकान्त दो प्रकार का है-१. सम्यगनेकान्त और २. मिथ्या अनेकान्त। परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन करने वाला सम्यगनेकान्त है अथवा सापेक्ष एकान्तों का समुच्चय सम्यगनेकान्त है[1] निरपेक्ष नाना धर्मों का समूह मिथ्या अनेकान्त है। एकान्त भी दो प्रकार का है-१. सम्यक् एकान्त और २. मिथ्या एकान्त। सापेक्ष एकान्त सम्यक् एकान्त है। वह इतर धर्मों का संग्राहक है। अतः वह नय का विषय है और निरपेक्ष एकान्त मिथ्या एकान्त है, जो इतर धर्मों का तिरस्कारक है वह दुर्नय या नयाभास का विषय है।

अनेकान्त के अन्य प्रकार से भी दो भेद कहे गये हैं।[2] १. सहानेकान्त और २. क्रमानेकान्त। एक साथ रहने वाले गुणों के समुदाय का नाम सहानेकान्त है और क्रम में होने वाले धर्मों-पर्यायों के समुच्चय का नाम क्रमानेकान्त है। इन दो प्रकार के अनेकान्तों के उद्भावक जैन दार्शनिक आचार्य विद्यानंद हैं। उनके समर्थक वादीभसिंह हैं। उन्होंने अपनी स्याद्वादसिद्धि में इन दोनों प्रकार के अनेकान्तों का दो परिच्छेदों में विस्तृत प्रतिपादन किया है। उन के नाम हैं-सहानेकान्तसिद्धि और क्रमानेकान्त सिद्धि।

अनेकान्त को मानने में कोई विवाद होना ही नहीं चाहिए। जो हेतु[3] स्वपक्ष का साधक होता है वही साथ में परपक्ष का दूषक भी होता है। इस प्रकार उसमें साधकत्व एवं दूषकत्व दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ रूपरसादि की तरह विद्यमान हैं।

और तो क्या, सांख्यदर्शन, प्रकृति को सत्त्व, रज और तमोगुण रूप त्रयात्मक स्वीकार करता है और तीनों परस्पर विरुद्ध है तथा उनके प्रसाद-लाघव, शोषण-ताप, आवरण-सादन आदि भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं और सब प्रधान रूप हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है।[4] वैशेषिक द्रव्यगुण आदि को अनुवृत्ति-व्यावृत्ति प्रत्यय कराने के कारण सामान्य-विशेष रूप मानते हैं। पृथ्वी आदि में 'द्रव्यम् द्रव्यम्' इस प्रकार का अनुवृत्ति प्रत्यय होने से द्रव्य को सामान्य और 'द्रव्यम् न गुणः, न कर्म' आदि व्यावृत्ति प्रत्यय का कारण होने से उसे विशेष भी कहते हैं और इस प्रकार द्रव्य एक साथ परस्पर विरुद्ध

---

१. समन्तभद्र, आप्तमी., का. १०७।
२. विद्यानन्द तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५-३८-२।
३. एकस्य हेतोः साधक दूषकत्वाऽविसंवादवद्वा'-त.वा. १-६-१३।
४. 'केचित्तावदाहुः-सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमिति, तेषां प्रसादलाघवशोषतापावरणासादनादिभिन्नस्वभावानां प्रधानात्मनां मिथश्च न विरोधः।'

सामान्य-विशेष रूप माना गया है।[1] चित्ररूप भी उन्होंने स्वीकार किया है, जो परस्पर विरुद्ध रूपों का समुदाय है। बौद्ध दर्शन में भी एक चित्रज्ञान स्वीकृत है, जो परस्परविरुद्ध नीलादि ज्ञानों का समूह है। अतः अनेकान्त तो वस्तु है, उसे कैसे नकारा जा सकता है।

स्याद्वाद -विमर्श

पूर्वोक्त अनेकान्त में कौन धर्म किस अपेक्षा से है, इसे बताने वाला अथवा उनकी व्यवस्था करने वाला स्याद्वाद है। स्याद्वाद उसी प्रकार अनेकान्त का वाचक अथवा व्यवस्थापक है जिस प्रकार ज्ञान उस अनेकान्त का व्यापक अथवा व्यवस्थापक है। जब ज्ञान के द्वारा वह जाना जाता है तो दोनों में ज्ञान-ज्ञेय का संबंध होता है और जब वह स्याद्वाद के द्वारा कहा जाता है तो उनमें वाच्य-वाचक संबंध होता है। ज्ञान का महत्त्व यह है कि वह ज्ञेय को जानकर उन ज्ञेयों की व्यवस्था बनाता है-उन्हें मिश्रित नहीं होने देता है। यह अमुक है, यह अमुक नहीं है इस प्रकार वह ज्ञाता को उस उस ज्ञेय की परिच्छित्ति कराता है। स्याद्वाद का भी वही महत्त्व है। वह वचनरूप होने से वाच्य को कहकर उसके अन्य धर्मों की मौन व्यवस्था करता है। ज्ञान और वचन में अंतर यही है कि ज्ञान एक साथ अनेक ज्ञेयों को जान सकता है पर वचन एक बार में एक ही वाच्य धर्म को कह सकता है, क्योंकि 'सकृदुच्चरित शब्दः एकमेवार्थं गमयति' इस नियम के अनुसार एक बार बोला गया वचन एक ही अर्थ का बोध कराता है। वचन की ऐसी ही सामर्थ्य है। किन्तु 'स्यात्' पूर्वक बोला गया वचन अपने अर्थ को कहता हुआ उसमें विद्यमान अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता, उनकी मौन स्वीकृति करता है। हाँ, जिसे वह कहता है वह प्रधान हो जाता है और शेष गौण। आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है और अविवक्षित गौण। इस प्रकार स्याद्वाद वचन में अनेकान्त सुव्यवस्थित रहता है।

स्याद्वाद : जैनदर्शन का एक मौलिक सिद्धान्त

स्याद्वाद जैन दर्शन का एक मौलिक एवं विशिष्ट सिद्धान्त है। 'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों से बना है। प्रकृत में 'स्यात्' शब्द अव्यय-निपात है, क्रिया या प्रश्नादिरूप नहीं है। इसका अर्थ कथंचित्, किंचित्, किसी अपेक्षा कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्म की विवक्षा, कोई एक ओर है और 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन अथवा वचन। जो स्यात् (कथंचित्) का कथन करने वाला अथवा प्रतिपादित करने वाला है, वह स्याद्वाद है।[2] तात्पर्य यह है कि जो विरोधी धर्म का निराकरण न करता हुआ अपेक्षा से

---

५. अपरे मन्यन्ते-अनुवृत्तिविनिवृत्तिबुद्ध्यभिधानलक्षणः सामान्यविशेष इति। तेषां च सामान्यमेव विशेषः सामान्यविशेष इति। एकस्यात्मन उभयात्मकत्वं न विरुध्यते। त.वा. १-६-१४। २. समन्तभद्र, आप्तमी. का १०४

विवक्षित का प्रतिपादन करता है वह स्याद्वाद है। कथंचित् वाद, किंचित्वाद, अपेक्षावाद आदि नामों से भी उसका बोध किया जा सकता है।

वक्ता अपने अभिप्राय को यदि एक ही वस्तुधर्म को लिये हुए प्रकट करता है तो उससे सही निर्णय नहीं हो सकता और यदि 'स्यात्' पूर्वक वह अपने अभिप्राय को प्रकट करता है तो वह वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन करता है क्योंकि वस्तु में कोई भी धर्म ऐकान्तिक नहीं है। सत्त्व-असत्व का-नित्यत्व-अनित्यत्व का, एकत्व-अनेकत्व का और वक्तव्यत्व-अवक्तव्यत्व का नियम से अविनाभावी है। वे एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते। हाँ, एक की विवक्षा होने पर उसकी प्रधानता और दूसरे की अविवक्षा होने पर उसकी गौणता हो जायेगी, पर वे धर्म उसमें रहेंगे सभी, क्योंकि वस्तु एक धर्मा नहीं है, अनंत धर्मा है। समन्तभद्र ने[1] ने इसे बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। अतः प्रत्येक वक्ता जब कोई बात कहता है तो वह स्याद्वाद की भाषा में कहता है। भले ही वह अपने वचनों के साथ 'स्यात्' शब्द बोले या न बोले।

स्याद्वाद का सार्वत्रिक उपयोग

लौकिक या पारलौकिक कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिसमें स्याद्वाद का उपयोग न किया जाता हो। दैनिक जीवन के व्यवहार से संबद्ध टोपी, कुर्ता, धोती आदि के वाचक जितने शब्द या संकेत किये जाते हैं वे उनका विधान करते हुए इतर का भी निषेध करते हैं। 'टोपी लाओ', 'दही लाओ' आदि कहने पर लाने वाला टोपी या दही लाता है, अन्य चीज नहीं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि वाक्य चाहे विधिवाचक हो और चाहे निषेधवाचक। वे अपने विरोधी का भी बोध कराते हैं। सभी वचन विवक्षित अभिप्रायों को प्रकट करने के साथ ही अविवक्षित अभिप्रायों की भी गौण रूप से सूचना करते हैं। यह बात दूसरी है कि उन्हें कहते या सुनते समय उन गौण अभिप्रायों की ओर वक्ता या श्रोता का ध्यान न जाये, क्योंकि उनका प्रयोजन विवक्षित अभिप्राय से संपन्न हो जाता है, पर यह बात नहीं कि वे अविवक्षित अभिप्राय उसके साथ न रहते हों। स्याद्वाद वचन इसी ऐकान्तिकता का निषेध कर उसके वाच्य को अनेकान्त रूप बतलाता है।

इस प्रकार वाचक और वाच्य दोनों अनेकान्त स्वरूप हैं।[2] इसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेय ये भी अनेकान्त रूप हैं। ज्ञान जानता है इसलिए ज्ञापक है और स्वयं जाना जाता है इससे वह ज्ञेय है और इस तरह ज्ञान और ज्ञेय दोनों रूप होने से ज्ञान अनेकान्तमय है। तथा ज्ञेय जाना जाता है इससे वह ज्ञेय है और चेतना धार आत्मरूप होने से वह ज्ञान भी है और इस तरह ज्ञेय भी ज्ञेय और ज्ञान दोनों होने से अनेकान्त बना बैठा है। हेमचन्द्र के

---

१. समन्तभद्र, स्वयम्भू का. १०४, १०५।
२. समन्तभद्र आप्तमी. का. १०६, ११०, १११, ११२, ११३।

शब्दों में **'आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वाद मुद्रानतिभेदि वस्तु।'** दीपक से लेकर आकाश पर्यंत सभी वस्तुएँ एक से स्वभाववाली हैं और सब स्याद्वादमुद्रा से अंकित हैं- उसका उल्लंघन करने वाली एक भी वस्तु नहीं है।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

कुछ विद्वान् स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों को एक समझते हैं। पर ऐसा नहीं है। इन दोनों में उसी तरह का अन्तर है जिस तरह का प्रमाणवाद और प्रमेयवाद या ज्ञानवाद और ज्ञेयवाद में है। वस्तुतः स्याद्वाद व्यवस्थापक है और अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य है अथवा स्याद्वाद वाचक (प्रतिपादक-अभिधायक) है और अनेकान्तवाद वाच्य (प्रतिपाद्य-अभिधेय) है। दोनों स्वतंत्र हैं। एक वचन है तो दूसरा उसके द्वारा कहा जाने वाला वाच्य है। दोनों में वाचक-वाच्य, अभिधायक-अभिधेय अथवा प्रतिपादक-प्रतिपाद्य संबंध है। जैसे- शब्द और अर्थ, प्रमाण और प्रमेय अथवा ज्ञान और ज्ञेय में संबंध है। इस तरह दोनों में बड़ा अंतर है, दोनों ही भिन्नार्थक हैं।

'अनेकान्तवाद' पद में तीन शब्द हैं- अनेक, अन्त, वाद। अनेक का अर्थ नाना है और अन्त का अर्थ उसके नानार्थक होते हुए भी प्रकृत में धर्म विवक्षित है और वाद का अर्थ मान्यता अथवा कथन है। पूरे पद का अर्थ हुआ नानाधर्मात्मक वस्तु की मान्यता अथवा उसका कथन। इस तरह नाना धर्मात्मक वस्तु का नाम अनेकान्त और उसके स्वीकार का नाम अनेकान्तवाद है। उसमें कौन धर्म किस अपेक्षा से व्यवस्थित है, इसकी व्यवस्था स्याद्वाद करता है। एक ही धर्म को या एक धर्मात्मक ही वस्तु को स्वीकार करना एकान्तवाद है। इसके स्वीकार में जो सबसे बड़ा दोष है, वह यह है कि वस्तु का केवल एक-एक ही धर्म मानने पर उसके दूसरे समग्र धर्मों का तिरस्कार हो जाता है और उनके तिरस्कृत होने पर उनका इष्ट वह धर्म भी नहीं रह सकता, क्योंकि उसका उनके साथ अविनाभाव संबंध है। किन्तु स्याद्वाद के स्वीकार में विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित शेष धर्म गौण होते हैं- उनका तिरस्कार या लोप नहीं होता।

अतएव यदि अविकल पूरी वस्तु को देखना चाहते हैं तो उन सभी एकान्तवादों को स्वीकार करना चाहिए, जिनके सापेक्ष समुच्चय को अनेकान्त स्वीकार करने से वस्तु की व्यवस्था बनती है,[1] जिसका व्यवस्थापक स्याद्वाद है। अतः अनेकान्तरूप वस्तु की मान्यता अनेकान्तवाद और उस अनेकांत का 'स्यात्' (कथंचित्) के वचन द्वारा निरूपण करना स्याद्वाद है। यही अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में अन्तर है।

इस संबंध में बीसवीं शती के पं. बलदेव उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन जैसे कुछ दार्शनिक विद्वानों को भी भ्रम हुआ और उन्होंने स्याद्वाद को संजयबेलट्ठिपुत्त का

---

१. समन्तभद्र आप्तमी का. १०७, १०८।

अनिश्चिततावाद बतलाने की कोशिश की है। इन विद्वानों का उत्तर हमने विस्तार से अन्यत्र दिया है। यहां हम इतना ही कहना चाहते हैं कि संजय के अनिश्चततावाद में जहाँ पूरा अनिश्चय भरा हुआ है वहाँ स्याद्वाद में प्रत्येक पक्ष (धर्म) तत्तत् अपेक्षाओं से सुनिश्चित है। संभवतः इन विद्वानों को 'स्याद्वाद' में स्थित 'स्यात्' शब्द को लेकर संशय हुआ जान पड़ता है। पर स्मरण रहे कि 'स्याद्वाद' पद में आगत 'स्यात्' शब्द अव्ययनिपात है, जो कथंचित् एक अपेक्षा, एकदृष्टि का बोधक है और है एक कथ्य धर्म का वाचक और शेष अकथ्य धर्मों के अस्तित्व का द्योतक। 'निपातवाचकाद्योतकाश्च भवन्ति' इस नियम के अनुसार निपातों को वाचक और द्योतक दोनों माना गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि जैनागमों में प्रयुक्त 'सिया' अथवा 'सिय' प्राकृत शब्द का संस्कृत में अनूदित 'स्यात्' शब्द है, जिसका कथंचित् अर्थ है और जो बतलाता है कि एक अपेक्षा से वस्तु इस प्रकार की ही है।

७. **सप्तभंगी विमर्शः**-प्रत्येक वस्तु में भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वक्तव्य-अवक्तव्य आदि परस्पर विरुद्ध अनंत धर्मयुगल भरे पड़े हैं। वक्ता इन अनंतधर्मयुगलों का कथन सात प्रकार से करता है, क्योंकि प्रत्येक धर्म युगल धर्मसप्तक को लिए है। वे सात धर्म सात वाक्यों के द्वारा अभिहित होते हैं। इन्हीं सात वाक्यों के समुदाय का नाम सप्तभंगी है। अथवा उन अभिधेयभूत सात धर्मों का समुच्चय सप्तभंगी है।[1] ये सात वाक्य उत्तरवाक्य हैं। प्रश्नकर्ता सात प्रश्न करता है।[2] उसके सात प्रश्नों का कारण उसकी सात संदेह है। और इन सात संदेहों का कारण प्रत्येक धर्मयुगल को लेकर वस्तु में रहने वाले सात धर्म हैं।

उदाहरण के लिए भाव-अभाव युगल की अपेक्षा वे सात धर्म (भंग) इस प्रकार हैं-१. सत्त्व, २. असत्त्व, ३. उभय, ४. अवक्तव्यत्व (अनुभय), ५. सत्त्वावक्तव्यत्व, ६. असत्वावक्तव्यत्व, और ७. सत्त्वासत्त्वावक्तव्यत्व। इन सात से न कम हैं और न ज्यादा। इन सात में तीन (सत्त्व, असत्त्व, अवक्तव्यत्व) मूलभूत हैं। तीन (उभय, सत्वावक्तव्यत्व और असत्वावक्तव्य) द्विसंयोगी हैं और एक (सत्त्वासत्वावक्तव्यत्व) त्रिसंयोगी है। जैसे-नमक, मिर्च और खटाई-ये तीन मूल स्वाद है। और इन तीनों के द्विसंयोगी स्वाद तीन तथा त्रिसंयोगी स्वाद एक, कुल सात स्वाद बनते हैं, न कम न अधिक। इस सप्तभंगी की योजना इस प्रकार की जाती है[3] -

१. घट है ? कथंचित् घट 'है ही', अपने स्वरूप की अपेक्षा।
२. घट नहीं है ? कथंचित् घट 'नहीं ही है', पटादि पररूप की अपेक्षा।
३. घट है - नहीं (उभय) है ? कथंचित् घट है - नहीं (उभय) ही है'।

---

१. अभिनव धर्मभूषण, न्यायदीपिका, तृतीय प्रकाश, पृ. १२७।
२. अष्टस. पृ. १२५, १२६।
३. अकलंकदेव त.वा. १-६; डॉ. दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन- ग्रन्थ पृ. १६ भी द्रष्टव्य है

क्रम से विवक्षित दोनों (स्वरूप पररूप) की अपेक्षाओं से।

४. घट अवक्तव्य है ? कथंचित घट 'अवक्तव्य ही है' एक साथ विवक्षित स्वरूप - पररूप दोनों अपेक्षाओं से कहा न जा सकने से।
५. घट सदवक्तव्य है? कथंचित घट 'है - अवक्तव्य' ही है', स्वरूप और स्वरूप पररूप दोनों की सम्मिलित अपेक्षाओं से कहा न जा सकने से)
६. घट असदवक्तव्य है ? कथंचित घट 'नहीं - अवक्तव्य ही है', पररूप और स्वरूप पररूप दोनों की सम्मिलित अपेक्षाओं से कहा न जा सकने से।
७. घट सदसदवक्तव्य है? कथंचित घट 'है-नहीं - अवक्तव्य ही है', क्रम से विवक्षित स्वरूप-पररूप दोनों और युगपत विवक्षित स्वरूप पररूप दोनों की अपेक्षाओं से कहा न जा सकने से।

यहाँ सातों उत्तरवाक्यों में जो प्रश्नपूर्वक उत्तर दिये गये हैं, उनमें वह धर्म घट में निश्चित है, संदिग्ध नहीं, यह प्रत्येक वाक्य के साथ प्रयुक्त 'ही' शब्द से, जो संस्कृत भाषा के 'एवकार' का अर्थ है, स्पष्ट है तथा यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्येक वाक्य के द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक धर्म का प्रयोजन अलग-अलग है। पहले धर्म का प्रयोजन स्वरूप चतुष्टय से घट के अस्तित्व को, दूसरे धर्म का प्रयोजन पर रूप चतुष्टय से उसके नास्तित्व को, तीसरे धर्म का प्रयोजन स्व पर चतुष्टय से उसके क्रम से विवक्षित दोनों को, चौथे धर्म का प्रयोजन एक साथ दोनों को कह न सकने से उसके अवक्तव्यपने को, पाँचवें धर्म का प्रयोजन नास्तित्व सहित अवक्तव्यपने को और सातवें धर्म का प्रयोजन अस्तित्व-नास्तित्व सहित अवक्तव्यपने को बताना है। यह भी ध्यातव्य है कि जो धर्म विवक्षित होता है वह मुख्य होता है और अविवक्षित शेष अन्य सभी धर्म गौण हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए प्रथम भंग को लें। उसमें 'है' धर्म कहा जाता है अतएव वह मुख्य है और 'नहीं है' आदि शेष धर्म विवक्षित न होने से उसके अंग हैं– गौण हैं। इसी प्रकार दूसरे भंग में 'नहीं है' धर्म विवक्षित है और 'है' आदि शेष धर्म अविवक्षित हैं और अविवक्षित होने से 'है' आदि शेष धर्म उसके अंग हैं– गौण हैं। इसी तरह आगे के पाँच भंगों में भी मुख्य और गौण की व्यवस्था है और इस तरह सातों भंगों (धर्मों अथवा उत्तरवाक्यों) की सार्थकता है। इस संदर्भ में आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसागत निम्न कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं–

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा।। १४।।
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।। १५।।

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः।। १६।।
धर्मे धर्मेन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता।। २२।।

एक बात और स्मरण रखने की है। वह यह कि उल्लिखित सप्तभंगी के प्रत्येक वाक्य में 'ही' (एवकार) का प्रयोग भी अभिमत है।[1] भले ही वक्ता उसका प्रयोग करे या न करे। उसका अभिप्राय उसे अवश्य स्वीकृत रहता है। उदाहरण के लिए किसी (वक्ता) ने किसी से दही लाने के लिए कहा कि **'दध्यानय'**-दही लाओ। तो इस वाक्य में 'ही' (एवकार) का प्रयोग नहीं है किन्तु वक्ता का अभिप्राय दही ही लाने का रहता है, दूध आदि का नहीं और लाने वाला भी उसके अभिप्राय को समझ लेता है और दही ही लाता है, दूध आदि नहीं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इस सप्तभंगी में प्रत्येक वाक्य के साथ प्रयुक्त **'स्यात'** शब्द के द्वारा वस्तु में विवक्षित धर्म के सिवाय शेष सभी धर्म मौन रूप से द्योतित किये जाते हैं, वह धर्म यह न मान बैठे कि वही संपूर्ण वस्तु का स्वामी है, उसी प्रकार 'ही' (एवकार) शब्द का प्रयोग यह बतलाया है कि वह धर्म वस्तु में उस उपेक्षा से निश्चित ही है। अतः वस्तु की सही व्यवस्था और सही जानकारी के लिए 'स्यात्' और 'एव' दोनों शब्द सप्तभंगी के प्रत्येक वाक्य में स्वीकृत हैं।

उक्त सत्त्व-असत्त्व (है-नहीं) की सप्तभंगी की तरह एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म युगलों में भी सप्तभंगी की योजना होती है[2] और इस तरह वस्तु में समाये हुए अनन्त धर्म युगलों में अनन्त सप्तभंगियाँ भी जैन दर्शन में इष्ट हैं। बट का बीज कितना लघु होता है किन्तु वह बट वृक्ष की अनगिनत शाखाओं, उपशाखाओं, टहनियों, जरों, पत्तों, फलों, बीजों, गुच्छों, बरों आदि को उत्पन्न करने की असंख्य शक्तियाँ अपने में समाये हुए है। संजीवनी बटी में कितनी चीजें मिलीं हुई रहती हैं। पर है वह जरा-सी। अतः घटादि प्रत्येक वस्तु में एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि के अनन्त परस्पर-विरुद्ध धर्म-युगल विद्यमान हैं और उनके आश्रय से होने वाली अनन्त सप्तभंगियाँ भी उसमें रह रही हैं। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक विद्यानन्द कहते हैं[3] कि **'अनंतानामपि सप्तभंगीनामिष्टत्वात्. ....।'** वस्तु में अनन्त भी सप्तभंगियाँ इष्ट हैं।

---

१. आ. विद्यानन्द, अष्टस. पृ. १२७।
२. समन्तभद्र, आप्तमी. का. २३।
३. अष्टस., पृ. १२५।

अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी : भेद-विमर्श

विवेच्य है कि अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी इन तीनों में अन्तर क्या है ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि अनेकान्त वस्तु है, वाच्य है, स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है, वाचक है और सप्तभंगी स्याद्वाद के कथन का साधन है। स्याद्वाद जब अनेकान्त रूप वस्तु का कथन करता है तो सप्तभंगी के माध्यम से करता है। इसका आश्रय लिए बिना वह उसका निरूपण नहीं कर सकता। इसे और स्पष्ट यों समझें कि स्याद्वाद स्याद्वादी वक्ता का वचन है, अनेकान्त उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है और सप्तभंगी उसके प्रतिपादन की शैली, पद्धति या प्रक्रिया है। यतः सप्तभंगी में सात भंगों (उत्तरवाक्यों अथवा धर्मों) का समुच्चय है। इसलिए उसे सप्तभंगी (**सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगी**) कहा गया है। वे सात भंग वही हैं, जिनका एक घट के उदाहरण द्वारा पहले उल्लेख किया जा चुका है। उनका निबद्ध रूप में सर्वप्रथम प्रतिपादन आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय (गाथा १४) में उपलब्ध है।[1]

इन सात भंगों को विकास कब, कैसे हुआ ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका एक समाधान तो यह है कि जैन दर्शन में वचन स्याद्वाद रूप, वाच्य अनेकान्त रूप और प्रतिपादन शैली सप्तभंगी रूप सदा से मान्य है और इसी से सभी तीर्थंकरों को स्याद्वादी तथा उनके उपदेश सप्तभंगनय (अनेकान्त) कहा गया है। अतः उनमें विकास की संभावना या कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरा समाधान यह है कि षट्खंडागम, भगवती सूत्र आदि दिगम्बर-श्वेताम्बर आगम साहित्य का[2] पर्यालोचन करने पर ज्ञात होता है कि उस समय दो भंग प्रतिपादन शैली में प्रचलित थे। एक विधि प्रदर्शक और दूसरा निषेध प्रदर्शक अथवा नित्यत्व प्रतिपादक और अनित्यत्व प्रतिपादक। इन दो विरोधी भंगों द्वारा जीवादि पदार्थों का कथन किया जाता था।

इसके पश्चात् कौन भंग और कब इन दो भंगों में सम्मलित हुआ, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के उक्त प्रतिपादन से ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व उक्त दो भंगों में पाँच भंग और मिलाकर सात भंगों से जीवादि द्रव्यों को कथन किया जाता रहा। कुन्दकुन्द ने उन्हें स्पष्ट रूप में अपना कर और द्रव्य को सप्तभंग (सात धर्म) रूप कहकर उसका सात विवक्षाओं से निरूपण किया है।

प्राकृत भाषा में निबद्ध उनके वे सात भंग इस प्रकार हैं–[3] **१. सिय अत्थि दव्वं** (कथंचित् द्रव्य है), **२. सिय णत्थि दव्वं** (कथंचित् द्रव्य नहीं है), **३. सिय उहयं दव्वं** (कथंचित् द्रव्य उभह है– है और नहीं है), **४. सिय अव्वत्तव्वं दव्वं** (कथंचित् द्रव्य

---

१. पंचास्तिकाय, गा. १४।

२. षट्खण्डागम (१।१।७६, पृ. १, पृ. २१६, भगवती (७, २, २७३) आदि।

३. पंचास्तिकाय. गा. १४।

अवक्तव्य है), ५. **सिय अत्थि अव्वत्तव्वं दव्वं** (कथंचित् द्रव्य है- अवक्तव्य है), ६. **सिय णत्थि अव्वत्तव्वं दव्वं** (कथंचित् द्रव्य नहीं है-अवक्तव्य है), ७. **सिय अत्थिणत्थि अव्वत्तव्वं दव्वं** (कथंचित् द्रव्य है-नहीं है- अवक्तव्य है)।

तात्पर्य यह है कि उस आगम-युग में भी सप्तभंगनय (सप्तभंगी) द्वारा वस्तु (जीवादि द्रव्यों) का कथन किया जाता रहा।

स्वामी समन्तभद्र ने उसे दर्शन के क्षेत्र में लाकर उसका जो विकास, प्रचार एवं विस्तार किया वह असाधारण है। उन्होंने एक-एक एकान्तवाद में दोष प्रदर्शित कर इस सप्तभंगी के द्वारा उनका समन्वय किया[1] और उन सभी को उन्होंने वस्तु का स्वरूप स्वीकार किया तथा स्याद्वाद-वचन को वाचक और अनेकान्त रूप वस्तु को उसका वाच्य बतला कर तत्त्व-व्यवस्था सिद्ध की है।

उनके बाद तो सभी उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों-सिद्धसेन, पूज्यपाद, श्रीदत्त, पात्रस्वामी, अकलङ्क, हरिभद्र, कुमारनन्दि, बृहदनन्तवीर्य, विद्यानन्द, वादीभ सिंह, वादिराज, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, लघु अनन्तवीर्य, अभयदेव, हेमचन्द्र, धर्मभूषण आदि ने अपनी संस्कृत भाषा में लिखित दार्शनिक कृतियों में उनका पूर्णतया अनुगमन किया और उनका समर्थन किया है।

समन्तभद्र की **'आप्त-मीमांसा'**, जिसे **'स्याद्वाद-मीमांसा'** कहा जा सकता है, ऐसी कृति है, जिसमें एक साथ स्याद्वाद, अनेकान्त और सप्तभंगी तीनों का विशद और विस्तृत विवेचन किया गया है। अकलंकदेव ने उस पर **'अष्टशती'** (आप्त मीमांसा-विवृति) और विद्यानन्द ने उसी पर **'अष्टसहस्री'** (आप्तमीमांसालंकृति) व्याख्या लिखकर जहाँ **आप्तमीमांसा** की कारिकाओं एवं उनके पद-वाक्यादिकों का विशद व्याख्यान किया है वहाँ इन तीनों का भी अद्वितीय विवेचन किया है।

न्याय और उसके अङ्ग

न्यायविद्या

'नीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन स न्यायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार न्याय वह विद्या है जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप निर्णीत किया जाए। इस व्युत्पत्ति के आधार पर कोई प्रमाण को, कोई लक्षण और प्रमाण को, कोई लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप को तथा कोई पंचावयव-वाक्य के प्रयोग को न्याय कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा वस्तु-प्रतिपत्ति होती है। न्यायदीपिकाकार अभिनव धर्मभूषण का मत है कि न्याय प्रमाण और नयरूप है। अपने इस

---

१. आप्तमीमांसा, का १४, १५, १६, २२।

मत का समर्थन वे आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्रगत उस सूत्र से करते हैं,[1] जिसमें कहा गया है कि वस्तु (जीवादि पदार्थों) का अधिगम प्रमाणों तथा नयों से होता है। प्रमाण और नय इन दो को ही अधिगम का उपाय सूत्रकार ने कहा है। उनका आशय है कि चूँकि प्रत्येक वस्तु अखंड (धर्मी) और सखंड (धर्म) दोनों रूप है। उसे अखंडरूप में ग्रहण करने वाला प्रमाण है और खंडरूप में जानने वाला नय है। अतः इन दो के सिवाय किसी तीसरे ज्ञापकोपाय की आवश्यकता नहीं है।

न्यायविद्या को 'अमृत' भी कहा गया है।[2] इसका कारण यह कि जिस प्रकार 'अमृत' अमरत्व को प्रदान करता है उसी प्रकार न्यायविद्या भी तत्त्वज्ञान प्राप्त कराकर आत्मा को अमर (मिथ्याज्ञानादि से मुक्त और सम्यग्ज्ञान से युक्त) बना देती है। इसी से सभी दर्शनों में इस विद्या के अध्ययन को बड़ा महत्व दिया है और इसका प्रतिपादन एवं विशेष विवेचन किया गया है।

आगमों में न्याय-विद्या

जैनागमों में इस विद्या का अधिक महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। उसके बिना तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ बतलायी गई है। अतएव मूल जैनागम के द्वादशांग जैनश्रुत के 'दृष्टिवाद' नामक १२वें अंग में इसका मुख्यतया एवं विस्तार से प्रतिपादन है। आज जो उसका कुछ अंश प्राप्त है उसमें हमें इस विद्या का निरूपण मिलता है। षट्खंडागम[3] में श्रुत के पर्याय-नामों को गिनाते हुए एक नाम **'हेतुवाद'** भी दिया गया है, जिसका अर्थ हेतुविद्या, न्यायविद्या, तर्क-शास्त्र और युक्ति-शास्त्र किया है। स्थानांगसूत्र (३३८)[4] में **'हेतु'** शब्द प्रयुक्त है, जिसके दो अर्थ किये गये हैं–१. प्रमाण-सामान्य; इसके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम-ये चार भेद हैं। अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्र में भी इन चार का प्रतिपादन है। पर उन्होंने इन्हें प्रमाण के भेद कहे हैं। यद्यपि स्थानांगसूत्रकार को भी हेतुशब्द प्रमाण के अर्थ में ही यहाँ विवक्षित है। २. हेतु शब्द का दूसरा अर्थ उन्होंने अनुमान का प्रमुख अंग हेतु (साधन) किया है। उसके निम्न चार भेद किये हैं–

१. विधि-विधि (साध्य और साधन दोनों सद्भव रूप)
२. विधि-निषेध (साध्य विधिरूप और साधन निषेधरूप)

---

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः'- त.सू. १-१६।
२. 'न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने।' - अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला पृ. २, २ श्लो.२।
३. षट्ख. ५।५।५१, शोलापुर संस्करण, १९६५।
४. 'अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा-पच्चक्खे अनुमाने उवमे आगमे। अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते। तं जहा-अत्थि तं अत्थि सो हेऊ, अत्थि तं णत्थि सो हेऊ, णत्थि तं अत्थि सो हेऊ णत्थि तं णत्थि सो हेऊ।' -स्थानांग सू.-पृ. ३०९-३१०, ३३८।

३. निषेध-विधि (साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप)

४. निषेध-निषेध (साध्य और साधन दोनों निषेधरूप)

इन्हें हम क्रमशः निम्न नामों से व्यवहृत कर सकते हैं–

१. विधिसाधक विधिरूप[1] अविरुद्धोपलब्धि[2]

२. विधिसाधक निषेधरूप विरुद्धानुपलब्धि

३. निषेधसाधक विधिरूप विरुद्धोपलब्धि

४. निषेधसाधक निषेधरूप अविरुद्धानुपलब्धि[3]

इनके उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं–

१. अग्नि है, क्योंकि धूम है। **यहाँ साध्य और साधन दोनों विधि (सद्भाव) रूप हैं।**

२. इस प्राणी में व्याधि विशेष है, क्योंकि स्वस्थचेष्टा नहीं है। **साध्य विधिरूप है और साधन निषेधरूप है।**

३. यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है। **यहाँ साध्य निषेधरूप व साधन विधिरूप है।**

४. यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है। **यहाँ साध्य व साधन दोनों निषेधरूप है।**

अनुयोगसूत्र में[4] अनुमान और उसके भेदों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध है, जिससे ज्ञात होता है कि आगमों में न्यायविद्या एक महत्त्वपूर्ण विद्या के रूप में वर्णित है। आगमोत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में तो वह उत्तरोत्तर विकसित होती गई है।

प्रमाण और नय

हम पहले तत्त्वमीमांसा में हेय और उपादेय के रूप में विभक्त जीव आदि सात तत्त्वों का विवेचन कर आये हैं। तत्त्व का दूसरा अर्थ वस्तु है।[5] यह वस्तुरूप तत्त्व दो प्रकार का है– १. उपेय और २. उपाय। उपेय के दो भेद हैं– एक ज्ञाप्य (ज्ञेय) और दूसरा कार्य। जो ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञाप्य अथवा ज्ञेय कहा जाता है और जो कारणों द्वारा निष्पाद्य या निष्पन्न होता है वह कार्य है।

---

१. धर्मभूषण, न्यायदीपिका, पृ. ६५-६६ दिल्ली संस्करण।

२. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख ३/५७-५८।

३. डॉ. दरबारीलाल कोठिया, जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ. २४ का टिप्पण नं. ३।

४. वही. पृ. २५ व उसके टिप्पण।

५. वही, पृ. ५८, ५६।

उपाय तत्त्व दो तरह का है– १. कारक, २. ज्ञापक। कारक वह है जो कार्य की उत्पत्ति करता है अर्थात् कार्य के उत्पादक कारणों का नाम कारक है। कार्य की उत्पत्ति दो कारणों से होती है- १. उपादान और २. निमित्त (सहकारी)। उपादान वह है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह है जो उसमें सहायक होता है। उदाहरणार्थ घड़े की उत्पत्ति में मृत्पिण्ड उपादान और दण्ड चक्र, चीवर, कुंभकार प्रभृति निमित्त हैं। न्यायदर्शन में इन दो कारणों के अतिरिक्त एक तीसरा कारण भी स्वीकृत है वह है असमवायि पर वह समवायि कारणगत रूपादि और संयोगरूप होने से उसे अन्य दर्शनों में उस से भिन्न नहीं माना।

ज्ञापकतत्त्व भी दो प्रकार का है-[1] (प्रमाण और नय)। प्रस्तुत में ये ही दोनों विवेच्य हैं। जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार प्रथमतः प्रमाण का विचार किया जाता है।

१. प्रमाण-विमर्श

प्रमाण का प्रयोजन

मनुष्य इतर प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और विचारशील है। अतः उसके लिए आवश्यक है कि उसे इष्टानिष्ट अथवा ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान अभ्रान्त हो। प्रमाण की जिज्ञासा मनुष्य में संभवतः इसी से जागृत हुई होगी। यही कारण है कि प्रमाण की मीमांसा न केवल अध्यात्मप्रधान भारत के मनीषियों द्वारा ही की गई है अपितु विश्व के सभी विचारकों एवं दार्शनिकों ने भी की है। आचार्य 'माणिक्यनंदि' प्रमाण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखते हैं[2] कि प्रमाण से पदार्थों का सम्यक्ज्ञान और सम्यक्प्राप्ति होती है, पर प्रमाणाभास से नहीं। आचार्य विद्यानंद ने भी प्रमाणपरीक्षा (पृष्ठ २८) में यही कहा है।

प्रमाण का स्वरूप

'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण वह है जिसके द्वारा वस्तु प्रमित हो, सही रूप में जानी जाये। प्रश्न है कि वह क्या है, जिसके द्वारा वस्तु की सही जानकारी होती है ? इस पर सभी प्रमाण शास्त्रियों ने विचार किया है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद् ने कहा है कि[3] निर्दोष 'ज्ञान' विद्या (प्रमाण) है। उसी से यथार्थ एवं सही जानकारी होती है। गौतम अक्षपाद के न्यायसूत्र में प्रमाण का लक्षण उपलब्ध नहीं है। पर उनके भाष्यकार वात्स्यायन ने[4] अवश्य उपलब्धि-साधन (प्रमाकरण) को प्रमाण सूचित

---

१. वही पृ. ५८ का मूल व टिप्पण १; 'प्रमाणनयैरधिगमः'-त. सू. १-६ 'प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः पदार्थः सम्यगधिगम्यन्ते।'- न्या.दी. पृ. २, वीर सेवामंदिर, दिल्ली संस्करण।

२. 'प्रमाणादर्थ संसिद्धिस्तदाभासासाद्विपर्ययः। 'परीक्षामु. श्लो. १

३. 'अदुष्टं विद्या'-वैशे. सू. ६।२।१२।

४. न्याय भ्रा. १।१।३।

किया है। उद्योतकर,[1] जयन्तभट्ट[2] आदि नैयायिकों ने वात्स्यायन का ही अनुसरण किया है और उपलब्धि साधनरूप प्रमाकरण को प्रमाणलक्षण स्वीकृत किया है। पर उदयनाचार्य[3] ने यथार्थानुभाव को प्रमाण कहा है। ज्ञात होता है। कि अनुभूति को प्रमाण मानने वाले मीमांसक प्रभाकर का यह उन पर प्रभाव है, क्योंकि उदयन के पूर्व न्याय दर्शन में प्रमाणलक्षण में 'अनुभव' पद-का प्रवेश उपलब्ध नहीं होता। उनके पश्चात् तो विश्वनाथ,[4] केशव मिश्र,[5] अन्नम्भट्ट[6] प्रभृति नैयायिकों ने अनुभव घटित ही प्रमाण लक्षण किया है।

मीमांसक-मनीषी कुमारिलभट्टने[7] अपूर्वार्थ विषयक ज्ञान को, जो निश्चित हो, बाध-विवर्जित हो, निर्दोष इन्द्रियादि कारणों से उत्पन्न हो और लोक सम्मत हो, प्रमाण माना है। उत्तरवर्ती सभी भाट्ट मीमांसकों ने उनके इस प्रमाणलक्षण को मान्यता दी है। प्रभाकर[8] ने अनुभूति को प्रमाण कहा है और उनके अनुवर्ती शालिकानाथ आदि ने उसका समर्थन किया है।

सांख्य दर्शन में ईश्वरकृष्ण[9] आदि सांख्यविद्वानों ने इन्द्रियवृत्ति-इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण माना है।

बौद्धदर्शन में बौद्धन्याय के प्रतिष्ठाता दिग्नाग ने[10] अज्ञातार्थ के ज्ञापक को प्रमाण कहा है। धर्मकीर्ति ने[11] इसमें 'अविसंवादि' पद और जोड़कर उसे परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्त रक्षितने[12] सारूप्य-तदाकारता और योग्यता को प्रमाण का लक्षण बतलाया, जो एक प्रकार से दिग्नाग और धर्मकीर्ति के प्रमाणलक्षणों का ही फलितार्थ है। इस तरह बौद्धदर्शन में स्वसंवेदी, अज्ञातार्थज्ञापक, अविसंवादि तदाकार ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया गया।

---

१. न्याय वा. १।१।३, पृ. ५।
२. 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणापार्थाभिधायिनः प्रमाण शब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणवगम्यते।' -न्यायमं पृ. १. २५।
३. न्यायकुसु. ४।१।
४. सिद्धान्तमु. का. ५१।
५. तर्कभा., पृ. १४।
६. तर्क संग्रह, पृ. ३२।
७. जैन तर्कशा. अनु. वि; पृ. ६१, वीरसेवामन्दिरट्रस्ट संस्करण, वाराणसी।
८. 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।' बृहती १।१।५।
९. सांख्य का. २८।
१०. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्- प्र.स., का ३।
११. प्रमाणवा. २।१।
१२. तत्त्वसं; का १३४४।

जैनन्याय में प्रमाण का स्वरूप

प्रमाण का लक्षण हमें प्रथमतः आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध होता है। उन्होंने[1] मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल-इन आगमोक्त पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान कहकर उन्हें प्रमाण बतलाया है और उन्हें दो भेदों में विभक्त किया है। प्रथम के दो ज्ञानों को परोक्ष और शेष तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष निरूपित किया है। उनके इस निरूपण से कई महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। एक तो यह कि आगम में जो पाँच ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल) सम्यग्ज्ञान के रूप में वर्णित हैं, उन्हें ही तत्त्वार्थसूत्रकार ने सम्यग्ज्ञान बतलाया है। दूसरा तथ्य यह कि वह सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण का स्वरूप है। तीसरा तथ्य यह कि उसके दो ही भेद हैं, उनसे ज्यादा नहीं।

वे हैं-१. परोक्ष और २. प्रत्यक्ष। चौथा तथ्य यह है कि उक्त पाँच ज्ञानों में आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्य 'तीन' ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। वे दो ज्ञान हैं-मति और श्रुत तथा तीन ज्ञान हैं-अवधि, मनःपर्यय और केवल। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार प्रमाण वह है जो सच्चाज्ञान है और वे उक्त पाँचज्ञान हैं। उन्हीं से यथार्थ 'प्रतिपत्ति' संभव है। आ. गृद्धपिच्छ के बाद स्वामी समन्तभद्र[2] कहते हैं कि जो ज्ञान अपना और पर का अवभास कराये वह प्रमाण है। जो केवल अपना या केवल पर का अवभास कराता है वह ज्ञान प्रमाण कोटि में सम्मिलित नहीं है। प्रमाणकोटि में वही ज्ञान समाविष्ट हो सकता है जो अपने को जानने के साथ पर को और पर को जानने के साथ अपने को भी जानता है और तभी उसमें संपूर्णता आती है। न्यायावतारकार सिद्धसेन[3] ने समन्तभद्र के उक्त लक्षण को अपनाते हुए उसमें एक विशेषण और दिया है वह है 'बाधविवर्जित'। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार के 'सम्यक्' पद के द्वारा वह गतार्थ हो जाता है।

यद्यपि **'स्वरूपस्य स्वतो गते',**[4] **'स्वरूपाधिगतेःपरम्'**[5], आदि प्रतिपादनों द्वारा विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध प्रमाण को स्वसंवेदी स्वीकार करते हैं। तथा 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्'[6] 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा'[7] आदि कथनों द्वारा सौत्रान्तिक (बहिरर्थाद्वैतवादी) बौद्ध उसे केवल

---

१. त.सू. १-९, १०, ११, १२।
२. स्वयम्भू. का. ६३।
३. न्यायाव, का. १।
४. धर्मकीर्ति, प्र.वा. २।४।
५. वही, २।५।
६. दिङ्नाग, प्रमाणसमु. (स्वोप. वृत्ति) का. १।
७. धर्मकीर्ति प्रमाणवा. २।५।

पर-संवेदी मानते हैं। पर किसी भी तार्किक ने प्रमाण को स्व और पर दोनों का एक साथ प्रकाशक नहीं माना! जैन तार्किकों ने ही प्रमाण को स्व और पर दोनों का एक साथ ज्ञापक स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान एक चमचमाता हीरा अथवा ज्योतिपुंज दीपक है, जो अपने को प्रकाशित करता हुआ उसी काल में योग्य बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है अतः स्वपर प्रकाशक यथार्थज्ञान ही प्रमाण है।

सर्वार्थसिद्धिकार अ. पूज्यपाद[1] की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वपर प्रकाशक यथार्थज्ञान को प्रमाण मानते हुए सन्निकर्ष और इन्द्रिय को प्रमाण मानने वालों की मान्यताओं की समीक्षा भी की है। उनका कहना है कि सन्निकर्ष या इन्द्रिय को प्रमाण मानने पर सूक्ष्म, व्यवहित और दूर के पदार्थों के साथ इन्द्रियों का संबंध संभव न होने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता। फलतः सर्वज्ञता का अभाव हो जायेगा। इसके सिवाय चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है।[2] उसका पदार्थ के साथ सन्निकर्ष न होने से वह अव्याप्त भी है। चक्षु बिना सन्निकर्ष के ज्ञान कराती है।

अकलंक,[3] विद्यानंद[4] और माणिक्यनंदि[5] ने गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र और पूज्यपाद द्वारा स्वीकृत एवं समर्थित स्वार्थ व्यवसायी सम्यग्ज्ञान को प्रमाण लक्षण स्वीकार करने के साथ ही अर्थ के विशेष रूप में 'अनधिगत' अथवा 'अपूर्व' या 'अगृहीतग्राही' पद को उसमें और जोड़कर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक' ज्ञान को प्रमाण कहा है और यही प्रमाण लक्षण जैनदर्शन में अधिक प्रतिष्ठित है। हेमचन्द्र[6] ने अवश्य इस लक्षण से पृथक प्रमाण लक्षण प्रस्तुत किया है। उसमें न 'स्व' पद है और न 'अपूर्व' जैसा पद है। दोनों को उन्होंने अनावश्यक बतलाया है। मात्र आचार्य गृद्धपिच्छोक्त सम्यग्ज्ञान की तरह सम्यक् अर्थ निर्णय को उन्होंने प्रमाण कहा है। अभिनवधर्मभूषण[7] ने विद्यानंद और माणिक्यनंदि का पूरा अनुगमन किया है। इस विवेचन से इतना स्पष्ट है कि सम्यक् ज्ञान को एक स्वर से सभी जैन दार्शनिकों ने प्रमाण माना है। सन्निकर्ष, इन्द्रिय, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य, ज्ञातृव्यापार आदि को अज्ञान निवर्त्तक न होने से प्रमाण स्वीकार नहीं किया। इसका कारण यह है कि ये सब स्वयं अज्ञान रूप हैं, अज्ञान का निवर्त्तक निश्चय ही उसका विरोधी ज्ञान रूप होना चाहिए,

---

१. स.सि. १।१०।
२. वही १।१६।
३. अष्टश., आप्तमीमांसा., का. ३६, १००
४. प्रमाण परीक्षा पृ. १ से २८, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट संस्करण, वाराणसी, १६७७
५. परीक्षा मुख १/१
६. 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्'। –प्र.मी. १/१/२
७. न्या.दी., पृ. ६, १२, १३

जैसे अन्धकार का निवर्त्तक उसका विरोधी प्रकाश स्पष्टतया देखा जाता है और अज्ञान-विरोधी ज्ञान ही है। अतः सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाण-भेद

उपर्युक्त प्रमाण कितने प्रकार का संभव है और उसके भेदों का सर्वप्रथम प्रतिपादन करने वाली परम्परा कौन है ? इस सम्बन्ध में तर्क ग्रन्थों का आलोडन करने पर ज्ञात होता है कि वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने[१] प्रमाण के प्रत्यक्ष और लैंगिक- ये दो भेद स्वीकार किये हैं। उन्होंने इन दो के सिवाय न अन्य प्रमाणों की संभावना की है और न न्यायसूत्रकार अक्षपाद की तरह स्वीकृत प्रमाणों में अन्तर्भाव आदि की चर्चा ही की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाण के उक्त दो भेदों की मान्यता प्राचीन है। इसके अतिरिक्त चार्वाक ने प्रत्यक्ष को माना और मात्र अनुमान की समीक्षा की है,[२] अन्य उपमान, आगम आदि की नहीं। जबकि न्याय सूत्रकार ने[३] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम (शब्द)- इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया है तथा ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव-इन चार का स्पष्ट रूप से उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणता की आलोचना की है। साथ ही शब्द में ऐतिह्य का और अनुमान में शेष तीनों का अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। कणाद के व्याख्याकार प्रशस्तपाद ने[४] अवश्य उनके मान्य प्रत्यक्ष और लैंगिक इन दो प्रमाणों का समर्थन करते हुए उल्लिखित शब्द आदि प्रमाणों का इन्हीं दो में समावेश किया है तथा चेष्टा, निर्णय, आर्ष (प्रातिभ) और सिद्ध दर्शन को भी इन्हीं दो के अन्तर्गत सिद्ध किया है। यदि वैशेषिक दर्शन से पूर्व न्यायदर्शन या अन्य दर्शन की प्रमाण भेद परम्परा होती, तो चार्वाक उसके प्रमाणों की अवश्य आलोचना करता। इससे विदित होता है कि वैशेषिक दर्शन की प्रमाण-द्वय की मान्यता सब से प्राचीन है।

वैशेषिकों की[५] तरह बौद्धों ने[६] भी प्रत्यक्ष और अनुमान- इन दो प्रमाणों की स्वीकार किया है। शब्द सहित तीनों को सांख्यों ने[७], उपमान सहित चारों को नैयायिकों ने[८] और

---

१. वैशेषिक सूत्र १०/१/३
२. सर्वदर्शन सं., चार्वाकदर्शन, पृ. ३
३. न्यायसू. २/२/१, २
४. प्रश.भा., पृ. १०६-१११
५. वैशे.सू. १०/१/३
६. दिग्नाग, प्रमाण समु.प्र.परि.का. २, पृ. ४
७. सांख्य का. ४
८. न्याय सू. १/१/३

अर्थापत्ति तथा अभाव सहित छह प्रमाणों को जैमिनीयों (मीमांसकों) ने[1] मान्य किया है। कुछ काल बाद जैमिनीय दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये– १. भाट्ट (कुमारिल भट्ट के अनुगामी) और २. प्राभाकर (प्रभाकर के अनुयायी)। भाट्टों ने छहों प्रमाणों को माना। पर प्राभाकरों ने अभाव प्रमाण को छोड़ दिया तथा शेष पाँच प्रमाणों को अंगीकार किया। इस तरह विभिन्न दर्शनों में प्रमाण-भेद की मान्यताएँ[2] दार्शनिक क्षेत्र में चर्चित हैं।

जैनन्याय में प्रमाण-भेद

जैनन्याय में प्रमाण के कितने और कौन से भेद माने गये हैं, इसका विचार किया जाता है-श्वेताम्बर परम्परा में मान्य भगवती सूत्र[3] और स्थानांग सूत्र में[4] चार प्रमाणों का उल्लेख है–१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. आगम। स्थानांग सूत्र में[5] व्यवसाय के तीन भेदों द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों का भी निर्देश है। संभव है सिद्धसेन[6] और हरिभद्र के[7] तीन प्रमाणों की मान्यता का आधार यही स्थानांग सूत्र हो। श्री पं. दलसुख मालवणिया का विचार है[8] कि उपर्युक्त चार प्रमाणों की मान्यता नैयायिकादि सम्मत और तीन प्रमाणों का कथन सांख्यादि स्वीकृत परम्परा मूलक हों तो आश्चर्य नहीं। यदि ऐसा हो तो भगवती सूत्र और स्थानांग सूत्र के क्रमशः चार और तीन प्रमाणों की मान्यता लोकानुसरण की सूचक होने से अर्वाचीन होना चाहिए।

दिगम्बर परम्परा के षट्खंडागम में[9] मात्र तीन ज्ञानमीमांसा उपलब्ध होती है। वहाँ तीन प्रकार के मिथ्या ज्ञान और पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान को गिनाकर आठ ज्ञानों का निरूपण किया गया है। वहाँ प्रमाणाभास के रूप में ज्ञानों का विभाजन नहीं है और न प्रमाण तथा प्रमाणाभास शब्द ही वहाँ उपलब्ध होते हैं। कुन्दकुन्द[10] के ग्रन्थों में भी ज्ञानमीमांसा की ही चर्चा है, प्रमाण मीमांसा की नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि उस प्राचीनकाल में सम्यक् और मिथ्या मानकर तो ज्ञान का कथन किया जाता था, किन्तु प्रमाण और प्रमाणाभास मानकर नहीं, पर एक वर्ग के ज्ञानों को सम्यक् और दूसरे वर्ग के ज्ञानों को मिथ्या प्रतिपादन करने से अवगत होता है कि जो ज्ञान सम्यक् कहे गये हैं वे सम्यक् परिच्छित्ति

---

१. शावरभा. १/१/५
२. जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः। सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः।।
–प्रमेयर. २/२ का टि.
३. भ.सू. ५/३/१६१-१९२, ४. स्था. ३३८, ५. स्था. १८५
६. न्यायाव. का ८
७. अनेका.ज.प.टी. पृ. १४२, २१५
८. आगम युग का जैन दर्शन पृ. १३६ से १३८
९. भूतबली.पुष्पदन्त, षट्खण्डा. १/१/१५ तथा जैन तर्क शा.अनु.वि. पृ. ७१ व इसका नं. ५ टिप्प.
१०. नियमसार गा. १०, ११, १२, प्रवचनसार प्रथम ज्ञानाधिकार

कराने से प्रमाण तथा जिन्हें मिथ्या बताया गया है वे मिथ्या प्रतिपत्ति कराने से अप्रमाण (प्रमाणाभास) इष्ट हैं।[1] इसकी संपुष्टि तत्त्वार्थसूत्रकार[2] के निम्न प्रतिपादन से भी होती है–

'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम्'।
'तत्प्रमाणे'। 'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।'
–तत्त्वार्थसूत्र १-९, १०, ३१।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान या प्रमाण के मति, श्रुत, अवधि आदि पाँच भेदों की परम्परा आगम में उपलब्ध होती है, जो अत्यन्त प्राचीन है और जिस पर लोकानुसरण का कोई प्रभाव नहीं है।

पर इतर दर्शनों के लिए यह अलौकिक जैसी थी, क्योंकि अन्य दर्शनों के प्रमाण-निरूपण के साथ उसका मेल नहीं खाता था। अतः ऐसे प्रयत्न की आवश्यकता थी कि आगम का भी समन्वय हो जाये और अन्य दर्शनों के प्रमाण निरूपण के साथ उसका मेल भी बैठ जाये। इस दिशा में सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्रकर[3] ने उक्त समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि जो मति आदि ५ ज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान वर्णित है वह प्रमाण है और उसके दो भेद हैं– १. परोक्ष और २. प्रत्यक्ष। अर्थात् आगम में जिन पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान कहा गया है वे ही प्रमाण हैं। उनमें मति और श्रुत ये दो ज्ञान पर सापेक्ष होने से परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल- ये तीन ज्ञान पर परसापेक्ष न होने एवं आत्म मात्र की अपेक्षा से होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं तथा मति, श्रुत और अवधि- ये तीन ज्ञान मिथ्यात्व के साथ रहने पर मिथ्या परिच्छित्ति कराने से विपर्यय (मिथ्याज्ञान-प्रमाणाभास) भी हैं।

आचार्य गृद्धपिच्छ का यह प्रमाणद्वय विभाग इतना विचार युक्त और कौशल्यपूर्ण हुआ कि प्रमाणों का वैविध्य एवं आनन्त्य भी इन्हीं दो में समाविष्ट हो जाता है। उन्होंने[4] अति संक्षेप में मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी प्रमाणान्तर होने का संकेत करके उन्हें मतिज्ञान बतलाते हुए उनका परोक्ष प्रमाण में समावेश किया, क्योंकि ये सभी ज्ञान, इन्द्रिय, मन आदि परसापेक्ष हैं। वैशेषिकों और

---

१. यह उस समय की प्रतिपादन शैली थी। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद ने भी इसी शैली से बुद्धि के अविद्या और विद्या ये दो भेद बतलाकर अविद्या के संशय आदि चार तथा विद्या के प्रत्यक्षादि चार भेद कहे हैं तथा दूषित ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) को अविद्या और निर्दोष ज्ञान को-सम्यग्ज्ञान का विद्या का लक्षण कहा है। –वैशे.सू. ९/२/७, ८, १० से १३ तथा १०/१/३

२. त.सू. १/९, १०

३. वही, १/९, १०, ११, १२,

४. वही, १/१४,

बौद्धों ने भी प्रमाण के दो भेद स्वीकार किये हैं, जैसा कि हम पहले देख आये हैं। पर वे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो भेद हैं तथा उन में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का समावेश संभव नहीं है।

अतएव गृद्धपिच्छ ने इस प्रमाणद्वय को स्वीकार न कर परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप प्रमाणद्वय का व्यापक विभाग प्रतिष्ठित किया। उत्तरवर्ती जैन तार्किकों के लिए उनका यह विभाग आधार सिद्ध हुआ। पूज्यपाद[1] ने न्यायदर्शन आदि में पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकृत उपमान, अर्थापत्ति और आगम आदि का परसापेक्ष होने से परोक्ष में ही अन्तर्भाव किया और सूत्रकार के प्रमाणद्वय का समर्थन किया है। अकलंक[2] ने भी उन्हें के प्रमाणद्वय की संपुष्टि की। साथ ही उन्होंने नए आलोक में परोक्ष-प्रत्यक्ष की परिभाषाओं और उनके भेदों का भी बहुत स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है। परोक्ष प्रमाण की स्पष्ट संख्या हमें सर्वप्रथम उनके तर्क ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।[3] इतना ही नहीं, उनकी परिभाषायें भी उन्होंने दी हैं। ज्ञात होता है कि गृद्धपिच्छ और अकलंक जो प्रमाण निरूपण की दिशा प्रदर्शित की, उसी पर विद्यानंद,[4] माणिक्यनंदि,[5] हेमचंद्र[6] और धर्मभूषण आदि जैन तार्किक चले हैं। साथ ही उनके कथन को पल्लवित एवं विस्तृत किया है।

गृद्धपिच्छ के उपर्युक्त प्रमाणद्वय विभाग से कुछ भिन्न प्रमाणद्वय का प्रतिपादन भी हमें जैन दर्शन में उपलब्ध होता है, वह है स्वामी समन्तभद्र का। स्वामी समन्तभद्र ने कहा है[7] कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है और वह दो प्रकार का है–१. युगपत्प्रतिभासि और २. क्रमप्रतिभासि। एक साथ सर्व परिच्छेदि तत्त्वज्ञान युगपत्प्रतिभासि और क्रमशः अल्प परिच्छेदि तत्त्वज्ञान क्रमप्रतिभासि अर्थात् क्रम भावी ज्ञान है। सर्वज्ञ का तत्त्वज्ञान युगपत्प्रतिभासि है और अल्पज्ञों का क्रमप्रतिभासि। प्रमाण भेदों की इन दोनों विचारणाओं में वस्तुभूत कोई अन्तर नहीं है। आचार्य गृद्धपिच्छ का निरूपण जहाँ ज्ञान कारणों की सापेक्षता और निरपेक्षता पर आधृत है वहाँ आचार्य समन्तभद्र का प्रतिपादन प्रतिपत्ताओं (सर्वज्ञ और अल्पज्ञ) को होने वाले विषयाधिगम के अक्रम और क्रम पर निर्भर है। छद्मस्थ प्रतिपत्ताओं को ज्ञेयों का क्रम से होने वाला ज्ञान क्रमभावि और सर्वज्ञ प्रतिपत्ताओं को युगपत् होने वाला अक्रमभावि प्रमाण है। पर इस विभाग की अपेक्षा गृद्धपिच्छ का परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रमाणद्वय विभाग अधिक प्रसिद्ध और तार्किकों द्वारा अनुसृत हुआ है।

---

१. स.सि. १/११
२. लघीय. १/३ तथा स्वोपज्ञवृत्ति १/३,
३. वही, १/११ तथा ३/६१
४. प्र.प. पृ. २८, अनुच्छेद ६५, वाराणसी संस्करण १९७७
५. परीक्षा मुख ३/१, २, न्याय दी. पृ. २३, संपादक. डॉ. कोठिया
६. प्र.मी. १/१/६ तथा १/२/१, २
७. आप्त मीमांसा का. १०१

इतना स्मरण रहे कि समन्तभद्र के प्रमाणद्वय विभाग में जहाँ अक्रमभावि प्रमाणमात्र केवल (केवल ज्ञान) है और क्रमभावि प्रमाण मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय से चारों ज्ञान अभिप्रेत हैं वहाँ गृद्धपिच्छ के परोक्ष और प्रत्यक्ष-इन दो प्रमाण भेदों में परोक्ष-मति और श्रुत ये दो ज्ञान तथा प्रत्यक्ष- अवधि, मनःपर्यय और केवल- ये तीन ज्ञान इष्ट हैं।

परोक्ष-प्रमाण

आगम-परम्परानुसार प्रमाण का प्रथम भेद परोक्ष है और दूसरा भेद प्रत्यक्ष है तथा न्यायशास्त्र की[1] दृष्टि से प्रमाण का पहला भेद प्रत्यक्ष है और दूसरा भेद परोक्ष है। यह अन्तर इसलिए हुआ कि भारतीय दर्शनों में प्रमाण-भेदों का आरम्भ प्रत्यक्ष से हुआ है और वह सर्व प्रसिद्ध है। हम इन दोनों दृष्टियों से प्रमाण-भेदों का विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम आगम-दृष्टि प्रस्तुत कर रहे हैं-

तत्त्वार्थसूत्रकार ने[2] आगमोक्त पाँच ज्ञानों को प्रमाण कहा है, जैसा कि हम देख चुके हैं और उन ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त किया है। आदि के दो ज्ञानों को परोक्ष और शेष तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा है। परोक्ष की परिभाषा देते हुए उनके आद्य टीकाकार पूज्यपाद-देवनन्दि (वि.सं. की छठी शती) ने लिखा है-

'पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते।'

–सर्वार्थसिद्धि १-११, पृ. १०१।

यहाँ 'परोक्ष' पद में स्थित 'पर' शब्द से इन्द्रियों, मन और प्रकाश तथा उपदेश आदि बाह्य निमित्तों का ग्रहण विवक्षित है। उनकी सहायता तथा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण इन कर्मों के क्षयोपशम (ईषद् अभाव) रूप अन्तरंग निमित्त दोनों से आत्मा के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतएव वे परोक्ष कहे जाते हैं। तात्पर्य यह कि पर की अपेक्षा रखने से ये दोनों (मति एवं श्रुत) ज्ञान परोक्ष हैं। इस परिभाषा के अनुसार इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान, जिन्हें इतर दर्शनों में क्रमशः इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष कहा गया है, परोक्ष हैं। यद्यपि उन्हें जैनदर्शन में भी लोक मान्यतानुसार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। किन्तु परसापेक्ष होने से वे हैं परोक्ष ही। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि ज्ञान भी पर सापेक्ष होने से परोक्ष में ही परिगणित हैं। यदि परसापेक्ष होने वाले और भी ज्ञान हों, तो वे सब परोक्षान्तर्गत ही हैं। इस प्रकार परोक्ष का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है।

१. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्य-संव्यवहारतः। परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः।। –अकलङ्क, लघीयस्त्रय १-३

२. त.सू. १-९, १०, ११, १२

तर्कशास्त्र में परोक्ष के भेद

तर्कशास्त्र में **परोक्ष के पाँच भेद** माने गये हैं[१] – १. स्मृति, २. प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क, ४. अनुमान और ५. आगम। यद्यपि आगम में आरम्भ के चार ज्ञानों को मतिज्ञान और आगम को श्रुतज्ञान कहकर दोनों को परोक्ष कहा है और इस तरह तर्कशास्त्र तथा आगम के निरूपणों में अन्तर नहीं है। फिर भी लोक के साथ समन्वय करने के लिए तार्किक दृष्टि से उनका और आगे कहे जाने वाले प्रत्यक्ष भेदों का निरूपण सरलता से अवगत हो जायेगा।

१. स्मृति– पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं। यथा 'वह' इस प्रकार से उल्लिखित होने वाला ज्ञान। यह ज्ञान अविसंवादि होता है, इसलिए प्रमाण है। यदि कदाचित् उसमें विसंवाद हो तो वह स्मृत्याभास है। इसे अप्रमाण नहीं माना जा सकता, अन्यथा व्याप्ति स्मरणपूर्वक होने वाला अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता और बिना व्याप्ति स्मरण के अनुमान संभव नहीं है। अतः स्मृति को प्रमाण मानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।[२]

२. प्रत्यभिज्ञान– अनुभव तथा स्मरणपूर्वक होने वाला जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। इसे प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यवमर्श और संज्ञा भी कहते है। जैसे– 'यह वही देवदत्त है, अथवा यह (गवय) गौ के समान है, यह (महिष) गौ से भिन्न है, आदि। पहला एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है, दूसरा सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और तीसरा वैसा दृश्य प्रत्यभिज्ञान का है। संकलनात्मक जितने ज्ञान हैं वे इसी प्रत्यभिज्ञान में समाहित होते हैं। उपमान प्रमाण इसी के सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत होता है, अन्यथा वैसा दृश्य आदि प्रत्यभिज्ञान भी पृथक् प्रमाण मानना पड़ेंगे। यह भी प्रत्यक्षादि की तरह अविसंवादी होने से प्रमाण है, अप्रमाण नहीं। यदि कोई प्रत्यभिज्ञान विसंवाद (भ्रमादि) पैदा करता है तो उसे प्रत्यभिज्ञानाभास जानना चाहिए। जैसे सीप में चाँदी का, रस्सी में सर्प का होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्षाभास है। यह नहीं कि एक के अप्रमाण होने पर सभी को अप्रमाण माना जाय। यह ज्ञान को सुपरीक्षा करके देखना चाहिए।[३]

३. तर्क– जो ज्ञान अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक व्याप्ति का निश्चय कराता है वह तर्क है। इसे ऊह, ऊहा और चिन्ता भी कहा जाता है। 'इसके होने पर ही यह होता है', यह अन्वय है और 'इसके न होने पर यह नहीं होता', यह व्यतिरेक है, इन दोनों पूर्वक यह ज्ञान साध्य के साथ साधन में व्याप्ति का निर्माण कराता है। इसका उदाहरण है– 'अग्नि के होने पर ही धूम होता है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता' इस प्रकार अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति का निश्चय कराना तर्क है। इससे सम्यक् अनुमान का मार्ग प्रशस्त होता है।

---

१. माणिक्यनन्दि, प.मु. ३-१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०
२. विद्यानन्द, प्रमाण परीक्षा, पृ. ३६ व पृ. ४२, वीर सेवा. ट्र., वाराणसी
३. विद्यानन्द, प्रमाण परीक्षा, पृ. ४२, ४३, ४४; वीर सेवा. ट्र., वाराणसी

तात्पर्य यह है कि अनुमान के अव्यवहित पूर्व आवश्यक व्याप्ति का ज्ञान इसी तर्क प्रमाण से होता है। वह न प्रमाण के विषय का परिशोधक है और न प्रमाण सम्पोषक। जैसा कि वैशेषिक-नैयायिक मानते हैं। वह स्वतंत्र प्रमाण है। उसके विषय (एकमात्र व्याप्ति) का निश्चय न प्रत्यक्ष से संभव है, क्योंकि वह केवल वर्तमान का ज्ञापक है और व्याप्ति समस्त देश-काल विषयिणी होती है- वह प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं हो सकती। न अनुमान से उसका ग्रहण संभव है, क्योंकि उसी अनुमान से उसका निश्चय मानने पर अन्योन्याश्रय तथा अन्य अनुमान से उसका ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष आते हैं। अतः व्याप्ति-निर्णायक एकमात्र तर्क प्रमाण है। ध्यान रहे, यह व्याप्ति अविनाभाव, अन्यथानुपपन्नत्व, अन्यथानुपपत्ति रूप है, वैशेषिकों और बौद्धों के त्रैरूप्य या नैयायिकों के पांचरूप्य रूप नहीं है, क्योंकि त्रैरूप्य और पांचरूप्य दोनों मैत्री तनय जैसे असद् हेतुओं में भी पाये जाने से व्यभिचारी हैं और कृत्तिकोदय आदि सद् हेतुओं में न रहने से अव्यापक हैं। अतः अविनाभाव या अन्यथानुपन्नत्व रूप ही व्याप्ति है और उसका निश्चायक तर्क प्रमाण है।[1]

५. अनुमान- निश्चित साध्याविनाभावी साधन से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है।[2] जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान करना।

अनुमान के अङ्गः -साध्य और साधन

इस अनुमान के मुख्य घटक (अङ्ग) दो हैं- १. साध्य और २. साधन। साध्य तो वह है, जिसे सिद्ध किया जाता है और वह वही होता है जो शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (वादी द्वारा इष्ट) और असिद्ध (प्रतिवादी के लिए अमान्य) होता है तथा इससे जो विपरीत (बाधित, अनिष्ट और सिद्ध) होता है वह साध्याभास है, क्योंकि वह साधन द्वारा विषय (निश्चय) नहीं किया जाता। अकलंकदेव ने साध्य और साध्याभास का लक्षण करते हुए यही लिखा है-

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि, साधनाविषयत्वतः।। न्यायविनिश्चय २-१७२

साधन वह है जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है- साध्य के होने पर ही होता है, उसके अभाव में नहीं होता। ऐसा साधन ही साध्य का गमक (अनुमापक) होता है। साधन को हेतु और लिङ्ग भी कहा जाता है। माणिक्यनन्दि साधन का लक्षण करते हुए कहते हैं-

---

१. विद्यानन्द, प्रमाण परीक्षा, पृ. ४४, ४५; वीर सेवा. ट्र., वाराणसी
२. विद्यानन्द, प्रमाण परीक्षा, पृ. ४५, ४६, ४७, ४८, ४६; वीर सेवा. ट्र., वाराणसी

'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।' -परीक्षामुखसूत्र ३-१५

साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है वह हेतु है।

इसी प्रकार वादिराज भी प्रतिपादन करते हैं-

'साधनं साध्याविनाभावनियमनिर्णयैकलक्षणं लिंगम्।'

साध्य के साथ आविनाभाव नियम का निर्णय ही जिसका एकमात्र लक्षण है वह लिंग अर्थात् साधन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनन्याय में अविनाभाव के निश्चय से युक्त साधन है। त्रैरूप्य (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति) तथा पांचरूप्य (उपर्युक्त तीन और अबाधित विषयत्व एवं असत्प्रतिपक्षत्व) से युक्त साधन नहीं है। कारण कि 'वह श्याम है, क्योंकि मैत्री का पुत्र है, अन्य पुत्रों की तरह' इस अनुमानाभास में प्रयुक्त 'मैत्री का पुत्र' साधन में त्रैरूप्य और पांचरूप्य दोनों हैं, पर वह व्यभिचारी ही होने से साध्य का गमक नहीं है। इसी से कहा गया है-

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।
अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्।। -प्रमाण परीक्षा पृ. ४६

स्मरण रहे कि अन्यथानुपपन्नत्व और अन्यथानुपपत्ति ये दोनों अविनाभाव रूप व्याप्ति के ही पर्याय नाम हैं।

अविनाभाव-भेद

अविनाभाव दो प्रकार का है[1] -१. सहभाव नियम और क्रमभाव नियम। जो सहचारी और व्याप्य-व्यापक होते हैं उनमें सहभाव नियम अविनाभाव रहता है। जैसे रूप और रस दोनों सहचारी हैं- रूप के साथ रस और रस के साथ रूप नियम से रहता है। अतः दोनों सहचारी हैं और इसलिए उनमें सहभाव नियम अविनाभाव है तथा शिंशपात्व और वृक्षत्व इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव है। शिंशपात्व व्याप्य है और वृक्षत्व व्यापक है। शिंशपात्व होने पर वृक्षत्व अवश्य होता है। किन्तु वृक्षत्व के होने पर शिंशपात्व के होने का नियम नहीं है। अतएव सहचारियों और व्याप्य-व्यापक में सहभाव नियम अविनाभाव होता है, जिससे रूप से रस का और शिंशपात्व से वृक्षत्व का अनुमान किया जाता है।

---

१. माणिक्यनन्दि, प.मु. ३-१६, १७, १८

जो पूर्वोत्तरचारी और कार्य-कारण होते हैं उनमें क्रमभावनियम अविनाभाव होता है। जैसे कृत्तिका का उदय और शकट का उदय कृत्तिका का उदय पूर्वचर है और शकट का उदय उत्तरचर। दोनों में क्रमभावनियम अविनाभाव है। इसी से कृत्तिका के उदय से शकटोदय का अनुमान होता है। धूम और अग्नि में कार्य-कारणभाव है। धूम कार्य है और अग्नि कारण। इनमें भी क्रमभावनियम अविनाभाव है। अतः धूम से अग्नि का अनुमान होता है।

हेतु-भेद

इन दोनों प्रकार के अविनाभाव से विशिष्ट हेतु के भेदों का कथन जैन न्यायशास्त्र में विस्तार से किया गया है, जिसे हमने 'जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार' ग्रन्थ में विशदतया दिया है। अतः उस सबकी पुनरावृत्ति न करके मात्र माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख' के अनुसार उनका दिग्दर्शन किया जाता है।[1]

माणिक्यनन्दि ने अकलंकदेव की तरह आरम्भ में हेतु के मूल दो भेद बतलाये हैं– १. उपलब्धि और २. अनुपलब्धि। तथा इन दोनों को विधि और प्रतिषेध उभय का साधक कहा है और इस तरह दोनों के उन्होंने दो-दो भेद कहे हैं। उपलब्धि के– १. अविरुद्धोपलब्धि और २. विरुद्धोपलब्धि तथा अनुपलब्धि के– १. अविरुद्धानुपलब्धि और २. विरुद्धानुपलब्धि इनके प्रत्येक के भेद इस प्रकार प्रतिपादित किये हैं– अविरुद्धोपलब्धि छह– १. व्याप्य, २. कार्य, ३. कारण, ४. पूर्वचर, ५. उत्तरचर और ६. सहचर।

विरुद्धोपलब्धि के भी अविरुद्धोपलब्धि की तरह छह भेद हैं– १. विरुद्ध व्याप्य, २. विरुद्ध कार्य, ३. विरुद्ध कारण, ४. विरुद्ध पूर्वचर, ५. विरुद्ध उत्तरचर और ६. विरुद्ध-सहचर। अविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेध रूप साध्य को सिद्ध करने की अपेक्षा ७ प्रकार की कही है–१. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, २. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि, ३. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, ४. अविरुद्धकारणानुपलब्धि, ५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, ६. अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि और ७. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि। विरुद्धानुपलब्धि विधि रूप साध्य को सिद्ध करने में तीन प्रकार की कही गयी है– १. विरुद्धकार्यानुपलब्धि, २. विरुद्धकारणानुपलब्धि और ३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि।

इस तरह माणिक्यनन्दि ने ६ + ६ + ७ = २२ हेतुभेदों का सोदाहरण निरूपण किया है, परम्परा हेतुओं की भी उन्होंने संभावना करके उन्हें यथायोग्य उक्त हेतुओं में ही अन्तर्भाव करने का इंगित किया है। साथ ही उन्होंने अपने पूर्वज अकलंक की भांति कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर-इन नये हेतुओं को पृथक् मानने की आवश्यकता को भी सयुक्तिक बतलाया है।

---

१. माणिक्यनन्दि, प.मु. ३-५७ ५८, ५६, ६५ से ७६ तक

आचार्य प्रभाचन्द ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में और लघुअनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला में उनका समर्थन एवं विशद व्याख्यान किया है। अन्य जैन तार्किकों[1] द्वारा किया गया हेतुभेदों का विवेचन हमने छोड़ दिया है। पाठक उन्हें 'जैन तर्क शास्त्र में अनुमान-विचार' नामक मेरे ग्रन्थ से अवगत करें।

अनुमान के अवयव

अनुमान के सर्वाङ्गीण विचार के हेतु उसके अवयवों का कथन भी आवश्यक है। किन्तु हम उनका विस्तार न कर संक्षेप में प्रतिपादन करेंगे।

गृद्धपिच्छ ने[2] सर्वप्रथम 'अभिनिबोध' शब्द के द्वारा अनुमान का ग्रहण किया और उसके तीन अवयवों की सूचना है। वे हैं– १. प्रतिज्ञा, २. हेतु और ३. दृष्टान्त। उन्होंने इन तीन के द्वारा मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन की सिद्धि की है। समन्तभद्र ने भी इन्हीं तीन अवयवों से आप्तमीमांसा (का. ६, १७, १८, २७ आदि) में सर्वज्ञ और अनेकान्त सिद्धि की है। सिद्धसेन ने[3] भी इन तीन अवयवों का ही प्रतिपादन किया है। पर अकलंक[4] और उनके अनुवर्ती विद्यानन्द,[5] माणिक्यनन्दि,[6] देवसूरि,[7] हेमचन्द्र,[8] धर्मभूषण,[9] यशोविजय आदि ने पक्ष (प्रतिज्ञा) और हेतु-ये दो ही अवयव स्वीकार किये और दृष्टान्तादि अन्य अवयवों को अनावश्यक बतलाया है।

स्मरण रहे कि दो अवयवों का प्रयोग व्युत्पन्न प्रतिपाद्य की दृष्टि से अभिहित है। किन्तु अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यों की अपेक्षा से तो दृष्टान्तादि अन्य अवयवों का भी प्रयोग स्वीकृत है। देवसूरि, हेमचन्द और यशोविजय ने भद्रबाहु कथित पाँच शुद्धियों को[10] भी अनुमान-वाक्य में समावेश किया है और पंचावयवों सहित दशावयवों का समर्थन किया है। कुमारनन्दि ने[11] तो प्रतिपाद्यों के अनुसार अवयवों के प्रयोग का निर्देश किया है।

---

१. विद्यानन्द (प्रमाण परीक्षा), प्रभाचन्द्र (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड) आदि
२. त.सू. १०-५, ६, ७
३. न्यायावतार, का. १३ तथा १४, १७, १८, १९
४. न्याय वि.का. ३८१, अकलंकग्रन्थत्रय
५. प्र.प., पृ. ४७, वी.ट्र., वाराणसी संस्करण, १९७७। प.परी. पृ. ५
६. परी.मु. ३-३७
७. प्र.न.त. ३-२८
८. प्र.मी. २/१/९, पृ. ५२
९. न्या.दी., पृ. ७२, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा संस्करण, १९४५
१०. भद्रबाहु, दशवै.नियु.गा. ४७, ५०
११. पत्र परीक्षा, पृ. ५, वीर से.मं.ट्र., वाराणसी संस्करण

अनुमान दोष-विमर्श

अब देखना है कि अनुमान से क्या दोष हो सकते हैं और वे कितने संभव हैं ? स्पष्ट है कि अनुमान का गहन मुख्यतया दो अङ्गों पर निर्भर है–१. साधन और २. साध्य (पक्ष)। अतएव दोष भी साधनगत और साध्यगत दो ही प्रकार के हो सकते है और उन्हें क्रमशः साधनाभास और साध्याभास (पक्षाभास) नाम दिया जा सकता है। साधन अनुमान-प्रासाद का वह प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है, जिस पर उसका भव्य भवन निर्मित होता है। यदि प्रधान स्तम्भ निर्बल हो तो प्रासाद किसी क्षण क्षतिग्रस्त एवं धराशायी हो सकता है। संभवतः इसी से गौतम अक्षपाद ने साध्यगत दोषों का विचार न कर मात्र साधनगत दोषों का विचार किया है और उन्हें अवयवों की तरह सोलह पदार्थों के अन्तर्गत हेत्वाभास नाम से स्वतंत्र पदार्थ का प्रदान किया है। इससे गौतम की दृष्टि में उनकी अनुमान में प्रमुख प्रतिबन्धकता प्रकट होती है। उन्होंने[1] उन साधनगत दोषों को, जिन्हें हेत्वाभास के नाम से उल्लिखित किया गया है, पाँच बतलाया है। वे हैं– १. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। हेत्वाभासों की पाँच संख्या संभवतः हेतु के पाँच रूपों के अभाव पर आधारित जान पड़ती है। यद्यपि हेतु के पाँच रूपों का निर्देश गौतम के न्यायसूत्र में उपलब्ध नहीं है। पर उसके व्याख्याकार उद्योतकर प्रभृति ने उनका उल्लेख किया है।[2]

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक कणाद ने[3] अप्रसिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध- ये तीन हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उनके भाष्यकार प्रशस्तपाद ने[4] काश्यप (कणाद) की दो कारिकाएँ उद्धृत करके पहली द्वारा हेतु के तीन रूपों तथा दूसरी द्वारा उनके अभाव से उक्त तीन हेत्वाभासों का कथन किया है। प्रशस्तपाद ने[5] बारह निदर्शनों और उतने ही निदर्शनाभासों के निरूपण के साथ पाँच प्रतिज्ञाभासों (पक्षाभासों) का भी प्रतिपादन किया है।[6]

बौद्धदर्शन के न्याय प्रवेश में[7] अनुमान दोषों पर विचार करते हुए पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास इन तीन प्रकार के अनुमान दोषों का कथन है। इनका विस्तार भी उसमें प्राप्त है।[8]

---

१. न्याय सू. १/२१४
२. न्यायवा. १/२/४, पृ. १६३ तथा न्यायकलिका. पृ. १४, न्या.मं. पृ. १०१
३. वैशे.सू. ३/१/१५
४. प्रशस्त.भा. पृ. १००
५. प्रशस्त.भा. पृ. १२२, १२३
६. वही, पृ. ११५
७. न्यायप्र. पृ. २-७
८. वही, पृ. २ से ७

जैन परम्परा में भी अनुमान दोषों पर चिन्तन किया गया है। न्यायावतार में पक्षादि तीन के वचन को परार्थानुमान कहकर उसके दोष भी तीन बतलायें हैं-[1] १. पक्षाभास, २. हेत्वाभास और ३. दृष्टान्ताभास। पक्षाभास के सिद्ध और बाधित ये दो भेद दिखाकर बाधित के प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधि, लोकबाधित और स्ववचनबाधित- ये चार भेद गिनाये हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन हेत्वाभासों तथा छह साधर्म्य और छह वैधर्म्य कुल बारह दृष्टान्ताभासों का भी कथन किया है।

ध्यातव्य है कि साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल- ये तीन साधर्म्य दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यात्त- ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास तो प्रशस्तपादभाष्य और न्यायप्रवेश जैसे ही हैं। किन्तु सन्दिग्ध-साध्य, सन्दिग्ध-साधन और सन्दिग्धोभय- ये तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति- ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास बिल्कुल नये हैं- न प्रशस्तपादभाष्य में हैं और न न्यायप्रवेश में।

प्रशस्तपादभाष्य में आश्रयासिद्ध, अननुगत और विपरीतानुगत ये तीन साधर्म्य तथा आश्रयसिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यनिदर्शनाभास वर्णित हैं और न्यायप्रवेश में अनन्वय तथा विपरीतान्वय- ये दो साधर्म्य और अव्यतिरेक तथा विपरीत व्यतिरेक ये दो वैधर्म्य दृष्टान्ताभास उपलब्ध हैं। पर हाँ, धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में उनका प्रतिपादन मिलता है। धर्मकीर्ति ने सन्दिग्धसाध्यादि उक्त तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभासों और सन्दिग्धव्यतिरेकादि तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासों का स्पष्ट निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्ति ने न्याय प्रवेशगत अनन्वय, विपरीतान्वय, अव्यतिरेक और विपरीत व्यतिरेक इन चार (२+२ = ४) साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों को अपनाते हुए अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक- इन दो नये दृष्टान्ताभासों को और सम्मिलित करके नव-नव साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास प्रतिपादित किये हैं।

अकलंक ने[2] पक्षाभास के उक्त सिद्ध और बाधित दो भेदों के अतिरिक्त अनिष्ट नामक तीसरा पक्षाभास भी वर्णित किया है। वस्तुतः जब साध्य शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध होता है तो उसके दोष (साध्याभास) भी बाधित, अनिष्ट और सिद्ध तीन प्रकार के होना चाहिए। हेत्वाभासों के सम्बन्ध में उनका मत है[3] कि जैनन्याय में हेतु न त्रिरूप है और न पाँच रूप, किन्तु एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) रूप है। अतः

१. न्यायवतार, कारि. १३, २१, २५
२. न्यायविनि.का. १७२, २६६, ३६५, ३६६, ३७०, ३८१
३. न्यायवि.का. १-१०१, १०२; २-१९७; २-२०२। प्रमाणसं. ४८, ४९

उसके अभाव में हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि उसी के विस्तार हैं। दृष्टान्त के विषय में उनका कहना है[१] कि वह सर्वत्र (सभी अनुमान प्रयोगों में) आवश्यक नहीं है– 'शकट का एक मुहूर्त बाद उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय हो रहा है', 'कल मंगल होगा, क्योंकि आज सोमवार है', 'सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, क्योंकि वे परिणामी हैं', अथवा 'सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, क्योंकि वे सत् हैं' आदि अनुमान प्रयोगों में कोई दृष्टान्त नहीं है, फिर भी वे साध्य-साधक हैं। अकलंक यह भी कहते हैं कि यदि वह अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यों की अपेक्षा आवश्यक हो तो उसे कहा जाये और उसमें यदि साध्य विकलादि दोष हो तो उन्हें भी कहना चाहिए।[२]

माणिक्यनन्दि, देवसूरि, हेमचन्द्र आदि जैन तार्किकों ने प्रायः अकलंक और सिद्धसेन (न्यायावतारकार) का ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन न्यायशास्त्र में अनुमान का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। अन्य प्रमाणों की अपेक्षा इसका परिवार भी बृहद् है, यह भी हमें ज्ञात हो जाता है।

५. आगम (श्रुत)– शब्द, संकेत, चेष्टा आदि पूर्वक जो ज्ञान होता है वह आगम है। जैसे– 'मेरु आदिक हैं' शब्दों को सुनने के बाद सुमेरु पर्वत आदि का बोध होता है।[३] शब्द श्रवणादि मतिज्ञान पूर्वक होने से यह ज्ञान (आगम) भी परोक्ष प्रमाण है।

इस तरह से स्मृत्यादि पाँचों ज्ञान ज्ञानान्तरापेक्ष हैं। स्मरण में धारणा रूप अनुभव (मति), प्रत्यभिज्ञान में अनुभव तथा स्मरण, तर्क में अनुभव, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान, अनुमान में लिंगदर्शन, व्याप्ति स्मरण और आगम में शब्द, संकेतादि अपेक्षित हैं– उनके बिना उनकी उत्पत्ति संभव नहीं है। अतएव ये और इस जाति के अन्य सापेक्ष ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण-विमर्श

अब हम प्रमाण के दूसरे भेद प्रत्यक्ष का निरूपण करेंगे-

आगम दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके व्याख्याकारों ने प्रत्यक्ष उसे कहा है[४] जो आत्मा मात्र की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होता है तथा इन्द्रियों, मन तथा उपदेश, आलोकादि की अपेक्षा नहीं करता। किन्तु लोक में इन्द्रियों तथा मन से होने वाले ज्ञानों को क्रमशः

---

१. वही, २-२११

२. वादिराज द्वारा विवृत अभिप्राय; न्यायवि.वि. १/२११

३. परी.मु. ३-९९, १००, १०१

४. त.सू. १-१२, सर्वा.सि. १-१२। (व्याख्या)। प्र.प. पृ. ३८, अनु. ६०

इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय (मानस) प्रत्यक्ष माना गया है। इस लोक-मान्यता के साथ जैन दर्शन की उक्त मान्यता का सुमेल बिठाने के लिए अकलंकदेव ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'विशद ज्ञान' कहा है और उसके **दो भेद** बतलाये–[१] १. **मुख्य प्रत्यक्ष** और २. **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष**। मुख्य प्रत्यक्ष तो वही है, जो मात्र आत्मा की अपेक्षा से होता है और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियों और मन की सहायता से उत्पन्न होता है। ये दोनों प्रत्यक्ष विषयाधिगम में विशद (निर्मल) होते हैं। अन्तर इनमें यही है कि मुख्य प्रत्यक्ष पूर्णतया विशद होता है और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष एकदेश (अंश रूप में) निर्मल होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के मूलतः चार भेद हैं–[२] १. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा। किसी पदार्थ को देखने के बाद जो उसका सामान्य ग्रहण होता है वह **अवग्रह** है। उदाहरण के लिए पूरा दृश्यमान पदार्थ को देखते ही ऐसा जानना कि 'यह मनुष्य है'। उसे विशेष जानने की आकांक्षा करना **ईहा** है। जैसे उस मनुष्य के कुछ समीप आने पर ऐसा ज्ञान होना कि 'इसे दाक्षिणात्य होना चाहिए।' यद्यपि ईहा इच्छा है किन्तु उसमें ज्ञान मिला हुआ रहता है और वह मिलित ज्ञान **ईहा ज्ञान** है। उस पदार्थ का निश्चय होना **अवाय** है। जैसे उसके वेष-भूषा, भाषा आदि से यह निश्चय होना कि 'यह मनुष्य दाक्षिणात्य ही है।' उस निश्चित पदार्थ के अविस्मरण में जो कारण है वह **धारणा** है। इस ज्ञान को **संस्कार** भी कहते हैं। यह ज्ञान इतना मजबूत होता है कि कालान्तर में भी उसकी स्मृति हो जाती है। जैसे कालान्तर में भी उस दाक्षिणात्य मनुष्य जिसके कारण स्मरण आता है।

ये चारों ज्ञान इन्द्रियों और मनपूर्वक होते हैं तथा बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव-इन बारह प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करते हैं। अतः ४ x १२ = ४८ x ५ = २४०; १ x १२ = १२ x ४ = ४८; १ x ४ x १२ = ४८ = ३३६ इसके भेद हैं।

तात्पर्य यह कि अवग्रह आदि चारों ज्ञान बहु आदि बारह प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करने से उनका उनसे गुणा करने पर अड़तालीस होते हैं और ये अड़तालीस ज्ञान स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों से होते हैं, अतः अड़तालीस पाँच से गुणा किये जाने पर दो सौ चालीस भेद हो जाते हैं। अतः **अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का है**– १. **अर्थावग्रह** और २. **व्यंजनावग्रह**। ये उपर्युक्त भेद अर्थावग्रह की अपेक्षाये हैं। व्यंजनावग्रह बहु आदि बारह पदार्थों को विषय करता है और वह प्राप्यकारी स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों से ही होता है, अप्राप्यकारी चक्षु और मन से नहीं होता। अतः इसके एक से बारह और बारह का चार से गुणा करने पर अड़तालीस भेद होते हैं।

---

१. लघीयस्त्व, १-३। परीक्षा मुख २-११

२. विद्यानन्द, प्रमाण परीक्षा पृ. ३८, ३६, ४०

इस प्रकार इन्द्रियों की अपेक्षा से दो सौ चालीस और अड़तालीस दोनों का जोड़ करने पर दो सौ अठासी भेद इन्द्रिय प्रत्यक्ष के है तथा केवल मन से उत्पन्न होने वाले अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के- अवग्रह आदि का वह आदि से गुणा करने पर (४ x १२ = ४८) अड़तालीस भेद है। इस तरह सांव्यवहारिक (इन्द्रिय और अनिन्द्रिय) प्रत्यक्ष के कुल तीन सौ छत्तीस (३३६) भेद वर्णित हैं। इन भेदों में जैन तार्किकों का गहरा चिन्तन दृष्टिगोचर होता है।

मुख्य प्रत्यक्ष दूसरा प्रत्यक्ष है।[1] इसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। इस प्रत्यक्ष में अंशमात्र भी परावलम्बन (इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा) नहीं है। मात्र आत्मा की अपेक्षा है। इसी से इसे मुख्य अथवा पारमार्थिक या अतीन्द्रिय कहा गया है।

इसके दो भेद हैं- १. विकल-मुख्यप्रत्यक्ष और २. सकल-मुख्यप्रत्यक्ष। जो केवल मूर्त (पुद्गल और शरीरादि पुद्गल से सम्बद्ध जीव) मात्र को विषय करता है, अमूर्त (शुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य) को नहीं वह **विकल मुख्य प्रत्यक्ष** है तथा जो मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है वह **सकल मुख्य प्रत्यक्ष** है। यह पूर्ण निरावरण होता है। विषय को जानने में ये विकल और सकल दोनों प्रत्यक्ष पूर्ण विशद होते हैं। इसी से इन दोनों को मुख्य प्रत्यक्ष कहा गया है। उनमें जो भेद है वह सकल (मूर्त-अमूर्त) और विकल (मात्र मूर्त) को विषय करने से है। विशदता दोनों में एक सी है।

विकल मुख्य प्रत्यक्ष दो प्रकार का है–१. अवधि और २. मनःपर्यय। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर इन्द्रिय और मन की सहायता लिए बिना मात्र रूपी (मूर्त) द्रव्य को विषय करता है वह **अवधिज्ञान** है। **इसके तीन भेद हैं**–१. देशावधि, २. परमावधि और ३. सर्वावधि। देशावधि चारों (मनुष्य, पशु, देव और नारक) जातियों में हो सकता है। परन्तु शेष दोनों अवधि संयमी-योगी को ही प्राप्त होते हैं। अन्य प्रकार से भी इसके भेदों को निरूपण किया गया है। वे हैं–१. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय। जिसमें मुख्यतया भव-पर्याय ही निमित्त हो वह **भवप्रत्यय** है। यह देवों और नारकियों को उस भव ही प्राप्त हो जाता है। इसीलिए इसे भवप्रत्यय कहा गया है। उसकी प्राप्ति के लिए उन्हें कोई तपश्चरण, संयम, त्याग आदि नहीं करना पड़ता। दूसरा अवधि **गुणप्रत्यय** है, जो मुख्यतया क्षयोपशम (गुणविशेष) से उत्पन्न होता है। इससे इसे 'क्षयोपशमनिमित्त' संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।

ध्यातव्य है कि यह अवधिज्ञान क्षयोपशम अवधिज्ञानावरण के ईषद् अभाव में प्रकट होता है। इस **अवधिज्ञान** के छह भेद हैं–१. अनुगामी, २. अननुगामी, ३. वर्द्धमान, ४. हीयमान, ५. अवस्थित और ६. अनवस्थित। जो अवधिज्ञान उसके स्वामी के अन्य क्षेत्र या अन्य भव में जाने पर उसके साथ जाता है वह **अनुगामी** है जो अपने स्वामी के साथ

---

१. प्रमाण परीक्षा, पृ. ४०, ४१

अन्य क्षेत्र या अन्य भव में नहीं जाता–उसी क्षेत्र में या उसी भव में छूट जाता है वह **अननुगामी** है। जो उत्पन्न होने के बाद परिणामों की विशुद्धि से बढ़ता रहता है वह **वर्द्धमान** है, जो उत्पन्न होने के पश्चात् परिणामों के संक्लेश से घटता जाता है वह **हीयमान** है। जो एक-सा रहे– न बढ़े-न घटे वह **अवस्थित** है और जो घटे-बढ़े वह **अनवस्थित** है। सप्रतिपात और अप्रतिपात के भेद से दो प्रकार का भी अवधिज्ञान कहा गया है। छूट जाने वाला सप्रतिपात और नहीं छूटने वाला **अप्रतिपात** अवधिज्ञान है।

मनःपर्यय वह ज्ञान है, जिससे ऋषि-योगी दूसरे के मन में चिन्तित, अर्धचिन्तित अथवा अचिन्तित अर्थ को जानता है। **इसके दो भेद हैं**– १. ऋजुमति और २. विपुलमति। जो व्यक्ति के सरल मन में चिन्तित पदार्थ को जानता है वह **ऋजुमति मनःपर्यय** है और जो व्यक्ति के सरल एवं वक्र (कुटिल) मन में चिन्तित, अर्धचिन्तित या अचिन्तित पदार्थ को ज्ञात कर लेता है वह **विपुलमति मनःपर्यय** है। उपर्युक्त परमावधि, सर्वावधि और यह मनः पर्यय तीनों ज्ञान ऋद्धि विशेष हैं, जो योगियों को उनके कठोर संयम एवं दुर्धर तपश्चरण और ध्यान से प्राप्त होते हैं।

मुख्यप्रत्यक्ष का द्वितीय भेद सकल प्रत्यक्ष है। वह ऐसा अद्वितीय ज्ञान है, जिसके साथ अन्य कोई ज्ञान नहीं रहता और जो सादि-अनन्त है। यह समस्त पदार्थों, द्रव्यों और उनकी भूत-भविष्यद्-वर्तमान (त्रैकालिक) अनन्त पर्यायों को जानता है। इस ज्ञान का कोई भी विषय अज्ञेय नहीं रहता। यह[1] समस्त घाति कर्मों (ज्ञान के अवरोधक ज्ञानावरण, दर्शन के निरोधक दर्शनावरण, अनन्त सुखरोधक मोहनीय और अनन्तवीर्य के अवरोधक अन्तराय-इन चार कर्मावरणों) के अशेष क्षय से आत्मा में प्रकट होता है। इसका एक ही भेद है। वह है अचिन्त्य-महिमाशाली **केवलज्ञान**। इसके होने पर आत्मा **सकल परमात्मा** और सकलज्ञ (आप्त सर्वज्ञ) हो जाता है। शरीर से मुक्त आत्मा निकल परमात्मा (सिद्ध) कहा जाता है।

इस प्रकार जैन तार्किकों ने परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों अतिसूक्ष्म और विस्तृत कथन किया है। अब **न्याय का द्वितीय अङ्ग नय** का संक्षेप में निरूपण किया जाता है-

२. नय-विमर्श

नय-स्वरूप– अभिनव धर्मभूषण ने[2] न्याय का लक्षण करते हुए कहा है कि **'प्रमाण-नयात्मको न्यायः'**–प्रमाण और नय न्याय हैं, क्योंकि इन दोनों के द्वारा पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होता है। अपने इस कथन को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने आचार्य

१. प्रमाण परीक्षा, पृ. ४१
२. न्यायदीपिका, पृ. ५, संपादन डॉ. दरबारीलाल कोठिया, १९४५

गृध्रपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र के, जिसे **'महाशास्त्र'** कहा जाता है, उस सूत्र को प्रस्तुत किया है, जिसमें प्रमाण और मय को जीवादि तत्त्वार्थों को जानने का उपाय बताया गया है और वह है– **'प्रमाणनयैरधिगमः'** –(त.सू. १-६)। वस्तुतः जैन न्याय का भव्य प्रासाद इसी महत्त्वपूर्ण सूत्र के आधार पर निर्मित हुआ है। प्रमाण का विवेचन किया जा चुका है। सम्प्रति नय विवेच्य है।

प्रमाण के द्वारा गृहीत पदार्थ के अंशों को जो ग्रहण करता है वह नय है। यों प्रमाण और नय दोनों सम्यग्ज्ञान हैं। उनमें अन्तर यही है कि प्रमाण जहाँ वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है वहाँ नय उसे सखण्ड–एक-एक खण्ड (अंश) के रूप में ग्रहण करता है। वस्तु अनेकान्त रूप–द्रव्य पर्यायात्मक, सामान्य विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, एक नेकात्मक, सदसदात्मक, नित्यानित्यात्मक आदि है। उसका जो अन्वयी– समस्त पर्यायों, विशेषों आदि में व्याप्त होकर रहने वाला–रूप है वह द्रव्य, सामान्य, अभेद, एक, सत्, नित्य है और उसको जो व्यतिरेकी–आने-जाने वाला–रूप है वह पर्याय, विशेष, भेद, अनेक, असत् (व्यावृत्ति), अनित्य है। ज्ञाता या वक्ता की दृष्टि (अभिप्राय) जब द्रव्य, सामान्य, अभेद, एक, सत्, नित्य को जानने या कहने की होती है तब वह दृष्टि द्रव्यार्थिक नय **(द्रव्यमेवार्थो विषये यस्यास्ति स द्रव्यार्थिक इति)** है।[1] और जब उनकी दृष्टि पर्याय, विशेष, भेद, अनेक, असत्, अनित्य को जानने या कहने की रहती है तब वह दृष्टि पर्यायार्थिक नय **(पर्याय एवार्थो प्रयोजनं यस्यास्त्यसौ पर्यायार्थिक इति)**[1] कही जाती है।

नय-भेद–उपर्युक्त प्रकार से मूल नय दो हैं–[2] १. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। इनमें द्रव्यार्थिक तीन प्रकार का है–[3] १. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार। तथा पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं–[4] १. ऋजुसूत्र, २. शब्द, ३. समभिरूढ़ और ४. एवम्भूत।

१. नैगम नय-जो धर्म और धर्मी में एक को प्रधान और एक को गौण करके प्ररूपण करता है वह नैगम नय है। जैसे जीव का गुण सुख है, ऐसा कहना। इसमें 'सुख' धर्म की प्रधानता और 'जीव' धर्मी की गौणता है अथवा यह सुखी जीव है, ऐसा कहना। इसमें 'जीव' धर्मी की प्रधानता है, क्योंकि वह विशेष्य है और 'सुख' धर्म गौण है, क्योंकि वह विशेषण है। इस नय का अन्य प्रकार से भी लक्षण किया गया है। जो भावी कार्य के संकल्प को बतलाता है वह नैगम नय है। जैसे कोई रोटी बनाने की सामग्री तैयार कर रहा या जुटा रहा था। किसी ने उससे पूछा कि क्या कर रहे हो ? उसने उत्तर दिया कि 'रोटी बना

१. प्रमेयर. ६/७४/, टि. ६ ३. वही, टि. ७
२. प्रमेयरत्नमाला ६/७४, पृ. २०६, सं. १६२८
३. वही, ६/७४
४. वही, पृ. २०७।

रहा हूँ।' तो उस समय वह रोटी तो नहीं बना रहा है, किन्तु संकल्प है। इस प्रकार संकल्पग्राही वह नय नैगम नय है। यदि यह नय धर्मी या एक धर्ममात्र का ग्रहण करता है तो अविनाभावी अन्य धर्मों या धर्मी का लोप हो जाने से नैगमाभास है।

२. संग्रह नय-जो प्रतिपक्ष की अपेक्षा के साथ 'सन्मात्र' को ग्रहण करता है वह संग्रह नय है। जैसे 'सत्' कहने पर चेतन, अचेतन सभी पदार्थों का संग्रह हो जाता है, किन्तु सर्वथा 'सत्' कहने पर 'चेतन, अचेतन' विशेषों का निषेध होने से वह संग्रहाभास है। विधिवाद इस कोटि में समाविष्ट होता है।

३. व्यवहार नय-संग्रहनय से ग्रहण किये 'सत्' में जो नय विधिपूर्वक यथायोग्य भेद करता है वह व्यवहारनय है। जैसे संग्रहनय से गृहीत 'सत्' द्रव्य है या पर्याय है या गुण है। पर मात्र कल्पना से जो भेद करता है वह व्यवहारनयाभास है।

४. ऋजुसूत्र नय-भूत और भविष्यत् पर्यायों को गौण कर केवल वर्तमान पर्याय को जो नय ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्रनय है। जैसे प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिणमनशील है। वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानना ऋजुसूत्राभास है, क्योंकि इसमें वस्तु में होने वाली भूत और भविष्यत् की पर्यायों तथा उनके आधारभूत अन्वयी द्रव्य का लोप हो जाता है।

५. शब्द नय-जो काल, कारक और लिङ्ग के भेद से शब्द में कथं चित् अर्थभेद को बतलाता है वह शब्दनय है। जैसे 'नक्तं निशा' दोनों पर्यायवाची हैं, किन्तु दोनों में लिंग भेद होने के कथं चित् अर्थभेद है। 'नक्तं' शब्द नंपुसक लिंग है और 'निशा' शब्द स्त्रीलिंग है। **'शब्दभेदात् ध्रुवोऽर्थभेदः'** यह नय कहता है। अर्थभेद को कथं चित् माने बिना शब्दों को सर्वथा नाना बतलाकर अर्थ भेद करना शब्दनयाभास है।

६. समभिरूढ़ नय-जो पर्याय भेद पदार्थ का कथंचित् भेद निरूपित करता है वह समभिरुढ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्द पर्याय शब्द होने से उनके अर्थ में कथं चित् भेद बताना। पर्याय भेद माने बिना उनका स्वतंत्र रूप से कथन करना समभिरूढ नयाभास है।[1]

७. एवंभूत नय-जो क्रिया भेद से वस्तु के भेद का कथन करता है वह एवंभूत नय है। जैसे पढ़ाते समय ही पाठक या अध्यापक अथवा पूजा करते समय ही पुजारी कहना। यह नय क्रिया पर निर्भर है। इसका विषय बहुत सूक्ष्म है। क्रिया की अपेक्षा न कर क्रिया वाचक शब्दों का काल्पनिक व्यवहार करना एवंभूतनयाभास है।

ये नय आरम्भ से लेकर अन्तिम तक सूक्ष्म-सूक्ष्म विषय ग्राहक हैं और अन्तिम से लेकर प्रथम तक स्थूल-स्थूल विषय-ग्राही हैं। इन नयों के भी भेदों निरूपण जैनदर्शन ग्रन्थों में उपलब्ध है। अनेक लेखकों ने तो स्वतंत्र रूप से नयचक्र, द्वादशारनयचक्र, आलाप-पद्धति आदि नामों से 'नय' विषय पर रचनाएँ लिखी हैं।

---

१. 'तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम् श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। –सर्वार्थसिद्धि १-६, भा.ज्ञा. संस्करण

एक दूसरी तरह से नयों का प्रतिपादन पाया जाता है। वह है-**निश्चय और व्यवहार**। इन दोनों नयों से मुख्यतया अध्यात्म का विवेचन किया जाता है। सद्भूत अवस्था अथवा असंयुक्त अवस्था का प्रतिपादक जो नय है वह निश्चय नय कहा जाता है और जो असद्भूत अथवा संयुक्त (उपचार) का निरूपण करने वाला नय है वह व्यवहार नय है। इन्हें क्रमशः परमार्थ और अपरमार्थ भी कहते हैं।

नय प्रमाण है या अप्रमाण?

यहाँ नय के विषय में एक प्रश्न उठता है कि नय प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि प्रमाण है, तो उसे प्रमाण से पृथक् कहने की क्या आवश्यकता है ? अन्य दर्शनों की भांति एकमात्र प्रमाण को ही अर्थाधिगमोपाय बताना पर्याप्त है ? यदि अप्रमाण है तो उसकी चर्चा करना नितान्त अनावश्यक है, क्योंकि उससे यथार्थ प्रतिपत्ति होना दुष्कर है ?

इस प्रश्न पर जैन तार्किकों ने गम्भीरता से विचार किया है और कहा है कि वास्तव में नय न प्रमाण है और न अप्रमाण अपितु प्रमाणैकदेश-श्रुतज्ञान है। पूज्यपाद ने कहा है कि 'प्रमाण दो प्रकार का है-१. स्वार्थ और २. परार्थ। मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चार ज्ञान स्वार्थ (स्वप्रतिपत्ति कारक) हैं और श्रुत स्वार्थ तथा परार्थ दोनों है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत परार्थ (परप्रतिपत्ति कारक) है। इसी श्रुत के भेद नय है।' जब ज्ञाता या वक्ता ज्ञान द्वारा या वचनों द्वारा पदार्थ में अंश कल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन नय कहा जाता है और जब पदार्थ में अंश कल्पना किये बिना वह उसे समग्ररूपों ग्रहण करता है, तब उसका वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण और नय में यही भेद है। सापेक्ष अंश-प्रतिपत्ति का एकमात्र साधन नय है।

तात्पर्य यह कि अंशी- वस्तु को प्रमाण मतिज्ञानादि से जानकर अनन्तर किसी एक अंश - धर्म-अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय कहा गया है।

विद्यानन्द[1] १९८ ('प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते।' - न्यायम् पृ.-२५) एक उदाहरण के माध्यम से कहते हैं कि 'जिस प्रकार समुद्र से लाया गया घड़ा भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश (समुद्रांश) है। उसे समुद्र मानने पर शेष सारा पानी असमुद्र कहा जायेगा अथवा समुद्र बहुत्वकी कल्पना करना पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाय, तो शेषांशों को भी असमुद्र कहा जायगा। फलतः समुद्र का व्यवहार समाप्त हो जायेगा। इतना ही नहीं, कोई समुद्र का ज्ञाता या वक्ता भी नहीं रहेगा। अतः समुद्र से लाया हुआ घड़ा भर पानी जैसे समुद्रैक देश है, उसी प्रकार नय न प्रमाण है, न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश है। लोक का समस्त व्यवहार प्रायः उसी पर आधृत है।

---

१. ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।' तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ११८ से १२३

वाद-विद्या

मध्य युग

दार्शनिक एवं तार्किक मध्ययुग काफी लम्बा और संघर्षशील रहा है। ईसवी दूसरी-तीसरी शती से लेकर ग्यारहवीं-बारहवीं शती तक एक हजार वर्ष का काल ऐसा रहा है, जब वैदिक और बौद्धदर्शन शास्त्रार्थ के अखाड़े बन गये थे। दोनों का प्रयत्न था कि वे अपने दर्शन की श्रेष्ठता एवं उपादेयता सिद्ध करें तथा दूसरे दर्शन की हीनता एवं हेयता साबित करें। फलतः स्वस्थ वाद चर्चा के स्थानों छलादि प्रयोग की दूषित चर्चा होने लगी और तत्त्व-संरक्षण के लिए वाद के अलावा जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रह स्थान जैसे असद् उपायों का आलम्बन लिया जाने लगा। इतना ही नहीं, उन्हें सूत्रबद्ध करके शास्त्र का रूप भी दिया गया। न्यायदर्शन में जिन प्रमाण आदि १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस की प्राप्ति का उपाय प्ररूपित किया है, उनमें वितण्डा, छल, जाति, निग्रह स्थान आदि का भी समावेश है।

बौद्धदर्शन में भी वाद-चर्चा को स्वीकार किया गया है और उसका विवेचन करने के लिए बौद्ध तार्किकों ने **'वादन्याय'** जैसे ग्रन्थों की रचना की है। पर वितण्डा, छल, जाति आदि को नहीं माना और न न्यायदर्शन की तरह २२ निग्रह स्थानों का वर्णन किया है। मात्र उनसे भिन्न दो निग्रह स्थानों का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वे हैं–[1] १. असाधनाङ्ग-वचन जो साधन (सिद्ध) के अङ्ग हैं उनका कथन न करना अथवा जो साधन के अङ्ग नहीं हैं उनका कथन करना) तथा २. अदोषोद्भावन (दोषों का उद्भावन न करना अथवा जो दोष नहीं हैं उनका उद्भावन करना) पहला निग्रह-स्थान वादी और दूसरा निग्रह स्थान प्रतिवादी की अपेक्षा से है। इन दो-से ही उन की पराजय हो जाती है।

जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा इतर दर्शनों से भिन्न है। जहाँ ये दर्शन एकान्तवादी हैं वहाँ जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। उस पर प्रायः अन्य सभी दर्शनों के प्रहार हुए हैं। पर जैन दर्शन अहिंसक एवं स्याद्वादी विचारधारा से च्युत नहीं हुआ और संयम के साथ उन प्रहारों का उसने निवारण किया है। महावादी स्वामी समन्तभद्र ने चारों दिशाओं में स्थित नगरों की वादशालाओं में पहुँच कर तथा भेरी वजाकर वादियों के साथ शास्त्रार्थ किये और उनमें विजय प्राप्त की।[2] ६३ वादियों के विजेता और **'जल्पनिर्णय'** वादग्रन्थ के कर्ता श्रीदत्त

---

१. धर्मकीर्ति, वादन्याय, पृ. ६७, ६८ तथा पत्र-परीक्षा, पृ. ११, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, १९७१

२. पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताड़िता, पश्चान्मालवसिन्धु-ठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।। –श्रवणबेलगोल, शिलालेख नं. ५४

ने[1] अनेक शास्त्रार्थ किये। महान्यायवादी अकलङ्कदेव ने भी **'सिद्धिविनिश्चय'** में **'जल्पसिद्धि'** नाम से एक शास्त्रार्थ विषयक पूरा अध्याय लिखा है।[2] कुमारनन्दि भट्टारक ने भी, जिन्हें 'वादन्याय-विचक्षण' कहा गया है[3] धर्म के बाद न्याय की तरह **'वादन्याय'** ग्रन्थ लिखा है।[4] किन्तु वह श्रीदत्त के 'जल्पनिर्णय' की तरह आज उपलब्ध नहीं है। विद्यानन्द की सूक्ष्म एवं गहरी दृष्टि न केवल **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** एवं **अष्टसहस्री** में वादचर्चा के विशद आकलन की ओर गयी, किन्तु स्वतंत्र रूप से **'पत्र-परीक्षा'** के सृजन की ओर भी गयी। वस्तुतः यह युग की मांग थी।

कथा का आरम्भ

मानव को अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए विचार और शब्द का सहारा लेना पड़ता है। जब वह स्वयं कुछ सोचता है तो विचारोन्मुख होता है और जब वह दूसरे को अपना अभिप्राय प्रकट करना चाहता है तो शब्द का उच्चारण करता है। इन्हीं दो से कथा का आविर्भाव हुआ है। कथा का अर्थ है कहानी अथवा चर्चा। कथाकार, जो सुविज्ञ होता है, सुनने के इच्छुक व्यक्तियों (बच्चों आदि) को जब कल्पित अथवा यथार्थ किसी राजा-रानी की जीवनी सुनाता या कहता है, तो उनकी वह जीवनी, कहानी, चर्चा या कथा कही जाती है। ऐसी कथाएँ छोटी और रसीली होती हैं। बच्चे या जनसामान्य उन्हें बड़े चाव से सुनते हैं। जब सुनने वालों की जिज्ञासा और बढ़ती है तो उन्हें लम्बी ज्ञान परक कहानियाँ सुनाई जाती हैं। वे ही कहानियाँ बोध कथाएँ कही जाती हैं, जिनमें प्रश्नोत्तर एवं विषयपरक ज्ञान रहता है। इन कथाओं से बुद्धि का विकास तो होता ही है, निर्णय करने की शक्ति भी प्रकट होती है। हित-अहित उपादेय-अनुपादेय का विचार भी जागृत होता है। प्रतीत होता है कि ऐसी कथाएँ ही दार्शनिक कथाओं का परम्परया मूल रही हैं।

दार्शनिक कथाएँ

न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर ने[5] दार्शनिक कथाएँ तीन प्रकार की कही हैं– १. वाद, २. जल्प और ३. वितण्डा। वे यह भी कहते हैं कि यह कोई नियम नहीं है कि वे कथाएँ

---

१. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये।। –तत्त्वार्थश्लो.१-३३, श्लो. ४५, पृ. २८०

२. सिद्धेवात्राकलङ्कस्य महतो न्यायवेदिनः। –वही, पृ. २७७

३. कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।। –वही, श्लोक ३७, पृ.२८०

४. 'तथैव हि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदित्वात्। तदाह–' –पत्र-परीक्षा, पृ. ५, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट संस्क., १९७१

५. 'तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डेति। नायं कथा-नियमः, किं तर्हि ? विचारवस्तुनियमः यद्वस्तुविचार्यते तत् त्रेधा विचार्यते। तत्र विचारो वादोजल्पो वितण्डेति। तत्र गुर्वादिभिः सहवादः। विजिगीषुणा सह जल्पवितण्डे।' –न्यायवा. १-२-१

तीन ही होती हैं। पर हाँ, वस्तु का विचार तीन प्रकार से होता है। गुरु आदि के साथ होने वाली कथा **'वाद'** है और विजिगीषु के साथ जाने वाली कथा **'जल्प'** एवं **वितण्डा** हैं। न्याय सूत्रकार ने इन तीनों के एक-एक सूत्र द्वारा लक्षण दिये हैं।[1] उन्होंने कहा है कि जो कथा प्रमाण और तर्क दोनों से साधन और दूषणपूर्वक की जाती है, सिद्धान्त के अविरुद्ध होती है, पंचावयवों से युक्त होती है और जिसमें पक्ष (वादी) तथा प्रतिपक्ष (प्रतिवादी) का स्वीकार होता है वह **'वाद'** है। जिसमें उक्त प्रमाण व तर्क से साधन और दूषण के साथ छल, जाति और निग्रह स्थान इन तीन का भी प्रयोग होता है वह **'जल्प'** है तथा जिसमें प्रतिवादी अपना कोई भी पक्ष स्थापित नहीं करता– केवल वादी जो पक्ष स्थापित करता है उसका वह छलादि से खण्डन करता है वह **'वितण्डा'** है। इनमें जल्प और वितण्डा की आवश्यकता पर बल देते हुए न्याय सूत्रकार कहते हैं[2] कि जैसे खेत में बोये गये बीजों और उनके अंकुरों की रक्षा करने के लिए काँटेदार बारी (बाड़) का घेराव लगाया जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान की सुरक्षा के लिए जल्प और वितण्डा-ये दो कथाएँ भी आवश्यक हैं।

न्यायसार के कर्ता ने[3] कथा का लक्षण देते हुए उसके दो भेद बतलाये हैं। उन्होंने कहा है कि वादी और प्रतिवादी जब पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार कर वस्तु-विचार करते हैं तो उनका वह विचार कथा है। उसके दो भेद हैं–१. वीतरागकथा और २. विजिगीषुकथा। जिसमें वीतराग (तत्त्वजिज्ञासु शिष्य या विद्वान्) वीतराग (तत्त्वज्ञ गुरु या विद्वान्) के साथ तत्त्वनिर्णय के लिए साधन और दूषणपूर्वक चर्चा करते हैं तो उसे **वीतरागकथा** कहते हैं। उसी को 'वाद' संज्ञा से भी कहा जाता है। जिसमें विजिगीषु-विजिगीषु के साथ लाभ, पूजा ख्याति की इच्छा रखता हुआ जय-पराजय के लिए प्रवृत्त होता है तो वह **विजिगीषुकथा** है। इसी को जल्प और वितण्डा नाम से भी कहा गया है।

हम पहले कह आये हैं कि बौद्धदर्शन मात्र वाद कथा को स्वीकार करता है और वह विजिगीषुओं में मानता है। जल्प, वितण्डा, छलादि को तो वह असद्व्यवस्थारूप कहकर उनका निषेध करता है। विजिगीषु के लिए सद्युक्तियों से ही स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष का निराकरण करना उचित बतलाता है।[4]

---

१. न्याय सू. १-२-१, २, ३

२. न्याय सू. ४-२-५०

३. 'वादिप्रतिवादिनोः पक्षपतिपक्षपरिग्रहः कथा। सा द्विविधा– वीतरागकथा विजिगीषुकथाचेति। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञया उच्यते। यत्र विजिगीषुः विजिगीषुणा सह लाभ-पूजा-ख्यातिकामः जयपराजयार्थं प्रवर्तते सा विजिगीषुकथा। विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञयोक्ता।' –न्यायसार पृ. १, १६

४. 'न्यायवादिनमपि वादेषु असद्व्यवस्थोपन्यासैः शठा निगृह्णन्ति तन्निषेधार्थमिदमारभ्यते।' –धर्मकीर्ति, वादन्याय, पृ. १। 'तस्माज्जिगीषता स्वपक्षश्च स्थापनीयः परपक्षश्च निराकर्त्तव्यः।' –वही, पृ. २

वैशेषिकदर्शन न्यायदर्शन का समानजातीय है। यद्यपि वैशेषिक सूत्र में[1] उपर्युक्त कथाओं का प्रतिपादन नहीं है। पर उसके टीकाकार व्योमशिव ने व्योमवती में, श्रीधर ने कंदली में और उदयनाचार्य ने किरणवली में बौद्ध सिद्धान्तों का न्यायदर्शन की तरह 'वाद', 'जल्प' और 'वितण्डा' तीनों कथाओं द्वारा खण्डन करने का निर्देश किया है। किन्तु उतना विस्तार उनका उनमें नहीं हैं, जितना न्यायदर्शन में पाया जाता है।

सांख्य और वेदान्त इन दोनों दर्शनों में भी उनका प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत होता है कि ये दोनों दर्शन प्रकृति और ब्रह्म तत्त्व के निरूपण में ही तत्पर रहे हैं। अतः वे वादादि कथाओं से दूर रहे जान पड़ते हैं।

मीमांसा दर्शन मूलतः कर्मकाण्ड (क्रियाशास्त्र) है। उसे दर्शन का रूप तो सातवीं शताब्दी में हुए कुमारिल भट्ट और प्रभाकर ने अपनी रचनाओं (मीमांसा श्लोकवार्तिक और बृहती आदि टीका ग्रन्थों) में दिया है और खण्डन-मण्डन भी किया है। किन्तु वादादि कथाओं से वे भी दूर रहे हैं। फिर भी वे कम-बढ़ रूप में शास्त्रार्थों को करते रहे हैं। पर उनका इस विषय का स्वतंत्र कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। मुख्य मुठभेड़ तो न्यायदर्शन और बौद्धदर्शन की रही है और इसलिये आज इस विषय का साहित्य इनका उपलब्ध होता है।

जैनदर्शन में कथा-मान्यता

जैनदर्शन की परम्परा अहिंसा और सम्यग्ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार की रही है। अतएव इन दोनों के दायरे में इस दर्शन ने विचार प्रस्तुत किये हैं और इसके लिए जैन दार्शनिकों ने भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक पदयात्रायें की और अहिंसा तथा सम्यग्ज्ञान का सन्देश पहुँचाया और आवश्यक हुआ तो वादियों के साथ वाद भी किये। पर जल्प और वितण्डा कथाएँ नहीं की। कहीं जल्पकथा करनी पड़ी तो उसमें छलादि का प्रयोग नहीं किया। केवल प्रमाण और तर्क से स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का निरसन प्रस्तुत किया। उन्होंने सभी प्रकार की (आचार और विचार विषयक) हिंसा से विरत रहकर शारीरिक अहिंसा के साथ वाचिक और मानसिक अहिंसा का सदा ध्यान रखा है। अतएव उन्होंने मौखिक और लिखित शास्त्रार्थों में वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे असद् उपायों का अवलम्बन नहीं लिया और न उनका समर्थन किया। प्रत्युत उन्हें हेय (वर्ज्य) बतलाकर उनकी सयुक्तिक मीमांसा की है।[2]

---

१. वैशेषिकसूत्र १-१-१ से १०-२-६

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थाधिगमभेद, १-३३, पृ. २८३ से ३१०।

उन्होंने स्पष्ट कहा कि वादकथा में विजिगीषु (वादी और प्रतिवादी) को सम्यक् हेतुओं से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण दोनों करना चाहिए।[1] इतना मात्र ही उन्हें आवश्यक है।

यहाँ तक कि बौद्ध दर्शन में वाद कथा में अभिप्रेत असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन ये दो निग्रहस्थान भी नहीं कहना चाहिए।[2] वादी यदि सभा में अपने पक्ष का साधन (सिद्धि) कर देता है तो वही प्रतिवादी का निग्रह है। तथा प्रतिवादी वादी के पक्ष को दूषित कर देता है और वादी उसका परिहार नहीं करता तो वह वादी का निग्रह है। भले ही वादी या प्रतिवादी अपने पक्ष को सिद्ध करके चुप हो जायें या कुछ बोलें, तब भी असाधनाङ्गवचन से अथवा अदोषोदभावन से क्रमशः प्रतिवादी वादी को या वादी प्रतिवादी को पराजित नहीं कर सकता। पराजय के लिए वादी को स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष का निराकरण तथा प्रतिवादी को वादी के पक्ष में दूषण देना और स्वपक्षसिद्धि करना आवश्यक है।

यहाँ ध्यातव्य है कि जैन तार्किकों न जल्पकथा को माना अवश्य है किन्तु उसे वादकथा के नामान्तर रूप में माना है। उसमें छलादि का प्रयोग उन्हें अमान्य है। मात्र प्रमाण और तर्क से स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष का निराकरण ही उन्हें अभीष्ट है।

श्री दत्त ने 'जल्पनिर्णय' नाम से जो वादग्रन्थ लिखा है, उसमें 'जल्प' शब्द को उन्होंने वाद के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है और उसके तात्त्विक एवं प्रातिभ ये दो भेद कहे हैं।[3] अकलङ्कदेव ने भी 'सिद्धिविनिश्चय' में एक प्रस्ताव 'जल्पसिद्धि' संज्ञक रखा है और उसमें जल्पका लक्षण देते हुए उसकी स्वोपज्ञवृत्ति में जल्प वादं विदुः शब्दों द्वारा जल्प को वादार्थक स्वीकार किया है।[4] व्याख्याकार अनन्तवीर्य ने भी उसकी व्याख्या में जल्प और वाद में अभेद बतलाते हुए लिखा है- 'तन्न जल्पाद अन्यो वाद इति मन्यते (ग्रन्थकारः।' अर्थात् जल्प से भिन्न वाद नहीं है - दोनों एकार्थक हैं, यह ग्रन्थकार (अकलङ्क) को मान्य हैं।[5]

---

१. 'विजिगीषुणोभयं कर्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणम्'.....निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा। तदुक्तं - स्वपक्ष - सिद्धिरेकस्यनिग्रहोऽन्यस्य वादिनः।
नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः।।' - अष्ट. स. पृ. ८७।

२. 'सम्यप्रत्यायनं तस्य सिद्धिः स्याद्वादिनोऽथवा 'प्रतिवादिन इत्येष निग्रहोऽन्यस्य तु।। वादिनः स्वपक्षप्रत्यायनं सभायां स्वपक्षसिद्धिः, प्रतिवादिनः स एव निग्रहः, प्रतिवादिनोऽथवा स्वपक्षसिद्धिर्वादिनो निग्रह इत्येतत्प्रेययम्।। - त. श्लो. १-३३-६१

३. द्विप्रकारं जगी जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्ठे वादिनां जेताश्रीदत्तो जल्पनिर्णये।। - त. श्लोक. १-३३, पृ. २८०।

४. समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।
पक्ष निर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना।। - स्वेप सि.वि. ५-२, पृ. ३१३

५. वही, ५-२, पृ. ३१२।

व्याख्याकार आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं - 'अथवा कथम्भूतं जल्पं वादं विदुः।' यहाँ भी वे जल्पक अर्थवाद ही करते हैं।[1] विद्यानन्द ने भी श्रीदत्त व अकलङ्क के कथनों को उद्धृत करके उनका समर्थन किया है। इससे प्रकट है कि वे भी जल्प और वाद को पर्यायशब्द मानते हैं।[2]

विद्यानन्द ने **वाद अथवा जल्पके दो भेद** किये हैं[3] -१. वीतरागवाद और २. आभिमानिकवाद। **वीतरागवाद** तत्त्वजिज्ञासुओं में होता है। उसके दो अंग हैं - १. वादी (उत्तरदाता) और २. प्रतिवादी (प्रश्नकर्ता) अथवा गुरु और शिष्य या तत्व जिज्ञासु राग-द्वेषरहित विद्वान् **आभिमानिकवाद** जिगीषुओं में होता है और उसके चार अंग हैं - १. वादी, २. प्रतिवादी, ३. सभापति और ४. प्राश्निक। इस आभिमानिकवाद के भी दो भेद हैं - १. तात्त्विकवाद और २. प्रातिभवाद। तात्त्विकवाद में स्वपक्षसिद्धि करके सम्यक ज्ञान का प्रसार करना अभिप्रेत रहता है। विद्यानन्द ने[4] अकलङ्कदेव को उदाहृत करके कहा है कि उन्होंने तात्त्विकवाद में **'जय'** कही है और बतलाया है कि वादी और प्रतिवादी में जो अपने पथ की सिद्धि करे और प्रतिपक्ष का निराकरण करे उसकी जय और दूसरे की **पराजय** होती है।

विद्यानन्द[5] इसे स्पष्ट करते हुए कहते है। कि यतः शास्त्रीय अर्थ की विचारणा स्वपक्षसिद्धि पर्यन्त होती है। जैसे लौकिक अर्थों (मामलों) का विचार तब तक चलता है जब तक उनका निर्णय नहीं होता। न्यायालय अथवा परस्पर बातचीत के द्वारा यथार्थता का निर्णय हो जाने पर वाद (विवाद) समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन में वाद अथवा छलादिशून्य जल्पकथा विजिगीषुओं में पायी गयी है। अभिनव धर्मभूषण ने[6] भी **कथा के दो भेद** बतलाये हैं-

---

१. किं तत् जल्पं विदुः ? इत्याह - समर्थवचनम्। अथवा कथम्भूतं जल्पं वादं विदुः ? इत्याह- समर्थवचन्। तेन "छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।" (न्यायसू. १-२-२) इति निरस्तम् छलादीनाम् असमर्थवचनत्वात्।' सि.वि.टी. ५-२, पृ. ३१२।

२. तत्त्वार्थश्लोक १-३३ तत्त्वार्थाधिगमभेद, पृ. २७७ से २८०।

३. वही, पृ. २७७ से २८१।

४. तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कैः कथितो जयः।
स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।। - त. श्लो. वा. १-३३, ४६, तत्त्वार्थधिः, पृ. २८१।

५. स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा।
वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थविचारणा।। ४७।। वही, पृ. २८१।

६. 'तथाहि -वादिप्रतिवादनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वागूव्यापारो विजिगीषुकथा। गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्-व्यापारो वीतरागकथा।' -न्यायदीपिका, तृतीय प्रकाश, पृ. ७८, ८०। डा. दरबारी लाल कोठिया संपादित

१. वीतरागकथा और २. विजीगीषुकथा। गुरु-शिष्यों में अथवा रागद्वेषरहित विशिष्ट विद्वानों में तत्त्वनिर्णय के लिए परस्पर में जो चर्चा होती है वह **वीतरागकथा** है। तथा वादी और प्रतिवादी में अपने मत की स्थापना के लिये जय-पराजय तक परस्पर जो वचनव्यवहार होता है वह **विजिगीषुकथा** है। इसे ही 'वाद' या 'जल्प' कथा कहा जाता है। नैयायिक वीतरागकथा को 'वाद' कहते हैं। पर वास्तव में लोक में कोई गुरु-शिष्य में होने वाली तत्त्वचर्चा को 'वाद' नहीं कहते। गुरु-शिष्य की तत्त्वचर्चा को 'वाद' कहना मात्र पारिभाषिक है।

जय-पराजयव्यवस्था :

यद्यपि ऊपर कथाओं की चर्चा के प्रसङ्ग से आंशिक रूप में जय-पराजय की चर्चा भी आ चुकी है। फिर भी यहाँ विशद मीमांसा की जाती है। न्यायदर्शन का मत है कि तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए इतरवादियों के साथ वादकथा की अपेक्षा 'जल्प' और वितण्डा कथाएं करना आवश्यक हैं, क्योंकि वे सीधे तरीके से मानने को तैयार नहीं होते। उक्ति है कि **'सीधी अंगुलियों से घी नहीं निकलता'**- उसके लिए उन्हें टेढ़ा करना पड़ता है।

परन्तु उनकी यह उक्ति और तत्त्वसंरक्षण के लिये दिया गया पूर्वोक्त कांटेदार बारीके घेराव का उदाहरण युक्त प्रतीत नहीं होते, क्योंकि **सम्यक् साध्य की सिद्धि के लिए सम्यक् साधन का ही होना अनिवार्य है**। वितण्डा, छल, जाति और निग्रह स्थान ये तत्त्व ज्ञान के जो अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण माना गया है, साधन नहीं हैं- साधनाभास है। उसके सम्यक् साधन तो प्रमाण और तर्क ही हैं, जो परप्रतिपत्तिकारक परार्थानुमान के अवयव - प्रतिज्ञा (पक्ष) और हेतुरूप हैं। ये सही हों तो तत्त्वज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। विजिगीषु के लिए तत्त्व-सिद्धि में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव पर्याप्त हैं।

वस्तुतः तत्त्वज्ञान अथवा सम्यक्ज्ञान हमें दो माध्यमों से होता है-एक वीतराग कथा के द्वारा, दूसरे विजिगीषुकथा के द्वारा। **वीतरागकथा** तत्त्वजिज्ञासा से होती है और उसके करने वाले वीतराग (रागद्वेष या हठाग्रहशून्य व्यक्ति) होते हैं तथा दोनों चाहते हैं कि तत्त्व (वस्तुस्वरूप) समझा जाये। उनकी यह मानसिक स्वच्छता उन्हें ही नहीं, तत्त्वचर्चा को सुनने वाले अन्य जनों के लिए भी बड़ी रुचिवर्धक एवं उपकारक होती है। तत्त्व का निर्णय उन्हें सुखद और विपुल आनन्ददायक होता है। अतः वीतरागकथा में जय-पराजय का प्रश्न नहीं आता।[1]

यद्यपि न्यायदर्शन के ग्रन्थकार[2] इस कथा को 'वाद' कथा भी कहते हैं। पर उसे 'वाद' कथा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें पात्र तत्त्वनिर्णय ही विवक्षित होताहै और

१. जयपराजयाभिप्रायरहिता तत्त्वजिज्ञासया क्रियमाणा तत्त्वचर्चा वीतरागकथा - न्या. दी.टि.पृ. ८०।

२. 'गुर्वादिभिः सहः वादः.......गुर्वा सह वादोपदेशात् यस्मादयं तत्त्वबुभुत्सुर्गुर्विभिः सह त्रिविधं (अनाधिगततत्त्वाबोधम् संशयनिवृत्तिं अनध्यवसिताभ्यनुज्ञानम् फलमाकांक्षन् वादं करोति।' न्या. वा.पृ. १४६।)

'वाद' में जय पराजय अभिप्रेत होता है। अतः विजिगीषुकथा को ही 'वाद' कहना युक्त है'[1] वीतराग कथा को नहीं। यह हम पहले भी कह आये हैं। हाँ, वीतराग कथा में दो से अधिक पांच अथवा दश तक अनुमानावयव प्रयुक्त किया जा सकते हैं।[2]

विजिगीषुकथा के प्रवर्त्तक दो भिन्न दर्शनों के विद्वान होते हैं[3] जिन्हें वादी और प्रतिवादी कहा जाता है और जो पक्ष-प्रतिपक्ष में विभक्त रहते हैं। जो अपने पक्ष को साधन (प्रमाण व तर्क) द्वारा प्रस्तुत करता है वह **वादी** और जो उसके पक्ष में साधन द्वारा दूषण उद्‌भावित करता है वह **प्रतिवादी** माना गया है। दोनों को दोनों के सिद्धान्तों का वेत्ता कहे अर्थ का गृहीता, प्रतिभादि गुणसम्पन्न और तत्त्वनिर्णयकारी होना चाहिए। ऐसा होने पर ही उन्हें विजिगीषु कथा करने का अधिकार है, अन्यथा नहीं। इस कथा के वादी और प्रतिवादी के अलावा दो अङ्ग और हैं वे हैं सभापति और प्राश्निक (सदस्य)। इन दोनों को भी उभयसिद्धान्तविद् आदि होना आवश्यक है। अकलङ्कदेव स्पष्ट कहते हैं कि समर्थ (साधन) वचन को विज्ञों ने जल्प-वाद कहा है और उसके चार (वादी, प्रतिवादी, प्राश्निक और सभापति) अंग प्रतिपादित किये हैं। यह पक्ष-निर्णय तक होता है। और इसका फल (प्रयोजन) सम्यग्ज्ञान की प्रभावना (प्रकाशन) है। यथा-

> **"समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।**
> **पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना।।"** सिद्धिविनिश्चय ५-२।

विद्यानन्द[4] भी अकलङ्कदेव का समर्थन करते हुए उसे उक्त चार अङ्गों वाला ही बतलाते हैं। वे यह भी कहते है। कि उक्त चार में एक की भी कमी रहने पर 'वाद' प्रवृत्त नहीं होता।

अष्टशती में अकलङ्कदेव ने और अष्टसहस्त्री में विद्यानन्द ने वादी और प्रतिवादी में होने वाली विजिगीषु कथा में जय-पराजय की विस्तृत चर्चा करते हुए उसकी व्यवस्था की है। कहा है कि वादी और प्रतिवादी दोनों विजिगीषु होते हैं। वादी को अपने पक्ष की सिद्धि और प्रतिवादी के पक्ष का निराकरण करना चाहिए। ऐसा होने पर उसकी जय और प्रतिवादी की पराजय होती है और यदि प्रतिवादी वादी का पक्ष दूषित करके अपने पक्ष की सिद्धि करता है तो वादी की पराजय और उसकी जय व्यवस्थित होती है। जय के लिये

---

१. 'केचिद्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति। तत्पारिभाषिकमेव । न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे वादव्यवहारः। विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धेः। यथा स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः सर्वे सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति।'

२. पत्र परीक्षा पृ. २०, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, १९९६।

३. त. श्लोक. तत्त्वार्थाधिगमभेद १-३३, पृ. २८०।

४. ततो नाभिमानिकोऽपि वादो द्व्यं एव वीतरागवादवदिति शक्यं वक्तुम् चतुर्णामंगानामन्यतमस्याप्यपाये ऽर्था परिसमाप्तेरित्युक्तप्रायम्। एवमाभिमानिको वादो जिगीषतोर्द्विविधः।' त. श्लो. पृ. २८०।

दोनों को स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष का निराकरण आवश्यक है। स्वपक्ष की[1] हो जाने पर भी ये परपक्ष का निराकरण और परपक्ष का निराकरण कर देने पर स्वपक्ष की सिद्धि वादी अथवा प्रतिवादी की जय प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं है। जय के लिए उन्हें दोनों करना चाहिए। उसमें न छलादि प्रदर्शन आवश्यक है और न बौद्धाभिमत दो निग्रह स्थान प्रदर्शन[2]- माणिक्यनन्दि भी इसी दिशा में प्रतिपादन करते हैं[3]-

वादी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए यदि प्रमाण प्रस्तुत करता है और प्रतिवादी उसमें कोई दूषण उद्भावित करता है तथा वादी उसका परिहार कर देता है तो वादी का प्रमाण साधन है -उसकी जय है और प्रतिवादी के लिए वह दूषण है- उसकी पराजय है। और यदि वादी भूल आदि किसी कारण से प्रमाणाभास बोलता है तथा प्रतिवादी उसे प्रमाणाभास सिद्ध कर देता है और वादी उसका परिहार नहीं करता तो वादी के लिए वह साधनाभास है-उसकी पराजय है और प्रतिवादी के लिए वह भूषण है- उसकी जय है।

जय-पराजय की इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि वादी हो चाहे प्रतिवादी, दोनों को वादकथा में सावधान रहकर निर्दोष-सम्यक साधन से अपने पक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण करने से ही जय की प्राप्ति होती है, अन्यथा पराजय होता है। ध्यान रहे, दोनों की एक साथ न जय हो सकती है और न पराजय, क्योंकि दो विरोधी पक्षों में एक का ही साधन सत्य और दूसरे का असत्य होगा। यदि दोनों के साधन असत्य होते हैं तो दोनों ही जय के अधिकारी नहीं हैं। फलतः वाद असफल अवस्था में ही समाप्त हो जाता है। उसमें पराजय का भी प्रश्न नहीं उठता। वास्तव में तात्त्विक वाद स्वाभिप्रेत पक्ष की सिद्धि तक ही होता है, उभय पक्ष की सिद्धि पर्यन्त नहीं, क्योंकि परस्पर विरुद्ध उभय-सिद्धि सम्भव नहीं है।

पहले आभिमानिकवाद के दो भेदों में तात्त्विकवाद के साथ दूसरे प्रातिभवाद का भी उल्लेख किया गया है। विद्यानन्द उसके सम्बन्ध में लिखते हैं[4] कि जो प्रतिभा के आधार पर वाक् प्रवृत्ति की जाये और जिसमें अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ दिया जाये वह प्रातिभवाद है। उसमें प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान होता है। जैसे लोक में जुआ आदि में झूठ बोलकर या छलकर जुआड़ी जय पा लेता है उसी प्रकार शास्त्रों (सिद्धान्तों) के विषय में इस प्रातिभवाद में दूसरे को छल-कपट आदि के द्वारा विजित कर लिया जाता है। किन्तु यह वाद होने से ग्राह्य नहीं है, उपेक्षणीय है।

---

१. स्वपक्षसिद्धौ कृतायामपि परपक्षनिराकरणं तस्मिन्ना स्वपक्षसाधनभिधानं न वादिप्रतिवादिनोर्जय-प्रतिबन्धकमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम्। - अष्टस. पृ. ८३।

२. 'किमेव वादिना कर्त्तव्यमिति, चेत् विजिगीषुणोभयं कर्त्तव्य स्वपरपक्षसाधन दूषणम्। ... निराकृतावस्थापितविपक्ष स्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथा।' - अष्टश. अष्टस. पृ. ८७।

३. 'प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतादाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च।' परीक्षामुख ६-७३ ४. तत्त्वार्थश्लोक तत्त्वार्थाधिगमभेद, १-३३, पृ. ३१०।

जैन तार्किक और उनके न्यायग्रन्थ

१. आचार्य गृद्धपिच्छ

आचार्य वीरसेन और आ० विद्यानन्द ने इनका आ० गृद्धपिच्छ नाम से उल्लेख किया है। दसवीं-११वीं शताब्दी के शिलालेखों तथा इस समय में अथवा उत्तरकाल में रचे गये साहित्य में इनके "उमास्वामी" और "उमास्वाति" ये दो नाम भी उपलब्ध हैं। इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी है। ये सिद्धान्त, दर्शन और न्याय तीनों विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका रचा एकमात्र सूत्रग्रन्थ "तत्त्वार्थसूत्र" है, जिस पर पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक एवं भाष्य, विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक एवं भाष्य और श्रुतसागरसूरि ने तत्त्वार्थवृत्ति-ये चार विशाल टीकायें लिखी हैं। श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थभाष्य और सिद्धसेन गणी की तत्त्वार्थव्याख्या-ये दो व्याख्याएँ रची गयी हैं। इसमें सिद्धान्त, दर्शन और न्याय की विशद एवं संक्षेप में प्ररूपणा की गयी है।[1] उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसका बड़ा महत्त्व घोषित करते हुए लिखा है कि जो इस दस अध्यायों वाले तत्त्वार्थसूत्र का एक बार भी पाठ करता है उसे एक उपवास का फल प्राप्त होता है।[2]

२. स्वामी समन्तभद्र

ये आ० कुन्दकुन्द के बाद दिगम्बर परम्परा में जैन दार्शनिकों में अग्रणी और प्रभावशाली तार्किक हुए हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इनका अपने ग्रन्थों में जो गुणगान किया है वह अभूतपूर्व है। इन्हें वीरशासन का प्रभावक और सम्प्रसारक कहा है। इनका अस्तित्व ईसा की २री ३री शती माना जाता है। स्याद्वाददर्शन और स्याद्वादन्याय के ये आद्य प्रभावक हैं। जैनन्याय का सर्वप्रथम विकास इन्होंने अपनी कृतियों और शास्त्रार्थों द्वारा प्रस्तुत किया है। इनकी निम्न कृतियाँ प्रसिद्ध हैं-१. आप्तमीमांसा (देवागम), २. युक्त्यनुशासन, ३. स्वयम्भू स्तोत्र, ४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार और ५. जिनशतक। इनमें आरम्भ की तीन रचनाएँ दार्शनिक एवं तार्किक हैं, चौथी सैद्धान्तिक और पाँचवीं काव्य है। इनकी कुछ रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। पर उनके उल्लेख और प्रसिद्धि है। उदाहरण के लिए इनका "गन्धहस्ति-महाभाष्य" बहुचर्चित है। जीवसिद्धि प्रमाणपदार्थ, तत्त्वानुशासन और कर्मप्राभृतटीका

---

१. तत्त्वार्थसूत्र में "जैन न्यायशास्त्र के बीज" शीर्षक निबन्ध, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७०, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन।

२. दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः।।

इनके उल्लेख ग्रन्थान्तरों में मिलते हैं। पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने इन ग्रन्थों का अपनी "स्वामी समन्तभद्र" पुस्तक में उल्लेख करके शोधपूर्ण परिचय दिया है।

३. सिद्धसेन

आ० सिद्धसेन बहुत प्रभावक तार्किक हुए हैं। इन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परायें मानती हैं। इनका समय वि० सं० ४थी-५वीं शती माना जाता है। इनकी महत्त्वपूर्ण रचना "सन्मति" अथवा "सन्मतिसूत्र" है। इसमें सांख्य, योग आदि सभी वादों की चर्चा और उनका समन्वय बड़े तर्कपूर्ण ढंग से किया गया है। इन्होंने ज्ञान व दर्शन के युगपद्वाद और क्रमवाद के स्थान में अभेदवाद की युक्तिपूर्वक सिद्धि की है, यह उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थान्त में मिथ्यादर्शनों (एकान्तवादों) के समूह को "अमृतसार" "भगवान", "जिनवचन" जैसे विशेषणों के साथ उल्लिखित करके उसे "भद्र" - सबका कल्याणकारी कहा है।[1] ध्यान रहे कि उन्होंने सापेक्ष (एकान्तों) के समूह को भद्र कहा है, निरपेक्ष (एकान्तों) के समूह को नहीं, क्योंकि जैनदर्शन में निरपेक्षता को मिथ्यात्व और सापेक्षता को सम्यक् कहा गया है तथा सापेक्षता ही वस्तु का स्वरूप है और वह ही अर्थक्रियाकारी है। आचार्य समन्तभद्र ने भी, जो उनके पूर्ववर्ती हैं, आप्तमीमांसा (का० १०८) में यही प्रतिपादन किया है।

४. देवनन्दि-पूज्यपाद

आचार्य देवनन्दि-पूज्यपाद विक्रम सम्वत् की छठीं और ईसा की पाँचवीं शती के बहुश्रुत विद्वान हैं। ये तार्किक, वैयाकरण, कवि और स्तुतिकार हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी विशद व्याख्या **सर्वार्थसिद्धि** में इनकी दार्शनिकता और तार्किकता अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है। इनका एक न्याय-ग्रन्थ "सार-संग्रह" रहा है, जिसका उल्लेख आचार्य वीरसेन ने किया है और उनमें दिये गये नयलक्षण को धवला-टीका में उद्धृत किया है। जैनेन्द्रव्याकरण, समाधिशतक, इष्टोपदेश, निर्वाणभक्ति आदि अनेक रचनाएँ भी इन्होंने लिखी हैं।

५. श्रीदत्त

ये छठीं शताब्दी के वादिविजेता प्रभावशाली तार्किक हैं। आचार्य विद्यानन्द ने त वार्थश्लोकवातिक (पृ० २८०) में इन्हें "त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये"- तिरेसठ वादियों का विजेता और "जल्पनिर्णय" ग्रन्थ का कर्ता बतलाया है। "जल्पनिर्णय" एक वाद

---

१. भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमियसारस्स।
जिणवयणस्य भव भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स।। सन्मतिसूत्र ३-७०

ग्रन्थ रहा है, जिसमें दो प्रकार के जल्पों (वादों) का विवेचन किया गया है। परन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। विद्यानन्द को सम्भवतः प्राप्त था और जिसके आधार से उन्होंने दो प्रकार के वादों (तात्त्विक एवं प्राप्तिय) का प्रतिपादन किया है।

६. पात्रस्वामी

ये विक्रम की छठीं, ७वीं शती के जैन नैयायिक हैं। इनका एकमात्र ग्रन्थ "त्रिलक्षणकदर्थन" प्रसिद्ध है। पर यह अनुपलब्ध है। चूहों, दीमकों या व्यक्तियों द्वारा यह कब समाप्त कर दिया गया है? अकलंक, अनन्तवीर्य, वादिराज आदि उत्तरकालीन तार्किकों ने इसका उल्लेख किया है। बौद्ध तार्किक तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित (ई० ८वीं शती) ने तो इनके नामोल्लेख के साथ इनकी अनेक कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं और उनका खण्डन किया है। सम्भव है ये कारिकाएँ उनके उसी "त्रिलक्षणकदर्थन" ग्रन्थ की हों।

७. अकलंकदेव

आ० अकलंकदेव ईसा ७वीं, ८वीं शती के तीक्ष्णबुद्धि एवं महान् प्रभावशाली तार्किक हैं। ये जैन न्याय के प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। अनेकांत, स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों पर जब तीक्ष्णता से बौद्ध और वैदिक विद्वानों द्वारा दोहरा प्रहार किया जा रहा था तब सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकदेव ने उन प्रहारों को अपने वाद-विद्याकवच से निरस्त करके अनेकांत, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि सिद्धान्तों को सुरक्षित किया था तथा प्रतिपक्षियों को सबल जवाब दिया था। इन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और जैनन्याय पर बड़े जटिल एवं दुरूह ग्रन्थों की रचना की है। उनके वे न्यायग्रन्थ निम्न हैं - १. न्याय-विनिश्चय, २. सिद्धि-विनिश्चय, ३. प्रमाण-संग्रह, ४. लघीयस्त्रय, ५. देवागम-विवृति (अष्टशती), ६. तत्त्वार्थवार्तिक व उसका भाष्य आदि। इनमें तत्त्वार्थवार्तिक व भाष्य तत्त्वार्थसूत्र की विशाल, गम्भीर और महत्वपूर्ण वार्तिक रूप में व्याख्या है। इसमें अकलंकदेव ने सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य का अनुसरण करते हुए सिद्धांत, दर्शन और न्याय तीनों का विशद विवेचन किया है। विद्यानन्द ने सम्भवतः इसी कारण "सिद्धेर्वात्राकलंकस्य महतो न्यायवेदिनः" (त० श्लो० पृ० २७७) वचनों द्वारा अकलंक को "महान्यायवेत्ता" जस्टिक-न्यायाधीश कहा है।

८. हरिभद्र

आचार्य हरिभद्र वि० सं० ८वीं शती के विश्रुत दार्शनिक एवं नैयायिक हैं। इन्होंने १. अनेकान्तजयपताका, २. अनेकान्तवादप्रवेश, ३. शास्त्रवार्तासमुच्चय, ४. षड्दर्शनसमुच्चय आदि जैनन्याय के ग्रन्थ रचे हैं। यद्यपि इनका कोई स्वतंत्र न्याय का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। किन्तु उनके इन दर्शनग्रंथों में न्याय की भी चर्चा हमें मिलती है। उनका षड्दर्शन-समुच्चय तो ऐसा दर्शनग्रन्थ है, जिसमें भारतीय प्राचीन छहों दर्शनों का विवेचन सरल और विशद्

रूप में किया गया है, तथा जैन दर्शन को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया हे। इसके द्वारा जैनेतर विद्वानों को जैनदर्शन का सही आकलन हो जाता है।

९. सिद्धसेन (द्वितीय)

इनका समय ९वीं शती माना जाता है। इन्होंने न्यायशास्त्र का एकमात्र "न्यायावतार" ग्रन्थ लिखा है, जिसमें जैन न्यायविद्या का ३२ कारिकाओं में सांगोपांग निरूपण किया है। इनकी रची कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ भी हैं जिनमें तीर्थंकर की स्तुति के बहाने जैनदर्शन और जैनन्याय का भी दिग्दर्शन किया गया है।

१०. वादीभसिंह

इनके इस नाम से ही ज्ञात होता है कि ये वादि रूप हाथियों को पराजित करने के लिए सिंह के समान थे। इनका जैनदर्शन और जैनन्याय पर लिखा ग्रन्थ "स्याद्वादसिद्धि" है। इसमें स्याद्वाद पर प्रतिवादियों द्वारा दिये गये दूषणों का परिहार करके उसकी युक्तियों से प्रतिष्ठा की है। इनका समय विक्रम की ९वीं शती है। इनके रचे **क्षत्रचूड़ामणि** (पद्य) और **गद्यचिन्तामणि** (गद्य) ये दो काव्यग्रन्थ भी हैं, जिनमें भगवान महावीर के काल में हुए क्षत्रियमुकुट जीवन्धर कुमार का पावन चरित्र निबद्ध है। **गद्य चिन्तामणि** नामक ग्रन्थ तो संस्कृत गद्य साहित्य का बेजोड़ ग्रन्थ है।

११. बृहदनन्तवीर्य

ये विक्रम संवत् ९वीं शती के प्रतिभा सम्पन्न तार्किक हैं। इन्होंने अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह इन दो न्याय-ग्रन्थों पर विशाल व्याख्याएँ लिखी हैं। सिद्धिविनिश्चय पर लिखी "सिद्धिविनिश्चयालंकार" व्याख्या उपलब्ध है, परन्तु प्रमाणसंग्रह पर लिखा "प्रमाणसंग्रहभाष्य" अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चयालंकार में अनेक स्थलों पर विशेष जानने के लिए किया है। इससे उसका महत्त्व जान पड़ता है। अन्वेषकों को इसका पता लगाना चाहिए। इन्होंने अकलंक के पदों का जिस कुशलता और बुद्धिमत्ता से मर्म खोला है उसे देखकर आचार्य वादिराज (ई० १०२५) और प्रभाचन्द्र (ई० १९५३) कहते हैं कि "यदि अनन्तवीर्य अकलंक के दुरूह एवं जटिल पदों का मर्मोद्घाटन न करते तो उनके गूढ़ पदों का अर्थ समझने में हम असमर्थ रहते। उनके द्वारा किये गये व्याख्यानों के आधार से ही हम (प्रभाचन्द्र और वादिराज़, क्रमशः लघीयस्त्रय की व्याख्या (लघीयस्त्रयालंकार - न्यायकुमुदचन्द्र) एवं न्यायविनिश्चय की टीका (न्यायविनिश्चयालंकार अथवा न्यायविनिश्चय विवरण) लिख सके हैं।"[1]

---

१. वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, १९७७ ।

१२. विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द उन सारस्वत मनीषियों में गणनीय हैं, जिन्होंने एक-से-एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की हैं। इनका समय ई० ७७५-८४० है। इन्होंने अपने समग्र ग्रन्थ प्रायः दर्शन और न्याय पर ही लिखे हैं, जो अद्वितीय और बड़े महत्त्व के हैं। ये दो तरह के हैं-१. **टीकात्मक**, और २. **स्वतंत्र**। **टीकात्मक** ग्रन्थ निम्न हैं-१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य), २. अष्टसहस्री (देवागमालंकार) और ३. युक्त्यनुशासनालंकार। प्रथम टीका आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र पर पद्यवार्तिकों और उनके विशाल भाष्य के रूप में है। द्वितीय टीका आचार्य समन्तभद्र के देवागम (आप्तमीमांसा) पर गद्य में लिखी गयी अष्टसहस्री है। ये दोनों टीकाएँ अत्यन्त दुरूह, क्लिष्ट और प्रमेयबहुल हैं। साथ ही गंभीर और विस्तृत भी हैं। तीसरी टीका स्वामी समन्तभद्र के ही दूसरे तर्कग्रन्थ युक्त्यनुशासन पर रची गयी है। यह मध्यम परिमाण की है और विशद है।

इनकी **स्वतन्त्र कृतियाँ** निम्न प्रकार हैं - १. विद्यानन्दमहोदय, २. आप्त-परीक्षा, ३. प्रमाण-परीक्षा, ४. पत्र-परीक्षा, ५. सत्यशासन-परीक्षा और ६. श्री पुरपार्श्वनाथस्तोत्र। इस तरह इनकी ६ कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें "विद्यानन्द महोदय" को छोड़कर सभी उपलब्ध हैं। सत्यशासनपरीक्षा अपूर्ण है, जिससे वह विद्यानन्द की अन्तिम रचना प्रतीत होती है। विद्यानन्द और उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व आदि पर विस्तृत विमर्श इस लेख के लेखक द्वारा लिखित आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना तथा "जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन" (पृ० २६२-३१२) में किया गया है। वह दृष्टव्य है।

१३. कुमारनन्दि (कुमारनन्दि भट्टारक)

ये अकलंकदेव के उत्तरवर्ती और आचार्य विद्यानन्द के पूर्ववर्ती अर्थात् ८वीं, ९वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। विद्यानन्द ने इनका और इनके "वादन्याय" का अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २८०), प्रमाण-परीक्षा[1] (पृ० ४९) और पत्र-परीक्षा (पृ० ५) में[2] नामोल्लेख किया है तथा उनके इस ग्रन्थ से कुछ प्रासंगिक कारिकाएँ उद्धृत की हैं। एक जगह (तत्त्वार्थ- श्लो० पृ० २८० में) तो विद्यानन्द ने इन्हें बहुसम्मान देते हुए "वादन्यायविचक्षण" भी कहा है। इनका यह "वादन्याय" ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति (६३५) का "वादन्याय" उपलब्ध है। संभव है कुमारनन्दि को अपना "वादन्याय" रचने की प्रेरणा उसी से मिली हो। दुःख है कि जैनों ने अपने वाङ्मय की रक्षा करने में घोर प्रमाद किया तथा उसकी उपेक्षा की है। आज भी वही स्थिति है, जो दुर्भाग्यपूर्ण है।

---

१. वही, १९९१ ।

२. इस लेख के लेखक (डॉ० कोठिया) द्वारा संपादित, अनूदित एवं वीर सेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर) से १९४५ में प्रकाशित नया संस्करण, जिसके दो संस्करण और निकल चुके हैं।

१४. अनन्तकीर्ति

इनका समय वि० सं० ९वीं शती है। इन्होंने "बृहत्सर्वज्ञसिद्धि" और "लघुसर्वज्ञसिद्धि" ये दो तर्कग्रन्थ रचे हैं और दोनों ही मह वपूर्ण हैं। इन दोनों विद्वत्तापूर्ण रचनाओं से आ० अनन्तकीर्ति का पाण्डित्य एवं तर्कशैली अनुपमेय प्रतीत होती है। इनकी एक रचना "स्वतः प्रामाण्यभंग" भी है, जो अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्य (प्रथम) ने किया है।

१५. माणिक्यनन्दि

ये नन्दिसंघ के प्रमुख आचार्य थे। इनके गुरु रामनन्दि दादागुरु वृषभनन्दि और परदादागुरु पद्मनन्दि थे। इनके कई शिष्य हुए। आद्य विद्या-शिष्य नयनन्दि थे, जिन्होंने "सुदंसणचरिउ" एवं "सयलविहिविहान" इन अपभ्रंश रचनाओं से अपने को उनका आद्य विद्या-शिष्य तथा उन्हें "पंडितचूड़ामणि" एवं "महापंडित" कहा है। नयनन्दि (वि० सं० ११००, ई० १०४३) ने अपनी गुरु-शिष्य परम्परा उक्त दोनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में दी है। इनके तथा अन्य प्रमाणों के अनुसार माणिक्यनन्दि का समय ई० १०२८ अर्थात् ११वीं शताब्दी सिद्ध है। प्रभाचन्द्र (ई० १०५३) ने न्यायशास्त्र इन्हीं माणिक्यनन्दि से पढ़ा था तथा उनके "परीक्षामुख" पर विशालकाय "प्रमेयकमलमार्त्तण्ड" नाम की व्याख्या लिखी थी, जिसके अन्त में उन्होंने भी माणिक्यनन्दि को अपना गुरु बताया है।

माणिक्यनन्दि का "परीक्षामुख" सूत्रबद्ध ग्रन्थ न्यायविद्या का प्रवेश द्वार है। खास कर अकलंकदेव के जटिल न्याय-ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिए यह निश्चय ही द्वार है। तात्पर्य यह कि अकलंकदेव ने जो अपने कारिकात्मक न्यायविनिश्चयादि न्याय ग्रन्थों में दुरूह रूप में जैनन्याय को निबद्ध किया है, उसे गद्य-सूत्रबद्ध करने का श्रेय इन्हीं आचार्य माणिक्यनन्दि को है। इन्होंने जैनन्याय को इसमें बड़ी सरल एवं विशद भाषा में उसी प्रकार ग्रंथित किया है जिस प्रकार मालाकार माला में यथायोग्य स्थान पर प्रवाल, रत्न आदि को गूंथता है। इस पर प्रभाचन्द्र ने "प्रमेयकमलमार्त्तण्ड", लघुअनन्तवीर्य ने "प्रमेयरत्नमाला", अजितसेन ने "न्यायमणिदीपिका", चारुकीर्ति नाम के एक या दो विद्वानों ने "अर्थप्रकाशिका" और "प्रमेयरत्नालंकार" नाम की टीकाएँ लिखी हैं। इससे इस "परीक्षामुख" का महत्त्व प्रकट है।

१६. देवसेन

आ० देवसेन ने प्राकृत में नयचक्र लिखा है। संभव है इसी का उल्लेख आ० विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २७६) में किया हो और उससे ही नयों को विशेष जानने की सूचना की हो। इनका अस्तित्व समय वि० सं० ९वीं शती माना जाता है। यह नय-मर्मज्ञ मनीषी थे।

१७. वादिराज

ये न्याय, व्याकरण, काव्य आदि साहित्य की अनेक विधाओं के पारङ्गत थे और "स्याद्वादविद्यापति" कहे जाते थे। ये अपनी इस उपाधि से इतने अभिन्न थे कि इन्होंने स्वयं और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने इनका इसी उपाधि से उल्लेख किया है। इन्होंने अपने पार्श्वनाथचरित में उसकी समाप्ति का समय शक सं० ९४७ (ई० १०२५) दिया है। अतः इनका समय ई० १०२५ है। पार्श्वनाथचरित के अतिरिक्त इन्होंने न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाण-निर्णय ये दो न्यायग्रन्थ लिखे हैं। न्यायविनिश्चयविवरण अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय की विशाल और महत्वपूर्ण टीका है। प्रमाणनिर्णय इनका मौलिक तर्कग्रन्थ है। वादिराज, जो नाम से भी वादियों के विजेता जान पड़ते हैं, अपने समय के महान तार्किक ही नहीं, वैयाकरण, काव्यकार और अर्हद्भक्त भी थे। "एकीभावस्तोत्र" के अन्त में बड़े अभिमान से कहते हैं कि "जितने वैयाकरण हैं वे वादिराज के बाद हैं, जितने तार्किक हैं वे वादिराज के पीछे हैं तथा जितने काव्यकार हैं वे भी उनके पश्चाद्वर्ती हैं और तो क्या, भाक्तिक लोग भी भक्ति में उनकी बराबरी नहीं कर सकते। यथा-

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः।। (एकीभावस्तोत्र, श्लोक २६)

१८. प्रभाचन्द्र

प्रभाचन्द्र जैन साहित्य में तर्कग्रन्थकार के रूप में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। आ० माणिक्यनन्दि के शिष्य और उन्हीं के परीक्षामुख पर विशालकाय एवं विस्तृत व्याख्या "प्रमेयकमलमार्त्तण्ड" लिखनेवाले ये अद्वितीय मनीषी हैं। इन्होंने अकलंक के दुरूह "लघीयस्त्रय" नाम के न्याय ग्रन्थ पर भी बहुत ही विशद और विस्तृत टीका लिखी है, जिसका नाम "न्यायकुमुदचन्द्र" है। न्यायकुमदचन्द्र वस्तुतः न्यायरूपी कुमुदों को विकसित करनेवाला चन्द्र है। इसमें प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय की कारिकाओं, उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति और उसके दुरूह पद-वाक्यादि की विशद व्याख्या तो की ही है, किन्तु प्रसंगोपात्त विविध तार्किक चर्चाओं द्वारा अनेक अनुद्घाटित तथ्यों एवं विषयों पर भी नया प्रकाश डाला है।

इसी प्रकार उन्होंने प्रमेयकमलमार्त्ताण्ड में भी अपनी तर्कपूर्ण प्रतिभा का पूरा उपयोग किया है और परीक्षामुख के प्रत्येक सूत्र व उसके पदों का विस्तृत एवं विशद व्याख्यान किया है। प्रभाचन्द्र के ये दोनों व्याख्यान ग्रन्थ मूल जैसे ही हैं। इनके बाद इन जैसा कोई मौलिक या व्याख्याग्रन्थ नहीं लिखा गया। समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्द के बाद प्रभाचन्द्र जैसा कोई जैन तार्किक हुआ दिखाई नहीं देता। इनका समय ई० १०५३ है।

१९. अभयदेव

अभयदेव ने सिद्धसेन के "सन्मति सूत्र", "सन्मतितर्कटीका" लिखी है। इसमें स्याद्वाद और अनेकान्त पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इनका समय ईसा की १२वीं शती है। अभयदेव प्रभाचन्द्र से खूब प्रभावित हैं और उनकी इस टीका पर प्रभाचन्द्र की उक्त व्याख्याओं का अमिट प्रभाव है।

२०. लघु अनन्तवीर्य

इन्होंने माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर मध्यम परिमाण की विशद एवं सरल वृत्ति लिखी है, जिसे "प्रमेयरत्नमाला" कहा जाता है। विद्यार्थियों और जैन न्याय के जिज्ञासुओं के लिए यह बड़ी उपयोगी एवं बोधप्रद है। इन्होंने परीक्षामुख को अकलंक के दुरुगाह न्यायग्रन्थसमुच्चयरूप समुद्र का मन्थन करके निकाला गया "न्यायविद्यामृत" बतलाया है। वस्तुतः अनन्तवीर्य का यह कथन काल्पनिक नहीं है। हमने "परीक्षामुख और उसका उद्गम" शीर्षक लेख में अनुसन्धान पूर्वक विमर्श किया है, और यथार्थ में "परीक्षामुख" अकलंक के न्याय-ग्रन्थों का दोहन है। विद्यानन्द के ग्रन्थों का भी उस पर प्रभाव रहा है। इनका समय वि० सं० की १२वीं शती है।

२१. देवसूरि

देवसूरि "वादि" उपाधि से विभूषित अभिहित हैं। इनके "प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार" और उसकी व्याख्या "स्याद्वादरत्नाकर" ये दो तर्कग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इन दोनों पर आ० माणिक्यनन्दि के "परीक्षामुख" का शब्दशः और अर्थशः पूरा प्रभाव है। इसके ६ परिच्छेद तो "परीक्षामुख" की तरह ही हैं और अन्तिम दो परिच्छेद (नयपरिच्छेद तथा वादपरिच्छेद) परीक्षामुख से ज्यादा हैं। पर उन पर भी परीक्षामुख के (परि० ६/७३, ७४) सूत्रों का प्रभाव लक्षित होता है।

२२. हेमचन्द्र

ये न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त और योग इन सभी विषयों के प्रखर विद्वान् थे। इनका न्याय-ग्रन्थ "प्रमाण-मीमांसा" विशेष प्रसिद्ध है। इसके सूत्र और उनकी स्वोपज्ञ टीका दोनों ही सुन्दर और बोधप्रद हैं। न्याय के प्राथमिक अभ्यासी के लिए परीक्षामुख और न्यायदीपिका की तरह इसका भी अभ्यास उपयोगी है। ये वि० सं० १२वीं, १३वीं (ई० १०८९-११७३) शती के विद्वान् माने जाते हैं।

२३. भावसेन त्रैविद्य

ये वि० सं० १२वीं, १३वीं शताब्दी के जैन नैयायिक हैं। इनकी उपलब्ध एकमात्र

कृति "विश्वतत्त्वप्रकाश" है। इसका प्रकाशन जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर से हो चुका है। यह बृहद् ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण और बोधप्रद है।

२४. लघु समन्तभद्र

इनका समय वि० सं० १३वीं शती है। इन्होंने विद्यानन्द की अष्टसहस्री पर एक टिप्पणी लिखी है, जो अष्टसहस्री के कठिन पदों के अर्थबोध में सहायक है। इसका नाम "अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका" है। यह स्वतन्त्र रूप से अभी अप्रकाशित है। किन्तु अष्टसहस्री की पाद-टिप्पणियों में यह प्रकाशित है, जिनके सहारे से पाठक अष्टसहस्री के उन पदों का अर्थ कर लेते हैं, जो क्लिष्ट और प्रसंगोपात्त हैं।

२५. अभयचन्द्र

ये वि० सं० १३वीं शती के तार्किक हैं। इन्होंने अकलंकदेव के तर्कग्रन्थ "लघीयस्त्रय" पर "लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति" नाम की स्पष्टार्थबोधक लघुकाय वृत्ति लिखी है, जो माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। पर वह अलभ्य है। उसका एक अच्छा आधुनिक सम्पादन के साथ संस्करण निकलना चाहिए। इसकी तर्कपद्धति सुगम एवं आकर्षक है।

२६. रत्नप्रभसूरि

इनका समय वि० सं० १३वीं शती है। इनकी एकमात्र तर्ककृति "स्याद्वादरत्नाकरावतारिका" है, जो प्रकाशित है और स्याद्वाद पर अच्छा प्रकाश डालती है।

२७. मल्लिषेण

इन्होंने हेमचन्द्र की "अन्ययोगव्यवच्छेदिका" नाम की द्वात्रिंशतिका पर "स्याद्वाद मंजरी" लिखी है। यह विद्वत्प्रिय एवं सरल होने से अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। मल्लिषेण विक्रम की १४वीं शती के मनीषी हैं।

२८. अभिनव धर्मभूषणयति

जैन तार्किकों में ये अधिक लोकप्रिय और उल्लेखनीय हैं। इनकी "न्यायदीपिका" एक ऐसी महत्त्वपूर्ण एवं यशस्वी कृति है जो न्यायशास्त्र में प्रवेश करने के लिए बहुत ही सुगम और सरल है। न्यायशास्त्र के प्राथमिक अभ्यासी इसी के माध्यम से अकलंक और विद्यानन्द के दुरूह एवं जटिल न्यायग्रन्थों में प्रवेश करते हैं। न्याय का ऐसा कोई विषय नहीं छूटा जिसका धर्मभूषणयति ने इसमें संक्षेपतः और सरल भाषा में प्रतिपादन न किया हो।

प्रमाण, प्रमाण के भेदों, नय और नय के भेदों के अलावा अनेकान्त, सप्तभंगी,

वीतरागकथा, विजिगीषुकथा जैसे विषयों का भी इस छोटी-सी कृति में समावेश कर उनका संक्षेप में विशद निरूपण किया है। अनुमान का विवेचन तो ग्रन्थ के बहुभाग में निबद्ध है और बड़े सरल ढंग से उसे दिया है। वास्तव में यह अभिनव धर्मभूषण की प्रतिभा, योग्यता और कुशलता की परिचायिका कृति है। इनका समय ई० १३५८ से १४१८ है।

२९. शान्तिवर्णी

परीक्षामुख के प्रथम सूत्र पर इन्होंने "प्रमेयकण्ठिका" नाम की वृत्ति लिखी है। यह एक न्याय-विद्या की लघु रचना है और प्रमाण पर इसमें संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। यह वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, काशी से प्रकाशित हो चुकी है। यह अध्येतव्य है।

३०. नरेन्द्रसेन भट्टारक

इनका एकमात्र न्याय-ग्रन्थ "प्रमाणप्रमेयकलिका" है। इसमें तत्त्व-सामान्य की जिज्ञासा करते हुए उसके दो भेद - १. प्रमाणतत्त्व और २. प्रमेयतत्त्व बतलाकर उनका समीक्षापूर्वक विवेचन किया है। कृति सुन्दर और सुगम है। हमारे सम्पादन के साथ यह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुकी है। ग्रन्थकार का समय वि० सं० १७८७ है।

३१. चारुकीर्ति भट्टारक

ये वि० सं० की १८वीं शती के तार्किक हैं। इन्होंने माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर बहुत से ही विशद एवं प्रौढ़ व्याख्या "प्रमेयरत्नालंकार" लिखी है, जो मैसूर यूनिवर्सिटी से प्रकाशित है। रचना तर्कपूर्ण है। इसमें नव्यन्याय का भी अनेक स्थलों पर समावेश है। चारुकीर्ति की विद्वत्ता और पाण्डित्य दोनों इसमें दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं अथवा दूसरे चारुकीर्ति की "अर्थप्रकाशिका" भी है, जो प्रमेयरत्नमाला की संक्षिप्त व्याख्या है। ये "पण्डिताचार्य" की उपाधि से विभूषित थे।

३२. विमलदास

इनकी "सप्तभंगीतरंगिणी" नाम की तर्ककृति है, जिसमें सप्तभंगों का अच्छा विवेचन किया गया है। यह दर्शन और न्याय दोनों की प्रतिपादिका है। इनका समय वि० की १८वीं शती है।

३३. अजितसेन

ये भी वि० सं० १८वीं शती के तार्किक हैं। इन्होंने "परीक्षामुख" पर "न्यायमणिदीपिका" नाम की व्याख्या लिखी है, जो उसकी पाँचवीं टीका है। इसका उल्लेख चारुकीर्ति ने "प्रमेयरत्नालंकार" (पृ० १८१) में किया है।

३४. यशोविजय

ये वि० सं० १८वीं शती के प्रौढ़ तार्किक और नव्यन्याय शैली के महान् दार्शनिक हैं। इन्होंने निम्न तर्कग्रन्थ रचे हैं-१. अष्टसहस्री-तात्पर्यविवरण, २. जैनतर्कभाषा, ३. न्यायालोक, ४. ज्ञानबिन्दु, ५. अनेकान्तव्यवस्था, ६. न्यायखण्डनखाद्य, ७. अनेकान्तप्रवेश, ८. शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका और ९. गुरुत ववनिश्चय।

चारुकीर्ति, विमलदास और यशोविजय- ये तीन तार्किक ऐसे हैं, जिन्होंने अपने न्याय ग्रन्थों में नव्यन्याय को भी अपनाया है, जो नैयायिक गङ्गेश उपाध्याय से उद्भूत हुआ और पिछले तीन-चार दशक तक अध्ययन-अध्यापन में रहा। हमने स्वयं नव्यन्याय के अवच्छेदकत्वनिरुक्ति, सिद्धांतलक्षण, व्याप्तिपंचक, दिनकरी आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा नव्यन्याय में मध्यमा-परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

बीसवीं शती के जैन तार्किक

बीसवीं शती में भी कतिपय दार्शनिक एवं नैयायिक हुए हैं, जो उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित दर्शन और न्याय के ग्रन्थों का न केवल अध्ययन-अध्यापन किया, अपितु उनका राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद एवं सम्पादन भी किया है। साथ में अनुसंधानपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी लिखी हैं, जिनमें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के ऐतिहासिक परिचय के साथ ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का भी तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक आकलन किया गया है। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी हिन्दी भाषा में लिखे गये हैं।

उदाहरण के लिए सन्तप्रवर न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य, पं० माणिकचन्द्र कौन्देय, पं० सुखलाल संघवी, डा० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं. कैलाश चन्द शास्त्री, पं० दलसुख भाई मालवणिया एवं इस लेख के लेखक (डा० पं० दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य) आदि के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं।

●

जैनदर्शन में अध्यात्म

"अध्यात्म" शब्द अधि + आत्म -इन दो शब्दों से बना है, जिसका अर्थ है कि आत्मा को आधार बनाकर चिन्तन या कथन हो, वह अध्यात्म है। यह इसका व्युत्पत्ति अर्थ है।

यह जगत् जैन दर्शन के अनुसार छह द्रव्यों के समुदायात्मक है। वे छह द्रव्य हैं- १. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल। इनमें जीव द्रव्य चेतन है, जिसे 'आत्मा' शब्द से भी कहा जाता है। शेष पाँचों द्रव्य अजीव हैं, जिन्हें अचेतन, जड़ और अनात्म शब्दों से भी व्यवहृत किया जाता है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और रूप गुणोंवाला होने से इन्द्रियों का विषय है। पर आकाश, काल, धर्म और अधर्म ये चार अजीव द्रव्य इन्द्रियगोचर नहीं हैं, क्योंकि उनमें स्पर्श, गन्ध, रस और रूप नहीं हैं। पर आगम और अनुमान से उनका अस्तित्व सिद्ध है।

हमारे भीतर दो द्रव्यों का मेल है- शरीर और आत्मा शरीर अचेतन या जड़ है और आत्मा सचेतन है, ज्ञाता-दृष्टा है। किन्तु वह स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द रूप नहीं है। अतः पाँचों इन्द्रियों का विषय नहीं है। ऐसा होने पर भी वह शरीर से भिन्न अपने पृथक् अस्तित्व को मानता है। यद्यपि जन्म में तो शरीर के साथ ही आया। पर मरण के समय यह स्पष्ट हो जाता है कि देह मात्र रह गयी, आत्मा पृथक् हो गया, चला गया।

कहाँ चला गया? इस प्रश्न के पूर्व, कहाँ से आया था? यह प्रश्न भी खड़ा होता है। पर इतना तो सुनिश्चित है कि कहीं से आया था और कहीं चला गया। पर वह कौन-सा स्थान है, जहाँ से आता है और जहाँ जाता है? इसका विचार करने पर आप देखेंगे कि आना-जाना केवल मनुष्यों में नहीं है, पशुओं, पक्षियों में भी है। और तो क्या, कीट-पतंगों में भी है। इतना ही नहीं, वृक्ष आदि भी सजीव हैं, अतः वहाँ भी उनका अस्तित्व है। इस सारी प्रक्रिया से यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि जीव इन विविध योनियों से ही आता है और इन विविध योनियों में ही जाता है। प्रश्न हल हो गया क्यों आता है और क्यों उनमें जाता है? तो इसका उत्तर उसके कृत कर्म हैं। कर्मानुसार फलप्राप्ति स्वयं होती हुई देखी जाती है। इन कर्मों की व्यवस्था जैनागम में बड़ी विशदता से निरूपित की गयी है। वे संख्यातीत हैं। प्राणियों में विचार और भाव भी संख्यातीत हैं, अतः कर्म भी संख्यातीत है, यह स्वयं सिद्ध है।

प्राणियों के जैसे विचार और भाव होंगे वैसे उनके कर्मों का आगमन होगा। प्राणियों के भावों में कुछ भाव प्रशस्त-उत्तम-सराहनीय हैं और कुछ अप्रशस्त-अधम-निन्दनीय हैं। इन शुभ और अशुभ भावों के अनुसार ही जीव के शुभ कर्म और अशुभ कर्म की व्यवस्था है। जो कभी अशुभ कर्म करता है वही समझदारी आने पर शुभ कर्म करने लगता है।

इसी प्रकार जो शुभ कर्म करता है वह कभी कुसंगति से अशुभ कर्म भी करने लगता है। इन कर्मों के विविध फलों को देने वाला कौन है? इस प्रश्न का उत्तर है -

"स्वयं करोति कर्मात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।"

अर्थात् आत्मा स्वयं कर्म करता है और वह उसके फल को स्वयं प्राप्त करता है। यह प्रत्यक्ष है कि रास्ता देखकर न चलने वाला पुरुष सामने के पड़े पत्थर से ठोकर खा जाता है और गिर पड़ता है। उसके माथे में चोट स्वयं आ जाती है, कोई दूसरा भूल के फलस्वरूप उसका माथा नहीं फोड़ता। सिद्ध है जीव कर्म स्वेच्छा से करता है, कोई कराता नहीं है। अतः फल भी स्वयं भोगता है, कोई देता नहीं है। अगर फल देने वाला अन्य है तो कर्म कराने वाला भी अन्य है, तब शुभ-अशुभ कर्म कराने वाला भी शुभ-अशुभ कर्म का जिम्मेदार है। फिर वह भी कर्म लिप्त होगा। अतः सिद्ध है कि परमात्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टा है।

उपर्युक्त विचार गीता के पंचम अध्यायगत निम्न श्लोकों में भी पाये जाते हैं -

न कर्तृत्त्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।
नादत्ते कस्यचिद् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। - गीता १४-१५

गीता के इन पद्यों में कहा गया है कि विभु न लोक का कर्ता है और न उनके कर्मों की सृष्टि करता है। न ही उनके कर्मों का फल का संयोग कराता है - उन्हें कर्मफल देता है। यह सब स्वभाव से प्रवृत्त है। न वह किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ही लेता है। अज्ञान से प्राणियों का ज्ञान आवृत है। इससे मोह के कारण वे ऐसा मानते हैं। वस्तुतः प्राणी स्वयं अपने कर्मों के कर्ता और स्वयं उनके फलभोक्ता हैं।

गीता के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग का सिद्धान्त यही है। ईश्वर को भक्ति के कारण व्यवहार में कृतज्ञता के नाते अहंकार को दूर करने के लिए ही कर्ता कहा जाता है। पर वह ज्ञानमार्ग (परमार्थ) नहीं है। इस तरह अध्यात्म में जो परकर्तृत्व का निषेध किया जाता है उसे आचार्य कुन्दकुन्द एवं आ० अमृतचन्द्र ने बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। उसका समर्थन उक्त प्रकार गीता से भी होता है।

कुन्दकुन्द ने समयसार के आरम्भ में जहाँ सभी द्रव्यों के पृथक् पृथक् एकत्व को सिद्ध किया है वहाँ आत्मा के एकत्व-विभक्त का भी विशद प्ररूपण किया है। उनके प्रथम टीकाकार अमृतचन्द्र ने प्रौढ़ संस्कृत में निबद्ध अपनी गरिमापूर्ण "आत्मख्याति" टीका में जैसा उस आत्मा तथा अन्य द्रव्यों के एकत्व-विभक्त का निरूपण किया है, मनीषियों के लिए उसका एक उद्धरण दिया जाता है-

"लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्व-धर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनाद- विनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः।

एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बन्धकथाया एव विसंवादित्वापत्तेः कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थित्वमूलपरसमयोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम्? अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते।"

इसका तात्पर्य यह है कि लोक में सभी पदार्थ निश्चय की दृष्टि से स्वभाव में रहते हुये ही शोभा पाते हैं, वे सब अपने अपने धर्मों (गुणों) में रहते हैं। पर द्रव्य का स्पर्श नहीं करते। कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। परस्पर परिगमित नहीं होते। अन्यथा संकर आदि दोषों से युक्त होंगे। इस प्रकार सब द्रव्यों की स्वतंत्रता सिद्ध होती है तथापि संसारी प्राणी कर्मबन्ध की स्थिति में विसंवाद को प्राप्त होता है। इस विसंवाद का मूल उसका कर्म प्रदेशों में स्थित होना है और इसका भी मूल परसमय है जिससे वह दो द्रव्यरूप प्रतीत होता है। पर ऐसा नहीं है। अतः जीव द्रव्य में अन्य द्रव्यों की तरह एकत्व ही सिद्ध होता है। कर्म पुद्गल के भिन्न होने पर जीव अपने स्वभाव के रूप में प्रकट होता है। यही उसकी शुद्धता का प्रमाण है। यह अवस्था उसकी शुद्ध अवस्था है, तब उसे शुद्धात्मा-परमात्मा की संज्ञा से अभिहित करते हैं। यदि शुद्धता-एकत्वरूप उसका स्वभाव न हो, तो कर्मबन्ध दूर होने पर उसका एकत्व प्रकट कैसे होता।

आचार्य अमृतचन्द्र जीव के निज स्वभाव का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट कहते हैं -

"इदं तु नित्यव्यक्ततयान्तः प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकी क्रियमाणत्वादत्यन्ततिरोभूतं सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदपि अनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम्। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम्।"

आत्मैकत्व सदा स्पष्टतया अन्तःप्रकाशमान होता हुआ भी कषायचक्र के साथ एकरूप हो जाने के कारण तिरोभूत रहता है, स्वयं का ज्ञान न रहने और जिन्हें उसका ज्ञान है उनका सम्पर्क न करने से न कभी उसे सुना, न कभी परिचय किया और न अनुभव किया। फलतः वह आत्मैकत्व निर्मल विवेक के आलोक से दूर रहा। अतः वह सुलभ नहीं हो सका।

उसे ही आ० कुन्दकुन्द ने समयसार के द्वारा और आ० अमृतचन्द्र ने इसकी प्रौढ़ संस्कृत-टीका आत्मख्याति द्वारा बताया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि "जीव" नाम का द्रव्य सब द्रव्यों से भिन्न, स्वतन्त्र और ज्ञान-दर्शन स्वभाव को लिए हुए है। वह अनन्त गुणों एवं अनन्त शक्तियों का भण्डार है। सब द्रव्यों से आत्मद्रव्य का सर्वाधिक महत्व है।

अध्यात्म ग्रन्थों में उसकी सत्ता, उसके गुण और उसकी अवस्थाएं आदि का बड़ा सूक्ष्म प्रतिपादन किया है। हम अपनी भूलवश पर द्रव्य को खासकर पुद्गल द्रव्य को अपना समझते हैं और उन्हें सुखसाधन मानकर उनमें राग करते हैं और विरोधी में द्वेष करते हैं। पर को अपना मानने का ही रोग राग-द्वेष-मोह है। जब तक यह भ्रम रहेगा, जीव सुखी न होगा। सुख तो ज्ञान-दर्शन की तरह उसका स्वभाव है और स्वभाव परसे नहीं आता और आता हो, तो वह स्वभाव नहीं होगा। जीव का पर पदार्थों के साथ संयोग उसका बन्धन है और वही संसार है। पाँचों इन्द्रियाँ जहाँ ज्ञान का साधन हैं वहीं वे विषयों में राग-द्वेष की भी साधन बनती हैं। ज्ञानी जीव इतना समझ ले और पर संसर्ग छोड़ने की ओर गति करे तो उसका परसे बन्धन (संयोग) छूटना ही उसकी मुक्ति है।

जब तक उसे आत्मज्ञान नहीं है, देह, द्रविण आदि में ही निजात्म मानता है तब तक वह अध्यात्म की भाषा में वह "बहिरात्मा" है। पर वही जब पर से भिन्न पर द्रव्यों से भिन्न, पर के गुणों से भिन्न और पर की अवस्थाओं से भिन्न तथा अपनी आत्मा के निज स्वरूप, निज गुणों और निज पर्यायों से अभिन्न एक रूप स्वीकार करता है तब उसकी "अन्तरात्मा" संज्ञा हो जाती है और इस सिद्धान्त के अनुसार व "अन्तरात्मा" परसे अपना सम्पूर्णतया राग-द्वेषादि हटा लेता - उनसे रहित हो जाता है, तब वह उस सबसे रहित "परमात्मा" कहा जाता है। आत्म-दर्शन ही परमात्मा बनने की सीढ़ी है ।

"नाहं भवामि परेषां नामपरे सन्ति।"

इस सूक्ति के अनुसार जब जानता है कि मैं पर का संबन्धी नहीं हूँ और पर मेरे कोई संबन्धी नहीं है। स्त्री, पुत्र, पौत्र, भाई, भगिनी आदि संबन्ध देह के हैं, आत्मा के नहीं। वे आत्माएं जन्मान्तर से आकर अपने किये हुये शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार नाना योनियों में जन्म लेते हैं। किसी संयोगवश उनका जन्म हमारी देह के संयोग से हुआ तो वह हमारा पुत्र माना गया और मैं उसका पिता। पुत्री हुई तो वह पुत्री और दोनों वे भाई-बहिन कहे गये। जिसके उदर से जन्मे वह माता कही गयी। पत्नी तो प्रत्यक्ष सर्वथा भिन्न वस्तु है। हमने उससे विवाह कर शारीरिक संबन्ध स्थापित किया है। इस विवाह के पूर्व हमारा उससे या उसके परिवार से कोई संबन्ध न था, न उसका हमसे कोई सम्बन्ध था। जब सांसारिक माने जानेवाले संबन्ध ही न थे तब आत्मा के संबन्धों का प्रश्न ही नहीं है। यह अध्यात्म की दृष्टि है। किन्तु लोक व्यवहार को नकारा नहीं जा सकता। वह है, पर कर्मबन्ध की दृष्टि से वह है, जो जीव के साथ अनादि से चला आ रहा है।

यदि बालक-बालिका के परिवार में कोई रिश्ता पहले से हो तो वहाँ विवाह मान्य नहीं होगा। तो कहना चाहिये कि जिन दोनों का परस्पर लौकिक पारलौकिक देह या आत्मा का कोई संबन्ध न हो, उनकी सगे पति-पत्नी की मान्यता वर्तमान देह के संबन्ध की मान्यता है जो अब प्रारम्भ है और समाज ने उसे मान्यता दी है। पुत्रादि संबन्ध तो उसके

बाद के हैं। सारे ही संबन्धों का हेतु देह-सम्बन्ध है। इसलिये कहना चाहिये कि जिसे हम "आत्मज" कहते हैं वह "आत्मज" नहीं, "देहज" ही हैं।

देहज सम्बन्ध को आत्मज संबन्ध मानकर ही हमारे संसार के सब व्यवहार चले हैं। उनके संयोग-वियोग से हमारा सुख-दुःख है। इसी देह के सुख साधन बाह्य जड़ पदार्थों का संचय-रक्षण भी इसी मान्यता पर चलता है। मैंने गृहस्थी बनाई, मैंने मकान बनाया, सम्पत्ति अर्जित की, प्रतिष्ठा प्राप्त की। यह सब मेरा वैभव है, यह सब मान्यता कल्पित ही चली है। एक जन्म से संबन्धित है, पर जन्म से नहीं, शरीर प्रत्येक जन्म के भिन्न भिन्न हैं तो परिवार भी उस शरीर से भिन्न भिन्न होगा। इस तरह अनेक योनियों में जन्म धारण कर हमने नया परिवार बनाया, नई नई गृहस्थी बनाई, नए नए साधन बनाए, पर अन्त में देह ने साथ छोड़ा तो सब संबन्ध समाप्त हो गये।

प्राणी यह समझ ले कि आत्मा अमर है, शरीर मरता है। दोनों का एक जन्मी सम्बन्ध था, सदा से नहीं। सदा को नहीं। जब जन्म सन्तान का होता है अर्थात् नया जीव शरीर धारण करता है तब हम प्रसन्न होते हैं। उससे राग होता है। बड़ी-बड़ी आशाएं जन्म से ही हम लगा लेते हैं। ज्योतिषी से उसकी जन्म-कुंडली बनवाते हैं। किसलिये कि उसका भावी जीवन कैसा है, सुख-दुःख क्या है। माता-पिता परिवार जन के लिये अनुकूल प्रतिकूल क्या है। जन्म के साथ मरण अनिवार्य है। ज्योतिषी जन्म-कुंडली नहीं बनाता।

जन्म तो हो गया, अब तो उसके बाद जीवन और उसके अनिवार्य अन्त का प्रश्न है। वही हल करना है। तब कहना चाहिये कि वह "मरण-कुंडली" बनाता है। यह बताता है कि इसकी इतनी आयु है। हम भी संतोष करते हैं कि अच्छी आयु है, वहीं यह भी जानते हैं कि इस आयु के पश्चात् मरण ही है। यह जन्म-मरण का संबन्ध अनादि से ही इस जीव के साथ है। शुभाशुभ कर्म करता है। फलस्वरूप शुभ-अशुभ गति में जाता है। वहाँ उस जीवन मरण में सांसारिक सुख-दुःख अपने मोह राग द्वेष के अनुसार करता है। इस चक्र से निकल नहीं पाता। यदि निकल जाय तो वही मुक्ति है।

संसार यदि दुःख रूप है तो मुक्ति में उस दुःख से छुटकारा है। यही सुख है वह "अन्तरात्मा" प्राप्त कर परमात्मा बनता है।

अन्तरात्मा को ही सम्यक्दृष्टि कहा गया है। संसार परिभ्रमण की क्रिया तब तक न छूटेगी जब तक हम उस प्रक्रिया के यथार्थ कारणों को न जानेंगे। मार्ग का निर्णय करने वाला ही उस मार्ग पर चल कर मंजिल को प्राप्त करता है, जिसने मार्ग का निर्णय नहीं किया, उसकी यात्रा उसे मंजिल तक नहीं पहुँचायेगी।

अतः संसार की यथार्थ प्रक्रिया को जानना ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञानी ही मार्ग और मंजिल का यथार्थ निर्णय कर सकता है।

इस अध्यात्मदृष्टि का निर्णय और उसकी प्राप्ति का मार्ग जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है और उनके कथन के आन्तरिक रहस्य को आचार्य अमृतचन्द्र ने सर्वप्रथम खोला है। उनकी समयसार की संस्कृत टीका प्रौढ़ और प्राञ्जल है। गद्यमय टीका के अन्त में एक-एक पद्य प्रत्येक अध्याय के अन्त में तथा कहीं मध्य में भी "भवन" के कलश स्वरूप या टीका के अमृत के कलश (टीका) रूप में लिखा है, जिसमें टीका का निचोड़ है। "लघुतत्त्वस्फोट" नामक स्तुतिपरक संस्कृत काव्यमय उनकी दूसरी उत्कृष्ट रचना भी है और जो प्रकाशित है।

आत्मा के स्वकर्तृत्व एवं पर के अकर्तृत्व की घोषणा आचार्य अमृतचन्द्र ने जोरदार शब्दों में की है। वे लिखते हैं कि प्रत्येक द्रव्य नियम से परिवर्तनशील हैं। अपने परिवर्तन का वह स्वयं कर्ता है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का यथार्थ कर्ता नहीं होता है, मात्र निमित्त कारण हो भी जाता है।

कार्य की उत्पत्ति में दो कारण माने जाते हैं- (१) उपादान और (२) निमित्त। निमित्त कारण वह होता है जो उस उपादान का सहयोगी होता है, पर कारक नहीं। यदि प्रत्येक द्रव्य के परिवर्तन में पर द्रव्य को कर्ता माना जाये तो वह परिवर्तन स्वाधीन न होगा, किन्तु पराधीन हो जायेगी और ऐसी स्थिति में द्रव्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव द्रव्य की संसार से मुक्ति पराधीन हो जायेगी, जब कि मुक्ति स्वाधीनता का नाम है या ऐसा कहिए कि पराधीनता से छूटने का नाम ही मुक्ति है।

संसार में जीवन का बंधन यद्यपि पर के साथ है, पर उस बंधन में अपराध उस जीव का स्वयं का है। वह निज के स्वरूप को न जानने की भूल से पर को अपनाता है और वहीं उसका बंधन है। और यह बंधन ही संसार है। इस बंधन से छूटने के लिये जब उसे अपनी भूल का ज्ञान होता है, तो वह उस मार्ग से विरक्त होता है।

सारांश यह है कि संसारी आत्मा अपने विकारी भावों के कारण कर्म से बंधा है और अपने आत्मज्ञान रूप अविकारी भाव से ही कर्मबंधन से मुक्त होता है। पर संसारी और मुक्ति दोनों अवस्था में अपने उन उन भावों का कर्त्ता वह स्वयं है, अन्य कोई नहीं। ज्ञानी ज्ञान भाव का कर्त्ता है और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्त्ता है। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने यही लिखा है--

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता सो भवति तस्य भावस्य।
ज्ञानिनस्तुज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः।। (संस्कृत छाया) १२६।।

अर्थात् जो आत्मा जिस समय जिस भाव को करता है उस समय उस भाव का कर्त्ता वही है। ज्ञानी का भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानी का भाव अज्ञानमय होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र भी लिखते हैं -

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।। ६७ ।।

कर्ता और कर्म के सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं -

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत् कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।। ५१।।

जो पदार्थ परिवर्तित होता है वह अपनी परिणति का स्वयं कर्त्ता है और वह परिणमन उसका कर्म है और परिणति ही उसकी क्रिया हैं। ये तीनों वस्तुतः एक ही वस्तु में अभिन्न रूप में ही हैं, भिन्न रूप में नहीं।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते ते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यात् अनेकमप्येकमेव यतः।। ५२ ।।

द्रव्य अकेला ही निरन्तर परिणमन करता है वह परिणमन भी उस एक द्रव्य में ही पाया जाता है और परिणति क्रिया उसी एक में ही होती है इसलिये सिद्ध है कर्ता, कर्म, क्रिया अनेक होकर भी एक सत्तात्मक है। तात्पर्य यह है कि हम अपने परिणमन के कर्ता स्वयं हैं दूसरे के परिणमन के कर्ता नहीं हैं। आगे चलकर आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं-

"आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत् किं ज्ञानधनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः।।५५।।

अर्थात् संसारी प्राणियों की अनादि काल से ही ऐसी दौड़ लग रही है कि मैं पर को ऐसा कर लूँ। यह मोही अज्ञानी पुरुषों का मिथ्या अहंकार है। जब तक यह टूट न हो तब तक उसका कर्म बंध नहीं छूटता। इसीलिये वह दुःखी होता है और बंधन में पड़ता है। इसी को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने यह सिद्धांत स्थापित किया है कि -

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।५६।।

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है और परद्रव्यों के भावों का (परिवर्तनों का) कर्ता परद्रव्य ही है। आत्मभाव आत्मा ही है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि परकर्तृत्व पदार्थ में स्वतः नहीं। किन्तु अपने परिणमन के कर्तृत्व में पर्याय स्वतंत्र है। इन उद्धरणों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि अपने बंधन का अधिकारी यह प्राणी स्वयं है तथा अपनी मुक्ति का अधिकारी भी वह स्वयं है। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र आदि ने सब द्रव्यों की स्वतंत्रता की घोषणा कर प्रत्येक व्यक्ति के पुरुषार्थ को जगाया है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अध्यात्म की परिभाषा है। इसका विशद विवेचन आचार्य कुन्दकुन्द और उनके समर्थ टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों में किया गया है।

●

जैन कर्मसिद्धान्त : नामकर्म के विशेष सन्दर्भ में

कर्म-सिद्धान्त के विषय में जितनी युक्तियुक्त वैज्ञानिक सूक्ष्म विवेचना जैनधर्म में की गई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। अनेकान्तवाद, अहिंसा आदि सिद्धान्तों की तरह कर्म-सिद्धान्त भी जैनधर्म का अपना विशेष महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जैनदर्शन एवं आचार की समस्त महत्वपूर्ण मान्यतायें एवं धारणायें कर्म सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जैनधर्म की वैज्ञानिक धर्म के रूप में मान्यता या प्रसिद्धि में कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता एक प्रमुख कारण है। कर्म क्या है ? क्यों बंधते हैं ? बंधने के क्या-क्या कारण है ? जीव के साथ वे कब-तक रहते हैं ? क्या-क्या और किस प्रकार फल देते हैं ? उनसे मुक्ति कैसे प्राप्त होती है ? इन विविध प्रश्नों का समाधान जैनधर्म में सहजता से मिलता है।

जैन कर्मसिद्धान्त इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से ईश्वरादि परकर्तृत्व या सृष्टिकर्तृत्व के भ्रम को तोड़कर प्रत्येक प्राणी को अपने पुरुषार्थ द्वारा उस अनन्त चतुष्टय (अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-बल और अनन्त-वीर्य) की प्राप्ति का मार्ग सहज और प्रशस्त किया है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का स्वयं स्रष्टा, स्वर्ग-नरक का निर्माता और स्वयं ही बंधन और मोक्ष को प्राप्त करने वाला है। इसमें ईश्वर आदि किसी अन्य माध्यम को बीच में लाकर उसे कर्तृत्व मानना घोर मिथ्यात्व बतलाया गया है। इसीलिए "बुज्झिज्जत्ति उट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया"-आगम का यह वाक्य स्मरणीय है जिसमें कहा गया है कि बंधन को समझो और तोड़ो, तुम्हारी अनन्तशक्ति के समक्ष बन्धन की कोई हस्ती नहीं है।

इसीलिए जैन एवं वेदान्त दर्शन का यही स्वर बार-बार याद आता है कि रे आत्मन्। तेरी मुक्ति तेरे ही हाथ में है, तू ही बन्धन करने वाला है और तू ही अपने को मुक्त करने वाला भी है–

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते।।

इसीलिए एक को दूसरों के सुख-दुःख, जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञानता है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो फिर स्वयं कृत शुभाशुभ कर्म निष्फल सिद्ध होंगे। इस सन्दर्भ में आचार्य अमितगति का यह कथन स्मरणीय है–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्य मानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्।।

इस तरह जैन कर्मसिद्धान्त दैववाद नहीं अपितु अध्यात्मवाद है। क्योंकि इसमें दृश्यमान सभी अवस्थाओं को कर्मजन्य कहकर यह प्रतिपादन किया गया है कि "आत्मा अलग है और कर्मजन्य शरीर अलग है।" इस भेदविज्ञान का सर्वोच्च उपदेष्टा होने के कारण जैन कर्मसिद्धान्त अध्यात्मवाद का ही दूसरा नाम सिद्ध होता है।

कर्म विषयक साहित्य

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य देशी भाषाओं में कर्म आगमिक तथा आगमेतर विषयक जैन साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। आचारांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती सूत्र आदि अंग आगमों के साथ ही आचार्य गुणधर विरचित कसायपाहुडसुत्त तथा आचार्य वीरसेन स्वामी विरचित इसकी सोलह खण्डों में प्रकाशित बृहद् जयधवला नामक टीका, आ. पुष्पदन्त-भूतबलि विरचित षट्खण्डागम तथा इस पर आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन स्वामी विरचित धवला टीका, पंचसंग्रह, मूलाचार का पर्याप्ति अधिकार, गोम्मटसार आदि अनेक महान् ग्रन्थ कर्म विषयक साहित्य में प्रमुख है। इस सन्दर्भ में विशेष जानकारी हेतु सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द शास्त्री द्वारा लिखित एवं श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी द्वारा प्रकाशित जैन साहित्य का इतिहास-प्रथम भाग विशेष दृष्टव्य है।

कर्मबंध और उसकी प्रक्रिया

मूलतः आत्मा की दो अवस्थायें हैं– बद्धदशा और मुक्तदशा। एक में बन्धन है तो दूसरी में मुक्ति। जगत् के कर्मबंध का और आत्मा के अशुद्ध भाव का एक विलक्षण ही सम्बन्ध है। आत्मा में बंध तो निजी विकल्पों के कारण होता है। यदि अन्तः भावों में राग-द्वेष की चिकनाई न हो तो बाह्य पदार्थों के रजकण उस पर चिपक नहीं सकते और न उस आत्मा को मलिन ही कर सकते हैं। आचार्य अकलकंदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मद्य (शराब) रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप **कषायों** तथा मन, वचन, काय की क्रिया रूप **योग** के कारण कर्मरूप परिणमन होता है। जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणमन करते हैं। कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसे बंध कहते हैं।

वस्तुतः प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष की वृत्ति काम करती है। यह प्रवृत्ति अपना एक संस्कार छोड़ जाती है। संस्कार से पुनः प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति से पुनः संस्कार निर्मित होते हैं। इस तरह यह सिलसिला बीज और वृक्ष की तरह सनातन-काल से चला आ रहा है। जीव और कर्मों का सम्बन्ध अनादि है या सादि ? इसके उत्तर में आचार्य पूज्यपाद

ने कहा है कि–जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध भी है और सादि सम्बन्ध भी है। कार्य-कारण भाव की परम्परा की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेष की अपेक्षा सादि सम्बन्ध है। जैसे बीज और वृक्ष का सम्बन्ध। यद्यपि ये सम्बन्ध अनादि से चले आ रहे हैं किन्तु बीज के बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्ष के बिना बीज नहीं होता। इस अपेक्षा से प्रत्येक बीज और वृक्ष सादि व सहेतुक हैं। इस प्रकार प्रत्येक कर्मबंध व जीव का विकारी परिणाम सहेतुक व सादि है, किन्तु संतान-परम्परा की अपेक्षा अनादि है। (सर्वार्थसिद्धि २/४१)

प्रायः सभी परलोकवादी दर्शनों की यह मान्यता है कि आत्मा जैसे अच्छे या बुरे कर्म करता है, तदनुसार ही उसमें अच्छा या बुरा संस्कार पड़ जाता है और उसे उसका अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है। किन्तु जैनधर्म जहाँ अच्छे या बुरे संस्कार आत्मा में मानता है वहाँ सूक्ष्म कर्मपुद्गलों का उस आत्मा से बंध भी मानता है। उसकी मान्यता है कि इस लोक में सूक्ष्मकर्म पुद्गल स्कन्ध भरे हुए हैं, जो इस जीव की कायिक, वाचनिक या मानसिक प्रवृत्ति रूप योग से आकृष्ट होकर स्वतः आत्मा से बद्ध हो जाते हैं और आत्मा में वर्तमान कषाय के अनुसार उनमें स्थिति और अनुभाग पड़ जाता है। जब वे कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर उदय में आते हैं तो अच्छा या बुरा फल देते हैं। इस प्रकार जीव पूर्वबद्ध कर्म के उदय से क्रोधादि कषाय करता है और उससे नवीन कर्म का बंध करता है।

कर्मबन्ध के चार भेद हैं - १. कर्मों में ज्ञान आदि गुणों को घातने, सुख-दुःखादि देने का स्वभाव पड़ना **प्रकृतिबंध** है। २. कर्म बंधने पर जितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहेंगे, उस समय की मर्यादा का नाम **स्थितिबंध** है। ३. कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दे उस फलदान की शक्ति का पड़ना **अनुभागबन्ध** है। ४. कर्म परमाणुओं की संख्या के परिणाम को **प्रदेशबंध** कहते हैं।

इनमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योग से होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं। योग जितना तीव्र या मन्द होता है, तदनुसार ही पौद्गलिक कर्मस्कन्ध आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। जैसे हवा जितनी तेज, मन्द चलती है, तदनुसार ही धूल उड़ती है । इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ- जैसे तीव्र या मन्द होते हैं, तदनुसार ही कर्म पुद्गलों में तीव्र या मन्द स्थिति और अनुभाग पड़ता है। इस तरह योग और कषाय बंध के कारण है। इनमें भी कषाय ही संसार की जड़ है।' क्योंकि कषायों के बिना कर्म परमाणु आत्मा में टिकते नहीं हैं। जबकि आत्मा में चुम्बक की तरह एक आकर्षण शक्ति होती है, जो संसार में सर्वत्र पाये जाने वाले सूक्ष्म कार्माण स्कन्धों को अपनी ओर खींचा करती है। आत्मा की इस आकर्षण शक्ति को ही "योग" कहा जाता है। इस तरह कर्म पुद्गलों का खिंच आकर आत्मा से सम्बन्ध करना और उनमें स्वभाव का पड़ना यह

कर्मयोग (मन, वचन, कायरूप क्रिया) से होता है। यदि वे कर्म पुद्गल किसी के ज्ञान में बाधा डालने वाली क्रिया से खिचे हैं तो उनमें ज्ञान गुण को आवृत (ढकने) करने का स्वभाव पड़ेगा। और यदि रागादि कषायों से खिंचे हैं तो चारित्र के नष्ट करने का स्वभाव पड़ेगा।

अष्टविध कर्म

जिस तरह खाया हुआ अन्न अपने आप रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी आदि के रूप में बदल जाता है, उसी तरह से आत्मा के साथ संबंधित "कर्म" भी तरह-तरह के भेदों में बदल जाते हैं। जिन्हें हम ज्ञानवरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय - इन आठ भेदों या नामों से पुकारते हैं। और ये कर्म ही विभिन्न रूप में आत्मा के साथ संबंधित होकर मनुष्यों में और समस्त जीवधारियों में हीनाधिकता पैदा किया करते हैं। ये आठ कर्म ही आत्मा के निर्मल स्वरूप को किसी न किसी प्रकार धूमिल बनाते रहते हैं। इसीलिए इन आठ कर्मों का अपने-अपने स्वभाव के अनुसार नामकरण भी हैं। इनमें आत्मा के गुणों का घात करने के कारण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय - ये चारों "घातिया" कर्म कहलाते हैं। क्योंकि आत्म विकास में ये विशेष बाधक होते हैं। शेष चार कर्म- वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र- ये चारों "अघातिया" कर्म कहलाते हैं। इनमें चार "घातिया" कर्म के नाश से सर्वज्ञता से समलंकृत आत्मा निज स्वरूप में लीन रहती हुई अरहंत पद प्राप्त करती है, जबकि घातिया, अघातिया समस्त कर्मों के पूरी तरह क्षय हो जाने पर पूर्ण विशुद्धि रूप "सिद्ध" स्वरूप की प्राप्ति होती है।

नामकर्म और इसका वैशिष्ट्य

पूर्वोक्त जैन कर्मसिद्धान्त के विशेष सन्दर्भ में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में छठे "नामकर्म" को इसलिए इस निबंध में विशेष सन्दर्भित किया जा रहा है चूँकि उपर्युक्त आठ कर्मों में इस नामकर्म का अनेक दृष्टियों से विशेष महत्त्व है।

आज संसार में अनन्तानन्त प्रकार के जीवों में जो विविधता, समानता, चित्र-विचित्रता, आकार-प्रकार, उनका अपना-अपना स्वभाव, स्पर्श, गन्ध, यश-अपयश आदि दिखालाई देता है, वह सब इसी नामकर्मोदय की महिमा है न कि किसी ईश्वर विशेष की। परकर्तृत्व के भ्रम को तोड़ने में यही कर्म विशेष कार्य करता है। चौरासी लाख योनियों में जीव की अनन्त आकृतियाँ हैं। इन सबके निर्माण का कार्य यह नामकर्म ही करता है। इसी से शरीर और उसके अंगोपांग आदि की रचना होती है। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार इस नामकर्म के उदय से हमारा शरीर और उसके अंगोपांगों का निर्माण भी होता है। सुन्दर, विकृत, छोटा, बड़ा शरीर आदि सब तदनुरूप शुभाशुभ नामकर्म के उदय से बनते हैं।

इस प्रकार विश्व की विचित्रता में नामकर्म रूपी चितेरे की कला अभिव्यक्ति होती है न कि ईश्वरादि किसी अन्य विशेष की। इसीलिए तो जिनसेनाचार्य ने कहा है-

विधिः स्रष्टा विधाता च दैवकर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः।। महापुराण ३७/४

नामकर्म का स्वरूप :

नामकर्म के विशेष विवेचन के पूर्व सर्वप्रथम उसका स्वरूप जान लेना भी आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है -

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वासुरं कुणदि।। प्रवचनसार ११७।।

अर्थात् नामसंज्ञावाला कर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देवरूप करता है। धवला टीका (६/१, ६ तथा १०/१३/३) में कहा है- जो नाना प्रकार की रचना निर्वृत्त करता है वह नामकर्म है।[1] शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कार्यों के करने वाले जो पुद्गल जीव में निविष्ट हैं वे "नाम" इस संज्ञा वाले होते हैं।[2] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (६/१, ६ तथा १०/१३/३) में बतलाया है कि आत्मा का नारक आदि रूप नामकरण करना नामकर्म की प्रकृति (स्वभाव) है, जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह "नामकर्म" है।

इस नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ तथा तैरानवे उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनका विश्लेषण आगे किया जायेगा। इनमें शरीर नामकर्म के अन्तर्गत शरीर के पाँच भेदों का निरूपण विशेष दृष्टव्य है। वस्तुतः औदारिक या वैक्रियिक शरीर योग्य कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करना-यही जन्म का प्रारम्भ है। कर्मों के ही उदय से वह जीव बिना चाहे हुए मरण करके दूसरी पर्याय में उत्पन्न होता है। वहाँ वर्गणाओं का ग्रहण नामकर्म के उदय से स्वयमेव होता रहता है। ये वर्गणायें स्वयं ही पर्याप्ति, निर्माण, अंगोपांग आदि के उदय से औदारिक या वैक्रियिक शरीर के आकार परिणमन कर जाती है। जैसे- जीव के अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर लोक में सर्वत्र फैली हुई कार्मण वर्गणायें स्वयं ही अपने-अपने स्वभावनानुसार ज्ञानावरणादि पूर्वोक्त आठ कर्मस्थ परिणमन कर जाती है। इसी तरह नामकर्म तथा गोत्रकर्म के उदय से भिन्न-भिन्न जाति की वर्गणायें स्वयं ही अनेक प्रकार के देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यचों के शरीर के आकार रूप परिणमन कर जाती है। इस तरह यह शरीर आत्मा का कोई कारण या कार्य नहीं है, कर्मों का ही कार्य है।

१. जैन साहित्य का इतिहास प्रथम भग पृ. ३८
२. तदैव

कार्माण शरीर का निर्माण सूक्ष्म बीज रूप अदृश्य वर्गणायें ही करती हैं। जैसे महान् वटवृक्ष का अत्यन्त छोटा बीज या महासागर का एक बूँद जल वृक्ष अथवा सागर की सारी प्रकृति, गुण, ढांचा आदि अपने भीतर आत्मसात किये हुए रहता है, वैसे ही ये बीज कार्माण वर्गणायें भी अलग-अलग उन सभी विभिन्न रासायनिक संगठनों की प्रतिनिधि स्वरूप उनके विभिन्न गुण-प्रभाव से युक्त रहती हैं। इन्हीं बीज रूप कार्मण वर्गणाओं द्वारा परिचालित या प्रेरित हमारे मन, वचन और शरीर (इन्द्रियों) द्वारा होने वाले सभी कार्य या कर्म होते हैं। इस तरह हमारे सभी कर्मों का उद्गम स्थान ये आतंरिक रासायनिक संगठन रूप वर्गणायें (मालीक्यूलस) ही हैं।

अब यहाँ "नामकर्म" की बयालीस प्रकृतियों का स्वरूप विवेचन प्रस्तुत है -

नामकर्म और उसकी प्रकृतियाँ

नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हैं। इन्हें पिण्ड प्रकृतियाँ भी कहते हैं। ये इस प्रकार हैं- गति, जाति, शरीर, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, अंगोपांग, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, आनुपूर्वी, अगुरूलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, विहायोगति, त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, साधारण, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, आदेय, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, दुःस्वर, अयशस्कीर्ति, सुस्वर, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थकरत्व[1]। ये बयालीस प्रकृतियाँ ही नामकर्म के भेद (प्रकार) कहे जाते हैं। इनका विवेचन प्रस्तुत है-

१. गति नामकर्म-गति, भव, संसार- ये पर्यायवाची शब्द हैं[2]। जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को गमन करता है वह गति नामकर्म है। यदि वह कर्म न हो तो जीव गति रहित हो जायेगा। इसी गति नामकर्म के उदय से जीव में रहने से आयु कर्म की स्थिति रहती है और शरीर आदि कर्म उदय को प्राप्त होते हैं। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति - ये इसके चार भेद हैं। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से आत्मा को नरक, तिर्यच आदि भव प्राप्त होते हैं, उनसे युक्त जीवों को उन-उन गतियों में नरक-गति, तिर्यकगति आदि संज्ञायें प्राप्त होती हैं।

२. जाति नामकर्म-जिन कर्मस्कन्धों से सदृशता प्राप्त होती है, जीवों के उस सदृश परिणाम को जाति कहते हैं[3]। अर्थात् उन गतियों में अत्यभिचारी सादृश से एकीभूत स्वभाव (एकरूपता) का नाम जाति है। यदि जाति नामकर्म न हो तो खटमल-खटमल के समान, बिच्छू-बिच्छू के समान इसी प्रकार अन्य सभी सामान्यतः एक जैसे नहीं हो सकते। जाति

---

१. मूलाचार १२/१९३-१९६ तत्वार्थसूत्र ८/११
२. गतिर्भवः संसारः मूलाचार टीका १२/९३
३. जातिर्जीवानां सदृशः परिणाम - वही

के पांच भेद हैं- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके लक्षण इस प्रकार हैं - जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति में पैदा हो अर्थात एकेन्द्रिय शरीर धारण करे उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि का स्वरूप बनता है।

३. शरीरनामकर्म-जिसके उदय से आत्मा के लिए शरीर की रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। यह कर्म आत्मा को आधार या आश्रय प्रदान करता है। क्योंकि कहा है कि "यदि शरीर-नामकर्म न स्यादात्मा विमुक्तः स्यात्' अर्थात् यदि यह कर्म न हो तो आत्मा मुक्त हो जाय। **इसके भी पांच भेद हैं** - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस और कार्माण शरीर। जिसके उदय से जीव के द्वारा ग्रहण किये गये आहार वर्गणा रूप पुद्गलस्कन्ध रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा और शुक्र स्वभाव से परिणत होकर औदारिक शरीर रूप हो जाते हैं उसका नाम औदारिक शरीर है। इसी प्रकार अन्य भेदों का स्वरूप बनता है[२]।

४. बन्धन नामकर्म-शरीर नामकर्म के उदय से जो आहार-वर्गणारूप पुद्गल-स्कन्ध ग्रहण किये उन पुद्गलस्कन्धों का परस्पर संश्लेष सम्बन्ध जिस कर्म के उदय से हो उसे बंधन-नामकर्म कहते हैं। यदि यह कर्म न हो तो यह शरीर बालू द्वारा बनाये हुए पुरुष के शरीर की तरह हो जाय। इसके भी औदारिक, वैक्रियिक शरीर, बन्धन आदि पांच भेद हैं[३]।

५. संघात नामकर्म-जिसके उदय से औदारिक शरीर, छिद्ररहित परस्पर प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाह रूप एकत्व प्राप्त हो उसे संघात नामकर्म कहते हैं[४] इसके भी औदारिक-शरीर संघात आदि पांच भेद हैं।

६. संस्थान नामकर्म-जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर के आकार की रचना हो वह संस्थान नामकर्म है। इसके छह भेद हैं- समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति कुब्जक, वामन और हुंडक (विषम आकार) संस्थान।

७. संहनन नामकर्म-जिसके उदय से हड्डियों की संधि में बंधन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। इसके छह भेद हैं। १. वज्रर्षभनाराच, २. वज्रनाराच, ३. नाराच, ४. अर्द्धनाराच, ५. कीलक और ६. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन[५]

८. अंगोपांग नामकर्म-जिस कर्म के उदय से अंग और उपांगों की स्पष्ट रचना हो वह अंगोपांग नामकर्म है। इसके तीन भेद हैं- औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर, अंगोपांग[६]

---

१. मूलाचारवृत्ति १२/१६३
२. मूलाचारवृत्ति १२/१६३
३. मूलाचारवृत्ति १२/१६३
४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड हिन्दी टीका (आर्यिका आदिमती जी) पृ. २६
५. मूलाचारवृत्ति १२/१६४
६. मूलाचारवृत्ति १२/१६४

९. वर्ण नामकर्म-जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, नील, रक्त, हरित और शुक्ल - ये वर्ण (रंग या रूप) उत्पन्न हों वह वर्ण नामकर्म है। इन ५ वर्णों से ही इसके पांच भेद बनते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गलों में कृष्णता प्राप्त होती है वह कृष्णवर्ण नामकर्म है। इसी तरह अन्य हैं[1]।

१०. रस नामकर्म-इसके उदय से शरीर में जाति के अनुसार जैसे नीबू, नीम आदि में प्रतिनियत तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर रस उत्पन्न होते हैं। यही इस नामकर्म के पांच भेद हैं।

११. गन्ध नामकर्म-जिसके उदय से जीव के शरीर में उसकी जाति के अनुसार गन्ध उत्पन्न हो वह गन्ध नामकर्म है। इसके दो भेद हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध।

१२. स्पर्श नामकर्म-जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में उसकी जाति के अनुरूप स्पर्श उत्पन्न हो। जैसे सभी उत्पल, कमल आदि में प्रतिनियत स्पर्श देखा जाता है। इसके आठ भेद हैं- कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, सूक्ष, शीत और उष्ण।

१३. आनुपूर्वी नामकर्म-जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में पूर्वशरीर (मरण से पहले के शरीर) का आकार रहे उसका नाम आनुपूर्वी है। इस कर्म का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि विग्रहगति में उस अवस्था के लिए निश्चित आकार उपलब्ध होता है और उत्तम शरीर ग्रहण करने के प्रति गमन की उपलब्धि भी पायी जाती है। इसके चार भेद हैं- नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति., मनुष्यगति., देवगतिंप्रायोग्यानुपूर्व।

१४. अगुरुलघु नामकर्म-जिसके उदय से यह जीव अनन्तानन्त पुद्गलों से पूर्ण होकर भी लोहपिण्ड की तरह गुरु (भारी) होकर न तो नीचे गिरे और रुई के समान हल्का होकर ऊपर भी न जाय उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

१५. उपघात नामकर्म-"उपेत्य घातः उपघातः" अर्थात् पास आकर घात होना उपघात है। जिस कर्म के उदय से अपने द्वारा ही किये गये गलपाश आदि बंधन और पर्वत से गिराना आदि निमित्तों से अपना घात हो जाता है वह उपघात नामकर्म है। अथवा जो कर्म जीवको अपने ही पीड़ा में कारणभूत बड़े-बड़े सींग, उदर आदि अवयवों को रचना है वह उपघात है।

१६. परघात नामकर्म-जिसके उदय से दूसरे का घात करने वाले अंगोपांग हो उसे परघात नामकर्म कहते हैं। जैसे बिच्छू की पूंछ आदि।

१७. उच्छ्वास-जिसके उदय से जीव को श्वासोच्छ्वास हो।

१८. आतप-जिसके उदय से जीव का शरीर आतप अर्थात् उसमें अन्य को संतप्त

---

१. मूलाचारवृत्ति १२/१९४

करने वाला प्रकाश उत्पन्न होता है वह आतप है। जैसे सूर्य आदि में होने वाले पृथ्वी कायिक आदि में ऐसा तापकारी प्रकाश दिखता है।

१९. उद्योत-जिसके उदय से जीव के शरीर में उद्योत (शीतलता देने वाला प्रकाश) उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है। जैसे चन्द्रमा, नक्षत्र, विमानों और जुगनू आदि जीवों के शरीरों में उद्योत होता है।

२०. विहायोगति-जिसके उदय से आकाश में गमन हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो भेद हैं।

२१. त्रस नामकर्म-जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक जीवों में उत्पन्न हो, उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

२२. स्थावर (स्थूल)-जिसके उदय से एकेन्द्रिय जीवों (स्थावर कायों) में उत्पन्न हो वह स्थावर नामकर्म है।

२३. बादर (स्थूल)-जिसके उदय से दूसरे को रोकने वाला तथा दूसरे से रुकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त हो उसे बादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

२४. सूक्ष्म नामकर्म-जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो न किसी को रोक सकता हो और न किसी से रोका जा सकता हो, उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते हैं।

२५. पर्याप्ति-जिसके उदय से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन-इन छह पर्याप्तियों की रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है। ये ही इसके छह भेद हैं।

२६. अपर्याप्ति-उपर्युक्त पर्याप्तियों की पूर्णता का न होना अपर्याप् त है।

२७. प्रत्येक शरीर नामकर्म-जिसके उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं।

२८. साधारण शरीर नामकर्म-जिसके उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों, उसे साधारण-शरीर नामकर्म कहते हैं।

२९. स्थिर नामकर्म-जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएं (रस, रूधिर, मांस, मेद, मज्जा, हड्डी और शुक्र) इन सात धातुओं की स्थिरता होती है वह स्थिर नामकर्म है।

३०. अस्थिर-जिसके उदय से इन धातुओं में उत्तरोत्तर अस्थिर रूप परिणमन होता जाता है वह अस्थिर नामकर्म है।

३१. शुभनामकर्म-जिसके उदय से शरीर के अंगों और उपांगों में रमणीयता (सुन्दरता) आती है वह शुभ नामकर्म है।

३२. अशुभनामकर्म-जिसके उदय से शरीर के अवयव अमनोज्ञ हों उसे अशुभनाम कर्म कहते हैं।

३३-३४. सुभग, दुर्भगनामकर्म-जिसके उदय से स्त्री-पुरुष या अन्य जीवों में

परस्पर प्रीति उत्पन्न हो उसे सुभग नामकर्म तथा रूपादि गुणों से युक्त होते हुए भी लोगों के जिसके उदय से अप्रीतिकर प्रतीत होता है उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

३५-३६. आदेय, अनादेय नामकर्म-जिसके उदय से आदेय-प्रभा सहित शरीर हो वह आदेय तथा निष्प्रभ शरीर हो वह अनादेय नामकर्म है।

३७-३८. सुस्वर, दुस्वर नामकर्म-जिसके उदय से शोभन (मधुर) स्वर हो वह सुस्वर तथा अमनोज्ञ स्वर होता है वह दुःस्वर नामकर्म है।

३९-४०. यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति नामकर्म-जिसके उदय से जीव की प्रशंसा हो वह यशःकीर्ति तथा निन्दा हो वह अयशः कीर्ति नामकर्म है।

४१. निमान (निर्माण) नामकर्म-निश्चित मान (माप) को निमान कहते हैं। इसके दो भेद हैं - प्रमाण और स्थान। जिस कर्म के उदय से अंगोपांगों की रचना यथाप्रमाण और यथास्थान हो उसे निमान या निर्माण नामकर्म कहते हैं।

४२. तीर्थंकर नामकर्म-जिस कर्म के उदय से तीन लोकों में पूज्य परम आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है वह परमोत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म है।

इस प्रकार ये नामकर्म की ४२ पिण्ड प्रकृतियाँ हैं। इन्हीं में एक-एक की अपेक्षा इनके ९३ भेद हैं। इनमें अन्तिम तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का विधान है। यद्यपि ये एक साथ सभी सोलह भावनायें आवश्यक नहीं है। किन्तु एक दर्शनविशुद्धि अति आवश्यक होती है। दो से लेकर सोलह कारणों के विकास से भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है।

इस प्रकार नामकर्म की बयालीस प्रकृतियों तथा उत्तरभेद रूप तेरानवें प्रकृतियों के स्वरूप विवेचन से स्पष्ट है कि यह नामकर्म कितना व्यापक, सूक्ष्म और अति संवेदनशील कर्म है। आधुनिक विज्ञान में जहाँ नित-नवीन प्रयोग हो रहे हैं, वहीं इस नामकर्म की महत्ता और भी बढ़ जाती है। नामकर्मोदय से प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी विशेष पहचान वाला स्पर्श, गन्ध, स्वर आदि होते हैं।

•

जैन कर्म-सिद्धान्त के प्रमुख ग्रन्थ

धवला टीका

आचार्य गुणधर कृत **"कसाय-पाहुड"** एवं आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि कृत **"षट्खण्डागम"**-ये दो जैनधर्म के ऐसे विशाल एवं अमूल्य-सिद्धान्त ग्रन्थ हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर महावीर स्वामी की द्वादशांग वाणी से माना जाता है। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार शेष श्रुतज्ञान इससे पूर्व ही क्रमशः लुप्त व छिन्न-भिन्न हो गया था।[1] द्वादशांग के अंतिम अंग दृष्टिवाद के अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये ५ प्रभेद हैं। इनमें पूर्वगत नामक चतुर्थ प्रभेद के पुनः १४ भेद हैं। उनमें से द्वितीय भेद अग्रायणीय पूर्व से[2] षट्खण्डागम का उद्‌भव हुआ है। इस शौरसेनी प्राकृत-भाषाबद्ध कर्मग्रन्थ की टीका का नाम धवला है। यह धवला टीका संस्कृत मिश्रित शौरसेनी प्राकृत भाषाबद्ध है।

सम्प्रति दिगम्बर जैन परम्परा के कर्मग्रन्थों में **धवलत्रय** अर्थात् "धवल, जयधवल तथा महाधवल" का नाम सर्वोपरि है, जिनका सम्मिलित प्रमाण ७२००० + ६०,००० + ३०,००० = १६२,००० श्लोक प्रमाण हैं। इनका प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित कुल १६+१६+७ = ३६ पुस्तकों में, जिनके कुल पृष्ठ १६,३४१ हैं, हुआ है। इस सानुवाद १६,३४१ पृष्ठ प्रमाण परमागम में जैनधर्म सम्मत विशाल व मौलिक कर्मसिद्धान्त का विवेचन है। इनमें सर्वप्रथम आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि कृत षट्खण्डागम पर लिखित विशाल टीका धवला का यहाँ परिचय प्रस्तुत है।

धवला टीका शक सं० ७३८ कार्तिक शुक्ला १३, ता० ८-१०-८१६ ई० बुधवार को पूर्ण हुई थी। इसका प्रमाण ६०,००० श्लोक है। यह १६ भागों में तदनुसार ७०६७ पृष्ठों में २० वर्षों की दीर्घ अवधि (सन् १९३८ से १९५८) में प्रकाशित हुई है।[3]

इसके लेखक आचार्य वीरसेन स्वामी हैं। इनका जीवनकाल शक-संवत् ६६५ से ७४५ है।[4] आपके गुरु ऐलाचार्य हैं। अथवा मतान्तर से आर्यनन्दि हैं। ये सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और न्याय आदि शास्त्रों में पारंगत मनीषी थे। आचार्य जिनसेन के शब्दों में "वीरसेन साक्षात् केवली के समान सकल विश्व के पारदर्शी थे। उनकी सर्वार्थगामिनी

---

१. गो० क० प्रस्ता० पृ० ३ (ज्ञानपीठ)

२. धवल ६/६, धवल १३/२०६

३. धवल ६/१०, धवल १३/२५५-५६।

४. धवल पु० ६, पृष्ठ १०, धवल १३, पृ० ३५७-६८, धवल पु० १५, पृ० ६

नैसर्गिकी प्रज्ञा को देखकर सर्वज्ञ की सत्ता में किसी मनीषी को शंका नहीं रही थी। विद्वान् लोग उनके ज्ञान-किरणों के प्रसाद को देखकर उन्हें प्रज्ञाश्रमणों में श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। वे वृन्दारक, लोक-विज्ञ, वाचस्पतिवत् वाग्मी, सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता, उनकी धवला टीका भुवन-व्यापिनी है। वे शब्दब्रह्म गणधरमुनि, विश्वनिधि के द्रष्टा, सूक्ष्म वस्तु को जानने में साक्षात् सर्वज्ञ थे।"[1] इनके द्वारा रचित धवला टीका की भाषा प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है। उदाहरणार्थ प्रथम पुस्तक में टीका का लगभग तृतीय भाग प्राकृत में है और शेष बहुभाग संस्कृत में है। इसमें उद्धृत पद्यों की संख्या २२१ में से १७ संस्कृत में तथा शेष प्राकृत में है। एवमेव आगे के भाग में भी जानना चाहिए। इस प्रकार संस्कृत-प्राकृत इन दोनों भाषाओं के मिश्रण से मणि-प्रवालन्यायानुसार यह रची गई है।[2] इसकी प्राकृत भाषा शोरसैनी है, जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्यों के ग्रन्थ पाये जाते हैं। ग्रन्थ की प्राकृत अत्यन्त परिमार्जित और प्रौढ़ है। संस्कृत भाषा भी अत्यन्त प्रौढ़, प्राञ्जल तथा न्यायशास्त्रों जैसी होकर भी कर्म-सिद्धान्त-प्ररूपक है।

ग्रन्थ की शैली सर्वत्र शंका उठाकर उसके समाधान करने की रही है। जैसे प्रथम पुस्तक में ही लगभग ६०० शंका समाधान है। टीका में आचार्य वीरसेन सूत्र-विरुद्ध व्याख्यान नहीं करते, परस्पर विरुद्ध दो सूत्रों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए दोनों के संग्रह का उपदेश देते हैं। कहीं विशेष आधारभूत सामग्री के सद्भाव में एक का ग्रहण तथा दूसरे का निषेध करने से भी नहीं चूके हैं। देशामर्शक सूत्रों का सुविस्तृत व्याख्यान करते हैं, किसी विवक्षित प्रकरण में प्रवाह्यमान-अप्रवाह्यमान उपदेश भी प्रदर्शित करते हैं। किन्हीं सूक्ष्म विषयों पर उपदेश के अभाव में प्रसंग-प्राप्त विषय की भी अप्ररूपणा करते हैं, तो कहीं उपदेश प्राप्त कर जान लेने की सम्प्रेरणा करते हैं। सर्वत्र विषय का विस्तार सहित न्याय आदि शैली से वर्णन इसमें उपलब्ध है। यह भारतीय वाङ्मय की अद्भुत कृति है।

विषय-परिचय

षट्खण्डागम की यह धवला टीका १६ पुस्तकों में पूर्ण एवं प्रकाशित हुई है। छः पुस्तकों में षट्खण्डागम के जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड की टीका निबद्ध है। **प्रथम पुस्तक** में गुणस्थानों और मार्गणास्थानों का विवरण है। **द्वितीय पुस्तक** में गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति आदि २० प्ररुपणाओं द्वारा जीव की परीक्षा की गई है। **तीसरी पुस्तक** द्रव्य प्रमाणानुगम है, जिसमें ब्रह्माण्ड में व्याप्त सकल जीवों और उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा गतियों में भी उनकी संख्याएं सविस्तार गणित शैली से सप्रमाण बताई है। **चौथी**

---

१. धवल पु० ६, पृ० ११, धवल १४, पृ० ३५६-६०।

२. धवल पु० ६, पृ० १२, धवल १३, पृ० ३६२।

पुस्तक क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम है। इसमें बताया है कि जीवों के निवास व विहार आदि संबन्धी कितना क्षेत्र (ब्रह्माण्ड में) होता है, तथा अतीत काल में विभिन्न गुणस्थानी व मार्गणस्थ जीव कितना क्षेत्र स्पर्श कर पाते हैं। वे विभिन्न गुणस्थानादि में एवं गति आदि में कितने काल तक रहते हैं? **पंचम पुस्तक** अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व विषयक है। विवक्षित गुणस्थान को छोड़कर अन्यत्र जाकर पुनः उसी गुणस्थान में कितने समय बाद आना सम्भव है? यह मध्य की विरह-अवधि अन्तर कहलाती है। कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, क्षय, उदय आदि के निमित्त से जो परिणाम होते हैं उन्हें भाव कहते हैं। विभिन्न गुणस्थानादिक में जीवों की हीन अधिक संख्या की तुलना का कथन करना अल्पबहुत्व है।

छठीं पुस्तक चूलिका स्वरूप है। इसमें १. प्रकृति-समुत्कीर्तन, २. स्थान-समुत्कीर्तन, ३-५. तीनदण्डक, ६. उत्कृष्ट स्थिति, ७. जघन्यस्थिति, ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति तथा ९. गति-आगति नामक ९ चूलिकाएं हैं।

इनमें से प्रथम दो चूलिकाओं में कर्मप्रकृति (कर्मों) के भेदों और उनके स्थानों की प्ररूपणा की है। सम्यक्त्व के सन्मुख जीव किन प्रकृतियों को बाँधता है, इसके स्पष्टीकरणार्थ तीन दण्डक रूप तीन चूलिकाएं हैं। कर्मों की उत्कृष्ट तथा जघन्यस्थिति छठीं व सातवीं चूलिकाएं प्ररूपित करती हैं। प्रथम की ७ चूलिकाओं द्वारा कर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। शेष दो में क्रमशः कर्मवर्णनाधारित सम्यक्दर्शन-उत्पत्ति तथा जीवों की गति आगति सविस्तार वर्णित है। छठीं पुस्तक के कर्मों का सविस्तार सभेद-प्रभेद वर्णन है, अतः प्रासंगिक जानकर किंचित् लिखा जाता है-

जैनदर्शन में **कर्म के दो प्रकार** कहे हैं-एक द्रव्यकर्म, दूसरा भावकर्म। यह कर्म एक संस्कार मात्र नहीं है, किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है। जो रागी, द्वेषी जीव की क्रिया का निमित्त पाकर उसकी ओर आकृष्ट होता है और दूध व पानी की तरह वह जीव के साथ घुल-मिल जाता है। यह (द्रव्य कर्म) है तो भौतिक पदार्थ, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिए रूढ़ हो गया कि वह जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ बँध जाता है। जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की क्रिया को कर्म ओर इस कर्म के क्षणिक होने से तज्जन्य संस्कार को स्थायी मानते हैं वहाँ जैन दर्शन का मत है कि रागद्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के द्वारा एक प्रकार का द्रव्य आत्मा के साथ आकृष्ट होता है और उसके जो रागद्वेषरूप परिणामों का निमित्त पाकर वह आत्मा के साथ बँध को प्राप्त हो जाता है। तथा कालान्तर में वही द्रव्य आत्मा को अच्छा या बुरा फल मिलने में हेतु होता है।[1]

जीव के राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूप भाव (विकारी परिणाम) ही भावकर्म है। इनके निमित्त से उसी क्षण, नियत, सूक्ष्म (इन्द्रियों से अग्राह्य) पुद्गल परमाणु

---

१. धवल पु० ६, पृ० १३, धवल १३, पृ० ३६२।

आत्मा के साथ संश्लेष को प्राप्त हो जाते हैं। यही संश्लेष को प्राप्त होने वाले परमाणु द्रव्यकर्म कहलाते हैं। ये शुभभावों के समय आत्मा के साथ बँधकर पुनः नियत काल तक टिक कर पृथक् होते समय आत्मा को शुभ फल देते हैं। तथा यदि ये ही कर्म अशुभ भावों के द्वारा बँधते हैं तो कालान्तर में पृथक् होते समय अशुभ फल देकर पृथक् होते हैं। प्रति समय अनन्त कर्म परमाणु बँधते हैं तथा अनन्त ही खिरते हैं।

द्रव्यकर्म के मूल आठ भेद हैं -१. जो आत्मा के ज्ञान गुण का आवरण (प्रच्छादन) करता है वह **ज्ञानावरणी कर्म** है, २. जो दर्शन गुण को आवृत करता है वह **दर्शनावरण कर्म** है, ३. जो वेदन अर्थात् सुख या दुःख का अनुभवन किया जाता है वह **वेदनीय कर्म** है, ४. जो मोहित करता है वह **मोहनीय कर्म** है, ५. जो भवधारण के प्रति जाता है वह **आयु कर्म** है, ६. जो नाना प्रकार की रचना निष्पन्न करता है वह **नाम कर्म** है, ७. जो उच्च व नीच कुल में ले जाता है वह **गोत्र कर्म** है, ८. जो दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य में विघ्न करता है वह **अन्तराय कर्म** है।[1] इन आठ कर्मों के भी भेद क्रमशः ५, ६, २, २८, ४, ६३, २, ५ हैं। इस तरह द्रव्यकर्म के कुल १४८ उत्तर भेद हो जाते हैं।

ज्ञानावरण के ५ भेद - मतिज्ञानावरण, श्रुताज्ञावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण व केवलज्ञानावरण हैं। जो मतिज्ञान का आवरण करता है वह मतिज्ञानावरण कर्म है। इसी तरह श्रुतज्ञान आदि ज्ञानों के आवारक कर्म ज्ञातानावरण आदि नाम से अभिहित होते हैं। **दर्शनावरण के ९ भेद हैं**-चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शना० केवलदर्शना०, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि। चक्षुर्दर्शन का आच्छादक-आवारक कर्म चक्षुर्दर्शनावरण है इसी तरह आगे भी जानना चाहिए। निद्रा आदि ५ भी आत्मा के दर्शनगुण के घातक होने से दर्शनावरण के भेदों में परिगणित किए हैं। सुख तथा दुःख का वेदन कराने वाले क्रमशः साता व असाता नामक दो वेदनीय कर्म हैं।

मोहनीय के २८ भेद हैं - ४ अनन्तानुबंधी, ४ अप्रत्याख्यानावरण, ४ प्रत्याख्यानावरण, ४ संज्वलन-ये १६ कषायें तथा हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद- ये ९ नोकषाय और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व-ये तीन दर्शनमोह। इन २८ भेदों में से आदि के २५ भेद चारित्रगुण का घात करते हैं तथा अन्तिम तीन भेद आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकते हैं। **आयुकर्म के ४ भेद**-नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव। नरक-आयुकर्म नरक को धारण करता है। इसी तरह तिर्यंच आदि भवों को धारण कराने वाले भवकर्म तिर्यंचायुकर्म आदि संज्ञा प्राप्त करते हैं। आयुकर्म जीव की स्वतंन्त्रता को रोकता तथा अवगाहनत्व गुण को घातता है।

नामकर्म के ९३ भेद हैं - गति ४, जाति ५, शरीर ५, शरीर-बंधन ५, शरीरसंघात ५, शरीर अंगोपांग ३, संहनन ६, संस्थान ६, वर्ण ५, गंध २, रस ५, स्पर्श ८, आनुपूर्वी

---

१. धवल पु० ६, पृ० १३, धवल १३, पृ० ३८७।

४, अगुरुलघु १, उपघात १, परघात १, उच्छ्वास १, आतप १, उद्योत १, विहायोगति २, त्रस १, स्थावर १, बादर १, सूक्ष्म १, पर्याप्त १, अपर्याप्त १, प्रत्येक १, साधारण १, स्थिर १, अस्थिर १, शुभ १, अशुभ १, सुभग १, दुर्भग १, सुस्वर १, दुःस्वर १, आदेय १, अनादेय १, यशःकीर्ति १, अयशःकीर्ति १, निर्माण १, व तीर्थंकर १। यह नामकर्म अशरीरित्व (सूक्ष्मत्व) गुण का घात करता है।[१]

गोत्रकर्म के दो भेद हैं – (१) जो उच्च गोत्र का कारक है वह **उच्च गोत्र** कर्म है तथा (२) जिस कर्म के उदय से जीवों के **नीच गोत्र** (गोत्र = कुल, वंश, संतान) होता है वह नीच गोत्र कर्म है।[२]

अन्तराय कर्म के ५ भेद हैं – जिस कर्म के उदय से दान देते हुए जीव के विघ्न होता है वह दानान्तराय कर्म है। इसी तरह लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य में विघ्नकारक कर्म लाभान्तराय आदि नामों से कहे जाते हैं।[३]

गोत्रकर्म के अभाव में आत्मा का अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है तथा अन्तराय के अभाव में अनन्तवीर्य आदि ५ क्षायिकलब्धि भी प्रकट होती है।[४]

इन कर्मों की विस्तृत परिभाषाएं प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध, उदय, स व आदि धवल आदि मूल ग्रन्थों से जानना चाहिए।[५]

सातवीं पुस्तक में षट्खण्डागम के दूसरे खण्ड **"क्षुद्रबन्ध"** की टीका है, जिसमें संक्षेपतः कर्मबन्ध का प्रतिपादन किया गया है।

आठवीं पुस्तक में **बन्धस्वामित्वविचय** नामक तृतीय खण्ड की टीका पूरी हुई है। इस पुस्तक में बताया गया है कि कौन-सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान व मार्गणास्थान में सम्भव है। इसी सन्दर्भ में निरन्तरबंधी, सान्तरबंधी, ध्रुवबंधी आदि प्रकृतियों का खुलासा किया गया है। **नवम पुस्तक** में वेदनाखण्ड सम्बन्धी कृतिअनुयोगद्वार की टीका है। आद्य ४४ मंगल सूत्रों की टीका में विभिन्न ज्ञानों की विशद प्ररूपणा है। फिर सूत्र ४५ से ग्रन्थान्त तक कृति अनुयोगद्वार का विभिन्न अनुयोग द्वारों से प्ररूपण है। **दसवीं पुस्तक** में वेदनानिक्षेप, नयविभाषणता, नामविधान तथा वेदना-द्रव्य-विधान अनुयोगद्वारों का सविस्तार विवेचन है। **ग्यारहवीं पुस्तक** में वेदना क्षेत्रविधान तथा कालविधान का विभिन्न अनुयोगद्वारों (अधिकारों) द्वारा वर्णन करके फिर दो चूलिकाओं द्वारा अरुचित अर्थ का प्ररूपण तथा प्ररूपित अर्थ का विशिष्ट खुलासा किया है। **बारहवीं पुस्तक** में वेदना भावविधान आदि १०

---

१. धवल ६/१३, धवल १३/३८६
२. धवल ७, पृ० १५, जीवकाण्ड। जीव प्रबोधिनी टीका ६८, त वार्थसार ८/३७-४०।
३. धवल पु० ६ पृ० ७७-७८, पु० ७, पृष्ठ १५
४. धवल ६/७७-७८।
५. धवल ७, पृष्ठ १५, जीवकाण्ड। जीव प्र० टीका ६८ तथा त वार्थसार ८/३७-४०।

अनुयोगद्वारों द्वारा गुणश्रेणि निर्जरा, अनुभाग-विषयक सूक्ष्मतम, विस्तृत तथा अन्यत्र अलभ्य ऐसी प्ररूपणाएँ की गई हैं।

इस तरह वेदना अनुयोगद्वार के १६ अधिकार तीन पुस्तकों (१०, ११ व १२) में सटीक पूर्ण होते हैं। ५वें खण्ड की टीका पु० १३ व १४ में पूर्ण हुई है, जिसमें **१३वीं पुस्तक** में स्पर्श कर्म व प्रकृति अनुयोगद्वार हैं। स्पर्श अनुयोगद्वार का अवान्तर अधिकारों द्वारा विवेचन करके फिर कर्म अनुयोगद्वार का अकल्प्य १६ अनुयोगद्वारों द्वारा वर्णन करके तत्पश्चात् अन्त में प्रकृति अनुयोगद्वार में आठों कर्मों का सांगोपांग वर्णन किया है। **चौदहवीं पुस्तक** में बन्धन अनुयोगद्वार द्वारा बन्ध, बन्धक, बन्धनीय (जिसमें २४ वर्गणाओं तथा पंचशरीरों का प्ररूपण है) तथा बन्ध विधान (इसका प्ररूपण नहीं है, मात्र नाम निर्देश है) इन ४ की प्ररूपणा की है। अन्तिम **दो पुस्तकों** में सत्कर्मान्तर्गत शेष १८ अनुयोगद्वारों (निबन्धन, प्रक्रम आदि) की विस्तृत विवेचना की गई है। इस तरह १६ पुस्तकों में धवला टीका पूर्ण होती है।

धवला में अन्यान्य वैशिष्ट्य

गणित के क्षेत्र में धवला का मौलिक अवदान -

इसमें गणित संबन्धी करणसूत्र व गाथाएं ५४ पायी जाती हैं, जो लेखक के गणित विषयक गम्भीर ज्ञान की परिचायक हैं।[1] उस जमाने (युग) में भी धवलाकार दाशमिक पद्धति से पूर्ण परिचित थे।[2] इसमें बड़ी संख्याओं का भी बहुतायत से उपयोग हुआ है। धवला में जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्गमूल, घनमूल, संख्याओं का घात (वर्ग) आदि मौलिक प्रक्रियाओं का कथन उपलब्ध है। धवल का घातांक सिद्धान्त ५०० ई० पूर्व का है। वर्ग, घन, उत्तरोत्तरवर्ग (द्विरूपवर्गधारा में), उत्तरोत्तरघन, किसी संख्या का संख्यातुल्यघात निकालना, उत्तरोत्तरवर्गमूल, घनमूल, लोगरिथम (लघुरिक्थ), अर्द्धच्छेद, वर्गशलाका, त्रिकच्छेद, चतुर्थच्छेद, भिन्न, त्रैराशिक, अनंतवर्गीकरण, असंख्यात, संख्यात तथा इनके सुव्यवस्थित भेदों का निरूपण पु० ३, ४, १० में बहुतायत से देखने को मिलता है।[3]

व्याकरण-शास्त्र

शब्दशास्त्र में लेखक की अबाध गति के धवला में अनेक उदाहरण हैं। शब्दों के निरुक्तार्थ प्रकट करते हुए उसे व्याकरणशास्त्र से सिद्ध किया गया है। उदाहरण के लिए

---

१. देखो-धवल ६ पृष्ठ १ से २०१, धवल १३, पृ० २०५ से ३६२, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पंचसंग्रह आदि।

२. षट्खण्डागम परिशीलन, भारतीय ज्ञानपीठ पृ० ३५३-३५४ ।

३. देखो - धवल ३/९८, ३/९९, ३/१००।

धवला १/६-१०, ३२-३४, ४२-४४, ४८, ५१, १३१ द्रष्टव्य है। समासों के प्रयोग हेतु धवला ३/४-७, १/६०-६१, १/१३३, धवल १२/२६०-६१ आदि तथा प्रत्यय प्रयोग हेतु धवल १३/२४३-३ आदि देखने योग्य हैं।

न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्रीय पद्धति होने से धवला में अनेक न्यायोक्तियाँ भी मिलती हैं। यथा-धवल ३/२७-१३०, धवल पु० १ पृ० २८, २१६, २१८, २३७, २७०, धवल १/२००, २०५, १४०, ७२, १६६, धवल ३/१८, १२०, धवल १३, पृष्ठ २, ३०२, ३०७, ३१७ आदि। अन्य दर्शन के मत-उदाहरण (धवल ६/४६० आदि) तथा काव्य प्रतिभा एवं गद्य भाषालंकरण तो मूल ग्रन्थ देखने पर ही जान पड़ता है।

शास्त्रों के नामोल्लेख

प्रमाण देते समय लेखक ने धवला में कषायपाहुड, आचारांग आदि २७ ग्रन्थों के नाम निर्देशपूर्वक उद्धरण दिये हैं[1] तो वहीं पर पचासों ग्रन्थों की गाथाओं और गद्यांशों आदि को ग्रन्थनाम बिना भी उद्धृत किया है। कुल दोनों प्रकार के उद्धरण ७७५ हैं।

द्वादशांग से निःसृत होने से यह ग्रन्थ प्रमाण है। साथ ही इसमें आचार्य परम्परागत व गुरूपदेश को ही मह व दिया है। (देखो - धवल ३/८८-८६, १६६-२००, ४/४०२-३, धवल १०/२१४-१५, ४४४, २७८, धवल १३/२२१-२२, धवल १३/३०६-१०, ३३७ आदि) तथा जहाँ उन्हें उपदेश अप्राप्त रहा वहाँ स्पष्ट कह दिया कि इस विषय में जानकर (यानि उपदेश प्राप्त कर) कहना चाहिए (देखो धवल ३/३३-३८, ५/११६-१६, धवल ६/१३१-३३, ३१८, धवल १३/३१८-१६ आदि) इन सबसे[2] ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्बाध सिद्ध होती है।

प्राचीन दार्शनिकों के नामोल्लेख

धवल में १३७ दार्शनिकों के नाम आए हैं। यथा-अष्टपुत्र, आनन्द, ऋषिदास, औपमन्यव, कपिल, कंसाचार्य, कार्तिकेय, गोवर्धन, गौतम, चिलातपुत्र, जयपाल, जैमिनि, पिप्पलाद, वादरायण, विष्णु, वशिष्ठ आदि।[3]

---

१. धवला पु० ४, प्रस्ता० में "धवला का गणितशास्त्र" नामक लेख।

२. षट्खण्डागम परिशीलन पृष्ठ ५७२

३. तदेव, पृ० ७४२ तदेव

तीर्थस्थानों, नगरों के नामोल्लेख

इसी तरह ४२ भौगोलिक स्थानों के नाम भी आए हैं। यथा आन्ध्र (धवल १/७७), अंकुलेश्वर (धवल १/६७), ऊर्जयन्त (धवल ६/१०२), ऋजुकूला नदी (धवल ६/१२४), चन्द्रगुफा (१/६७ आदि), जृम्भिकाग्राम (धवल ६/१२४), पाण्डुगिरि (धवल १/६२), वैभार (धवल १/६२) सौराष्ट्र (धवल १/६७) आदि।[1] इन उल्लेखों से तत्कालीन युग के स्थानों का अस्तित्व ज्ञात होता है।

जयधवल टीका

आचार्य वीरसेन स्वामी[2] ने धवला की पूर्णता (शक सं० ७३८) के पश्चात् शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध आचार्य गुणधर द्वारा विरचित **कसायपाहुड** (कषाय प्राभृत) की टीका जयधवला का कार्य आरंभ किया और जीवन के अंतिम सात वर्षों में उन्होंने उसका एक तिहाई भाग लिखा। तत्पश्चात् शक सं० ७४५ में उनके दिवंगत होने पर शेष दो तिहाई भाग उनके योग्यतम शिष्य **जिनसेनाचार्य** (शक सं० ७०० से ७६०) ने पूरा किया। २१ वर्षों की सुदीर्घ ज्ञानसाधना की अवधि में यह लिखी जाकर शक सं० ७५९ में पूरी हुई।

आचार्य जिनसेन स्वामी ने सर्वप्रथम संस्कृत महाकाव्य पार्श्वाभ्युदय की रचना (शक सं० ७००) में की थी। इनकी दूसरी प्रसिद्ध कृति महापुराण है। उसके पूर्वभाग-आदिपुराण के ४२ सर्ग ही वे बना पाए थे और दिवंगत हो गए। शेष की पूर्ति इनके शिष्य **गुणभद्राचार्य** ने की।[3]

जयधवल टीका का आरंभ वाटपुरग्राम (संभवतः बड़ौदा[4]) में चन्द्रप्रभुस्वामी के मंदिर में हुआ था। मूल ग्रन्थ "कषायपाहुड" है[5], जो गुणधराचार्य द्वारा २३३ प्राकृत गाथाओं में रचा गया है। इस पर यतिवृषभाचार्य द्वारा चूर्णिसूत्र (संक्षिप्त सूत्रात्मक व्याख्यान) लिखे गये और इन दोनों पर आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने जयधवला व्याख्या लिखी। इस तरह जयधवला की १६ पुस्तकों में मूलग्रन्थ कषायपाहुड इस पर लिखित चूर्णिसूत्र और इसकी जयधवला टीका-ये तीनों ग्रंथ एक साथ प्रकाशित हैं।

जयधवला की भाषा भी धवला टीका की तरह मणिप्रवालन्याय से प्राकृत और संस्कृत मिश्रित है। जिनसेन ने स्वयं इसकी अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है-

---

१. तदेव, पृ० ८४० आदि
२. जयधवला, पु० १ प्रस्ता० पृ० ७२।
३. तदेव पु० १, पृ० ७३।
४. जैन साहित्य का इति० पृ० २५४।
५. कषायपाहुड का दूसरा नाम पेज्जदास पाहुड है, जिसका अर्थ राग-द्वेष प्राभृत है- ज०ध० पु० १, पृ० १८१।

प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोयं ग्रन्थविस्तरः।। (३७)

जयधवला में दार्शनिक चर्चाएं और व्युत्पत्तियां तो संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। पर सैद्धान्तिक चर्चा प्राकृत में है। किंचित् ऐसे वाक्य भी मिलते हैं, जिनमें युगपत् दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है। जयधवल की संस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाएं प्रसादगुण युक्त और प्रवाहपूर्ण तथा परिमार्जित हैं। दोनों भाषाओं पर टीकाकारों का प्रभुत्व है और इच्छानुसार उनका वे प्रयोग करते हैं।

इस टीका का परिमाण ६० हजार श्लोकप्रमाण है। इसका हिन्दी अनुवाद वाराणसी में जैनागमों और सिद्धान्त के महान् मर्मज्ञ विद्वान सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्दजी शास्त्री ने तथा सम्पादनादि कार्य पं. कैलाश चंद जी शास्त्री ने किया है। इसका प्रकाशन १६ पुस्तकों में, जिनके कुल पृष्ठ ६४१५ हैं, जैन संघ चौरासी, मथुरा से हुआ है। इसके हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन में ४८ वर्ष (ई० १६४० से १६८८) लगे।

इसमें मात्र मोहनीय कर्म का ही वर्णन है। शेष सात कर्मों की प्ररूपणा इसमें नहीं की गयी। जैसा कि निम्न वाक्य से प्रकट है-"**एत्थ कसायपाहुडे सेससत्तण्हं कम्माणं परूवणा णत्थि**"-जयधवला, पुस्तक १, पृ० १६५, १३६, २३५ आदि।

विषय परिचय

मूलग्रन्थ का नाम कसायपाहुड (कषायप्राभृत) है। इसका दूसरा नाम "पेज्जदोसपाहुड" है। "प्रेज्ज" अर्थात् प्रेय का अर्थ है 'राग' और 'दोस' अर्थात् द्वेष का अर्थ है शत्रुभाव (शत्रुता)। सारा जगत् इन दोनों से व्याप्त है। इन्हीं दोनों का वर्णन इसमें किया गया है। वीरसेन और जिनसेन ने इसका और इस पर यतिवृषभाचार्य द्वारा लिखे गये चूर्णिसूत्रों का स्पष्टीकरण करने के लिए अपनी यह विशाल टीका जयधवला लिखी है।

इसमें १५ अधिकार हैं। वे इस प्रकार हैं : १. प्रेय-द्वेष-विभक्ति, २. स्थितिविभक्ति, ३. अनुभाग विभक्ति, ४. बन्धक, ५. संक्रम, ६. वेदक, ७. उपयोग, ८. चतुःस्थान, ६. व्यंजन, १०. दर्शनमोह की उपशामना, ११. दर्शनमोह की क्षपणा, १२. देशविरति, १३. संयम, १४. चारित्रमोह की उपशमना और १५. चारित्रमोह की क्षपणा। इन अधिकारों के निरूपण के पश्चात् पश्चिमस्कन्ध नामक एक पृथक् अधिकार का भी वर्णन किया गया है। इनका विषय संक्षेप में यहाँ दिया जाता है।

१. पेज्जदोस विभक्ति

इस अधिकार का यह नाम मूल ग्रन्थ के द्वितीय नाम पेज्जदासपाहुड की अपेक्षा से रखा गया है। इसी से इसमें राग और द्वेष का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। अतएव

उदय की अपेक्षा मोह का इसमें वर्णन है। चार कषायों में क्रोध और मान द्वेष रूप हैं और माया एवं लोभ प्रेय (राग) रूप हैं। इस अधिकार में इनका बड़ा सूक्ष्म वर्णन है। विशेषता यह है कि यह अधिकार पुस्तक १ में पूर्ण हुआ है और न्यायशास्त्र की शैली से इसे खूब पुष्ट किया गया है।

२. स्थिति विभक्ति

इसमें मोहनीय कर्म की प्रकृति और स्थिति इन दो का वर्णन है। जब मोहनीय कर्म नामक जड़ पुद्गलों का आत्मा के साथ चिपकना-बंधना-एकमेकपना या संश्लेष सम्बन्ध होता है तब वे कर्म परमाणु आत्मा के साथ कुछ समय टिक कर फिर फल देकर, तथा फलदान के समय आत्मा को विमूढ़ (विमोहित), रागी, द्वेषी आदि रूप परिणत करके आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस मोहनीय कर्म का जो उक्त प्रकार का विमोहित करने रूप स्वभाव है, वह 'प्रकृति' कहलाता है तथा जितने समय वह आत्मा के साथ रहता है वह 'स्थिति' कहा जाता है, उसकी फलदानशक्ति 'अनुभाग' कहलाती है तथा उस कर्म के परमाणुओं की संख्या 'प्रदेश' कहलाती है। प्रकृत अधिकार में प्रकृति और स्थिति का विस्तृत, सांगोपांग एवं मौलिक प्ररूपण है, जो पुस्तक २, ३ व ४ इन तीन में पूरा हुआ है।

३. अनुभाग विभक्ति

इसके दो भेद हैं - १. मूल प्रकृति अनुभागविभक्ति और २. उत्तरप्रकृति अनुभाग-विभक्ति। इन मूल प्रकृतियों के अनुभाग और उत्तरप्रकृतियों के अनुभाग का पुस्तक ५ में विस्तृत वर्णन है।

प्रदेश विभक्ति

इसके भी दो भेद हैं - १. मूल और २. उत्तर। मूल प्रकृति प्रदेश विभक्ति और उत्तर प्रकृति प्रदेश विभक्ति इन दोनों अधिकारों में क्रमशः मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के प्रदेशों की संख्या वर्णित है। यह अधिकार पुस्तक ६ व ७ में समाप्त हुआ है।

किस स्थिति में स्थित प्रदेश - कर्म परमाणु उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य एवं अयोग्य हैं, इसका निरूपण इस अधिकार में सूक्ष्मतम व आश्चर्यजनक किया गया है। इसके साथ ही उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त, जघन्य स्थिति को प्राप्त आदि प्रदेशों का भी वर्णन इस अधिकार में है।

४. बन्धक

इसके दो भेद हैं - १. बन्ध और २. संक्रम। मिथ्यादर्शन, कषाय आदि के कारण कर्म रूप होने के योग्य कार्मणपुद्गलस्कन्धों का जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाह-

सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार भेद कहे गये हैं। इनका इस अधिकार में वर्णन है। यह अधिकार पुस्तक ८ व ९ में पूरा हुआ है।

५. संक्रम

बंधे हुए कर्मों का जीवन के अच्छे-बुरे परिणामों के अनुसार यथायोग्य अवान्तर भेदों में संक्रान्त (अन्य कर्मरूप परिवर्तित) होना संक्रम कहलाता है। इसके प्रकृतिसंक्रम, स्थिति-संक्रम, अनुभागसंक्रम, और प्रदेशसंक्रम ये चार भेद हैं। किस प्रकृति का किस प्रकृति रूप होना और किस रूप न होना प्रकृतिसंक्रम है। जैसे सातावेदनीय का असातावेदनीय रूप होना। मिथ्यात्वकर्म का क्रोधादि कषायरूप न होना। इसी तरह स्थितिसंक्रम आदि तीन के सम्बन्ध में भी बताया गया है। इस प्रकार इस अधिकार में संक्रम का सांगोपांग वर्णन किया गया है, जो पुस्तक ८ व ९ में उपलब्ध है।

६. वेदक

इस अधिकार में मोहनीय कर्म के उदय व उदीरणा का वर्णन है। अपने समय पर कर्म का फल देने को उदय कहते हैं तथा उपाय विशेष से असमय में ही कर्म का पहले फल देना उदीरणा है। यतः दोनों ही अवस्थाओं में कर्मफल का वेदन (अनुभव) होता है। अतः उदय और उदीरणा दोनों ही वेदक संज्ञा है।[1] यह अधिकार पुस्तक १० व ११ में समाप्त हुआ है।

७. उपयोग

इस अधिकार में क्रोधादि कषायों के उपयोग का स्वरूप वर्णित है। एक जीव के एक कषाय का उदय कितने काल तक रहता है। किस जीव के कौन-सी कषाय बार-बार उदय में आती है, एक भव में एक कषाय का उदय कितनी बार होता है, एक कषाय का उदय कितने भवों तक रहता है, आदि विवेचन विशदतया इस अधिकार में किया गया है। यह अधिकार पुस्तक १२ में पृ० १ से १४७ तक प्रकाशित है।

८. चतुःसंस्थान

घातिकर्मों की शक्ति की अपेक्षा लता, दारु, अस्थि और शैलरूप ४ स्थानों का विभाग करके उन्हें क्रमशः एक स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतुःस्थान कहा गया है। इस अधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ के उन ४-४ स्थानों का वर्णन है। जैसे-पर्वत,

---

१. जयधवल, पु० १०, पृष्ठ २।

पृथ्वी, रेत तथा पानी में खींची गई लकीरों के समान क्रोध ४ प्रकार का होता है। पर्वतशिला पर पड़ी लकीर किसी कारण से उत्पन्न होकर फिर कभी मिटती नहीं है वैसे ही जीव का अन्य जीव पर हुआ क्रोध का संस्कार इस भव में नहीं मिटता तथा जन्मान्तर में भी वह क्रोध उसके साथ में जाता है, ऐसा क्रोध पर्वतशिला सदृश कहलाता है। ग्रीष्मकाल में पृथ्वी पर हुई लकीर पृथ्वी का रस क्षय होने से वह बन जाती है, पुनः वर्षाकाल में जल के प्रवाह से वह मिट जाती है।

इसी तरह जो क्रोध चिरकाल तक रहकर भी पुनः किसी दूसरे निमित्त से या गुरु उपदेश से उपशांत हो जाता है वह पृथ्वी सदृश क्रोध कहलाता है। रेत में खींची गई रेखा हवा आदि से मिट जाती है। वैसे ही जो क्रोध मंदरूप से उत्पन्न होकर गुरु उपदेश रूप पवन से नष्ट हो जाता है वह रेतसदृश क्रोध है। जल में लगड़ी आदि से खींची गई रेखा जैसे बिना उपाय से उसी समय मिट जाती है वैसे ही जो क्षणिक क्रोध उत्पन्न होकर मिट जाता है वह जलसदृश कहलाता है। इसी तरह मान, माया और लोभ भी ४-४ प्रकार के होते हैं। इन सबका विवेचन इस अधिकार में विस्तारपूर्वक किया गया है। यह अधिकार पुस्तक १२, पृष्ठ १४६ से १८३ में समाप्त हुआ है।

९. व्यंजन

इस अधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ के पर्यायवाची शब्दों को बताया गया हे। यह अधिकार पुस्तक १२ पृ० १८४ से १९२ तक है।

१०. दर्शनमोहोपशामना

इसमें दर्शनमोहनीय कर्म की उपशामना का वर्णन है। यह पुस्तक १२, पृष्ठ १९३ से ३२८ तक है।

११. दर्शनमोहनीयक्षपणा

इसमें दर्शनमोहनीयकर्म का जीव किस तरह नाश करता है इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जीव को दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने में कुल अन्तर्मुहूर्त काल ही लगता है। पर उसकी तैयारी में दीर्घकाल लगता है। दर्शनमोह की क्षपणा करनेवाला मनुष्य (जीव द्रव्य से पुरुष) एक भव में अथवा अधिक से अधिक आगामी तीन भवों में अवश्य मुक्ति पा लेता है। यह अधिकार पुस्तक १३ पृष्ठ १ से १०३ में वर्णित है।

१२. देशविरत

इस अधिकार में देशसंयमी अर्थात् संयमासंयमी (पंचम गुणस्थान) का वर्णन है। यह अधिकार पुस्तक १३, पृष्ठ १०५ से १५६ में पूरा हुआ है।

१३. संयम

संयम को संयमलब्धि के रूप में वर्णित किया गया है। यह जिस जीव को प्राप्त होती है वह बाहर से नियम से दिगम्बर (नग्न) होता है तथा अन्दर आत्मा में उसके मात्र संज्वलनकषायों का ही उदय शेष रहता है। शेष तीन चौकड़ियों का नहीं। संयमासंयम लब्धि से ज्यादा यह संयमलब्धि मुमुक्षु के लिए अनिवार्य रूप में उपादेय है। यह अधिकार पुस्तक १३, पृष्ठ १५७ से १८७ तक है।

१४. चारित्रमोहोपशामना

यह अधिकार में चारित्रमोह की २१ प्रकृतियों की उपशामना का विविध प्रकार से प्ररूपण किया गया है, जो अन्यत्र अलभ्य है। यह अधिकार पुस्तक १३, पृष्ठ १८६ से ३२४ तथा पुस्तक १४, पृष्ठ १ से १४५ में समाप्त है।

१५. चारित्रमोहक्षपणा

यह अधिकार बहुत विस्तृत है। यह पुस्तक १४, पृष्ठ १४७ से ३७२ तथा पुस्तक १५ पूर्ण और पुस्तक १६ पृष्ठ १ से १३८ में समाप्त हुआ है। इसमें क्षपक श्रेणी का बहुत अच्छा एवं विशद् विवेचन किया गया है। इसके बाद पुस्तक १६ पृष्ठ १३६ से १४४ में क्षपणा-अधिकार-चूलिका है, इमें क्षपणा संबन्धी विशिष्ट विवेचन है। इसके उपरान्त पुस्तक १६, पृष्ठ १४६ से १६५ में पश्चिमस्कन्ध अर्थाधिकार है। उसमें जयधवलाकार ने चार अघातियाकर्मों (आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय) के क्षय का विधान किया है।

इस प्रकार यह जयधवला टीका वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन इन दो आचार्यों द्वारा संपन्न हुई है। बीस हजार आचार्य वीरसेन द्वारा और ४० हजार आचार्य जिनसेन द्वारा कुल ६० हजार श्लोक प्रमित यह टीका है।

गोम्मटपंजिका

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (१०वीं शती) द्वारा प्राकृत भाषा में लिखित गोम्मटसार पर सर्वप्रथम लिखी गई यह एक संस्कृत पंजिका टीका है। इसका उल्लेख उत्तरवर्ती आचार्य अभयचन्द्र ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में किया है।[1] इस पंजिका की एकमात्र उपलब्ध प्रति (सं० १५६०) पं० परमानन्द जी शास्त्री के पास रही। इस टीका का प्रमाण पाँच हजार श्लोक है। इस प्रति में कुल पत्र ९८ हैं। भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है।[2] दोनों ही भाषाएं बड़ी प्रांजल और सरल हैं। इसके रचयिता गिरिकीर्ति हैं। इस टीका

१. मन्दप्रबोधिनी गाथा ८३।

२. पयडी सील सहावो-प्रकृतिः शीलउ -स्वभावः इत्येकार्थ......गो० पं०

के अन्त में टीकाकार ने इसे गोम्मटपंजिका अथवा गोम्मटसार टिप्पण ये दो नाम दिए हैं। इसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड की गाथाओं के विशिष्ट शब्दों और विषमपदों का अर्थ दिया गया है, कहीं कहीं व्याख्या भी संक्षिप्त में दी गई है। यह पंजिका सभी गाथाओं पर नहीं है। इसमें अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक बातों का अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है और इसके लिए पंजिकाकार ने अन्य ग्रंथकारों के उल्लेख भी उद्धृत किए हैं।

यह पंजिका शक सं० १०१६ (वि० सं० ११५१) में बनी है। विशेषता यह है कि टीकाकार ने इसमें अपनी गुरु परम्परा भी दी है। यथा-श्रुतकीर्ति, मेघचन्द्र, चन्द्रकीर्ति और गिरिकीर्ति। प्रतीत होता है कि अभयचन्द्राचार्य ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में इसे आधार बनाया है। अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि मन्दप्रबोधिनी टीका से यह गोम्मट पंजिका प्राचीन है। प्राकृत पदों का संस्कृत में स्पष्टीकरण करना इस पंजिका की विशेषता है।

मन्दप्रबोधिनी

शौरसेनी प्राकृत भाषा में आ० नेमिचन्द्र सि० चक्रवर्ती द्वारा निबद्ध **गोम्मटसार** मूलग्रन्थ की संस्कृत भाषा में रची यह एक विशद् और सरल व्याख्या है। इसके रचयिता अभयचन्द्र **सिद्धान्तचक्रवर्ती** हैं। यद्यपि यह टीका अपूर्ण है किन्तु कर्मसिद्धान्त को समझने के लिए एक अत्यन्त प्रामाणिक व्याख्या है। केशववर्णी ने इनकी इस टीका का उल्लेख अपनी कन्नडटीका में, जिसका नाम कर्नाटकवृत्ति है, किया है। इससे ज्ञात होता है कि **केशववर्णी** ने उनकी इस मन्दप्रबोधिनी टीका से लाभ लिया है।

गोम्मटसार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा लिखा गया कर्म और जीव विषयक एक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण प्राकृत-ग्रन्थ है। इसके दो भाग हैं - एक जीवकाण्ड और दूसरा कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में ७३४ और कर्मकाण्ड में ९७२ शौरसेनी-प्राकृत भाषाबद्ध गाथाएं हैं। कर्मकाण्ड पर संस्कृत में ४ टीकाएं लिखी गई हैं। वे हैं - १. गोम्मटपंजिका,

२ मन्दप्रबोधिनी, ३. कन्नड़ संस्कृत मिश्रित जीवतत्त्वप्रदीपिका, ४. संस्कृत में ही रचित अन्य नेमिचन्द्र की जीवतत्त्वप्रदीपिका। इन टीकाओं में विषयसाम्य है पर विवेचन की शैली इनकी अलग अलग हैं। भाषा का प्रवाह और सरलता इनमें देखी जा सकती है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड

गोम्मटसार के जीवकाण्ड में ७३४ गाथाओं द्वारा ९ अधिकारों में १. गुणस्थान, २. जीवसमास, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संज्ञा, ६. मार्गणा, ७. उपयोग, ८. अन्तर्भाव तथा ९. आलाप - इन विषयों का विशद् विवेचन किया गया है।

यहाँ प्रस्तुत है इसमें प्रतिपादित इन सैद्धान्तिक विषयों का संक्षिप्त परिचय-

गुणस्थान

यह गुणों की अपेक्षा जीव जैसी-जैसी अपनी उन्नति के स्थान प्राप्त करता जाता है वैसे-वैसे उसके उन स्थानों को **गुणस्थान** संज्ञा दी गई है। वे **१४ भेदों में विभक्त हैं** - १. मिथ्यादृष्टि, २. सासादन-सम्यग्दृष्टि, ३. मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४. असंयतसम्यग्दृष्टि, ५. संयतासंयत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांतकषाय, १२. क्षीणकषाय, १३. सयोगकेवली, १४. अयोगकेवली।

इन गुणस्थानों में जीव के आध्यात्मिक विकास का हमें दर्शन होता है। जहाँ **प्रथम** गुणस्थान में जीव की दृष्टि मिथ्या रहती है वहाँ **दूसरे** गुणस्थान में ऐसी दृष्टि का उल्लेख है जिसमें सम्यक्त्व से पतन और मिथ्यात्व की ओर उन्मुखता पायी जाती है। **तीसरे** गुणस्थान में जीव की श्रद्धा सम्यक् और मिथ्या दोनों रूप मिली जुली पाई जाती है। जैसे दही और गुड़ के मिलने पर जो खटमिट्ठा स्वाद प्राप्त होता है। **चौथे** गुणस्थान में जीव की श्रद्धा समीचीन हो जाती है पर संयम की ओर लगाव नहीं होता। **पाँचवें** गुणस्थान में जीव का लगाव कुछ संयम की ओर और कुछ असंयम की ओर रहता है। **छठे** गुणस्थान में पूर्ण संयम प्राप्त कर लेने पर भी जीव कुछ प्रमादयुक्त रहता है। **सातवें** गुणस्थान में उसका वह प्रमाद भी दूर हो जाता है और अप्रमत्तसंयत कहा जाने लगता है। **आठवें** गुणस्थान में उस जीव के ऐसे अपूर्व परिणाम होते हैं, जो उससे पूर्व प्राप्त नहीं हुए थे, अतएव इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। **नवें** गुणस्थान में जीव को ऐसे विशुद्ध परिणाम प्राप्त होते हैं जो निवृत्त नहीं होते, उत्तरोत्तर उनमें निर्मलता आती ही रहती है। **दसवें** गुणस्थान में जीव की कषाय स्थूल से अत्यंत सूक्ष्म रूप धारणकर लेती है इसलिए उसे सूक्ष्मसांपराय कहा गया है। **ग्यारहवें** गुणस्थान में क्रोध, मान, माया और लोभ सभी प्रकार की कषायों का उपशमन हो जाता है इसलिए उसे उपशांत कषाय कहा जाता है। **बारहवें** गुणस्थान में उस जीव की वे कषायें पूर्णतया क्षीण हो जाती हैं और क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ संज्ञा को वह प्राप्त कर लेता है। **तेरहवें** गुणस्थान में ऐसा प्रकट हो जाता है कि जिसमें इन्द्रिय और मन की कोई सहायता नहीं होती और उस ज्ञान द्वारा त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती सूक्ष्म एवं स्थूल सभी प्रकार के पदार्थों को वह जीव जानने लगता है। पर हाँ, योग मौजूद रहने से उसे सयोगकेवली कहा जाता है। **चौदहवें** गुणस्थान में उस केवली का वह योग भी नही रहता और अयोगकेवली कहा जाता हे। अयोगकेवली अन्तर्मुहूर्त बाद पूर्णतया संसार बंधन से मुक्त होकर शाश्वतमोक्ष को प्राप्तकर लेता है। इस तरह जीव के आध्यात्मिक विकास के ये १४ सोपान हैं, जिन्हें जैन सिद्धान्त में **"चौदह गुणस्थान"** नाम से अभिहित किया गया है।

जीव समास

जहाँ-जहाँ जीवों का स्थान है अर्थात् निवास है उसे जीवसमास कहा गया हे। ये १४ हैं। इन्द्रिय की अपेक्षा जीव ५ प्रकार के हैं : १. स्पर्शनइन्द्रिय वाले, २. स्पर्शन और रसना वाले, ३. स्पर्शन, रसना और घ्राणवाले, ४. स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु वाले तथा ५. स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रइन्द्रिय वाले। इनमें ५ इन्द्रिय वाले जीव दो प्रकार के हैं, मन सहित और मन रहित। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव भी बादर, और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। इस तरह जीवों के ३ + २ + २ = ७ भेद हैं ये ७ प्रकार के जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं। इन सबको मिलाने पर १४ जीवसमास कहे गए हैं।

पर्याप्ति

आहारवर्गणा के परमाणुओं को खल और रस भाग रूप परिणमाने की शक्ति-विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। ये ६ हैं-आहार पर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति तथा मनःपर्याप्ति। इन पर्याप्तियों की पूर्णता को पर्याप्तक और अपूर्णता को अपर्याप्तक कहा जाता है।

प्राण

जिनके संयोग होने पर जीव को जीवित और वियोग होने पर मृत कहा जाता है वे प्राण कहे जाते हैं। ये १० हैं -५ इन्द्रियाँ तथा कायबल, वचनबल, मनोबल, श्वासोच्छ्वास, व आयु।

संज्ञा

आहार आदि की वांछा को संज्ञा कहते हैं। इसके ४ भेद हैं -आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। ये चारों संज्ञाएं जगत् के समस्त प्राणियों में पाई जाती है।

मार्गणा

जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहा गया है। **ये १४ प्रकार की हैं**-गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहार। इनका विवेचन आगम ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक किया गया है, अतएव यहाँ इनका विस्तार न कर नाम से संकेतमात्र किया गया है।

उपयोग

जीव के चेतनागुण को उपयोग कहा गया है। यह चेतनागुण दो प्रकार का है-

सामान्य अर्थात् निराकार, विशेष अर्थात् साकार। निराकार उपयोग को दर्शनोपयोग और विशेष उपयोग को ज्ञानोपयोग कहा गया है।

अन्तर्भाव

इस अधिकार में यह बताया गया है कि किस किस मार्गणा में कौन कौन गुणस्थान होते हैं। जैसे नरकगति में आदि के चार गुणस्थान ही होते हैं। इसी तरह शेष तीन गतियों और अन्य १३ मार्गणाओं में भी गुणस्थानों के अस्तित्व का प्ररूपण किया गया है।

आलाप

इसमें तीन आलापों का वर्णन है। गुणस्थान, मार्गणा और पर्याप्ति। आलाप का अर्थ है गुणस्थानों में मार्गणाओं, मार्गणाओं में गुणस्थानों और पर्याप्तियों में गुणस्थान और मार्गणा की चर्चा करना। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि जीव का भ्रमण लोक में अनेकों बार और अनेकों स्थानों पर होता रहता है। इस भ्रमण की निवृत्ति का उपाय एकमात्र तत्त्वज्ञान है। यह गोम्मटसार के प्रथम भाग जीवकाण्ड पर लिखी गई मन्दप्रबोधिनी टीका का संक्षिप्त परिचय है, जो संस्कृत में निबद्ध है और जिसकी भाषा प्रसादगुण युक्त एवं प्रवाहपूर्ण है।

गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड

अब कर्मकाण्ड का, जो गोम्मटसार का ही दूसरा भाग है, संक्षेप में परिचय दिया जाता है। इसमें निम्न ६ अधिकार हैं-

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन

इस अधिकार में ज्ञानावरणादि मूल-प्रकृतियों और उनके उत्तरभेदों का कथन किया गया है। इसी में उन प्रकृतियों को घाति और अघाति कर्मों में विभाजित करके घाति कर्मों को भी दो भेदों में रखा गया है-सर्वघाति और देशघाति तथा इन्हीं सब कर्मों को पुण्य और पाप प्रकृतियों में विभाजित किया गया है। साथ ही विपाक (फलदान) की अपेक्षा उनके चार भेद हैं। वे हैं -पुद्गल विपाकी, भव विपाकी, क्षेत्र विपाकी और जीव विपाकी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस जिस कर्म के उदय में जो जो बाह्य वस्तु निमित्त होती है उस उस वस्तु को उस उस प्रकृति का नोकर्म कहा गया है। अभयचन्द्र ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में इन सबका संस्कृत भाषा के माध्यम से बहुत विशद् विवेचन किया है।

२. बन्धोदय-सत्वाधिकार

इस अधिकार में कर्मों के बन्ध, उदय और सत्व का विवेचन किया गया है। बंध के ४ भेद हैं - उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य। ये चारों भेद भी आदि, अनादि,

ध्रुव और अध्रुव के रूप में वर्णित किए गए हैं। यह विवेचन आठों कर्मों की १४८ प्रकृतियों को लेकर किया गया है। कर्मबन्ध के विषय में इतना सूक्ष्म निरूपण हमें अन्यत्र अलभ्य है। इसी तरह उदय और सत्व का भी वर्णन किया गया है। किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध, बन्धविच्छेद और अबंध होता है, इसी प्रकार किसी गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय, उदयविच्छेद और अनुदय होता है तथा किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व, सत्वविच्छेद और असत्व रहता है इन सबका भी सूक्ष्मतम विवेचन किया गया है।

३. सत्वस्थान भंगाधिकार

इसमें सत्वस्थानों को भंगों के साथ प्ररूपित किया गया है। पिछले अधिकार के अन्त में जो सत्वस्थान का कथन किया है वह आयु के बंध और अबंध का भेद न करके किया गया है तथा इस अधिकार में भंगों के साथ उनका प्ररूपण है। यह प्ररूपण सूक्ष्म तो है ही लेकिन आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिए उसका भी जानना आवश्यक है।

४. त्रिचूलिका अधिकार

इस अधिकार में ३ चूलिकाएँ हैं-नवप्रश्नचूलिका, पंचभागहारचूलिका, दशकरण चूलिका। प्रथम चूलिका में किन किन प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति के पहले ही बन्ध व्युच्छि। होती है इत्यादि ९ प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान किया गया है। दूसरी चूलिका में उद्वेलना, विध्यात, अधः प्रवृत्त, गुणसंक्रमण और सर्वसंक्रमण - इनका निरूपण है। तृतीय दसकरण चूलिका में कर्मों की दस अवस्थाओं का स्वरूप बताया गया है।

कर्मों की १० अवस्थाएँ इस प्रकार हैं - (१) कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ संबद्ध होना **बन्ध** है। (२) कर्म की स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को **उत्कर्षण** कहते हैं। (३) आत्मा से बद्ध कर्म की स्थिति तथा अनुभाग के घटने को **अपकर्षण** कहा गया है। (४) बंधने के बाद कर्मों के सत्ता में रहने को **सत्व** कहते हैं। (५) समय पूरा होने पर कर्म का अपना फल देना **उदय** है। (६) नियत समय से पूर्व फलदान को **उदीरणा** कहते हैं। (७) एक कर्म का इतर सजातीय कर्मरूप परिणाम आना **संक्रमण** है। (८) कर्म का उदय में आने के अयोग्य होना **उपशम** है। (९) कर्म में उदय व संक्रम दोनों का युगपत् न होना **निधत्ति** है। (१०) कर्म में और उत्कर्षण, अपकर्षण, उदय व संक्रम का न हो सकना **निकाचित** है।

५. बन्धोदय सत्त्वयुक्तस्थान समुत्कीर्तन

एक जीव के एक समय में जितनी प्रकृतियों का बंध, उदय और सत्व संभव है उनके समूह का नाम स्थान है। इस अधिकार में पहले आठों मूलकर्मों और बाद में प्रत्येक कर्म

की उत्तर प्रकृतियों को लेकर बंधस्थानों, उदयस्थानों और सत्वस्थानों का प्ररूपण है।

६. प्रत्ययाधिकार

इसमें कर्मबन्ध के कारणों का वर्णन है। मूल कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं। इनके भी निम्न उत्तर भेद कहे गए हैं- मिथ्यात्व के ५, अविरति के १२, कषाय के २५ और योग के १५-ये सब मिलाकर ५७ होते हैं। इन्हीं मूल ४ और उत्तर ५७ प्रत्ययों (बंधकारणों) का कथन गुणस्थानों में किया गया है कि किस गुणस्थान में बंध के कितने प्रत्ययकारण होते हैं। इसी तरह इनके भंगों का भी कथन है।

७. भावचूलिका

इसमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक भावों का तथा उनके भेदों का कथन करके गुणस्थानों में उनके स्वसंयोगी और परसंयोगी भंगों का कथन किया गया है।

८. त्रिकरणचूलिका अधिकार

इस अधिकार में अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण-इन तीन करणों का स्वरूप वर्णित है। करण का अर्थ है जीव के परिणाम, जो प्रति समय बदलते रहते हैं।

९. कर्मस्थितिरचना अधिकार

इसमें बताया गया है कि प्रति समय बँधने वाले कर्म प्रदेश आठ या सात प्रकृतियों में विभाजित हो जाते हैं। प्रत्येक को प्राप्त कर्मनिषेकों की रचना उसकी स्थिति प्रमाण (मात्र आबाधा काल को छोड़कर) हो जाती है। फिर आबाधा काल समाप्त होने पर वे कर्मनिषेक उदय काल में प्रति समय एक-एक निषेक के रूप में खिरने प्रारंभ हो जाते हैं। उनकी रचना को ही कर्मस्थिति रचना कहते हैं। यह वर्णन बहुत सूक्ष्म किन्तु हृदयग्राही है।

इस प्रकार मन्दप्रबोधिनी टीका अपूर्ण होती हुई भी सार्थक नाम वाली है। मन्दों (मन्द बुद्धि वालों) को भी वह कर्मसिद्धान्त को जानने और उसमें प्रवेश करने में पूरी तरह सक्षम है। टीका के अवलोकन से टीकाकार का कर्मसिद्धान्त विषयक ज्ञान अपूर्व एवं गंभीर प्रकट होता है। इसकी संस्कृत बड़ी सरल है विशेष कठिन नहीं है।

गोम्मटसार-जीवतत्त्वप्रदीपिका

यह टीका केशववर्णी द्वारा रचित है। उन्होंने इसे संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं में लिखा है। जैसे वीरसेन स्वामी ने अपनी संस्कृत प्राकृत मिश्रित धवलटीका द्वारा षट्खंडागम के रहस्यों का उद्घाटन किया है उसी प्रकार केशववर्णी ने भी अपनी इस

जीवतत्त्वप्रदीपिका द्वारा जीवकाण्ड के रहस्यों का उद्‌घाटन कन्नड़मिश्रित संस्कृत में किया है।

केशववर्णी की गणित में अबाध गति थी इसमें जो करणसूत्र उन्होंने दिए हैं वे उनके लौकिक और अलौकिक गणित के ज्ञान को प्रकट करते हैं। इन्होंने अलौकिक गणित संबन्धी एक स्वतंत्र ही अधिकार इसमें दिया है, जो त्रिलोकप्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार के आधार पर लिखा गया मालूम होता है। आचार्य अकलंक के लघीयस्त्रय और आचार्य विद्यानंद की आप्तपरीक्षा आदि ग्रंथों के विपुल प्रमाण इसमें उन्होंने दिए हैं।

यह टीका कन्नड़ में होते हुए भी संस्कृत बहुल है। इससे प्रतीत होता है कि जैन आचार्यों में दक्षिण में अपनी भाषा के सिवाय संस्कृत भाषा के प्रति भी विशेष अनुराग रहा है।

जीवतत्त्वप्रदीपिका

यह नेमिचन्द्रकृत चतुर्थ टीका है। तीसरी टीका की तरह इसका नाम भी जीवतत्त्वप्रदीपिका है। यह केशववर्णी की कर्नाटकवृत्ति में लिखी गई संस्कृत मिश्रित जीवतत्त्वप्रदीपिका का ही संस्कृत रूपान्तर है। इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से भिन्न और उत्तरवर्ती नेमिचन्द्र हैं। ये नेमिचन्द्र ज्ञानभूषण के शिष्य थे। गोम्मटसार के अच्छे ज्ञाता थे। इनका कन्नड़ तथा संस्कृत दोनों पर समान अधिकार है। यदि इन्होंने केशववर्णी की टीका को संस्कृत रूप नहीं दिया होता तो पं० टोडरमल जी हिन्दी में लिखी गई अपनी सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नहीं लिख पाते। ये नेमिचन्द्र गणित के भी विशेषज्ञ थे। इन्होंने अलौकिक गणिसंख्यात, असंख्यात, अनंत, श्रेणि, जगत्प्रवर, घनलोक आदि राशियों को अंकसंदृष्टि के द्वारा स्पष्ट किया है। इन्होंने जीव तथा कर्मविषयक प्रत्येक चर्चित बिन्दु का सुन्दर विश्लेषण किया है। इनकी शैली स्पष्ट और संस्कृतपरिमार्जित है। टीका में दुरूहता या संदिग्धता नहीं है। न ही अनावश्यक विषय का विस्तार किया है।

टीका में संस्कृत तथा प्राकृत के लगभग १०० पद्य उद्धृत हैं। आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा, विद्यानंद की आप्तपरीक्षा, सोमदेव के यशस्तिलक, सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र के त्रिलोकसार, पं० आशाधर के अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थों से उक्त पद्यों को लिया गया है। यह टीका ई० १६वीं शताब्दी की रचित है।

लब्धिसार-क्षपणासार टीका

मूलग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में है और उसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। इस पर उत्तरवर्ती किसी अन्य नेमिचन्द्र नाम के आचार्य द्वारा संस्कृत में यह टीका लिखी गई है। यह लिखते हुए प्रमोद होता है कि आचार्य ने प्राकृत ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों

की विवेचना संस्कृत भाषा में की है। मुख्यतया जीव में मोक्ष की पात्रता सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही मानी गयी है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव ही मोक्ष प्राप्त करता है, और सम्यग्दर्शन होने के बाद वह सम्यक्चारित्र की ओर आकर्षित होता है। अतः सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र की लब्धि अर्थात् प्राप्त होना जीव का लक्ष्य है। इसी से ग्रंथ का नाम लब्धिसार रखा गया है। इन दोनों का इस टीका में विशद् वर्णन किया गया है। इसमें उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व के वर्णन के बाद चारित्रलब्धि का कथन किया गया है। इसकी प्राप्ति के लिए चारित्रमोह की क्षपणा की विवेचना इसमें बहुत अच्छी की गई है।

नेमिचन्द्र की यह वृत्ति संदृष्टि, चित्र आदि से सहित है। यह न अतिक्लिष्ट है न अति सरल। इसकी संस्कृत भाषा प्रसादगुण युक्त है।

क्षपणासार (संस्कृत)

इसमें एकमात्र संस्कृत में ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों की क्षपणा का ही विवेचन है।

पंचसंग्रहटीका

मूल पंचसंग्रह नामक यह मूलग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। इस पर तीन संस्कृत-टीकाएँ हैं। १. श्रीपालसुत डड्ढा विरचित पंचसंग्रहटीका, २. आचार्य अमितगति रचित संस्कृत-पंचसंग्रह, ३. सुमतिकीर्तिकृत संस्कृत-पंचसंग्रह। पहली टीका दिगम्बर प्राकृत पंचसंग्रह का संस्कृत-अनुष्टुपों में परिवर्तित रूप है। इसकी श्लोक संख्या १२४३ है। कहीं कहीं कुछ गद्यभाग भी पाया जाता है, जो लगभग ७०० श्लोक प्रमाण है। इस तरह यह लगभग २००० श्लोक प्रमाण है। यह ५ प्रकरणों का संग्रह है। वे ५ प्रकरण निम्न प्रकार हैं - १. जीवसमास, २. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, ३. कर्मस्तव, ४. शतक और ५. सप्ततिका। इसी तरह अन्य दोनों संस्कृत टीकाओं में भी समान वर्णन है। विशेष यह है कि आचार्य अमितगति कृत पंचसंग्रह का परिमाण लगभग २५०० श्लोक प्रमाण है। तथा सुमतिकीर्ति कृत पंचसंग्रह अति सरल व स्पष्ट है।

इस तरह ये तीनों टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं और समान होने पर भी उनमें अपनी अपनी विशेषताएँ पाई जाती हैं। कर्म साहित्य के विशेषज्ञों को इन टीकाओं का भी अध्ययन करना चाहिए।

कर्म-प्रकृति

यह अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की एक लघु किन्तु मह वपूर्ण, प्रवाहमय शैलीयुक्त संस्कृत गद्य में लिखी गई कृति है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि जैन मनीषियों ने प्राकृत

भाषा में ग्रथित सिद्धान्तों को संस्कृत भाषा में विवेचित किया और उसके प्रति हार्दिक अनुराग व्यक्त किया है।

कर्म-विपाक

इसके कर्ता सकलकीर्ति (१४वीं शताब्दी) ने कर्मों के अनुकूल-प्रतिकूल आदि फलोदय का इसमें संस्कृत में अच्छा विवेचन किया है।

सिद्धान्तसार-भाष्य

आचार्य जिनचन्द्र रचित प्राकृतभाषाबद्ध सिद्धान्तसार नामक मूलग्रन्थ आचार्य पर ज्ञानभूषण ने संस्कृत में यह व्याख्या लिखी है। इसे भाष्य के नाम से उल्लेखित किया गया हे। इस व्याख्या में १४ मार्गणाओं, १४ जीवसमासों आदि का कथन किया गया है। इसकी संस्कृत अत्यन्त सरल और विशद है।

कर्म-प्रकृति-भाष्य

कर्मप्रकृति एक प्राकृत भाषा में निबद्ध नेमिचन्द्र सैद्धांतिक की रचना है। इसमें कुल १६२ गाथाएँ हैं। ये गाथाएँ ग्रन्थकार ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड से संकलित की हैं। इसमें प्रकृति समुत्कीर्तन, स्थितिबंध अधिकार, अनुभाग बंधाधिकार और प्रत्ययाधिकार ये ४ प्रकरण हैं। इन चारों प्रकरणों के नामानुसार उनका इसमें संकलनकार ने वर्णन किया है। इस पर भट्टारक ज्ञानभूषण एवं सुमतिकीर्ति ने संस्कृत में व्याख्या लिखी है और उसे कर्मप्रकृतिभाष्य नाम दिया है। ध्यातव्य है कि भट्टारक ज्ञानभूषण सुमतिकीर्ति के गुरु थे और सुमतिकीर्ति उनके शिष्य। यह टीका सरल संस्कृत में रचित है इसका रचनाकाल वि० सं० १६वीं शती का चरमचरण तथा १७वीं का प्रथम चरण है। इन्हीं ने पूर्वोक्त सिद्धान्तसार-भाष्य भी रचा था।

त्रिभंगी टीका

आस्रवत्रिभंगी, बंधत्रिभंगी, उदयत्रिभंगी और सत्त्वत्रिभंगी-इन ४ त्रिभंगियों को संकलित कर टीकाकार ने इन पर संस्कृत में टीका की है। **आस्रवत्रिभंगी** ६३ गाथा प्रमाण है। इसके रचयिता श्रुतमुनि हैं। **बंधत्रिभंगी** ४४ गाथा प्रमाण है तथा उसके कर्ता नेमिचन्द शिष्य माधवचन्द्र हैं। **उदयत्रिभंगी** ७३ गाथा प्रमाण है और उसके निर्माता नेमिचन्द्र हैं। सत्त्व त्रिभंगी ३५ गाथा प्रमाण है और उसके कर्ता भी नेमिचन्द्र हैं। इन चारों पर सोमदेव ने संस्कृत में व्याख्याएँ लिखी हैं। ये सोमदेव, यशस्तिलक चम्पू काव्य के कर्ता प्रसिद्ध सोमदेव से भिन्न और १६वीं, १७वीं शताब्दी के एक भट्टारक विद्वान् हैं। इनकी संस्कृत भाषा बहुत स्खलित प्रतीत होती है। उन्होंने अपनी इस त्रिभंगी चतुष्टय पर लिखी गई टीका की भाषा को "लाटीय भाषा" कहा है। टीका में सोमदेव ने कर्मों के आस्रव, बंध, उदय

और सत्वविषय का कथन किया है, जो सामान्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी है।

भावसंग्रह

आचार्य देवसेन ने प्राकृत में एक भावसंग्रह लिखा है। उसी का यह संस्कृत अनुवाद है। दोनों ग्रन्थों को आमने सामने रखकर देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह संस्कृत भावसंग्रह प्राकृतभावसंग्रह का शब्द न होकर अर्थशः भावानुवाद है। रचना अनुष्टुप् छन्द में है। इसके कर्ता अथवा रूपान्तरकार भट्टारक लक्ष्मीचंद्र के शिष्य पंडित वामदेव हैं। प्राकृत और संस्कृत दोनों भावसंग्रहों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनमें कई बातों में वैशिष्ट्य भी दिखाई देता है।

उदाहरण के लिए पंचम गुणस्थान का कथन करते हुए संस्कृत भाव संग्रह में ११ प्रतिमाओं का भी कथन है, जो मूल प्राकृतभावसंग्रह में नहीं है। प्राकृतभावसंग्रह में जिन चरणों में चंदनलेप का कथन है वह संस्कृत भावसंग्रह में नहीं है। देवपूजा, गुरु उपासना आदि षट्कर्मों का संस्कृत भावसंग्रह में कथन है। प्राकृत भावसंग्रह में उनका कथन नहीं है, आदि। इस संस्कृत भावसंग्रह में कुल श्लोक ७८२ हैं, रचना साधारण है। इसमें गीता के उद्धरण भी कई स्थलों पर दिए गए हैं। कई सैद्धान्तिक विषयों का खंडन-मंडन भी उपलब्ध है। जैसे-नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त, वैनयिकवाद, केवलीभुक्ति, स्त्रीमोक्ष, सग्रंथमोक्ष आदि की समीक्षा करके अपने पक्ष को प्रस्तुत किया गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपलब्ध शौरसेनी प्राकृत एवं संस्कृतभाषा निबद्ध कर्मसाहित्य के ग्रन्थों का परिचयात्मक इतिहास लिखा गया, इनमें दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रंथों का ही परिचय दिया जा सका। श्वेताम्बर परम्परा में भी कर्म ग्रन्थ आदि के रूप में कर्मसिद्धान्त विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध है।

इस तरह हम मूल्यांकन करें तो पाते हैं कि जैन मनीषियों ने कर्मसाहित्य को ही संस्कृत भाषा में नहीं लिखा अपितु सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, काव्य आदि विषयों का विवेचन भी लोकप्रिय संस्कृत भाषा में निरूपण किया है या यों कहना चाहिए कि इन विषयों का निरूपण संस्कृत में ही किया गया है। उदाहरण के लिए तत्त्वार्थसूत्र (गृद्धपिच्छाचार्य), तत्त्वार्थसार (अमृतचन्द्र), तत्त्वार्थवार्तिक (अकलंकदेव), तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरसूरि), तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-भाष्य (विद्यानन्द), अष्टसहस्री (विद्यानंद), पत्रपरीक्षा (विद्यानंद), सत्यशासनपरीक्षा (आ० विद्यानन्द), तत्त्वार्थभाष्य (उमास्वाति), तत्त्वार्थवृत्ति (सिद्धर्षिगणी) आदि सहस्रों ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही लिखे गये हैं। जैन परम्परा का संस्कृत वाङ्मय विशाल और अटूट है। और यह सच है कि कोई भी भाषा, जब वह लोकप्रिय हो जाती है, तब वह सभी के लिए आदरणीय एवं ग्राह्य हो जाती है।

●

जैन आचार-मीमांसा

प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन करने वाले सभी अध्येता जानते हैं कि भारत में जो दो प्रमुख धारायें दीर्घकाल से अपना प्रभावशाली स्थान बनाये हुए हैं, वे हैं वैदिक और श्रमण। श्रमणधारा में यद्यपि जैन और बौद्ध-ये दोनों सम्मिलित माने जाते हैं, किन्तु इनमें जैन श्रमणधारा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रवहमान है। विभिन्न काल खण्डों और क्षेत्रों में आर्हत्, व्रात्य, श्रमण, निर्ग्रन्थ, जिन और जैन इत्यादि नाम-रूपों में सदा से विद्यमान और प्रभावक रही हैं। यह परम्परा सुदूर अतीत में जैनधर्म के आदिदेव एवं प्रथम तीर्थंकर वृषभ या ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई। जैनधर्म जिन विशेषताओं के कारण सदा गरिमा मण्डित रहा है उनमें श्रम, संयम, साधना, त्याग, अहिंसा और वैराग्य जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

जैनधर्म का आचारपक्ष आत्मानुलक्ष्यी है। "अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है-इस अवधारणा के आधार पर यहाँ परमात्म-पद की प्राप्ति हेतु प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपना पुरुषार्थ करना पड़ता है, किसी दूसरे के या ईश्वर अथवा दैव के भरोसे नहीं। इसकी प्राप्ति स्वयं रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चलकर ही सम्भव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आचार संहिता से ही सम्भव है। श्रावक (गृहस्थ) एवं श्रमण (मुनि अथवा अनगार)-इन दो रूपों में सुव्यवस्थित जैन आचारसंहिता की सुदृढ़ आधारशिला और इसकी अपनी विशेषताओं के कारण ही जैनधर्म की मजबूत जड़ों को आज तक कोई हिला नहीं सका। इसीलिए तो पद्मभूषण आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने इस लेख के लेखक की सुप्रसिद्ध शोध कृति "मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन" की शुभाशंसा में ठीक ही लिखा है कि-"आचार" श्रमण संस्कृति के उद्बोधक जैनधर्म का मेरुदण्ड है। जिस प्रकार मेरुदण्ड देहयष्टि को पुष्ट एवं सुव्यवस्थित बनाने में सर्वथा कृतकार्य है, उसी प्रकार आचार जैनधर्म को पुष्ट तथा परिनिष्ठित करने में सर्वतोभावेन समर्थ है।

जैनधर्म के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पूर्णता हेतु श्रावक या गृहस्थधर्म (श्रावकाचार) पूर्वार्ध है और श्रमण या मुनिधर्म (श्रमणाचार) उत्तरार्ध। श्रमणधर्म की नींव गृहस्थधर्म पर मजबूत होती है। यहाँ गृहस्थ धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका इसलिए भी है क्योंकि श्रावकाचार की भूमिका में एक सामान्य गृहस्थ त्याग और भोग-इन दोनों को समन्वयात्मक दृष्टि में रखकर आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होता है।

अतः प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम श्रावकाचार का स्वरूप विवेचन आवश्यक है। यद्यपि श्रावक अर्थात् एक सद्गृहस्थ के आचार का कितना महत्त्व है? यह श्रावकाचार विषयक शताधिक बड़े-बड़े प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों की उपलब्धि से ही पता चल जाता है। इसी

दृष्टि से अतिसंक्षेप में यहाँ श्रावकाचार अर्थात् श्रावकों की सामान्य आचार पद्धति प्रस्तुत है-

१. श्रावकाचार : श्रावकों की आचार-पद्धति

जैन परम्परा में आचार के स्तर पर श्रावक और साधु-ये दो श्रेणियाँ हैं। श्रावक गृहस्थ होता है, उसे जीवन के संघर्ष में हर प्रकार का कार्य करना पड़ता है। जीविकोपार्जन के साथ ही आत्मोत्थान एवं समाजोत्थान के कार्य करने पड़ते हैं। अतः उसे ऐसे ही आचारगत नियमों आदि के पालन का विधान किया गया, जो व्यवहार्य हों। क्योंकि सिद्धान्तों की वास्तविकता क्रियात्मक जीवन में ही चरितार्थ हो सकती है। इसलिए श्रावकोचित आचार-विचार के प्रतिपादन और परिपालन का विधान श्रावकाचार की विशेषता है।

वस्तुतः आध्यात्मिक विकास की पूर्णता में श्रावकाचार या गृहस्थधर्म पूर्वार्ध है और श्रमण या मुनिधर्म उत्तरार्ध है। क्योंकि श्रमणाचार की नींव गृहस्थधर्म पर मजबूत होती है। त्याग और भोग इन दोनों के समन्वय को दृष्टि में रखकर श्रावक आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होता है, इसीलिए समाज और देश के अभ्युत्थान में श्रावक की सीधी भूमिका प्रमुख होती है, वह समाज की रीढ़ है।

श्रावकाचार आदर्श जीवन के उत्तरोत्तर विकास की जीवनशैली प्रदान करता है। श्रावकाचार के परिपालन हेत साधुवर्ग सदा से श्रावकों का प्रेरणास्रोत रहा है। वस्तुतः साधु राग-द्वेष से परे समाज का संरक्षक होता है, वह समाज हित में श्रावकों को छोटे-छोटे स्वार्थों के त्याग करने एवं समता भाव की शिक्षा देता है।

संस्कार और उनका महत्त्व

संस्कार शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, धार्मिक कृत्य, संस्करण या परिष्करण की क्रिया, प्रभावशीलता, प्रत्यास्मरण का कारण, स्मरणशक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव अभिमंत्रण आदि अनेक अर्थों में होता है। सामान्यतः संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है अर्थात् संस्कार वे क्रियाएं एवं विधियाँ हैं जो व्यक्ति को किसी कार्य को करने की आधिकारिक योग्यता प्रदान करती है। शुचिता का सन्निवेश मन का परिष्कार, धर्मार्थ-सदाचरण, शुद्धि-सन्निधान आदि ऐसी योग्यताऐं हैं जो शास्त्रविहित क्रियाओं के करने से प्राप्त होती हैं। संस्कार शब्द उन अनेक धार्मिक क्रिया-कलापों को भी व्याप्त कर लेता है जो शुद्धि, प्रायश्चित्त, व्रत आदि के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार संस्कार शब्द के साथ अनेक अर्थों का योग हो गया है। व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण शुभ और अशुभ प्रवृत्तियाँ उसके संस्कारों के अधीन हैं, जिनमें से कुछ को वह

पूर्वभव से अपने साथ लाता है और कुछ को इसी भव में संगति एवं शिक्षा आदि के प्रभाव से अर्जित करता है। इस प्रकार संस्कार शब्द का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं से तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक एवं बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है, जिनसे वह सभ्य समाज का सदस्य हो सके। साधारणतः यह समझा जाता था कि सविधि किए गए संस्कारों के अनुष्ठान से सुसंस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

संस्कार से सम्बन्धित जैन साहित्य

जैन साहित्य में तीर्थंकर आदि तिरेसठ शलाका पुरुषों तथा अन्य महापुरुषों का जीवन वृत्त पढ़ते हैं तो उनके भी जन्म, विवाह, दीक्षा आदि संस्कारों का उल्लेख मिलता है, पर इनकी शास्त्रोक्त विधि का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर जैन परम्परा की अपेक्षा दिगम्बर परम्परा में संस्कार सम्बन्धित साहित्य और इसकी परम्परा काफी प्राचीन लगती है। सर्वप्रथम संस्कारों से सम्बन्धित साहित्य जिनसेनाचार्य कृत "आदिपुराण" है जिसमें उन्होंने विस्तार से संस्कारों की चर्चा की है। इसी प्रकार "हरिवंशपुराण" आदि अनेक पुराणों, प्रतिष्ठाशास्त्रों एवं श्रावकाचार ग्रन्थों में भी संस्कार सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। १५वीं शताब्दी में वर्धमानसूरिकृत "आचारदिनकर" नामक ग्रन्थ में ४० संस्कारों की चर्चा की गई। इससे पूर्व हरिभद्रसूरिकृत "पंचाशक प्रकरण" एवं पादलिप्ताचार्यकृत "निर्वाणकलिका" में संस्कारों की चर्चा मिलती है, लेकिन उनमें प्रायः यति के संस्कारों का ही उल्लेख है, गृहस्थ के संस्कारों की प्रायः उसमें कोई चर्चा नहीं मिलती है। इसी प्रकार मध्यकाल के संस्कारों से सम्बन्धित जिनप्रभसूरिकृत "विधिमार्गप्रपा", तिलकाचार्य विरचित "सामाचारी", श्रीमद् श्रीचन्द्राचार्य संकलित "सुबोधा-समाचारी" आदि ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, इनमें भी प्रायः यतियों के संस्कार एवं सामान्य संस्कारों का ही वर्णन मिलता है, गृहस्थ के मात्र व्रतारोपण-संस्कारों की चर्चा इन ग्रन्थों में मिलती है, शेष संस्कारों की कोई चर्चा नहीं है।

संस्कारों की संख्या

दिगम्बर परम्परा के पुराणों में संस्कार के लिए "क्रिया" शब्द का प्रयोग किया गया है। यह सत्य है कि संस्कार शब्द सामान्यतया धार्मिक विधि-विधान या क्रिया का ही सूचक है। दिगम्बर जैन परम्परा के आचार्य जिनसेन कृत "आदिपुराण" में विविध संस्कारों का उल्लेख करते हुए इन्हें तीन भागों में विभाजित किया गया है। उसके अनुसार १. गर्भान्वय क्रियाएँ-५३, २. दीक्षान्वय क्रियाएँ-४८, और ३. कर्त्रन्वय क्रियाएँ-७ हैं। इस प्रकार इसमें कुल मिलाकर १०८ संस्कारों तक की चर्चा है। श्वेताम्बर जैन परम्परा के वर्धमानसूरिकृत "आचारदिनकर" में संस्कारों की चर्चा करते हुए उनकी संख्या ४० बताई गई है, जिनमें से १६ संस्कार गृहस्थों के, १६ संस्कार यतियों के एवं ८ सामान्य संस्कार हैं।

आदिपुराण और उसमें प्रतिपादित संस्कार

संस्कार, वर्ण व्यवस्था आदि का विवेचन आचार्य जिनसेन ने महापुराण के प्रथम भाग अर्थात् आदिपुराण में विस्तार से किया है। वस्तुतः महापुराण के मुख्य दो खण्ड हैं- (१) आदिपुराण और (२) उत्तरपुराण। सम्पूर्ण आदिपुराण के ४७ पर्वों में से ४२ पर्व पूर्ण तथा ४३वें पर्व के तीन श्लोक तक आठवीं-नवीं शती के भगवज्जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं और इसके अवशिष्ट पाँच पर्व तथा उत्तरपुराण की रचना जिनसेनाचार्य के बाद उनके प्रमुख शिष्य गुणभद्राचार्य के द्वारा की गई।

भारतीय पुराणकाल के सन्धिकाल की एक अनुपम रचना है, आदिपुराण। अतः यह न केवल पुराण ग्रन्थ है अपितु एक श्रेष्ठ महाकाव्य भी है। वास्तव में आदिपुराण संस्कृत साहित्य का एक प्रशस्त ग्रन्थ है। ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका इसमें प्रतिपादन न किया गया हो। यह एक पुराण, महाकाव्य, धर्मकथा, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और कर्मयुग की आद्यव्यवस्था के आविष्कार का प्रदर्शक इतिहास भी है।

सैंतालीस पर्वों के इस आदिपुराण में संस्कृत के ६७ प्रकार के छन्दों और १०६७६ पद्यों में रचित इस पुराण के अड़तीसवें (३८) पर्व के अन्तर्गत जैन परम्परा सम्मत- विविध संस्कारों का विशेषकर षोडश संस्कारों का विधिपूर्वक वर्णन किया गया है। उत्तरपुराण के अन्तर्गत सोलह प्रकार के संस्कृत छन्दों में ७५७५ पद्यों की रचना की गयी है। इस प्रकार महापुराण की रचना सन् ८१५ से सन् ८७७ के मध्य में हुई एवं गुणभद्राचार्य ने ई० सन् ८६७ में इसी के उत्तरभाग रूप उत्तरपुराण की रचना की।

एक गृहस्थ श्रावक को समाज की मुख्य धारा से अलग हुए बिना नैतिक, आदर्श और संस्कारित जीवन जीने के लिए आचार्य जिनसेन ने संस्कार पद्धति मुख्यतः तीन भागों में विभक्त की-(१) गर्भान्वय क्रिया, (२) दीक्षान्वय क्रिया, (३) क्रियान्वय क्रिया।

(१) गर्भान्वय क्रिया-इसमें श्रावक या गृहस्थ की ५३ क्रियाओं (संस्कारों) का वर्णन है-वह इस प्रकार है :

(१) आधान क्रिया (संस्कार), (२) प्रीति क्रिया, (३) सुप्रीति, (४) धृति, (५) मोद, (६) प्रियोद्भव जातकर्म, (७) नामकर्म या नामकरण, (८) बहिर्यान, (६) निषद्या, (१०) अन्नप्राशन, (११) व्युष्टि (वर्षगांठ), (१२) केशवाय, (१३) लिपिसंख्यान, (१४) उपनीति (यज्ञोपवीत), (१५) व्रतावरण, (१६) विवाह, (१७) वर्णलाभ, (१८) कुलचर्या, (१६) गृहीशिता, (२०) प्रशान्ति, (२१) गृहत्याग, (२२) दीक्षाग्रहण, (२३) जिनरूपता, (२४) मौनाध्ययन, (२५) तीर्थकृद्भावना, (२६) गणोपग्रहण, (२७) स्वगुरुस्थानावाप्ति, (२८) निसंगत्वात्मभावना, (२६) योगनिर्वाणसम्प्राप्ति, (३०) योगनिर्वाणसाधन, (३१) इन्द्रोपपाद, (३२) इन्द्राभिषेक, (३३) इन्द्रविधिदान, (३४) सुखोदय, (३५) इन्द्रत्याग, (३६) अवतार,

(३७) हिरण्योत्कृष्टजन्मग्रहण, (३८) मन्दराभिषेक, (३६) गुरुपूजन, (४०) यौवराज्यक्रिया, (४१) स्वराज्यप्राप्ति, (४२) दिशांजय, (४३) चक्राभिषेक, (४४) साम्राज्य, (४५) निष्क्रान्त, (४६) योगसम्मह, (४७) आर्हन्त्य क्रिया, (४८) विहारक्रिया, (४६) योगत्याग, (५०) अग्रनिर्वृत्ति, तीन अन्य क्रिया (संस्कार) इस प्रकार गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त ५३ क्रियाओं (संस्कारों) का कथन किया गया है।

२. दीक्षान्वय क्रिया - (१) अवतार, (२) वृत्तलाभ, (३) स्थानलाभ, (४) गणग्रह, (५) पूजाराध्य, (६) पुण्ययज्ञ, (७) दृढ़चर्या, (८) उपयोगिता, (६) उपनीति, (१०) व्रतचर्या, (११) व्रतावतरण, (१२) पाणिग्रहण, (१३) वर्णलाभ, (१४) कुलचर्या, (१५) गृहीशिता, (१६) प्रशान्तता, (१७) गृहत्याग, (१८) दीक्षाद्य, (१६) जिनरूपत्व, (२०) दीक्षान्वय।

३. क्रियान्वय क्रिया

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं, पारिव्रज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं पदमार्हन्त्यं, निर्वाणं चेति सप्तकम्।।

(१) सज्जातित्व (सत्कुलत्व), (२) सद्गृहस्थता, (३) पारिव्रज्य, (४) सुरेन्द्रपदत्व, (५) साम्राज्यपद, (६) अर्हन्तपद, (७) निर्वाणपदप्राप्ति-ये सात क्रियान्वय क्रियाएँ हैं।

धार्मिक एवं संस्कारित जीवन पद्धति के निर्माण में इन समस्त क्रियाओं का महत्व है। इन क्रियाओं (संस्कारों) में देव-शास्त्र-गुरु की पूजा भक्ति का यथायोग्य-विधान है।

प्रमुख सोलह संस्कार : स्वरूप और विधि

जिन संस्कारों से सुसंस्कृत मानव द्विज (संस्कारित श्रावक) कहा जाता है, वे संस्कार सोलह होते हैं[1] -

(१) आधान संस्कार, (२) प्रीति संस्कार, (३) सुप्रीति संस्कार, (४) धृति, (५) मोद, (६) जातकर्म, (७) नामकरण, (८) वहिर्यान, (६) निषद्या, (१०) अन्नप्राशन, (११) व्युष्टि, (१२) केशवाय अथवा चौलकर्म, (१३) लिपिसंख्यान, (१४) उपनीत, (१५) व्रताचरण, (१६) विवाह संस्कार।

१. आधान संस्कार-पाणिग्रहण (विवाह) के बाद सौभाग्यवती नारियाँ उस स्त्री तथा उसके पति को मण्डप में लाकर वेदी के निकट बैठातीं हैं। शुद्ध वस्त्र धारण कर संस्कार विधि इस प्रकार की जाती है -

सर्वप्रथम मंगलाचरण, मंगलाष्टक का पाठ, पुनः हस्तशुद्धि, भूमिशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, पात्रशुद्धि, मन्त्रस्नान, साकल्यशुद्धि, समिधाशुद्धि, होमकुण्ड शुद्धि, पुण्याहवाचन के कलश

---

१. षोडशसंस्कार : सं० एवं प्र० जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, संस्कारप्रकरण। सं० नरेन्द्र-कुमार जैन।

की स्थापना, दीपक प्रज्वलन, तिलककरण, रक्षासूत्रबन्धन, संकल्प करना, यन्त्र का अभिषेक, शान्तिधारा, गन्धोदक, वन्दन, इसके पूर्व अर्घसमर्पण, पूजन के प्रारम्भ में स्थापना, स्वस्तिवचान, इसके बाद देव-शास्त्र-गुरुपूजा, एवं सिद्धयन्त्र का पूजन करना चाहिए। अनन्तर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक पति और धर्मपत्नी द्वारा विश्वशान्तिप्रदायक हवन पूर्वक यह क्रिया सम्पन्न की जाती है।

२. प्रीति-संस्कार-प्रीति संस्कार गर्भाधान के तीसरे माह में किया जाता है। प्रथम ही गर्भिणी स्त्री को तैल, उबटन आदि लगाकर स्नानपूर्वक वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत करें तथा शरीर पर चन्दन आदि का प्रयोग करें। इसके बाद प्रथम संस्कार की तरह हवन क्रिया करें। प्रतिष्ठाचार्य कलश के जल से दम्पती का सिंचन करें। पश्चात् त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव, इन तीनों मन्त्रों को पढ़कर दम्पती पर पुष्प (पीले चावल छिड़के) शान्ति पाठ-विसर्जन पाठ पढ़कर थाली में भी ये पुष्प क्षेपण करें। "ओं कं ठं व्हः पः असिआउसा गर्भार्भकं प्रमोदेन परिरक्षत स्वाहा" यह मन्त्र पढ़कर पति गन्धोदक से गर्भिणी के शरीर का सिंचन करें, स्त्री अपने उदर पर गन्धोदक लगा सकती है।

३. सुप्रीति क्रिया-संस्कार-इसे सुप्रीति अथवा पुंसवन संस्कार क्रिया भी कहते हैं। यह संस्कार गर्भ के पाँचवें माह में किया जाता है। इसमें भी प्रीतिक्रिया के समान सौभाग्यवती स्त्रियाँ उस गर्भिणी को स्नान के बाद वस्त्राभूषणों से तथा चन्दन आदि से सुसज्जित कर मंगलकलश लेकर वेदी के समीप लाएं और स्वस्तिक पर मंगलकलश रखकर, लाल-वस्त्राच्छादित पाटे पर दम्पती को बैठा दें। इस समय घर पर सिन्दूर तथा अँजन (काजल) भी अवश्य लगाना चाहिए। प्रथम क्रिया की तरह यथाविधि दर्शन, पूजन एवं हवन इसमें भी किया जाता है।

४. धृति संस्कार-'धृति' को 'सीमन्तोन्नयन' अथवा सीमान्त क्रिया भी कहते हैं। इसको सातवें माह के शुभ दिन, नक्षत्र, योग, मुहूर्त आदि में करना चाहिए। इसमें प्रथम संस्कार के समान सब विधि कर लेना चाहिए। पश्चात् यन्त्र-पूजन एवं हवन करना चाहिए। इसके बाद सौभाग्यवती नारियाँ गर्भिणी के केशों में तीन माँग निकालें।

५. मोद क्रिया-मोद-प्रमोद या हर्ष-ये एक ही अर्थवाले शब्द हैं। इस संस्कार में हर्षवर्धक ही सब कार्य किये जाते हैं। अतः इसको 'मोद' कहते हैं। गर्भ से नौवें माह में यह मोद क्रिया की जाती है। प्रथम संस्कार की तरह सब क्रिया करते हुए सिद्धयन्त्रपूजन और हवन करना चाहिए। अनन्तर प्रतिष्ठा-आचार्य गर्भिणी के मस्तक पर णमोकार मन्त्र पढ़ते हूए ओं श्री आदि बीजाक्षर लिखना चाहिए। पीले चावलों (पुष्पों) की वर्षा मन्त्रपूर्वक करनी चाहिए। वस्त्र-आभूषण धारण कराने के साथ हस्त में कंकण सूत्र का बन्धन करना चाहिए। शान्ति-विसर्जन पाठ पढ़ते हुए पुष्पों की वर्षा करना जरूरी है। पश्चात् गर्भिणी को सरस भोजन करना चाहिए तथा आमन्त्रित सामाजिक बन्धुओं का यथायोग्य आदर-सत्कार करें।

६. जात (जन्म) कर्म-पुत्र अथवा पुत्री का जन्म होते ही पिता अथवा कुटुम्ब के व्यक्तियों को उचित है कि वे श्रीजिनेन्द्र मन्दिर में तथा अपने दरवाजे पर मधुर वाद्य-बाजे बजवाएँ। भिक्षुक जनों को दान तथा पशु-पक्षियों को दाना आदि दें। बन्धु वर्गों को वस्त्र-आभूषण, श्रीफल आदि शुभ वस्तुओं को प्रदान करें। पश्चात् "ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रौं ह्रूँ ह्रः नानानुजानुप्रजो भव भव अ सि आ उ सा स्वाहा" यह मन्त्र पढ़कर, पुत्र का मुख देखकर, घी, दूध और मिश्री मिलाकर, सोने की चमची अथवा सोने के किसी बर्तन से उसे पाँच बार पिलाएँ। पश्चात् नाल कटवाकर उसे किसी शुद्धभूमि में मोती, रत्न अथवा पीले चावलों के साथ प्रक्षिप्त करा देना चाहिए।

७. नामकरण संस्कार-पुत्रोत्पत्ति के बारहवें, सोलहवें, बीसवें या बत्तीसवें दिन नामकरण करना चाहिए। किसी कारण बत्तीसवें दिन तक भी नामकरण न हो सके तो जन्मदिन से वर्ष पर्यन्त इच्छानुकूल या राशि आदि के आधार पर शुभ नामकरण कर सकते हैं। पूर्व के संस्कारों के समान मण्डप, वेदी, कुण्ड आदि सामग्री तैयार करना चाहिए। पुत्र सहित दम्पती को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर वेदी के सामने बैठाना चाहिए। पुत्र माँ की गोद में रहे। धर्मपत्नी पति की दाहिनी ओर बैठे। मंगलकलश भी कुण्डों के पूर्व दिशा में दम्पती के सन्मुख रखे।

८. बहिर्यान संस्कार-बहिर्यान का अर्थ बालक को घर से बाहर ले जाने का शुभारम्भ। यह संस्कार दूसरे, तीसरे अथवा चतुर्थ महीने में करना चाहिए। प्रथम बार घर से बाहर निकालने पर सर्वप्रथम समारोह पूर्वक बालक को मंदिर को जाकर जिनेन्द्रदेव का प्रथम दर्शन कराना चाहिए। अर्थात् जन्म से दूसरे, तीसरे अथवा चौथे महीने में बच्चे को घर से बाहर निकालकर प्रथम ही किसी चैत्यालय अथवा मन्दिर में ले जाकर श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शन श्रीफल के साथ मंगलाष्टक पाठ आदि पढ़ते हुए करना चाहिए। फिर यहीं केशर से बच्चे के ललाट में तिलक लगाना आवश्यक है। यह क्रिया योग्य मुहूर्त अथवा शुक्लपक्ष एवं शुभ नक्षत्र में सम्पन्न होनी चाहिए।

९. निषद्या संस्कार-जन्म से पाँचवें मास में निषद्या वा उपवेशन विधि करना चाहिए। निषद्या वा उपवेशन का अर्थ है बिठाना अर्थात् पाँचवें मास में बालक को बिठाना चाहिए। प्रथम ही भूमि-शुद्धि, पूजन और हवन कर पंचबालयति तीर्थंकरों का पूजन करें। वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर - इन पाँच बालब्रह्मचारी तीर्थंकरों को कुमार या बालयति कहते हैं।

अनन्तर चावल, गेहूँ, उड़द, मूँद, तिल, जवा- इनसे रंगावली चौक (रंगोली) बनाकर उस पर एक वस्त्र बिछा दें। बालक को स्नान कराकर वस्त्रालंकारों से विभूषित करें। पश्चात् "ओं ह्रीं अहं अ सि आ उ सा नमः बालकं उपवेशयामि स्वाहा"- यह मन्त्र पढ़कर उस रंगावली पर बिछे वस्त्र पर उस बालक को पूर्व दिशा की ओर मुखकर प ासन बिठाना

चाहिए। अनन्तर बालक की आरती उतारकर प्रमुख जनों, विद्वानों आदि सभी का उसे आशीर्वाद प्रदान करावें।

१०. अन्नप्राशन विधि या संस्कार-अन्नप्राशन का अर्थ है कि बालक को अन्न खिलाना। इसमें बालक को अन्न खिलाने का शुभारम्भ उस अन्न द्वारा बालक की पुष्टि होने के लिए यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार सातवें, आठवें अथवा नौवें मास में करना चाहिए।

११. व्युष्टि संस्कार-व्युष्टि का अर्थ वर्ष-वृद्धि अर्थात् प्रत्येक जन्म दिन के बाद उसमें एक-एक वर्ष की वृद्धि है। जिस दिन बालक का वर्ष पूर्ण हो उस दिन यह संस्कार करना चाहिए। इस संस्कार में कोई विशेष क्रिया नहीं है, केवल जन्मोत्सव मनाना है। यहाँ पर पूर्व के समान श्रीजिनेन्द्र देव की पूजा करें एवं हवन करें। नीचे लिखे मन्त्र को पढ़कर उस बालक पर पीले चावल (पुष्प) की वर्षा करें। मन्त्र - **"उपनयन जन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रवर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव"**।

अनन्तर यथाशक्ति औषधि, शास्त्र, अभय और आहार - ये चार प्रकार के दान सुपात्रों को देकर इष्टजन तथा बन्धु-वर्गों को भोजनादि द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिए।

१२. चौलकर्म अथवा केशवाय संस्कार-यह संस्कार पहले, तीसरे, पाँचवें अथवा सातवें वर्ष में करना उचित है। परन्तु यदि बालक की माता गर्भवती हो तो मुण्डन करना सर्वथा अनुचित है। माता के गर्भवती होने पर यदि मुण्डन किया जाएगा तो गर्भ पर अथवा उस बालक पर कोई विपत्ति सम्भव है। यदि बालक के पाँच वर्ष पूर्ण हो गये हों तो फिर माता का गर्भ पर किसी प्रकार का दोष नहीं कर सकता अर्थात् सातवें वर्ष में यदि माता गर्भवती भी हो तथापि बालक का विधिपूर्वक मुण्डन करा देना ही उचित है।

१३. लिपिसंख्यान (विद्यारम्भ) संस्कार-लिपि संख्यान संस्कार अर्थात् बालक को अक्षराभ्यास कराना। शास्त्रारम्भ यज्ञोपवीत के बाद होता है। लिपिसंख्यान संस्कार पाँचवें वर्ष में करना चाहिए। ग्रन्थकारों का मत है - **"प्राप्ते तु पंचमे वर्षे, विद्यारम्भं समाचरेत्।"**[1] अर्थात् पाँचवें वर्ष में विद्यारम्भ संस्कार करना चाहिए।

ततोऽस्य पंचमे वर्षे, प्रथमाक्षरदर्शने।
ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना, लिपिसंख्यानसंग्रहः।।
यथाविभवमत्रापि, ज्ञेयः पूजापरिच्छदः।
उपाध्याय पदे चास्य, मतोऽधीती गृहव्रती।।

---

१. षोडश संस्कार, पृ० ३८-जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता।

अर्थात् लिपिसंख्यान (विद्यारम्भ) संस्कार पाँचवें वर्ष में करना चाहिए। इस संस्कार में शुभ मुहूर्त अत्यावश्यक है। योग, वार, नक्षत्र- ये सब ही शुभ अर्थात् विद्यावृद्धिकर होने चाहिए। उपाध्याय (गुरु) को इस विषय का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

शुभ मुहूर्त

ज्योतिषशास्त्र में प्रत्येक दिन का फल इस प्रकार है-गुरुवार को विद्यारम्भ करने से बुद्धि अत्यन्त प्रखर (तेज) होती है। बुधवार तथा शुक्रवार को बुद्धि शुद्ध होती और बढ़ती है। रविवार को विद्यारम्भ करने से आयु बढ़ती है। सोमवार को मूर्खता, मंगलवार को मरण और शनिवार को विद्यारम्भ करने से शरीर का क्षय होता है।

बालक के पाँचवें वर्ष में सूर्य के उत्तरायण होने पर विद्यारम्भ को कराना उत्तम है। मृग, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मूल, हस्त, चित्रा, स्वाती, अश्विनी, पूर्वा, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, श्रवण, घनिष्ठा, शततारका - ये नक्षत्र शुभ हैं। इस प्रकार शुभ योग और लग्न आदि भी देखकर मुहूर्त निश्चित कर लेना चाहिए।

विधि

जिस दिन शुभ मुहूर्त निकले उस दिन प्रथम ही श्री जिनेन्द्रदेव, शास्त्र तथा गुरु की पूजा कर पूर्व के समान शान्ति हवन करें। अनन्तर बालक को स्नान कराकर वस्त्र, अलंकार पहनाते हुए चन्दन का तिलक लगाकर विद्यालय अथवा पाठशाला में ले जाएँ। शिक्षा देने वाले (शिक्षक) गुरु को वस्त्र, अलंकार, श्रीफल उपहारस्वरूप देकर बालक से करबद्ध पूर्वक गुरु की यथायोग्य विनयोपचार करावे।

सुयोग्य उपाध्याय या गुरु स्वयं पूर्वदिशा की ओर मुखकर बैठें। बालक को अपने सामने पश्चिम दिशा की ओर मुख कराकर बिठाएँ और उसे धर्म, अर्थ, काम - इन तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करने योग्य बनाने के लिए अक्षरारम्भ संस्कार प्रारम्भ करें। सर्वप्रथम उपाध्याय एक बड़े तख्ते पर अखण्ड चावलों को बिछाएँ और उस पर हाथ से - "ओं नमः सिद्धेभ्यः" यह मन्त्र लिखकर, "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः" ये स्वर और "क ख ग घ ङ च छ ज झ', ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह"- ये व्यंजन लिखें। अनन्तर बालक के दोनों हाथों में सफेद पुष्प और अक्षत देकर लिखे हुए अक्षरों के समीप रखावे और फिर - "ओं नमो अर्हन्ते नमः सर्वज्ञाय सर्वभाषा-भाषित सकलपदार्थाय बालकं अक्षराभ्यासं कारयामि द्वादशांगश्रुतं भवतु भवतु ऐं ओं ह्रीं क्लीं स्वाहा" - यह मन्त्र पढ़कर उन लिखे हुए अक्षरों के समीप ही बालक के हाथ से ही वही "ओं नमः सिद्धेभ्यः" मन्त्र और अकार से हकार पर्यन्त अक्षर लिखाएँ।

१४. उपनीति संस्कार-इस उपनीति संस्कार को उपनयन एवं यज्ञोपवीत भी कहते हैं। इसका विधान है कि यह संस्कार ब्राह्मणों को गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रियों को ग्यारहवें वर्ष में और वैश्यों को बारहवें वर्ष में करना चाहिए। यदि किसी कारण नियत समय तक उपनयन विधान न हो सका तो ब्राह्मणों को सोलह वर्ष तक, क्षत्रियों को बाईस वर्ष तक और वैश्यों को चौबीस वर्ष तक यज्ञोपवीत संस्कार कर लेना उचित है। पूजा-प्रतिष्ठा, जप, हवन आदि करने के लिए इस संस्कार को आवश्यक बतलाया है।

१५. व्रताचरण संस्कार-यज्ञोपवीत के पश्चात् विद्याध्ययन करने का समय है, विद्याध्ययन करते समय कटिलिंग (कमर का चिह्न), ऊरुलिंग (जंघा का चिह्न), उरोलिंग (हृदयस्थल का चिह्न) और शिरोलिंग (शिर का चिह्न) धारण करना चाहिए। (१) कटिलिंग - इस विद्यार्थी का कटिलिंग त्रिगुणित मौजीबन्धन है जो कि पूर्वोक्त रत्नत्रय का विशुद्ध अंग और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का चिह्न है। (२) ऊरुलिंग - इस शिष्य का ऊरुलिंग धुली हुई सफेद धोती तथा लँगोट है जो कि जैनधर्मी जनों के पवित्र विशाल कुल को सूचित करती है। (३) उरोलिंग - इस विद्यार्थी के हृदय का चिह्न सात सूत्रों से बनाया हुआ यज्ञोपवीत है। यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानों का सूचक है। (४) शिरोलिंग - विद्यार्थी का शिरोलिंग शिर का मुण्डन कर शिखा (चोटी) सुरक्षित करना है। जो कि मन वचन काय की शुद्धता का सूचक है।

यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् नमस्कार मन्त्र को नौ बार पढ़कर इस विद्यार्थी को प्रथम ही उपासकाचार (श्रावकाचार) गुरुमुख से पढ़ना चाहिए। गुरुमुख से पढ़ने का अभिप्राय यह है कि श्रावकों की बहुत-सी ऐसी क्रियाएँ हैं जो अनेक शास्त्रों से मन्थन करने से निकलती हैं, गुरुमुख से वे सहज ही प्राप्त हो सकते हैं।

१६. विवाह संस्कार-विवाह संस्कार सोलह संस्कारों में अन्तिम एवं मह वपूर्ण संस्कार है। सुयोग्य वर एवं कन्या के जीवन पर्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध सहयोग और दो हृदयों के अखण्ड मिलन या संगठन को विवाह कहते हैं। विवाह, विवहन, उद्वह, उद्वहन, पाणिग्रहण, पाणिपीडन - ये सब ही एकार्थवाची शब्द हैं। "विवहनं विवाहः" ऐसा व्याकरण से शब्द सिद्ध होता है।

विवाह के पाँच अंग -

वाग्दानं च प्रदानं च, वरणं पाणिपीडनम्।
सप्तपदीति पंचांगो, विवाहः परिकीर्तितः।।

(१) वाग्दान (सगाई करना), (२) प्रदान (विधिपूर्वक कन्यादान), (३) वरण (माला द्वारा परस्पर स्वीकारना), (४) पाणिग्रहण (कन्या एवं वर का हाथ मिलाकर, उन हाथों पर

जलधारा छोड़ना), (५) सप्तपदी (देवपूजन के साथ सात प्रदक्षिणा (फेरा) करना) - ये विवाह के पाँच अंग आचार्यों ने कहे हैं।

श्रावक के तीन मनोरथ

वस्तुतः श्रावकधर्म श्रमण बनने का भी पूर्वाभ्यास है। अतः उस ओर अग्रसर होते हुए मोक्ष की ओर प्रस्थान करने के लिए प्रत्येक श्रावक को निरन्तर इन तीन मनोरथों का चिन्तन सदा करते रहना चाहिए -

१. वह शुभ दिन कब आयेगा कि जब मैं अपने पास रहे हुए थोड़े या अधिक परिग्रह का त्याग करके इस बोझ से हल्का बनूँगा।
२. वह आनन्दकारी घड़ी कब आवेगी जब मैं इस संसार से सर्वथा विरक्त होकर निर्ग्रन्थ दीक्षा पूर्वक अनगार (श्रमण) बनूँगा।
३. वह कल्याणकारी दिन कब आवेगा जब मैं समाधिमरण के लिए तत्पर होकर काल से जूझने के लिए प्रसन्नतापूर्वक अन्तिम सल्लेखना में लग जाऊंगा और क्रमशः आहारादि का सर्वथा त्याग करके पादपगमन सल्लेखना से (मृत्यु की इच्छा नहीं करता हुआ) धर्मध्यान पूर्वक देह छोडूँगा।

श्रावक उक्त मनोरथों का चिन्तन करता हुआ और अपने अशुभ कर्मों की निर्जरा करता हुआ आत्मा को कर्म-भार से हल्की बनाता है।

श्रावक के दैनिक षट्कर्म एवं व्रताचरण -वस्तुतः व्रताचरण की दृष्टि से साधु और श्रावक का धर्म समान है, अलग नहीं। क्योंकि जिस सदाचरण से साधु को दूषण का पाप लगता है, उसी से श्रावक को भी लगता है। इसीलिए साधुत्व और श्रावकत्व दोनों आगम की आज्ञा में हैं। दोनों में अन्तर केवल मात्रा की दृष्टि से है। आंशिक अर्थात् अणुवत रूप व्रताचरण श्रावकत्व है और महाव्रत रूप सम्पूर्ण व्रताचरण साधुत्व है। श्रावक के देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान - ये दैनिक षट्कर्म प्रमुख माने गये हैं। कहा भी है -

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने।।

श्रावकों के प्रमुख बारह व्रत -श्रावकाचार जिन प्रमुख बारह व्रतों के द्वारा धारण किया जाता है, वे हैं - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

(क) **पांच अणुव्रत**-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-इस तरह इन पांचों पापों के स्थूल अर्थात् अणुरूप में त्याग करने को पाँच अणुव्रत कहते हैं।

१. अहिंसाणुव्रत-कषाय भाव पूर्वक मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुमोदना

से त्रस जीवों को मारना स्थूल हिंसा कहलाती है। उसके त्याग करने वाले से प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है।

२. सत्याणुव्रत-जो जानबूझकर स्थूल झूठ को न तो आप बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा न केवल असत्य ही किन्तु सत्य भी ऐसा नहीं बोलता जिससे सुनने वालों को पीड़ा पहुँचती हो वह सत्याणुव्रती कहलाता है। यहाँ स्थूल झूठ का अर्थ है वह मोटा झूठ जो राजदण्ड के योग्य हो तथा लौकिक दृष्टि में निंद्य हो, जिसमें विश्वास दिलाकर धोखा दिया जाता हो।

३. अचौर्याणुव्रत-बिना दिये पर-द्रव्य को चाहे वह कहीं रक्खा हो, गड़ा हो, या गिर गया हो या भूला हुआ हो, उसे लोभवश स्वयं न लेना और न दूसरों को देना यह तीसरा अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत-जो पाप के भय से (न कि मात्र राजादि के भय से) पर-स्त्रियों पर कुदृष्टि नहीं रखना या उनका स्वयं सेवन नहीं करना और न दूसरों को सेवन कराना अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखना स्वदारसंतोष अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

५. परिग्रह-परिणाम व्रत-धन-धान्य, वस्त्र, पात्र, आभूषण, मकान, खेत-जमीन, पशु आदि परिग्रहों का परिमाण, सीमा, निर्धारित करके उससे अधिक की इच्छा नहीं रखना परिग्रह परिमाणव्रत है।

(ख) तीन गुणव्रत -दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत- ये तीन गुणव्रतों के नाम हैं। इनके धारण करने से अणुव्रत कई गुणे बढ़ जाते हैं अर्थात् उत्कर्षता प्राप्त करते हैं। इसलिये इनका नाम गुणव्रत है।

१. दिग्व्रत- दिशाओं को मर्यादित करके जो पापों की निवृत्ति के अर्थ मरणपर्यन्त के लिए यह संकल्प करना कि-मैं दस दिशाओं में अमुक-अमुक दिशा में इतने-इतने क्षेत्र से बाहर नहीं जाऊँगा- इसे दिग्व्रत कहते हैं। यह मर्यादा प्रसिद्ध नदी, पर्वत, वन, देश, नगर और समुद्र को लक्ष्य करके की जाती है, तथा योजनों की गिनती से भी की जाती है। इस दिग्व्रत से मर्यादा के बाहर स्थूल-सूक्ष्म सभी तरह के पापों की निवृत्ति हो जाने के कारण अणुव्रत है, वे पंच महाव्रतों की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं।

२. अनर्थ-दण्डव्रत-मर्यादा के भीतर भी निरर्थक और अति अनर्थकारक पाप-योगों से बचते रहना अनर्थ दण्डव्रत कहलाता है। उसके पाँच भेद निम्न प्रक़ार है -

(१) ऐसी बातें सुनाना जिससे सुनने वालों की प्रवृत्ति हिंसामय व्यापारों, आरंभों और ठगाई करने आदि में हो जाये, उसे पापोपदेश नामक प्रथम अनर्थदण्ड कहते हैं।

(२) बिना प्रयोजन फरसा, तलवार, गैंती, फावड़ा, अग्नि, अन्य आयुध, विष, सांकल आदि हिंसाकारक पदार्थों का किसी को मांगने पर देना या दान करना हिंसा-दान नामक दूसरा अनर्थदण्ड है।

(३) द्वेषभाव से किसी के वध, बन्धन, छेद, क्लेशादि का चिंतन करना और रागभाव से परस्त्री आदि के रूप श्रृंगारादि का चिंतवन करना अपध्यान नामक तीसरा अनर्थदण्ड है।

(४) जिन पुस्तकों के पढ़ने-सुनने से आरम्भ-परिग्रह में लालसा, दुःसाहस, मिथ्यात्व, रागद्वेष, मान, कामवासना आदि दुर्भाव पैदा होते हैं, उनका पढ़ना-सुनना चौथा दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है।

(५) व्यर्थ ही जमीन खुरचना-खोदना, जल को उछालना-छिड़कना, आग सुलगाना, पंखा करना, वनस्पति, वृक्ष आदि को तोड़ना-छेदन भेदन करना, सैर-सपाटा करना, हाथ-पैर हिलाना और कुत्ता-बिल्ली आदि हिंसक जीवों को पालना-यह सब प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है।

३. भोगोपभोग-परिमाणव्रत-जो एक बार भोगने में आये जैसे अशन, पान, विलेपनादि-वे भोग पदार्थ कहलाते हैं और जो बार-बार भोगने में आये जैसे वस्त्र, आभूषणादि वे उपभोग पदार्थ कहलाते हैं। इस प्रकार भोग और उपभोग दोनों ही प्रकार के पदार्थों में इन्द्रियों की विषयाशक्ति को घटाने के लिये चाहे वे प्रयोजनीय ही क्यों न हों तथापि उनकी संख्या का किसी नियत काल तक निर्धारित कर लेना कि इतने पदार्थ, इतने समय तक नहीं सेवन करूंगा या अमुक-अमुक पदार्थों का शीत ऋतु में ही अथवा ग्रीष्म ऋतु आदि में ही सेवन करूंगा, इस प्रकार निषेधमुख या विधिमुख दोनों ही तरह से नियम करना भोगोपभोग-परिमाणव्रत नामक तीसरा गुणव्रत है। पहले परिग्रह-परिमाणव्रत में जितनी वस्तुओं का परिमाण किया था, वह परिमाण इस व्रत में कुछ काल के लिये और भी कम हो जाता है जिससे उसके अणुव्रत वृद्धिंगत हो जाते हैं।

(ग) चार शिक्षा-व्रत-देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, और वैयावृत्य - ये चार शिक्षाव्रत हैं। इनसे महाव्रतों की ओर बढ़ने की शिक्षा मिलती है जिससे इनका नाम शिक्षाव्रत है।

(१) देशावकाशिक व्रत - दिग्व्रत में यावज्जीवन के लिये जितने क्षेत्र का परिमाण (आने-जाने का) रक्खा था उसे गाँव, नदी आदि को लक्ष्य करके काल की मर्यादा से घटाते रहना, जैसे आज या इतने दिन-मास तक मैं अमुक नदी, खेत, गांव, घर आदि से आगे नहीं जाऊंगा - इसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं। यह व्रत नित्य रहता है यानी इस व्रत के धारी को एक बार क्षेत्र की मर्यादा जितने समय तक के लिये की है, उस समय के समाप्त होने पर फिर काल परिमाण से नई मर्यादा करते रहना आवश्यक है। इस व्रत में उतने काल तक के लिये मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में व्रती सभी प्रकार के पापों से विरत हो जाते हैं। वह वहां की अपेक्षा महाव्रतों का साधक बन जाता है।

(२) **सामायिक व्रत** - किसी विवक्षित अर्थात् निश्चित समय तक पाँचों पापों का सर्वथा त्यागकर काय वचन की प्रवृत्ति और मन की व्यग्रता को रोककर वन, मकान, आश्रम या चैत्यालय में जहाँ भी एकांत-निरूपद्रव स्थान हो वहाँ प्रसन्नचित्त होकर सब तरह के दुर्ध्यानों को छोड़ता हुआ एकाग्र मन से बैठकर या खड़े होकर परमात्मा की स्तुति-वंदना करना, उनके गुणों का स्मरण व बारह भावनाओं का चिंतन आदि शुभध्यान में लगे रहना सामायिक नाम शिक्षाव्रत कहलाता है।

३. प्रोषधोपवास व्रत - एक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी-ऐसे चार पर्व-दिन माने जाते हैं। पर्वदिन से पूर्वोत्तर दिन में, मध्यान्ह में एक बार भोजन करके धारणा, पारणा करना और पर्व के दिन में सब प्रकार का भोजनपान छोड़कर आलस्यरहित होकर ध्यान, स्वाध्याय या उपदेश में उपयोग लगाना यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है, यह उपवास धर्मकामना से (संवर, निर्जरा के ध्येय से) किया जाना चाहिये न कि मंत्रसिद्धि, लंघन आदि के उद्देश्य से। प्रोषधोपवास के काल में पंचपापों का त्याग करने के साथ ही साथ श्रृंगार करना, सुगंध लगाना, पुष्पमाला पहनना, स्नान करना, अंजन लगाना, तम्बाखू सूंघना आदि नस्य, दांतों का मंजन, उद्योग-धंधा, नृत्य, गीत आदि को त्याग देना चाहिये और पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये।

४. वैयावृत्य व्रत-सम्यग्दर्शनादि गुणों के धारी, गृहत्यागी, निष्परिग्रही, निरारंभी साधु को केवल धर्मभावना से भक्ति पूर्वक यथाशक्ति आहार, औषध, समय के उपकरण और वसतिका प्रदान करके तथा गुणानुराग से उन संयमियों की जितनी भी सेवा अपने से बन सके, उतनी करके उनका कष्ट निवारण करना वैय्यावृत्य शिक्षा-व्रत है।

सागारधर्मामृत (२/१६) में अष्ट मूलगुणों का प्रतिपादन करते हुए कहा है -

> **मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपंचकाप्तनुती ।**
> **जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ।। २/१६**

अर्थात् मद्य, मधु, रात्रिभोजन, पंचोदम्बरफल - इनका त्याग तथा देववंदना, जीवदया और जलगालन - ये आठ मूलगुण श्रावक के लिए आवश्यक हैं।

श्रावक की तिरेपन क्रियायें-श्रावकाचार ग्रन्थों में श्रावक की तिरेपन क्रियायें वर्णित हैं - आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, समता परिणाम (कषायों की मंदता), ग्यारह प्रतिमायें, चार प्रकार के दान, जल छानना, रात्रिभोजन त्याग, दर्शन, ज्ञान, चारित्र का यथाशक्ति पालन - इन तिरेपन क्रियाओं से श्रावक परम्परया मोक्ष का अधिकारी बनकर मनुष्य जीवन को सफल बनाता है।

एक गृहस्थ श्रावक को अहिंसा अणुव्रत के पालन के प्रसंग में सर्वप्रथम जैनाचार्यों ने **चार प्रकार की हिंसा** का प्रतिपादन किया है - संकल्पी, आरम्भी, विरोधी और उद्योगी।

इनमें से सभी प्रकार की हिंसाओं से यथासम्भव बचने का विधान है। किन्तु संकल्पपूर्वक किया गया प्राणीवध (संकल्पी हिंसा) के पूर्णतः त्याग का विधान श्रावक को अनिवार्य रूप से करना होता है।

हिंसा के चार भेद-

(१) **संकल्पी हिंसा** - जानबूझकर, संकल्प करके किसी को सताना, कष्ट पहुँचाना अथवा उसके प्राणों का घात करना संकल्पी हिंसा है। प्रत्येक श्रावक को इस प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग आवश्यक है।

(२) **विरोधी हिंसा** - धर्म, समाज, व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र-इनकी अस्मिता पर कोई आक्रमण करता है, तो उनकी रक्षार्थ अर्थात् अत्याचारियों से स्व-धन-जन की रक्षा करने में जो हिंसा हो जाती है, वह विरोधी हिंसा है।

(३) **आरम्भी हिंसा** - गृहस्थ द्वारा घर-गृहस्थी के विविध कार्यों के करने में जो हिंसा हो जाती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं।

(४) **उद्योगी हिंसा** - गृहस्थ द्वारा अपने आश्रितों के पालन-पोषण हेतु अत्यावश्यक आजीविका तथा यथायोग्य उद्योग-धन्धे या व्यवसाय के सम्पादन में सावधानी के बावजूद जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी हिंसा है। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि प्रत्येक श्रावक का यह भी प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपनी आजीविका हेतु ऐसे कार्यों या साधनों का चयन करे, जो हिंसक, लोकनिंदक और धर्म, परम्परा या कुल आदि के विरुद्ध न हों।

श्रावक धर्म : विकास के सोपान

श्रावकाचार के परिपालन से जिस आदर्श जीवन शैली का विकास होता है, उससे उत्तरोत्तर जीवन के विकास की दिशा प्राप्त होती है, इसी विकास को जैन परम्परा में श्रावक की निम्नलिखित एकादश (ग्यारह) प्रतिमाओं में परिभाषित किया गया है-

श्रावक की एकादश प्रतिमायें-दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त-विरत, रात्रिभुक्ति-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्ट-त्याग - ये एकादश प्रतिमायें श्रावक के उत्तरोत्तर नैतिक एवं चारित्रिक विकास की परिचायक हैं। साथ ही ये श्रमण जीवन में प्रवेश एवं उसकी उपलब्धि हेतु मंगल प्रवेश-द्वार है। जिनपर क्रमशः आरोहरण करता हुआ वह श्रावक श्रमण की अन्तर्यात्रा का आत्म-पुरुषार्थ भी प्राप्त कर लेता है।

१. दर्शन प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारी श्रावक अपने सम्यक् दर्शन में पच्चीस दोष नहीं लगाता हुआ अष्टांग सम्यक्-दर्शन की आराधना करता है। पञ्चपरमेष्ठी के चरण

कमल में ही श्रद्धा रखता है, अष्टमूलगुण का धारक होता है, अर्थात् मदिरा, मांस और मधु- इन तीन मकारों और बड़, पीपल, ऊमर, कटूमर, पाकर - इन पाँच उदम्बर फलों का सर्वथा त्यागी होता है। सप्त व्यसन का भूलकर भी सेवन नहीं करता। इस प्रतिमा का पालन करने वाला श्रावक दृढ़ चित्त निर्भय होता है, यदि कोई परीषह या कष्ट उस पर आ पड़ता है तो अपने नियम की प्रतिज्ञा से डिगता नहीं। निदान-शल्य अर्थात् इहलोक सम्बन्धी यश सुख; संपत्ति या परलोग सम्बन्धी शुभगति की वांछा से रहित होकर वैराग्य भावना का ही चिंतवन किया करता है। अभक्ष्य और अन्याय को अत्यन्त अनर्थ का कारण जानकर त्याग करता है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता है। माया, मिथ्या और निदान तीनों शल्यों से रहित होकर सम्यक्-दर्शन का निरतिचार पालन करता है।

२. व्रत प्रतिमा - पूर्वोक्त बारह व्रतों का पालन करना। इस प्रतिमा का पालन करने वाला पाँच अणुव्रतों का अतिचार रहित पालन करता है और उनके सहायक तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत अर्थात् सप्त शीलव्रतों का भी निर्दोष पालन करता है। व्रत प्रतिमा का धारक श्रावक दृढ़चित्त, समभाव संयुक्त और ज्ञानवान् होता है।

३. सामायिक प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारी श्रावक नियमपूर्वक सवेरे, दोपहर, और सन्ध्या समय प्रतिदिन तीन बार विधिपूर्वक निरतिचार सामायिक (जाप्य, ध्यान, स्वाध्याय आदि) किया करता है। सामायिक में कम से कम समय अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट अवश्य लगाना चाहिये।

४. प्रोषधोपवास प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारी श्रावक धर्मध्यान में लीन होकर, प्रत्येक महीने की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, चारों ही पर्व के दिनों में, अपनी शक्ति को न छिपा कर, नियमपूर्वक निरतिचार प्रोषधोपवास किया करता है।

५. सचित्तत्याग प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारी श्रावक कंद-मूलफल, शाक, कोंपल, जमीकन्द, फूल, बीज आदि पदार्थों को कच्चे नहीं खाता है। जिव्हा इन्द्रिय के विषय को जीतने के आशय से गर्म या प्रासुक पानी पीता है। सचित्त पदार्थ का भक्षण नहीं करता है। सचित्त को अचित्त बनाने की विधि यह है -

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविल लवणे हिं मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण या छिएणं तं सव्वं फासुयं भणियं ।।

अर्थात् सुखाया हुआ, पकाया हुआ, तपाया हुआ, खटाई और नमक से मिला हुआ तथा जो यंत्र से छिन्न-भिन्न किया हुआ, अर्थात् शोधा हुआ ऐसा सब हरितकाय प्रासुक अर्थात् जीवरहित अचित्त होता है।

६. रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारी सम्यक्दृष्टि श्रावक रात्रि को न तो स्वयं ही किसी प्रकार का जलपान व भोजन करता है और न ही दूसरे को कराता

है। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय -इन चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि के समय सर्वथा त्यागी होता है। इसमें दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट सूर्यास्त से पहले तक व ४८ मिनट सूर्योदय होने पर भोजन-पान करना। रात्रि को भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी नहीं करना तथा पूर्ण सन्तोष रखना आवश्यक है।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा - जो ज्ञानी सम्यक्दृष्टि श्रावक, समस्त ही चार प्रकार की स्त्री-देवांगना, मनुष्यणी, तिर्यंचनी और चित्राम-आदिकरूप स्त्री की अभिलाषा मन, वचन, काय से नहीं करता है, वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक कहा जाता है। इस प्रतिमा का धारक अपनी स्त्री के भोग का भी त्यागी रहता है।

८. आरम्भ-त्याग प्रतिमा - जो श्रावक गृहकार्य, नौकरी चाकरी, खेती, व्यापार आदि से विरक्त हो जाता है अर्थात् इन सबका त्याग कर देता है, वह आरम्भत्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिमा के धारी को यदि अपना पुत्र आदिक या अन्य कोई सुश्रावक भोजन के लिये बुलावे तो वह वहाँ भी भोजन न करे । परन्तु इस प्रतिमा को धारण करने वाला अभिषेक, दान, पूजा आदि का पालन करता है।

९. परिग्रह-त्याग प्रतिमा - जो ज्ञानी सम्यक्दृष्टि श्रावक अंतरंग और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह को पाप का कारण जान हर्ष भाव के साथ त्याग करता है वही परिग्रहत्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है। प्रतिमाधारी श्रावक अपने लिये कुछ आवश्यक वस्त्रादि रखकर धर्मशाला, आश्रम आदि में ठहरता है और भक्ति से बुलाये जाने पर जो मिले सन्तोष पूर्वक भोजन कर लेता है।

१०. अनुमति-त्याग प्रतिमा - जो खेती, व्यापार आदि आरम्भ, धन-धान्य आदि परिग्रह और विवाह आदि इहलोक सम्बन्धी कार्य को पाप का मूल कारण जानकर इनमें अपनी सम्मति नहीं देता, वह ममत्व रहित पुरुष अनुमति त्याग प्रतिमा को धारण करने वाला कहलाता है। इस प्रतिमा का धारक घर में भी, बाहर - चैत्यालय, मठ, मन्दिर में भी रहता है। भोजन के लिये यदि कोई घर का या और कोई श्रावक बुलाने के लिये आता है, तो जीम आता है, ऐसा नहीं कहता कि हमारे लिये अमुक भोज्य वस्तु तैयार कर दीजिये।

११. उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा - जो सम्यक्दृष्टि श्रावक घर को छोड़ मठ, मण्डप या वसतिका में जाकर रहता है, गुरु के पास व्रत धारणकर तपश्चरण करता है, अनेक घरों से प्राप्त हुई भिक्षा का भोजन करता है और कोपीन मात्र खण्ड-वस्त्र धारण करता है, वह उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का धारण करने वाला **उत्कृष्ट श्रावक** कहलाता है। इस प्रतिमा में अपने निमित्त बनाये हुए भोजन का त्याग किया जाता है। जो भोजन गृहस्थ ने अपने कुटुम्ब के लिये बनाया हो, उसी में से भिक्षा द्वारा भक्ति से दिये जाने पर ग्रहण कर लिया जाता है।

इस प्रतिमा के दो भेद हैं: (१) **क्षुल्लक** - जो एक खण्ड चादर व एक कौपीन या लंगोट रखते हैं, मोर पंख की पीछी और एक कमण्डल रखते हैं। अभ्यास हेतु केशलुंचन करते या कैंची आदि से बाल उतरवा भी लेते हैं, गृहस्थ के यहां बैठकर कटोरा आदि में एकबार भोजन करते हैं। (२) **ऐलक** - जो केवल एक लंगोटी रखते हैं, मुनि की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। गृहस्थ के यहां खड़े होकर हाथ में ही भोजन करें। स्वयं मस्तक, दाढ़ी और मूंछ के केशों का हाथ से लुंचन (केशलुंचन) करते हैं।

इस तरह जब इस जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है, तो यह जीव पांचवें गुणस्थान में पदारोहण करता है, और उस गुणस्थान सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं का निरतिचार पालन करता है। इस गुणस्थान में ही प्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्र-मन्द भेदों की अपेक्षा ग्यारह प्रतिमारूप श्रावक के एकादश चारित्र के भेद किये गये हैं। जैसे-जैसे कषायें मन्द होती जाती हैं, वैसे-वैसे अगली-अगली प्रतिमा की प्रतिज्ञा होती चली जाती है। इन प्रतिज्ञाओं में आत्मध्यान का अभ्यास बढ़ाया जाता है और इससे जीव की धीरे-धीरे आत्मोन्नति होती चली जाती है।

यदि जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है तो वह दीक्षा पूर्वक मुनि पद को ग्रहण कर अपनी आत्मा का अधिक कल्याण करता है। यदि मुनि पद को ग्रहण करने की शक्ति तथा योग्यता अपने में नहीं देखता तो श्रावक के धर्म का ही पालन करता हुआ मरणान्त समय में आराधना सहित होकर एकाग्रचित्त कर, पंच परमेष्ठी का ही ध्यान करते हुए सल्लेखना पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करता है, और विशेष पुण्य का बन्धकर शुभगति को प्राप्त होता है।

यहाँ विशेष यह है कि पहली प्रतिमा से छठीं प्रतिमा तक पालन करने वाला **जघन्य श्रावक** कहलाता है, सप्तम, अष्टम एवं नवम प्रतिमा का धारक मध्यम श्रावक और दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक **उत्कृष्ट श्रावक** कहलाता है। जो भव्य मुनिधर्म के पालन में असमर्थ हैं, उन्हें योग्य है कि अपनी शक्ति के अनुसार गृहस्थ धर्म का निर्दोष पालन करें और अपने जीवन को सफल बनावें। क्योंकि इन एकादश प्रतिमाओं तक श्रावक धर्म की सीमा है। इससे आगे श्रमणाचार शुरू होता है। इन प्रतिमाओं के विषय में विशेष यह समझना चाहिये कि जो जिस प्रतिमा का धारी होता है, उसे उससे नीचे की सब प्रतिमाओं के आचार का पालन करना आवश्यक होता है। आयु के अन्त में सभी तरह के श्रावकों को सल्लेखना, संथारा अर्थात् समाधिमरणपूर्वक सम्पूर्ण श्रावकाचार पालन की सार्थकता हो जाती है।

चारित्रपाहुड

पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार आदि ग्रन्थों के कर्ता प्रथम शताब्दी

के महान् आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित अष्टपाहुड के अन्तर्गत चारित्रपाहुड शौरसेनी प्राकृत भाषा की ४५ गाथाओं में निबद्ध है, जिसमें उन्होंने संक्षेप में आरम्भ की २६ गाथाओं में श्रावक और बाद की १६ गाथाओं में श्रमण इन दोनों के आचार को प्रमुखता से प्रस्तुत किया है। चारित्र पाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा संक्षेप में श्रावकाचार का गागर में सागर की तरह प्रतिपादन हुआ है।

रयणसार - इस ग्रन्थ में श्रावकाचार सम्बन्धी स्फुट प्रतिपादन मिलता है। इसे कुछ विद्वान् आ० कुन्दकुन्द की कृति मानते हैं, तो कुछ नहीं।

इसके बाद के **श्रावकाचार विषयक प्रमुख संस्कृत-ग्रन्थ** इस प्रकार हैं -

१. रत्नमाला - शिवकोटि वि० २री शती
२. पद्मचरित - आ० रविषेण वि० ८वीं शती
३. वराङ्गचरित (१२वें सर्ग) जटासिंहनन्दी वि० ८-६वीं शती
४. हरिवंशपुराण (५८ सर्ग) आ० जिनसेन प्रथम (वि० ८वीं शती के मध्य)
५. महापुराण (३८, ३६, १६०वाँ पर्व, आ० जिनसेन ॥ (६वीं शती उत्तरार्ध)
६. पुरुषार्थसिद्धशुपाय - अमृतचन्द्राचार्य (१०वीं शती)
७. उपासकाध्ययन : सोमदेव सूरि (वि० १०१६)
८. अमितगति श्रावकाचार (१४ परिच्छेद) (वि० की ११वीं शती का उत्तरार्ध)
६. चारित्रसार-चामुण्डराय (मुनि और श्रावकाचार विषयक) वि० की १० शती पूर्वार्ध
१०. वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत)
११. सागारधर्मामृत - पं० आशाधर (१३ शती)
१२. धर्मसंग्रह (धर्म कथाओं के माध्यम से श्रावकाचार) पं० मेधावी - वि० १६वीं शती
१३. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (२४ परिच्छेद, २८८० श्लोक) भ० सकलकीर्ति (१५वीं शती)
१४. गुणभूषण श्रावकाचार (समय अज्ञात)
१५. धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार (ब्रह्म नेमिदत्त वि० १६वीं उत्तरार्ध)
१६. लाटी संहिता (११वीं प्रतिमा को ऐलक और क्षुल्लक कहा) राजमल्ल, १७वीं शती।
१७. उमास्वामी श्रावकाचार (लेखक समय अस्पष्ट)
१८. पूज्यपाद श्रावकाचार (,, ,,)
१६. व्रतसार (२२ श्लोक) (,, ,,)
२०. व्रनोद्योतन श्रावकाचार - अभ्रदेव (वि० १६वीं शती)
२१. श्रावकाचार सारोद्धार (पद्मनन्दि वि० १४वीं शती पूर्वार्द्ध)
२२. भव्यधर्मोपदेश उपासकाध्ययन (श्री जिनदेव वि० १६वीं शती)
२३. पंचविंशतिकागत श्रावकाचार (पद्मनंदि) वि० १२वीं शती)
२४. संस्कृत भावसंग्रह (वामदेव समय अज्ञात)

२५. पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार (६ अवसर-परिच्छेद) पं० गोविन्द (वि० १६वीं शती)
२६. कुन्दकुन्द श्रावकाचार (लेखक एवं समय अस्पष्ट)
२७. श्रावकधर्मविधि - जिनेश्वर (जिनपतिसूरि के शिष्य) वि० सं० १३०३
२८. श्राद्धगुणश्रेणिसंग्रह - जिनमण्डनगणी वि० सं० १४१८
२९. धर्मरत्नकरण्डक - वर्धमानसूरि वि० सं० ११७२
३०. श्राद्धविधि - रत्नशेखरसूरि, विधिकौमुदी नामक स्वोपज्ञवृत्ति सहित, वि० सं० १५०६

इनके अतिरिक्त श्रावकाचार विषयक संस्कृत के कुछ प्रमुख श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत है-

तत्त्वार्थसूत्र

आचार्य उमास्वामी द्वारा संस्कृत भाषा के इस प्रथम जैनसूत्र ग्रन्थ में निबद्ध श्रावकधर्म का वर्णन सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। यह ग्रंथ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों में समान रूप से मान्य है। उमास्वामि का समय विक्रम की प्रथम शती का अन्तिम चरण और दूसरी शती का पूर्वार्ध माना जाता है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार

विक्रम की दूसरी शताब्दी के प्रखर तार्किक, जैनन्याय के आद्य प्रणेता आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा सरलतम संस्कृत भाषा में रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार इस विषयक प्रथम स्वतंत्र कृति मानी जाती है। श्रावकधर्म पिपासु एवं जिज्ञासु जनों के लिए यह सचमुच में रत्नों का पिटारा ही है, उन्होंने सम्यग्दर्शन को श्रावकधर्म का एकमात्र आधार मानते हुए उसकी महिमा का विशेष प्रतिपादन यहाँ किया है।

रत्नमाला

रत्नमाला के कर्ता विक्रम की दूसरी शती के आचार्य शिवकोटि ने इस ग्रन्थ में रत्नत्रय धर्म की महत्ता बतलाते हुए श्रावकधर्म का ही प्रमुखता से वर्णन किया है। सर्वप्रथम सम्यक्त्व की महिमा बताकर वीतरागी देव, सत्यप्रतिपादित शास्त्र और निरारम्भी दिगम्बर गुरु के आह्वान करने को सम्यक्त्व कहा है। आगे बताया है कि प्रकाम, संवेगादिवान्, तत्त्वनिश्चयवान् मनुष्य जन्म-जरातीत मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। पश्चात् १२ व्रतों का उल्लेख कर दिग्व्रत, अनर्थदण्ड विरति और भोगोपभोगसंख्यान- ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि-पूजन और मारणान्तिकी सल्लेखना-ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षागत श्रावकाचार

दूसरी-तीसरी शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य कुमारस्वामी कार्तिकेय द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) के विवेचन प्रसंग में धर्मानुप्रेक्षा के अन्तर्गत श्रावक-धर्म का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह प्राकृत भाषा में है। इसमें प्रतिपादित श्रावक की एकादश प्रतिमाओं का स्वरूप-विवेचन काफी महत्त्वपूर्ण है।

पद्मचरित

आचार्य रविषेण विक्रम की आठवीं शती के पूर्वार्ध में हुए हैं। यद्यपि संस्कृत के इस महाकाव्यमय ग्रन्थ में राम और इनसे संबन्धित महापुरुषों का चरित्र चित्रण किया है। प्रसंगतः उन्होंने इसके चौदहवें पर्व में श्रावकधर्म का विस्तृत एवं अच्छा वर्णन किया है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के रूप में श्रावक के १२ व्रतों का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। अन्त में मद्य, मांस, मधु, द्यूत, रात्रिभोजन और वेश्यागमन-इन सबके त्याग का विधान भी रोचक तरीके से किया है।

वराङ्गचरित

आठवीं शती के आचार्य जटासिंहनन्दि ने संस्कृत के इस महत्त्वपूर्ण चरित महाकाव्य में राजकुमार वरांग का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया है। प्रसंगतः प्रस्तुत ग्रन्थ के पन्द्रहवें सर्ग के प्रारम्भ में श्रावकधर्म का वर्णन करते हुए इस दयामयी धर्म से सुख की प्राप्ति बताकर उसके धारण की प्रेरणा की है तथा गृहस्थों को दुःखों से छूटने के लिए व्रत, शील, तप, दान, संयम और अर्हत्पूजन करने का विधान किया गया है। श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन करते हुए अहिंसाणुव्रत की सामयिक परिभाषा देते हुए आचार्य जटासिंहनन्दि कहते हैं कि "देवता की प्रीति के लिए, अतिथि के आहार के लिए, मंत्र साधना के लिए, औषधि के बनाने के लिए और भय के प्रतिकार तक के लिए भी प्राणी हिंसा नहीं करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

हरिवंश पुराण

विक्रम की आठवीं शताब्दी के आचार्य जिनसेन प्रथम ने अपने हरिवंशपुराण के ५८वें सर्ग में श्रावकधर्म का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के अनुसार ही किया है। इसके साथ ही पाँचों पापों का स्वरूप-वर्णन भी सुन्दर तरीके से किया है। गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों के भेद भी बताये गये हैं।

महापुराण

नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महापुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ने इसके ३८, ३६ और ४० पर्व में क्रियाकाण्ड एवं ब्राह्मणों की सृष्टि का विशद निरूपण किया है। गर्भान्वयी क्रियाओं के ५३ भेदों का विस्तृत वर्णन ३८वें पर्व में किया गया है। दीक्षान्वयी क्रियाओं का वर्णन ३६वें पर्व में किया गया है। सज्जातित्व, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रत्व, साम्राज्य, आर्हन्त्य और निर्वृत्ति (मुक्ति प्राप्ति) रूप सात परम स्थानों का भी वर्णन ३६वें पर्व में किया गया है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

दसवीं शताब्दी में अमृतचन्द्राचार्य रचित इस ग्रन्थ के अनुसार जब यह चिदात्मा पुरुष अचल चैतन्य को प्राप्त कर लेता है, तब वह परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। इस मुक्ति की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए उन्होंने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उन्होंने श्रावकाचार प्रधान इस ग्रन्थ में बताया है कि किस प्रकार एक मनुष्य हिंसा करता है और अनेक मनुष्य उस हिंसा फल प्राप्त करने को मजबूर होते है। अनेकजन हिंसा करते हैं और एक व्यक्ति को उस हिंसा का फल भोगना पड़ता है। किसी को अल्प हिंसा महाफल देती है और किसी की महाहिंसा अल्पफल को देती है। इस प्रकार नाना विकल्पों द्वारा हिंसा-अहिंसा का उपयोगी, व्यावहारिक और महत्त्वपूर्ण विवेचन उपलब्ध जैन वाङ्मय में अपनी समता नहीं रखता।

ग्रन्थकार ने हिंसा-अहिंसा का अति सूक्ष्म स्वरूप बताते हुए कहा है कि-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।। ४४।।

अर्थात् रागादि भावों का प्रकट न होना अहिंसा है तथा उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा कहलाती है। यही जैन सिद्धान्त का सार है।

उपासकाध्ययन

वि० सं० १०१६ के पूर्व हुए आचार्य सोमदेवसूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'यशस्तिलक चम्पू' में धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो, वह धर्म है। गृहस्थ का धर्म प्रवृत्ति रूप है और मुनि का धर्म निवृत्ति रूप होता है। सोमदेव ने आप्त, आगम और पदार्थों के त्रिमूढ़तादि दोषों से विमुक्त और अष्ट अंगों से संयुक्त श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।

पूजन के प्रकरण में आ० सोमदेव ने दो विधियों का वर्णन किया है - एक तदाकार मूर्तिपूजन विधि, दूसरी अतदाकार सांकल्पिक पूजनविधि। सामायिक के प्रातः, मध्यान्ह और सायं - इन तीनों काल (समय) का सुन्दर वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
सायन्नोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन।। ५२९

अमितगति श्रावकाचार

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य अमितगति अपने श्रावकाचार में १४ परिच्छेदों द्वारा श्रावक धर्म का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है। प्रथम परिच्छेद में धर्म का माहात्म्य, दूसरे में मिथ्यात्व की अहितकारिता और सम्यक्त्व की हितकारिता, तीसरे में सप्ततत्त्व, चौथे में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि और ईश्वर-सृष्टिकर्तृत्व का खंडन किया गया है। अन्तिम तीन परिच्छेदों में क्रमशः शील, द्वादश तप और बारह भावनाओं का वर्णन है।

चारित्रसार ग्रन्थगत-श्रावकाचार

चारित्रसार नामक संस्कृत गद्य ग्रंथ में मुनिधर्म के साथ ही ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक धर्म का वर्णन किया गया है। दर्शनप्रतिमा का वर्णन करते हुए एक प्राचीन पद्य उद्धृत करके बताया गया है कि सम्यक्त्व संसार-सागर में निर्वाण-द्वीप को जानेवाले भव्य सार्थवाह के जहाज का कर्णधार है। इस प्रतिमाधारी को सप्त-भयों से मुक्त और अष्ट अंगों से सहित होना चाहिए। अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का भी वर्णन किया गया है। अन्त में मारणान्तिकी सल्लेखना का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ के कर्ता श्री चामुण्डराय विक्रम की दसवीं शती के पूर्वार्ध में हुए हैं। ये महाराज मारसिंह द्वितीय के प्रधानमंत्री थे। चामुण्डराय द्वारा ही श्रवणवेलगोला (कर्नाटक) में ५७ फुट ऊँची विशाल एवं भव्य विश्वप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति की स्थापना कराई थी।

वसुनन्दि-श्रावकाचार

आचार्य वसुनन्दि ने ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावक धर्म का वर्णन किया है। यद्यपि यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में है किन्तु आपके द्वारा संस्कृत भाषा में अनेक टीका एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना हुई है। इसमें उन्होंने सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावक को सप्त व्यसनों का त्याग आवश्यक बताकर व्यसनों के दुष्फल का विस्तार से वर्णन किया है। बारह व्रतों

और ग्यारह प्रतिमाओं का भी बड़े रोचक तरीके से इसमें वर्णन किया है। आचार्य वसुनन्दि विक्रम की बारहवीं शती के पूर्वार्ध में हुए हैं।

सागारधर्मामृत

इस ग्रन्थ के कर्ता पं० आशाधर जी तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए सरस्वती पुत्र हैं। इन्होंने मुनिधर्म के लिए अनगार-धर्मामृत लिखा तथा सागारधर्मामृत नामक पूरा का पूरा ग्रन्थ श्रावकों के लिए ही लिखा है। इसमें श्रावक के कर्त्तव्यों का एक अंश भी नहीं छूट पाया है। यह ग्रन्थ श्रावकों के लिए अमूल्य अनुपम निधि है। ग्रन्थकार ने इसमें श्रावक के कर्त्तव्यों का अच्छा विवेचन कर "गागर में सागर" कहावत को चरितार्थ किया है।

धर्मसंग्रह

इस ग्रन्थ के कर्ता पं० मेधावी कवि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं। प्रस्तुत श्रावकाचार का प्रारम्भ कथा-ग्रन्थों के समान मगध देश तथा इसके नरेश श्रेणिक के वर्णन से किया गया है और इसी वर्णन में प्रथम अधिकार समाप्त हुआ है। दूसरे अधिकार में वनपाल द्वारा भ० महावीर के विपुलाचल पर पधारने की सूचना मिलने पर राजा श्रेणिक का भगवान् की वन्दना को जाने का और उनके समवशरण का विस्तृत वर्णन है। तीसरे अधिकार में राजा श्रेणिक का भगवान् महावीर की वन्दना-स्तुति करके मनुष्यों के लिए निर्धारित के कोठे में बैठना और उपदेश सुनकर व्रत नियमों आदि के विषय में पूछने पर गौतम गणधर द्वारा धर्म का उपदेश प्रारम्भ किया गया है।

इनके आगे के अधिकारों में सम्यक्त्व और उसके महत्त्व का वर्णन है। दर्शन प्रतिमा का वर्णन, अष्टमूलगुणों का निरूपण तथा काक-मांस त्यागी खदिरसार का कथानक है। गुणव्रत, शिक्षाव्रत, ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन, समिति, चार आश्रमों का इज्या, वार्तादि षट्कर्मों का, पूजन के छह प्रकारों आदि का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। सल्लेखना का भी विवेचन किया गया है। सूतक-पातक का अच्छा वर्णन भी इस ग्रन्थ में मिलता है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

पंद्रहवीं शती के विद्वान् भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा रचित श्रावकाचार की श्लोक संख्या २८८० है। यह सभी श्रावकाचारों में बड़ा है। इसके २४ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में धर्म की महत्ता, दूसरे में सम्यग्दर्शन और उसके विषयभूत सप्त-तत्त्वों एवं पुण्य-पाप का विस्तृत वर्णन, तीसरे में सत्यार्थ देव, गुरु, धर्म और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का विस्तृत वर्णन है। चौथे परिच्छेद से लेकर दशवें परिच्छेद में सम्यक्त्व के आठों अंगों में प्रसिद्ध पुरुषों के कथानक दिये गये हैं। ग्यारहवें परिच्छेद में सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन है।

बारहवें परिच्छेद में अष्टमूलगुण, सप्तव्यसन, हिंसा के दोषों और अहिंसा के गुणों का वर्णन कर अहिंसाणुव्रत में प्रसिद्ध मातंग का और हिंसा-पाप में प्रसिद्ध धनश्री का कथानक दिया गया है। इसी प्रकार तेरहवें परिच्छेद से लेकर सोलहवें परिच्छेद तक सत्यादि चारों अणुव्रतों का वर्णन और उनमें प्रसिद्ध पुरुषों के तथा असत्यादि पापों में प्रसिद्ध पुरुषों के कथानक दिये गये हैं।

सत्रहवें परिच्छेद में तीन गुणव्रतों का वर्णन है। अठारहवें परिच्छेद में देशावकाशिक और सामायिक शिक्षाव्रत का तथा उसके ३२ दोषों का विस्तृत विवेचन है। उन्नीसवें परिच्छेद में प्रोषधोपवास का और बीसवें परिच्छेद में अतिथि-संविभाग का विस्तार से वर्णन किया गया है। इक्कीसवें परिच्छेद में आहारादि चारों दानों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के कथानक हैं। बाईसवें परिच्छेद में समाधिमरण का विस्तृत निरूपण कर तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठीं प्रतिमा का वर्णन कर रात्रिभोजन के दोषों का वर्णन किया गया है। तेईसवें परिच्छेद में आठवीं, नवमीं प्रतिमा का स्वरूप वर्णन है। चौबीसवें परिच्छेद में दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा का वर्णन करके अन्त में छह आवश्यकों का निरूपण किया गया है।

गुणभूषण श्रावकाचार

ग्रन्थकार श्रीगुणभूषण ने प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम उद्देश में मनुष्यभव और सद्धर्म की प्राप्ति दुर्लभ बताकर सम्यग्दर्शन धारण करने का उपदेश दिया गया है तथा सम्यक्त्व के अंगों और भेदों का और उसकी महिमा का वर्णन किया गया है। दूसरे उद्देश में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताकर मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानों का वर्णन किया गया है। तीसरे उद्देश में चारित्र का स्वरूप बताकर विकल चारित्र का वर्णन ग्यारह प्रतिमाओं के आश्रय से किया गया है। इसी के अन्त में विनय, वैयावृत्य, पूजन और ध्यान के प्रकारों का भी वर्णन है। इसी ग्रन्थ में सात तत्त्वों, श्रावक के १२ व्रतों, ११ प्रतिमाओं, पिण्डस्थ आदि ध्यानों का अच्छा वर्णन किया गया है।

धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार

इस ग्रन्थ में पाँच अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताकर उसके आठ अंगों का, २५ दोषों का और सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन है। दूसरे अधिकार में सम्यग्ज्ञान और चारों अनुयोगों का स्वरूप बताकर द्वादशांग श्रुत के पदों की संख्या का वर्णन है। तीसरे में आठ मूलगुणों का, चौथे में बारह व्रतों का वर्णनकर मंत्र-जाप जिनबिम्ब और जिनालय के निर्माण का फल बताकर ११ प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। पांचवें अधिकार में सल्लेखना का वर्णन किया है। इसके ग्रन्थकर्ता श्री ब्रह्मनेमिदत्त भट्टारक विक्रम की सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में हुए हैं।

लाटीसंहिता

श्रावकाचार विषयक प्रमुख ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लाटीसंहिता में ७ सर्ग हैं। उनमें प्रथम सर्ग में वैराट नगर, अकबर बादशाह, काष्ठासंघी भट्टारक वंश और उनके वंशधरों द्वारा बनाये गये जिनालय आदि का विस्तृत वर्णन है। द्वितीय सर्ग में अष्ट मूलगुणों के धारण करने और सप्त व्यसनों के त्याग का वर्णन है। तीसरे सर्ग में सम्यग्दर्शन का सामान्य स्वरूप भी बहुत सूक्ष्म एवं गहन गाम्भीर्य से वर्णन किया गया है। चतुर्थ सर्ग में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का, पंचम सर्ग में अहिंसाणुव्रत का, षष्ठ सर्ग में शेष चार अणुव्रतों, गुणव्रत-शिक्षाव्रत के भेदों और सल्लेखना का वर्णन है। सप्तम सर्ग में सामायिकादि शेष प्रतिमाओं और द्वादश तपों का निरूपण किया गया है। ग्यारहवीं प्रतिमा वाले को प्रस्तुत ग्रन्थ में "क्षुल्लक" और "ऐलक" कहा है।

उमास्वामी श्रावकाचार

इस श्रावकाचार में अध्याय विभाग नहीं है। प्रारम्भ में धर्म का स्वरूप बताकर सम्यक्त्व का सांगोपांग वर्णन है। पुनः देवपूजादि श्रावक के षट् कर्त्तव्यों में विभिन्न परिमाण वाले जिनबिम्ब के पूजने के शुभ-अशुभ फल का वर्णन है तथा इक्कीस प्रकार वाला पूजन, पंचामृताभिषेक, गुरूपास्ति आदि शेष आवश्यक, १२ तप और दान का विस्तृत वर्णन है। तत्पश्चात् सम्यग्ज्ञान का वर्णन कर सम्यक् चारित्र के विकल भेदरूप श्रावक के आठ मूलगुणों, बारह उत्तरव्रतों का, सल्लेखना का विवेचन करते हुए सप्त-व्यसनों के त्याग का उपदेश किया गया है।

पूज्यपाद-श्रावकाचार

उमास्वामी श्रावकाचार की तरह इस ग्रन्थ के लेखक भी कोई परवर्ती भट्टारक ही प्रतीत होते हैं, जिन्होंने आचार्य पूज्यपाद के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की है। प्रस्तुत ग्रंथ में भी अधिकार विभाग नहीं है। श्लोक संख्या १०३ है। प्रारम्भ में सम्यक्त्व का स्वरूप और माहात्म्य बताकर आठ मूलगुणों का वर्णन है। श्रावक के बारह व्रतों का निरूपण करके सप्त व्यसनों के त्याग और कन्दमूलादि अभक्ष्य पदार्थों का निषेध किया गया है। तत्पश्चात् मौन के गुण बताकर आहारादि चार प्रकार के दान के फल का विस्तृत वर्णन है। जिनबिम्ब के निर्माण, जिनपूजन और पर्व के दिनों में उपवास करने की प्रेरणा दी गई है।

व्रतसार

परवर्ती अज्ञात कर्तृक प्रस्तुत श्रावकाचार लघुकाय है। इसमें मात्र बाईस श्लोक हैं।

इसमें मुख्यतः सुख, दुःख, मार्ग, संग्राम आदि में सर्वत्र पंचनमस्कार मंत्र के पाठ करते रहने का उपदेश देकर यात्रा, पूजा, प्रतिष्ठा करने और जीर्ण चैत्य चैत्यालयादि के उद्धार की प्रेरणा की गयी है।

व्रतोद्योतन श्रावकाचार

श्री अभ्रदेव द्वारा वि० सं० १५५६ से १५६३ के मध्य ५४२ संस्कृत पद्यों में रचित इस श्रावकाचार में भी कोई अध्याय विभाग नहीं किया गया है।

सम्यक्त्व के आठ अंगों, रत्नत्रय और क्षमादि दस धर्मों का वर्णन कर आत्मा के अस्तित्व की भी सिद्धि की गई है। ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व का निराकरण करके जैन मान्यता प्रतिष्ठित की गई है। अन्त में मिथ्यात्व आदि कर्म-बन्ध के कारणों का वर्णन कर अहिंसादि व्रतों के अतिचारों, व्रतों की भावनाओं, सामायिक और वन्दना के बत्तीस-बत्तीस भेदों का वर्णन कर सम्यग्दर्शन की महिमा का निरूपण किया गया है।

श्रावकाचार सारोद्धार

भट्टारक पद्मनन्दि विरचित प्रस्तुत ग्रंथ में सम्यक्त्व के अष्टांगों, आठ मूलगुणों का वर्णन करते हुए मद्य, मांसादि के सेवन जनित दोषों का विस्तृत वर्णन है। ग्रन्थकार पद्मनन्दि विक्रम की चौदहवीं शती के पूर्वार्ध में हुए हैं।

भव्यधर्मोपदेश-उपासकाध्ययन

विक्रम की १६वीं शती के पं० श्री जिनदेव द्वारा रचित इस श्रावकाचार में छह परिच्छेद हैं। ग्यारह प्रतिमाओं का निर्देशकर सर्वप्रथम दर्शन प्रतिमा का निरूपण किया है। इस प्रतिमाधारी को निर्दोष अष्ट-अंग युक्त सम्यग्दर्शन धारण करने के साथ अष्टमूलगुणों का पालन, रात्रि-भोजन और सप्त व्यसन का त्याग आवश्यक बताया गया है। दूसरे परिच्छेद में जीवादिक तत्त्वों का वर्णन किया गया है। तीसरे परिच्छेद में जीवतत्त्व का आयु, शरीर-अवगाहना, कुल, योनि आदि के द्वारा विस्तृत विवेचन किया गया है। चौथे परिच्छेद में व्रत-प्रतिमा के अन्तर्गत श्रावक के बारह व्रतों का और सल्लेखना का संक्षिप्त वर्णन है। पाँचवें परिच्छेद में सामायिक प्रतिमा के वर्णन के साथ ध्यान-पद्धति का वर्णन है। छठें परिच्छेद में प्रोषध प्रतिमा का विस्तार से और शेष प्रतिमाओं का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका ग्रन्थगत-श्रावकाचार

प्रस्तुत ग्रन्थ बारहवीं शती के आचार्य पद्मनन्दि द्वारा रचित है। इसमें गृहस्थ के देवपूजादि षट्कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए सामायिक की सिद्धि के लिए सप्तव्यसनों का त्याग आवश्यक बताया गया है।

भावसंग्रह

दसवीं सदी के आ० देवसेन ने प्राकृत भाषा में भावसंग्रह ग्रन्थ में अन्य सैद्धान्तिक विषयों के साथ ही श्रावकधर्म का भी विवेचन किया है किन्तु चौदहवीं शती के आसपास पं० वामदेव ने संस्कृत भावसंग्रह नाम से प्रसिद्ध प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावकधर्म का वर्णन किया गया है। अतिथिसंविभाग व्रत का वर्णन दाता, पात्र, दान विधि और देय वस्तु के साथ विस्तार से किया गया है।

पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार

पं० गोविन्द द्वारा रचित पुरुषार्थानुशासन में अध्याय या परिच्छेद के स्थान पर "अवसर" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके प्रथम अवसर में चारों पुरुषार्थों की विशेषताओं का दिग्दर्शन है और दूसरे में पुराणों के समान राजा श्रेणिक भगवान महावीर के वन्दनार्थ जाने और "मनुष्य जन्म की सार्थकता के लिए किस प्रकार का आचरण करना चाहिए"? इस प्रकार का प्रश्न पूछने पर गौतम गणधर द्वारा पुरुषार्थों के वर्णन रूप कथा सम्बन्ध का वर्णन है। तीसरे अवसर में धर्म, पुरुषार्थ का स्वरूप, फल और श्रावक धर्म बताकर ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावकाचार का वर्णन, सभी व्रतों और शीलों में सम्यग्दर्शन की प्रधानता, देव-शास्त्र, गुरु और धर्म का स्वरूप, सम्यक्त्व का स्वरूप और भेदों का वर्णन, आठ अंगों, २५ दोषों का वर्णन आदि है। चौथे अवसर में आठ मूलगुणों, सप्तव्यसनों, रात्रिभोजन की निन्दा और पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और भोगोपभोग एवं अतिथि संविभाग- इन दो शिक्षाव्रतों का वर्णन व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत है। पाँचवें अवसर में सामायिक प्रतिमा, सामायिक स्वरूप, पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत धर्मध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है। छठें अवसर में चौथी प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक का सुन्दर, विशद वर्णन किया गया है। अन्त में समाधिमरण का निरूपण कर किया गया है। ग्रन्थकार का समय विक्रम की सोलहवीं शती का पूर्वार्ध है।

कुन्दकुन्द श्रावकाचार

यह ग्रन्थ भी पूर्ववर्ती श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों के आधार पर किसी परवर्ती विद्वान् द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य के नाम से लिखा गया है। ग्रंथकार ने इसमें श्रावक के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत जिनमंदिर निर्माण, मूर्ति स्थापना, पूजन, खेती आदि का विशद वर्णन किया है।

इस ग्रन्थ की हस्तलिखित पाण्डुलिपि में, व्याबर (राजस्थान) स्थित सरस्वती भवन में सुरक्षित है।

श्रावक धर्म-प्रदीप -

बीसवीं सदी के आचार्य कुन्थुसागर द्वारा रचित संस्कृत के इस ग्रन्थ में श्रावक धर्म का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

यहाँ मुख्यतः दिगम्बर जैन परम्परा के संस्कृत ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया गया। यद्यपि श्रावकाचार के विषय में कोई विशेष साम्प्रदायिक मतभेद नहीं है, दोनों परम्पराओं में आचारगत समानतायें लगभग समान हैं। फिर भी **श्वेताम्बर जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत श्रावकाचार** विषयक कुछ प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है -

श्रावक प्रज्ञप्ति

"श्रावक प्रज्ञप्ति" नामक प्राकृत भाषा का ४०३ गाथाओं का ग्रन्थ है। इसके रचयिता वाचक उमास्वाति माने जाते हैं। इसकी टीका सुप्रसिद्ध आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने की है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्रावक शब्द की जो व्याख्या की गई है उसमें कहा गया है कि 'जो सम्यग्दृष्टि साधुओं के पास उत्कृष्ट समाचारी श्रवण करता है, उसे 'श्रावक' कहा जाता है' अर्थात् 'श्रावक' शब्द का सम्बन्ध धर्म-श्रवण पर मुख्यतः आधारित है।

धर्मबिन्दु

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य हरिभद्र सूरि हैं, जिन्होंने 'धर्म बिन्दु' नामक इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के दो भागों में साधु एवं श्रावक धर्म की अच्छी विवेचना की है। श्रावक बनने से पहले पैंतीस मार्गानुसारी गुणों की आवश्यकता होती है। इसका सर्वप्रथम निरूपण करके आचार्य हरिभद्र ने इसमें श्रावक के जीवन-व्यवहार की स्वच्छ भूमिका तैयार कर दी है।

श्रावकधर्म विधि प्रकरण

आचार्य हरिभद्रसूरि का श्रावकाचार सम्बन्धी यह स्वतंत्र ग्रन्थ है। इसमें केवल १२० प्राकृत गाथाएं हैं। इसकी संस्कृत टीका मानदेवसूरि ने की है। प्रारम्भ में श्रावक शब्द का अन्वयर्थ बताते हुए लिखा है -

परलोगहियं सम्मं, जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्व कम्म बिगमा, सक्कोसो सावगो एत्थ ।।२।।

यह ग्रन्थ टीका के साथ श्री आत्मानंद सभा, भावनगर से सं० १६८० में प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी के गुरु मुनि चतुरविजयजी ने किया है।

षट्स्थान प्रकरण

११वीं शताब्दी के आचार्य जिनेश्वर सूरि जी ने **'षट्स्थान प्रकरण'** नामक १०४ प्राकृत गाथाओं का ग्रन्थ बनाया जिसका अपर नाम "श्रावक वक्तव्यता" है। इसमें चर्चित छः स्थान ये हैं -

(१) व्रत परिकर्मत्व	(२) शीलवत्व
(३) गुणवत्व	(४) ऋजु व्यवहार
(५) गुरु सुश्रूषा	(६) प्रवचन कौशल्य।

इन छह स्थान गुणों से विभूषित श्रावक उत्कृष्ट होता है। इन छह स्थानों के भी अनुक्रम से ४, ६, ५, ४, ३ और ६ भेद किये गये हैं। इस ग्रन्थ पर अभयदेवसूरिजी ने १६३८ श्लोक परिमित संस्कृत भाष्य भी लिखा है।

श्राद्धदिन-कृत्यसूत्र

१४वीं शताब्दी के आचार्य देवेन्द्रसूरि रचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **"श्राद्धदिन कृत्यसूत्र"** ३४३ गाथाओं में मूल ग्रन्थ है। इस पर १२८२० श्लोक परिमित संस्कृत टीका देवेन्द्रसूरि ने लिखी है। इसका गुजराती भाषान्तर श्री जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। यह २८ द्वारों में विभक्त है।

श्रावकधर्म विधि

खरतर गच्छ के द्वितीय जिनेश्वर सूरि ने सं० १३१३ में पालनपुर में संस्कृत भाषा में **'श्रावक धर्म विधि'** नामक २४२ श्लोकों का यह ग्रन्थ बनाया, जिसकी विस्तृत संस्कृत टीका उपाध्याय लक्ष्मीतिलक ने सं० १३१७ में जालोर में की। इस टीका का परिमाण १५१३३ श्लोकों का है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सटीक ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

श्राद्धगुण विवरण

१५वीं शताब्दी के तपागच्छीय जिनमंडन गणि ने **'श्राद्ध गुण विवरण'** नामक ग्रन्थ की रचना सं० १४९८ में की। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'श्रावक' शब्द की व्युत्पत्ति दी है फिर मार्गानुसारी के ३५ गुणों को समझाने के लिए भिन्न प्रकार की कथाएं भी दी गई हैं। ये पैंतीस गुण इस प्रकार हैं –

१. न्याय सम्पन्न वैभव, २. शिष्टाचार की प्रशंसा, ३. कुल एवं शील की समानता वाले उच्च गोत्र के व्यक्ति के साथ विवाह, ४. पापभीरूता, ५. प्रचलित देशाचार का पालन, ६. राजा आदि की निन्दा से अलिप्तता, ७. योग्य निवास स्थान में द्वार वाला मकान, ८. सत्संग, ९. माता पिता का पूजन, १०. उपद्रव वाले स्थान का त्याग, ११. निन्द्य प्रवृत्तियों से अलिप्तता, १२. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार व्यय करने की प्रवृत्ति, १३. सम्पत्ति के अनुसार वेशभूषा, १४. बुद्धि के शुश्रूषा आदि आठ गुणों से युक्तता, १५. प्रतिदिन धर्म का श्रवण, १६. अजीर्णता होने पर भोजन का त्याग, १७. भूख लगने पर प्रकृति के अनुकूल भोजन, १८. धर्म, अर्थ और काम का परस्पर बाधारहित सेवन, १९. अतिथि,

साधु एवं दीनजन की यथायोग्य सेवा, २०. सर्वदा कदाग्रह से मुक्ति, २१. गुण में पक्षपात, २२. प्रतिविद्ध देश एवं काल की क्रिया का त्याग, २३. स्वावलम्ब का परामर्श, २४. व्रतधारी और ज्ञानवृद्ध जनों की पूजा, २५. पोष्यजनों का यथायोग्य पोषण, २६. दीर्घदर्शिता, २७. विशेषज्ञता अर्थात् अच्छे-बुरे का विवेक, २८. कृतज्ञता, २६. लोकप्रियता, ३०. लज्जालुता, ३१. कृपालुता, ३२. सौम्य आकार, ३३. परोपकार करने में तत्परता, ३४. अंतरंग क्रोध, मानादि छः शत्रुओं के परिहार के लिए उद्युक्तता और ३५. जितेन्द्रियता।

श्राद्धविधि

आचार्य रत्नशेखर सूरि ने **'श्राद्ध विधि'** नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की, जिसकी उन्होंने **'विधि-कौमुदी'** नामक संस्कृत वृत्ति सं० १५०६ मे रची। इस वृत्ति का परिमाण ६७६१ श्लोकों का है। टीका में अनेक कथाएँ दी गई हैं। प्रारम्भ में श्रावक धर्म की योग्यता प्राप्त करने के लिए चार गुणों को आवश्यक बताया है- १. भद्र प्रवृत्ति, २. विशेष निपुण मति, ३. न्यायमार्गीय वृत्ति और ४. दृढ़ निज प्रतिज्ञा स्थिति।

इस ग्रन्थ के छः द्वार हैं - दिन कृत्य, रात्रि कृत्य, पर्व कृत्य, चातुर्मासिक कृत्य, वर्ष कृत्य और जन्म कृत्य। श्रावक के योग्य २१ गुणों का भी तीन गाथाओं में विवरण दिया है जो इस प्रकार है -

१. भक्षुद्र, २. स्वरूपवान, ३. प्रकृति सौम्य, ४. लोकप्रिय, ५. अक्रूर, ६. भीरू, ७. असठ, ८. अरूशिष्य, ६. लज्जालु, १०. दयालु, ११. मध्यस्थ, १२. गुणरागी, १३. सत्कथा, १४. सुपक्ष युक्त, १५. सुदीर्घदर्शी, १६. विशेषज्ञ, १७. वृद्धानुगो, १८. विनीत, १६. कृतज्ञ, २०. परहितकारी और २१. लुब्ध लक्ष।

२. श्रमणाचार

श्रमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवहमान है। पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर अनेक विद्वान अब यह स्वीकृत करने लगे हैं कि अति प्राचीन काल में भारत में जो संस्कृति थी, वह श्रमण या आर्हत्-संस्कृति होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैनधर्म के आदिदेव तीर्थंकर वृषभ या ऋषभ द्वारा प्रवर्तित हुई। श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी इन विशेषताओं के कारण ही अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद भी इस संस्कृति ने अपना पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

श्रमणाचार विषयक साहित्य

भारत की अनेक प्राचीन भाषाओं- अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश आदि में निबद्ध श्रमणाचार विषयक विपुल वाङ्मय उपलब्ध है। जैन परम्परा के अनुसार यह श्रमणधारा प्राचीन काल में ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई और ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में इसे वर्द्धमान महावीर ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। उनके बाद अनेक महान् आचार्यों द्वारा यह धारा निरन्तर प्रवर्तित होती आ रही है। इन आत्मदर्शियों के गहन चिन्तन-मनन और स्वानुभव से जो विशाल वाङ्मय उद्भूत हुआ, वह आज भी हमें पथप्रदर्शन का कार्य कर रहा है। वस्तुतः तीर्थङ्कर महावीर से जो ज्ञान-गंगा प्रस्फुटित हुई, वह श्रुतज्ञान, गणधरों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं बहुश्रुत श्रमणों के माध्यम से अब तक चला आ रहा है। यही श्रुतज्ञान आगम के रूप में विद्यमान है। जैन परम्परा की दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों धाराओं में श्रमणाचार विषयक विपुल साहित्य उपलब्ध है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य शिवार्यकृत भगवई आराहणा, वट्टकेर कृत मूलाचार, आचार्य कुन्दकुन्द कृत पवयणसार, अट्ठपाहुड और रयणसार, स्वामी कार्तिकेय कृत कत्तिगेयाण्णुवेक्खा, चामुण्डराय कृत चारित्रसार, वीरनन्दि कृत आचारसार, देवसेनसूरि कृत आराधनासार एवं भावसंग्रह, पं० आशाधर कृत अनगारधर्मामृत, सकलकीर्तिकृत मूलाचार प्रदीपक इत्यादि श्रमणाचार विषयक प्राकृत-संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इसी तरह श्वेताम्बर परम्परा में आयारंग, सूयगडंग, आउरपच्चक्खाण, मरणसमाही, निसीह, ववहार, उत्तरज्झयण, दसवेयालिय, आवस्सय, आवस्सयणिज्जुत्ति इत्यादि ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड तथा मराठी आदि भाषाओं में रचित श्रमणाचार विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

श्रमणों की आचार-संहिता

आचार शब्द के तीन अर्थ हैं-आचरण, व्यवहार और आसेवन। सामान्यतः सिद्धान्तों, आदर्शों और विधि-विधानों का व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष आचार कहा जाता है। सभी जैन तीर्थंकरों तथा उनकी परम्परा के अनेकानेक श्रमणों ने स्वयं आचार की साधना द्वारा भव-भ्रमण के दुःखों से सदा के लिए मुक्ति पायी साथ ही मुमुक्षु जीवों को दुःख निवृत्ति का सच्चा मार्ग बताया। श्रमण होने का इच्छुक सर्वप्रथम बंधुवर्ग से पूछता और विदा मांगता है। तब बड़ों से, पुत्र तथा स्त्री से विमुक्त होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों को अंगीकार करता है।[1] और सभी प्रकार के परिग्रहों

---

१. आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ।। प्रवचनसार ३/२

से मुक्त अपरिग्रही बनकर, स्नेह से रहित, शरीर संस्कार का सर्वथा के लिए त्याग कर आचार्य द्वारा "यथाजात" (नग्न) रूप धारण कर जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को अपने साथ लेकर चलता है।[1] मुनि के लिए श्वेताम्बर जैन परम्परा में दीक्षा के बाद निर्धारित वस्त्र-पात्र आदि का विधान है। जिन मूलगुणों को धारण कर साधक श्रमणधर्म (आचारमार्ग) स्वीकार करता है उनका विवेचन आगे प्रस्तुत है।

मूलगुण

श्रमणाचार का प्रारम्भ मूलगुणों से होता है। आध्यात्मिक विकास के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपनी आचार-संहिता के अन्तर्गत जिन गुणों को धारण करके जीवन पर्यन्त पूर्ण निष्ठा से पालन करने का संकल्प ग्रहण करता है, उन गुणों को "मूलगुण" कहा जाता है। वृक्ष की मूल (जड़ या बीज) की तरह ये गुण भी श्रमणाचार के लिये मूलाधार है। इसीलिए श्रमणों के प्रमुख या प्रधान आचरण होने से इनकी मूलगुण संज्ञा है। इन मूलगुणों की निर्धारित अट्ठाईस संख्या इस प्रकार है –

> "पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुदिट्ठा।
> पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो।।
> अच्वेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव ।
> ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु।।"[2]

१. **पाँच महाव्रत :** हिंसा विरति (अहिंसा), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह)[3]
२. **पाँच समिति :** ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान और प्रतिष्ठापनिका[4]
३. **पाँच इन्द्रियनिग्रह :** चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श-इन पाँच इन्द्रियों का निग्रह[5]
४. **छह आवश्यक :** समता (सामायिक), स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और विसर्ग (कायोत्सर्ग)[6]

---

१. मूलाचार ६/१५
२. मूलाचार १/२-३, प्रवचनसार ३/८-६
३. हिंसा विरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च ।
संग विमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ।। वही १/४
४. इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पचविहा।। वही १/१०
५. वही १/१६
६. समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण [illegible]ग्गो करणीयावासया छप्पि ।। वही १/२२

५. **सात अन्य मूलगुण :** लोच (केशलोच), आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त।

उपर्युक्त मूलगुण श्रमणधर्म की आधारशिला हैं। सम्पूर्ण मुनिधर्म इन अट्ठाईस मूलगुणों से सिद्ध होता है। इनमें लेशमात्र की न्यूनता साधक को श्रमणधर्म से च्युत बना देती है, क्योंकि श्रमण के लिए आत्मोत्कर्ष हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर होता है। शरीर चला जाए, यह उसे सहर्ष स्वीकार होता है, पर साधना या संयमाचरण में जरा भी आँच आये, यह किसी भी अवस्था में उसे स्वीकार्य नहीं। जीवन के जिस क्षण मुमुक्षु श्रमणधर्म स्वीकार करते हैं, उस क्षण वे "सावज्जकरणजोगं सव्वं तिविहेण तियरणविसुद्धं वज्जंति"[1] अर्थात् सभी प्रकार के सावद्य (दोष युक्त) क्रिया रूप योगों का मन, वचन, काय तथा करने, कराने और अनुमोदन से सदा के लिए त्याग कर देते हैं। मूलगुणों के पालन की इसलिए भी महत्ता है, क्योंकि जो श्रमण इन मूलगुणों को छेदकर (उल्लंघन कर) "वृक्षमूल" आदि बाह्ययोग करता है, मूलगुण विहीन उस साधु के सभी योग किसी काम के नहीं। मात्र बाह्ययोगों से कर्मों का क्षय सम्भव नहीं होता।[2]

१-५, महाव्रत

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों में सर्वप्रथम पंच महाव्रत का उल्लेख है। व्रत से तात्पर्य हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म तथा परिग्रह - इन पाँच पापों से विरति (निवृत्ति) होना।[3] विरति अर्थात् जानकर और प्राप्त करके इन कार्यों को न करना।[4] प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह भी व्रत है। अथवा यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है - इस प्रकार नियम करना भी व्रत है।[5] इस प्रकार हिंसा आदि पाँच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग का इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति - ये सभी एक ही अर्थ के वाचक हैं।

हिंसादिक पाँच असत्प्रवृत्तियों का त्याग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार तो कर सकता है, किन्तु सभी प्राणी इनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एक समान नहीं कर सकते। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत, और सर्वदेश निवृत्ति को

---

१. मूलाचार ६/३४
२. मूलं छित्ता समणो णो गिण्हादी य बाहिरं जोगं ।
बाहिरजोगः सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ।। मूलाचार १०/२७
३. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् - तत्त्वार्थसूत्र ७/१
४. विरतिर्नाम ज्ञात्वाभ्युपेत्याकरणम् - तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ७-१
५. व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति। सर्वार्थसिद्धि ७-१

महाव्रत कहा जाता है। वस्तुतः व्रत अपने आप में अणु या महत् नहीं होते। ये विशेषण तो व्रत के साथ पालन करने वाले ही क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते हैं। जहाँ साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - इन पाँच व्रतों के समग्र पालन की क्षमता में अपने को पूर्ण समर्थ नहीं पाता अथवा महाव्रतों के धारण की क्षमता लाने हेतु अभ्यास की दृष्टि से इनका एकदेश पालन करता है, तो उसके ये व्रत अणुव्रत तथा वह अणुव्रती श्रावक (गृहस्थ) कहलाता है। तथा जब मुमुक्षु साधक अपने आत्मबल से इन व्रतों के धारण और निरतिचार पालन में समग्र रूप में पूर्ण समर्थ हो जाता है, तब उसके वही व्रत महाव्रत कहे जाते हैं तथा वह महाव्रती श्रमण, मुनि या अनगार कहलाता है।

६-१०, समिति

श्रमण के मूलगुणों में महाव्रतों के बाद चारित्र एवं संयम की प्रवृत्ति हेतु ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान एवं प्रतिष्ठापनिका-इन पाँच समितियों का क्रम है।[1] महाव्रतमूलक सम्पूर्ण श्रमणाचार का व्यवहार इनके द्वारा संचालित होता है। इन्हीं के आधार पर महाव्रतों का निर्विघ्न पालन सम्भव है। क्योंकि ये समितियाँ महाव्रतों तथा सम्पूर्ण आचार की परिपोषक प्रणालियां हैं। अहिंसा आदि महाव्रतों के रक्षार्थ गमनागमन, भाषण, आहार ग्रहण, वस्तुओं के उठाने रखने, मलमूत्र विसर्जन आदि क्रियाओं में प्रमादरहित सम्यक् प्रवृत्ति के द्वारा जीवों की रक्षा करना तथा सदा उनके रक्षण की भावना रखना समिति है। जीवों से भरे इस संसार में समितिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाला श्रमण हिंसा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे स्नेहगुण युक्त कमल-पत्र पानी से।[2] प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है - जीव मरे या जीये, अयत्नाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है। किन्तु जो समितियों में प्रयत्नशील है उसको बाह्य हिंसा मात्र से कर्मबन्ध नहीं होता।[3] वस्तुतः ये पाँचों समितियाँ चारित्र के क्षेत्र में प्रवृत्तिपरक होती हैं। इन समितियों में प्रवृत्ति से सर्वत्र एवं सर्वदा गुणों की प्राप्ति तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति होती है।

११-१५, इन्द्रिय निग्रह

इन्द्र शब्द आत्मा का पर्यायवाची है। आत्मा के चिन्ह अर्थात् आत्मा के सद्भाव की सिद्धि में कारणभूत अथवा जो जीव के अर्थ-(पदार्थ) ज्ञान में निमित्त बने उसे इन्द्रिय कहते

---

१. इरियाभासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा।। मूलाचार १/१०

२. मूलाचार ५/१२९-१३२

३. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु।। प्रवचनसार ३१७

हैं।[1] प्रत्यक्ष में जो अपने-अपने विषय का स्वतंत्र आधिपत्य करती हैं, उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं।[2] इन्द्रियाँ पाँच हैं - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श। ये पाँचों इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति कराके आत्मा को राग-द्वेष युक्त करती है। अतः इनको विषय-प्रवृत्ति की ओर से रोकना इन्द्रिय निग्रह है।[3] ये पांचों इन्द्रियाँ अपने नामों के अनुसार अपने नियत विषयों में प्रवृत्ति करती हैं। जैसे स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श द्वारा पदार्थ को जानती है। रसनेन्द्रिय का विषय स्वाद, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय देखना तथा श्रोत्र का विषय सुनना है।[4] इन्द्रियों के इन विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया है -

(१) काम रूप विषय। (२) भोग रूप विषय।

रस और स्पर्श कामरूप विषय हैं तथा गन्ध, रूप और शब्द भोग रूप विषय हैं।[5] इन्हीं इन्द्रियों की स्वछन्द प्रवृत्ति का अवरोध निग्रह कहलाता है।[6] अर्थात् इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की प्रवृत्ति रोकना इन्द्रिय-निग्रह है।[7] जैसे उन्मार्गगामी दुष्ट घोड़ों के लगाम के द्वारा निग्रह किया जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान की भावना (तप, ज्ञान और विनय) के द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय रूपी उन्मार्ग से निग्रह किया जाता है।[8] जो श्रमण जल से भिन्न कमल के सदृश इन्द्रिय-विषयों की प्रवृत्ति में लिप्त नहीं होता वह संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।[9]

इस तरह इन्द्रियों के शब्दादि जितने विषय हैं सभी में अनासक्त रहना अथवा मन में उन विषयों के प्रति मनोज्ञता-अमनोज्ञता उत्पन्न न करना श्रमण का कर्तव्य है। वस्तुतः इन्द्रिय निग्रह का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों की ग्रहण-शक्ति समाप्त कर दें या रोक दें अपितु मन में इन्द्रिय विषयों के प्रति उत्पन्न राग-द्वेष युक्त भाव का नियमन करना इन्द्रिय-निग्रह है। कहा भी है जैसे कछुवा संकट की स्थिति में अपने अंगों का समाहरण कर लेता है, वैसे ही श्रमण को भी संयम द्वारा इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति का संयमन कर लेना चाहिए।[10] क्योंकि जिनकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति सांसारिक क्षणिक विषयों की ओर है, वह आत्मतत्त्व रूपी अमृत कभी प्राप्त नही कर सकता। जो सारी इन्द्रियों की

---

१. सर्वार्थसिद्धि १/१४
२. धवला १/१/१/४/१३५
३. मूलाचार १/१६
४. वही ५/१०२, तत्त्वार्थसूत्र २/२०
५. वही १२/९७
६. स्वेच्छाप्रवृत्तिः निर्वर्तः, निग्रहः सर्वार्थसिद्धि ९/४
७. मूलाचार १/१६
८. भगवती आराधना गाथा १०३७
९. उत्तराध्ययन ३२/९९
१०. सूत्रकृतांग १/८/१/१६, संयुक्त निकाय १/२/७

शक्ति को आत्मतत्त्व रूप अमृत के दर्शन में लगा देता है वह सच्चे अर्थों में अमृतमय इन्द्रियजयी बन जाता है।

१६-२१, षड्-आवश्यक

सामान्यतः "अवश" का अर्थ अकाम, अनिच्छु, स्वाधीन, स्वतंत्र[1], रागद्वेषादि से रहित, इन्द्रियों की आधीनता से रहित होता है। तथा इन गुणों से यक्त अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्य करणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। मूलाचारकार के अनुसार जो रागद्वेषादि के वश में नहीं उस (अवश) का आचरण या कर्म आवश्यक है।[2] कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में कहा है - जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश, उस अवश का कार्य आवश्यक है। ऐसा आवश्यक कर्मों का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग होता है।[3] अनगारधर्मामृत में आवश्यक शब्द की दो तरह से निरुक्ति बताई गयी है-जो इन्द्रियों के वश्य (अधीन) नहीं है, ऐसे अवश्य-जितेन्द्रिय साधु का अहोरात्रिक अवश्यकरणीय कार्य आवश्यक है। अथवा जो वश्य-स्वाधीन नहीं है, अर्थात् रोगादिक से पीड़ित होने पर भी जिन (कार्यों) का अहोरात्रिक करना अनिवार्य हो वह आवश्यक है।[4] अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि श्रमण और श्रावक जिस विधि को अहर्निश अवश्यकरणीय समझते हैं उसे आवश्यक कहते हैं।[5] विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार अवश्य करने योग्द सद्गुणों का आधार आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के आधीन करने वाला, आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आवासित, अनुरंजित अथवा आच्छादित करने वाला आवश्यक कहलाता है।

आवश्यक छह प्रकार के हैं - १. समता (सामायिक); २. स्तव (चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव); ३. वंदना; ४. प्रतिक्रमण-प्रमादपूर्वक किये गये दोषों का निराकरण; ५. प्रत्याख्यान-आगामी कालीन दोषों का निराकरण तथा ६. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)।[6] आगमों में इनका विवेचन नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-इन छह के आलम्बन से किया जाता है।

शेष सात मूलगुण

इस तरह श्रमण के २८ मूलगुणों में से पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिग्रह तथा छह आवश्यक - इन सबको मिलाकर इक्कीस मूलगुणों के साथ ही शेष सात मूलगुण इस प्रकार हैं।

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ८३
२. ण वसो अवसो अवसस्य कम्ममावासगं ति बोधव्वा । मूलाचार ७-१४
३. नियमसार-१४१
४. अनगारधर्मामृत - ८/१६
५. अनुयोगद्वारसूत्र २८, गाथा २
६. मूलाचार १.२२, ७.१५

२२-लोच

श्रमण के अट्ठाईस मूलगुणों में लोच बाईसवाँ मूलगुण है। जिसका अर्थ है हाथ से नोचकर केश निकालना। लोक प्रचलित अर्थ में इसे ही केशलुंचन कहते हैं। वस्तुतः लोच शब्द लुंच धातु से बनकर अपनयन अर्थात् निकालना या दूर करना अर्थ में प्रयुक्त होता है। केशलोच अपने आप में कष्ट-सहिष्णुता की उच्च कसौटी के और श्रमणों के पूर्ण संयमी जीवन का प्रतीक है। चूंकि केशों का बढ़ना स्वाभाविक है किन्तु नाई या उस्तरे, कैंची आदि के बिना हाथों से ही उन्हें उखाड़कर निकालना श्रमण के स्ववीर्य, श्रामण्य तथा पूर्ण अपरिग्रही होने का प्रतीक है। इससे अपने शरीर के प्रति ममत्व का निराकरण तथा सर्वोत्कृष्ट तप का आचरण होता है। दीनता, याचना, परिग्रह और अपमान आदि दोषों के प्रसंगों से भी स्वतः बचा जा सकता है।[1] सभी तीर्थंकरों ने प्रव्रज्या ग्रहण करते समय अपने हाथों से पंचमुष्ठि लोच किया था।

२३-अचेलकत्व

सामान्यतः "चेल" शब्द का अर्थ वस्त्र होता है। किन्तु श्रमणाचार के प्रसंग में यह शब्द सम्पूर्ण परिग्रहों का उपलक्षण है। अतः चेल के परिहार से सम्पूर्ण परिग्रह का परिहार हो जाता है।[2] इस दृष्टि से वस्त्राभूषणादि समस्त परिग्रहों का त्याग और स्वाभाविक यथाजात नग्न-(निर्ग्रन्थ) वेश धारण करना अचेलकत्व है।[3] किन्तु श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार इसका अर्थ अल्प चेल (वस्त्र) मुनि का वेष है अतः इनके साधु निर्धारित वस्त्र धारण करते और पात्र रखते हैं।

२४-अस्नान

जलस्नान, अभ्यंग स्नान और उबटन त्याग तथा नख, केश, दन्त, ओष्ठ, कान, नाक, मुँह, आँख, भौंह तथा हाथ-पैर इन सबके संस्कार का त्याग अस्नान नामक प्रकृष्ट मूलगुण है।[4] वस्तुतः आत्मदर्शी श्रमण तो आत्मा की पवित्रता से स्वयं पवित्र होते हैं, अतः उन्हें बाह्य स्नान से प्रयोजन ही क्या?[5] आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचार-वृत्ति में कहा है कि श्रमण को स्नान से नहीं अपितु व्रतों से पवित्र होना चाहिए। यदि व्रतरहित प्राणी

---

१. मूलाचार वृत्ति १/२९
२. मूलाचार वृत्ति १०/१७
३. वही १/३०, १०/१८
४. ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं ।
   अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो ।। मूलाचार १/३१
५. अनगारधर्मामृत ९/९८

जलावगाहनादि से पवित्र हो जाते तो मत्स्य, मगर आदि जल-जन्तु तथा अन्य सामान्य प्राणी भी पवित्र हो जाते किन्तु ये कभी भी उससे पवित्रता को प्राप्त नहीं होते। अतः व्रत, संयम-नियम ही पवित्रता के कारण हैं।[1] इन्हीं सब कारणों से श्रमण को स्नान आदि संस्कारों से सर्वथा विरत रहने तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति में उपयोग लगाए रखने के लिए अस्नान मूलगुण का विधान अनिवार्य माना है।

२५-क्षितिशयन

सामान्यतः पर्यङ्क, विस्तर आदि का सर्वथा वर्जन करके शुद्ध (प्रासुक) जमीन, पाषाण या काष्ठफलक पर शयन करना क्षितिशयन है। मूलाचार में कहा है - आत्मप्रमाण, असंस्तरित, एकान्त, प्रासुक भूमि में, धनुर्दण्डाकार मुद्रा में, एक करवट में शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है।[2]

२६- अदन्तघर्षण

शरीर विषयक संस्कार श्रमण को निषिद्ध कहे गये हैं। अतः अंगुली, नख, दातौन, कलि (तृणविशेष), पत्थर और छाल - इन सबके द्वारा तथा इनके ही समान अन्य साधनों के द्वारा दाँतों का मज्जन न करना अदन्तघर्षण मूलगुण है।[3] इसका उद्देश्य इन्द्रिय-संयम का पालन तथा शरीर के प्रति अनासक्त भाव में वृद्धि करना है।

२७- स्थित-भोजन

शुद्ध-भूमि में दीवाल, स्तम्भादि के आश्रयरहित समपाद खड़े होकर अपने हाथों को ही पात्र बनाकर आहार ग्रहण करना स्थित-भोजन है।[4] प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम के पालन हेतु जब तक श्रमण के हाथ-पैर चलते हैं अर्थात् शरीर में सामर्थ्य है, तब तक खड़े होकर पाणि-पात्र में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्य विशेष पात्रों में नहीं।[5]

---

१. मूलाचारवृत्ति १/३१
२. फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
   दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण।। मूलाचार १/३२
३. अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं। - वही १/३३
४. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं ।
   पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ।। - वही १/३४
५. मूलाचार वृत्ति १/३४

२८- एकभक्त

सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी व्यतीत होने के बाद तथा सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पूर्व तक दिन में एक बार एक बेला में आहार ग्रहण कर लेना एकभक्त मूलगुण है।[1]

प्राकृतिक एवं सहज जीवन के प्रतीक हैं ये मूलगुण-

लोच से लेकर एकभक्त तक के शेष सात मूलगुण श्रमण के बाह्य चिन्ह माने जाते हैं। अन्तरंग कषाय मल की विशुद्धि के लिए एक बाह्य क्रियाओं (आचरण) की शुद्धता का भी महत्वपूर्ण स्थान है।[2] अतः यह गुण जीवन की सहजता, स्वाभाविकता के प्रतीक हैं। श्रमण को प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने, अपने को और अपने शरीर को कष्टसहिष्णु बनाने तथा लोकलज्जा और लोकभय से ऊपर उठने के लिए ये महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं। बाह्य जीवन में असुन्दर की भी सर्वात्मभावेन स्वीकृति इनसे सधती है। इन गुणों से युक्त जीवन भी अपने आप में उत्कृष्ट एवं कठिन तपश्चर्या का प्रतीक है। इनके माध्यम से कष्टसहिष्णुता, चारित्र पालन, गतिशीलता प्राप्त होती रहती है। इन गुणों से श्रमण को प्रतिपल भेद-विज्ञान की यह प्रतीति होती रहती है कि यह शरीर आत्मा से भिन्न है और इसे सुविधावादिता की अपेक्षा जितना सहज रखा जायेगा आत्मोपलब्धि में उतनी ही वृद्धि होती रहेगी।

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से श्रमण की आवश्यकतायें अत्यन्त सीमित हो जाती हैं। इनका अप्रमत्त भाव से पालन करके श्रमण जगत्पूज्य होकर अक्षय-सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। मूलाचारप्रदीप में कहा है - ये सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि महायोगों का आधारभूत कहा है। समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिए ये गुण मूल रूप हैं। जिस प्रकार मूलरहित वृक्षों पर कभी फल नहीं लग सकते, उसी प्रकार मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण भी कभी फल नहीं दे सकते। फिर भी उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए जो मूलगुणों का त्याग कर देते हैं वे अपने हाथ की अंगुलियों की रक्षा के लिए अपना मस्तक काट देते हैं। अतः इन समस्त मूलगुणों का पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र एवं सर्वदा पालन करना अभीष्ट है।[3] जब इन मूलगुणों के पालन में शरीर अशक्त हो जाए अर्थात् जब जंघाबल (पैरों से चलने-फिरने और खड़े होने आदि की शक्ति) क्षीण हो जाए, अंजुलिपुट में आये हुए आहार को स्वयं मुख तक न ले जा सके, आँखें कमजोर हो जाएं, उनसे सूक्ष्म वस्तु दिखाई न दे और न

---

१. उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ।। मूलाचार १/३५

२. मता बहिः क्रियाशुद्धिरनतर्मलविशुद्धये - भगवती आराधना संस्कृत पद्य १३६६

३. मूलाचार प्रदीप ४/३१२-३१८

भोजन का शोधन किया जा सके तथा श्रोतेन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो जाए, तब श्रमण को भक्तप्रत्याख्यान (अनुक्रम से आहार त्याग करना तथा कषाय को कृश करते हुए समाधिमरण को प्राप्त होना) धारण कर लेना चाहिए, किन्तु ग्रहण किये हुए व्रतों में शिथिलता कदापि न लाना चाहिए।[1]

उत्तरगुण

श्रमण के जिन अट्ठाईस मूलगुणों का विवेचन ऊपर किया गया है उनके उत्तरवर्ती पालन योग्य बारह तप, बाईस परीषह, बारह भावनायें, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और बल - ये पाँच आचार, उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य - ये दस धर्म तथा योगादि अनेक गुण हैं, जिन्हें उत्तरगुण कहते हैं। इनके माध्यम से श्रमण आत्मध्यान और तपश्चरण करके आध्यात्मिक विकास की शक्ति प्राप्त करता है तथा गुणस्थान प्रणाली में कर्मक्षय करता हुआ निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

आहार, विहार और व्यवहार -

एक ओर जहाँ मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्पूर्ण श्रामण्य की कसौटी बनकर उनकी संयम-यात्रा के लक्ष्य को प्राप्त कराने में अपना महत्वपूर्ण योग करते हैं, वहीं आहार, विहार और व्यवहार-ये चर्यायें उनके बाह्य जीवन, सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं अन्यान्य उन सभी कार्यों को विशुद्धता एवं समग्रता प्रदान करती हैं जिनका सीधा सम्बन्ध आत्मोत्कर्ष में सहयोग तथा सच्चे श्रामण्य की पहचान से है। देश, काल, श्रम, क्षम (सहन शक्ति) और उपधि (शरीरादि रूप परिग्रह) को अच्छी तरह जानकर श्रमण आहार एवं विहार में प्रवृत्त होता है। यद्यपि इसमें भी उसे अल्प-कर्मबंध होता है।[2] किन्तु इतना अवश्य है कि श्रमण चाहे बालक हो अथवा वृद्ध अथवा तपस्या या मार्ग (पैदल आवागमन) के श्रम से खिन्न (थका हुआ), अथवा रोगादि से पीड़ित, वह अपने योग्य उस प्रकार की चर्या का आचरण कर सकता है, जिसमें "मूल संयम" का घात (हानि) न हो।[3] इसीलिये इस लोक से निरपेक्ष, परलोक की आकांक्षा एवं आन्तरिक कषाय से रहित होकर "युक्त-आहार-विहार" होना चाहिए।[4] क्योंकि श्रमण का चारित्र, तपश्चरण एवं संयम आदि का अच्छी तरह से पालन

---

१. चक्खु व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ।
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरदुं वा ।। भगवती आराधना-७३

२. आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ।। प्रवचनसार- ३/३१

३. बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा गिलाणो वा ।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि।। - वही ३/३०

४. वही ३/२६ ।

उसकी आहार-चर्या की विशुद्धता पर निर्भर है। इसी तरह समितिपूर्वक विशुद्ध विहारचर्या द्वारा भी वह श्रमण रत्नत्रय प्राप्ति का अभ्यास, शास्त्रकौशल एवं समाधिमरण के योग्य क्षेत्र तथा जन-जन के कल्याण की भावना रूप लक्ष्य को सहज ही प्राप्त कर लेता है तथा आहार-विहार एवं बाह्य जीवन के विविध व्यवहार-कार्यों या क्रियाओं में विवेक रखकर स्व-पर कल्याण में सदा प्रवृत्त बने रहते हैं।

३. आर्यिकाओं की आचार-पद्धति

चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ में 'आर्यिका' का दूसरा स्थान है। श्वेताम्बर जैन परम्परा के प्राचीन आगमों में भी यद्यपि इन्हें अज्जा, आर्या, आर्यिका कहा है, किन्तु इस परम्परा में प्रायः "साध्वी" शब्द का ज्यादा प्रयोग हुआ है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा इनकी उत्तरवर्ती परम्परा में आर्यिका संघ की एक व्यवस्थित आचार पद्धति एवं उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। सभी तीर्थंकरों के समय में और वर्तमान काल में मुनियों की अपेक्षा आर्यिकाओं की संख्या काफी अधिक रही है। श्रमण संस्कृति के उन्नयन में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की सभी सराहना करते हैं।

आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द

वर्तमान समय में सामान्यतः दिगम्बर परम्परा में महाव्रत आदि धारण करने वाली दीक्षित स्त्री को 'आर्यिका' तथा श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें 'साध्वी' कहा जाता है। दिगम्बर प्राचीन शास्त्रों में इनके लिए आर्यिका,[१] आर्या,[२] विरती,[३] संयती,[४] संयता,[५] श्रमणी,[६] आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। प्रधान आर्यिका को 'गणिनी'[७] तथा संयम, साधना एवं दीक्षा में ज्येष्ठ वृद्धा आर्यिका को स्थविरा (थेरी)[८] कहा गया है।

---

१. भगवती आराधना ३९६ तथा वि. टीका ४२६
२. मूलाचार ४/१७७, १८४, १८७, १९१, १९६ सुत्तपाहुड २२
३. वही, ४/१८०, १०/६१
४. मूलाचार वृत्ति ४/१७७
५. त्यक्ताशेष गृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता। पद्मपुराण
६. श्रीमती श्रमणी पार्श्वे बभूवुः परमार्यिका। वही
७. गणिणी......मूलाचार ४।१७८, १९२, गणिनीं महत्तरिकां-वही वृत्ति ४।१७८, १९२
८. थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा। मूलाचार ४/१९४

आर्यिकाओं का वेष

आर्यिकायें निर्विकार, श्वेत, निर्मल वस्त्र एवं वेष धारण करने वाली तथा पूरी तरह से शरीर-संस्कार (साज-शृंगार आदि) से रहित होती है। उनका आचरण सदा अपने धर्म, कुल, कीर्ति एवं दीक्षा के अनुरूप निर्दोष होता है।[1] वसुनन्दी के अनुसार- आर्यिकाओं के वस्त्र, वेष और शरीर आदि विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक होते हैं। आर्यिकायें क्षमा, मार्दव, आर्य, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य-ये दस धर्म, माता-पिता का कुल, अपना यश और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या का पूर्णता से पालन करती हैं।

सुत्तपाहुड तथा इसकी श्रुतसागरीय टीका में तीन प्रकार के वेष (लिंग) का कथन है- १. मुनि, २. ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक एवं क्षुल्लक तथा ३. आर्यिका[2] कहा है। इनमें तीसरा लिंग (वेष) स्त्री (आर्यिका) का है। इसे धारण करने वाली स्त्री दिन में एक बार आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका भी हो तो नीचे से ऊपर तक एक ही वस्त्र धारण करे तथा वस्त्रावरण युक्त अवस्था में ही आहार ग्रहण करे।[3]

वस्तुतः स्त्रियों में उत्कृष्ट वेष को धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका-ये दो होती हैं। दोनों ही दिन में एक बार आहार लेती हैं। आर्यिका मात्र एक वस्त्र तथा क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय ओढ़ने के लिए एक चादर भी रखती है। भोजन करते समय एक सफेद साड़ी रखकर ही दोनों आहार करती हैं। अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साड़ी है पर क्षुल्लिका एक साड़ी सहित किन्तु चादर रहित होकर आहार करती है।[4] भगवती आराधना में भी क्षुल्लिका का उल्लेख मिलता है।[5]

आर्यिकाओं की वसतिका

राजपथ मुख्यमार्ग, धर्मशाला और तीन-चार रास्तों के संगम स्थल पर आर्यिकाओं को नहीं ठहरना चाहिए। खुले स्थान पर तथा बिना फाटक वाले स्थान पर भी नहीं रहना चाहिए।[6] जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ साधुओं को नहीं रहना चाहिए किन्तु साध्वियाँ रह सकती हैं।[7]

---

१. मूलाचार ४/९० १२. मूलाचार वृत्ति ४/१९०
२. सुत्तपाहुड १०, २१, २२
३. लिंग इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
   अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ।। सुत्तपाहुड २२
४. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका २२
५. खुड्डा या खुड्डियाओ .... भ.आ. ३९६
६. बृहत्कल्प भाष्य उ. १/२, २/११, २
७. बृहत्कल्प सूत्र प्रथम उद्देश्य प्रतिबद्धशय्यासूत्र (जै.सा.का.वृ.इति. भाग २, पृ. २४१)

वसतिकाओं में आयिकायें मात्सर्यभाव छोड़कर एक दूसरे के अनुकूल तथा एक दूसरे के रक्षण के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर रहती हैं। रोष, बैर और मायाचार जैसे विकारों से रहित, लज्जा, मर्यादा और उभयकुल-पितृकुल, पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुरूप आचरण (क्रियाओं) द्वारा अपने चारित्र की रक्षा करती हुई रहती हैं।[1] आर्यिकाओं में भय, रोष आदि दोषों का सर्वथा अभाव होता है। ज्ञानार्णव में कहा है शम, शील और संयम से युक्त अपने वंश में तिलक के समान, श्रुत तथा सत्य से समन्वित ये नारियाँ (आर्यिकायें) धन्य हैं।[2]

समाचार : विहित एवं निषिद्ध

चरणानुयोग विषय जैन साहित्य में श्रमण और आर्यिकाओं दोनों के समाचार आदि प्रायः समान रूप से प्रतिपादित हैं।[3] मूलाचारकार ने इनके समाचार के विषय में कहा है कि आर्यिकायें अध्ययन, पुनरावृत्ति (पाठ करने) श्रवण-मनन, कथन, अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, तप, विनय तथा संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास रूप उपयोग में सतत तत्पर रहती हैं तथा मन, वचन और कायरूप योग के शुभ अनुष्ठान से सदा युक्त रहती हुई अपनी दैनिक चर्या पूर्ण करती है।[4]

किसी प्रयोजन के बिना परगृह चाहे वह श्रमणों की ही वसतिका क्यों न हो या गृहस्थों का घर हो, वहाँ आर्यिकाओं का जाना निषिद्ध है। यदि भिक्षा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विशेष प्रयोजन से वहाँ जाना आवश्यक हो तो गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्यिका) से आज्ञा लेकर अन्य कुछ आर्यिकाओं के साथ मिलकर जा सकती हैं, अकेले नहीं।[5] स्व-पर स्थानों में दुःखार्त्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन, स्नान (बालकों को स्नानादि कार्य) कराना, भोजन कराना, रसोई पकाना, सूत कातना तथा छह प्रकार का आरम्भ अर्थात् जीवघात की कारणभूत क्रियायें आर्यिकायें पूर्णतः निषिद्ध हैं। संयतों के पैरों में मालिश करना, उनका प्रक्षालन करना, गीत गाना आदि कार्य उन्हें पूर्णतः निषिद्ध है।[6] असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और लेख-ये जीवघात के हेतुभूत छह प्रकार की आरम्भ क्रियायें हैं।[7] पानी लाना,

---

१. अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णाहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोवसेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ।। मूलाचार ४/१८८

२. ज्ञानार्णव १२/५७

३. हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पृ. ४७३

४. मूलाचार ४/१८९

५. ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गछेज्ज।। मूलाचार ४/१९२

६. रोदणण्हावणभोयजपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खण धोवणगेयं च ण य कुज्जा।। - मूलाचार ४/१९३

७. असिमषिकृषि वाणिज्यशिल्पलेखक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून्। -मूलाचार वृत्ति ४/१९३

पानी छानना, (छेण), घर को साफ करके कूड़ा कचरा उठाना, फेंकना, गोबर से लीपना, झाडू लगाना और दीवालों को साफ करना-ये जीवघात करने वाली छह प्रकार की आरंभ क्रियायें भी आर्यिकायें नहीं करतीं।[1] मूलाचार दूतकर्म आदि कार्य भी इन्हें निषिद्ध हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के गच्छाचारपइन्ना नामक प्रकीर्णक ग्रंथ में कहा है- जो आर्यिका गृहस्थी सम्बन्धी कार्य जैसे-सीना, बुनना, कढ़ाई आदि कार्यों को और अपनी या दूसरे की तेल मालिश आदि कार्य करती हैं वह आर्यिका नहीं हो सकती।[2] जिस गच्छ में आर्यिका गृहस्थ सम्बन्धी जकार, मकार, आदि रूप शासन की अवहेलना सूचक शब्द बोलती हैं वह वेश-विडम्बनी तथा अपनी आत्मा को चतुर्गति में घुमाने वाली है।[3]

आहारार्थ गमन विधि

आहारार्थ अर्थात् भिक्षा चर्या के लिए वे आर्यिकायें तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में स्थविरा (वृद्धा) आर्यिका के साथ मिलकर उनका अनुगमन करती हुई तथा परस्पर एक दूसरे के रक्षण (सँभाल) का भाव रखती हुई ईर्ष्या समितिपूर्वक आहारार्थ निकलती हैं।[4] देव वन्दना आदि कार्यों के लिए भी उपर्युक्त विधि से गमन करना चाहिए।[5] आर्यिकायें दिन में एक बार सविधि बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं।[6] गच्छाचार पइन्ना में कहा है - कार्यवश लघु आर्या मुख्य आर्या के पीछे रहकर अर्थात् स्थविरा के पीछे बैठकर श्रमण-प्रमुख के साथ सहज, सरल और निर्विकार वाक्यों द्वारा मृदु वचन बोले तो वही वास्तविक गच्छ कहलाता है।[7]

स्वाध्याय सम्बन्धी विधान

मुनि और आर्यिका आदि सभी के लिए स्वाध्याय आवश्यक होता है। वट्टेकर ने स्वाध्याय के विषय में आर्यिकाओं के लिए लिखा है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली तथा अभिन्नदशपूर्वधर- इनके द्वारा कथित सूत्रग्रंथ, अंगग्रंथ- इन सबका अस्वाध्यायकाल में अध्ययन मन्दबुद्धि के श्रमणों और आर्यिका समूह के लिए निषिद्ध है। अन्य मुनिश्वरों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि की शुद्धि के बिना उपर्युक्त सूत्रग्रंथ पढ़ना निषिद्ध है। किन्तु इन सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, पंचसंग्रह, प्रत्याख्यान,

---

१. कुन्द. मूलाचार ४/७४, २. गच्छाचार पइन्ना ११३, ३. वही ११०

४. तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिा भिक्खाय समोदरन्ति सदा।। मूलाचार ४/१९४

५. वही वृत्ति

६. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका २२ तथा दौलत क्रियाकोश

७. गच्छाचार पइन्ना, १२१-१३०

आवश्यक तथा धर्मकथा सम्बन्धी ग्रंथों को एवं ऐसे ही अन्यान्य ग्रंथों को आर्यिका आदि सभी अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकती हैं।[1]

वंदना-विनय संबंधी व्यवहार

आर्यिकाओं के द्वारा श्रमणों की वन्दना विधि के विषय में कहा गया है कि आर्यिकाओं को आचार्य की वन्दना पाँच हाथ दूर से, उपाध्याय की वन्दना छह हाथ दूर से एवं साधु की वन्दना सात हाथ दूर से गवासन पूर्वक बैठकर ही करनी चाहिए। यहाँ सूरि (आचार्य), अध्यापक (उपाध्याय) एवं साधु शब्द ने यह भी सूचित होता है कि आचार्य से पांच हाथ दूर से ही आलोचना एवं वन्दना करना चाहिए। उपाध्याय से छह हाथ दूर बैठकर अध्ययन करना चाहिए एवं सात हाथ दूर से साधु की वन्दना, स्तुति आदि कार्य करना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।[2] मोक्षपाहुड (गाथा १२) की टीका के अनुसार श्रमण और आर्यिका के बीच परस्पर वन्दना उपयुक्त तो नहीं है, किन्तु यदि आर्यिकायें वंदना करें तो श्रमण को उनके लिए "समाधिरस्तु" या "कर्मक्षयोऽस्तु" कहना चाहिए। श्रावक जब इनकी वन्दना करता है तो उन्हें सादर "वन्दामि" शब्द बोलता है।

आर्यिका और श्रमण संघ : परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा

आचार्य विषयक जैन आगम साहित्य में श्रमण संघ को निर्दोष एवं सदा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनेक दृष्टियों से स्त्रियों के संसर्ग से, चाहे वह आर्यिकाभले ही हो, दूर रहने का विधान है। यही कारण है कि श्रमण संघ आरम्भ से अर्थात् प्राचीनकाल से आज तक बिना किसी बाधा या अपवाद के अपनी अक्षुण्णता बनाये हुए है।

श्रमणों और आर्यिकाओं का सम्बन्ध (परस्पर व्यवहार) धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। यदि आवश्यक हुआ तो कुछ आर्यिकायें एकसाथ मिलकर श्रमण से धार्मिक शास्त्रों के अध्ययन शंका-समाधान आदि कार्य कर सकती हैं, अकेले नहीं। अकेले श्रमण और आर्यिका को परस्पर बातचीत तक का निषेध है। कहा भी है कि तरुण श्रमण किसी भी तरुणी आर्यिका या अन्य किसी स्त्री से कथा-वार्तालाप न करे। यदि इसका उल्लंघन करेगा तो आज्ञाकोप, अनवस्था (मूल का ही विनाश), मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम-विराधना इन पाप के हेतुभूत पांच दोषों से दूषित होगा।[3]

---

१. मूलाचार पइन्ना १२६-१३०

२. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधु य।
परिहरिऊण ज्जाओ गवासणेणेव वंदति।। - मूलाचार ४/१६५ वृत्ति सहित

३. मूलाचार ४/१७६ वृत्ति सहित

अध्ययन या शंका-समाधान आदि धार्मिक कार्य के लिए आर्यिकायें या स्त्रियाँ यदि श्रमण संघ आयें तो उस समय श्रमण को वहाँ अकेले नहीं ठहरना चाहिए और बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करना चाहिए किन्तु कदाचित धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना भी ठीक है।[1] एक आर्यिका कुछ प्रश्नादि पूछे तो अकेला श्रमण उसका उत्तर न दे, अपितु कुछ श्रमणों के सामने उत्तर दे। यदि कोई आर्यिका अपनी पुस्तक अर्थात् गणिनी के साथ या उसे आगे करके कोई प्रश्न पूछे तब अकेले श्रमण उसका उत्तर दे सकता है अर्थात् मार्ग-प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रश्नोत्तरों आदि का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं।[2]

आर्यिकाओं की वसतिका में श्रमणों को नहीं जाना, ठहरना चाहिए, वहीं क्षणमात्र या कुछ समय तक की (अल्पकालिक) क्रियायें भी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा-ग्रहण, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं मलोत्सर्ग आदि क्रियायें पूर्णतः निषिद्ध हैं।[3]

वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत और जनमान्य (प्रामाणिक) श्रमण भी यदि आर्याजन (आर्यिका आदि) से संसर्ग रखता है तो वह लोकापवाद का भागी (लोगों की निंदा का स्थान) बन जाता है।[4]

आर्यिकाओं के उपाश्रय में ठहरने वाला श्रमण लोकापवाद रूप व्यवहार-निन्दा तथा व्रतभंग रूप परमार्थ-निन्दा इन दोनों को प्राप्त होता है।[5] इस प्रकार साधु को केवल आर्याजनों के संसर्ग से ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधु को परतन्त्र करती है उस-उस वस्तु का त्याग करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। उसके त्याग से उसका संयम दृढ़ होगा। क्योंकि बाह्य वस्तु के निमित्त से होने वाला असंयम उस वस्तु के त्याग से ही सम्भव होता है।[6]

आर्यिकाओं के गणधर

आर्यिकाओं के गणधर (आचार्य आदि विशेष) को निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न माना गया है। प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्नी (धर्म और धर्मफल में अतिशय उत्साहवाला), अवद्य

---

१. वही ४/१७७ वृत्ति सहित
२. तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।
 गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं। वही ४/१७६ वृत्ति सहित
३. मूलाचार ४/१८०, १०/६१ वृत्ति सहित,
४. वही, ३३१,
५. मूलाचार १०/६२
६. भगवती आराधना गाथा ३३४, ३३८,

(पाप) भीरू, परिशुद्ध (शुद्ध आचरण वाले), संग्रह (दीक्षा, उपदेश आदि द्वारा शिष्यों के ग्रहण-संग्रह) और अनुग्रह में कुशल, सतत् सारक्षण (पापक्रियाओं से सर्वथा निवृत्ति) से युक्त, गंभीर, दुर्द्धष (स्थिर चित्त एवं निर्भय अन्तःकरण युक्त), मितभाषी, अल्पकौतुकयुक्त, चिरप्रवर्जित और गृहीतार्थ (तत्त्वों के ज्ञाता) आदि गुणों से युक्त आर्यिकाओं के मर्यादा उपदेशक गणधर (आचार्य) होते हैं।[1]

●

१. मूलाचार ४/१८३, १८४, बृहत्कल्प भाष्य २०५०

जैन पुराण साहित्य

भारतीय धर्मग्रन्थों में ''पुराण'' शब्द का प्रयोग इतिहास के अर्थ में आता है। कितने विद्वानों ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समावेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनों ही विभिन्न हैं। इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनों अपनी अपनी विशेषता रखते हैं। इतिहास जहाँ घटनाओं का वर्णन कर निर्वृत हो जाता है वहाँ पुराण उनके परिणाम की ओर पाठक का चित्त आकृष्ट करता है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितान्येव पुराणं पंचलक्षणम्।।

जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश-परम्पराओं का वर्णन हो, वह पुराण है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पाँच लक्षण हैं। तात्पर्य यह कि इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है परन्तु पुराण महापुरुषों के घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्त फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त में जहाँ केवल वर्तमान की घटनाओं का उल्लेख रहता है वहाँ पुराण में नायक के अतीत और अनागत भवों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिये कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग, परोपकार और तपस्याएँ करनी पड़ती हैं। मानव के जीवन-निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।

वैदिक परम्परा में पुराणों और उप-पुराणों का जैसा विभाग पाया जाता है वैसा जैन परम्परा में नहीं पाया जाता। परन्तु यहाँ जो भी पुराण-साहित्य विद्यमान है वह अपने ढंग का निराला है। जहाँ अन्य पुराणकार प्रायः इतिवृत्त की यथार्थता को सुरक्षित नहीं रख सके हैं वहाँ जैन पुराणकारों ने यथार्थता को अधिक सुरक्षित रखा है। इसीलिये आज के निष्पक्ष विद्वानों का यह स्पष्ट मत है कि प्राक्कालीन भारतीय संस्कृति को जानने के लिये जैन पुराणों से-उनके कथा ग्रन्थ से जो साहाय्य प्राप्त होता है, वह असाभान्य है।

यहाँ कतिपय दिगम्बर जैन पुराणों और चरित्रों की सूची दी जा रही है, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि वे कितने प्रकाश में आ गये हैं और कितने शास्त्र भण्डारों में अन्तर्निहित अर्थात् दबे पड़े हैं।

	पुराण नाम	कर्ता	रचनाकाल
१.	पद्मपुराण - पद्म चरित	आचार्य रविषेण	७०५
२.	महापुराण - आदिपुराण	आचार्य जिनसेन	नौवीं शती
३.	उत्तर पुराण	गुणभद्र	१०वीं शती
४.	अजित पुराण	अरुणमणि	१७१६
५.	आदिपुराण (कन्नड़)	कवि पंप	--
६.	आदिपुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
७.	आदिपुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	१५वीं शती
८.	उत्तरपुराण	भ० सकलकीर्ति	१५वीं शती
९.	कर्णामृत पुराण	केशवसेन	१६०८
१०.	जयकुमार पुराण	ब्र० कामराज	१५५५
११.	चन्द्रप्रभपुराण	कवि अगासदेव	--
१२.	चामुण्ड पुराण (क०)	चामुण्डराय	श० सं० ९८०
१३.	धर्मनाथ पुराण (क०)	कवि बाहुबली	--
१४.	नेमिनाथ पुराण	ब्र० नेमिदत्त	१५७५ के लगभग
१५.	पद्मनाभपुराण	भट्टारक शुभचन्द्र	१७वीं शती
१६.	पउमचरिउ (अपभ्रंश)	चतुर्मुख देव	--
१७.	पउमचरिउ	स्वयंभूदेव	--
१८.	पद्मपुराण	भ० सोमसेन	-
१९.	पद्मपुराण	भ० धर्मकीर्ति	१६५६
२०.	पद्मपुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५-१६ शती
२१.	पद्मपुराण	भ० चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
२२.	पद्मपुराण	ब्रह्म जिनदास	१३-१६ शती
२३.	पाण्डव पुराण	भ० शुभचन्द्र	१६०८
२४.	पाण्डव पुराण (अपभ्रंश)	भ० यशकीर्ति	१४९७
२५.	पाण्डव पुराण	भ० श्रीभूषण	१६५८
२६.	पाण्डव पुराण	वादिचन्द्र	१६५८
२७.	पार्श्वपुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	९९९
२८.	पार्श्वपुराण	कवि रइधू	१५-१६ शती
२९.	पार्श्वपुराण	चन्द्रकीर्ति	१६५४

३०.	पार्श्वपुराण	वादिचन्द्र	१६५८
३१.	महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	११०४
३२.	महापुराण (अपभ्रंश)	महाकवि पुष्पदन्त	--
३३.	मल्लिनाथपुराण (क)	कवि नागचन्द्र	--
३४.	पुराणसार	श्रीचन्द्र	--
३५.	महावीरपुराण (वर्धमान चरित)	असग	६१०
३६.	महावीर पुराण	भ० सकलकीर्ति	१५वीं शती
३७.	मल्लिनाथ पुराण	सकलकीर्ति	१५वीं शती
३८.	मुनिसुव्रत पुराण	ब्रह्म कृष्णदास	--
३६.	मुनिसुव्रत पुराण	भ० सुरेन्द्रकीर्ति	--
४०.	वागर्थसंग्रह पुराण	कवि परमेष्ठी	आ० जिनसेन के महापुराण से प्राक्
४१.	शान्तिनाथ पुराण	असग	६१०
४२.	शान्तिनाथ पुराण	भ० श्रीभूषण	१६५६
४३.	श्रीपुराण	भ० गुणभद्र	--
४४.	हरिवंशपुराण	पुन्नाट संघीय जिनसेन	श० सं० ७०५
४५.	हरिवंशपुराण (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	
४६.	हरिवंशपुराण	तदैव	चतुर्मुख देव
४७.	हरिवंशपुराण	ब्रह्म जिनदास	१५-१६ शती
४८.	हरिवंशपुराण	तदैव	भ० यशःकीर्ति १५०७
४६.	हरिवंशपुराण	भ० श्रुतकीर्ति	१५५२
५०.	हरिवंशपुराण	महाकवि रइधू	१५-१६ शती
५१.	हरिवंशपुराण	भ० धर्मकीर्ति	१६७१
५२.	हरिवंशपुराण	कवि रामचन्द्र	१५६० के पूर्व

इनके अतिरिक्त चरित-ग्रन्थ हैं, जिनकी संख्या पुराणों की संख्या से अधिक है और जिनमें वराङ्गचरित, जिनदत्तचरित, जम्बूस्वामीचरित, जसहर चरिउ, नागकुमार चरिउ, आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें रविषेण का पद्मपुराण, जिनसेन का महापुराण (आदिपुराण), गुणभद्र का उत्तर पुराण और पुन्नाट संघीय जिनसेन का हरिवंश-पुराण विश्रुत और सर्वश्रेष्ठ पुराण माने जाते हैं, क्योंकि इनमें पुराण का पूर्ण लक्षण घटित होता है। इनकी रचना पुराण और काव्य दोनों की शैली से की गई है।

(१) आदिपुराण

आचार्य जिनसेन (९वीं शती) द्वारा प्रणीत आदि (प्रथम) तीर्थंकर ऋषभदेव तथा उनके सुयोग्य एवं विख्यात पुत्र भरत एवं बाहुबली के पुण्य चरित के साथ-साथ भारतीय संस्कृति तथा इतिहास के मूल स्रोतों एवं विकास क्रम को आलोकित करनेवाला अन्यत्र मह वपूर्ण पुराण ग्रन्थ है। जैन संस्कृति एवं इतिहास के जानने के लिये इसका अध्ययन अनिवार्य है। यह पुराण ग्रन्थ के साथ एक श्रेष्ठ महाकाव्य भी है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, सिद्धान्तशास्त्र और आर्षग्रन्थ भी माना गया है। मानव सभ्यता की आद्य व्यवस्था का प्रतिपादक होने के कारण इसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। मानव सभ्यता का विकास-क्रम, विभिन्न समूहों में उसका वर्गीकरण, धर्म विशेष के धार्मिक संस्कार आदि अनेक आयामों की इसमें विशद रूप से विवेचना की गई है। संस्कृत एवं विभिन्न भारतीय भाषाओं के परवर्ती कवियों के लिये यह मार्गदर्शक रहा है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में "तदुक्तं आर्षे" इन महत्त्वपूर्ण शब्दों के साथ उदाहरण देते हुए अपने ग्रन्थों की गरिमा वृद्धिंगत की है। वास्तव में आदिपुराण संस्कृत साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका इसमें प्रतिपादन न हो। यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्मशास्त्र है, राजनीतिशास्त्र है, आचार शास्त्र है और युग की आद्य व्यवस्था को बतलाने वाला महान् इतिहास है।

आचार्य जिनसेन ने इस ग्रन्थ को "महापुराण" नाम से रचने का संकल्प किया था। परन्तु असमय में जीवन समाप्त हो जाने से उनका वह संकल्प पूर्ण नहीं हो सका। यह आदिपुराण महापुराण का पूर्व भाग है। इससे इसका दूसरा नाम "पूर्तपुराण" भी प्रसिद्ध है। इसकी प्रारम्भ के ४२ पर्वों और ४३वें पर्व के ३ श्लोकों तक की रचना आयार्य जिनसेन के द्वारा हुई है। उनके द्वारा छोड़ा गया शेषभाग उनके प्रबुद्ध शिष्य आचार्य गुणभद्र के द्वारा रचा गया है, जो "उत्तर पुराण" नाम से प्रसिद्ध है।

पुराणकथा और कथानायक

महापुराण के कथा नायक मुख्यतया प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ हैं और सामान्यतया त्रिषष्टिशलाका पुरुप हैं। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र और ९ प्रतिनारायण ये ६३ शलाका पुरुष कहलाते हैं। इनमें से आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभदेव और उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत का ही वर्णन है। अन्य शलाकापुरुषों का वर्णन गुणभद्राचार्य विरचित उत्तरपुराण में है। आचार्य जिनसेन ने जिस रीति से प्रथम तीर्थंकर और भरत चक्रवर्ती का वर्णन किया है, यदि वह जीवित रहते और उसी रीति से अन्य कथानायकों का वर्णन करते तो यह महापुराण संसार के समस्त पुराणों और काव्यों में महान् होता।

भगवान् वृषभदेव इस अवसर्पिणी (अवनति) काल के २४ तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं। तृतीय काल के अन्त में जब भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी और कर्मभूमि की रचना का प्रारम्भ होनेवाला था, उस सन्धि काल में अयोध्या के अन्तिम कुलकर-मनु श्री नाभिराज के घर उनकी पत्नी मरुदेवी से इनका जन्म हुआ। आप जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धारी थे। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद जब बिना बोये उपजने वाली धान का उपजना भी बन्द हो गया तब लोग भूख-प्यास से व्याकुल हो श्री नाभिराज के पास पहुँचे। नाभिराज शरणागत लोगों को श्री वृषभदेव के पास ले गये। लोगों की करुणदशा देख उनकी अन्तरात्मा द्रवीभूत हो गयी। उन्होंने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की व्यवस्था जानकर यहाँ भी भरतक्षेत्र में असि, मषी, कृषि, विद्या, वाणिज्य, और शिल्प-इन षट्कर्मों का उपदेश कर उस युग की व्यवस्था को सुखदायक बनाया।

पिता नाभिराज के आग्रह से उन्होंने कच्छ एवं महाकच्छ राजाओं की बहनों-यशस्वती और सुनन्दा के साथ विवाह किया। उन्हें यशस्वती से भरत आदि सौ पुत्र तथा ब्राह्मी नामक पुत्री की प्राप्ति हुई और सुनन्दा से बाहुबली पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री की उपलब्धि हुई। गार्हस्थ धर्म का निर्वाह किया। जीवन के अन्त में उन्होंने प्रव्रज्या-गृहत्याग कर तपस्या करते हुए कैवल्य प्राप्त किया तथा संसार-सागर से पार करनेवाला पारमार्थिक (मोक्षमार्ग का) उपदेश दिया। तृतीय काल में जब तीन वर्ष आठ माह और १५ दिन बाकी थे, तब कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया।

(२) उत्तरपुराण

पहले कहा जा चुका है कि महापुराण का पूर्वार्द्ध आदिपुराण तथा उत्तरपुराण उत्तर भाग है। उत्तरपुराण में द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक २३ तीर्थंकरों, भरत को छोड़कर शेष ११ चक्रवर्तियों, ६ बलभद्रों, ६ नारायणों और ६ प्रतिनारायणों का चरित्र चित्रण है। यह ४३ वें पर्व के चौथे श्लोक से लेकर ४७वें पर्व तक गुणभद्राचार्य के द्वारा रचित है। गुणभद्राचार्य ने प्रारम्भ में अपने गुरु जिनसेनाचार्य के प्रति जो श्रद्धा-सुमन प्रकट किये हैं वे बड़े मर्मस्पर्शी हैं। आठवें, सोलहवें, बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकरों को छोड़कर अन्य तीर्थंकरों के चरित्र यद्यपि अत्यन्त संक्षेप में लिखे गये हैं, परन्तु वर्णन शैली की मधुरता से वह संक्षेप भी रुचिकर प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में न केवल पौराणिक कथानक ही है किन्तु कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जिनमें सिद्धान्त की दृष्टि से सम्यग्दर्शनादि का और दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि कर्तृत्व आदि विषयों का भी विशेष विवेचन हुआ है।

इसकी रचना वङ्कापुर में हुई थी। यह वंकापुर स्व० पं० भुजबली शास्त्री के उल्लेखानुसार पूना, बेंगलूर रेलवे लाइन में हरिहर स्टेशन के समीप वर्ती हावेरी रेलवे

जंक्शन से १५ मील पर धारवाड़ जिले में है। वहाँ शक संवत् ८१६ में गुणभद्राचार्य ने इसे पूरा किया थ। आदिपुराण में जिनसेनाचार्य ने ६७ और उत्तरपुराण में गुणभद्राचार्य ने १६ संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया है। ३२ अक्षर वाले अनुष्टुप् श्लोक की अपेक्षा आदिपुराण और उत्तरपुराण का ग्रन्थ परिमाण बीस हजार के लगभग है। उत्तरपुराण की प्रस्तावना में इसका परिमाण स्पष्ट किया है।

शलाकापुरुषों के सिवाय उत्तर पुराण में लोकप्रिय जीवन्धर स्वामी का भी चरित्र दिया गया है। अन्त में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का वर्णन एवं महावीर स्वामी की शिष्य-परम्परा का भी वर्णन विशेष ज्ञातव्य है।

उत्तरपुराण के भी सुसम्पादित एवं सानुवाद तीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित हो चुके हैं। इसके भी संपादक और अनुवादक डा० (पं०) पन्नालाल साहित्याचार्य सागर हैं, जो स्वयं इस लेख के लेखक हैं।

आचार्य जिनसेन और गुणभद्र : एक परिचय

ये दोनों ही आचार्य उस पञ्चस्तूप नामक अन्वय में हुए हैं जो आगे चलकर सेनान्वय का सेनसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जिनसेन स्वामी के गुरु वीरसेन ने भी अपना वंश पञ्चस्तूपान्वय ही लिखा है। परन्तु गुणभद्राचार्य ने सेनान्वय लिखा है। इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि जो मुनि पंचस्तूप निवास से आये उनमें से किन्हीं को सेन और किन्हीं को भद्र नाम दिया गया। तथा कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि जो गुहाओं से आये उन्हें नन्दी, जो अशोक वन से आये उन्हें देव और जो पंचस्तूप से आये उन्हें सेन नाम दिया गया। श्रुतावतार के उक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि सेनान्त और भद्रान्त नाम वाले मुनियों का समूह ही आगे चलकर सेनान्वय या सेना संघ से प्रसिद्ध हुआ है।

जिनसेनाचार्य सिद्धान्तशास्त्रों के महान् ज्ञाता थे। इन्होंने कषायप्राभृत पर ४० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी है। आचार्य वीरसेन स्वामी उस पर २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिख पाये थे और वे दिवंगत हो गये थे। तब उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसे पूर्ण किया।

संस्कृत महाकाव्य जगत् में इनका यह "पार्श्वाभ्युदयमहाकाव्य" एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें समस्यापूर्ति के रूप में महाकवि कालिदास के समग्र मेघदूत को बड़ी कुशलता से समाहित करके २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र चित्रण किया गया है और अपनी विलक्षण प्रतिभा का दिग्दर्शन किया गया है।

पुराणजगत् में आचार्य जिनसेन का आदिपुराण और उनके साक्षात् शिष्य आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण-ये दोनों अत्यन्त प्रसिद्ध पुराण-ग्रन्थ हैं। गुणभद्र की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियों में आत्मानुशासन और जिनदत्तचरित्र विशेष उल्लेखनीय एवं विश्रुत हैं।

हरिवंशपुराण

आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन से भिन्न पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन का हरिवंश पुराण दिगम्बर सम्प्रदाय के कथा साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह विषय-विवेचना की अपेक्षा तो विशेषता रखता ही है, प्राचीनता की अपेक्षा भी संस्कृत कथाग्रन्थों में इसका तीसरा स्थान ठहरता है। पहला रविषेणाचार्य का पद्मपुराण, दूसरा जटासिंहनन्दि का वरांगचरित और तीसरा जिनसेन का यह हरिवंशपुराण है। हरिवंशपुराण और महापुराण दोनों को देखने के बाद ऐसा लगता है कि महापुराणकार ने हरिवंशपुराण को देखने के बाद उसकी रचना की है। हरिवंशपुराण में तीन लोकों का, संगीत का तथा व्रत विधान आदि का जो बीच-बीच में विराट वर्णन किया गया है उससे कथा के सौन्दर्य की हानि हुई है। इसलिये महापुराण में उन सबके विस्तृत वर्णन को छोड़कर प्रसंगोपात्त संक्षिप्त ही वर्णन किया गया है। काव्योचित भाषा तथा अलंकार की विच्छित्ति भी हरिवंश की अपेक्षा महापुराण में अत्यन्त परिष्कृत है।

हरिवंशपुराण का आधार

जिस प्रकार सेनसंघीय जिनसेन के महापुराण का आधार परमेष्ठी कवि का "वागर्थसंग्रह" पुराण है, उसी प्रकार हरिवंश का आधार भी कुछ-न-कुछ अवश्य रहा होगा। हरिवंश के कर्ता जिनसेन ने प्रकृत ग्रन्थ के अन्तिम सर्ग में भगवान् महावीर से लेकर ६८३ वर्ष तक की और उसके बाद अपने समय तक की विस्तृत अविच्छिन्न परम्परा की लेखा दी है उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके गुरु कीर्तिषेण थे और संभवतया हरिवंश की कथावस्तु उन्हें उनसे प्राप्त हुई होगी।

वर्णनशैली को देखते हुए ऐसा लगता है कि जिनसेन ने रविषेण के पद्मपुराण को अच्छी तरह देखा है। पद्यमय ग्रन्थों में गद्य का उपयोग अन्यत्र देखने में नहीं आया। परन्तु जिस प्रकार रविषेण ने पद्मपुराण में वृत्तानुबन्धी गद्य का उपयोग किया है उसी प्रकार जिनसेन ने भी हरिवंश के ४९वें नेमि जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए वृत्तानुबन्धीगद्य का उपयोग किया है। हरिवंश का लोकविभाग एवं शलाकापुरुषों का वर्णन आचार्य यतिवृषभ की "तिलोयपण्णत्ती" से मेल खाता है। द्वादशांग का वर्णन तत्त्वार्थवार्तिक के अनुरूप है, संगीत का वर्णन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से अनुप्राणित है और तत्त्वों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र तथा सर्वार्थसिद्धि के अनुकूल है। इससे जान पड़ता है कि आचार्य जिनसेन ने उन सब ग्रन्थों का अच्छी तरह आलेख किया है। तत्तत् प्रकरणों में दिये गये तुलनात्मक टिप्पणों से उक्त बात का निर्णय सुगम है। हाँ, क्रमविधान, समवसरण तथा जिनेन्द्र विहार किससे अनुप्राणित है, यह निर्णय मैं नहीं कर सका।

हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन

हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन पुन्नाट संघ के थे। ये महापुराण के कर्ता जिनसेन से भिन्न हैं। इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण और दादा गुरु का नाम जिनसेन था। महापुराण के कर्ता जिनसेन के गुरु वीरसेन और दादा गुरु आर्यनन्दी थे। पुन्नाट कर्णाटक का प्राचीन नाम है। इसलिये इस देश के मुनि संघ का नाम पुन्नाट संघ था। जिनसेन के जन्म स्थान, माता-पिता तथा प्रारम्भिक जीवन के कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। गृहविरत पुरुष के लिये इन सबके उल्लेख की आवश्यकता भी नहीं है।

हरिवंशपुराण का रचना स्थान और समय

हरिवंशपुराण की रचना का प्रारम्भ वर्धमानपुर में हुआ और समाप्ति दोस्तटिका के शान्तिनाथ जिनालय में हुई। यह वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र का प्रसिद्ध शहर वडवाण जान पड़ता है। वडवाण से गिरिनगर को जानेवाले मार्ग में "दोत्ताडि" स्थान है। वही "दोस्ताडिका" है। हरिवंशपुराण के ६६वें सर्ग के ५२ और ५३ श्लोक में कहा गया है कि शक-संवत् ७०५ में, जब कि उत्तर दिशा की इन्द्रायुध, दक्षिण दिशा की कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व की अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिम की वीर जयवराह रक्षा करता था तब अनेक कल्याणों अथवा पुर के पार्श्वजिनालय में जो कि नन्नराज वसति के नाम से प्रसिद्ध था, यह ग्रन्थ पहले प्रारम्भ किया गया और पीछे चलकर दोस्तटिका की प्रजा के द्वारा उत्पादित प्रकृष्ट पूजा से युक्त शान्तिजिनेन्द्र के शान्तिपूर्ण गृह मन्दिर में रचा गया।

हरिवंशपुराण की कथावस्तु

हरिवंशपुराण में पुन्नाट संघीय जिनसेनाचार्य प्रधान रूप से बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान् का चरित्र लिखना चाहते थे। परन्तु प्रसंगोपात्त अन्य कथानक भी इसमें लिखे गये हैं। भगवान नेमिनाथ का जीवन आदर्श त्याग का जीवन है। वे हरिवंश-गगन के प्रकाशमान सूर्य थे। भगवान् नेमिनाथ के साथ उनके वंशज नारायण और बलभद्र पद के धारक श्रीकृष्ण तथा बलराम के भी कौतुकी वह चरित इसमें अंकित है। पाण्डवों और कौरवों का लोकप्रिय चरित इसमें बड़ी सुन्दरता के साथ अंकित किया गया है। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र भी इसमें अपना पृथक् स्थान रखता है और बड़ा मार्मिक है।

४. पद्मपुराण

संस्कृत-साहित्य, सागर के समान विशाल है। जिस प्रकार सागर के भीतर अगणित रत्न विद्यमान हैं उसी प्रकार संस्कृत साहित्य सागर में पुराण, काव्य, न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त, दर्शन, नाटक, ज्योतिष और आयुर्वेद आदि रत्न विद्यमान हैं। प्राचीन संस्कृत-साहित्य

में ऐसा कोई विषय नहीं है, जिस पर किसी ने कुछ न लिखा हो। वैदिक संस्कृत साहित्य तो विशालतम है ही, परन्तु जैन संस्कृत-साहित्य भी उसके अनुपात में अल्प प्रमाण होने पर भी उच्च कोटि का है। जैन साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें वस्तु स्वरूप का वर्णन काल्पनिक नहीं है और इसीलिये वह प्राणी मात्र का कल्याणकारी है।

रामकथा-साहित्य

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र इतने अधिक लोकप्रिय हुए हैं कि उनका वर्णन न केवल भारतीय-साहित्य में हुआ है अपितु भारतेतर देशों के साहित्य में भी सम्मान के साथ हुआ है। भारतीय साहित्य में जैन, वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी वह समान रूप से उपलब्ध है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं एवं प्रान्तीय विविध भाषाओं में इसके ऊपर उच्च कोटि के ग्रन्थ विद्यमान हैं। इस पर पुराण, काव्य-महाकाव्य, नाटक-उपनाटक आदि भी अच्छी संख्या में उपलब्ध हैं। जिस किसी लेखक ने रामकथा का आश्रय लिया उसके नीरस वचनों में भी रामकथा ने जान डाल दी।

जैन रामकथा के दो रूप

जैन साहित्य में रामकथा की दो धाराएँ उपलब्ध हैं-एक विमलसूरि के प्राकृत ''पउमचरिय'' और रविषेण के संस्कृत पद्मचरित की तथा दूसरी गुणभद्र के ''उत्तरपुराण'' की। यहाँ हम वीर निर्वाण संवत् १२०४ अथवा विक्रम संवत् ७३४ में रविषेणाचार्य के द्वारा विरचित पद्मपुराण (पद्मचरित) की चर्चा कर रहे हैं। ध्यातव्य है कि जैन परम्परा में मर्यादा पुरुषोत्तम राम की मान्यता त्रेसठ शलाकापुरुषों में है। उनका एक नाम पद्म भी था। जैनपुराणों एवं चरित काव्यों में यही नाम अधिक प्रचलित रहा है। जैन काव्यकारों ने राम का चरित्र पउमचरिउ, पउमचरियं, पद्मपुराण, पद्मचरित आदि अनेक नामों से अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं में प्रस्तुत किया है।

आचार्य रविषेण का प्रस्तुत पद्मपुराण संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट चरित प्रधान महाकाव्यों में परिगणित है। पुराण होकर भी काव्यकला, मनोविश्लेषण, चरित्रचित्रण आदि में यह इतना अद्भुत है कि इसकी तुलना अन्य किसी पुराण से नहीं की जा सकती। काव्य लालित्य इसमें इतना है कि कवि भी अन्तर्वाणी के रूप में मानस-हिम-कन्दरा से विस्तृत यह काव्यधारा मानो साक्षात् मन्दाकिनी ही है।

विषयवस्तु की दृष्टि से कवि ने मुख्य कथानक के साथ-साथ विद्याधर लोक, अंजनापवनंजय, सुकुमाल, सुकौशल आदि राम समकालीन महापुरुषों का भी चित्रण किया है। उससे इसकी रोचकता इतनी बढ़ गई है कि एक बार पढ़ना प्रारम्भ कर छोड़ने की इच्छा नहीं होगी। पद्मचरित में वर्णित कथा निम्नांकित छह विभागों में विभाजित की गई

है-१. विद्याधर काण्ड, २. राक्षस तथा वानर वंश का वर्णन, ३. राम और सीता का जन्म तथा विवाह, ४. वनभ्रमण, ५. सीता हरण और खोज, ५. युद्ध और ६. उत्तरचरित। इनका संक्षिप्त कथासार इस प्रकार है।

१. विद्याधर काण्ड

राजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने प्रारम्भ में विद्याधर, लोक, राक्षस वंश, वानर वंश और रावण की वंशावली का वर्णन किया है। राक्षसवंश के राजा रत्नश्रवा और केकसी के चार संतानें थीं -१. रावण, २. कुम्भकरण, ३. चन्द्रनखा और ४. विभीषण। जब रत्नश्रवा ने पहले-पहल रावण को देखा तो शिशु रावण के हार में रावण के दस शिर प्रतिबिम्बित दिखे। इसलिये उसका दशानन या दशग्रीव नाम रखा गया । अपने मौसेरे भाई का विभव देखकर रावण आदि भाई विद्याएँ सिद्ध करने के लिए जाते हैं और रावण अनेक विद्याएँ सिद्ध कर लौटता है। इसके बाद रावण मन्दोदरी आदि कन्याओं के साथ विवाह करता है और दिग्विजय में इन्द्रादि अनेक राजाओं को परास्त करता है। इस दिग्विजय-वर्णन में इन्द्र, यम, वरुण आदि देवता न होकर साधारण विद्याधर राजा थे।

विजययात्रा में रावण ने नलकूबर की स्त्री का प्रेम प्रस्ताव ठुकराकर अपने आपको बहुत ऊँचे उठाया और केवली भगवान् जिनेन्द्र का उपदेश सुनकर प्रतिज्ञा करता है कि मैं उस पर नारी का उपभोग नहीं करूँगा, जो मुझे स्वयं नहीं चाहेगी। रावण इन्द्र का अहंकार चूर करता है। बालि का अहंकार रावण के आक्रमण से वैराग्य रूप में परिणत हो जाता है जिससे बालि विरक्त होकर दिगम्बरी दीक्षा ले लेता है और रावण-सुग्रीव को राजा बना देता है। हनुमान की यथार्थ उत्पत्ति और बाल-चेष्टायें सबको चकित कर देती है। हनुमान रावण की ओर से वरुण के विरुद्ध युद्ध करके चन्द्रबखा की पुत्री अनंगकुसुमा के साथ विवाह करता है। खरदूषण रावण की बहिन चन्द्रनखा से विवाह करता है। आगे दोनों से शम्बूक की उत्पत्ति होती है।

२. राम और सीता विवाह

इस प्रकरण में दशरथ तथा जनक की वंशावली के बाद प्रारंभ में दशरथ की तीन पत्नियों का उल्लेख है - १. कौशल्या, २. सुमित्रा और ३. सुप्रभा। एक दिन रावण को किसी से विदित हुआ कि मेरी मृत्यु राजा दशरथ और जनक की संतानों से होगी। तब रावण ने अपने भाई विभीषण को इनका वध करने के लिये भेजा। पर विभीषण के आने के पहले ही नारद ने इन दोनों राजाओं को सचेत कर दिया, जिससे वे अपने महलों में अपने शरीर के अनुरूप पुतले छोड़कर बाहर निकल जाते हैं। विभीषण पुतलों को ही

सचमुच का राजा समझ मारकर तथा शिर को लवण समुद्र में फेंक हमेशा के लिये निश्चिन्त हो जाता है। परदेश भ्रमण के समय राजा दशरथ कैकयी के स्वयंवर में पहुँचते हैं। कैकयी दशरथ के गले में माला डालती है, इस पर अन्य राजा बिगड़ उठते हैं। फलस्वरूप उनके साथ दशरथ का युद्ध होता है।

कैकयी वीरांगना थी, इसलिये स्वयं दशरथ का रथ चलाती थी। राजा दशरथ अपने पराक्रम और कैकयी की चातुरी से युद्ध में विजयी होते हैं तथा अयोध्या में वापस आकर राज्य करने लगते हैं। कैकयी की चतुराई से प्रसन्न होकर राजा दशरथ ने उसे मनचाहा वर माँगने को कहा और उसके वर को राज्यभाण्डार में सुरक्षित करा दिया। कैकयी समेत राजा दशरथ की चार रानियाँ हो जाती हैं। उनसे उनके चार पुत्र हुए। कौशल्या से राम, इन्हीं का दूसरा नाम पद्म था, सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न।

राजा जनक की विदेहा रानी के एक पुत्री सीता और एक पुत्र भामण्डल हुआ। उत्पन्न होते ही प्रसूति गृह से एक पूर्वभव का बैरी भामण्डल का अपहरण कर लेता है। अपहरण के बाद भामण्डल एक विद्याधर को प्राप्त होता है। उसी के यहाँ उसका लालन-पालन होता है। नारद की कृपा से सीता का चित्रपट देखकर भामण्डल का उसके प्रति अनुराग बढ़ता है। छल से जनक को विद्याधर लोक में बुलाया जाता है। भामण्डल के पिता विद्याधर के आग्रह करने पर भी जनक भामण्डल के लिये पुत्री देना स्वीकार नहीं करता है क्योंकि वह पहले राजा दशरथ के पुत्र राम को देना स्वीकृत कर चुका था। निदान विद्याधर ने शर्त रखी कि यदि राम यह वज्रावर्त धनुष चढ़ा देते हैं तो सीता उन्हें प्राप्त होगी, अन्यथा हम अपने पुत्र के लिये बलात् छीन लेंगे। विवश होकर जनक ने यह शर्त स्वीकृत कर ली। स्वयंवर हुआ और राम ने उस धनुष को चढ़ा दिया। सीता के साथ राम का विवाह हुआ। दशरथ संसार से विरक्त हो जब राम को राज्य देने लगे तब कैकयी ने राजभाण्डार में सुरक्षित वर माँगकर भरत को राज्य देने की मांग की। यह सुनकर राम, लक्ष्मण और सीता के साथ दक्षिण दिशा की ओर चले गये। बीच में उन्होंने कितने ही भ्रष्ट राजाओं का उद्धार किया। कैकयी और भरत वन में जाकर राम से वापिस चलने का अनुरोध करते हैं, पर सब व्यर्थ होता है।

३. वनभ्रमण

इसमें राम-लक्ष्मण के अनेक युद्धों का वर्णन है। कहीं वज्रकर्ण को सिंहोदर के चक्र से बचाते हैं तो वालखिल्य को म्लेच्छ राजा के कारागृह से उन्मुक्त कराते हैं। कभी नर्तकी का रूप रखकर भरत के विरोध में खड़े हुए राजा अतिवीर्य का मानमर्दन करते हैं। इसी बीच में लक्ष्मण जगह-जगह राजकन्याओं के साथ विवाह करते हैं। दण्डक वन में वास करते हैं, मुनियों को आहार देते हैं तथा जटायु से संपर्क प्राप्त करते हैं।

४. सीता-हरण और खोज

चन्द्रनखा तथा खरदूषण का पुत्र शम्बूक सूर्यहास खड्ग की सिद्धि के लिये बारह वर्ष तक बांस के भिड़े में बैठकर तपस्या करता है। उसकी साधना स्वरूप उसे खड्ग प्रकट हुआ। लक्ष्मण संयोगवश वहाँ पहुँचते हैं और शम्बूक के पहले ही उस खड्ग को हाथ में लेकर उसकी परीक्षा करने के लिये उसी बांस के भिड़े पर चलाते हैं जिसमें शम्बूक बैठा था, फलतः शम्बूक मर हाता है। जब चन्द्रनखा भोजन देने के लिये उसके पास आयी तब उसकी मृत्यु देख बहुत विलाप करती है। निदान, वह राम-लक्ष्मण को देख उन पर मोहित होकर प्रेम प्रस्ताव करती है। पर जब उसे सफलता नहीं मिली तब वापस लौट पति से पुत्र के मरने का समाचार सुनाती है।

खरदूषण के साथ लक्ष्मण का युद्ध होता है। खरदूषण के आह्वान पर रावण भी उसकी सहायता के लिये आता है। बीच में सीता को देख मोहित होता है और उसके अपहरण का उपाय सोचता है। वह विद्या बल से जान लेता है कि लक्ष्मण ने राम को सहायतार्थ बुलाने के लिये सिंहनाद का संकेत बनाया है। अतः रावण प्रपंचपूर्ण सिंहनाद से राम को लक्ष्मण के पास भेज देता है और सीता को अकेली देख हर ले जाता है।

सीता हरण के बाद राम बहुत दुःखी होते हैं। सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता होती है। एक साहसगति नाम का विद्याधर सुग्रीव का मायामय रूप बनाकर सुग्रीव की पत्नी तथा राज्य पर अधिकार करना चाहता है। राम उसे मारते हैं, जिससे सुगीव अपनी पत्नी और राज्य पाकर राम का भक्त हो जाता है। सुग्रीव की आज्ञा से विद्याधर सीता की खोज करते हैं। रत्नजटी विद्याधर ने बताया कि सीता का हरण रावण ने किया है। रावण बड़ा बलवान था इसलिये सुग्रीव आदि विद्याधर उससे मुंह करने के लिये पीछे हटते हैं। पर उन्हें अनन्तवीर्य केवली की वचन याद आते हैं कि जो कोई कोटिशिला को उठावेगा उसी के हाथ से रावण का मरण होगा। लक्ष्मण ने कोटिशिला उठाकर अपनी परीक्षा दी, जिससे सुग्रीव आदि को विश्वास हो गया। तब सबके सब वानरवंशी विद्याधर रावण के विरुद्ध राम के पक्ष में खड़े हो गये। पवनंजय के पुत्र हनुमान राम का संवाद लेकर सीता के पास जाते हैं और सीता का संदेश लाकर राम के पास आते हैं।

५. युद्ध

सुग्रीव आदि विद्याधरों की सहायता से राम की रामरूप सेना लंका पहुँचती है। रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करता है। हनुमान आदि उसकी विद्यासिद्धि में बाधा डालने का प्रयत्न करते हैं। पर रावण अपनी दृढ़ता से विचलित नहीं होता और विद्या सिद्ध कर ही उठता है। विभीषण से रावण का संघर्ष होता है। फलतः विभीषण रावण का साथ छोड़कर राम से आ मिलता है। राम, विभीषण को लंका का राजा बनाने का संकल्प करते हैं। दोनों

ओर से घमासान युद्ध होता है। लक्ष्मण को शक्ति लगती है पर विशल्या के स्नान जल से वह ठीक हो जाता है। विशल्या के साथ लक्ष्मण का अनुराग दृढ़ होता है। अन्त में रावण लक्ष्मण पर चक्र चलाता है पर वह प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के हाथ में आ जाता है और लक्ष्मण उसी चक्र से रावण का काम समाप्त करते हैं। लक्ष्मण प्रतिनारायण रावण का वध कर नारायण के रूप में प्रकट होते हैं।

६. उत्तरचरित

राम और लक्ष्मण तथा सीता लंका से अयोध्या लौट आते हैं। राम अयोध्या में राज्य करने लगते हैं। भरत विरक्त हो दीक्षा ले लेते हैं। शत्रुघ्न मथुरा के राजा हो जाते हैं। लोकापवाद से त्रस्त होकर राम गर्भवती सीता को वन में छुड़वा देते हैं। सीता राजा वज्रजंघ के आश्रम में रहती हैं। वहीं उसके लवण और अंकुश नामक दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। बड़े होने पर लवण और अंकुश राम लक्ष्मण से युद्ध करते हैं। अन्त में नारद के निवेदन पर पिता-पुत्रों में मिलाप होता है। हनुमान तथा सुग्रीव आदि के कहने पर राम सीता को बुलाते हैं।

सीता अग्नि-परीक्षा देती है और उसके बाद दीक्षा ग्रहणकर आर्यिका हो जाती है। तथा सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र होती है। किसी दिन दो देव नारायण और बलभद्र का स्नेह परखने के लिये आते हैं और झूठमूठ ही लक्ष्मण से कहते हैं राम का देहान्त हो गया। उनकी बात सुनते ही लक्ष्मण की मृत्यु हो जाती है। भाई के स्नेह से विवश हो राम छह माह तक लक्ष्मण का शव लिये फिरते हैं। अन्त में कृतान्त सेनापति का जीव जो देव हुआ था, उसकी चेष्टा से वस्तुस्थिति को समझ लक्ष्मण की अन्त्येष्टि करते हैं और स्वयं तपश्चर्या कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

रविषेणाचार्य

पद्मपुराण के रचयिता आचार्य रविषेण हैं, इन्होंने अपने किसी संघ या गण, गच्छ का कोई उल्लेख नहीं किया और न स्थानादि की ही चर्चा की है। परन्तु सेनान्त नाम से अनुमान होता है कि सम्भवतः ये सेन संघ के होंगे। इनकी गुरु परम्परा के पूरे नाम इन्द्रसेन, दिवाकरसेन, आर्हत्सेन, और लक्ष्मणसेन है। इन्होंने इसी पद्मपुराण के १२३वें पर्व के १६वें श्लोक के उत्तरार्ध में अपनी गुरु परम्परा का समुल्लेख इस प्रकार किया है -

आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि-
स्तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तुस्मृतः।।

अर्थात् इन्द्रगुरु के दिवाकर यति, दिवाकरयति के अर्हन्मुनि, अर्हन्मुनि के लक्ष्मणसेन और लक्ष्मणसेन का यह मैं रविषेण शिष्य हुआ।

ग्रन्थ समाप्ति का उल्लेख १२८वें पर्व के १८१वें श्लोक में इस प्रकार किया गया है-

द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्।। १८१।।

अर्थात् जिनसूर्य भगवान् महावीर के निर्वाण होने के बाद १२०३ वर्ष ६ माह बीत जाने पर पद्ममुनि का यह चरित निबद्ध हुआ। अर्थात् इसकी रचना विक्रम संवत् ७३४ में हुई है। उत्तरवर्ती उद्योतनसूरि (वि० सं० ८३५), वरांगचरित के कर्ता जटिलमुनि (जटासिंहनन्दि) वि० सं० ८वीं शती ने रविषेण का स्मरण किया है। इसी प्रकार हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन (वि० सं० ८४०) ने भी हरिवंशपुराण में इनका विशेष स्मरण किया है।

पद्मपुराण के आधार की चर्चा करते हुए रविषेण ने प्रथम पर्व के ४१-४२वें श्लोक में इस प्रकार उल्लेख किया है :-

वर्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरम्।
इन्द्रभूतिं परिप्राप्तः सुधर्मं धारिणीभवम्।। १४१।।
प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनुत्तरवाग्मिनम्।
लिखितं तस्य संप्राप्य खेर्यत्नोऽयमुद्गतः।। १४२।।

अर्थात् श्री वर्धमान नामक गौतम गणधर द्वारा कहा हुआ यह अर्थ (रामचरित) इन्द्रमुनि नामक गौतम गणधर से प्राप्त हुआ, फिर धारिणी के पुत्र सुधर्माचार्य को, फिर प्रभव को और फिर अनुत्तर वाग्मीश्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ। तदनन्तर उनका लिखा प्राप्त कर यह रविषेण का प्रयत्न प्रकट हुआ है।

ग्रन्थान्त में १२३९वें पर्व के १६६वें श्लोक में भी इन्होंने इसी प्रकार का उल्लेख किया है:-

निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनैः श्रीवर्धमानेन यत्
तत्त्वं वासवभूतिना निगदितं जम्बोः प्रशिष्याय तत्।
शिष्येणोत्तर वाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः
श्रेयः साधुसमाधिवृद्धिकरणं सर्वोत्तमं मङ्गलम्।। १६६।।

अर्थात् समस्त संसार के द्वारा नमस्कृत श्री वर्धमान जिनेन्द्र ने पद्ममुनि का जो चरित्र कहा था वही इन्द्रभूति गौतम गणधर ने सुधर्मा और जम्बू स्वामी के लिये कहा। वही आगे चलकर उनके शिष्य उत्तरवाग्मी-श्रेष्ठवक्ता श्रीकीर्तिधर मुनि के द्वारा प्रकट हुआ। पद्ममुनि का यह चरित कल्याण तथा साधुसमाधि की वृद्धि का कारण है और सर्वोत्तम मंगलरूप है।

५. शान्तिनाथ पुराण

शान्ति-पुराण असगकवि की श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके १६ सर्गों में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का पावन चरित्र अंकित किया गया है। प्रारम्भ में बारह सर्गों में उनके पूर्वभवों का वर्णन है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि खान से निकला स्वर्ण पाषाण कितनी आंच सहकर खरा सोना बनता है। विदेह क्षेत्रस्थ वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी का राजा स्तिमित सागर अन्त में शान्तिनाथ तीर्थंकर होकर मोक्ष को प्राप्त हुआ। शान्तिनाथ तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव इन तीन पदों के धारक थे। इनका जीवन चरित वैराग्यवर्धक एवं शान्तिदायक है।

असग कवि ने अपनी प्रथम रचना **वर्धमान-चरित** के बाद इस शान्तिपुराण की रचना की थी। जैसा कि ग्रन्थान्त में दी हुई प्रशस्ति के ७वें श्लोक से प्रकट होता है-

चरितं विरचय्य सन्मतीय सदलंकारविचित्रवृत्तबन्धम्।
स पुराणमिदं व्यधत्त शान्तेरसगः साधुजनप्रमोहशान्त्यै।।

कविवर असग ने वि० सं० ६१० में अपना **महावीरचरित** रचा था और उसके पश्चात् शान्तिनाथपुराण लिखा है। ऐसा प्रशस्ति से स्पष्ट अवगत होता है।

•

संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

द्वादश खण्ड

जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन

बौद्ध-दर्शन

सम्पादक

आचार्य रामशंकर त्रिपाठी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

जीवन-वृत्त

प्रो. रामशंकर त्रिपाठी

भूतपूर्व संकायाध्यक्ष, श्रमणविद्यासंकाय/अध्यक्ष बौद्ध दर्शन विभाग सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सम्प्रतिः-सम्मानित शोध आचार्य विलुप्त मूल संस्कृत ग्रन्थों का भोट संस्कृत में पुनरुद्धार योजना केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ।

शिक्षा : पालि, संस्कृत बौद्ध धर्म एवं दर्शन का परम्परागत ढंग से अध्ययन वाचस्पति (डी.लिट्)

पुरस्कार : राष्ट्रपति सम्मान, विशिष्ट पुरस्कार एवं कालिदास, (नामित) पुरस्कार, संस्कृत संस्थान द्वारा, वेमन शर्मा एवं विशिष्ट सम्मान आदि। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन आदि में विशिष्ट व्याख्यान, वार्ताएं। शताधिक शोध निबन्ध प्रकाशित, अमेरिका जापान थाईलैण्ड, श्रीलंका नेपाल आदि देशों की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक यात्रायें।

रचनायें : अभिधम्मत्थसंगहो (पालि) विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि (महायान ग्रन्थ) अभिसमयालंकारवृत्तिः स्फुटार्थाः, रत्नावली, त्रिस्वभावनिर्देश बोधिचर्यावतार, बौद्धसिद्धान्तसार जैसे ३६ ग्रन्थों का लेखन सम्पादन।

पत्राचार : तुषिता, प्लाट नं.-२/५५ आशापुर, सारनाथ, वाराणसी- २२१००७

दूरभाष : २५६५८७२ (आवास)

भूमिका

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित होने पर भी बौद्ध दर्शन कोई एक दर्शन नहीं, अपितु दर्शनों का समूह है। कुछ बातों में विचारसाम्य होने पर भी परस्पर अत्यन्त मतभेद हैं। शब्दसाम्य होने पर भी अर्थभेद अधिक हैं। अनेक शाखोपशाखाओं में विभक्त होने पर भी दार्शनिक मान्यताओं में साम्य की दृष्टि से बौद्ध विचारों का चार विभागों में वर्गीकरण किया गया है, यथा-वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक। यद्यपि अठारह निकायों का वैभाषिक दर्शन में संग्रह हो जाता है और अठारह निकायों में स्थविरवाद भी संगृहीत है, फिर भी उसका संक्षेप में अलग से वर्णन अपेक्षित है।

जागतिक विविध दुःखों के दर्शन से तथागत शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध में सर्वप्रथम महाकरुणा का उत्पाद हुआ। तदनन्तर उस महाकरुणा से प्रेरित होने की वजह से 'मैं इन दुःखी प्राणियों को दुःख से मुक्त करने और उन्हें सुख से अन्वित करने का भार अपने कन्धों पर लेता हूँ और इसके लिए बुद्धत्व प्राप्त करूंगा'-इस प्रकार का उनमें बोधिचित्त उत्पन्न हुआ। इसके बाद उन्होंने अनन्त काल तक अनेक जन्मों में छह या दस पारमिताओं की साधना द्वारा अनन्त पुण्य और ज्ञान सम्भार का अर्जन किया। उन पुण्य और ज्ञान सम्भारों द्वारा उन्होंने समस्त क्लेश और ज्ञेय आवरणों का समूल प्रहाण कर सम्यक् सम्बुद्धत्व प्राप्त किया। तदनन्तर विभिन्न रुचि, अध्याशय, इन्द्रिय और क्षमता वाले विनेय जनों के कल्याण के लिए उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने उनकी पात्रता के अनुसार विभिन्न प्रकार की देशनाएं कीं। अनेक धर्मचक्रों का प्रवर्तन किया।

उनकी देशनाएं तीन पिटकों और तीन यानों में विभक्त की जाती हैं। सूत्र, विनय और अभिधर्म-ये तीन पिटक हैं तथा श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान-ये तीन यान हैं। श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान को हीनयान और बोधिसत्त्वयान को महायान कहते हैं।

श्रावकयान-जो विनेय जन दुःखमय संसार-सागर को देखकर तथा उससे उद्विग्न होकर तत्काल उससे मुक्ति की अभिलाषा तो रखते हैं, किन्तु तात्कालिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के हित और सुख के लिए सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति का अध्याशय (इच्छा) नहीं रखते-ऐसे विनेय जन श्रावकयानी कहलाते हैं। उनके लिए प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए भगवान् ने चार आर्यसत्व और उनके अनित्यता आदि सोलह आकारों की देशना की और इनकी भावना करने से पुद्गलनैरात्म्य का साक्षात्कार करके क्लेशावरण का समूल प्रहाण करते हुए अर्हत्त्व की और निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग उपदिष्ट किया।

प्रत्येकबुद्धयान-श्रावक और प्रत्येकबुद्ध के लक्ष्य में भेद नहीं होता। प्रत्येक बुद्ध भी स्वमुक्ति के ही अभिलाषी होते हैं। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध के ज्ञान में और पुण्य संचय

में थोड़ा फर्क अवश्य होता है। प्रत्येकबुद्ध केवल ग्राह्यशून्यता का बोध होता है, ग्राहकशून्यता का नहीं। पुण्य भी श्रावक की अपेक्षा उनमें अधिक होता है। प्रत्येकबुद्ध उस काल में उत्पन्न होते हैं, जिस समय बुद्ध का नाम भी लोक में प्रचलित नहीं होता। वे बिना आचार्य या गुरु के ही, पूर्वजन्मों की स्मृति के आधार पर अपनी साधना प्रारम्भ करते हैं और प्रत्येकबुद्ध-अर्हत्त्व और निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। इनकी यह भी विशेषता है कि ये वाणी के द्वारा धर्मोपदेश नहीं करते तथा संघ बनाकर नहीं रहते। अर्थात् एकाकी विचरण करते हैं।

बोधिसत्त्वयान– जो विनेय जन सम्पूर्ण सत्त्वों के हित और सुख के लिए सम्यक् सम्बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे विनेय जन बोधिसत्त्वयानी कहलाते हैं। उन लोगों के लिए भगवान् ने बोधिचित्त का उत्पाद कर छह या दस पारमिताओं की साधना का उपदेश दिया तथा पुद्गलनैरात्म्य के साथ धर्मनैरात्म्य का भी विभिन्न युक्तियों से प्रतिवेध कर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों के प्रहाण द्वारा सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति के मार्ग का उपदेश किया। इसे महायान भी कहते हैं।

महायान की व्युत्पत्ति- **'यायते अनेनेति यानम्'** अर्थात् जिससे जाया जाता है, यह 'यान' है। इस विग्रह के अनुसार मार्ग, जिससे गन्तव्य स्थान तक जाया जाता है, 'यान' है। अर्थात् यान-शब्द मार्ग का वाचक है। **'यायते अस्मिन्निति यानम्'** अर्थात् जिसमें जाया जाता है, यह भी 'यान' है। इस दूसरे विग्रह के अनुसार 'फल' भी यान कहलाता है। फल ही गन्तव्य स्थान होता है। इस तरह यान-शब्द फलवाचक भी होता है। **'महच्च तद् यानं महायानम्'** अर्थात् वह यान भी है और बड़ा भी है, इसलिए महायान कहलाता है।

महायान का उद्भव एवं विकास

भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जगत् में महायान का उद्भव एक अभूतपूर्व एवं क्रान्तिकारी घटना है। यह बुद्धशासन में एक नूतन परिवर्तन है। महायान के उद्भव से पूर्व बौद्ध, बौद्धेत्तर सभी दर्शनों में मोक्ष या निर्वाण ही परम पुरुषार्थ एवं जीवन का लक्ष्य माना जाता रहा है। पुरुषार्थ चार हैं धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष या दो लक्ष्य अभ्युदय एवं निःश्रेयस माने जाते हैं। इनमें मोक्ष या निःश्रेयस ही सर्वश्रेष्ठ हैं। आत्यन्तिक दुःख-विमुक्ति या सुखावाप्ति ही मोक्ष का स्वरूप है। यह मोक्ष नितान्त व्यक्तिगत होता है।

महायान की विशेषता उसकी लोकपरायणता, समाजोन्मुखता एवं प्राणिसेवा है। एक महायानी प्राणिमात्र को दुःखों से मुक्त एवं सुखों से समन्वित करना चाहता है। इस महान् उद्देश्य के सामने वह व्यक्तिगत मोक्ष को रसहीन एवं तुच्छ समझता है। लोक (संसार) के दोषों से लिप्त न रहते हुए संसार का त्याग न करना, उसका व्रत है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त संसार में रहने को बुरा नहीं समझता। यहाँ तक कि

वह स्वेच्छया नरक में भी जाता है। उसका जन्म कर्म-क्लेशवश नहीं, अपितु स्वेच्छया दूसरों के कल्याण के लिए होता है। वह न तो लोक के दोषों से दूषित होता है और न संसार को छोड़कर निर्वाण में प्रविष्ट होता है, यही अप्रतिष्ठित निर्वाण है और यही उसका लक्ष्य है। भव (संसार) और शम (निर्वाण) दोनों अन्त (कोटियाँ) हैं और महायानी बोधिसत्व इन दोनों का परिवर्तन कर मध्य में अर्थात् अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहता है तथा यही बुद्धत्व भी है।

प्राणि-मात्र को दुःखों से मुक्त करने का संकल्प एक बहुत बड़ी प्रतिज्ञा है। एक व्यक्ति को या अपने परिवार को दुःख से मुक्त करना भी दुःसाध्य होता है, तब समस्त प्राणियों को मुक्त करना तो अत्यन्त कठिन है। अतः बोधिसत्त्व अपने में योग्यता और सामर्थ्य अर्जित करने का प्रयास करता है। पूर्ण योग्यता और पूर्ण सामर्थ्य की अवस्था ही बुद्धत्व है। अतः अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है। बुद्धत्व उसके लिए साध्य नहीं, अपितु साधन है। साध्य तो प्राणि-मात्र की दुःखों से मुक्ति ही है।

बुद्धत्व की प्राप्ति का साधन भी महायान में सत्त्वों के दुःखों के निवारण के लिए आत्मसमर्पण को या लोकसेवा को ही बताया गया है। बुद्धत्व की प्राप्ति महायान का लक्ष्य है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए लोकसेवार्थ अपने को समर्पित करके वह कोई एहसान नहीं करता। जो सत्त्व उसकी सेवा ग्रहण करते हैं, उसके प्रति वह कृतज्ञता का भाव एवं विनम्रता का भाव रखता है कि उसने बुद्धत्व-प्राप्ति की साधना में सहायता की है। इस तरह उस (महायानी) में इस सेवा की वज़ह से न तो अभिमान या उच्चता का भाव पैदा होता है और न सेवा-ग्रहण करने वाले में हीनता का भाव। फलतः बोधिसत्त्व की सेवा अन्य लोगों की सेवा से भिन्न है।

बुद्धत्त्व-प्राप्ति की साधना में संलग्न व्यक्ति बोधिसत्त्व कहलाता है। वे भी बुद्धत्त्व प्राप्ति के प्रति दृष्टिभेद के कारण तीन प्रकार के होते हैं। एक वे हैं, जो सब प्राणियों को दुःख से मुक्त करने के बाद स्वयं बुद्धत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे बोधिसत्त्व को गोप (ग्वाले) के समान बोधिसत्त्व कहते हैं। जैसे गोप सभी पशुओं को गोशाला से निकाल कर अन्त में स्वयं निकलता है और सबको गोशाला में प्रविष्ट करके स्वयं अन्त में प्रवेश करता है। यह बोधिसत्त्व भी उसी प्रकार का है। दूसरे प्रकार के बोधिसत्त्व वे हैं, जो सभी सत्त्वों के साथ-साथ बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे बोधिसत्त्वों को नाविक के समान बोधिसत्त्व कहते हैं। जैसे नाविक नाव में सवार सभी यात्रियों के साथ स्वयं भी नदी पार करता है, उसी प्रकार यह दूसरे प्रकार का बोधिसत्त्व भी है। तीसरे प्रकार के बोधिसत्त्व वे हैं, जो सबसे पहले स्वयं बुद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं और उसके बाद अन्य लोगों को बुद्धत्व-प्राप्ति में सहायता करते हैं। ऐसे बोधिसत्त्व को राजा के समान बोधिसत्त्व कहते हैं। जैसे राजा कहीं प्रस्थान करते हैं तो राजा ही सबसे पहले गन्तव्य स्थल पर पहुँचते हैं और उनके

सचिव आदि उनके बाद में। उसी तरह यह तीसरे प्रकार का बोधिसत्त्व पहले बुद्धत्व प्राप्त करता है। अतः यह राजा की तरह कहा जाता है।

राजा की तरह बोधिसत्त्व का पहले बुद्धत्व प्राप्त करना इसलिए भी आवश्यक है, जिससे कि लोगों में बुद्धत्व के प्रति विश्वास उत्पन्न हो सके। वे यह जान सकें कि बुद्धत्व प्राप्त व्यक्ति कैसा होता है तथा यह भी कि बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है, यह केवल आदर्शमात्र नहीं है। हमारे शाक्यमुनि गौतम बुद्ध इसके उदाहरण हैं। उन्होंने राजा की तरह पहले बुद्धत्व प्राप्त किया है।

हीनयान और महायान–प्रायः कहा जाता है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक दर्शन हीनयानी तथा योगाचार और माध्यमिक महायान दर्शन हैं। इसमें कुछ सत्यांश होने पर भी दर्शन-भेद यान-भेद का नियामक कतई नहीं होता, अपितु उद्देश्य-भेद या जीवनलक्ष्य का भेद ही यानभेद का नियामक होता है। उद्देश्य की अधिक व्यापकता और अल्प व्यापकता ही महायान और हीनयान के भेद का अधार है। यहाँ 'हीन' शब्द का अर्थ 'अल्प' है, न कि तुच्छ, नीच या अधम आदि, जैसा कि आजकल हिन्दी में प्रचलित है। महायान का साधक समस्त प्राणियों को दुःख से मुक्त करके उन्हें निर्वाण या बुद्धत्व प्राप्त कराना चाहता है। वह केवल अपनी ही दुःखों से मुक्ति नहीं चाहता, बल्कि सभी की मुक्ति के लिए व्यक्तिगत निर्वाण से निरपेक्ष रहते हुए अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित होता है। जो व्यक्ति व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करता है, वह भी कोई छोटा नहीं, अपितु महापुरुष होता है। इतना सौभाग्य भी कम लोगों को प्राप्त होता है। बड़े पुण्यों का फल है यह। प्रायः सभी बौद्धेतर दर्शनों का भी अन्तिम लक्ष्य स्वमुक्ति ही है। अतः यह लक्ष्य कम श्रेष्ठ नहीं है, फिर भी अपने निर्वाण को स्थगित करके सभी प्राणि-मात्र को दुःखों से मुक्ति को लक्ष्य बनाना और उसके लिए प्रयास और साधना करना, अवश्य ही अधिक श्रेष्ठ है।

ऊपर कहा गया है कि दर्शनभेद से यानभेद नहीं किया जाता, इसीलिए कतिपय बौद्ध विद्वानों के मतानुसार एक ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है, जिसने पहले महायान में प्रविष्ट होकर धर्मनैरात्म्य का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया हो और बाद में महायान से च्युत होकर हीनयान में प्रविष्ट हो गया हो। ऐसा व्यक्ति हीनयानी होते हुए भी शून्यता को जानने वाले धर्मनैरात्म्यज्ञान से युक्त हो सकता है। क्योंकि वह व्यक्ति यद्यपि बोधिचित्त से भ्रष्ट होने के कारण महायान से च्युत हो गया है, तथापि उसके धर्मनैरात्म्य ज्ञान अर्थात् महायान दर्शन से च्युत होने का कोई कारण उपस्थित नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकरुणा, बोधिचित्त, पारमिताओं की साधना और शून्यता दर्शन महायान के मूल हैं।

महाकरुणा–दुःख करुणा का आलम्बन होता है तथा दुःख को सहन नहीं कर पाना इसका आकार होता है। एक करुणावान व्यक्ति किसी दुःखी प्राणी को चुपचाप देख नहीं सकता, अपितु उस दुःख को हटाने के लिए यथाशक्ति प्रयास प्रारम्भ कर देता है। इसलिए

करुणा कोई सामान्य दयाभाव नहीं, अपितु चित्त की सक्रिय अवस्था है। दुःख भी दुःख-दुःख, विपरिणाम दुःख एवं संस्कार दुःख के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। विविध प्रकार की शिरोवेदना आदि शारीरिक वेदनाएं दुःख-दुःख हैं। वर्तमान में सुखवत् प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःखदायी धर्म विपरिणाम दुःख कहलाते हैं। सभी अनित्यों से वियोग दुःखप्रद होता है, इसलिए सभी अनित्य धर्म संस्कार-दुःख हैं। करुणा इन तीनों प्रकार की दुःखताओं से प्राणिमात्र को मुक्त करने की सक्रिय अभिलाषा है। करुणा भी प्रारम्भ में 'सत्वालम्बना' होती है। अर्थात् प्राणियों को और उनके दुःखों को आलम्बन बनाती है। किन्तु भावना के बल से विकसित होकर बाद में 'धर्मालम्बना' हो जाती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार पुद्गल की सत्ता नहीं होती, वह जड़ और चेतना का पुञ्जमात्र होता है, फिर भी दुःखी होता है, क्योंकि उसमें इस स्थिति (धर्मता) का अज्ञान होता है। ऐसे सत्वों को दुःखों से मुक्त करने की अभिलाषा 'धर्मालम्बना' करुणा होती है। वस्तुतः प्रज्ञा द्वारा विचार करने पर सभी धर्म निःस्वभाव (शून्य) होते हैं। वस्तुतः सभी सत्त्व और उनके दुःख भी निःस्वभाव ही हैं, फिर भी अर्थात् शून्यता का अवबोध रखते हुए भी करुणावश बुद्ध एवं बोधिसत्त्व दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करने का प्रयास करते हैं। उनकी ऐसी करुणा 'निरालम्ब' करुणा कहलाती है।

बोधिचित्त–बोधिचित्त ही महायान में प्रवेश का द्वार होता है। बोधिचित्त के उत्पाद के साथ व्यक्ति महायानों और बोधिसत्त्व कहलाने लगता है तथा बोधिचित्त से भ्रष्ट होने पर महायान से च्युत हो जाता है। 'बुद्धो भवेयं जगतो हिताय' (अद्वयवज्रसंग्रह कुदृष्टिनिर्घातन, पृ. ६) अर्थात् सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त करने के लिए मैं बुद्धत्व प्राप्त करूँगा-ऐसी अकृत्रिम अभिलाषा 'बोधिचित्त' कहलाती है। इस प्रकार बुद्धत्व महायान के अनुसार साध्य नहीं, अपितु साधनमात्र है। साध्य तो समस्त प्राणियों की दुःखों से मुक्ति ही है। बोधिचित्त भी प्रणिधि और प्रस्थान के भेद से द्विविध होता है। ऊपर जो बुद्धत्व प्राप्ति की अकृत्रिम अभिलाषा को बोधिचित्त कहा गया है, वह 'प्रणिधि-बोधिचित्त' है। इसके उत्पन्न होन जाने पर साधक महायान-संवर ग्रहण करके ब्रह्मविहार, संग्रहवस्तु एवं पारमिता आदि की साधना में प्रवृत्त होता है, यह 'प्रस्थान-बोधिचित्त' कहलाता है। शास्त्रों में प्रणिधि-बोधिचित्त का भी विपुल फल और महती अनुशंसा वर्णित है।

पारमिताओं की साधना–पारमिताएं दस होती हैं, किन्तु उनका छह में भी अन्तर्भाव किया जाता है। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा-ये छह पारमिताएं हैं। उपायकौशल पारमिता, प्रणिधान पारमिता, बल पारमिता एवं ज्ञान पारमिता-इन चार को मिलाकर पारमिताएं दस भी होती हैं। शास्त्रों में अधिकतर छह पारमिताओं की चर्चा ही उपलब्ध होती है। इन छह पारमिताओं में छठवीं प्रज्ञापारमिता ही 'प्रज्ञा' है तथा शेष पांच पारमिताएं 'पुण्य' कहलाती हैं। इन पाँचों को एक शब्द द्वारा 'करुणा' भी कहते हैं। प्रज्ञा और करुणा ये दोनों

बुद्धत्व प्राप्ति के उत्तम उपाय हैं। अभ्यास या भावना के द्वारा विकास की पराकाष्ठा को प्राप्त कर ये दोनों बुद्धत्व अवस्था में समरस होकर स्थित होती हैं। प्रज्ञा और करुणा की यह सामरस्यावस्था ही बुद्धत्व है। त्रिकायात्मक बुद्धत्व की प्राप्ति, बिना इन पारमिताओं के, सम्भव नहीं है। धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय–ये तीन कार्य हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ इन तीन कायों की प्राप्ति होती है। महायान के पारमितानय के अनुसार अभ्यास द्वारा प्रज्ञा विकसित होते हुए अन्त में बुद्ध के ज्ञान-धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाती है। किन्तु सम्भोग और निर्माण कार्यों की प्राप्ति पुण्य अर्थात् शेष पांच पारमिताओं के बल से ही होती है। इसीलिए बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञान और पुण्य सम्भारों का अर्जन करता है।

अकेली प्रज्ञा पारमिता से बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं होती और न तो प्रज्ञा के बिना शेष पारमिताओं से भी बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव है। अपितु इन दोनों से ही बुद्धत्व प्राप्ति सम्भव होती है। प्रज्ञापारमिता के बिना शेष पारमिताएं अन्धी होती हैं। उनसे निर्वाण-नगर में प्रवेश सम्भव नहीं होता। अतः चक्षु के समान प्रज्ञापारमिता का होना आवश्यक है। अकेले प्रज्ञापारमिता भी लंगड़ी होती है। उसके द्वारा भी निर्वाण-नगर में प्रवेश सम्भव नहीं होता। जैसे अन्धा और लंगड़ा-दोनों पुरुष अभिलाषित स्थान पर पहुँचते हैं। अर्थात् अन्धे पुरुष के कन्धे पर लंगड़ा पुरुष बैठकर राह दिखाता है और दोनों गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। इसी उपमा द्वारा प्रज्ञा और शेष पारमिताओं द्वारा बुद्धत्व लक्ष्य की प्राप्ति को समझना चाहिए।

दानपारमिता की भावना के अवसर पर प्रज्ञा द्वारा देय वस्तु, दाता और प्रतिग्राहक तीनों को जब शून्य समझकर भी दान किया जाता है, तब इसे त्रिकोटिपरिशुद्ध दान कहा जाता है। त्रिकोटिपरिशुद्ध होने पर ही दान दानपारमिता होता है और वही दानपारमिता बुद्धत्व की आवाहक अर्थात् बुद्धत्व को प्राप्त कराने वाली होती है। शील आदि पारमिताओं की त्रिकोटिपरिशुद्धता भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

शून्यता–लौकिक, लोकोत्तर, संस्कृत, असंस्कृत सभी धर्म प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं। अर्थात् वे अपने अस्तित्व के लिए अन्य और प्रत्ययों पर अपेक्षित हैं। अर्थात् उनका अस्तित्व अपने बल पर (स्वतः) नहीं है। अर्थात् परनिरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। वे स्वनिर्भर नहीं है, अर्थात् वे सापेक्ष हैं। यही परनिरपेक्ष अस्तित्व नहीं होना या स्वनिर्भर नहीं होना ही उनकी प्रकृति है और यही शून्यता है। यह शून्यता सभी धर्मों का धर्म है। इसे ही धर्मता, शून्यता, तथता, भूतकोटि और परमार्थ सत्य कहते हैं। सभी सापेक्ष धर्म संवृतिसत्य हैं। शून्यता या परमार्थ सत्य के ज्ञान से सभी धर्मों की सापेक्षता या संवृतिसत्यता का स्पष्ट परिज्ञान हो जाता है।

इस शून्यता का साक्षात्कार प्रज्ञा द्वारा होता है। प्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी होती है। अर्थात् शास्त्रों, आगमों आदि के स्वाध्याय और गुरु के उपदेश के श्रवण से इसका उत्पाद

होता है। तदनन्तर श्रवण द्वारा जात तत्त्व का विविध और विपुल युक्तियों द्वारा चिन्तन किया जाता है, इसे चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं। चिन्तन के द्वारा शून्यता का सन्देहरहित निर्धारण होता है। तदनन्तर उस चिन्तामयी प्रज्ञा द्वारा निश्चित शून्यता की भावना की जाती है, इसे भावनामयी प्रज्ञा कहते हैं। भावना जब प्रकर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तब शून्यता साक्षात्कार होता है और यही साक्षात्कार दर्शनमार्ग कहलाता है। तब साधक पृथग्जनत्व का प्रहाण कर 'आर्य' कहलाने लगता है तथा महायान की प्रथम भूमि में प्रविष्ट हो जाता है। तदनन्तर दर्शनमार्ग द्वारा दृष्ट तत्त्व की पुनः पुनः भावना की जाती है। यही भावनामार्ग है। भावनामार्ग द्वारा साधक दूसरी से दशम भूमि तक गमन करता है। दशम भूमि के अन्त में वज्रोपम समाधि होती है, जिसके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञेयावरण का भी प्रहाण होता है और यही अशैक्ष मार्ग होता है। इसी के दूसरे क्षणों में त्रिकायात्मक बुद्धत्व की प्राप्ति होती है और यह समन्तप्रभ नामक बुद्धभूमि होती है। भूमियों के उत्तरोत्तर अधिरोहण के क्रम में क्लेशों और ज्ञेय आचरणों का क्रमशः प्रहाण तथा उत्तरोत्तर गुणों की प्राप्ति एवं वृद्धि होती रहती है। अन्त में बुद्ध की सर्वाकार-वरोपेत सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति होती है।

महायान का प्रादुर्भाव–महायानी बौद्ध परम्परा समस्त महायान सूत्रों को निःसन्दिग्ध रूप से बुद्धवचन मानती है। यद्यपि महायान सूत्रों की बुद्धवचनता के बारे में प्रारम्भ से ही विवाद रहा है। ज्ञात है कि जिस प्रकार पारमितायान से सम्बद्ध महायानी वाङ्मय तथागत के परिनिर्वाण के बाद जम्बूद्वीप भारतवर्ष में सामान्यतया प्रचलन में नहीं रहा, यद्यपि वह देवलोक और नागलोक में विद्यमान रहा, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट तन्त्र वाङ्मय भी सार्वजनिक रूप से भारत में प्रचलित नहीं था। आचार्य नागार्जुन आदि महापण्डितों ने जिस प्रकार महायानसूत्रों का पुनः प्रकाशन किया, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों को भी धीरे-धीरे प्रकाशित किया। इसीलिए परम्परानुयायी प्रायः सभी महायानी आचार्य समस्त महायानसूत्रों और तन्त्रों को निःसन्दिग्ध रूप से बुद्धवचन मानते आए हैं। कालक्रम में इनमें कोई प्रक्षेप आदि नहीं हुए, यह निःसन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता।

जब नागार्जुन आदि महाचार्यों ने इनका भारत में पुनः प्रचलन किया, तभी से अन्य स्वयूथ्य स्थविरवाद आदि अठारह निकायों के महापण्डितों ने उन्हें बुद्धवचन मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि जिन महायानसूत्रों में अर्हत् की निन्दा, बोधिसत्त्वों की बुद्ध से भी अधिक प्रशंसा, प्रव्रजितों द्वारा गृहस्थ लोगों को भी प्रणाम करना, आनन्तर्य पाप कर्मों से भी विशुद्धि एवं भगवान् बुद्ध का लीला के लिए पृथ्वी पर अवतरण जैसी बातें उल्लिखित हों, वे महायानसूत्र बुद्धवचन कदापि नहीं हो सकते। साथ ही महायानसूत्रों में धर्मकाय को नित्य माना गया है, यह 'सभी संस्कार अनित्य हैं', इस सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है। उन महायानसूत्रों में जो तथागतगर्भ और आलयविज्ञान

वर्णित है, वह 'आत्मा' को मानने जैसा है, यह भी 'सभी धर्म अनात्मक हैं'– इस सिद्धान्त से विपरीत है। महायानसूत्रों के अनुसार बुद्ध निर्वाण के बाद भी उसमें विलीन नहीं होते, अपितु अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित होते हैं, यह भी 'निर्वाण शान्त है'– इस सर्वनैकायिक सिद्धान्त से विपरीत है। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादक महायानसूत्र कैसे बुद्धवचन हो सकते हैं।

अपि च, समस्त बुद्धवचन सूत्र, विनय एवं अभिधर्म– इन तीन पिटकों में संगृहीत हैं। राजगृह की प्रथम संगीति में संगीतिकारों ने महायानसूत्रों का किसी भी पिटक में संग्रह नहीं किया तथा अठारह बौद्धनिकायों में से किसी में भी महायानसूत्र संगृहीत नहीं हैं, फलतः वे बुद्धवचन नहीं हैं।

उनका कहना है कि वस्तुतः वे महायानी उच्छेदवादी चार्वाकों की भाँति हैं, क्योंकि उनके सूत्रों में बुद्ध, धर्म, संघ अर्थात् त्रिरत्न, चार आर्यसत्य, कर्म और उसके फल की सत्यतः सत्ता नहीं मानी जाती। वे उन सभी धर्मों को निःस्वभाव या शून्य मानते हैं। फलतः ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों की वंचना करने के लिए ये महायानसूत्र मार आदि किसी के द्वारा उपदिष्ट हैं।

आचार्य भावविवेक द्वारा प्रणीत तर्कज्वाला आदि ग्रन्थों में महायानसूत्रों के बुद्धवचन न होने के पक्ष में जो ऊपर तर्क दिये गये हैं, उनको तथा अन्य अनेक दोषारोपणों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका साङ्गोपाङ्ग विधिवत् निराकरण किया गया है। इसके अलावा आचार्य नागार्जुन के ग्रन्थों में, आर्य मैत्रेयनाथ के महायानसूत्रालङ्कार में, आचार्य शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार एवं आचार्य भावविवेक के मध्यमकहृदय आदि ग्रन्थों में पूर्वपक्ष का निराकरण करके महायानसूत्रों की सविधि बुद्धवचनता युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है। इन सबका तत्तद् ग्रन्थों में अवलोकन करना चाहिए।

महायानसङ्गीति–आचार्य धर्ममित्र आदि अनेक भारतीय विद्वानों के मतानुसार संगीतिकारों ने भी महायानसूत्रों की पृथक्संगीति नहीं मानी, अपितु महाकश्यप, आनन्द एवं उपालि द्वारा ही महायानसूत्रों का भी संगायन हुआ है– ऐसा उन्होंने माना है। परन्तु आचार्य भावविवेक ने अपनी तर्कज्वाला में उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए निम्नलिखित रूप से अपना मत प्रस्तुत किया है :

"जब राजगृह के विपुलगिरि में भगवान् बुद्ध के सामान्य सूत्रों का संगायन हो रहा था, उसी समय विमलसम्भवगिरि पर समन्तभद्र, मञ्जुश्री, गुह्यकाधिपति वज्रपाणि, मैत्रेयनाथ आदि बोधिसत्त्वों द्वारा महायानसूत्रों का सङ्गायन हो रहा था तथा उसी समय वज्रपाणि द्वारा समस्त तन्त्रों का भी सङ्गायन किया गया।"

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने 'भारत यात्रा का विवरण' नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया है :

"जहाँ पर महाकाश्यप ने सभा की थी, उसी स्थान से पश्चिमोत्तर में एक स्तूप है, जहाँ पर आनन्द सभा में बैठने से वर्जित किये जाने पर चले गये थे और जहाँ एकान्त में बैठकर उन्होंने अर्हत्पद प्राप्त किया था। यहीं से लगभग ३० ली जाकर पश्चिम दिशा में एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। इस स्तूप पर एक बड़ी भारी सभा (महासंघ) पुस्तकों (त्रिपिटक) का संग्रह करने के लिए हुई थी। जो लोग काश्यप की सभा में सम्मिलित नहीं हो पाये थे, वे सब साधक और अर्हत् करीब एक लाख व्यक्ति उस स्थान पर आकर एकत्र हुए और उन्होंने कहा कि जब तथागत भगवान् जीवित थे, तब हम लोग एक स्वामी के अधीन थे, परन्तु अब समय पलट गया, धर्म के अधिपति का परिनिर्वाण हो गया, इसलिए हम लोग भी बुद्ध के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करेंगे और एक सभा करके पुस्तकों (बुद्धवचनों) को संग्रह करेंगे। इस सभा में.........सूत्रपिटक, विनयपिटक, अभिधर्मपटिक, फुटकर पिटक (प्रकीर्णक) और धारणीपिटक इन पांचों पिटकों का संगायन किया गया। इस सभा में सर्व साधारण और महात्मा (श्रावण और बोधिसत्व) दोनों सम्मिलित थे। इसलिए इस सभा का नाम बृहत्-सभा (महासंघ) रखा गया[1]।"

महायानसूत्रों की बुद्धवचनता

यद्यपि अठारह निकायों की परम्परा महायान सूत्रों को बुद्धवचन मानने के पक्ष में नहीं थी और ऊपर उन्हें बुद्धवचन नहीं मानने के पक्ष में अनेक तर्क दिये गये हैं। यह विरोध अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रचलित था और आज भी विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब एक बार भारतवर्ष में महायानसूत्र विलुप्त हो गए और आर्य नागार्जुन प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों को नागलोक से पुनः जम्बूद्वीप में लाए तथा उनके आधार पर उन सूत्रों के प्रज्ञा-पक्ष को माध्यमिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया तो सभी विपक्षी बौद्धों ने एक स्वर से उनका विरोध किया और कहा कि माध्यमिक दर्शन उच्छेदवादी है, जो बुद्ध, धर्म संघ, आर्यसत्य आदि को शून्य के रूप में प्रतिपादित करता है और कहा कि ये सूत्र बुद्धवचन नहीं हो सकते। या तो उन्हें नागार्जुन ने गढ़ लिए हैं या लोगों की वंचना के लिए मार ने उनका प्रणयन किया है।

यही कारण है कि नागार्जुन ने उन सूत्रों को बुद्धवचन सिद्ध करने का अथक प्रयास किया और बाद के दिग्गज पण्डितों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में उन्हें बुद्धवचन के रूप में सिद्ध किया है।

अब हम उन्हीं आचार्यों के अनुसार महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने का और पूर्वपक्ष द्वारा प्रदत्त युक्तियों का निरास करने का अतिसंक्षेप में प्रयास कर रहे हैं।

---

१. द्र. (स्वेनसांग कृत 'भारत यात्रा का विवरण' (हिन्दी अनुवाद) पृ. ३१३ (आदर्श हिन्दी पुस्तकालय ४६२ इलाहाबाद - १६७२)।"

महायान बुद्धवचन हैं, क्योंकि वह युक्ति और आगमों में सिद्ध है। जैसे श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान बुद्धवचन हैं, वैसे ही महायान भी बुद्धवचन हैं। बुद्धवचन एकमात्र वही हो सकता है, जो युक्तिसंगत हो। भगवान् युक्तिहीन वचन नहीं बोलते, जैसे युक्तिहीन होने से उच्छेदवाद बुद्धवचन नहीं है। जैसे श्रावकयानी और प्रत्येकबुद्धयानी अनित्यता, दुःखता, अनात्मता, शून्यता और चार आर्यसत्यों का अधिगम करते हैं, वैसे महायानी भी उनका बोध करते हैं। इतना अधिक है कि महायानी दुःख आदि सत्यों का निराकार निरालम्ब और समता में अधिगम करते हैं, जिसकी वजह से वे ज्ञेयावरण का भी प्रहाण करने में सक्षम होते हैं, जबकि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध उसका प्रहाण नहीं कर पाते। ज्ञेयावरण के प्रहाण के लिए ही विशेषतः महायान का प्रादुर्भाव हुआ है, क्योंकि उसके बिना बुद्धत्व प्राप्ति असम्भव है।

आचार्य नागार्जुन का कथन है कि शून्यता का प्रतिपादन हीनयानी पिटकों में भी हुआ है, अतः शून्यता ही बुद्ध का असली अभिप्राय है, जैसे मूलमाध्यमिक शास्त्र में उक्त है:

> कात्यायनाववादे च अस्ति नास्तीति चोभयम्।
> प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना[1]।।

पुनश्च रत्नावलि में बड़े विस्तार से आर्य नागार्जुन ने महायान को बुद्धवचन सिद्ध किया है। वे बड़े अफसोस के साथ कहते हैं कि जिस महायान में भगवान ने बोधिसत्वों के लिए पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार का निर्देश किया है, उस महायान की मोह और द्वेष से ग्रस्त लोग निंदा करते हैं। वे कहते हैं कि यह सब वे अज्ञान की वजह से ही करते हैं, यथा :

> बोधिसत्त्वस्य सम्भारो महायाने तथागतैः।
> निर्दिष्टः स तु संमूढैः प्रद्विष्टैश्चैव निन्द्यते[2]।।

अपि च,

> पुण्यज्ञानमयो यत्र बुद्धैर्बोधेर्महापथः।
> देशितस्तन्महायानमज्ञानाद् वै न दृश्यते[3]।।

आर्य मैत्रेयनाथ का कहना है कि यदि महायान बुद्धवचन नहीं होता, अपितु किसी अन्य के द्वारा कथित होने से सद्धर्म में विघ्न करने वाला होता तो भगवान् ने अनागत

---

१. नागार्जुन, द्र.- मूलमाध्यमिककारिका, १५:७।
२. नागार्जुन, द्र. - रत्नावलि, ४:६७ (मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन-१९६०)।
३. नागार्जुन, द्र. - रत्नावलि, ४:८३ (मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन-१९६०)।

भय की आशंका से उसका अवश्य व्याकरण (भविष्य कथन) किया होता। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसलिए वह अवश्य बुद्धवचन है। यह महायान और श्रावकयान दोनों एक ही काल (समकाल) में प्रवृत्त हैं। ऐसा नहीं है कि वह बाद में आविर्भूत हुआ हो। महायान अत्यन्त उदार (विस्तृत व्यापक) एवं गम्भीर है। यह तार्किकों का अगोचर है। यदि किसी अन्य ने संबोधि प्राप्त करके कहा है तो उसका बुद्धवचन होना सिद्ध है, क्योंकि बुद्ध वही है, जो संबोधि प्राप्त है। यदि महायान है तो वह बुद्धवचन ही है, क्योंकि अन्य महायान नहीं है। यदि महायान नहीं है तो श्रावकयान भी नहीं हो सकता, क्योंकि महायान (बुद्धयान) के बिना बुद्ध का उत्पाद सम्भव नहीं है। महायान की भावना से सभी निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो सभी क्लेशों के प्रतिपक्ष होते हैं। इसका शब्दानुसारी अर्थ नहीं होता, अपितु तात्पर्यार्थ का ग्रहण किया जाता है। अतः अबुद्धवचन होने का दोष नहीं है[1]। इस तरह आर्यमैत्रेयनाथ ने महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए महायानसूत्रालङ्कार में पूरा एक अधिकार लिखा है। बुद्धवचन होने का यह सामान्यतया लक्षण है कि जो सूत्र में अवतरित होता है, विनय में दिखलाई देता है और जो धर्मता (तथता-शून्यता) का विरोधी नहीं होता, वह बुद्धवचन है। आर्य असङ्ग का कहना है कि महायान में यह पूरा लक्षण घटित होता है। महायानसूत्रों में यह अवतरित है। विनय में दिखलाई देता है तथा उदार और गम्भीर होने से धर्मता का भी विरोधी नहीं है[2]। इस बात को आर्य मैत्रेयनाथ ने निम्न पंक्तियों में प्रकट किया है....

स्वकेऽवतारात् स्वस्यैव विनये दर्शनादपि।
औदार्यादपि गाम्भीर्यादविरुद्धैव धर्मता[3]।।

ज्ञातव्य है कि महायानी हीनयान और महायान दोनों सूत्रों को बुद्धवचन मानते हैं, जबकि हीनयानी महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते। आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि यदि महायान बुद्धवचन के रूप में असिद्ध है तो आपका हीनयान कैसे सिद्ध है ? यदि आप कहें कि हमारा हीनयान (हीनयान और महायान) दोनों द्वारा सिद्ध है, जबकि आपका महायान ऐसा नहीं है, क्योंकि हम उसे बुद्ध वचन नहीं मानते। इस पर आचार्य कहते हैं

---

१. आदावव्याकरणात् समप्रवृत्तेरगोचरात् सिद्धेः।
भावाभावेऽभावात् प्रतिपक्षत्वाद् रुतान्यत्वात्।।
द्र. - महायानसूत्रालङ्कार महायानसिद्ध्यधिकार।

२. यत्सूत्रेऽवतरति, विनेये सन्दृश्यते, धर्मतां च न विलोमयति, बुद्धवचनस्येदं लक्षणम्। द्र. - असङ्ग, महायानसूत्रालङ्कार, महायानसिद्ध्यधिकार।

३. द्र.-महायानसूत्रालङ्कार, महायानसिद्ध्यधिकार।

कि हमारे द्वारा हीनयान को बुद्धवचन नहीं मानने के पहले वह दोनों द्वारा कहां सिद्ध था[1]। अध्याशयसंचोदनसूत्र में उल्लिखित है कि चार कारणों में किसी आगम को बुद्धवचन मानना चाहिए, यथा– (१) उसे अर्थ (हित) से युक्त होना चाहिए, अनर्थ से नहीं, (२) उसे धर्म से युक्त होना चाहिए, अधर्म से नहीं, (३) उसे क्लेशों का प्रहाण करने वाला होना चाहिए, बढ़ाने वाला नहीं, (४) उसे निर्वाण के गुणों को दिखाने वाला होना चाहिए, न कि संसार के गुणों को दिखलाने वाला[2]। महायान में ये सभी कारण विद्यमान हैं, अतः बुद्धवचन के रूप में महायान के प्रति आस्था रखनी चाहिए। जो उपर्युक्त प्रकार से सुभाषित है, वह सब बुद्धभाषित है, यथा- यत् किञ्चित् मैत्रेय, सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्[3]।

आक्षेप-परिहार - गृध्रकूट पर्वत पर आयोजित प्रथम संगीति के अवसर पर महायानसूत्रों का सूत्र, विनय एवं अभिधर्म– इन तीन पिटकों में संग्रह नहीं किया गया, अतः वे (महायानसूत्र) बुद्धवचन न होकर वेद आदि के सदृश बौद्धबाह्य हैं – यह आक्षेप युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि महायान में भी सूत्र, विनय और अभिधर्म है और उनमें चार आर्यसत्य, पाँच इन्द्रियाँ, पांच बल, सात बोध्यङ्ग, आठ मार्ग, दस बल, चार वैशारद्य और प्रत्यात्मवेद्य ज्ञान तथा क्लेशावरण के प्रहाण की विधि भी वैसे ही वर्णित है, जैसे आपके पिटकों में वर्णित है। यही नहीं, अपितु निरालम्ब भावना के आधार पर ज्ञेयावरण के प्रहाण की विधि भी प्रतिपादित है। महायान के वचन धर्ममुद्रा के विपरीत नहीं है। क्लेशों का शमन करने वाला विनयपिटक भी वहाँ है तथा इसका अभिधर्म प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुसरण करता है। अतः उपर्युक्त आक्षेप निरर्थक है।

अठारह निकायों में कहीं भी महायान का संग्रह नहीं होता, अतः महायान बुद्धवचन नहीं है – यह आक्षेप भी युक्तियुक्त नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म भेद तो अठारह निकायों में भी उपलब्ध होते हैं और फिर भी आप उन्हें बुद्धवचन के रूप में स्वीकार करते हैं, ऐसी स्थिति में परोपकार के उदात्त विचार और अनुपलम्भ आदि गम्भीर दर्शन के कुछ अंश श्रावकयान में नहीं होने के कारण उन्हें (महायानसूत्रों को) बुद्धवचन न मानना उचित नहीं है, क्योंकि महायानी भी सूत्र का अनुसरण करते हैं, बोधिसत्त्व के लिए निर्दिष्ट शिक्षापदों का अनुपालन करते हैं तथा धर्मता (धर्ममुद्रा) का अतिक्रमण नहीं करते। इतना ही नहीं, महायान बुद्धवचन है, क्योंकि महायानसूत्रों के संकलनकर्ता समन्तभद्र, मञ्जुश्री वज्रपाणि एवं मैत्रेय आदि बोधिसत्त्व हैं, जिन्होंने उनका संगायन किया। अतः इस महायानसंगीति के द्वारा

---

१. नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः।। - शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, ९:४२।

२. यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा।। - अध्याशयसंचोदनसूत्र।

३. द्र.-अध्याशयसंचोदनसूत्र।

महायानसूत्र प्रामाणिक बुद्धवचन सिद्ध होते हैं श्रावकयानियों के द्वारा गृध्रकूट पर्वत पर महायानसूत्रों का संगायन करना सम्भव नहीं था, क्योंकि महायान उन (श्रावकयानियों) का गोचर ही नहीं है।

यह आक्षेप भी युक्तिसंगत नहीं है कि "क्योंकि महायानसूत्रों में धर्मकाय को नित्य कहा गया है, अतः यह सिद्धान्त बौद्धों के इस सर्वमान्य सिद्धान्त से कि 'सभी संस्कार अनित्य हैं', इससे विरुद्ध है"। यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मकाय को नित्य कहने का अभिप्राय ठीक-ठीक नहीं समझा गया है। वास्तविक अभिप्राय यह है कि भगवान् ने जिस यथावत् ज्ञान और यावत् ज्ञान का अधिगम किया है, उसका कभी क्षय नहीं होता, उसमें परिवर्तन नहीं होता और उसमें विकार नहीं आता[1] इसलिए इसे नित्य कहा गया है, न कि आत्मा आदि की तरह कूटस्थ नित्य होने के अर्थ में। वह भगवान् द्वारा अधिगत ज्ञान तो स्वयं में अवश्य स्वभावतः अनित्य होता है। सन्तति नित्यता के अर्थ में यहाँ 'नित्य' शब्द प्रयुक्त है, जैसे नित्य प्रवाहशील उदकधारा या नित्य ऊर्ध्वगमनशील अग्निज्वाला आदि। तथागत का ज्ञान सभी ज्ञेयों में व्याप्त होता है। अर्थात् वह सभी ज्ञेयों में अनासक्त और अप्रतिहत होता है, अतः उसे व्यापी भी कहा जाता है, किन्तु इसका अर्थ नहीं है कि वह ब्रह्म की तरह व्यापक होता है।

महायानसूत्रों में आलयविज्ञान या तथागतगर्भ की देशना की गई है, जो आत्मा के सदृश है। अतः यह सिद्धान्त 'सभी धर्म अनात्म है' इस बौद्धों के सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है, – यह आक्षेप भी समीचीन नहीं है। क्योंकि तथागतगर्भ आधार की शून्यता, हेतुओं की निर्लक्षणता और फल की अप्रणिधानता के अर्थ में प्रयुक्त है, न कि आभ्यन्तर किसी शाश्वत पुरुष की स्थिति के अर्थ में। दशभूमक आदि सूत्रों में जन्म ग्रहण करने वाले आलयविज्ञान को नदी की धारा के समान प्रवाहशील कहा गया है, जो क्षणिक होता है और यह कभी भी धर्ममुद्रा और नैरात्म्य का अतिक्रमण नहीं करता। अतः वह निःसन्देह आत्म की तरह नहीं है।

यह आक्षेप भी निराधार है कि महायानसूत्रों में क्योंकि निरुपधिशेष निर्वाण हो जाने पर भी बुद्ध की चित्त-सन्तति का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता और वे अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहते हैं, अतः यह महायानी सिद्धान्त 'निर्वाण शान्त है'– बौद्धों के इस सर्वमान्य सिद्धान्त के विपरीत है। तथागत ने क्लेशावरण और ज्ञेयावरणों का समूल प्रहाण कर दिया है। इसलिए वे प्रज्ञा के कारण संसार के मलों से लिप्त नहीं होते और महाकरुणा के कारण संसार के सत्त्वों का परित्याग नहीं करते और संसार में स्थित रहते हुए उनके हितों का

---

१. इति कारित्रवैपुल्याद् बुद्धो व्यापी निरुच्यते।
अक्षयत्वाच्च तस्यैव नित्य इत्यभिधीयते।। द्र. - मैत्रेयनाथ, अभिसमयालङ्कार, ८:११।

सम्पादन करते हैं। क्योंकि दुःखी सत्त्वों के दुःख के निवारण के लिए ही उन्होंने बुद्धत्व प्राप्ति की प्रतिज्ञा की थी। भगवान् ने क्लिष्ट चित्तसन्तति का समूल नाश कर दिया है, किन्तु अक्लिष्ट चित्तसन्तति के विद्यमान रहने में क्या युक्तिविरोध है, अतः वे अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित रहते हैं। इसीलिए तथागत सदा के लिए महापरिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होते। वे विनेयजनों के अध्याशय के अनुरूप कहीं जन्म लेने, कहीं बोधि प्राप्त करने और कहीं परिनिर्वाण प्राप्त करने को दर्शाते हैं। आपके सूत्रपिटक आदि में जैसे संकेतित हैं, उसी प्रकार महायान में निर्माणकाय स्वीकृत है। इसीलिए यह कहना कि चित्तसन्तति के निरन्तर प्रवृत्त होने से यह सिद्धान्त 'निर्वाण शान्त है'– इस सिद्धान्त के विपरीत है, यह तर्कसंगत नहीं है।

अठारह निकायों में प्रायः तथागत का तुषित लोक से अवतरण निर्दिष्ट है। उनमें बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध स्तुति भी संवर्णित है, जिनमें जन्म से पूर्व तुषित लोक में होना, तथागत दीपंकर के समय बोधिचित्त उत्पन्न करना, लुम्बिनी में उत्पन्न होते ही सात कदम चलना आदि घटनाओं का वर्णन है। इस तरह अठारह निकायों में बोधिसत्त्व अवस्था से सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन उपलब्ध होने से कहा जा सकता है कि महायान अठारह निकायों में संगृहीत है।

जो यह आक्षेप दिया गया है कि महायान सूत्रों में व्रत, उपवास, स्नान, मन्त्र आदि का विधान है, जिसके द्वारा पापों का प्रक्षालन और मुक्ति की प्राप्ति का उल्लेख है, जैसा कि ब्राह्मण धर्म में है–यह आक्षेप भी नितान्त ही सारहीन है। क्योंकि अनन्तद्वारधारणी की साधना के अनुसार इस धारणी की भावना करने वाला साधक (बोधिसत्त्व) संस्कृत और असंस्कृत किसी भी धर्म की कल्पना नहीं करता, केवल बुद्धानुस्मृति की भावना करता है। नागराजपरिपृच्छासूत्र में भी कहा गया है कि सभी धर्म आदितः विशुद्ध हैं, इसलिए धारणी में स्थित वोधिसत्त्व शून्यस्वरूप बीजाक्षरों का अनुसरण करता है, उनकी खोज करता है और उनमें स्थित होता है, जिससे उसमें राग, द्वेष, मोह आदि उत्पन्न नहीं होते। यह साधना भी वैसे ही है, जैसे अनित्यता, अशुचि आदि की भावना। अर्थात् धारणीमन्त्र और विद्यामन्त्र का तथागत के उपदेशानुसार जप, ध्यान एवं भावना करने से पाप का क्षय तथा चित्त सन्तति शान्त होती है। यह मार्गसत्य की भावना के समान ही है। धारणीमन्त्र के जप के समय साधक में पाप से उत्पन्न होने वाले विपाक के प्रति भय तथा पाप कर्म के प्रति हेयता का भाव होता है और अन्त में उस पाप की पुनरावृत्ति न हो, ऐसी प्रतिज्ञा करना अनिवार्य होता है। ये सब पाप के प्रायश्चित के अंग हैं।

गंगास्नान से पाप का प्रायश्चित्त अथवा पानी से पापों का प्रक्षालन होता हो–ऐसा नहीं है किन्तु अनवतपतनागराजपरिपृच्छासूत्र में कथित नय के अनुसार पनसा नामक झील में जन्म लेते समय बोधिसत्त्व ने प्रणिधान किया था कि 'जो इस (झील) का जल पियेगा, इसमें

स्नान करेगा, उसके पापों का क्षय हो, उनमें बोधिचित्त का उत्पाद हो'–उनके इस प्रणिधान के बल से स्नान द्वारा पाप का क्षय सम्भव है। प्रणिधान का फलीभूत होना अर्थात् बोधिसत्त्व के प्रणिधान के अनुरूप फल सिद्धि होना असम्भव नहीं है। जैसे विष तत्त्व का ज्ञाता कोई गारुडिक (गरुड विद्या का ज्ञाता) अपने सिद्ध मन्त्र के सामर्थ्य से किसी लकड़ी या पत्थर के स्तम्भ को अभिमन्त्रित करके और यह संकल्प करके उसे जमीन में गाड़ दे, कि मेरे मरने के बाद यह स्तम्भ (खम्भा) ही, जो इसका स्पर्श करेगा उसका विष उतार देगा और उसके बाद वह गारुडिक मर जाए। फिर भी देखा जाता है कि उसके मरने के सैकड़ों वर्षों बाद भी वह खम्भा लोगों का विष उतार रहा है[1]। उपवास आदि से यद्यपि मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी विद्यामन्त्र की चर्या में और कायकर्मण्यता (कायिकस्फूर्ति) की सिद्धि में वे सहायक होकर मुक्ति की प्राप्ति में सहायक होते हैं। अतः यह कहना कि स्नान, उपवास आदि का विधान होने में महायान बुद्धवचन नहीं है– यह असङ्गत है।

यह भी आक्षेप किया जाता है कि महायानसूत्रों में तीन रत्न, चार आर्यसत्य, कर्म और कर्मफल आदि की सत्यतः सत्ता का खण्डन किया गया है, अतः महायानी उच्छेदवादी चार्वाकों की तरह हैं। यह आक्षेप भी सही नहीं है। ऐसा आक्षेप देने वाले शून्यता का अर्थ अभाव समझते हैं और यह समझते हैं कि ये (महायानी) लोग अभाववादी हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि महायानी प्रतीत्यसमुत्पादवादी हैं। उनके अनुसार सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। इसका अर्थ है कि संस्कृत, असंस्कृत, लौकिक, लोकोत्तर धर्म अपनी सत्ता के लिए दूसरों अर्थात् हेतु-प्रत्ययों पर निर्भर हैं। ऐसा नहीं कि वे अपने अस्तित्व के लिए परनिरपेक्ष न हों। अर्थात् उनकी स्वतन्त्र सत्ता हो। उनका निरपेक्ष न होना या स्वतन्त्र अस्तित्व न होना ही शून्यता, धर्मता, परमार्थ सत्य या तथता है। इसीलिए सभी धर्म शून्य एवं निःस्वभाव हैं, फिर भी उनका सापेक्ष, व्यावहारिक या सांवृतिक अस्तित्व होता है। इसी व्यावहारिक अस्तित्व के आधार पर लौकिक, लोकोत्तर, बन्ध, मोक्ष आदि की सभी व्यवस्थाएं सुचारु रूप से सम्पन्न होती हैं। इतना ही नहीं, महायानियों का तो यहाँ तक कहना है कि सस्वभाववाद में ही कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकती। क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन सम्भव नहीं होता। इसीलिए नागार्जुन ने कहा है :

यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः।
चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते[2] ॥

---

१. यथा गारुडिकः स्तम्भं साधयित्वा विनश्यति।
स तस्मिंश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशामयेत्॥ द्र. - शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, ९:३७।

२. द्र. - मूलमाध्यमिककारिका, २४:२०।

अपि च,

अप्रतीत्य समुत्पन्नो धर्मः कश्चिन्न विद्यते।
यस्मात्तस्मादशून्यो हि धर्मः कश्चिन्न विद्यते'[1] ।।

बौद्धदर्शनों के कतिपय प्रमुख बिन्दुओं का संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन

हमने ग्रन्थ में चारों बौद्ध दर्शन-प्रस्थानों की प्रामाणिक रूप-रेखा प्रस्तुत की है। अब हम किसी एक बिन्दु पर उनके पारस्परिक मतभेद दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं। इससे प्रत्येक दर्शन का असाधारण बोध करने में सहायता मिलेगी। ज्ञात है कि बौद्धों के प्रसिद्ध अठारह निकायों के विभाजन का आधार प्रमुखतः उनको पृथक् आचार्य-परम्पराएं एवं विनय-सम्बन्धी आचार रहे हैं। दार्शनिक मान्यताओं में अधिक मतभेद नहीं है। इसलिए इन अठारहों निकायों को दार्शनिक विभाजन के अवसर पर वैभाषिक कहने की बौद्ध दार्शनिकों की परम्परा रही है। इसलिए हम भी वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक इन प्रसिद्ध चार बौद्ध दर्शनों के विचारों को ही तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करेंगे। यह भी ज्ञात है कि वैभाषिक और सैत्रान्तिकों को हीनयान तथा योगाचार और माध्यमिकों को महायान कहने की परम्परा है। यद्यपि हीनयान और महायान के विभाजन का आधार दर्शन बिलकुल नहीं है। निश्चय ही उसका आधार उद्देश्य की भिन्नता ही है, फिर भी प्रचलित अवधारणा के अनुसार हमने भी यहाँ वैसा ही प्रयोग किया है। अब हम कतिपय प्रमुख दार्शनिक मुद्दों को लेकर सभी के पृथक् पृथक् विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) वस्तुसत्ता

वैभाषिक बाह्यार्थवादी हैं। वे आन्तरिक एवं बाह्य सभी पदार्थों की वस्तुसत्ता स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक भी बाह्यार्थवादी है और स्वभावसत्तावादी भी। सौत्रान्तिक आचार्य शुभगुप्त ने 'बाह्यार्थसिद्धिकारिका' नामक अपने ग्रन्थ में बड़े विस्तार से युक्तिपूर्वक विज्ञानवादियों का खण्डन करके बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध की है। बाह्यार्थ को सिद्ध करने में सौत्रान्तिकों ने अभूतपूर्व एवं स्तुत्य प्रयास किया है। विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं। इनके मत में बाह्यार्थ परिकल्पित मात्र हैं। अर्थात् बाह्यार्थ खपुष्पवत् अलीक है। वे केवल विज्ञान-परिणाम की ही द्रव्यतः सत्ता स्वीकार करते हैं। चित्त-चैतसिकों के बाहर कोई धर्म नहीं है। परमाणु की सत्ता का उन्होंने बड़े जोरदार ढंग से निषेध किया है। फलतः परमाणुओं से संचित स्थूल बाह्यार्थ का निषेध अपने-आप हो जाता है।

---

१. द्र.- नागार्जुन, मूलमाध्यमिककारिका, २४:१९।

स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक के भेद से माध्यमिक दो प्रकार के हैं। स्वातन्त्रिक भी सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक और योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक भेद से द्विविध हैं।

सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक नय के प्रवर्तक आचार्य भावविवेक समस्त धर्मों को परमार्थतः निःस्वभाव या शून्य मानते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार समस्त धर्म मिथ्या एवं मायावत् हैं। उनकी परमार्थिक सत्ता नहीं है, फिर भी समस्त धर्मों की व्यावहारिक सा सांवृतिक सत्ता है।

प्रश्न है उनके अनुसार व्यवहारतः सत् समस्त धर्मों की बाह्यर्थतः सत्ता है कि नहीं? इस विषय में आचार्य भावविवेक ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण विवेचन किया है। उनका कहना है कि बाह्यार्थ होते हैं। वे कहते हैं कि "चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्" (दशभूमकसूत्र, पृ. ४६) इस दशभूमकसूत्र द्वारा विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना नहीं की गई है, अपितु चित्तातिरिक्त सृष्टिकर्ता का खण्डन किया गया है, जो तैर्थिकों द्वारा मान्य है।

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।। (लङ्कावतारसूत्र : ३:३३)

इस लङ्कावतारसूत्र द्वारा भी बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता। 'दृश्यं न विद्यते बाह्यम्' का तात्पर्य बाह्यार्थ के न होने से नहीं है, अपितु बाह्यार्थों के परमार्थतः निःस्वभाव होने से है। 'चित्त चित्रं हि दृश्यते देहभोगप्रतिष्ठानम्' का अर्थ है देह, भोग आदि में प्रवृत्त विभिन्न चित्त तत्तद् विषयाकार होते हैं। 'चित्तमात्रं वदाम्यहम्' का अर्थ चित्तातिरिक्त ईश्वर आदि सृष्टिकर्ता का निषेध है। उपर्युक्त बाते उन्होंने अपनी 'प्रज्ञाप्रदीय' नामक मूलमाध्यमिककारिका की बृहद् टीका में कही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे बाह्यार्थ का निषेध किसी भी सूत्र का अभिप्राय नहीं मानते।

मध्यमकहृदयकारिका एवं **तर्कज्वाला** नामक उसके स्वभाष्य में भी उन्होंने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है कि द्विचन्द्राकार चक्षुर्विज्ञान भी बिना एक चन्द्रमा से उत्पन्न नहीं होता, अतः इन्द्रयविज्ञानों का बाह्यालम्बन होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः निश्चित होता है कि बाह्यार्थ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्यार्थ को लेकर सूत्राधार स्वातन्त्रिक माध्यमिक व्यवहार में विज्ञानवादियों से भिन्न हो जाते हैं।

आचार्य शान्तरक्षित योगाचार स्वातन्त्रिक मत के प्रवर्तक हैं। आचार्य शान्तरक्षित ने अपने **मध्यमकालङ्कार** नामक ग्रन्थ के स्वभाष्य में बाह्यार्थ की सत्ता का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है और व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना की है। बाह्यार्थों की सत्ता के साधक प्रमाणों की परीक्षा करके उन्होंने उन्हें प्रमाणाभास सिद्ध किया और विज्ञप्तिमात्रता को आर्यसन्धिनिर्माचन, आर्यघनव्यूह एवं लङ्कावतार आदि सूत्रों का अभिप्राय सिद्ध किया

है। इस प्रकार आचार्य शान्तरक्षित बाह्यार्थशून्यता मानते हैं। निःसन्देह आचार्य के विचार विज्ञानवाद से प्रभावित हैं। यद्यपि योगाचार माध्यमिक निर्बाह्यार्थवादी हैं, तथापि वे योगाचारों की भांति बाह्यार्थशून्यता को परमार्थसत्य नहीं मानते, अपितु वे उसे व्यावहारिक ही मानते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में अवश्य आचार्य शान्तरक्षित और विज्ञानवादियों में साम्य है। इसीलिए उन्हें योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक कहा जाता है।

यद्यपि सबके कहने में थोड़ा-थोड़ा फर्क है, फिर भी प्रासंगिक मतानुसार वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं स्वातन्त्रिक माध्यमिक सभी धर्मों की स्वाभाविक सत्ता या स्वलक्षण सत्ता स्वीकार करते हैं। सभी के मूल सिद्धान्त इसी पर आधृत हैं। स्वभावतः अस्तित्व एवं स्वलक्षणतः अस्तित्व पर्यायवाची हैं। लोक में देवदत्त द्रष्टा है, श्रोता है या कर्ता है, इत्यादि व्यवहार प्रचलित हैं। प्रश्न है कि वह देवदत्त कौन है ? क्या उसके स्कन्ध देवदत्त हैं या वह स्कन्धों से भिन्न कोई सत्तावान् पदार्थ है ? इस प्रकार का अन्वेषण 'व्यवहृत अर्थ का अन्वेषण' या 'प्रज्ञप्त अर्थ का अन्वेषण' कहलाता है। इस प्रकार का अन्वेषण करने पर यदि स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न कोई पक्ष उपलब्ध हो तो द्रष्टा, श्रोता या कर्ता आदि का अस्तित्व माना जा सकता है। यदि कोई भी पक्ष उपलब्ध न हो तो उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृत और असंस्कृत सभी धर्म इसी प्रकार परीक्षणीय हैं। यह स्वभावतः अस्तित्ववादी या स्वलक्षणतः अस्तित्ववादियों का सिद्धान्त है।

कुछ वैभाषिक, जैसे वात्सीपुत्रीय आदि व्यक्ति को पञ्चस्कन्धों से भिन्नत्वेन एवं अभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय मानते हैं। साथ ही, उसे द्रव्यतः सत् भी स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक आदि मनोविज्ञान को व्यक्ति या पुद्‌गल मानते हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में आलयविज्ञान या विपाकविज्ञान पुद्‌गल माना जाता है। आचार्य भावविवेक आदि भी मनोविज्ञान को ही पुद्‌गल मानते हैं।

तैर्थिक (अबौद्ध) दार्शनिक पाँच स्कन्धों से भिन्न नित्य, शाश्वत, कूटस्थ आत्मा स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार आत्मा या तो ज्ञान का आश्रय है या स्वयं ज्ञानस्वरूप है। जब रूप आदि दृष्टिगोचर होते हैं, तब इन्द्रिय आदि उपकरणों द्वारा आत्मा ही द्रष्टा आदि हुआ करता है। मन, बुद्धि आदि से वह परे होता है तथा वह स्वतन्त्र एवं द्रव्यतः सत् होता है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति आदि प्रासंगिक माध्यमिकों का मत उपर्युक्त मतों से सर्वथा भिन्न है। वे व्यवहृत अर्थ का अन्वेषण करने पर उसकी कथमपि उपलब्धि नहीं मानते। लोक में जैसा व्यवहार होता है, वस्तुओं का व्यवहार में उतना ही अस्तित्व होता है। अर्थात् वस्तुएं व्यवहारमात्र या प्रज्ञप्तिमात्र हैं। इस तथ्य को हम यों कह सकते हैं कि पदार्थों का अपनी ओर से किञ्चित् भी अस्तित्व नहीं होता। अर्थात् वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। समस्त धर्म परस्पराश्रित होते हैं। ऐसा होने पर भी प्रासंगिक उच्छेदवादी नहीं हैं। वे निःस्वभाव

धर्मों का अस्तित्व स्वीकारते हैं और उसी के आधार पर संसार और निर्वाण से सम्बद्ध सारी व्यवस्था करते हैं।

यद्यपि प्रासंगिक माध्यमिक अन्वेषण करने पर व्यवहृत अर्थ की उपलब्धि नहीं मानते, तथापि लोक में वस्तु की जिस प्रकार सत्ता मानी जाती है, संवृति के क्षेत्र में वे भी उसी प्रकार की सत्ता मान लेते हैं। लोक में किसी भी पदार्थ की सत्ता प्रमाणों द्वारा परीक्षण करके या अन्वेषणय करके स्थापित नहीं की जाती, अपितु बिना विचार किये जैसे सभी लोग मानते हैं, उस प्रकार मान ली जाती है। शास्त्रों में इसी स्थिति को 'अविचार प्रसिद्ध' या अविचार रमणीय' कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि देवदत्त नहीं है या गमन, आगमन नहीं करता, अथवा अच्छा या बुरा नहीं है या इस प्रकार का विचार नहीं किया जा सकता। लोकव्यवहार या संवृति में यह सब कुछ हो सकता है। व्यावहारिक विषयों में व्यावहारिक विचार होने में कोई आपत्ति नहीं है।

विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं। प्रासंगिक माध्यमिक यद्यपि समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं, तथापि वे निर्बाह्यार्थवादी नहीं हैं। उनके मत में घट, पट आदि समस्त धर्म निःस्वभाव हैं, तथापि वे सर्वथा अलीक नहीं हैं, उनका अस्तित्व है। अर्थात् व्यावहारिक क्षेत्र में बाह्यार्थ का अस्तित्व मान्य है। इनके मतानुसार 'षट्केन युगपद् योगाद्' (वसुबन्धु, विंशिका, का. १२) आदि विज्ञानवादियो की इन युक्तियों के द्वारा निरवयव बाह्यार्थ (परमाणु) का खण्डन होता है, तथापि बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता। उनका कहना है कि विज्ञानवादियों के पास बाह्यार्थ के निषेध के लिए पर्याप्त एवं उपयुक्त युक्तियों का अभाव है। इतना ही नहीं, निर्बाह्यार्थता के पक्ष में लोकप्रसिद्धि से भी विरोध है।

'चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्' इस दशभूमकसूत्र द्वारा बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता, अपितु चित्तातिरिक्त ईश्वर आदि सृष्टिकर्ता का निषेध होता है। 'दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते' इत्यादि लङ्कावतारसूत्र द्वारा यद्यपि बाह्यार्थ का निषध किया गया है, तथापि यह सूत्र नेयार्थ है, नीतार्थ नहीं। प्रयोजनवश भगवान् ने वैसा कहा है।

(२) परमाणु

वैभाषिक परमाणुवादी हैं। यद्यपि परमाणु के स्वरूप के बारे में उनमें परस्पर अनेकविध मतभेद हैं, तथापि सभी परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक भी परमाणु मानते हैं। बाह्यार्थवादियों के लिए परमाणु मानना आवश्यक भी है।

विज्ञानवादी परमाणु नहीं मानते। बाह्यार्थ का अभाव एवं विज्ञान की सत्ता सिद्ध करने के लिए परमाणु का निषेध करना आवश्यक होता है। इसीलिए आचार्य वसुबन्धु ने विंशिका में निरवयव परमाणु का जोरदार खण्डन किया है।

प्रासंगिक माध्यमिक भी वैभाषिकों की भाँति परमाणुवादी हैं, तथापि दोनों के मत में मौलिक अन्तर है। सभी प्रकार के वैभाषिक निरवयव परमाणु मानते हैं। प्रासंगिक परमाणु को कल्पित मानते हैं। वह कल्पित परमाणु भी उनके मतानुसार निरवयव नहीं हो सकते, अपितु सावयव होते हैं। वे कहते हैं कि जैसे व्यवहार में घट, पट आदि की सत्ता है, उसी प्रकार परमाणु का भी अस्तित्व है।

(३) आलयविज्ञान

स्थविरवादी यद्यपि आलयविज्ञान नहीं मानते, फिर भी कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि की व्यवस्था के लिए एक 'भवाङ्ग' नामक चित्त स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार भावाङ्ग ही व्यक्तित्व है, जो कुछ अवस्थाओं को छोड़कर समुद्र की भाँति भीतर ही भीतर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। जैसे आलयविज्ञान जब तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता, तब तक निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होता रहता है, वैसे ही भवाङ्ग चित्त भी अर्हत् के निरूपधिशेष निर्वाणधातु में लीन होते तक प्रवृत्त होता रहता है। समुद्र से तरङ्गों की भांति आलयविज्ञान से जैसे सात प्रवृत्तिविज्ञानों की की प्रवृत्ति होती है और अन्त में वे उसी में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही भवाङ्ग चित्त से छह प्रवृत्तिविज्ञानों (वीथिचित्तों) की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्त होकर उसी में विलीन हो जाते हैं। विज्ञानवादी आलयविज्ञान को जैसे कुशल, अकुशल का विपाक मानते हैं, स्थविरवादियों के मत में भवाङ्ग चित्त भी कुशल, अकुशल कर्मों का विपाक होता है। आलयविज्ञान की भांति भवाङ्ग चित्त भी प्रतिसन्धि (पुनर्जन्म ग्रहण) और च्युति (मरण) कृत्य करता है। आलयविज्ञान और भवाङ्ग दोनों संस्कृत और क्षणिक होते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार आलयविज्ञान में कुशल, अकुशल, अव्याकृत सभी चित्तों की वासनाएं निहित रहती हैं। वह समस्त धर्मो के बीजों का आधार होता है, वैसे भवाङ्ग चित्त से भी षड् विज्ञानवीथियाँ उत्पन्न होती हैं और अन्त में उसी में पतित हो जाती हैं। फलतः वह भी वासनाओं का आधार हो जाता है।

फिर भी आलयविज्ञान और भवाङ्ग के स्वरूप में कुछ फर्क भी है। विज्ञानवादियों में युगपत् अनेक विज्ञानों की उपस्थिति मानी जाती है। इनके मत में किसी भी एक क्षण में कम से कम तीन विज्ञान अवश्य उपस्थित होते हैं, यथा–आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान और कोई एक प्रवृत्तिविज्ञान। स्थविरवादी एक काल में एक से अधिक विज्ञान की उपस्थिति नहीं मानते। अतः जब कोई प्रवृत्तिविज्ञान या वीथिचित्त उत्पन्न होता है, उस समय भवाङ्ग चित्त निरुद्ध हो जाता है, इसे 'भवाङ्गोपच्छेद' कहते हैं। फलतः केवल भवाङ्ग ही वासनाओं का आधार नहीं होता, अपितु लोकोत्तर चित्तों को छोड़कर समस्त चित्त यथायोग्य वासनाओं के आधार होते हैं।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक किसी भी तरह आलयविज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं करते। आगमानुयायी विज्ञानवादी आलयविज्ञान पर ही अपना दर्शन स्थापित करते हैं। युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी आलयविज्ञान को नहीं मानते। अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान भी नहीं मानते। फलतः ये अष्ट विज्ञानवादी नहीं, अपितु षड्विज्ञानवादी हैं। इनके मत में भी वासनाएं होती हैं, किन्तु वे उन्हें आलयविज्ञान पर नहीं, अपितु मनोविज्ञान पर आधृत मानते हैं। सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक बाह्यार्थ मानते हैं, अतः उन्हें आलयविज्ञान मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आलयविज्ञान न मानने से क्लिष्ट मनोविज्ञान को मानने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य भावविवेक अपने मध्यमकहृदय ग्रन्थ में कहते हैं कि विज्ञानवादियों ने आलयविज्ञान के नाम से आत्मा की ही स्थापना कर दी है। इस तरह आचार्य भावविवेक आलयविज्ञान का खण्डन करते हैं और छह विज्ञान ही मानते हैं।

योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत के प्रवर्तक आचार्य शान्तरक्षित के ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता नहीं होता कि वे आलयविज्ञान मानते हैं कि नहीं, तथापि उनके दर्शन के वातावरण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे आलयविज्ञान नहीं मानते।

प्रासंगिक मत के आचार्य चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार में कहा है कि विज्ञानवादियों के आलयविज्ञान तथा ईश्वरवादियों के ईश्वर में केवल इतना ही अन्तर है कि विज्ञानवादी आलयविज्ञान को अनित्य मानते हैं और ईश्वरवादी ईश्वर को नित्य मानते हैं। इस प्रकार प्रासंगिक माध्यमिक आलयविज्ञान का खण्डन करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आलयविज्ञान एक अनित्य विज्ञान है, नित्य नहीं, जैसा कि कुछ लोग उसे नित्य मानते हैं।

(४) निर्वाण

वैभाषिक निरोध को निर्वाण मानते हैं। वह भी प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध के भेद से द्विविध हैं। इन दोनों में प्रतिसंख्यानिरोध ही मुख्य है। निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में सभी संस्कृत धर्म निरुद्ध हो जाते हैं और वह (संस्कृत धर्मों का निरोध) अप्रतिसंख्यानिरोधस्वरूप होता है। वह असंस्कृत होता है और द्रव्यतः सत् होता है।

सौत्रान्तिकों के मत में निर्वाण अभावमात्र (प्रसज्यप्रतिषेधस्वरूप) होता है, जो समस्त क्लेशों से रहितमामात्र है।

विज्ञानवादियों के मत में निर्वाणयद्रव्यतः सत् नहीं है। वह क्लेशावरण का अभावमात्र है। महानिर्वाण भी क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों का अभावमात्र ही है और वह एक नित्य धर्म है। महायाननिर्वाण की अवस्था बुद्धत्व की अवस्था है। इस अवस्था में यद्यपि सास्रव पञ्च स्कन्ध अर्थात् सास्रव शरीर एवं चित्तसन्तति विद्यमान नहीं होते, तथापि अनास्रव पञ्च स्कन्ध विद्यमान होते हैं, जो समस्त जीवों का कल्याण सिद्ध करते हैं। माध्यमिक भी ऐसा ही मानते हैं।

(५) बुद्धवचन

वैभाषिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते, क्योंकि उनमें वर्णित विषय उन्हें अभीष्ट नहीं हैं। वे केवल हीनयानी त्रिपिटक को ही बुद्धवचन मानते हैं। प्राचीन या आगमानुयायी सौत्रान्तिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते थे, किन्तु धर्मकीर्ति के बाद के अर्वाचीन या युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक महायानी आचार्यों के प्रभाव से महायानसूत्रों को बुद्धवचन मानने लगे, फिर भी वे उनका अर्थ प्रकारान्तर से लेते थे। महायानी आचार्य हीनयानी और महायानी सभी सूत्रों को बुद्धवचन मानते हैं।

(६) धर्मचक्र

वैभाषिक और सौत्रान्तिक एक धर्मचक्र ही मानते हैं, जिसकी देशना भगवान् ने ऋषिपतन मृगदाव में की थी। इसके विनेय जन श्रावकवर्गीय लोग हैं, जो स्वलक्षण और बाह्यसत्ता पर आधृत चतुर्विध आर्यसत्य के पात्र हैं। पुद्गल-नैरात्म्य के साक्षात्कार द्वारा निर्वाण प्राप्त कर लेना, इसका लक्ष्य है। श्रावक-वर्गीय लोगों की दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है। योगाचार और माध्यमिक लोगों की दृष्टि से यह नेयार्थ देशना है।

महायानी तीन धर्मचक्र प्रवर्तन मानते हैं। पहला ऋषिपतन मृगदाव में, दूसरा गृध्रकूट पर्वत पर तथा तीसरा वैशाली में। द्वितीय धर्मचक्र के विनेय जन महायानी लोग हैं तथा शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसकी विषयवस्तु हैं। विज्ञानवादी लोग इस द्वितीय धर्मचक्र को नेयार्थ मानते हैं, नीतार्थ नहीं। इसमें प्रमुखतः प्रज्ञापारमितासूत्र देशित हैं, जिनसे माध्यमिक दर्शन विकसित हुआ है। इसकी नेयनीतार्थता के बारे में स्वातन्त्रिक माध्यमिकों एवं प्रासंगिक माध्यमिकों में थोड़ा-बहुत मतभेद है। आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शान्तरक्षित आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार प्रज्ञापारमितासूत्रों में आर्यशतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि कुछ सूत्र नीतार्थ हैं, क्योंकि इनमें सभी धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता निर्दिष्ट है। भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र आदि यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जा सकते, क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादित की गई है उस प्रकार की निःस्वभावता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को इष्ट नहीं है। यद्यपि इन सूत्रों का अभिप्राय परमार्थतः निःस्वभावता ही है, तथापि उनमें 'परमार्थतः' यह विशेषण अधिक स्पष्ट नहीं है जो कि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार नीतार्थसूत्र होने के लिए परमावश्यक है। क्योंकि ये लोग व्यवहार में वस्तु की स्वलक्षण सत्ता स्वीकार करते हैं।

प्रासंगिक माध्यमिकों के अनुसार द्वितीय धर्मचक्र नीतार्थ देशना है। वे 'परमार्थतः विशेषण को निरर्थक मानते हैं। इनके मत में जिस सूत्र का मुख्य विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है। जिसका मुख्य विषय संवृति सत्य है, वह नेयार्थ सूत्र है। अतः इनके मत में भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं।

तृतीय धर्मचक्र का स्थान वैशाली है। श्रावक एवं महायानी दोनों इसके विनेय जन हैं। आर्य सन्धिनिर्मोचन आदि इसके प्रमुख सूत्र हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है। यद्यपि द्वितीय और तृतीय दोनों धर्मचक्रों में शून्यता प्रतिपादित है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समान रूप से निःस्वभाव कहा गया है। उसमें यह भेद नहीं किया गया है कि अमुक धर्म निःस्वभाव है और अमुक धर्म निःस्वभाव नहीं है, अपितु सस्वभाव है। विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव नहीं मानते, अपितु पदार्थों में से कुछ निःस्वभाव हैं और कुछ सस्वभाव। अतः वे द्वितीय धर्मचक्र को नीतार्थ नहीं मानते। उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की सस्वभावता और निःस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जा सकते हैं। जिन सूत्रों में उक्त प्रकार का विभाजन स्पष्ट नहीं है, उन्हें विज्ञानवादी नेयार्थ ही मानते हैं।

आचार्य भावविवेक शान्तरक्षित आदि इसे अर्थात् तृतीय धर्मचक्र को नीतार्थ मानते हैं, क्योंकि इसके द्वारा भगवतीप्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्रों (जो सूत्र द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं और नेयार्थ हैं) का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है।

प्रश्न है कि विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों मतों में तृतीय धर्मचक्र समानरूप से नीतार्थ कैसे माना जा सकता है, जबकि दोनों के सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं ?

दोनों इसे नीतार्थ तो अवश्य मानते हैं, किन्तु स्वातन्त्रिक माध्यमिक यह नहीं कहते कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय विज्ञानवादियों ने जैसा समझा है, वैसा ही है। उनका कहना है कि विज्ञानवादियों ने इसका अभिप्राय गलत ढंग से प्रस्तुत किया है।

आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासंगिक माध्यमिक इस तृतीय धर्मचक्र को सर्वथा नेयार्थ देशना ही मानते हैं। उनका कहना है कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय ठीक वैसा ही है, जैसा विज्ञानवादी मानते हैं। क्योंकि विज्ञानवादियों के सिद्धान्त युक्तिहीन एवं दोषदुष्ट हैं, अतः तृतीय धर्मचक्र नेयार्थ देशना है। उनके मतानुसार तृतीय धर्मचक्र की देशना भगवान् ने ऐसे विनेय जनों के लिए की है, जो तत्काल गम्भीर शून्यता देशना के पात्र नहीं हैं, अतः तत्काल विज्ञानवाद की देशना देकर पीछे कुशलता से गम्भीर विषय (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर ले जाने के लिए उन्होंने तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है।

(७) द्विविध नैरात्म्य

विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गलनैरात्म्य का स्वरूप पञ्च स्कन्धों से द्रव्यतः भिन्न, नित्य, शाश्वत आत्मा का निषेधमात्र है, वैभाषिक सौत्रान्तिक आदि हीनयानी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी ऐसा ही मानते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यार्थ से शून्यता या ग्राह्य-ग्राहकद्वय से शून्यता धर्मनैरात्म्य है तथा स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता धर्मनैरात्म्य है।

प्रासङ्गिक ऐसा नहीं मानते। उनके मत में यद्यपि उक्त प्रकार की आत्मा का अस्तित्व मान्य नहीं है, तथापि उक्त प्रकार के पुद्गलनैरात्म्य के ज्ञान से सर्वविध आत्मदृष्टि का निषेध नहीं होता। उक्त ज्ञान केवल परिकल्पित आत्मृष्टि का ही प्रतिपक्ष है, जो (आत्मा) केवल सिद्धान्तविशेष से प्रेरित लोगों में ही होती है। सहज आत्मदृष्टि की इससे कुछ भी हानि नहीं होती।

इसके मतानुसार नैरात्म्य की स्थापना पुद्गल तथा धर्म के भेद से की जाती है। पुद्गलनिःस्वभावता पुद्गलनैरात्म्य तथा घटादि निःस्वभावता धर्मनैरात्म्य है।

(८) द्विविध आवरण

सभी महायानी दर्शनों में द्विविधि आवरणों की व्यवस्था है, यथा- क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण। क्रमशः प्रथम आवरण मुक्ति की प्राप्ति में मुख्य बाधक है तथा दूसरा आवरण सर्वज्ञता की प्राप्ति में मुख्य बाधक है।

विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गलात्मदृष्टि तथा उससे सम्बद्ध क्लेश 'क्लेशावरण' है। बाह्यार्थदृष्टि तथा उसकी वासनाएं 'ज्ञेयावरण' हैं। स्वातान्त्रिक माध्यमिकमत में क्लेशावरण का स्वरूप विज्ञानवादियों से भिन्न नहीं है, किन्तु उनके मतानुसार धर्मों की सत्यतः सत्तादृष्टि ज्ञेयावरण है।

प्रासंगिक माध्यमिक मतानुसार पुद्गलात्मदृष्टि तथा धर्मात्मदृष्टि सभी क्लेशावरण हैं, क्योंकि सभी स्वभावसद्-दृष्टि क्लेश होती है। स्वभावसद्-दृष्टि मुक्ति की प्राप्ति में मुख्य बाधक है। अतः मोक्षप्राप्ति के लिए निःस्वभावता का ज्ञान अनिवार्य है। अतः श्रावक तथा प्रत्येकबुद्ध आर्यों के लिए निःस्वभावता का ज्ञाता होना निश्चित होता है।

स्वभावसद्-दृष्टि की वासना ज्ञेयावरण है। यही सर्वज्ञज्ञान की प्राप्ति में मुख्य बाधक है। उसके प्रहाण के लिए महाकरुणा से संगृहीत सम्भारों तथा पारिमताओं की आवश्यकता होती है। यह प्रासङ्गिकों की विशिष्ट मान्यता है।

(९) द्विविध सत्य

दो सत्यों की चर्चा हीनयानी ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। पालि-अट्ठकथा एवं अभिधर्मकोश में इनके लक्षण वर्णित हैं, किन्तु महायान में इनकी पुष्कल चर्चा हुई है। नागार्जुन इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। सौत्रान्तिक परमार्थतः अर्थक्रियासमर्थ को परमार्थसत्य कहते हैं। निर्बाह्यार्थता या ग्राह्य-ग्राहक द्वैत से रहितता योगाचार मत में परमार्थसत्य है। स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक माध्यमिक का सत्यद्वय के बारे में जो सूक्ष्म दृष्टिभेद है, उसे जान लेना आवश्यक है।

भावविवेक के मत में परमार्थतः निःस्वभावता 'परमार्थसत्य' है। केवल निःस्वभावता परमार्थसत्य नहीं मानी जाती, क्योंकि उनके मत में स्वभावसत्ता होती है।

प्रासङ्गिक माध्यमों के मतानुसार निःस्वभावता ही 'परमार्थसत्य' है। उनके अनुसार 'परमार्थतः' यह विशेषण निरर्थक है।

दोनों के मत में संवृति के दो प्रकार हैं। भावविवेक विषय की दृष्टि से तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति- ये दो भेद मानते हैं। परन्तु प्रासङ्गिक मत के अनुसार विषय दो प्रकार के नहीं हो सकते, क्योंकि सभी विषय मिथ्या ही होते हैं। विषयी (ज्ञान) दो प्रकार का होता है। यह लोकव्यवस्था के अनुकूल भी है। प्रासङ्गिक की अपनी दृष्टि से तो सभी ज्ञान मिथ्या ही हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि से सभी सांवृत ज्ञान भ्रान्त होते हैं। फिर भी लोकव्यवस्था के अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं।

(१०) प्रमाण विचार

प्रमाणों की दो संख्या के बारे में प्रायः सभी बौद्ध एकमत हैं। प्रमाणों के बारे में सौत्रान्तिकों ने विस्तृत विचार किया है। प्रमाण दो हैं - प्रत्यक्ष और अनुमान। सौत्रान्तिक प्रत्यक्ष प्रमाण को चतुर्विध मानते हैं। योगाचार दार्शनिक भी सौत्रान्तिकों के समान ही मानते हैं। परन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं मानते। वैभाषिक भी ऐसा ही मानते हैं। इनके मत में प्रत्यक्ष त्रिविध ही है, यथा- इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष।

कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रासङ्गिक केवल दो ही प्रमाण नहीं मानते, अपितु प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और आगम-इन चार प्रमाणों को मानते हैं। वे अपने बात की पुष्टि के लिए प्रसन्नपदा के एक श्लोक को उद्धृत भी करते हैं।

आचार्य चोंखापा का कहना है कि प्रसन्नपदा का वचन विग्रहव्यावर्तनी पर आधृत है, वह चार प्रमाण होने का सबूत नहीं है। क्योंकि उपमान और आगम का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रमाणवार्तिक में आगम को कितनी सीमा तक तथा किस प्रकार परीक्षित होने पर गृहीत किया जा सकता है और आप्त लिङ्ग की व्यवस्था तथा उसका स्वरूप क्या है ? इन सबका स्पष्टतया वर्णन किया गया है।

निष्कर्षतः प्रासङ्गिक द्विविध प्रमाणवादी हैं। **'मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्'** (प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद) इस नियम को प्रासङ्गिक भी मानते हैं।

(११) त्रिकाय व्यवस्था

बुद्धत्व महायान का अन्तिम प्राप्तव्य पद है। महायान के अनुसार निरुपधिशेष निर्वाण

प्राप्त होने पर भी व्यक्ति की रूपसन्तति एवं चित्तसन्तति का निरोध नहीं होता, जैसे कि हीनयानी दर्शनों के अनुसार होता है। महायानियों का कहना है कि निरुपधिशेष निर्वाण होने पर व्यक्ति की केवल क्लिष्ट सन्तति का ही निरोध होता है। अनास्रव पञ्चस्कन्ध सन्तति तो सवर्दा प्रवहमान होती ही रहती है।

बोधिसत्त्व जब बुद्धत्व प्राप्त करता है तो बुद्धत्व-प्राप्ति के साथ ही तीन कार्यों की प्राप्ति होती है, यथा- (१) धर्मकाय, (२) सम्भोग काय एवं (३) निर्माण काय।

(१) धर्मकाय

जैसे एक सामान्य व्यक्ति में चित्त (चेतनांश) और शरीर (जडांश) दोनों होते हैं, वैसे ही बुद्ध की अवस्था में भी ये दोनों होते हैं। उनमें से चित्त (चेतनांश) धर्मकाय है तथा उनके सम्भोग काय और निर्माणकाय ये शरीरस्थानीय हैं। सांसारिक अवस्था में व्यक्ति के चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान रूप, शब्द आदि विभिन्न विषयों में प्रवृत्त होते रहते हैं। उसका आलयविज्ञान समस्त वासनाओं और दौष्ठुल्यों का आश्रय हुआ करता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान, जो एक विषम विज्ञान है, वह सर्वदा आलयविज्ञान को आत्मत्वेन ग्रहण करता रहता है। बुद्धावस्था में इन समस्त विज्ञानों की समाप्ति हो जाती है और उनके स्थान पर नए-नए विज्ञानों का उत्पाद हो जाता है। इस प्रक्रिया को ही **'आश्रयपरावृत्ति'** कहते हैं। जैसे सांसारिक अवस्था में आलयविज्ञान समस्त विज्ञानों का आश्रय हुआ करता है, उसी तरह बुद्धावस्था में सर्वज्ञज्ञान ही उनके समस्त ज्ञानों का आधार होता है और उसमें ही समस्त बुद्धगण विद्यमान रहते हैं। आलयविज्ञान के स्थान पर बुद्धावस्था में सर्वज्ञज्ञान उत्पन्न होता है, जो अप्रतिष्ठित निर्वाण का आधार होता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान के स्थान पर समता ज्ञान का उत्पाद होता है, जो समस्त धर्मों को समानरूप से शून्य जानता है। सांसारिक अवस्था चक्षुरादिविज्ञानों के स्थान पर अतिविशुद्ध चक्षुरादिविज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो एक-एक भी समस्त धर्मो और उनकी शून्यता को जानते हैं। ये समस्त ज्ञान सामूहिक रूप से **'ज्ञान धर्मकाय'** कहलाते हैं। इस ज्ञानकाय में सर्वज्ञज्ञान ही प्रमुख है।

ज्ञातव्य है कि धर्मकाय त्रिविध है, यथा- ज्ञानधर्मकाय, आगन्तुक विशुद्ध स्वभाव धर्मकाय एवं स्वभावविशुद्ध स्वभाव धर्मकाय। इनमें प्रथम ज्ञानधर्मकाय का स्वरूप अभी कहा गया है। अब आगन्तुकविशुद्ध स्वभावधर्मकाय का स्वरूप कहा जा रहा है।

उस उपर्युक्त सर्वज्ञज्ञान में स्थित आवरणों का क्षय भी धर्मकाय है, उसे **'आगन्तुक विशुद्ध स्वभाव धर्मकाय'** कहते हैं। विज्ञानवादी मत में धर्मकाय तीन प्रकार का नहीं माना जा जाता, जैसा ऊपर कहा गया है, अपितु दो ही प्रकार का माना जाता है, यथा- (१) ज्ञानधर्मकाय एवं (२) आगन्तुक विशुद्ध स्वभावधर्मकाय। इस मत में स्वभावविशुद्ध स्वभावधर्मकाय नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञज्ञान में स्थित बाह्यार्थशून्यता इन विज्ञानवादियों के

मत में धर्मकाय नहीं है। इसका कारण यह है कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित बाह्यार्थशून्यता उस सर्वज्ञज्ञान के विषय रूप आदि की भी बाह्यार्थशून्यता है। ज्ञातव्य है कि इस मत में रूप और रूप को जानने वाला चक्षुर्विज्ञान ये दोनों रूप के परतन्त्रलक्षण हैं और दोनों की शून्यता एक ही है। इसीलिए रूप को जानने वाला सर्वज्ञज्ञान भी रूप का परतन्त्रलक्षण है और उसमें स्थित शून्यता रूप की भी शून्यता है। ऐसी स्थिति में जब कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यता रूप में भी विद्यमान है, तो वह कैसे धर्मकाय हो सकती है। अर्थात् सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यता धर्मकाय नहीं है।

यह सिद्धान्त माध्यमिक मत से बहुत भिन्न है। माध्यमिकों के मत में एक धर्म की शून्यता दूसरे धर्म की शून्यता कथमपि नहीं हो सकती। फलतः उनके मत में सर्वज्ञज्ञान में जो शून्यता स्थित है, वह धर्मकाय होती है, जिसे **'स्वभावविशुद्ध स्वभावधर्मकाय'** कहते हैं। ऐसा होने के कारण माध्यमिकों के मत में त्रिविध धर्मकाय होते हैं, यथा-द्विविधस्वभाव धर्मकाय और ज्ञानधर्मकाय। द्विविध स्वभाव धर्मकाय ये हैं–स्वभावविशुद्ध स्वभाव धर्मकाय एवं आगन्तुक विशुद्ध स्वभावधर्मकाय।

(२) सम्भोग काय

सांसारिक अवस्था में बोधिसत्त्व का जो सास्रव शरीर होता है, वह दश भूमियों की अवस्था में क्रमशः शुद्ध होता जाता है। आखिरी जन्म में बोधिसत्त्व 'चरमभविक बोधिसत्त्व' कहलाता है। वह चरमभविक बोधिसत्त्व अपने आखिरी जन्म में कामधातु और रूपधातु के स्थानों में उत्पन्न नहीं होता, अपितु केवल अकनिष्ठ घनक्षेत्र में ही जन्मग्रहण करता है। वहाँ उसका शरीर अत्यन्त दिव्य होता है और कर्म-क्लेशों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। उसी दिव्य जन्म में वह बुद्ध हो जाता है। बुद्ध होते ही व्यक्ति सम्भोगकाय हो जाता है और उसका शरीर ३२ महापुरुष लक्षणों और ८० अनुव्यञ्जनों से विभूषित हो जाता है। वह सम्भोगकाय निम्न पाँच विनियतों से युक्त होता है।

(१) स्थानविनियत–वह सर्वदा केवल अकनिष्ठ घनक्षेत्र में ही स्थित रहता है।
(२) कायविनियत–उसका शरीर ३२ महापुरुषलक्षण और ८० अनुव्यञ्जनों से सर्वदा युक्त रहता है।
(३) परिवारविनियत–उनके परिवार में केवल महायानी आर्य बोधिसत्त्व ही रहते हैं।
(४) वाग्-विनियत–यह सदा महायान धर्म का ही उपदेश देते हैं।
(५) कालविनियत–वह यावत्-संसार अर्थात् जब तक संसार है, तब तक उसी रूप में स्थित रहते हैं।

(३) निर्माण काय

यद्यपि उपर्युक्त सम्भोगकाय सर्वदा अकनिष्ठ घनक्षेत्र में ही स्थित रहता है, तथापि वह सकल जगत् के कल्याणार्थ समस्त क्षेत्रों में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध आदि के रूप में

अनेक बुद्धों का निर्माण करता है। ऐसे बुद्धों को 'निर्माणकाय' कहते हैं। इनके स्थान आदि नियत नहीं होते। वाराणसी, मगध आदि अनेक स्थलों में वे भ्रमण करते रहते हैं। वे निर्माणकाय पशु, पक्षी, पृथग्जन आदि सभी जीवों के दृष्टिगोचर होते हैं तथा समस्त विनेय जनों के कल्याणार्थ श्रावक, प्रत्येक बुद्ध बोधिसत्त्व आदि सभी यानों का उपदेश करते हैं। वे यावत्-संसार स्थित नहीं रहते, अपितु कुछ ही काल में कुशीनगर आदि स्थानों में महापरिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। निर्माणकाय तीन प्रकार के होते हैं, यथा :

(१) उत्तम निर्माणकाय–उत्तम निर्माणकाय का सम्भोगकाय से साक्षात् सम्बन्ध होता है। वे जम्बूद्वीप आदि विभिन्न लोकों में द्वादश (१२) चरित (लीला) प्रदर्शित करते हैं। इन चरितों के द्वारा वे विनेय जनों का कल्याण सिद्ध करते हैं। यह काय भी ३२ महापुरुषलक्षण और ८० अनुव्यञ्जनों से विभूषित होता है। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध इसके निदर्शन (उदाहरण) हैं। द्वादश चरित इस प्रकार हैं-१. तुषित लोक से च्युति, २. मातृकुक्षि में प्रवेश, ३. लुम्बिनी उद्यान में अवतरण, ४. शिल्प कला में निपुणता एवं कौमार्योचित ललित क्रीडाएं, ५. रानियों के परिवार के साथ राज्यग्रहण, ६. चार निमित्तों (वृद्ध, रोगी, मृत आदि) को देखकर ससंवेग प्रव्रज्या, ७. नेरञ्जना नदी के तट पर छह वर्षों तक कठोर तपश्चरण, ८. बोधिवृक्ष के मूल में उपस्थिति, ९. मार की सम्पूर्ण सेना का दमन, १०. वैशाख पूर्णिमा के दिन बोधि की प्राप्ति, ११. ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में धर्मचक्र-प्रवर्तन एवं १२. कुशीनगर में महापरिनिर्वाण।

(२) शैल्पिक निर्माणकाय – उत्तम निर्माणकाय को आधार बनाकर उत्तम कलाकार के रूप में प्रकट होना 'शैल्पिक निर्माणकाय' कहलाता है। एक समय शाक्यमुनि ने अपनी कला के अभिमानी गन्धर्वराज प्रमुदित का दमन करने के लिए स्वयं को वीणावादक के रूप में प्रकट किया था। यह 'शैल्पिक निर्माणकाय' का उदाहरण है।

(३) नैर्याणिक निर्माणकाय-उत्तम निर्माणकाय एवं शैल्पिक निर्माणकाय के अतिरिक्त बुद्ध का अन्य सत्त्व के रूप में जन्म लेना 'नैर्याणिक निर्माणकाय' कहलाता है। उत्तम निर्माणकाय के रूप में राजा शुद्धोदन के पुत्र होने के पहले बुद्ध तुषित क्षेत्र में देवपुत्र सच्छ्वेतकेतु के रूप में उत्पन्न हुए थे। उनका यह जन्म नैर्याणिक निर्माणकाय का उदाहरण है।

उपर्युक्त कायों में से धर्मकाय और उसके भेदों को सामान्य विनेय जन देख नहीं पाते। सम्भोगकाय और निर्माणकाय इन दो रूपी कायों को ही विनेय जन अपने पुण्यों के अनुसार देख सकते हैं। सम्भोगकाय केवल आर्य बोधिसत्त्वों का ही दृष्टिगोचर होता है तथा निर्माणकाय पृथग्जन सहित सभी जीवधारियों का गोचर होता है।

बुद्धगुण

बुद्ध में अनन्तानन्त गुण होते हैं। उन्हें चार भागों में वर्गीकृत किया जाता है, यथा- कायगुण, वाग्-गुण, चित्तगुण एवं कर्मगुण। यहाँ संक्षेप में उनका निर्देश किया जा रहा है।

(१) काय-गुण-३२ महापुरुषलक्षण एवं ८० अनुव्यञ्जन बुद्ध के कायगुण हैं। उनमें से प्रत्येक यहाँ तक कि प्रत्येक रोम भी सभी ज्ञेयों का साक्षात् दर्शन कर सकता है। बुद्ध विश्व के अनेक ब्रह्माण्डों में एक-साथ कायिक लीलाओं का प्रदर्शन कर सकते हैं। इन लीलाओं द्वारा वे विनेयजनों को सन्मार्ग में प्रतिष्ठित करते हैं।

(२) वाग्-गुण-बुद्ध की वाणी स्निग्ध वाक्, मृदुवाक, मनोज्ञवाक्, मनोरम वाक्, आदि कहलाती है। इस प्रकार बुद्ध की वाणी के ६४ अंग होते हैं, जिन्हें 'ब्रह्मस्वर' भी कहते हैं। ये सब बुद्ध के वाग्-गुण हैं।

(३) चित्त-गुण-बुद्ध के चित्त-गुण ज्ञानगत भी होते हैं और करुणागत भी। कुछ गुण साधारण भी होते हैं, जो श्रावक और प्रत्येकबुद्ध में भी होते हैं। कुछ गुण असाधारण होते हैं, जो केवल बुद्ध में ही होते हैं। उनका यहाँ नामोल्लेख किया जा रहा है।

दश बल, चतुर्वैशारद्य, तीन असम्भिन्न स्मृत्युपस्थान, तीन अगुप्त नास्ति मुषितस्मृतिता, सम्यक् प्रतिहतवासनत्व, महाकरुणा, अष्टादश आवेणिक गुण आदि बुद्ध के ज्ञानगत गुण हैं। दुःखी सत्त्वों को देखकर बुद्ध की महाकरुणा अनायास स्वतः प्रवृत्त होने लगती है। महाकरुणा के इस अजस्र प्रवाह से जगत् का अविच्छिन्न रूप से कल्याण हाता रहता है। यह उनका करुणागत गुण है।

(४) कर्म-गुण-ये दो प्रकार के होते हैं, यथा- १. निराभोग कर्म और २. अविच्छिन्न कर्म। निराभोग कर्म से तात्पर्य उन कर्मों से है, जो बिना प्रयत्न या संकल्प के सूर्य से प्रकाश की भांति स्वतः अपने-आप प्रवृत्त होते हैं। बुद्ध के कर्म बिना कालिक अन्तराल के लगातार सर्वदा प्रवृत्त होते रहते हैं, अतः ये अविच्छिन्न कर्म कहलाते हैं।

(१२) एकयानवाद

संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो किसी न किसी दिन बुद्धत्व प्राप्त न कर लेगा। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध भी, जिन्होंने निरुपधिशेष निर्वाण भी प्राप्त कर लिया है, यह सम्भव है कि अनेक कल्पों तक वे निर्वाणधातु में लीन रहें, फिर भी उनका एक न एक दिन महायान में प्रवेश होगा और वे अवश्य बुद्धत्व प्राप्त करेंगे। आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में जीवों की चित्तसन्तति को अनादि एवं अनन्त सिद्ध किया है (१:४६-४७)। इससे सिद्ध होता है कि निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में भी चित्तसन्तति विद्यमान होती है। जब चित्तसन्तति का उच्छेद नहीं होता, तब कोई कारण नहीं कि बुद्धत्व प्राप्त न किया जा सके। दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में आलयविज्ञान का मानना या न मानना ही सबसे बड़ा अन्तर है। किन्तु आलयविज्ञान मानने वाले विज्ञानवादी एकयानवादी न होकर त्रियानवादी होते हैं, यह भी बड़ा अन्तर है। विज्ञानवाद की स्थापना या विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध करने में भी यद्यपि दोनों के युक्तियों में भेद है, तथापि यह शैलीगत भेद है, मान्यताओं में नहीं।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में अपने अध्ययन और अध्यापन के सम्पूर्ण काल में मेरे मन में यह विचार बराबर बना रहा कि बौद्ध दर्शन के सभी प्रस्थानों पर एक प्रामाणिक और गम्भीर ग्रन्थ लिखना चाहिए। इधर लोगों में बौद्ध विचारों को जानने की इच्छा बलवती हुई है। वे पढ़ने के लिए हिन्दी ग्रन्थ की मांग करते हैं।

इधर इस तरह के हिन्दी में कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, लेकिन वे ज्यादातर इतिहास और समीक्षा प्रधान तो हैं, किन्तु उनमें दार्शनिक गम्भीर चिन्तन का अभाव दिखता है। इसका कारण अध्ययन की परम्परा का अभाव तथा अंग्रेजी के ग्रन्थों पर निर्भरता प्रतीत होता है।

ज्ञात है कि बौद्ध धर्म का मूल देश भारत है। यहीं से बौद्ध धर्म विश्व में फैला, किन्तु अनेक ऐतिहासिक कारणों से बौद्ध परम्परा ८-९ शताब्दियों से भारत में विलुप्त हो गई। १९वीं शताब्दी से मनीषियों के सत्प्रयास से कुछ कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होने लगे, किन्तु परम्परा के अभाव में उनका प्रामाणिक अवबोध नहीं हो पा रहा है। तिब्बती विद्वानों के सम्पर्क से कई दुरूह स्थलों का खुलासा हुआ। मुझे इस ग्रन्थ की रचना में उनसे पर्याप्त सहायता मिली है।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ की ओर से 'संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास' प्रकाशित करने की योजना है। इसके अन्तर्गत इस योजना के पूर्व प्रधान सम्पादक पूज्यपाद आचार्य स्व. बलदव उपाध्याय जी ने 'बौद्धदर्शन, उसके सम्प्रदाय और ऐतिहासिक विवरण' लिखने का कार्य सम्पन्न करने का भार मुझे सौंपा था। तदनुसार मैंने जब कार्य सम्पन्न करके उन्हें दिखाया तो उन्होंने कहा कि इसे संक्षिप्त करके लाइये। मैंने उनसे कहा कि मैं संक्षिप्त तो कर दूँगा, किन्तु आप अनुमति दें तो इस विस्तृत कार्य को अन्यत्र छपवा दूँ। उन्होंने सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी। किन्तु यह कार्य उनके निधन से बीच में कुछ दिन अवरुद्ध हो गया।

इधर संस्थान के निदेशक श्री पी.के. पाण्डेय जी और सहायक निदेशक श्री चन्द्रकान्त द्विवेदी ने वाराणसी में एक गोष्ठी की, जिसमें मुझे पुनः इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर देने का निर्देश दिया। तदनुसार स्व. उपाध्याय जी के परामर्श के अनुसार मैंने पुनः पूर्व कार्य में संशोधन, परिवर्धन करके इसे सम्पन्न किया है। इसके गुण-दोषों का मूल्यांकन सुधी जन स्वयं करेंगे।

मैं इन दोनों महानुभावों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

रामशंकर त्रिपाठी

कुल्लूपमं वो भिक्खवे, धम्मं देसेस्सामि, नित्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय। कुल्लूपमं वो भिक्खवे, धम्मं देसितं आजानन्तेहिधम्मापि वो महातम्बा पगेव अधम्मा।

(मज्झिम निकाय, मूलपण्णासक, अलगद्दूपमसुत्त)

नाहमेकधर्ममपि अनभिज्ञाय अपरिज्ञाय दुःखस्यान्तक्रिया वदामि।

(भगवद्वचन, उद्धृत अभिधर्मकोश - भाष्य, पृ. ४६ (बौ.भा.)

शून्यमध्यात्मकं पश्य शून्यं पश्य बहिर्गतम्।
न लभ्यते सोऽपि कश्चिद् यो भावयति शून्यताम्।।

(अभिधर्मकोश, नवम कोशस्थान)

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यमुद्यमात्

(बोधिचर्यावतार, १:२७)

आकाशस्य स्थितिर्यावद् यावच्च जगतः स्थितिः।
तावन्मम स्थितिर्भूयाद् जगद्दुःखानि निघ्नतः।।

(बोधिचर्यावतार, १० : ५५)

भगवान् बुद्ध की शिक्षा

लोक में बुद्ध का उत्पाद अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा महामानव कभी-कभी ही जगतीतल में अवतीर्ण होता है। उनके उत्पाद ने निश्चय ही मानवजाति के गौरव की अभिवृद्धि की है। साधारण मनुष्य के रूप में उत्पन्न होकर, सामान्य मानवीय समस्याओं से जूझते हुए, अपने ही प्रयासों से बुद्ध के रूप में उनके आविर्भाव से चारों ओर के हाहाकार, उत्पीड़न और नैराश्य से ग्रस्त मानवजाति को एक सम्बल प्राप्त हुआ, एक आश्वासन प्राप्त हुआ और बुद्धत्व के रूप में उसे एक आदर्श भी प्राप्त हुआ। यही कारण था कि उनका धर्म उनके जीवन काल में ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। लोग अहमहमिकया उसमें स्वेच्छा से प्रविष्ट होने लगे। कहीं भी किसी से किसी प्रकार का विवाद या संघर्ष नहीं हुआ। धर्मों के विकास के इतिहास में बौद्ध धर्म का प्रसार और विस्तार एक अभूतपूर्व घटना है।

महामानव बुद्ध बाल्यावस्था से ही (अर्थात् सिद्धार्थ की अवस्था से ही) कतिपय मानवीय समस्याओं से बेहद परेशान थे। उन्हीं समस्याओं के समाधान की उधेड़बुन में वे हमेशा लगे रहते थे। वे अत्यन्त संवेदनशील एवं गम्भीर प्रकृति के थे। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि जन्म, जरा, व्याधि एवं मरण प्रधान अनेक प्रकार की विपत्तियों का जगत् में साम्राज्य व्याप्त होने पर भी व्यक्ति, सामान्य जन चिन्तित क्यों नहीं है? वे विविध मनोरंजनों में संलग्न और जागतिक क्षणिक सुख के व्यामोह में बेसुध क्यों हैं ? वे तत्कालीन समाज से निराश हुए और उन्होंने संकल्प लिया कि मैं ही इन समस्याओं का कारण (मूल) और उनके निराकरण का उपाय खोजूँगा। महामानव सिद्धार्थ इसी चिन्ता में एक दिन घर से बाहर होकर प्रव्रजित हो गए। वे तत्कालीन उन सभी महापुरुषों से मिले, जिनके बारे में प्रसिद्धि थी कि वे तत्त्व के ज्ञाता हैं। उनके साथ उन्होंने विचार-विमर्श किया, उनके द्वारा उपदिष्ट साधनाविधि का अभ्यास किया, किन्तु उनके नतीजे से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। दुःख की जो समस्याएं उनके मन में घर किए हुए थीं और जिनके समाधान की खोज में वे घर से बाहर हो प्रव्रजित हुए थे, उनके समाधान की दिशा में उनसे उन्हें कुछ भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं हुई। उन्होंने कठोर तपश्चर्याएं कीं। उन्होंने ऐसी कोई तपस्या नहीं छोड़ी, जिसके बारे में सुना गया हो कि अतीत में अमुक ने यह तपस्या की थी। किन्तु उन समस्याओं का समाधान उन्हें उनसे भी नहीं मिला, जो उन्हें बचपन से ही घेरे हुए थीं।

अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने ही रास्ते चलने का निश्चय किया और एक सौभाग्यशाली दिन उनका मनोरथ पूर्ण हुआ। उन्हें समाधान के सूत्र प्राप्त हो गए। उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने दुःखों का अन्त कर दिया।

केवल अपने दुःखों का नाश करने के लिए वे घर से बेघर नहीं हुए थे। व्यक्तिगत दुःख उनकी समस्या न थी। उन्हें प्राणी-मात्र के दुःखों की चिन्ता थी। वस्तुतः वे उस व्यापक

नियम को खोजना चाहते थे, जिसके तहत दुःखों की परम्परा या जन्म-मरण की शृंखला चलती रहती है। उस नियम को जानकर उसके चक्र से बाहर निकलने का उपाय वे खोज रहे थे। जैसे कोई वैज्ञानिक किसी प्राकृतिक नियम को जानने के लिए प्रयोगशाला में विविध प्रयोग करता है। उसी तरह उन्होंने अपने चित्त की प्रयोगशाला में अनेक प्रयोग किए। उन्हें असफलताएं भी मिलीं, किन्तु अन्त में उन्हें सभी प्रकार के जागतिक दुःखों के उत्पाद का सार्वभौम नियम और उनके निराकरण का उपाय (मार्ग) मालूम हो गया। उन नियमसूत्रों के आधार पर जब उन्होंने अपने दुःखों का प्रहाण कर लिया तब उन्होंने घोषणा की कि मैं बुद्ध हो गया।

जिस मार्ग से उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था, उसी मार्ग का उन्होंने करुणापूर्वक दुःखनिमग्न जगत् को यावज्जीवन उपदेश किया। उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया था और जिस विधि से प्राप्त किया था, उसे बिना भेदभाव के बाहर-भीतर खोलकर लोगों के समक्ष रख दिया। उनके उपदेश में किसी तरह की आचार्यमुष्टि नहीं थी। इसे ही धर्मचक्रप्रवर्तन कहते हैं।

मनुष्य जिन दुःखों से पीड़ित है, उनमें बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे दुःखों का है, जिन्हें मनुष्य ने अपने अज्ञान, गलत ज्ञान या मिथ्या दृष्टियों से पैदा कर लिया है। उन दुःखों का प्रहाण अपने सही ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, किसी के आशीर्वाद या वरदान से उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। सत्य या यथार्थता का ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। अतः सत्य की खोज दुःखमोक्ष के लिए परमावश्यक है। खोज अज्ञात सत्य की ही की जा सकती है। यदि सत्य किसी शास्त्र, आगम या उपदेशक द्वारा ज्ञात हो गया है तो उसकी खोज निरर्थक होगी। ज्ञात सत्य का अनुकरण या आरोपण तो किया जा सकता है, खोज नहीं। अतः बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती लोगों द्वारा या परम्परा द्वारा बताए सत्य को नकार दिया और अपने लिए नए सिरे से उसकी खोज की। बुद्ध स्वयं कहीं प्रतिबद्ध नहीं हुए और न तो अपने शिष्यों को उन्होंने कहीं बांधा। उन्होंने कहा कि मेरी बात को भी इसलिए चुपचाप न मान लो कि उसे बुद्ध ने कही है। उस पर भी सन्देह करो और विविध परीक्षाओं द्वारा उसकी परीक्षा करो। जीवन की कसौटी पर उन्हें परखो, अपने अनुभवों से मिलान करो, यदि तुम्हें सही जान पड़े तो स्वीकार करो, अन्यथा छोड़ दो। यही कारण था कि उनका धर्म रहस्याडम्बरों से मुक्त, मानवीय संवेदनाओं से ओतप्रोत एवं हृदय को सीधे स्पर्श करता था।

त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन

भगवान् बुद्ध प्रज्ञा और करुणा की मूर्ति थे। ये दोनों गुण उनमें उत्कर्ष की पराकाष्ठा प्राप्त कर समरस होकर स्थित थे। इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध अत्यन्त उपायकुशल भी थे। उपायकौशल बुद्ध का एक विशिष्ट गुण है। अर्थात् वे विविध प्रकार के विनेय जनों को

विविध उपायों से सन्मार्ग पर आरूढ़ करने में अत्यन्त प्रवीण थे। वे यह भलीभाँति जानते थे कि किसे किस उपाय से सन्मार्ग पर आरूढ़ किया जा सकता है। फलतः वे विनेय जनों के विचार, रुचि, अध्याशय, स्वभाव, क्षमता और परिस्थिति के अनुरूप उपदेश दिया करते थे। भगवान् बुद्ध की दूसरी विशेषता यह है कि वे सन्मार्ग के उपदेश द्वारा ही अपने जगत्कल्याण के कार्य का सम्पादन करते हैं, न कि वरदान या ऋद्धि के बल से, जैसे कि शिव या विष्णु आदि के बारे में अनेक कथाएं पुराणों में प्रचलित हैं। उनका कहना है कि तथागत तो मात्र उपदेष्टा हैं, कृत्यसम्पादन तो स्वयं साधक व्यक्ति को ही करना है। वे जिसका कल्याण करना चाहते हैं, उसे धर्मों (पदार्थों) की यथार्थता का उपदेश देते थे। भगवान् बुद्ध ने भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों में विनेय जनों को अनन्त उपदेश दिये थे। सबके विषय, प्रयोजन और पात्र भिन्न-भिन्न थे। ऐसा होने पर भी समस्त उपदेशों का अन्तिम लक्ष्य एक ही था और वह था विनेय जनों को दुःखों से मुक्ति की ओर ले जाना। मोक्ष या निर्वाण ही उनके समस्त उपदेशों का एकमात्र रस है।

धर्मचक्रों की नेयनीतार्थता

विज्ञानवाद और स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार नीतार्थसूत्र वे हैं, जिनका अभिप्राय यथारुत (शब्द के अनुसार) ग्रहण किया जा सकता है तथा नेयार्थ सूत्र वे हैं, जिनका अभिप्राय शब्दशः ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपितु उनका अभिप्राय खोजना पड़ता है, जैसे- माता और पिता की हत्या करने से व्यक्ति निष्पाप होकर निर्वाण प्राप्त करता है। **मातर पितरं हत्वा.....अनीघो याति ब्राह्मणो** (द्र.- धम्मपद, पकिण्णकवग्गो, का., २९४) इस वचन का अर्थ शब्दशः ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपितु यहाँ पिता का अभिप्राय कर्मभव और माता का अभिप्राय तृष्णा से है। इस प्रकार की देशना आभिप्रायिकी या नेयार्था कहलाती है।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के मत में नेयार्थ और नीतार्थ की व्याख्या उपर्युक्त व्याख्या से किञ्चित् भिन्न है। उनके अनुसार जिन सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय परमार्थ सत्य अर्थात् शून्यता, अनिमित्तता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि हैं, वे नीतार्थ सूत्र हैं तथा जिन सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय संवृति सत्य है, वे नेयार्थ सूत्र हैं। नेयार्थता और नीतार्थता की व्यवस्था वे आर्य- अक्षयमतिनिर्देशसूत्र के अनुसार करते हैं।

प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन- काल की दृष्टि से यह प्रथम है। वाराणसी का ऋषिपतन मृगदाव इसका स्थान है। इसके विनेय जन (पात्र) श्रावकवर्गीय वे लोग हैं, जो स्वलक्षण और बाह्यार्थ की सत्ता पर आधृत चतुर्विध आर्यसत्यों की देशना के पात्र (भव्य) हैं। स्वलक्षण सत्ता एवं बाह्य सत्ता के आधार पर चार आर्यसत्यों की स्थापना इस प्रथम धर्मचक्र की विषयवस्तु है। श्रावकवर्गीय लोगों की दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है। योगाचार और माध्यमिक इसे नेयार्थ देशना मानते हैं।

द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन- काल की दृष्टि से यह मध्यम है। इसका स्थान प्रमुखतः गृध्रकूट पर्वत है। इसके विनेय जन महायानी पुद्गल हैं। शून्यता, अनिमित्तता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि उसके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। इस देशना के द्वारा समस्त धर्म निःस्वभाव प्रतिपादित किये गये हैं। विज्ञानवादी इसे नेयार्थ देशना मानते हैं। आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शान्तरक्षित, कमलशील आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का इस देशना की नेयार्थता और नीतार्थता के बारे में प्रासङ्गिक माध्यमिकों से मतभेद हैं। उनके अनुसार आर्य शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि कुछ सूत्र नीतार्थ सूत्र हैं, क्योंकि इनमें समस्त धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता निर्दिष्ट है। भगवती प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र आदि कुछ सूत्र यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जाते, क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादित की गई है, उस प्रकार की निःस्वभावता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को मान्य नहीं है। यद्यपि इन सूत्रों का अभिप्राय भी परमार्थतः निःस्वभावता है, तथापि उनमें **'परमार्थतः'** यह विशेषण स्पष्टतया उल्लिखित नहीं है, जो कि उनके मतानुसार नीतार्थ सूत्र होने के लिए परमावश्यक है। कहने का आशय यह है कि आर्य-शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि उनके अनुसार नीतार्थ हैं तथा भगवती-प्रज्ञापारमिताहृदय आदि कुछ सूत्र नेयार्थ सूत्र हैं।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के अनुसार द्वितीय धर्मचक्र सर्वथा नीतार्थ देशना है। उनके मत में जिस सूत्र का मुख्य विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है तथा जिसका मुख्य प्रतिपाद्य संवृतिसत्य है, वह सूत्र नेयार्थ है। अतः इनके मत में भगवती-प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं तथा इनके मत में **'परमार्थतः'** यह विशेषण अनावश्यक है।

तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन- काल की दृष्टि से यह अन्तिम है। इसका स्थान वैशाली आदि प्रमुख हैं। श्रावक एवं महायानी दोनों प्रकार के पुद्गल इसके विनेय जन हैं। शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसके विषयवस्तु हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है। यद्यपि द्वितीय और तृतीय दोनों धर्मचक्रों में शून्यता प्रतिपादित की गई है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समान रूप से निःस्वभाव कहा गया है, जबकि इस तृतीय ध र्मचक्र में यह भेद किया गया है कि अमुक धर्म अमुक दृष्टि से निःस्वभाव है और अमुक धर्म निःस्वभाव नहीं, अपितु सस्वभाव है। इसी के आधार पर विज्ञानवादी दर्शन प्रतिष्ठित है। इस कारण विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव नहीं मानते। उनके अनुसार धर्मों में से कुछ निःस्वभाव हैं और कुछ सस्वभाव हैं। अतः वे समान रूप से सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादक द्वितीय धर्मचक्र को नीतार्थ नहीं मानते। उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की निःस्वभावता और सस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जाते हैं। इनमें आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र प्रमुख है।

आचार्य भावविवेक, शान्तरक्षित आदि इस तृतीय धर्मचक्र को नीतार्थ देशना मानते

हैं, क्योंकि इसके द्वारा भगवती प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्रों (जो द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं और जो नेयार्थ हैं) का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। इनके मतानुसार भगवती-प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र नेयार्थ हैं, क्योंकि उनमें **'परमार्थतः'** यह विशेषण न लगाकर सामान्यतः सर्वधर्मनिःस्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। इस तृतीय धर्मचक्र में उस विशेषण को स्पष्ट रूप से लगाकर उसका अभिप्राय प्रकट किया गया है। अतः उनके अनुसार यह (तृतीय धर्मचक्र) नीतार्थ देशना है।

प्रश्न है कि विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों मतों में तृतीय धर्मचक्र समानरूप से नीतार्थ कैसे माना जा सकता है, जबकि दोनों के सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं ?

यद्यपि दोनों इसे नीतार्थ अवश्य मानते हैं, फिर भी स्वातन्त्रिक माध्यमिक यह नहीं कहते कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय जैसा विज्ञानवादियों ने समझा है, ठीक वैसा ही है। उनका कहना है कि उन्होंने उसका अभिप्राय गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। मध्यमकालोक में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासङ्गिक माध्यमिक तृतीय धर्मचक्र को सर्वथा नेयार्थ देशना मानते हैं। उनका कहना है कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय ठीक वैसा ही है, जैसा विज्ञानवादी मानते हैं, क्योंकि विज्ञानवादियों के सिद्धान्त युक्तिहीन और दोषग्रस्त हैं, अतः तृतीय धर्मचक्र नेयार्थ देशना है। इनके मतानुसार तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन भगवान् बुद्ध ने ऐसे विनेय जनों पर अनुग्रह करने के लिए किया है, जो तत्काल शून्यता जैसे गम्भीर विषय की देशना के पात्र नहीं हैं। अतः ऐसे विनेय जनों को तत्काल विज्ञानवाद की देशना देकर पीछे कुशलता से उन्हें गम्भीर विषय (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर ले जाने के लिए उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार-भाष्य में इस विषय का सुस्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित होने पर भी बौद्ध दर्शन कोई एक दर्शन नहीं, अपितु दर्शनों का समूह है। विभिन्न दार्शनिक मुद्दों पर उनमें परस्पर मतभेद भी है। कोई परमाणुवादी हैं तो कोई परमाणु की सत्ता नहीं मानते। कोई साकार ज्ञानवादी हैं तो कोई निराकार ज्ञानवादी। कुछ बातों में विचारसाम्य होने पर भी मतभेद अधिक हैं। शब्दसाम्य होने पर भी अर्थभेद अधिक हैं। अनेक शाखोपशाखाओं के होने पर भी दार्शनिक मान्यताओं के साम्य की दृष्टि से बौद्ध विचारों का चार विभागों में वर्गीकरण किया गया है, यथा- (१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार (विज्ञानवाद) और (४) माध्यमिक (शून्यवाद)। अब हम यहाँ उनके दार्शनिक मन्तव्यों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करने से पहले भगवान्

बुद्ध की उन सामान्य शिक्षाओं की चर्चा करना चाहते हैं, जो सभी चारों दार्शनिक प्रस्थानों में समानरूप से मान्य हैं, यद्यपि उनकी व्याख्या में मतभेद हैं।

भगवान् की शिक्षा की सार्वभौमिकता

(१) भाषा- भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में उपदेश दिए, इसे जानने के लिए हमारे पास पुष्कल प्रामाणिक सामग्री का अभाव है, फिर भी इतना निश्चित है कि उनके उपदेशों की भाषा कोई लोकभाषा ही थी। इसके अनेक कारण हैं। पहला यह कि वह अपना सन्देश जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे, न कि विशिष्ट जनों तक ही। इसके लिए आवश्यक था कि वे जनभाषा में ही उपदेश देते। दूसरा यह कि भाषा विशेष की पवित्रता पर उनका विश्वास न था। वे यह नहीं मानते थे कि शुद्ध भाषा के उच्चारण से पुण्य होता है, जैसा कि कुछ लोगों का आग्रह है। यह आश्चर्य है कि आज से इतने हजार वर्ष पूर्व ही भाषा विशेष की पवित्रता, क्षेत्रविशेष की पवित्रता या वर्णविशेष की पवित्रता की मान्यताओं के विरोध में उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की थी। इस विषय में एक उल्लेख उपलब्ध होता है कि दो भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि उनके उपदेशों को छन्दस् (वैदिक संस्कृत) में परिवर्तित कर दिया जाए, जिससे वे सुरक्षित रह सकें और लोग अपनी इच्छानुसार उनको भिन्न-भिन्न रूप न दे सकें। बुद्ध ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और कहा कि मैं अपनी-अपनी भाषा में उन्हें संगृहीत करने की अनुमति प्रदान करता हूँ- **"अनुजानामि भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं ति"** (द्र.-चुल्लवग्ग, पृ. २२८)। फलतः उनके उपदेश पैशाची, संस्कृत, अपभ्रंश, मागधी आदि अनेक भाषाओं में संकलित हुए।

(२) मानव-समता- भगवान् बुद्ध के अनुसार धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी स्त्री एवं पुरुषों में समान योग्यता एवं अधिकार हैं। इतना ही नहीं, शिक्षा, चिकित्सा और आजीविका के क्षेत्र में भी वे समानता के पक्षधर थे। उनके अनुसार एक मानव का दूसरे मानव के साथ व्यवहार मानवता के आधार पर होना चाहिए, न कि जाति, वर्ण, लिङ्ग आदि के आधार पर। क्योंकि सभी प्राणी समानरूप से दुःखी हैं, अतः सब समान हैं। दुःख प्रहाण ही उनके धर्म का प्रयोजन है। अतः संवेदना और सहानुभूति ही इस समता के आधारभूत तत्त्व हैं। उन्होंने कहा कि जैसे सभी नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नाम, रूप और विशेषताएं खो देती हैं, उसी प्रकार मानवमात्र उनके संघ में प्रविष्ट होकर जाति, वर्ण आदि विशेषताओं को खो देते हैं और समान हो जाते हैं। निर्वाण ही उनके धर्म का एकमात्र रस है।

(३) मानवश्रेष्ठता- बुद्ध के अनुसार मानवजन्म अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य में वह बीज निहित है, जिसकी वजह से यदि वह चाहे तो अभ्युदय एवं निःश्रेयस अर्थात् निर्वाण

और बुद्धत्व जैसे परम पुरुषार्थ भी सिद्ध कर सकता है। देवता श्रेष्ठ नहीं हैं, क्योंकि वे व्यापक तृष्णा के क्षेत्र के बाहर नहीं हैं। अतः मनुष्य उनका दास नहीं है, अपितु उनके उद्धार का भार भी मनुष्य के ऊपर ही हैं। इसीलिए उन्होंने कहा कि भिक्षुओं, बहुजन के हित और सुख के लिए तथा देव और मनुष्यों के कल्याण के लिए लोक में विचरण करो। ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में अपने प्रथम वर्षावास के अनन्तर भिक्षुओं को उनका यह उपदेश मानवीय स्वतन्त्रता और मानवश्रेष्ठता का अप्रतिम उद्घोष है।

(४) **व्यावहारिकता-** बुद्ध की शिक्षा अत्यन्त व्यावहारिक थी। उसमें किसी भी तरह के रहस्यों और आडम्बरों के लिए कोई स्थान न था। उनका चिन्तन प्राणियों के व्यापक दुःखों के कारण की खोज से प्रारम्भ होता है, न कि किसी अत्यन्त निगूढ, गुहाप्रविष्ट तत्त्व की खोज से। वे यावज्जीवन दुःखों के अत्यन्त निरोध का उपाय ही बताते रहे। उन्होंने ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर दिया और उन्हें अव्याकरणीय (अव्याख्येय) करार दिया, जिनके द्वारा यह पूछा जाता था कि यह लोक शाश्वत है कि अशाश्वत; यह लोक अनन्त है कि सान्त अथवा तथागत मरण के पश्चात् होते हैं या नहीं-इत्यादि। उनका कहना था कि ऐसे प्रश्न और उनका उत्तर न अर्थसंहित है और न धर्मसंहित। इन दृष्टियों के होते हुए भी मनुष्य, जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से दुःखी रहते हैं, जिनका वे विघात कर सकते हैं। उन्होंने पूछा कि किसी विष-बुझे बाण से विद्ध और दर्द से छटपटाते हुए व्यक्ति का क्या वह कहना उचित है कि पहले मुझे यह बताया जाए कि यह बाण किसने बनाया, किस धातु से बनाया गया और किस दिशा से आया ? इसके बाद मुझे वैद्य के पास ले जाया जाए अथवा यह उचित है कि पहले उसे वैद्य के पास ले जाकर दर्द से मुक्त कराया जाए ? भिक्षुओं ने कहा कि प्राथमिकता के आधार पर वैद्य के पास ले जाकर दर्द से मुक्त कराना ही उचित है। क्योंकि ऐसे प्रश्नों का एक तो उत्तर पाना आसान नहीं है और साथ ही, वह निर्विवाद भी नहीं होगा। तब भगवान् ने कहा कि मनुष्य क्योंकि विविध दुःखों से दुःखी है, अतः अन्य सारे प्रश्नों को छोड़कर सर्वप्रथम उसे दुःखों से मुक्ति का उपाय ही खोजना और कार्यान्वित करना चाहिए।

(५) **मध्यमा प्रतिपदा-** भगवान् बुद्ध ने जिस धर्मचक्र का प्रवर्तन किया अथवा जिस मार्ग का उन्होंने उपदेश किया, उसे 'मध्यमा प्रतिपदा' कहा जाता है। परस्पर-विरोधी दो अन्तों या अतियों का निषेध कर भगवान् ने मध्यम मार्ग प्रकाशित किया है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह बड़ी आसानी से किसी अन्त में पतित हो जाता है और उस अन्त को अपना पक्ष बनाकर उसके प्रति आग्रहशील हो जाता है। यह आग्रहशीलता ही सारे मानवीय विभेदों, संघर्षों और दुःखों का मूल है। मध्यमा प्रतिपद् अनाग्रहशीलता है और समस्याओं से मुक्ति का सर्वोत्तम राजपथ है। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और इसमें अनन्त सम्भावनाएं निहित है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधन में भी

इसकी उपयोगिता सम्भावित है, किन्तु अभी तक उन दिशाओं में इसका अध्ययन और प्रयोग नहीं किया जा सका। शील, समाधि और प्रज्ञा या दर्शन के क्षेत्र में ही उसकी प्राचीन व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं। शील की दृष्टि से अत्यन्त ऐश-आराम के बीच लापरवाही के साथ जीवन बिताना एक अन्त है, जिसे 'कामसुखल्लिकानुयोग' कहते हैं तथा निर्वाण के लिए अत्यन्त कष्टदायक और शरीरोपतापक तपश्चरण का अनुष्ठान करना दूसरा अन्त है, जिसे 'आत्मक्लमथानुयोग' कहते हैं। भगवान् ने वीणा की उपमा देते हुए कहा कि यदि वीणा के तारों को ढीला रखा जाए तो उनसे मधुर ध्वनि उत्पन्न नहीं होती, यदि उन्हें अधिक कस दिया जाए तो उनके टूटने का खतरा होता है, अतः उन्हें न अधिक ढीला और न अधिक कसा हुआ होना चाहिए, तभी मधुर ध्वनि का उत्पाद होगा, उसी तरह समाधि में लगे योगी का चित्त न अधिक शिथिल, आलस्य से युक्त या नींद में डूबे हुए की तरह होना चाहिए और न तो अत्यधिक उत्साह (दुरुत्साह) से युक्त बेचैन, परेशान या अशान्त होना चाहिए। लीनता और उद्धव (औद्धत्य) ये दोनों दोष हैं, जो समाधि के बाध क हैं। समाधि चित्त का समप्रवाह है। यह समाधि की दृष्टि से मध्यमप्रतिपदा है। प्रज्ञा की दृष्टि से शाश्वतवाद (नित्यता के प्रति आग्रह) एक अन्त है और उच्छेदवाद (ऐहिकवाद) दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों का निरास मध्यमा प्रतिपद् है। यही सम्यग् दृष्टि है। इसके बिना अभ्युदय और निःश्रेयस कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता। सभी बौद्ध दार्शनिक मध्यम-प्रतिपदा स्वीकार करते हैं, किन्तु वे शाश्वत और उच्छेद अन्त की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं करते हैं। इस तरह उनकी मध्यमा-प्रतिपद् के स्वरूप में भिन्नता आ जाती है। इसका आगे यथास्थान निरूपण किया जाएगा।

(६) प्रतीत्यसमुत्पाद- प्रतीत्यसमुत्पाद सारे बुद्ध विचारों की रीढ़ है। बुद्ध पूर्णिमा की रात्रि में इसी के अनुलोम-प्रतिलोम अवगाहन से बुद्ध ने बुद्धत्व का अधिगम किया। प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान ही बोधि है। यही प्रज्ञाभूमि है। अनेक गुणों के विद्यमान होते हुए भी आचार्यों ने बड़ी श्रद्धा और भक्तिभाव से ऐसे भगवान् बुद्ध का स्तवन किया है, जिन्होंने अनुपम और अनुत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना की है। जैसा कि अक्सर कहा जाता है, यह बौद्धों का कार्यकारणभाव है, किन्तु वस्तुतः यह कार्यकारणभावमात्र नहीं है, बल्कि उससे अधिक है। कारण से कार्य के उत्पाद के नियम को सामान्यतया 'कार्यकारणभाव' कहा जाता है। जबकि प्रतीत्यसमुत्पाद से कारणों से कार्य के अनुत्पाद का सिद्धान्त भी प्रतिफलित होता है। इस सिद्धान्त की आचार्य नागार्जुन ने युक्तिपूर्वक स्थापना की है। अतः यह सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है और इसमें अनेक सम्भावनाएं निहित हैं। आचार्यों ने प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या द्वारा ही अपने-अपने विशिष्ट दर्शनप्रस्थानों की स्थापनाएं की हैं। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिकों की अपनी-अपनी विशिष्ट व्याख्याएं है। आज भी इसके विशिष्ट व्याख्यान द्वारा नवीन बौद्ध दर्शन-प्रस्थान की उद्भावना सम्भावित है।

चार आर्यसत्य, अनित्यता, दुःखता, अनात्मता, क्षणभङ्गवाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद आदि बौद्धों के प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त इसी प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रतिफलन हैं, इनका यथास्थान आगे हम प्रतिपादन करेंगे।

(७) **कर्मस्वातन्त्र्य-** बौद्धों का कर्म-सिद्धान्त भारतीय परम्परा में ही नहीं, अपितु विश्व की धार्मिक परम्परा में बेजोड़ एवं सबसे भिन्न है। प्रायः सभी लोग कर्म को जड़ मानते हैं, अतः कर्मों के कर्ता को उन कर्मों के फल से अन्वित करने के लिए एक अतिरिक्त चेतन या ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता महसूस करते हैं। उनके अनुसार ऐसे अतिरिक्त चेतन के अभाव में कर्म-कर्मफल व्यवस्था बन नहीं सकेगी और सारी व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाएगी। जबकि बौद्ध लोग कर्म को जड़ ही नहीं मानते। भगवान् बुद्ध ने कर्म को 'चेतना' कहा है **(चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि)** (द्र.-अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ. १२०)। कर्म क्योंकि चेतना है, अतः वह अपने फल को स्वयं अंगीकार या आकृष्ट कर लेती है। चेतना-प्रवाह में कर्म-कर्मफल की सारी व्यवस्था सुचारुतया सम्पन्न हो जाती है। इसलिए फल देने के लिए एक अतिरिक्त चेतन या ईश्वर को मानने की उन्हें कतई आवश्यकता नहीं है। इसीलिए विश्व के सारे आध्यात्मिक धर्मों के बीच में बौद्ध एकमात्र अनीश्वरवादियों में प्रमुख हैं।

अपने सुख-दुःखों के लिए प्राणी स्वयं ही उत्तरदायी हैं। अपने अज्ञान और मिथ्यादृष्टियों से ही उन्होंने स्वयं अपने लिए दुःखों का उत्पाद किया है, अतः कोई दूसरी शक्ति ईश्वर या महेश्वर उन्हें मुक्त नहीं कर सकता। इसके लिए उन्हें स्वयं प्रयास करना होगा। किसी के वरदान या कृपा से दुःखमुक्ति असम्भव है। कोई महापुरुष, जिसने अपने दुःखों का प्रहाण कर लिया है, अपने अनुभव के आधार पर दुःखमुक्ति का मार्ग अवश्य बता सकता है, किन्तु उसकी बातों की परीक्षा कर, सही प्रतीत होने पर उस मार्ग पर प्राणी को स्वयं चलना होगा। इस कर्म सिद्धान्त के द्वारा मानव-स्वतन्त्रता और आत्म-उत्तरदायित्व का विशिष्ट बोध प्रतिफलित होता है। यह भारतीय संस्कृति में बौद्धों का अनुपम योगदान है।

•

अठारह बौद्ध निकाय

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर बुद्धवचनों में प्रक्षेप (अन्य वचनों को डाल देना) और अपनयन (कुछ बुद्धवचनों को हटा देना) न होने देने के लिए क्रमशः तीन संगीतियों का आयोजन किया गया। प्रथम संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के तत्काल बाद प्रथम वर्षावास के काल में ही राजगृह में महाकाश्यप के संरक्षकत्व में सम्पन्न हुई। इसमें आनन्द ने सूत्र (इसमें अभिधर्म भी सम्मिलित है) और उपालि ने विनय का संगायन किया। इस तरह इस संगीति में सम्मिलित पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं ने प्रथम बार बुद्धवचनों का त्रिपिटक आदि में विभाजन किया।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष बीतते-बीतते आयुष्मान् यश ने वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को विनयविपरीत दस वस्तुओं का आचरण करते हुए देखा, जिसमें सोने-चाँदी का ग्रहण भी एक था। अनेक भिक्षुओं की दृष्टि में उनका यह आचरण अनुचित था। इसका निर्णय करने के लिए द्वितीय संगीति बुलाई गई। महास्थविर रेवत की अध्यक्षता में सम्पन्न इस संगीति में सम्मिलित सात सौ अर्हत् भिक्षुओं ने उन (वज्जिपुत्तक भिक्षुओं) का आचरण विनयविपरीत निश्चित किया।

वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने महास्थविरों के इस निर्णय को अमान्य कर दिया और कौशाम्बी में एक पृथक् संगीति आयोजित की, जिसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे। यह सभा 'महासंघ' या 'महासंगीति' कहलाई तथा इस सभा को मानने वाले महासांघिक कहलाए।

इस प्रकार बौद्ध संघ दो भागों या निकायों में विभक्त हो गया, स्थविरवादी और महासांघिक। आगे चलकर भगवान् के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद सम्राट् अशोक के काल में आयोजित तृतीय संगीति के समय तक बौद्ध संघ अठारह निकायों में विकसित हो गया था।

महासांघिक भी कालान्तर में दो भागों में विभक्त हो गए- १. एकव्यावहारिक और २. गोकुलिक। गोलुलिक से भी दो शाखाएं विकसित हुई, यथा- १. प्रज्ञप्तिवादी और २. बाहुलिक या बाहुश्रुतिक। बाहुलिक से चैत्यवादी नामक एक और शाखा प्रकट हुई। इस तरह महासांघिक से पाँच शाखाएं निकलीं, जो महासांघिक के साथ कुल ६ निकाय होते हैं। दूसरी ओर स्थविरवादी भी पहले दो भागों में विभक्त हुए, यथा- वज्जिपुत्तक और महीशासक। वज्जिपुत्तक ४ भागों में विभक्त हुए, यथा- १. धर्मोत्तरीय, २. भद्रयाणिक, ३. छन्नागरिक (षाण्णागरिक) और ४. सम्मितीय। महीशासक से भी दो शाखाएं विकसित हुई, यथा- धर्मगुप्तिक और सर्वास्तिवादी। सर्वास्तिवादियों से क्रमशः काश्यपीय, काश्यपीय

से सांक्रान्तिक और सांक्रान्तिक से सूत्रवादी (सौत्रान्तिक) निकाय विकसित हुए। इस प्रकार स्थविरवादी निकाय से ११ निकाय विकसित हुए, जो स्थविरवादी निकाय के साथ कुल १२ होते हैं। दोनों प्रकार के निकायभेद मिलकर कुल अठारह निकाय होते हैं।

अठारह निकायों का यह उपर्युक्त विभाजन-क्रम दीपवंश नामक ग्रन्थ के अनुसार वर्णित है। आचार्य विनीतदेव, आचार्य वसुमित्र एवं आचार्य भव्य आदि ने अठारह निकायों की विभिन्न तालिकाएं प्रस्तुत की हैं। उनमें साम्य होते हुए भी विभिन्नताएं भी बहुत हैं। सब तालिकाओं को मिलाकर देखने पर निकायों की संख्या अठारह से कहीं अधिक हो जाती हैं। स्वयं पालि परम्परा में ही उपर्युक्त अठारह निकायों के अतिरिक्त हैमवत, राजगिरिक, सिद्धार्थिक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वजिरिय निकायों के नाम उपलब्ध होते हैं। फिर भी सभी नैकायिक निकायों की संख्या १८ मानने पर ही बल देते हैं। कुछ विद्वानों ने एक निकाय का अन्य निकाय में अन्तर्भाव करके १८ संख्या निश्चित करने का प्रयास किया है[1]।

निकायों की परिभाषा

महासांघिक

ज्ञात है कि वैशाली में आयोजित द्वितीय संगीति से निष्कासित वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने कौशाम्बी में पृथक् संगीति का आयोजन किया था, जिसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे। उन्होंने वहाँ 'महासांघिक' नामक एक स्वतन्त्र निकाय की स्थापना की। महासंघ का शब्दार्थ ही महासभा होता है। ह्वेनसांग के मतानुसार यह सभा राजगृह की प्रथम संगीति के अवसर पर ही राजगृह के नजदीक आयोजित हुई थी। आचार्य बुद्धघोष, वसुमित्र आदि के अनुसार वैशाली की द्वितीय संगीति के बाद ही इस निकाय का प्रादुर्भाव हुआ।

मृत्युभव और उपपत्तिभव के बीच में एक अन्तराभव होता है, जहाँ सत्त्व मरने के बाद और पुनर्जन्म ग्रहण करने के बीच कुछ दिनों के लिए रहता है। कुछ सर्वास्तिवादी आदि बौद्ध उस अन्तराभव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और कुछ बौद्ध निकाय उसे नहीं मानते। भोट विद्वान् पद्म-ग्यल्-छन् का कहना है कि महासांघिक अन्तराभव के अस्तित्व को नहीं मानते। वसुबन्धु के अभिधर्म-कोश-स्वभाष्य में ऐसा उल्लेख मिलता है कि दूसरे कुछ नैकायिक अन्तराभव नहीं मानते[2]। यह सम्भव है कि महासांघिक ही उनके अन्तर्गत आते हों और इसीलिए पद्म-ग्यल्-छन् ने वैसा कहा हो। वैसे स्थविरवादी बौद्ध भी

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य-सौत्रान्तिकदर्शनम्, पृ. ४७, (तिब्बती-संस्थान-प्रकाशन, सन् १९९०)।

२. अभिधर्मकोशभाष्य, पृ. ४०५-४०६ (बौद्ध भारती संस्करण)।

अन्तराभव नहीं मानते।

स्थविरवाद

'स्थविरवाद' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। स्थविर का अर्थ 'वृद्ध' भी है और 'प्राचीन' भी। अतः वृद्धों का या प्राचीनों का जो वाद (मार्ग) है, वह 'स्थविरवाद' है। 'स्थविर' शब्द स्थिरता को भी सूचित करता है। विनय-परम्परा के अनुसार जिस भिक्षु के उपसम्पदा के अनन्तर दस वर्ष बीत गए हों तथा जो विनय के अङ्गों और उपाङ्गों का अच्छा ज्ञाता होता है, वह 'स्थविर' कहलाता है। इसके अलावा वह भी स्थविर कहलाता है जो स्थविरगोत्रीय होता है। अर्थात् जिसकी रुचि और अध्याशय आदि स्थविरवादी सिद्धान्तों की ओर अधिक प्रवण होते हैं और जो उन सिद्धान्तों का श्रद्धा के साथ व्याख्यान करता है। ऐसे स्थविरों का वाद 'स्थविरवाद' है।

सर्वास्तिवाद

किसी समय (प्राचीन काल में) पश्चिमोत्तर भारत में विशेषतः मथुरा, कश्मीर और गान्धार आदि प्रदेशों में सर्वास्तिवादियों का बहुल प्रचार था। सर्वास्तिवादी सिद्धान्तों को मानने वाले बौद्ध आजकल विश्व में शायद ही कहीं हों। किन्तु भोटदेशीय भिक्षु-परम्परा सर्वास्तियावादी विनय का अवश्य अनुसरण करती है। कतिपय विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर 'सर्वास्तिवाद' यह नामकरण हुआ है। इसमें प्रयुक्त 'सर्व' शब्द का तात्पर्य तीनों कालों अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान कालों से हैं। जो लोग वस्तुओं की तीनों कालों में सत्ता मानते हैं और जो तीनों कालों का द्रव्यतः अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वे 'सर्वास्तिवादी' कहलाते हैं।

एकव्यावहारिक

जो लोग एक क्षण में बुद्ध की सर्वज्ञता का उत्पाद मानते हैं, वे 'एकव्यावहारिक' कहलाते हैं। अर्थात् इनके मतानुसार एक चित्तक्षण से सम्प्रयुक्त प्रज्ञा के द्वारा समस्त धर्मों का अवबोध हो जाता है। इस एकक्षणावबोध को स्वीकार करने के कारण इनका यह नामकरण हुआ है। महावंसटीका के अनुसार एकव्यावहारिक और गोकुलिक ये दोनों निकाय सभी कुशल-अकुशल संस्कारों को ज्वालारहित अङ्गार से मिश्रित भस्मनिरय के समान समझते हैं।

लोकोत्तरवाद

कुछ लोग बुद्ध के काय में सास्रव धर्मों का बिल्कुल अस्तित्व नहीं मानते और कुछ मानते हैं। ये लोकोत्तरवादी बुद्ध की सन्तति में सास्रव धर्मों का अस्तित्व सर्वथा नहीं मानते।

इनके मतानुसार सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के अनन्तर बुद्ध के सभी आश्रय अर्थात् चित्त, चैतसिक, रूप आदि परावृत्त होकर निरास्रव और लोकोत्तर हो जाते हैं। यहाँ 'लोकोत्तर' शब्द अनास्रव के अर्थ में प्रयुक्त है। जो इस अनास्रवत्व को स्वीकार करते हैं, वे लोकोत्तरवादी हैं। यहाँ 'लोकोत्तर' शब्द का अर्थ मानवोत्तर के अर्थ में नहीं है। इनकी मान्यता के अनुसार क्षणभङ्गवाद की दृष्टि से पहले सभी धर्म सास्रव होते हैं। बोधिप्राप्ति के अनन्तर सास्रव धर्म विरुद्ध हो जाते हैं और अनास्रव धर्म उत्पन्न होते हैं। यह ज्ञात नहीं है कि ये लोग महायानियों की भाँति बुद्ध का अनास्रव ज्ञानधर्मकाय मानते हैं अथवा नहीं।

प्रज्ञप्तिवादी

कुछ वादी ऐसे होते हैं, जो परस्पर आश्रित सभी धर्मों को प्रज्ञप्त (कल्पित) मानकर उनके प्रति सत्यतः अभिनिवेश करते हैं, वे ही प्रज्ञप्तिवादी है। महावंशटीका के अनुसार 'रूप भी निर्वाण की भाँति परमार्थतः है'-ऐसा मानने वाले प्रज्ञप्तिवादी कहलाते हैं।

वात्सीपुत्रीय

स्थविरवादी संघ से जो सर्वप्रथम निकायभेद विकसित हुआ, वह वात्सीपुत्रीय निकाय ही है। स्थविरों से इनका सैद्धान्तिक मतभेद था। ये लोग पुद्गलास्तित्ववादी थे। अर्थात् ये पुद्गल के द्रव्यतः अस्तित्व के पक्षपाती थे और उसे अनिर्वचनीय कहते थे। यह निकाय स्थविरवादियों का प्रमुख प्रतिपक्ष रहा है। यही कारण है कि तृतीय संगीति के अवसर पर जो सम्राट् अशोक के काल में पाटलिपुत्र (पटना) में आयोजित हुई थी, उसमें मुद्गलीपुत्र तिष्य ने स्थविरवाद से भिन्न सत्रह निकायों का खण्डन करते हुए जिस 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, उस ग्रन्थ में उन्होंने सर्वप्रथम पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीयों का ही खण्डन किया। इससे यह भी निष्कर्ष प्रतिफलित होता है कि तृतीय संगीति से पूर्व ही इनका अस्तित्व था। कौशाम्बी, मथुरा तथा अवन्ती आदि इनके प्रमुख केन्द्र थे।

सम्मितीय

इस निकाय के प्रवर्तक आर्य महाकात्यायन माने जाते हैं। ये वे ही आचार्य हैं, जिन्होंने दक्षिणापथ (अवन्ती) में सर्वप्रथम सद्धर्म की स्थापना की। उस प्रदेश के निवासियों के आचार में बहुत भिन्नता देखकर विनय के नियमों में कुछ संशोधनों का भी इन्होंने सुझाव रखा था। इसी निकाय से आवन्तक और कुरुकुल्लक निकाय विकसित हुए। कभी-कभी सम्मितीयों का संग्रह वात्सीपुत्रीयों में और कभी वात्सीपुत्रीयों का संग्रह सम्मितीयों में भी देखा जाता है। इसका कारण उनके समान सिद्धान्त हो सकते हैं।

अनिर्वचनीय पुद्गल के अस्तित्व को स्वीकार करना ही इनके सिद्धान्तों की समानता है। भारहारसूत्र को ये लोग अपने विशिष्ट सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करते हैं। इस सूत्र के अनुसार पाँच उपादान स्कन्ध 'भार' हैं और पुद्गल ही 'भारहार' है, क्योंकि वह भार का वहन करता है। पुनश्च, वे कहते हैं कि भगवान् ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों को अनात्म कहा है न कि आत्मा सर्वथा नहीं है-ऐसा कहा है। 'वह बाई आंख से नहीं देखता'-ऐसा कहने का यह अर्थ यह नहीं है कि दाहिनी आंख से भी नहीं देखता, अन्यथा बायां विशेषण व्यर्थ हो जाएगा। इसी तरह रूप अनात्म है, वेदना अनात्म है-इत्यादि जानना चाहिए।

इन उपर्युक्त कथनों के आधार पर कुछ विद्वानों का कथन है कि सम्मितीय सर्वथा आत्मवादी हैं-यह नहीं माना जा सकता। यद्यपि वे अनिर्वचनीय द्रव्यसत् पुद्गल मानते हैं, तथापि वे पाँच स्कन्धों से तथा नित्य-अनित्य से पुद्गल को भिन्न या अभिन्न स्वीकार नहीं करते। उन (सम्मितीयों) का कहना है कि पाँच स्कन्धों को आत्मा मानने में युक्तिविरोध होता है तथा पाँच स्कन्धों से भिन्न मानने पर तैर्थिकों के आत्मवाद को मानने का दोष (प्रसंग) उपस्थित होता है। इसलिए वे दोनों न मानकर केवल पुद्गल की द्रव्यसत्ता मात्र स्वीकार करते हैं।

मालूम होता है कि वे पुद्गल को प्रज्ञप्तिसत् कहना नहीं जानते थे, जैसा कि अन्य बौद्ध मतावलम्बी नैकायिक मानते हैं। इसलिए वे उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं।

अनित्यता के बारे में भी उनका अपना विशिष्ट मत है। वे विनाश को सहेतुक मानते हैं, जब कि अन्य बौद्ध अहेतुक विनाश स्वीकार करते हैं। इसलिए ये लोग चित्त-चैतसिकों को छोड़कर अन्य धर्मों के उत्पाद के बाद जब तक उनका भङ्ग नहीं हो जाता, तब उनकी स्थिति स्वीकार करते हैं। केवल चित्त-चैतसिक ही उनके अनुसार सर्वथा क्षणिक हैं, न कि सभी धर्म। स्थिति के बिना उत्पाद के बाद ही विनाश जैसा सौत्रान्तिक आदि मानते हैं, वैसे ये लोग नहीं मानते।

महीशासक

प्रिलुस्की महोदय के अनुसार ये लोग स्थविर पुराण के अनुयायी थे। ज्ञात है कि पुराण वही स्थविर है, जो राजगृह में जब प्रथम संगीति हो रही थी, तब दक्षिणगिरि से चारिका करते हुए पाँच सौ भिक्षुओं के साथ वहीं (राजगृह में) ठहरे हुए थे। संगीतिकारक भिक्षुओं ने उनसे संगीति में सम्मिलित होने का निवेदन किया, किन्तु उन्होंने उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए भी उसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने भगवान् के मुंह से जैसा सुना है, उसी का अनुसरण करूंगा।

धर्मगुप्तक

परमार्थ के मतानुसार इस निकाय के प्रवर्तक महामौद्गलयायन के शिष्य स्थविर

धर्मगुप्त थे। प्रिलस्की और फ्राउवाल्नर का कहना है कि ये धर्मगुप्त यौनक धर्मरक्षित से अभिन्न हैं।

काश्यपीय

पालिपरम्परा और सांची के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कश्यपगोत्रीय भिक्षु समस्त हिमवत्प्रदेश के निवासियों के आचार्य थे। चीनी भाषा में उपलब्ध 'विनयामातृका' नामक ग्रन्थ से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इसीलिए **काश्यपीय** और **हैमवत** अभिन्न प्रतीत होते हैं। **सुवर्षक** और **सद्धर्मवर्षक** भी इन्हीं का नाम है। इस निकाय का हिमवत्प्रदेश में प्रचार सम्भवतः महाराज अशोक के काल में सम्पन्न हुआ, जब तृतीय संगीति के अनन्तर उन्होंने विभिन्न प्रदेशों में सद्धर्म के प्रचारार्थ धर्मदूतों को प्रेषित किया था।

विभज्यवाद

आचार्य वसुमित्र के मतानुसार यह निकाय सर्वास्तिवादी निकाय के अन्तर्गत गृहीत होता है। स्थविरवादी भी अपने को विभज्यवादी कहते हैं। आचार्य भव्य के अनुसार यह निकाय स्थविरवाद से भिन्न है। कुछ लोगों के अनुसार इन्हें हेतुवादी भी कहा जाता है। इस निकाय का यह विशिष्ट अभिमत है कि किये हुए कर्म का जब तक फल या विपाक उत्पन्न नहीं हो जाता, जब तक उस अतीत कर्म का द्रव्यतः अस्तित्व होता है। जिसने अभी फल नहीं दिया है, उस अतीत कर्म की और वर्तमान कर्म की द्रव्यसत्ता है तथा जिसने फल दे दिया है, उस अतीत कर्म की और अनागत कर्म की प्रज्ञप्तिसत्ता है-इस प्रकार कर्मों के बारे में इनकी व्यवस्था है। कर्मों के इस प्रकार के विभाजन के कारण ही इस निकाय का नाम 'विभज्यवाद' है। हेतुवादी भी इन्हीं का काम है। भूत, भौतिक समस्त वस्तुओं के हेतु होते हैं, यह इनका अभिमत है। कथावत्थु और उसकी अट्ठकथा में इस निकाय के बारे में पुष्कल चर्चा उपलब्ध होती है।

निकाय-परम्परा

आचार्य विनीतदेव आदि प्रमुख आचार्यों की मान्यता है कि चार ही मूल निकाय हैं, जिनसे आगे चल कर सभी अठारह निकाय विकसित हुए। वे हैं-आर्य सर्वास्तिवादी, आर्य महासांघिक, आर्यस्थविर एवं आर्य सम्मितीय। मूलसंघ से जो यह विभाजन हुआ या अठारह या उससे अधिक निकायों का जो जन्म हुआ, वह किसी गतिशील श्रेष्ठ धर्म का लक्षण है, न कि ह्रास का। भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही किसी भी शास्ता के वचन या किसी पवित्र ग्रन्थ के वचन को अन्तिम प्रमाण मानने से अपने अनुयायी भिक्षुओं को मना कर दिया था। उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन, अपने अनुभव की प्रामाणिकता, वस्तुसङ्गत दृष्टि और उदार विचारों के जो बीज भिक्षुसंघ में निक्षिप्त (स्थापित) किये थे, उन्हीं बीजों से कालान्तर में

विभिन्न शाखाओं वाला सद्धर्म रूपी महावृक्ष विकसित हुआ, जिसने भारत सहित विश्व के कोटि-कोटि विनेय जनों की आकांक्षाएं अपने पुष्प, फल, पत्र और छाया के द्वारा पूर्ण कीं और आज भी कर रहा है।

(१) आर्य सर्वास्तिवादियों की परम्परा क्षत्रिय वंश में उत्पन्न आर्य राहुलभद्र ने स्थापित की, जिनके बारे में भगवान् बुद्ध का कहना था कि ये शैक्ष्य पुद्गलों में अग्रगण्य हैं। इस निकाय में संस्कृत भाषा में प्रातिमोक्षसूत्र के पाठ की परम्परा थी। इस परम्परा में संघाटी में ९ से लेकर २५ तक पट्टिकाएं होती थीं, जिन पर पद्म, रत्न और पत्र का अंकन होता था।

(२) आर्य महासांघिकों की परम्परा की स्थापना ब्राह्मणकुल में उत्पन्न आर्य महाकाश्यप ने की, इनके बारे में भगवान् बुद्ध ने कहा था कि ये स्वाध्यायपारायण करने वालों में अग्रगण्य हैं। इस परम्परा के प्रातिमोक्षसूत्र का पाठ प्राकृत भाषा में होता था तथा संघाटी में ७ से लेकर २३ तक पट्टिकाएं होती थीं और उन पर शंख का अंकन होता था।

(३) आर्य स्थविरवादी परम्परा के प्रवर्तक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न आर्य महाकात्यायन थे। जिनके बारे में भगवान् बुद्ध ने कहा था कि ये ऐसे लोगों में अग्रगण्य हैं, जो क्रूर और हिंसक प्रवृत्ति के लोगों से व्याप्त पर्वतीय सीमान्त प्रदेशों में जाकर सद्धर्म का प्रचार करते हैं। इस परम्परा के प्रातिमोक्षसूत्र का पाठ पैशाची भाषा में होता था तथा संघाटी में ५ से २१ तक पट्टिकाएं होती थीं, जिन पर श्रीवत्स का अंकन किया जाता था।

(४) आर्य सम्मितियों की परम्परा का प्रवर्तन नापित कुल में उत्पन्न आर्य भदन्त उपालि ने किया था। भगवान् ने उनके बारे में घोषणा की थी कि ये विनयधरों में अग्रगण्य हैं। इस परम्परा के प्रातिमोक्षसूत्र का पाठ अपभ्रंश भाषा में होता था। इस परम्परा में भी संघाटी में ५ से लेकर २१ तक पट्टिकाएं होती थीं तथा उन पर श्रीवत्स का अंकन होता था।

इन चारों मूल निकायों के आपसी भेदों के आधार प्रमुख रूप से विनयसूत्र, भिक्षुसंघ के नियम, उपनियम आदि आचार थे, जो देश और काल के कारण भिन्न-भिन्न हो गये थे, तथापि उनके दार्शनिक विचारों में और सूत्र के व्याख्यानों में मतभेद बिल्कुल नहीं थे-ऐसा नहीं कहा जा सकता। हां, यह कहा जा सकता है कि वे भेदों के प्रमुख आधार नहीं थे।

अठारह निकायों के सामान्य सिद्धान्त

आचार्य वसुमित्र, भावविवेक आदि महापण्डितों के ग्रन्थों का अध्ययन करने के

अनन्तर हम उन दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षेप में प्रतिपादन करना चाहते हैं, जिनके बारे में सभी अठारह निकाय प्रायः सहमत हैं।

(१) ज्ञान में ग्राह्य (विषय) के आकार का अभाव

बौद्ध दार्शनिकों में इस विषय पर पर्याप्त चर्चा उपलब्ध होती है कि ज्ञान जब अपने विषय में प्रवृत्त होता है, तब विषय के आकार को ग्रहण करके अर्थात् विषय के आकार से आकारित (साकार) होकर विषय ग्रहण करता है या निराकार रहते हुए। सौत्रान्तिकों का मानना है कि चक्षुर्विज्ञान नीलाकार होकर नील विषय में प्रवृत्त होता है। उनका कहना है कि जिस समय चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय उसका ग्राह्य (नील आलम्बन) निरुद्ध रहता है। क्योंकि नील आलम्बन कारण है और चक्षुर्विज्ञान उसका कार्य। कारण को कार्य से नियत पूर्ववर्ती होना चाहिए। इसलिए नील आलम्बन चक्षुर्विज्ञान से एक क्षण पूर्व निरुद्ध हो जाता है। किन्तु ज्ञान में विषय का आकार विद्यमान होने से वह ज्ञान 'नीलज्ञ' कहा जाता है।

वैभाषिक-प्रमुख अन्य निकायों के मतानुसार चक्षुर्विज्ञान विषय के आकार से आकारित होकर आलम्बन में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु निराकार ज्ञान में विषय का प्रतिभास हुआ करता है। इनके अनुसार घट, पट आदि स्थूल आकार नहीं, अपितु उनके आरम्भक परमाणु चक्षुरिन्द्रिय में आभासित होते हैं, अतः चक्षुर्विज्ञान घट आदि के नीलाकार का ग्रहण न करते हुए उनमें प्रवृत्त होता है। सौत्रान्तिक मत में चक्षुर्विज्ञान में परमाणु का प्रतिभास नहीं माना जाता, अपितु उनके द्वारा आरब्ध स्थूल नील घटाकार का प्रतिभास माना जाता है। वैभाषिक इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि चक्षुर्विज्ञान नहीं, अपितु चक्षुरिन्द्रिय रूप को देखती है। यदि चक्षुर्विज्ञान रूप को देखेगा तो विज्ञान की गति अप्रतिहत (बेरोकटोक) होने से दीवार आदि के उस पार स्थित रूप को भी उसे देखना चाहिए, क्योंकि दीवार आदि वस्तु किसी जड़ पदार्थ को ही आगे जाने से रोक सकती है, ज्ञान को नहीं। किन्तु दीवार के उस पार स्थित रूप दिखाई नहीं देता, इससे सिद्ध होता है कि चक्षुर्विज्ञान रूप को नहीं देखता, अपितु जड़ चक्षुरिन्द्रिय रूप को देखती है, जिसकी अग्रगति दीवार के कारण अवरुद्ध हो जाती है।

(२) ज्ञान में स्वसंवेदनत्व का अभाव

वैभापिक प्रमुख सभी अठारह निकायों में ज्ञान में जैसे ज्ञेय (विषय) का आकार नहीं माना जाता अर्थात् जैसे उसे निराकार माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान में ग्राहक-आकार अर्थात् अपने स्वरूप (स्वयं) को ग्रहण करने वाला आकार भी नहीं माना जाता। स्वयं (अपने स्वरूप) को ग्रहण करने वाला ज्ञान 'स्वसंवेदन' कहलाता है। आशय यह कि वे

(वैभाषिक आदि) स्वसंवेदन नहीं मानते। ज्ञात है कि बौद्ध नैयायिक सौत्रान्तिक आदि चार प्रत्यक्ष मानते हैं- इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगी-प्रत्यक्ष। इनमें से वैभाषिक आदि क्योंकि स्वसंवेदन नहीं मानते, इसलिए इनके मत में शेष तीन प्रत्यक्ष ही माने जाते हैं।

जब ज्ञान अपने विषय (ज्ञेय) नील आदि में प्रवृत्त होता है, तब ज्ञेय का आकार ज्ञान में आ जाने से ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है। ज्ञान के इस अपने ज्ञेयाकार स्वरूप को ज्ञान स्वयं प्रत्यक्षतया (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा) जानता है-ऐसा सौत्रान्तिक आदि बौद्धों नैयायिक मानते हैं। वैभाषिक आदि निकायों के मत में ज्ञान न तो ज्ञेयाकार होता है और न आत्मस्वरूपग्राहकाकार होता है। अर्थात् वे ज्ञान के स्वसंवेदन स्वरूप की कल्पना ही नहीं करते। इसलिए ये सर्वथा निराकार ज्ञानवादी ही हैं।

(३) बाह्यार्थ का अस्तित्व

वैभाषिक आदि के मत में ज्ञान में अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की सत्ता मानी जाती है। वे रूप, शब्द आदि बाह्य वस्तुएं परमाणुओं से आरब्ध (निर्मित) होती हैं, न कि विज्ञान के परिणाम के रूप में मानी जाती हैं-जैसा कि योगाचार विज्ञानवादी मानते हैं। योगाचार मतानुसार समस्त बाह्यार्थ आलयविज्ञान या मनोविज्ञान में स्थित वासना के परिणाम होते हैं। वैभाषिक ऐसा नहीं मानते। वैभाषिक मतानुसार घट आदि पदार्थों में स्थित परमाणु चक्षुरिन्द्रिय के विषय होते हैं तथा चक्षुरिन्द्रिय में स्थित परमाणु चक्षुर्विज्ञान के आश्रय होते हैं। इसलिए इनके मत में परमाणु से निर्मित घट आदि स्थूल वस्तुओं की वस्तुसत्ता नहीं मानी जाती। सौत्रान्तिकों के मतानुसार घट आदि में स्थित प्रत्येक परमाणु चक्षुर्विज्ञान का विषय नहीं होता, अतः चक्षुर्विज्ञान में भासित होने वाले घट आदि स्थूल वस्तुओं की वस्तुसत्ता मानी जाती है। जैसे वैशेषिक दार्शनिक अवयवों से अतिरिक्त एक अवयवी द्रव्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, वैसे वैभाषिक नहीं मानते, इसलिए घट आदि के अन्तर्गत विद्यमान परमाणु ही इन्द्रिय के विषय होते हैं।

(४) तीनों कालों की सत्ता

जो सभी अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न कालों का अस्तित्व मानते हैं, वे सर्वास्तिवादी चार प्रकार के हैं, यथा- १. भावान्यथिक। इस मत के प्रमुख आचार्य भदन्त धर्मत्रात हैं। इनके अनुसार अध्वों (कालों) में प्रवर्तमान (गतिशील) धर्मों की द्रव्यता में अन्यथात्व नहीं होता। केवल भाव में अन्यथात्व होता है। २. लक्षणान्यथिक। इसके प्रमुख आचार्य भदन्त घोषक हैं। इनके अनुसार अध्वों में प्रवर्तमान अतीत धर्म यद्यपि अतीत-लक्षण से युक्त होता है, फिर भी वह प्रत्युत्पन्न और अनागत लक्षण से भी अवियुक्त

होता है। ३. अवस्थान्यथिक। इसके प्रमुख आचार्य भदन्त वसुमित्र हैं। इनके अनुसार अध्वों में प्रवर्तमान धर्म भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त कर अवस्था की दृष्टि से भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट किया जाता है, न कि भिन्न-भिन्न द्रव्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट होता है। ४. अन्यथान्यथिक। इसके प्रमुख आचार्य भदन्त बुद्धदेव हैं। इनके अनुसार अध्वों में प्रवर्तमान धर्म पूर्व, अपर की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहा जाता है।

इनमें जो तीसरा पक्ष अवस्थान्यथिक नाम से विख्यात है, वही शोभन है। इसके अनुसार कारित्र (अर्थक्रिया) की दृष्टि से अध्व की व्यवस्था की जाती है। जैसे जो धर्म कारित्र को प्राप्त नहीं है, वह अनागत; जो कारित्र को प्राप्त है, वह प्रत्युत्पन्न तथा जिसका कारित्र समाप्त हो गया है, वह अतीत कहा जाता है। तीनों कालों की द्रव्यतः सत्ता को अवश्य मानने के पक्ष में ये निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :

यदि अतीत, अनागत की सत्ता न मानी जाएगी तो अतीत, अनागत को विषय (आलम्बन) बनानेवाला ज्ञान निरालम्बन हो जाएगा। आलम्बन का अभाव हो जाने से उसे ज्ञान कहना ही सम्भव नहीं होगा। अपि च, अतीत को विषय बनाने वाला योगियों का ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा। पुनश्च, अतीत कर्म का कोई फल ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसमें किसी भी प्रकार के कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं मानी जा सकती। फलतः सारी कर्म-कर्मफल व्यवस्था के विलोप का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः तीनों कालों का अस्तित्व अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि वस्तुएं नित्य होती हैं। वैभाषिक मत के अनुसार सभी वस्तुएं उत्पाद-भङ्ग स्वभाववाली होती हैं, अतः अनित्य ही होती हैं।

(५) निरुपधिशेष निर्वाण

वैभाषिक आदि निकायों के मत में निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में व्यक्तित्व की सर्वथा निवृत्ति (परिसमाप्ति) मानी जाती है। इस अवस्था में अनादि काल से चली आ रही व्यक्ति की नाम-रूप सन्तति सर्वथा शान्त हो जाती है, जैसे दीपक के बुझ जाने पर उसकी किसी भी प्रकार की सन्तति अवशिष्ट नहीं रहती।

(६) बोधि से पूर्व गौतम बुद्ध का पृथग्जन होना

इन निकायों के मतानुसार जन्म ग्रहण करते समय राजकुमार सिद्धार्थ पृथग्जन ही थे। वह बोधिसत्त्व अवश्य थे और मार्ग की दृष्टि से सम्भारमार्ग की अवस्था में विद्यमान थे। घर से बाहर होकर प्रव्रज्या ग्रहण करने के अनन्तर जिस समय बोधिवृक्ष के मूल में समाधि में स्थित थे, तब उन्होंने क्रमशः प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग और भावनामार्ग को प्राप्त किया। अन्त में उन्होंने उसी आसन पर सम्यक् संबुद्धत्व की प्राप्ति की। ये लोग ऐसा नहीं

मानते कि वे पहले ही बुद्धत्व प्राप्त कर चुके थे और जम्बूद्वीप में उनका मनुष्य के रूप में अवतार हुआ था, जैसा कि महायानी बौद्ध मानते हैं। उनका शरीर भी सास्रव ही था। महापरिनिर्वाण के अनन्तर उनके व्यक्तित्व का अस्तित्व सर्वथा समाप्त हो गया, क्योंकि उन्होंने निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त कर लिया था।

(७) महायानसूत्रों की अप्रामाणिकता

इन सभी अठारह निकायों में महायानसूत्रों की बुद्धवचन के रूप में मान्यता स्वीकृत नहीं है। इसके लिए वे निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं :

(क) समस्त बुद्धवचन सूत्र, विनय और अभिधर्म-इन तीन पिटकों में संगृहीत हैं। राजगृह आदि में संगीतिकारकों ने इन महायानसूत्रों का किसी भी पिटक में संग्रह नहीं किया है। इसलिए ये बुद्धवचन नहीं हैं।

(ख) महायान सूत्रों में बुद्ध, धर्म और संघ अर्थात् त्रिरत्न, चार आर्य सत्य तथा कर्म-कर्मफल आदि की सत्यतः सत्ता नहीं मानी जाती, क्योंकि वे सभी धर्मों को स्वभावतः शून्य मानते हैं। इस तरह वे कर्म, कर्मफल, त्रिरत्न आदि के बारे में उच्छेदवादी चार्वाकों की भाँति ही हैं।

(ग) बौद्ध धर्म के सर्वमान्य अठारह निकाय हैं, किन्तु महायानसूत्रों का किसी भी निकाय में संग्रह नहीं है, क्योंकि :

(१) प्रथम या द्वितीय संगीति में उनका संगायन नहीं हुआ।

(२) महायान सूत्रों में तथागत का धर्मकाय नित्य माना गया है, जो सभी निकायों के इस सार्वभौम सिद्धान्त से विरुद्ध है कि 'सभी संस्कार अनित्य है'।

(३) महायान सूत्रों में तथागतगर्भ या आलयविज्ञान की देशना की गई है, जो लगभग आत्मदेशना की भाँति ही है। अतः यह देशना 'सभी धर्म अनात्मक हैं'-इस सर्व बौद्धसम्मत सिद्धान्त से विपरीत है।

(४) महायान सूत्रों के अनुसार तथागत निर्वाण के बाद भी उसमें विलीन नहीं होते, अपितु अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित होते हैं। उनका यह सिद्धान्त सार्वनैकायिक इस मत से विपरीत है कि 'निर्वाण शान्त है'।

(५) महायान सूत्रों में सर्वमान्य बौद्ध धर्म के विपरीत अनेक मतों का उल्लेख उपलब्ध होता है, जैसे- अर्हत् पुद्गलों की निन्दा, गृहस्थ लोगों को भी प्रव्रजित द्वारा प्रणाम किया जाना, भगवान् बुद्ध से भी अधिक बोधिसत्त्वों की प्रशंसा, गगनगर्भ आदि बोधिसत्त्वों का अर्थशून्य शब्दमात्र प्रणिधान करना आदि।

(६) शाक्यमुनि बुद्ध का लीला के लिए पृथ्वी पर अवतरण, बुद्ध का सदा समाहित अवस्था में रहना, आनन्तर्य पापकर्मों के भी उन्मूलन की सम्भावना आदि बौद्ध

धर्म के विपरीत मतों का उल्लेख महायानसूत्रों में दिखाई पड़ता है।

फलतः ये महायान सूत्र कभी भी बुद्धवचन नहीं हो सकते। प्रतीत होता है कि लोगों की वञ्चना करने के लिए मार द्वारा ये उपदिष्ट हैं।

महायानसूत्रों के बुद्धवचन न होने के पक्ष में और भी अनेक दोषारोपण तर्कज्वाला आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं तथा वहाँ इन दोषारोपणों का समाधान भी उपलब्ध होता है। इसके अलावा आचार्य नागार्जुन के ग्रन्थों में, आर्य मैत्रेयनाथ के महायानसूत्रालङ्कार में, भावविवेक के मध्यमकहृदय और शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थों में महायान सूत्रों की बुद्धवचनता युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है। इन सबका विस्तृत ज्ञान उन-उन ग्रन्थों का अवलोकन करके ही करना चाहिए।

आचार्य वसुमित्र, विनीतदेव, भव्य आदि के ग्रन्थों में तथा इन ग्रन्थों के आधार पर बाद में भोटदेशीय विद्वानों द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में अठारह निकायों से सम्बद्ध सामग्री बड़ी मात्रा में उपलब्ध होती हैं, किन्तु यहाँ संक्षेप में ही निर्देश करना अभीष्ट है।

सम्राट् कनिष्क के समय जालन्धर या कश्मीर के कुण्डलपुर में जो चतुर्थ संगीति सम्पन्न हुई, वह मुख्यरूप से सर्वास्तिवादियों के आपसी विवादों के समाधान के लिए आयोजित की गई थी। उसमें सम्पूर्ण त्रिपिटक पर विभाषा नाम की एक टीका लिखी गई, जिसमें सूत्रों का वास्तविक अभिप्राय अभिव्यक्त किया गया था। इस टीका को प्रमाण मनानेवाले 'वैभाषिक' कहलाए। इस संगीति में जो सम्मिलित नहीं हुए थे अथवा इस संगीति के निष्कर्षों को जिन्होंने स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, वे विभिन्न सर्वास्तिवादियों के रूप में प्रख्यात रहे।

ऊपर के विवरणों से यह ज्ञात होता है कि सभी अठारह (या उससे अधिक) निकायों के प्रमुख दार्शनिक मुद्दों पर प्रायः समान विचार थे। अतः बौद्ध दर्शनों का जब चार दार्शनिक प्रस्थानों में वर्गीकरण किया गया, तब इन सभी निकायों को एक में सम्मिलित करके उसे वैभाषिक दार्शनिक प्रस्थान कहा गया।

●

स्थविरवाद
परमार्थ धर्म विचार

(अठारह निकायों में स्थविरवाद भी एक है। इन दिनों विश्व में दो ही निकाय जीवित हैं-स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद की विनय-परम्परा। स्थविरवाद की परम्परा श्रीलङ्का, म्यामांर, थाईलैण्ड, कम्बोडिया आदि दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में प्रभावी ढंग से प्रचलित है। उसका विस्तृत पालिसाहित्य विद्यमान है और आज भी रचनाएं हो रही हैं। अतः संक्षेप में यहाँ उसके परमार्थसत्य तथा शीलसमाधि और प्रज्ञा का परिचय दिया जा रहा है। शील, समाधि और प्रज्ञा ही मार्गसत्य है, जिससे निर्वाण (मोक्ष) जैसे परमार्थसत्य एवं परम पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव है।)

परमार्थ–जो अपने स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ता तथा जिसके स्वभाव से कभी परिवर्तन नहीं होता ऐसा तत्त्व 'परमार्थ' कहा जाता है। जैसे-लोभ का स्वभाव (लक्षण) आसक्ति या लालच है। यह चाहे मनुष्य में हो अथवा पशु में हो अपने आसक्ति या लालची स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ता। भौतिक (रूप) वस्तुओं में भी पृथ्वी का स्वभाव 'कठोर' होना है। यह पृथ्व कहीं भी किसी भी अवस्था में अपने कठोर स्वभाव को नहीं छोड़ती। इसलिए चित्त, स्पर्शवेदना आदि चैतसिक, पृथ्वी अप् आदि महाभूत और भौतिक वस्तु (रूप) तथा निर्वाण परमार्थ कहे जाते हैं।

साधारण जन (पृथग्जन) इन परमार्थ धर्मों को नहीं जान संकते, क्योंकि परमार्थ तत्त्व (धर्म) व्यवहारिक वस्तुओं से ढंका हुआ होता है। ज्ञान (प्रज्ञा) के द्वारा देखने पर ही उसे जाना जा सकता है। जैसे- 'व्यक्ति (पुद्गल) एक व्यावहारिक सत्य है, किन्तु ज्ञान से देखने पर उस व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। उसमें पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु आदि भौतिक पदार्थ (रूप), आलम्बन को जानने वाला चित्त तथा आलम्बन को स्पर्श करने वाला (स्पर्श) एवं अनुभव करने वाली (वेदना) आदि चैतसिक ही विद्यमान रहते हैं। व्यक्ति नष्ट हो जाता है, परमार्थ रह जाता है। वस्तु, द्रव्य आदि का भी अस्तित्व नहीं है, केवल तत्त्वों (धर्मों) का ही अस्तित्व होता है। इन तत्वों (धर्मों) को, जो अपने स्वभाव से विपरीत नहीं होते, विचलित नहीं होते 'परमार्थ धर्म' कहते हैं। यद्यपि परमार्थ चार कहे गये हैं, यथा– चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण, तथापि इनमें से निर्वाण ही स्थायी है, शेष तीन जब तक संसार रहते हैं, तब तक क्षण क्षण में उत्पन्न होकर निवष्ट होते रहते हैं। इस तरह धारावाहिक रूप में विद्यमान रहते हैं। फिर भी चूंकि वे जब तक हैं तब तक अपने स्वभाव से कभी भी च्युत नहीं होते, इसलिए 'परमार्थ' कहे जाते हैं। अभिप्राय यह है– परमार्थ के स्वरूप के बारे में बौद्ध दार्शनिकों में और अन्य भारतीय दार्शनिकों में मूलतः भेद है।

जबकि अन्य दार्शनिक यह समझते हैं कि परमार्थ धर्म वह है जो नित्य व चिरस्थायी हो, जो नश्वर स्वभाव न हो। इसके विपरीत वे (अन्य दार्शनिक) अपरमार्थ या व्यावहारिक धर्म उन्हें मानते हैं जिनकी सत्ता कुछ काल के लिए होती है।

बौद्ध दार्शनिक परमार्थ उन्हें कहते हैं जिनकी सत्ता होती है, जो अर्थ क्रियासमर्थ होते हैं। चाहे वे कुछ काल के लिए हों या हमेशा विद्यमान रहते हों। उनके यहां चूंकि सभी धर्म (निर्वाण को छोड़कर) क्षणिक होते हैं, इसलिए परमार्थ के लिए नित्य होना आवश्यक नहीं होता। इसके विपरीत अपरमार्थ या व्यावहारिक धर्म वे हैं, जिनकी किसी भी प्रकार से सत्ता नहीं रहती। उनकी स्थिति मात्र कल्पनाजन्य होती है, दिमागी होती है, यथा व्यक्ति (पुद्गल। पांच स्कन्धों (परमार्थ धर्मों) से भिन्न व्यक्ति की कुछ भी सत्ता नहीं है। व्यक्ति का अस्तित्व केवल दिमागी है। पाँच स्कन्ध नित्य न होने पर भी परमार्थ है, क्योंकि उनका एक स्वभाव होता है और वे अपने स्वभाव से कभी विचलित नहीं होते। क्षणिक अग्नि का भी दहन स्वभाव से कभी वियोग नहीं होता, केवल निर्वाण नामक परमार्थ धर्म ही एक ऐसा है जो परमार्थ भी है और स्थायी भी है। शेष चित्त, चेतसिक और रूप धर्म परमार्थ है, किन्तु नित्य नहीं है, क्षणिक है।

चित्त-चैतसिक - यद्यपि चित्त-चैतसिक पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले होते हैं तथापि वे दोनों एक विषय (आलम्बन) में एक साथ उत्पन्न होकर एक साथ निरुद्ध होते हैं। इनमें से वर्ण, शब्द आदि विषयों (आलम्बन) को सामान्यरूपेण जानना मात्र 'चित्त' है। यहाँ चित्त द्वारा आलम्बन का ग्रहण करना या प्राप्त करना ही 'जानना' कहा जाता है। जानना, ग्रहण करना, प्राप्त करना, परिच्छेद (उद्ग्रहण) करना, ये पर्यायवाची हैं।

चित्त-चैतसिक दोनों के साथ-साथ उत्पन्न और निरुद्ध होने पर भी उनमें चित्त ही प्रधान और पूर्वगामी होता है। क्योंकि कुछ चैतसिकों के न होने पर भी आलम्बन ग्रहण हो सकता है, किन्तु चित्त के न होने पर आलम्बन का ग्रहण कथमपि नहीं हो सकता। यही चित्त की प्रधानता है, अतः जिसके कारण चैतसिक आलम्बन का ग्रहण कर सकते हैं, उसे 'चित्त' कहते हैं। स्पर्श, वेदना आदि चैतसिकों के द्वारा आलम्बन को ग्रहण करने के कारण के रूप में भी चित्त को समझा जा सकता है। इस प्रकार चित्त की प्रधानता बनी रहती है। जैसे- किसी राजा का आगमन उसके संरक्षक आदि के बिना नहीं होता, तो भी वे सहवर्ती आदि प्रधान नहीं हो जाते, इसलिए व्यवहार में 'राजा आगतो' के द्वारा राजा के आगमन का ही प्रधानतया उल्लेख होता है।

यह कहा गया है कि 'आलम्बन' को ग्रहण करना मात्र, चित्त है। यह ठीक भी है, क्योंकि चित्त चैतसिकों का असली स्वभाव भावसाधनविग्रह द्वारा ही भलीभाँति प्रकट होता है, जैसे- 'चिन्तनं चित्तं' स्पर्शनं स्पर्शः अर्थात् वे (चित्त-चैतसिक) क्रियामात्र ही होते हैं। उनमें कोई द्रव्य, संस्थान या विग्रह उपलब्ध नहीं होता। वे कारणों में प्रवृत्त होते हैं। वे न

अपने बल से, अपने वश या शक्ति से उत्पन्न होते हैं तथा न तो दूसरों के अधीन होते हैं। वस्तुतः वे क्षण मात्र ही रहते हैं अतः उनके सम्बन्ध में यह विभाजन नहीं किया जा सकता, कि यह द्रव्य है यह संस्थान है या यह विग्रह है। यद्यपि चित्त में कर्तृशक्ति एवं करणशक्ति नहीं होती, फिर भी आत्मवादियों की आत्मदृष्टि को हटाने के लिए चित्त में कर्तृशक्ति और करणशक्ति का आरोप किया जाता है। जैसे आत्मवादी आत्मा को सिद्ध करने के लिए उसमें कर्तृशक्ति मानते हैं, यथा– आत्मा जानता है। वे कहते हैं कि यदि आत्मा कर्ता न होगा, तो कौन जानेगा। इसी तरह वे उसमें करणशक्ति भी मानते हैं, यथा- 'आत्मा की वजह से इन्द्रियां विषयों को जानती हैं। यदि आत्मा (करण) न होगा, तो इन्द्रियां विषयों को न जान सकेंगी।'

अनात्मवादी बौद्ध यद्यपि चित्त में कर्तृशक्ति और करणशक्ति नहीं मानते, अपितु वे चित्त को 'जानना मात्र' मानते हैं, तथापि आत्मवादियों की आत्मदृष्टि को निरस्त करने के लिए वे चित्त में कर्तृशक्ति एवं करणशक्ति का आरोप करते हैं। यथा- 'चित्त जानता है, (कर्तृत्वारोप), 'चित्त की वजह से चैतसिक विषयों में प्रवृत्त होते हैं (करणत्वारोप) आदि।

वस्तुतः आलम्बन को जानना यही चित्त का स्वभाव है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई जानने वाला कर्ता (ज्ञाता) एवं जानने का करण नहीं है।

आलम्बन को जानने के तीन प्रकार होते हैं। संज्ञा द्वारा जानना, प्रज्ञा द्वारा जानना, चित्त द्वारा जानना। मिथ्या हो अथवा सत्य पूर्व में देखी हुई वस्तु को 'यह वही है' इस प्रकार जानना संज्ञा के द्वारा जानना है। मिथ्या न होकर सत्य को ही यथार्थ जानना प्रज्ञा के द्वारा जानना है। तथा किसी वर्ण, शब्द आदि आलम्बन मात्र को जानना चित्त के द्वारा जानना है। यद्यपि संज्ञा प्रज्ञा तथा चित्त तीनों ही सामान्यतः जानना-क्रिया करते हैं- ऐसी प्रतीति होती है, तथापि संज्ञा तथा प्रज्ञा के द्वारा जानना कृत्य से चित्त की क्रिया विशिष्ट हैं। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर चित्त को 'विज्ञान' भी कहते हैं।

चित्त, मन और विज्ञान एक ही अर्थ के वाचक हैं। जो संचय करता है (चिनोति), वह चित्त है। यही मनस् है, क्योंकि यह मनन करता है (मनुते)। यही विज्ञान है, क्योंकि वह अपने आलम्बन को जानता है (आलम्बनं विजानाति)।

यद्यपि चित्त अपने 'आलम्बनविजनानन' इस लक्षण से एक प्रकार का है, किन्तु जाति, भूमि, सम्प्रयोग, संस्कार एवं वेदना आदि भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है। चक्षुः, श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा चित्त आलम्बन का ग्रहण करता है। इन्द्रियां छह हैं, अतः इन्द्रियभेद से विज्ञान भी छह प्रकार के होते हैं- चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और मनोविज्ञान। चक्षुर्विज्ञान से उत्पन्न होने के लिए द्वार के रूप में चक्षुर्न्द्रिय, आलम्बन के रूप में वर्ण आवश्यक होता है। उसी प्रकार श्रोत्र से शब्द का, नाम से गन्ध का, जिह्वा से रस का, काय से स्प्रष्टव्य का समागम होने पर उत्पन्न चित्त

को क्रमशः श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान जिह्वाविज्ञान और कायविज्ञान कहते हैं। चक्षुः आदि विज्ञानों के उत्पन्न हो जाने के अनन्तर उसके द्वारा ग्रहण किये गये आलम्बन को पुनः ग्रहण करने या मनन करने के लिए मनोद्वार (मन-इन्द्रिय) में जो विज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'मनोविज्ञान' कहते हैं। चक्षुर्विज्ञान आदि के द्वारा आलम्बन का निश्चय नहीं होता, उसके अनन्तर उत्पन्न मनोविज्ञान से ही आलम्बन का निश्चय होता है। इसलिए चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान निर्विकल्पज्ञान है तथा इन्द्रिय विज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होने वाला मनोविज्ञान सविकल्पकज्ञान होता है- ऐसा कहना चाहिए। चक्षुर्विज्ञान आदि के द्वारा विषय का ग्रहण मात्र होता है, तदनन्तर उत्पन्न मनोविज्ञान से ही विषय का निश्चय होता है, क्योंकि चक्षुर्विज्ञान आदि सर्वप्रथम उत्पन्न होकर क्षण मात्र स्थिर रहकर निरुद्ध हो जाते हैं। इसलिए आलम्बन को व्यवहारोपयोगी रूप से पूरा जानने में समर्थ नहीं होते। चक्षुरार्दिविज्ञानों के द्वारा गृहीत आलम्बन को पुनः पूर्ण रूप से ग्रहण करने वाला मनोविज्ञान होता है। यह ज्ञान की सविकल्प अवस्था है।

चैतसिक–जब कोई चित्त उत्पन्न होता है, तव स्पर्श वेदना आदि चैतसिक भी उत्पन्न होते हैं। चित्त से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होने के कारण, चित्त में होने वाले उन स्पर्श वेदना आदि धर्मों को, 'चैतसिक' कहते हैं। यहाँ 'चित्त' आधार है तथा चैतसिक उसमें होने वाले आधेय हैं- ऐसा नहीं समझना चाहिए। हाँ, यह ठीक है कि पूर्वगामी चित्त के अभाव में चैतसिक नहीं हो सकते, इस स्थिति में चित्त के न होने पर चैतसिकों के कृत्य नहीं होंगे, चित्त से सम्बद्ध होने पर ही वे सम्भव हैं, अतः चित्त में होने वाले स्पर्श वेदना आदि धर्म चैतसिक है- ऐसा भी कहा जाता है। यह ठीक भी है, क्योंकि स्पर्श वेदना आदि सदा सर्वथा चित्त में सम्प्रयुक्त होते हैं। चित्त के विना चैतसिक अपने आलम्बनों को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। इसीलिए चित्त-चैतसिकों का साथ-सा उत्पाद निरोध माना जाता है तथा साथ ही समान आलम्बन का ग्रहण एवं समान वस्तु (इन्द्रिय) का आश्रय करना माना जाता है।

चित्त एवं चैतसिकों के साथ-साथ उत्पन्न एवं निरुद्ध होने पर भी उनके कृत्य पृथक्-पृथक् होते हैं, क्योंकि वे भिन्न स्वभाव (लक्षण) वाले परमार्थ धर्म होते हैं। यथा- जब चित्त आलम्बन का ग्रहण करता है तो उसके साथ होने वाले चैतसिकों में से स्पर्श उस आलम्बन का स्पर्श करता है, वेदना आलम्बन के रस का अनुभव करती है, संज्ञा आलम्बन का उसके नील, पीत आदि भेद से परिज्ञान (संज्ञान) करती है, चेतना अपने साथ उत्पन्न होने चित्त-चैतसिकों को आलम्बन में युक्त (अभिसन्धि) करती है, प्रवृत्त करती है तथा उत्साहित करती है। एकाग्रता आलम्बन में चित्त का सम या सम्यक् आधान करती है। जीवितेन्द्रिय अपने साथ उत्पन्न नाम-रूप धर्मों को जीवित रहने के लिए अनुपालन

करती है तथा मनसिकार (मनस्कार) आलम्बन का मनन (आवर्जन) करता है। इसी प्रकार अन्य चैतसिकों के स्वभाव एवं लक्षणों को भी जानना चाहिए।

यद्यपि चित्त और चैतसिकों में चित्त प्रधान एवं पूर्वगामी होता है, तथापि चित्त विषय का सामान्यरूपेण ग्रहणमात्र करता है तथा चैतसिक उसका विशेषरूपेण ग्रहण करते हैं। आलम्बन की विशेष अवस्थाओं को छोड़कर केवल आलम्बन के सामान्य आकारमात्र का ग्रहण चित्त द्वारा होता है। आलम्बन की विशेष अवस्थाओं का जैसे आलम्बन नीलसंज्ञक है, पीतसंज्ञक है, दीर्घ है, ह्रस्व है, उन्नत है, अवनत है, सुखदायक है, दुःखप्रद है, मनोज्ञ है, अमनोज्ञ हैं, प्रिय है अप्रिय है– इत्यादि का निश्चय संज्ञा आदि चैतसिकों द्वारा होता है। इसलिए जब कोई चित्त उत्पन्न होता है तो उसके साथ उत्पन्न विशेष चैतसिकों के आधार पर उस चित्त का नामकरण किया जाता है। जब कोई चित्त उत्पन्न होता है तो सभी चित्तों से सर्वदा साथ रहने वाली स्पर्श वेदना आदि चैतसिकों (सर्वचित्तसाधारण) के अतिरिक्त लोभ, द्वेष, श्रद्धा, स्मृति आदि चैतसिक भी उत्पन्न होते हैं। लोभ, द्वेष, आदि चैतसिकों को लक्ष्य करके उस चित्त को लोभचित्त या द्वेषचित्त आदि कहते हैं तथा श्रद्धा आदि शोभन चैतसिक उत्पन्न होने पर उनके साथ होने वाले चित्त 'शोभन चित्त' कहलाते हैं। इसी प्रकार कुशल (पुण्य) चित्त तथा अकुशल (पाप) चित्तों को भी जानना चाहिए। इस प्रकार चित्त के प्रधान एवं पूर्वगामी होने पर भी अपने साथ उत्पन्न चैतसिकों के अनुसार उस चित्त का नामकरण भी किया जाता है।

रूप - उपर्युक्त चित्त चैतसिक मनुष्य के चेतन (अभौतिक) पदार्थ (धर्म) हैं, इन्हें बौद्ध परिभाषा में 'अरूप धर्म' या 'नाम धर्म' कहा जाता है। ये नाम धर्म यद्यपि भौतिक (रूप) धर्मों का आश्रय करके ही उत्पन्न होते हैं। तथापि वे भौतिक (रूप) धर्मों का संचालन भी करते रहते हैं। उसका अभिप्राय यह है कि यदि रूप धर्म नहीं होते हैं तो अरूप (नाम) धर्म भी नहीं होते। यदि अरूप (नाम) धर्म नहीं है तो रूप धर्म निष्प्रयोजन हो जाते हैं। यद्यपि भगवान् बुद्ध का प्रधान प्रतिपाद्य निर्वाण था और निर्वाण प्राप्ति के लिए कुशल, अकुशल अरूपधर्मों का विवेचन करना भी आवश्यक था, तथापि रूप धर्मों के विवेचन के बिना अरूपधर्मों का विवेचन सम्भव नहीं था, फलतः उन्होंने २८ प्रकर के भौतिक धर्मों का विवेचन किया। इस प्रकार मनुष्य जीवन में यद्यपि अरूपधर्म प्रधान है, तथापि रूपधर्मों की भी अनिवार्यता है। अतः सभी अभिधर्मशास्त्र रूपों का भी विश्लेषण करते हैं।

शीत, उष्ण आदि कारणों से विकार को प्राप्त होने वाली पृथ्वी, अप्, तेजस् आदि भौतिक धर्मों को 'रूप' कहा गया है। ये रू॰ धर्म मनुष्य में तथा बाह्य जगत् में व्याप्त हैं। जिस प्रकारं निरन्तर उत्पन्न एवं निरुद्ध होते हुए चित्त जलधारा की तरह प्रवाह के रूप में प्रवृत्त होता रहता है, उसी प्रकार रूप का भी क्षण-क्षण में उत्पाद निरोध होता रहता है, इसे रूप प्रवाह (रूप सन्तति) कहते हैं। पूर्वपूर्व रूप से भिन्न बाद बाद की रूप सन्तति

का उत्पन्न होना ही 'विकार' कहलाता है। जैसे-गर्मी के समय उष्ण रूपसन्तति प्रवृत्त होती रहती है, यदि उसी समय शीतलता हो जाने पर रूपसन्तति धीरे-धीरे उष्णारूपसन्तति से शीतरूपसन्तति के रूप में बदल जाती है तो इस प्रकार पूर्व रूपसन्तति से भिन्न होकर नयी रूपसन्तति के प्रवृत्त होने को ही 'विकार' कहते हैं। इसी प्रकार शीतलरूपसन्तति से भिन्न उष्ण रूपसन्तति के रूप में परिवर्तन होने को भी जानना चाहिए। शीत ऋतु में त्वचा का फटना आदि शीत से होने वाले रूप के विकार हैं। गर्मी से रक्तवर्ण हो जाना आदि उष्ण से होने वाले रूप के विकार हैं। पूर्व कर्म से कुरूप या सुन्दर रूप आदि होना कर्म से होने वाले रूप के विकार हैं। प्रसन्न एवं क्रोध चित्त होने पर चेहरे पर प्रसन्नता, मलिनता आदि होना चित्त से होने वाले रूप के विकार हैं तथा अच्छे भोजन मिलने पर पुष्ट रूप आदि होना आहार से होने वाले रूप के विकार हैं। इस प्रकार ऋतु, कर्म, चित्त एवं आहार के रूप के विकार को जानना चाहिए।

पृथ्वी अप् आदि २८ रूपों में से पृथ्वी अप्, तेजस, वायु वर्ण, गन्ध, रस और ओजस् ये आठ रूप सदा एक साथ रहते हैं। परमाणु, जो सूक्ष्म पदार्थ माना जाता है, उसमें भी ये आठ रूप रहते हैं। इनमें से पृथ्वी, अप् तेजस् और वायु को 'महाभूत' कहते हैं। क्योंकि इन चार रूपों का स्वभाव और द्रव्य अन्य रूपों से महान् होते हैं तथा ये ही मूलभूत होते हैं। इन चार महाभूतों का आश्रय लेकर ही वर्ण आदि अन्य रूपों की अभिव्यक्ति होती है। वर्ण, गन्ध आदि रूपों का हमें तभी प्रत्यक्ष हो सकता है, जबकि इनके मूल में संघातरूप महाभूत हों। जब महाभूतों का संघात रहेगा तब वर्ण गन्ध आदि का भी प्रत्यक्ष हो सकेगा।

मनुष्य के शरीर में विद्यमान चार महाभूतों के स्वभाव को समझने के लिए मृत्तिका से बनी हुई मूर्ति को उपमा से विचार किया जाता है। एक-एक रूप-समुदाय (कलाप) में विद्यमान इन चार महाभूतों को प्राकृत चक्षु द्वारा नहीं देखा जा सकता, वे परमाणु नामक अत्यन्त सूक्ष्म रूप-समुदाय (कलाप) होते हैं। अनेक रूपों (कलापों-रूप-समुदायों) का संघात होने पर ही उन्हें प्राकृत चक्षु द्वारा देखा जा सकता है। इस प्रकार अनेक रूप-समुदायों (कलापों) का संघात होने पर मनुष्य का भौतिक शरीर बन जाता है।। भौतिक शरीर होने में मनुष्य के पूर्वकृत कर्म (चेतना) मुख्य कारण होते हैं।

रूप का विकार होने में कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार को कारण (प्रत्यय) माना जाता है। ये चार कारण रूप के उत्पाद में भी कारण हैं। इन चार कारणों में से किसी एक या दो कारणों से अथवा सभी चार कारणों से रूपों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जीवन भर अच्छे या बुरे कर्म करता रहता है। वे कर्म उसके पुनर्जन्म (पुनर्भव) में उत्पन्न होने के लिए कारण हो जाते हैं। जब तक वह जीवनमुक्त (अर्हत्) नहीं होता तब तक मनुष्य के द्वारा किये गये सभी कर्म भावी (अनागत) जीवन के लिए कारण (फलदायक) होते हैं। किसी एक कर्म के विपाक (फल) स्वरूप एवं नये जीवन में प्रवेश करते समय (माता के

गर्भ में सर्वप्रथम प्रवेश के समय (प्रतिसन्धिकाल में) सबसे पहले चित्त, स्प्रष्टव्य रूप (काय), स्त्री या पुरुष का भाव (भावरूप) तथा आश्रयरूप (वस्तुरूप) ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए रूप के उत्पाद में कर्म को एक कारण कहा है।

चित्त के प्रसन्न होने पर रूप भी प्रसन्न एवं स्वच्छ होता है तथा चित्त में क्रोध होने पर रूप लाल होता है। मनुष्य के मुख एवं शरीर को देखकर भीतरी चित्त के स्वभाव को जाना जा सकता है। इसलिए रूप के उत्पाद में चित्त को एक कारण कहा है। ऋतु भी रूप के उत्पाद में एक कारण है। शीत, उष्ण ऋतुओं के रूपों में उत्पत्ति प्रसिद्ध है। अनुकूल तथा प्रतिकूल भोजन मिलने से शरीर स्वस्थ तथा कृश हो जाता है, अतः आहार भी रूप के उत्पाद में एक कारण होता है।

उपर्युक्त कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार के कारण उत्पन्न रूपों की कुल संख्या २८ होती है। यथा-पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु ये चार महाभूत और इन चार महाभूतों को आश्रय करके उत्पन्न २४ उपादानरूप हैं। यथा- चक्षुष, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय ये पांच प्रसाद रूप। सम्बद्ध आलम्बनों के प्रतिभासित होने के लिए कुछ रूप कलापों में स्वच्छ धातु होती है, उसे ही प्रसादरूप कहते हैं। ये प्रसादरूप भी रूपकलाप होते हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य ये पांच गोचर रूप हैं। चक्षुष् आदि इन्द्रियाँ रूप, शब्द आदि विषयों में विचरण करती हैं। अतः रूप शब्द आदि को गोचररूप कहते हैं। स्त्रीत्व और पुरुषत्व ये दो भाव रूप हैं, ये दो स्त्रीभाव और पुरुषभाव का प्रकाशन करते हैं, अतः भावरूप कहलाते हैं। यह भावरूप भी कायप्रसाद की तरह प्रतिसन्धिक्षण (माता के गर्भ में सर्वप्रथम प्रवेश काल) से ही शरीर में उत्पन्न हो जाने के कारण काय प्रसाद की तरह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर विद्यमान रहने वाला रूप है। जैसे- वृक्ष के अंकुर, पत्र, पुष्प एवं फल आदि अपने बीज के अनुसार उत्पन्न होते हैं, उसी तरह प्रतिसन्धि के साथ उत्पन्न भावरूप के अनुसार ही स्त्री एवं पुरुष शरीर में लिंग, निमित्त, आकार आदि उत्पन्न होते हैं। हृदयरूप, जिस रूप द्वारा उन-उन अर्थों या अनर्थों को पूर्ण किया जाता है, उस हृदयवस्तु को ही 'हृदयरूप' कहते हैं। जीवितरूप जो सह उत्पन्न कर्मजरूपों (कर्म से उत्पन्न रूपों) का अनुपालन करता है अर्थात् वह कर्मजरूपों की आयु है। आहाररूप, जिस आहार का केवल (कौर) किया जाता है, उसे कवलीकार आहार कहते हैं। यहाँ कवलीकार आहार को ही आहार कहते हैं।

उपर्युक्त चार महाभूत, पाँच प्रसाद, चार गोचर, दो भावरूप, हृयरूप जीवित रूप एवं आहार- इन १८ रूपों को अपने स्वभाव से विद्यमान रहने के कारण स्वभावरूप, सलक्षणरूप तथा निष्पन्नरूप कहते हैं। शेष आकाशधातु (परिच्छेदरूप) कायविज्ञप्ति, वाग्विज्ञप्ति, रूप की लक्षुता, मृदुता, कर्मण्यता तथा रूप की उत्पत्ति (उपचय), सन्तति, जरता एवं अनित्यता-इन दस रूपों को अनिष्पन्न रूप कहते हैं, वे दस रूप अपने स्वभाव में

विद्यमान नहीं हैं, अपितु उपर्युक्त अठारह निष्पन्न रूपों के लक्षणमात्र होते हैं। इन २८ रूपों को लोभ, द्वेष आदि हेतुओं से उत्पन्न न होने के कारण अहेतुक, कर्म, चित्त ऋतु और आहार इन चार प्रतययों से उत्पन्न होने से सत्प्रययरूप, लोभ, दृष्टि और मान इन क्लेशों को आस्रव कहते हैं। रूप इन आस्रवों के साथ उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें सास्रव कहते हैं। ये रूप कर्म, ऋतु एवं आहार द्वारा अभिसंस्कृत किये गये हैं, अतः इन्हें संस्कृत कहते हैं। ये रूप धर्म संसार (लोक) में संगृहीत हेते हैं, अतः इन्हें लोकिय कहते हैं। ये कामतृष्णा के आलम्बन होते हैं, अतः इन्हें कामावचर कहते हैं। ये किसी आलम्बन को ग्रहण नहीं करते हैं, अतः इन्हें अनालम्बन कहते हैं तथा ये (रूप) प्रहाण करने योग्य नहीं हैं, अतः अप्रहातव्य कहते हैं।

निर्वाण :- उपर्युक्त चित्त, चैतसिक और रूप धर्मों का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए साधना (विपश्यना) करना चाहि। साधना (विपश्यना) के द्वारा जो ज्ञान को प्राप्त करता है, वह आर्यपुद्‌गल है, आर्यपुद्‌गल ही निर्वाण का साक्षात्कार कर सकते हैं। जिसके दु५ख और दुःख के कारण (तृष्णा-समुदय) निवृत्त हो जाते हैं, वही निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है, अतः दुःख तथा तृष्णा से आत्यन्तिकी निवृत्ति ही 'निर्वाण' कहलाता है। यद्यपि निर्वाण दुःखों से आत्यन्तिकी निवृत्ति मात्र का निरोध मात्र को कहते हैं, तथापि वह अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह आर्यजनों के द्वारा साक्षात् करने योग्य है अर्थात निर्वाण ज्ञानप्राप्त आर्यजनों का विषय (आलम्बन) होने से अभाव नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह अत्यन्त सूक्ष्म धर्म होने से साधारण जनों के द्वारा जानने एवं कहने योग्य नहीं होने पर भी वह आर्यजनों का विषय होता है। इसलिए निर्वाण को एक परमार्थ धर्म कहते हैं।

एक जीवन (भव) से दूसरे जीवन को जोड़ने में कारणभूत तृष्णा को 'वान' कहते हैं। उस वान (तृष्णा) से निर्गत होने के कारण वह निर्वाण कहा जाता है। निर्वाण मार्गज्ञान द्वारा प्राप्तव्य मात्र है, उत्पादनीय नहीं। वह उत्पाद, स्थिति एवं भंग लक्षणों से युक्त न होने से नित्य है। रूप स्वरूप का अभाव होने से अरूप है, सर्व प्रपञ्चों से अतीत होने से निष्प्रपञ्च है, राग, द्वेष एवं मोह के साथ नाम-रूप धर्मों से शून्य होने के कारण शून्य है, कोई आकार (संस्थान) न होने से अनियमित है तथा कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार से असंस्कृत है।

निर्वाण शान्ति सुख लक्षण वाला है। यहाँ सुख दो प्रकार का होता है- शान्ति सुख एवं वेदयितसुख। शान्तिसुख वेदयितसुख की तरह अनुभूतियोग्य सुख नहीं है। किसी एक विशेष वस्तु का अनुभव न होकर वह उपशमसुख मात्र है। अर्थात् दुःखों से उपशम होना ही है। निर्वाण के स्वरूप के विषय में आजकल नाना प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं। कुछ लोग निर्वाण को रूप विशेष एवं नाम विशेष कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नाम-रूपात्मक

स्कन्ध के भीतर अमृत की तरह एक नित्यधर्म विद्यमान है, जो नामरूपों के निरुद्ध होने पर भी अवशिष्ट रहता है, उस नित्य, अजर, अमर, अविनाशी के रूप में विद्यमान रहना ही निर्वाण है, जैसे- अन्य भारतीय दार्शनिकों के मत में आत्मा। कुछ लोगों का मत है कि निर्वाण की अवस्था में यदि नामरूप धर्म न रहेंगे तो उस अवस्था में सुख का अनुभव भी कैसे होगा इत्यादि।

वस्तुतः निर्वाण चित्त, चैतसिक एवं रूप नामक परमार्थ धर्मों से पृथक एक परमार्थ धर्म है, अतः नाम-रूप संस्कारों से सर्वथा असम्बद्ध होने के कारण वह नाम विशेष एवं रूप विशेष नहीं हो सकता। निर्वाण स्कन्ध (शरीर) के अन्तर्गत रहने वाला अमृत की तरह कोई अविनाशी नित्यधर्म भी नहीं हो सकता। निर्वाण पुद्गल एवं सत्त्व की तरह कोई वेदक धर्म भी नहीं है और न रूप, शब्द आदि आलम्बनों की तरह वेदयितव्य धर्म ही है। अतः निर्वाण में वेदयितव्य सुख नहीं है, किन्तु उसमें उससे कोटिगुण अधिक शान्तिसुख एकान्त रूप से होता है। दुःख से निवृत्त शान्तिसुख ही परमसुख है। जैसे किसी आलम्बन को प्राप्त करने वाले किसी व्यक्ति को उस आलम्बन के विषय में यथाभूत ज्ञान होता है, उसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त ज्ञानी आर्य ही निर्वाण के स्वरूप का यथाभूत ज्ञान कर सकते हैं तथा उसका प्रामाणिक रूप से प्रतिपादन कर सकते हैं। सामान्य जन गम्भीर निर्वाण को यथार्थ रूप से नहीं जान सकते। वे अनुमान से ही उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं इसलिए जगत् के दुःखों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उन दुःखों से अत्यन्त निवृत्त निर्वाण के शान्तिसुख के उपशमस्वभाव को जानना चाहिये।

बौद्ध दुःखमय जगत् से अच्छी तरह परिचित है। संसार दुःख ही है, उसमें सुख लेशमात्र भी नहीं है दुःखों से छुटकारा पाने को सुख कहते हैं, अतः तात्कालिक सुख की कामना करना व्यर्थ है, बल्कि दुःखों से निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। निर्वाण हो जाने पर आत्मा जैसी कोई अविनाशी वस्तु अवशिष्ट नहीं रहा करती है। जिस प्रकार दीपक के जलने के लिए आवश्यक तेल आदि पदार्थ के अवशिष्ट न रहने पर दीपज्वाला (लौ) अपने आप बुझ जाती है, उसी प्रकार निर्वाण की अवस्था में पुनः निर्वाण (निरोध) के लिए कोई नाम रूप आदि अवशिष्ट नहीं रहते।

दुःखों के अभाव या क्लेशाभाव को जो निर्वाण कहा गया है, वह परम निर्वाण नहीं है, अपितु व्यावहारिक (प्रज्ञप्ति) निर्वाण है। परमनिर्वाण एक परमार्थ धर्म है, उस परमनिर्वाण को जानना सरल नहीं है। बुद्ध ने निर्वाण के स्वरूप की विशेषतया व्याख्या नहीं की। शायद बुद्ध के समय में लोग निर्वाण के स्वरूप को जानते होंगे, क्योंकि निर्वाण के स्वरूप के बारे में बुद्ध से प्रायः प्रश्न नहीं किये गये, केवल मुक्त व्यक्ति के मरने के बाद होने वाली दशा के बारे में हो वे प्रश्न पूछते थे। बाद में बौद्धों के लिए निर्वाण एक रहस्यमय विषय नन गया। जितने आचार्य हुए हैं, उतने ही निर्वाण के भिन्न-भिन्न स्वरूप हो गये हैं। यहाँ पर स्थविरवादी दृष्टि से निर्वाण के स्वरूप का संक्षिप्त विचार प्रस्तुत है।

असंस्कृत परमनिर्वाण सभी दुःखों से अशेष निरोध (निरोध-निर्वाण) मात्र नहीं है, वह तो व्यावहारिक (प्रज्ञप्ति) निर्वाण है। तथागत और अर्हत् (मुक्त व्यक्ति) की सन्तान में उत्पन्न अर्हत्-मार्गचित्त के निर्वाण का आलम्बन करके उत्पन्न होते समय अविद्या और तृष्णा नामक क्लेश समूल नष्ट या निरुद्ध हो जाते हैं। अनादिकाल से चित्त के साथ संयुक्त रहने वाले क्लेशों के समूल निरुद्ध हो जाने पर उनसे कार्य-कारण भाव से सम्बद्ध कर्म-विपाक भी नष्ट हो जाते हैं। संसारी सामान्यजनों की सन्तान में निरन्तर उत्पन्न होने वाले पाँच स्कन्ध (नाम-रूप) भी तथागत और अर्हतों में पुनः उत्पन्न नहीं होते। वे अशेष निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार का निरोध (निरोध निर्वाण) परमनिर्वाण नहीं, अपितु परमनिर्वाण का फल (विपाक) मात्र है। उसी प्रकार का विपाक निर्वाण (निरोध निर्वाण) तो क्लेशाभाव का प्रदर्शन करने वाला व्यावहारिक (प्रज्ञप्त) अर्थमात्र है अर्थात् अभावार्थमात्र है।

यदि सभी दुःखों के अशेष निरोध को परमनिर्वाण कहेंगे तो वह बुद्ध के वचनों के विरुद्ध हो जायेगा। बुद्ध ने परमनिर्वाण को नित्य, ध्रुव, निपुण, शाश्वत्, अनुत्तर, अद्‍भुत आदि कहा है। जिस प्रकार दीपक (दिया) नहीं है, प्रकाश अन्धकार को हटाता है, उस अन्धकार का अभाव प्रकाश नहीं है, उसी प्रकार निरोध मात्र परमनिर्वाण नहीं है, उसे दुःखों का अभाव कहना तो व्यावहारिक अर्थमात्र है। परमनिर्वाण तो उन सबसे परे तथागत और अर्हतों के द्वारा साक्षात् करणीय होने से वह एक परमार्थ धर्म है।

निर्वाण द्विविध है– सोपधिशेष (सउपादिसेस), और अनुपधिशेष (अनुपादिसेस)। इनमें तथागत और अर्हतों की सन्तान में निर्वाण का आलम्बन करके अर्हत्-मार्गचित्त उत्पन्न होते समय सभी सांक्लेशिक धर्म अशेष निरुद्ध हो जाते हैं, केवल क्लेशों का निरोधमात्र होता है, इसे सोपधिशेष निर्वाण कहते हैं।

तथागत और अर्हत् के मरते समय (परिनिर्वाण करते समय) उनके पाँच स्कन्ध नये भव में पुनः उत्पन्न होकर अशेष निरुद्ध या उपशान्त हो जाते हैं, उन पाँच स्कन्धों के अशेष निरोध या उपशम को अनुपधिशेष निर्वाण कहते हैं। उपर्युक्त दोनों निर्वाण भी परमनिर्वाण नहीं हैं। परमनिर्वाण तो पांच स्कन्धों के अशेषनिरोध के अनन्तर उत्पन्न निर्वाण कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निर्वाण उत्पन्न होने वाला धर्म नहीं है, यदि उत्पन्न होने वाला हो तो उनकी स्थिति और भंग भी सम्भव होगा। उत्पाद, स्थिति और भंग होने पर निर्वाण त्रैकालिक हो जायेगा। बुद्ध ने भी कहा था कि निर्वाण, अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है। वस्तुतः अज्ञात (अनुत्पन्न) होने पर भी वह अभाव नहीं है। परमार्थतः उसकी सत्ता है, उसकी सत्ता होने पर भी वह चित्त, चैतसिक और रूप परमार्थों की तरह किसी एक कारण (हेतु) से उत्पन्न होन वाला नहीं है। वह नित्य ध्रुव है। नित्य ध्रुव होने से वह कब से उत्पन्न है–ऐसा भी कहा नहीं जा सकता, उत्पन्न स्वभाव नहीं होने से इसका स्थिति और भंग स्वभाव भी नहीं है, इसलिए इस परमनिर्वाण को अज्ञात, अभूत, अकृत और

असंस्कृत कहा गया है। परम निर्वाण नित्य, ध्रुव, शाश्वत है। अतः उत्पाद निरोध से परे नित्य निर्वाण में कैसे 'निरोध' होगा तथा कैसे वह क्लेशक्षय मात्र होगा ? निरोधस्वभाव और क्षयस्वभाव आदि परमनिर्वाण में कथमपि नहीं हो सकते। तथागत और अर्हत् ही उस परमनिर्वाण के स्वभाव को यथार्थ जानते हैं, वह सामान्यजनों का विषय नहीं है।

शील–विमर्श

जिन आचरणों के पालन से चित्त में शान्ति का अनुभव होता है, ऐसे सदाचरणों को सदाचार (शील) कहते हैं। सामान्यतया आचरणमात्र को शील कहते हैं। चाहे वे अच्छे हों, चाहे बुरे, फिर भी रूढ़ि से सदाचार ही शील कहे जाते हैं। किन्तु केवल सदाचार का पालन करना ही शील नहीं है, अपितु बुरे आचरण भी 'शील' (दुःशील) हैं। अच्छे और बुरे आचरण करने के मूल में जो उन आचरणों को करने को प्रेरणा देने वाली एक प्रकार की भीतरी शक्ति होती है, उसे चेतना कहते हैं। वह चेतना ही वस्तुतः 'शील' है। इसके अतिरिक्त चैतसिक 'शील' संवरशील और अव्यतिक्रम शील– ये तीन शील और होते हैं। इन तीनों के मूल में भी चेतना बराबर रहती है।

चेतनाशील– जीवहिंसा से विरत रहने वाले या गुरु, उपाध्याय आदि की सेवा सुश्रुषा करने वाले पुरुष की चेतना (चेतना शील) है। अर्थात् जितने भी अच्छे कर्म (सुचरित) हैं, उनका सम्पादन करने की प्रेरिका चेतना 'चेतना शील' है। जब तक चेतना न होगी तक तक पुरुष शरीर या वाणी से अच्छे या बुरे कर्म नहीं कर सकता। अतः अच्छे कर्म को सदाचार (शील) कहना तथा बुरे कर्म को दुराचार कहना, उन (सदाचार, दुराचार) का स्थूल रूप से कथन है। वस्तुतः उनके मूल में रहने वाली चेतना ही महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए भगवान् बुद्ध ने 'चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि' (अर्थात् भिक्षुओं, मैं चेतना को ही कर्म कहता हूँ) कहा है।

चैतसिक शील – जीवहिंसा आदि दुष्टकर्मों से विरत रहने वाले पुरुष की वह विरति 'चैतसिक शील' है। अर्थात् दुष्कर्मों के करने से रोकने वाली शक्ति 'विरति' है। यह विरति भी एक प्रकार का 'शील' है, अतः इसे 'विरति शील' भी कहते हैं। अथवा लोभ, द्वेष मोह आदि का प्रहाण करने वाले पुरुष के जो अलोभ, अद्वेष, अमोह हैं, वे 'चैतसिक शील' हैं। अर्थात् जिस पुरुष की सन्तान में लोभ, मोह न होंगे वह काय दुच्चरित आदि दुष्कर्मों से विरत रहेगा। अतः इन्हें (अलोभ आदि को) 'विरति शील' कहते हैं।

संवरशील - बुरे विषयों की ओर प्रवृत्त इन्द्रियों की उन विषयों से रक्षा करना। अर्थात् अपनी इन्द्रियों को बुरे विषयों में न लगने देना, इस प्रकार अपने द्वारा स्वीकृत आचरणों की रक्षा करना, ज्ञान के द्वारा क्लेश (नीवरण) धर्मों को उत्पन्न होने से रोकना, विपरीत धर्मों से समागम होने पर उन्हें सहन करना तथा उत्पन्न हो गये काम-वितर्क आदि को उत्पन्न न होने देने के लिए प्रयास करना 'संवर शील' है।

अव्यतिक्रम शील– गृहीत व्रतों (शिक्षाप्रदों) का काय और वाक् के द्वारा उल्लंघन न करना (अनुल्लंघन) अव्यतिक्रम शील कहलाता है। अर्थात् जिस पुरुष ने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं प्राणी-हिंसा न करूँगा–ऐसे पुरुष का किसी भी परिस्थिति में शरीर या वाणी द्वारा अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन न करना 'अव्यतिक्रम शील' है।

चारित्त शील, वारित्त शील –यद्यपि शील अनेकों प्रकार के हैं, तथापि उनका चारित्त शील और वारित्त शील इन दो में संग्रह हो जाता है। जिन कर्मों का सम्पादन करना चाहिए, उनका सम्पादन करना 'चारित्त शील' है तथा जिन्हें नहीं करना चाहिए, उन्हें न करना 'वारित्त शील' है। भगवान् बुद्ध ने विनय पिटक में भिक्षुओं के लिए जो करणीय आचरण कहे हैं, उनके करने से यद्यपि 'चारित्त शील' पूरा हो जाता है, और निषिद्ध कर्मों के न करने से 'वारित्त शील' पूरा हो जाता है, तथापि उन्होंने निर्वाण प्राप्ति के लिए जो मार्ग प्रदर्शित किया है, उसे अपने जीवन में उतारने से ही चरित्त शील, भलीभांति पूरा होता है।

नित्यशील –प्राणातिपात से विरत रहना, चोरी से विरत रहना, मृषावाद से विरत रहना, काम मिथ्याचार से विरत रहना, तथा शराब आदि मादक द्रव्यों के पीने से विरत रहना– ये पाँच नित्य शील हैं। अर्थात् इनके पालन से कोई पुण्य नहीं होता, किन्तु इनका पालन न करने से दोष (आपत्ति) होता है। ये ५ शील सभी लोगों के लिए अनिवार्य हैं। गृहस्थ, प्रव्रजित (श्रामणेर), भिक्षु-भिक्षुणी सभी को इनका पालन करना चाहिए। यदि गृहस्थ श्रद्धा और उत्साह से सम्पन्न हो तो वह अष्टमी, पूर्णिमा अमावस्या (उपोसथ) के दिन ८ या १० शीलों का भी पालन कर सकता है। इन्हें अष्टाङ्गशील या दशशील कहते हैं।

अष्टाङ्गशील–१. प्राणि-हिंसा से विरत रहना, २. चोरी न करना, ३. ब्रह्मचर्य का पालन करना, ४. झूठ बोलने से विरत रहना, ५. शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन से विरत रहना, ६. दोपहर १२ बजे के बाद (विकाल में) भोजन न करना, ७. नृत्य, गीत आदि न देखना, न सुनना तथा माला, सुगन्ध आदि का इस्तेमाल न करना तथा ८. ऊँचे और श्रेष्ठ आसनों का त्याग करना।

दश शील - उपर्युक्त अष्टाङ्ग शील के ७वें शील को दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है, इस तरह वे८ के स्थान पर ९ हो जाते हैं तथा उसमें स्वर्ण, चाँदी आदि का ग्रहण न करना एक शील को और जोड़ दिया जाता है, इस तरह कुल १० शील हो जाते हैं।

ये दश शील ही प्रव्रजित (श्रामणेर) और प्रव्रजिता (श्रामणेरी) के लिए अनिवार्य शील हैं।

भिक्षु और भिक्षुणी के लिए तो उन सभी शीलों का पालन आवश्यक है, जो विनयपिटक के प्रातिमोक्षसुत्त में भगवान् बुद्ध द्वारा उनके लिए उपदिष्ट हैं।

ऊपर जो शील कहे गये हैं, वे बौद्ध धर्म के अनुसार वर्णित हैं। इनके पालन से चित्त विशुद्ध होता है और आगे समाधि भावना आदि करने में सहायता मिलती है। किन्तु

शील और भी कई प्रकार के होते हैं। अपनी जाति, धर्म, देश, काल, परिस्थिति, संस्कार और परम्परा आदि के अनुसार भी कुछ आचरण आवश्यक होते हैं, वे भी सब शील ही हैं।

चातुपरिशुद्धि शील– ऊपर जो शील कहे गये हैं, वे सामान्यतया गृहस्थ आदि की दृष्टि से प्रहाण करने योग्य शील हैं। योगी भिक्षुओं के लिए विशेषतः क्लेशों के प्रहाण के लिए ४ प्रकार के परिशुद्धिशीलों का पालन करना आवश्यक होता है और सभी शील इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः इनका यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है-

१. प्रातिमोक्ष संवरशील – जिनके पालन से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे आचरणों (शिक्षापदों) को 'प्रातिमोक्ष' कहते हैं। उन आचरणों की रक्षा करना ही 'प्रातिमोक्ष संवरशील' है। इनके पालन के लिए श्रद्धा का होना परम आवश्यक है। बुद्ध शासन के प्रति श्रद्धा होने पर ही बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट आचरणों (शिक्षापदों) का पालन किया जा सकता है। भिक्षु में जब श्रद्धा का आधिक्य होता है, तो वह बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अपने शीलों का उसी प्रकार सावधानी के साथ आचरण करता है, जिस प्रकार चामरी गाय अपनी पूँछ की, माता अपने एकमात्र प्रिय पुत्र की तथा काणा व्यक्ति अपनी एक आँख की सावधानी के साथ आचरण करता है। वह छोटे-छोटे नियमों का भी ठीक ढंग से पालन करता है और उनके उल्लंघन में भय देखता है। प्रातिमोक्ष संवर से सम्पन्न भिक्षु को केवल उतने ही नियमों का पालन आवश्यक नहीं है, जो बुद्ध द्वारा उनके लिए उपदिष्ट हैं, अपितु उसे उन सभी आचरणों का पालन करना चाहिए, जिन्हें वह अच्छा समझता है या श्रेष्ठ वृद्ध भिक्षु जिन आचरणों का पालन करते हैं या जो आचरण समाज में अच्छे माने जाते हैं या जिनके पालन से लोगों की बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़े।

२. इन्द्रिय संवरशील – चक्षु आदि इन्द्रियों की रक्षा करना 'इन्द्रिय संवरशील' है। जब भिक्षु उपर्युक्त प्रातिमोक्ष संवरशील से सम्पन्न हो जाता है, तब वह इन्द्रिय संवरशील का भी पालन करने में समर्थ हो जाता है। ये दोनों शील वस्तुतः परस्पराश्रित होते हैं। जो प्रातिमोक्षसंवर शील से सम्पन्न होता है, वह इन्द्रिय संवरशील का भी पालन करता है तथा जो इन्द्रिय संवरशील से सम्पन्न होता है, वह प्रातिमोक्ष संवरशील का भी पालन करता है। इन्द्रिय संवरशील से सम्पन्न होने के लिए अपने चक्षु आदि इन्द्रियों की रक्षा की जाती है। जैसे- जब चक्षु के सम्मुख वर्ण (रूप) उपस्थित होता है तो उस रूप के प्रति राग आदि का उत्पाद नहीं होने देना चाहिए। इसलिए इस शील की सम्पन्नता के लिए स्मृति परम आवश्यक होती है। जब स्मृति उपस्थित रहेगी तभी इन्द्रियों के सम्मुख उपस्थित विषयों के प्रति राग आदि उत्पन्न न होने देने का सामर्थ्य हो सकता है। स्मृतिमान भिक्षु के चक्षु के सम्मुख जब विषय (रूप) आता है, तो स्मृति के बल से वह भिक्षु यह जानता है कि विषय और इन्द्रिय के होने पर चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। विषय, इन्द्रिय और विज्ञान तीनों उत्पाद-विनाश स्वभाव वाले हैं। ऐसी स्मृति की वजह से वह केवल रूप मात्र देखता है,

उसके प्रति उसमें राग आदि उत्पन्न नहीं होते। उसकी स्मृति अनिष्ट आलम्बनों के प्रति होने वाली इन्द्रियों की प्रवृत्ति को भी रोकती है। स्मृति के द्वारा जब इन्द्रियों की रक्षा कर ली जाती है, तब भिक्षु के आचरण में बड़ा फर्क आ जाता है। उसकी इन्द्रियों के सम्मुख जब विषय आते हैं, तो वह उनका ग्रहण मात्र करता है वे विषय कैसे उत्पन्न हुए, कहां से आये–इत्यादि विशेष बातों की जानकारी के लिए आकृष्ट नहीं होता। इस प्रकार उनके प्रति वह राग या द्वेष आदि से युक्त नहीं होता। जब वह भिक्षाटन के लिए रास्तें में चलता है, तो ४ हाथ से अधिक दूर नहीं देखता। उसकी निगाहें या अन्य इन्द्रियां चंचल नहीं होतीं। उसकी शारीरिक चेष्टाएं शान्त एवं अनुद्विग्न होती हैं।

आजीव पारिशुद्धिशील – अपनी जीविका चलाने के लिए गलत (पापमूलक) साधनों का प्रयोग न करना 'आजीव पारिशुद्धिशील' है। जब कोई व्यक्ति भिक्षु-दीक्षा ग्रहण करता है, तो उसे दीक्षा के साथ ही भिक्षापात्र भी मिल जाता है, जिसे लेकर वह गाँव-नगर में घूमता है और श्रद्धालु लोगों द्वारा श्रद्धापूर्वक जो भी भोजन, वस्त्र आदि दिये जाते हैं, उनसे अपनी जीविका चलाता है। उसका यह आचरण ही 'आजीव पारिशुद्धिशील' है ऐसा न कर यदि वह अपनी जीविका के लिए झूठ बोलता है, चापलूसी करता है तथा इसी तरह अन्य गलत साधनों का उपयोग करता है तो उसका यह आचरण आजीव पारिशुद्धिशील न होकर 'दुराजीव' कहलाता है। आजीव पारिशुद्धिशील की सम्पन्नता के लिए उत्साह (वीर्य) की परम आवश्यकता है। उत्साहवान् व्यक्ति ही अनुचित साधनों से प्राप्त लाभ का त्याग कर सकता है तथा कष्ट भोगकर भी जीवन-यापन कर सकता है। संघ से या गण से, धर्मोपदेश से अथवा अपने शील, समाधि, प्रज्ञा आदि गुणों को देखकर लोगों से प्राप्त भोजन आदि ही परिशुद्ध है। उनका सेवन किया जा सकता है। आजीव पारिशुद्धिशील से सम्पन्न भिक्षु भोजन आदि के न मिलने से चाहे मृत्यु को प्राप्त हो जाय, किन्तु वह उन (भोजन आदि) के लिए गलत साधनों का उपयोग नहीं करता है। इस प्रकार की धारणा वाला भिक्षु ही आजीव पारिशुद्धिशील से सम्पन्न हो सकता है।

प्रत्ययसन्निश्रित शील – वस्त्र, (चीवर), भोजन (पिण्डपात), शयनासन (विहार) तथा औषधि (ग्लानप्रत्ययभैषज्य) – इन चार वस्तुओं को प्रत्यय कहते हैं। जो भिक्षु इन चार वस्तुओं को ही अपने जीवन का साधन बनाता है, उस भिक्षु का यह आचरण ही 'प्रत्ययसन्निश्रित शील' कहलाता है। इस शील की सम्पन्नता के लिए 'प्रज्ञा' की परम आवश्यकता है। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को तीन वस्त्र और भोजन आदि का आश्रय लेकर जीवन चलाने के लिए कहा है, तथापि इनका इस्तेमाल खूब सोच-विचार करके किया जाता है। जैसे-कोई भिक्षु चीवर का सेवन करता है, तब यह सोचता है कि यह चीवर शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं है, अपितु शीत, वर्षा, धूप से तथा मच्छर, मक्खी, डंस आदि से शरीर की रक्षा के लिए है। जब वह भोजन ग्रहण करता है तब

सोचता है– यह भोजन शरीर को पुष्ट बनाने के लिए नहीं है, अपितु उस शरीर की स्थिति के लिए है, जिस (शरीर) से ब्रह्मचर्य का पालन, समाधि भावना तथा निर्वाण की प्राप्ति की जा सके। जब भिक्षु शयनासन (विहार) का सेवन करता है, तब सोचता है– 'यह विहार (मठ) सुखभोग के लिए नहीं है, अपितु ऋतुओं के प्रतिकूल प्रभावों से बचाने के लिए है। जब भिक्षु भैषज्य (दवाई) का प्रयोग करता है, तब सोचता है– यह औषधि शरीर को पुष्ट बनाने के लिए है, अपितु शरीर में उत्पन्न वेदनाओं के शमन के लिए है। उन वेदनाओं से शरीर में पीड़ा होती है, फलतः ध्यानभावना में बाधा होती है। इसलिए वह दवा का सेवन करता है। इस तरह जब भिक्षु इन चारों चीवर आदि जीवन साधनों (प्रत्ययों) का सेवन करता है, तब उपर्युक्त प्रकार से विचार करके सेवन करता है। यदि इस प्रकार का विचार करके सेवन नहीं करता है, तो उस प्रकार का परिभोग (सेवन) 'हीनपरिभोग' कहलाता है। यदि दुःशील भिक्षु इन चार प्रत्ययों का परिभोग भिक्षु संघ के बीच बैठकर ही केवल नहीं करता है, तो उसका वह परिभोग 'चौर्यपरिभोग' (स्तेयपरिभोग) कहलाता है। अर्हत् को छोड़कर अन्य आर्य पुद्गलों (शैक्ष्य) का इन चार प्रत्ययों का परिभोग 'दायाद परिभोग' कहलाता है। शैक्ष्य आर्य पुद्गल भगवान् बुद्ध के उत्तराधिकारी हैं। ये चार प्रत्यय भगवान् के द्वारा उपदिष्ट हैं। अतः उनकी सम्पत्ति हैं। आर्य पुद्गल ही उन (भगवान बुद्ध) की सम्पत्ति के योग्य उत्तराधिकारी हैं। अतः उनका परिभोग 'दायाद परिभोग' कहलाता है। क्षीणास्रव अर्हत् का परिभोग 'स्वामी-परिभोग' है। अर्हत् पुद्गल की अशेष तृष्णा का प्रहाण हो चुका है। उसने भगवान् की शिक्षा का पूर्ण रूप से पालन कर लिया है। अतः वह उन प्रत्ययों के विषय में स्वामी की तरह हो जाता है। फलतः उसका परिभोग 'स्वामी परिभोग' कहलाता है। जो भिक्षु अपने साधनापथ में अग्रसर होना चाहता है, उसके लिए इन शीलों का पालन अत्यावश्यक होता है। यदि वह इन शीलों का यथावत् पालन कर लेता है तो उसके राग आदि क्लेश क्षीण बल हो जाते हैं। फलतः ध्यान भावना आदि के मार्ग में उत्तरोत्तर विकास करने में उसे इनसे पर्याप्त सहायता मिलती है।

धुतांग– उपर्युक्त शीलों के पालन से यद्यपि भिक्षु परिशुद्धशील हो जाता है, तथापि जो भिक्षु अल्पेच्छता, अल्पसन्तुष्टि आदि गुणों से युक्त होते हैं, वे यदि अपने शीलों को और पवित्र करना चाहते हैं, तो भगवान् बुद्ध ने उनके लिए १३ प्रकार के परिशुद्ध शीलों अर्थात् धुतांगों का उपदेश किया है।

इन शीलों का पालन करने वाले जो भिक्षु दायकों द्वारा श्रद्धापूर्वक दिये गये वस्त्र का ग्रहण नहीं करते, अपितु वे गली कूचे में कूड़े आदि पर पड़े हुए वस्त्रों को इकट्ठा कर लेते हैं। तदनन्तर उन्हें धोकर साफ करते हैं। इसके बाद फटा-फटा अंश निकालकर अच्छे टुकड़ों को जोड़कर उनसे वस्त्र (चीवर) बनाकर उन्हें धारण करते हैं। ऐसे भिक्षु को 'पासुकूलिक' कहते हैं और उसके इस आचरण को 'पासुकुलिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु अपने लिए तीन चीवर से अधिक वस्त्र किसी भी हालत में ग्रहण नहीं करता, ऐसे भिक्षु को 'त्रैचीवरिक' कहते हैं और उसके आचरण को 'त्रैचीवरिकांग' कहते हैं। तीन चीवर ये है। - १. नीचे लुंगी की तरह पहना जाने वाला वस्त्र (अन्तरवासक), २. ऊपर धारण करने वाला वस्त्र (उत्तरासंग) तथा ३. चादर की तरह ओढ़ने-बिछाने के काम में आने वाला वस्त्र (संघाटी)।

जो भिक्षु निमन्त्रण आदि में जाकर भोजन ग्रहण नहीं करते, अपितु भिक्षाटन के द्वरा प्राप्त भोजन का ही ग्रहण करते हैं, ऐसे भिक्षुओं के आचरण को 'पिण्डपातिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु भिक्षाटन करते समय बीच-बीच में कुछ घरों को छोड़कर भिक्षाटन नहीं करता, अपितु बिना किसी घर को छोड़े प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करता है, ऐसे भिक्षु को सापदानचारी कहते हैं तथा उसके आचरण को 'सापदानचारिकांग'।

जो भिक्षु एक ही आसन पर बैठकर भोजन करता है, उसे 'एकासनिक' कहते हैं तथा उसके आचरण को 'ऐकासनिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु अपने एक ही पात्र में स्थित भोजन को ही ग्रहण करता है। दूसरे पात्र में स्थित भोजन को ग्रहण नहीं करता उसे 'पात्रपिण्डक' कहते हैं और उसके आचरण को 'पात्रपिण्डिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु एक बार इनकार करने के बाद फिर उस भोजन को ग्रहण नहीं करता, उसे 'खलुपच्छाभत्तिक' कहते हैं तथा उसके इस आचरण को 'खलुपच्छाभत्तिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु विहार (शयनासन) का छोड़कर केवल जंगल में ही निवास करते हैं, ऐसे भिक्षु को 'आरण्यक' कहते हैं तथा उनके इाचरण को 'आरण्यकांग' कहते हैं।

जो विहार को छोड़कर केवल वृक्ष के मूल में ही निवास करते हैं, ऐस भिक्षु को 'वृक्षमूलिक' कहते हैं तथा उसके आचरण को 'वृक्षमूलिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु छाये हुए स्थान और वृक्षमूल को छोड़कर खुले मैदान में रहता है, ऐसे भिक्षु को 'अभ्यवकाशिक' कहते हैं तथा उसके आचरण को 'अभ्यवकाशिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु केवल श्मशान में ही निवास करते हैं, ऐस भिक्षु को 'श्मशानिक' कहते हैं तथा उसके आचरण को 'श्मशानिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु अपने लिए बिछाये आसन का ही ग्रहण करते हैं, ऐसे भिक्षु को 'यथासंस्तारिक' कहते हैं तथा उनके आचरण को 'यथासंस्तारिकांग' कहते हैं।

जो भिक्षु लेटना त्याग कर केवल बैठा ही रहता है, सोता नहीं, ऐसे भिक्षु को 'नैषदिक' कहते हैं तथा उसके आचरण को 'नैषदिकांग' कहते हैं।

समाधि-विमर्श

समाधिः-शोभन विषयों में प्रवृत्त राग, द्वेष मोह से रहित पवित्र चित्त (कुशल चित्त) की एकाग्रता (निश्चलता) को समाधि कहते हैं। समाधि का अर्थ समाधान है। अर्थात् एक आलम्बन (विषय) में चित्त चैतसिकों का बराबर (सम्) तथा भलीभांति (सम्यक्) प्रतिष्ठित होना या रखना (आधान) 'समाधन' है। इसलिए जिस तत्त्व के प्रभाव से एक आलम्बन में चित्त-चैतसिक बराबर और भलीभांति विक्षिप्त और विप्रकीर्ण न होते हुए स्थित होते हैं, उस तत्त्व को 'समाधि' कहते हैं।

पतंजलि ने भी चित्त की वृत्तियों के निरोध को 'योग' कहा है।[1] व्यास ने योग को समाधि कहा है।[2] तथा वृत्तिकार ने योग का अर्थ 'समाधान' बतलाया है।[3] इस प्रकार बौद्ध और बौद्धेत्तर आचार्यों ने 'समाधि' शब्द की व्युत्पत्ति समानरूप से की है।

समाधि परम निर्वाण का साक्षात्कार करने में अत्यन्त उपयोगी साधन है। अतः समाधि केवल चित्त की एकाग्रता मात्र न होकर एक निर्वाण को प्राप्त कराने वाला मार्ग है। चित्त की एकाग्रता को समाधि कहना समाधि के पूर्ण अर्थ का द्योतक नहीं है। वस्तुतः चित्त की एकाग्रता समाधि का एक लक्षणमात्र है। एकाग्रता के अलावा भी समाधि के अनेक लक्षण हैं। जैसे धम्मसंगणि और पटिसम्भिदामग्ग नामक ग्रन्थों में एकाग्रता के साथ अनाविल, अविकम्पन, विमुक्ति आदि २५ प्रकार के समाधि के लक्षण बताये गये हैं।[4]

अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने समाधि की बहुलता से वर्तमान जीवन में सुखपूर्वक विहार (दृष्टिधर्म-सुखविहार), दिव्यचक्षु-ज्ञान, स्मृति-सम्प्रज्ञान से सम्पन्नता और क्लेश (आस्रव) - क्षय आदि अनेक गुण बताये हैं।[5] इस प्रकार समाधि का अर्थ एकाग्रता से अधिक महनीय और गम्भीर सिद्ध होता है।

समाधि भावना कृत्य में ध्यान की प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है। ध्यान की प्राप्ति के लिए कामविषयक इच्छा (कामछन्द) आदि पाँच विघ्नों (नीवरण धर्मों) का दमन अपेक्षित है। विघ्नकारक धर्मों के शमन के लिए इन्द्रियों का संयम, सन्तुष्टि और अल्पेच्छता आदि गुण भी अपेक्षित हैं। अतः शील से सम्पन्न होने पर ही समाधि भावना की जा सकती है।

कर्मस्थान-कर्मस्थान दो प्रकार के होते हैं, यथा- शमथ कर्मस्थान और विपश्यना कर्मस्थान। योगी जिन आलम्बनों को अपने भावनाकृत्य की सम्पन्नता के लिए साधन बनाता

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १:२।
२. योगः समाधिः १:१ पर भाष्य।
३. योगो युक्तिः समाधनम् १:१ पर भोजवृत्ति।
४. द्र.-धम्म.-२०, २२, ३०, ३२, ३३, ३४, पटि. ५५।
५. अंगु. चतुक्कनिपात २-४६।

है, उन्हें 'कर्मस्थान' कहते हैं। पृथ्वी, अप् आदि चालीस प्रकार के साधन 'समाधि' के आलम्बन' (शमथ कर्मस्थान) हैं। तथा पंचस्कन्धात्मक नाम-रूप आदि साधन प्रज्ञा के विषय (विपश्यना कर्मस्थान) हैं।

समाधि लाभ के इच्छुक योगी को पृथ्वी आदि चालीस प्रकार के कर्मस्थानों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर अभ्यास करना चाहिए। ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक योगी को अपने शरीर में प्रवृत्त नामरूपात्मक संस्कार धर्मों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर अभ्यास करना चाहिए।

आनापानस्मृति – बौद्ध साधना में श्वास और प्रश्वास को 'आनापान' कहते हैं। इसे ही पातंजल योग-दर्शन में 'प्राणायाम' कहा गया है। यह श्वास-प्रश्वास (आनापान) समाधिलाभ के लिए एक उत्कृष्ट साधन है। यह ठीक भी है, क्योंकि प्राण ही जीवन है। प्राण ही समस्त संसार का मूल कारण है। प्राण के बिना प्राणी का जीवित रहना असम्भव है। सभी जीवों के लिए प्राण अनिवार्य अंग है। जब से जीव जन्म लेता है, तभी से श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए बौद्ध और बौद्धेतर भारतीय योगशास्त्र में प्राणायाम या आनापान का अत्यधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

प्राणायाम या आनापान के द्वारा ही प्राण पर नियंत्रण किया जा सकता है। वस्तुतः प्राण को नियंत्रण करने में समर्थ योग प्रक्रिया को ही 'प्राणायाम' या 'आनापान' कहते हैं। प्राण का नियंत्रण प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा उसे अपने चित्त को एकाग्र बनाने में आसानी हो जाती है। इसलिए बुद्ध ने अनेक जगह आनापान-भावना से समाधिस्थ व्यक्ति के रहने (विहार) को आर्य विहार ब्रह्मविहार तथा तथागत विहार की संज्ञा प्रदान की है।[1]

आनापानभावना समाधिप्राप्ति का एक उत्कृष्ट साधन है। किन्तु यह सभी व्यक्ति के लिए अनुकूल नहीं है। यह केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए उपयुक्त है, जो स्मृति और जागरूकता (सम्प्रज्ञान) से सम्पन्न हैं। यह आनापानभावना नाना प्रकार के वितर्कों के उपशम के लिए विशेषरूप से उपयुक्त है। निर्वाण (अनुत्तर योगक्षेम) की कामना करने वालों को आनापान की भावना अवश्य करनी चाहिए। जिससे मनुष्य की सन्तान में अनादि काल से वास करने वाले लोभदृष्टि, मान आदि क्लेशों का क्षय हो जाता है। तथा मनुष्य वर्तमान जीवन में ही सुखपूर्वक रहना (दृष्टधर्म सुखविहार) स्मृति और जागरूकता से सम्पन्न हो जाता है।

---

१. 'आनापानस्सतिसमाधि सम्मा वदमाने वदेय्य–अरियविहारो इति पि, ब्रह्मविहारो इति पि, तथागत विहारो इति पि'–सं.–४-२७७।

आनापान में 'आन' का अर्थ श्वास लेना तथ 'अपान' का अर्थ श्वास छोड़ना है। योग दर्शन में भी यही बात कही गयी है।[1] स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि प्राप्त की जाती है, उसे 'आनापानस्मृतिसमाधि' कहते हैं। बुद्ध ने १६ प्रकार की आनापानस्मृतिसमाधिभावना की विधि बतलाई है।[2] महाटीकाकार ने कहा है कि अन्य दर्शन वाले उनमें से पहले चार प्रकार ही जानते हैं।[3] पतंजलि ने कहा है कि आसन के स्थिर हो जाने पर आश्वास-प्रश्वास की गति को रोकना 'प्राणायाम' है।[4] प्राणायाम चार प्रकार हैं, यथा- रेचक, पूरक, कुम्भक और चतुर्थ प्राणायाम। इनमें से बाह्यवृत्ति प्रश्वास को रेचक, आभ्यन्तर-वृत्ति आश्वास को पूरक, स्तम्भवृत्ति आश्वास और प्रश्वास दोनों की गति के अभाव को कुम्भक तथा आश्वास और प्रश्वास दोनों करके प्राणवायु को रोकना चतुर्थ प्राणायाम है।[5] चतुर्थ प्राणायाम से ऊपर के तीन प्राणायामों में अन्तर केवल इतना ही है कि पूर्वोत्तर रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायामों में देश, काल और संख्या से परिदृष्ट बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषय है। इस जानकारी को त्यागकर चित्त को इष्ट आलम्बन में लगा देने से देश, काल और संख्या के ज्ञान के बिना ही प्राण की गति स्वतः जिस किसी देश में रुक जाती है, वहीं चतुर्थ प्राणायाम है। अर्थात् रेचक् में कोष्ठस्थित वायु को बाहर निकाल कर रोक दिया जाता है, पूरक में श्वास अन्दर खींचकर रोक दिया जाता है तथा आश्वास-प्रश्वास की गति का अभाव ही कुम्भक है। बाहर और भीतर के कुम्भक के बिना ही रेचक-पूरक द्वारा देश, काल संख्या के ज्ञान के बिना स्वयं ही आश्वास-प्रश्वास की गति के निरोध से चतुर्थ प्राणायाम होता है।[6]

बुद्ध के द्वारा बताये गये १६ प्रकार की आनापानविधि की संक्षिप्त प्रक्रिया इस प्रकार जानना चाहिए- 'भिक्षु अरण्य या वृक्ष के नीचे अथवा शून्यागार में जाकर पालथी मारकर शरीर (काय) को सीधा कर स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास करे। जैसे- १. लम्बा आश्वास करते समय लम्बा आश्वास कर रहा हूं तथा लम्बा प्रश्वास करते समय लम्बा प्रश्वास कर रहा हूँ- ऐसा जानना। २. छोटा आश्वास करते समय छोटा आश्वास कर रहा हूँ। तथा छोटा प्रश्वास करते समय छोटा प्रश्वास कर रहा हूँ-ऐसा जानना। ३. सारे आश्वास (काय संस्कार) के आदि, मध्य अन्त को जानते हुए, प्रकट करते हुए आश्वास करना चाहिए।

---

१. यो. भा. २:४६।
२. द.-सं. नि. ४-२७३, विसु. १८०।
३. 'बहिरका हि तानन्ता आदितो चतुप्पकारमेव जानन्ति'- विसु. महा.-१-३१४।
४. तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः-यो. २-४६।
५. यो. २:५०, २:५१।
६. 'देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः। तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वकोभूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः' - यो.भा. २:५१।

४. स्थूल आश्वास-प्रश्वास (कायसंस्कार) को शान्त करते हुए अथवा निरुद्ध या उपशान्त करते हुए आश्वास-प्रश्वास करना चाहिए। ५. प्रीति को भलीभांति जानते हुए आश्वास-प्रश्वास करना चाहिए। ६-८. सुख, वेदना, संज्ञा (चित्त संस्कार), स्थूल चित्तसंस्कार को शान्त करते हुए, निरुद्ध करते हुए आश्वास-प्रश्वास करना चाहिए। ९-१२ चित्त के आदि, मध्य, अन्त को जानते हुए चित्त को प्रसन्न रखते हुए आलम्बन में चित्त को बराबर (सम) रखते हुए तथा चित्त को क्लेश (नीवरण) धर्मों से विमुक्त करते हुए आश्वास-प्रश्वास करना चाहिए। १३-१६ अनित्यता को जानते हुए (अनित्यानुपश्यी), वैराग्य को जानते हुए (विरागानुपश्यी), तथा प्रीति के त्याग को जानते हुए (प्रीतिनिःसर्गानुपश्यी) आश्वास-प्रश्वास करना चाहिए।[1]

उपर्युक्त १६ प्रकार की आनापानभावनाविधि में से पहली चार विधियाँ ही पतंजलि की चार प्रकार की प्राणायाम विधियों से समानता रखती है।

शमथ–कामविषयक इच्छा (कामच्छन्द) आदि पांच विघ्नकारक (नीवरण) धर्मों का जो उपशम करता है, वह 'शमथ' है। वस्तुतः ध्यान में होने वाला एकाग्रता (समाधि) चैतसिक ही 'शमथ' है। जब वह एकाग्रता चैतसिक विघ्नों का उपशम कृत्य करता है, उस समय वही 'शमथ' कहा जाता है। उपशम कृत्य के अनन्तर जब वह ध्येय वस्तु में एकाग्र हो जाता है, तब वही 'समाधि' कहलाता है। ध्यानप्राप्ति की पहली (उपचार) अवस्था में जो क्षणिक समाधि होती है, वह 'शमथ' नहीं है, किन्तु ध्यान प्राप्ति की पहली (उपचार) अवस्था में कामविषयक इच्छा (कामच्छन्द) द्वेष (व्यापाद) आदि विघ्नकारक क्लेशों (नीवरणों) को शान्त करने में समर्थ अत्यन्त समाहित समाधि को ही 'शमथ' कहते हैं। वस्तुतः चित्त की सम्यक् स्थिति या दृढ़ता आदि को 'शमथ' कहते हैं।[2] अर्थात् चित्त की एकाग्रता को शमथ कहते हैं, चित्त को नहीं।[3]

ध्यान– जो कामविषयक इच्छा (कामच्छन्द) आदि विरोधी विघ्नकारक (नीवरण) धर्मों का दहन करता है वह 'ध्यान' है। वितर्क, विचार आदि पांच चैतसिक (ध्यान के अंग) आलम्बन में दत्तचित्त होकर सूक्ष्म चिन्तन (उपनिध्यान) कृत्य करते हैं तथा प्रतिपक्षी कामच्छन्द आदि विरोधी नीवरण धर्मों का दहन कृत्य भी करते हैं, अतः इन्हें ही 'ध्यान' कहते हैं। ध्येय वस्तु का दत्तचित्त होकर सूक्ष्म चिन्तन करना 'उपनिध्यान' कृत्य कहलाता है। इस कृत्य का सम्बन्ध एकाग्रता से है। वस्तुतः यह एकाग्रता का कृत्य ही है, किन्तु

---

१. सं.-४,-२७३।

२. 'तत्थ कतमो कमथो ? या चित्तस्स तिति सण्ठिति अविसहारो अविक्खेपो अविसाहटमानसता समथो समाधिन्द्रियं समाधिबलं सम्मासमाधि अयं वुच्चति समथो'– धम्म. २६।

३. 'समथो हि चित्तेकग्गता'–अं.द. बालवग्ग, 'शमथः चित्तैकाग्रतालक्षणः समाधि' -बोधि. व्या. १३७, 'न चित्तान्येव समाधिः, येन तु तान्येकाग्राणि वर्तन्ते–स धर्मः समाधिः'–अभि. को.व्या. (स्फु.)–६६३।

अकेले एकाग्रता उपनिध्यान कृत्य करने में समर्थ नहीं है, वह वितर्क, विचार, प्रीति एवं सुख या उपेक्षा से सम्बद्ध होकर ही उपनिध्यान कृत्य करने में समर्थ होती है। अतः वितर्क, विचार आदि सभी ध्यानांग एकाग्रता के साथ सदा रहते है। अर्थात् एकाग्रता सभी ध्यानों में अनिवार्य रूप से रहती है।

यहाँ वितर्क, विचार, प्रीति, सुख या उपेक्षा तथा एकाग्रता इन पाँच चैतसिकों को ध्यान का अंग कहते हैं। इन पाँचों का सामूहिक नाम 'ध्यान' है। इनमें से वितर्क आलम्बन में चित्त-चैतसिकों को प्रतिष्ठापित (आरोपित) करता है। विचार उस आलम्बन का पुनः पुनः विमर्श (अनुमज्जन) करता है। इन दोनों में वितर्क विचार का पूर्वगामी है। तथा विचार की अपेक्षा वह (वितर्क) स्थूल होता है।[1] इष्ट आलम्बन की प्राप्ति से जो एक प्रकार की तुष्टि होती है, उसे प्रीति कहते हैं। जब प्रीति उत्पन्न होती है, तब काय और चित्त में सुख की अनुभूति होती है, सुख के परिपाक से समाधि का लाभ होता है। जहाँ प्रीति है, वहाँ सुख अवश्य है, किन्तु जहाँ सुख है, वहाँ नियत रूप से प्रीति नहीं होती।

योगदर्शन में भी वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता को सम्प्रज्ञात समाधि का भेद कहा गया है।[2] यहाँ आनन्द ही प्रीति है तथा अस्मिता सुख के स्थान पर है। योगदर्शन और बौद्धदर्शन में ध्यान एवं समाधि की व्याख्या तथा विषय प्रतिपादन में अत्यधिक समानता है। पंतजलि ने चित्तवृत्ति को किसी एक ध्येय वस्तु में (एक आलम्बन में) प्रतिष्ठित रहने या ठहरने को 'धारण' कहा है।[3] शरीर के किसी स्थान चाहे नासापुट हो या नाभिचक्र आदि हो या बाहर कोई अन्य आलम्बन हो, (विषय) में चित्तवृत्ति को रखना 'धारण' कहलाता है। अन्य विषयों को हटाकर एक ही ध्येय वस्तु पर एकाग्र रहना तथा चित्तवृत्ति और ध्येयवस्तु में तल्लीनता आ जाना 'धारण' है। उस धारण को ही 'ध्यान' कहते हैं।[4] अर्थात् धारण द्वारा जिस ध्येय वस्तु (विषय) में चित्त लगाया गया है, उस ध्येयवस्तु में चित्तवृत्ति पानी की धारा की तरह प्रवाह रूप से निरन्तर लगी रहे, बीच में किसी अन्य विषय में चित्तवृत्ति न जाय, तो उसे ही 'ध्यान' कहा जाता है। जब केवल ध्येयवस्तु मात्र की प्रतीति ही होती है, चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है तो ऐसे ध्यान को ही 'समाधि' कहते हैं।[5] यहाँ ध्यान करने वाला ध्याता है। ध्यान का विषय ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है) कहलाता है। तथा चित्त की वह वृत्ति, जिसके द्वारा विषय का ध्यान किया जाता है वह

---

१. 'औदारिकट्ठेन सुखुमट्ठेन'-विसु.-१४२, 'वितर्कविचारौ औदार्यसूक्ष्मते'-अभि.को. २:३३, वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः यो. भा. १.१७ पर।
२. 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुरूपागमात् सम्प्रज्ञातः'-यो. १-१७।
३. 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'-यो. ३:१।
४. 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'-यो. ३:२।
५. 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'-यो.-३:३।

वृत्ति, 'ध्यान' कहलाती है। जब साधक ध्यान भावना में लगता है, तब प्रारम्भ में उसे ध्याता, ध्येय और ध्यान-इन तीनों का अलग-अलग बोध होता है। किन्तु ध्यान करते-करते ध्यान करने वाले (ध्याता) का चित्त, जब ध्येय रूप में एकरस हो जाता है, अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है और यह बोध नहीं रहता कि 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' तथा ध्यान की अवस्था में केवल ध्येय वस्तु के स्वरूप का ही भान होता है, तब वह ध्यान ही 'समाधि' कहलाती है। समाधि अवस्था में केवल ध्येय मात्र ही अवभासित होता है। इसे 'सम्प्रज्ञात' या 'सबीज' समाधि कहते हैं, क्योंकि इसमें संसार का बीज (विषय) ध्येयाकारवृत्ति रूप में विद्यमान रहता है।

यह सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है, यथा-वितर्कानुगत विचारानुत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत। इनमें से स्थूल आलम्बन या ध्येयवस्तु (सूर्य, चन्द्र आदि) में स्थूल इन्द्रियों द्वारा ध्यान करने पर जब चित्त स्थूल विषय में स्थिर होकर उसमें तल्लीन हो जाता है, तो इस प्रकार की एकाग्रता को 'वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इसे 'सवितर्क समाधि' भी कहते हैं।[१] सम्प्रज्ञात समाधि की इस अवस्था में शब्द, अर्थ और ज्ञान इनकी अलग-अलग प्रतीति होती है। इस समाधि को 'सवितर्कसमापत्ति' भी कहते हैं।[२] तथा सवितर्क समाधि के निरन्तर अभ्यास करने पर साधक को शब्द और ज्ञान की स्मृति लुप्त हो जाती है। इसी अवस्था में चित्त समस्त विकल्पों से रहित होकर ध्येय वस्तु में लीन हो जाता है। इस अवस्था में चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि वह (चित्त) स्वरूप शून्य सा होकर अर्थ (ध्येय) मात्र रह जाता है। ऐसी अवस्था को 'निर्वितर्क समाधि' कहते हैं।[३]

वितर्कानुगत समाधि के निरन्तर अभ्यास करने पर चित्त जब सूक्ष्म विषयों (शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्राओं) में सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा ध्यान करने पर उन सूक्ष्म विषयों में स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तो उस अवस्था को 'विचारानुगत समाधि' कहते हैं। इसे 'सविचार समाधि' भी कहते हैं।[४] जिस प्रकार वितर्कानुगतसमाधि के दो भेद होते हैं, उसी प्रकार विचारानुगत समाधि भी सविचार और निर्विचार भेद से दो प्रकार होते हैं। चित्त को जब सूक्ष्म ध्येय वस्तु के नाम, रूप और ज्ञान में भिन्नता प्रतीत होती है, जब उसे 'सविचार समाधि' कहते हैं तथा जब चित्त को नाम, ज्ञान एवं अपने स्वरूप का विस्मरण होकर केवल ध्येय वस्तु का ही अनुभव होता है, उसे 'निर्विचार समाधि' कहते हैं।[५]

---

१. वितर्कश्चित्तयालम्बने स्थूल आभोगः-तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः-यो. भा. १:१७
२. 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः'-यो.-१:४२।
३. 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'-यो. १:१७।
४. 'सूक्ष्मो विचार'-द्वितीयो वितर्कविकलः'-यो.भा. १:१७।
५. 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता'-यो.सू. १:४४।

आनन्दानुगत समाधि में विचार शून्य हो जाता है, केवल आनन्द मात्र का अनुभव होता है। इस समाधि में साधक की एकाग्रता इतनी दृढ़ हो जाती है कि वह संशय, विपर्यास रहित अहंकार का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। यह अहंकार पंच तन्मात्रा आदि का मूल कारण है तथा तन्मात्राओं की अपेक्षा सूक्ष्म भी है।

अस्मितानुगत समाधि में आनन्द भी नष्ट हो जाता है। इस अवस्था में वह अस्मिता का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। अस्मिता अहंकार का कारण है तथा अहंकार की अपेक्षा सूक्ष्म भी है। पातंजल दर्शन के अनुसार चार समाधि और उनका ध्येय विषय इस प्रकार है।

समाधि	ध्येय विषय
१. वितर्कानुगत	पंचभूतात्मक स्थूल विषय
२. विचारानुगत	सूक्ष्म ५ तन्मात्रायें और इन्द्रिय
३. आनन्दानुगत	अहंकार
४. अस्मितानुगत	अस्मिता

जिस प्रकार योगदर्शन में साधक अपना योगाभ्यास (भावनाकृत्य) स्थूल ध्येय (आलम्बन) से प्रारम्भ करता है, उसी प्रकार बौद्धसाधना में भी साधक सर्वप्रथम स्थूल (विभूत) ध्येय पृथ्वी आदि आलम्बन से प्रारम्भ करता है। समाधि ही ध्यान है। वह (ध्यान चार प्रकार है, यथा- वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता इन पाँच अंगों से युक्त प्रथम ध्यान, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता-इन तीन अंगों से युक्त द्वितीय ध्यान, सुख और एकाग्रता-इन दो अंगों से युक्त तृतीय ध्यान तथा उपेक्षा और एकाग्रता- इन दो अंगों से युक्त चतुर्थ ध्यान।

इनमें से पृथ्वी, अप् आदि स्थूल ध्येय (कर्मस्थान) में चित्त लगाकर निरन्तर भावना की जाती है, तो चित्त ध्येय वस्तु में तदाकार हो जाता है। कभी-कभी चित्त ध्येय वस्तु में एकाग्र हो जाता है। क्लेश (नीवरण) शान्त हो जाते हैं। जब तक वितर्क, विचार आदि ध्यानांग प्रादुर्भूत नहीं होते, तब तक चित्त चिरकाल तक समाहित नहीं हो सकता तथा उस अवस्था की समाधि दुर्बल होती है। यह अवस्था ध्यान (अर्पणा) की पूर्ववर्ती अवस्था होने से इसे 'उपचार' समाधि कहते हैं। जब साधक सपरिश्रम निरन्तर अभ्यास करता है, तो उसमें वितर्क, विचार आदि ध्यानांग प्रादुर्भूत हो जाते हैं तथा ध्येय वस्तु में चित्त अनुप्रविष्ट की भाँति अर्पित हो जाता है। इस अवस्था की समाधि को 'ध्यान' या 'अर्पणा' कहते हैं। यह चिरकाल तक एकाग्र रहने वाली अवस्था है।

ध्यान या अर्पणा से पहले चित्त कामतृष्णा से प्रभावित रहता है। जब कामतृष्णा आदि विघ्नकारक क्लेशों का शमन कर या कामतृष्णा आदि को विषय न बनाकर ध्येय वस्तु में

चित्त अनुप्रविष्ट हो जाता है, तो इस अवस्था की समाधि को 'रूपावचर-प्रथमध्यान' कहते हैं। यहाँ साधक यद्यपि कामतृष्णा का आलम्बन नहीं करता, फिर भी वह रूपतृष्णा को आलम्बन बनाता है। इस प्रथम ध्यान में वितर्क ध्यानांग आलम्बन में चित्त को स्थापित करता है। विचार आलम्बन को बांधे रखता है। प्रीति आलम्बन से चित्त को विक्षिप्त न होने देने के लिए उसे तृप्त करती है। सुख उस (तृप्ति) को बढ़ाता है। एकाग्रता अपने साथ होने वाले वितर्क, विचार, प्रीति और सुख को स्थापित करते रहने, बाँधे रखने, तृप्त करते रहने तथा उसे बढ़ाते रहने के लिए ध्येय में चित्त को बराबर लगाये रखती है। ये पांचों ध्यानांग ध्यान प्राप्ति के समय एक साथ अपना-अपना कृत्य करते हैं, इसलिए इन पांचों ध्यानांगों के समूह को 'ध्यान' कहते हैं। इस प्रथम ध्यान को 'सवितर्क सविचार ध्यान' भी कहते हैं।

प्रथम ध्यान में चिरकाल तक निरन्तर अभ्यास किये हुए साधक 'योगी' अभ्यस्त प्रथम ध्यान से उठकर 'यह ध्यान (समापत्ति) तो कामच्छन्द आदि क्लेशों का नजदीकी है और वितर्क विचार स्थूल होने से दुर्बल अंग है'- इस प्रकार सोचकर उस प्रथम ध्यान में दोष देखकर द्वितीय ध्यान के शान्त स्वभाव को मन में करके प्रथम ध्यान के प्रति होने वाली तृष्णा को छोड़कर द्वितीय ध्यान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। जब साधक को प्रथम ध्यान से उठकर स्मृति और सम्प्रज्ञान के साथ प्रथमध्यान के अंगों का विचार (प्रत्यवेक्षण) करते समय वितर्क, विचार स्थूल रूप से दिखलाई पड़ते हैं तथा प्रीति, सुख एवं एकाग्रता सूक्ष्म और शान्त दिखलाई पड़ते हैं, तब वह स्थूल अंगों के प्रहाण और सूक्ष्म अंगों की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम ध्येय की ही बार-बार भावना करता है। निरन्तर अभ्यास करते-करते वितर्क, विचार शान्त हो जाते हैं तथा वितर्क, विचार रहित और प्रीति, सुख एवं एकाग्रता से युक्त द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हो जाती है। इसे ही 'अवितर्क अविचार ध्यान' भी कहते हैं।

जब साधक द्वितीय ध्यान के अंगों में भी यह ध्यान (समापत्ति) तो वितर्क, विचार का नजदीकी है तथा प्रीति से युक्त चित्त हर्षोत्फुल्ल होता है, इसी से यह स्थूल कहा जाता है- इस प्रकार प्रीति के प्रति दोष देखकर द्वितीय ध्यान के प्रति होने वाली आसक्ति का त्याग करके तृतीय ध्यान के अंगों को शान्त स्वभाव के रूप में मन में करके बार-बार भावना करता है तो उसे प्रतिरहित तथा सुख और एकाग्रता से युक्त तृतीय ध्यान की प्राप्ति होती है।

जब साधक तृतीय ध्यान के अंग सुख के प्रति दोष देखता है, तो वह तृतीय ध्यान के प्रति होने वाली आसक्ति का त्याग करके तथा चतुर्थ ध्यान के शान्त स्वभाव को मन में करके बार-बार भावना करता है, तो उसे उपेक्षा और एकाग्रता से युक्त चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त प्रतिपादन ध्यानों के चतुष्क नय को दृष्टि में रखकर किया गया है। यदि पंचक नय के अनुसार ध्यानों का विभाजन किया जाता है तो ध्यान पाँच प्रकार के भी हो जाते हैं। प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति सुख एवं एकाग्रता ये पाँच अंग होते हैं। इसे 'सवितर्क सविचार ध्यान' कहते हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क को छोड़कर शेष चार अंग होते हैं, इसे 'अवितर्क सविचार ध्यान' कहते हैं। तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार को छोड़कर शेष तीन अंग होते हैं। चतुर्थ ध्यान में सुख और एकाग्रता-ये दो अंग होते हैं तथा पंचम ध्यान में उपेक्षा और एकाग्रता ये दो ध्यानांग होते हैं। इन तीनों ध्यानों को 'अवितर्क अविचार ध्यान' कहते हैं।

योग दर्शन में ध्येय (आलम्बन) स्थूल से सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होता जाता है, इसलिए समाधि की अवस्था उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है। यहाँ पर (बौद्ध योग में) ध्येय (आलम्बन) जैसा का तैसा रहता है, किन्तु ध्यान के अंगों में परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् स्थूल अंग क्रमशः शान्त होते जाते हैं और सूक्ष्म सूक्ष्मतर अंग ही अवशिष्ट रहते हैं। तथा स्थूल अंगों के शान्त होते रहने से समाधि की अवस्था उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है।

चतुष्क नय के अनुसार

ध्यान		ध्यानांग
१.	प्रथम ध्यान	वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता
२.	द्वितीय ध्यान	प्रीति, सुख, एकाग्रता
३.	तृतीय ध्यान	सुख, एकाग्रता
४.	चतुर्थ ध्यान	उपेक्षा, एकाग्रता

पंचक नय के अनुसार

१.	प्रथम ध्यान	वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता
२.	द्वितीय ध्यान	विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता
३.	तृतीय ध्यान	प्रीति, सुख, एकाग्रता
४.	चतुर्थ ध्यान	सुख, एकाग्रता
५.	पंचम ध्यान	उपेक्षा, एकाग्रता

ध्यान प्राप्ति की पूर्व अवस्था में साधक का चित्त क्लेशों से युक्त होने से, वह कामतृष्णा को अपना विषय बनाता रहता है तथा उसके चित्त में कामविषयक इच्छा (कामच्छन्द) आदि का उदय होता रहता है। वह अवस्था 'कामावचर' अवस्था कहलाती है। ध्यान की अवस्था में क्लेशों के शान्त रहने से कामविषयक इच्छा आदि क्लेश उदित नहीं

होते तथा साधक कामविराग की भावना में लगा रहता है। कामविषयक इच्छा आदि क्लेशों के शान्त होते ही वितर्क आदि ध्यानांग उदित हो जाते हैं। साधक का चित्त ध्येय वस्तु में स्थिर हो जाता है। प्राप्त ध्यान के प्रति आसक्ति (निकन्ति) बनी रहती हैं इसे (आसक्ति को) रूपराग या रूपतृष्णा अथवा भवराग या भवतृष्णा भी कहते हैं। उस साधक के चित्त में यह तृष्णा एक प्रकार का दोष है यह अवस्था 'रूपावचर अवस्था' कहलाती है। रूपावचर ध्यानों के वितर्क आदि अंगों में दोष देखकर निरन्तर भावना की जाती है, तो उससे क्रमशः चतुर्थ या पंचम ध्यान तक प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ तक साधक का ध्येय (आलम्बन) भौतिक (रूप) आलम्बन होता है। जिस ध्येय को आलम्बन बनाकर भावना प्रारम्भ की थी वही ध्येय चतुर्थ या पंचम ध्यान पर्यन्त बना रहता है।

अरूपध्यान– जब साधक उस रूप में भी दोष देखने लगता है, इससे सूक्ष्म या शान्त अरूप ध्यान प्राप्त करना चाहता है, तो उसे 'रूप विराग भावना' करनी पड़ती हैं। जैसे- साधक अपने ध्येय पृथ्वीमण्डल को अपने मन से हटा देता है उस पृथ्वी मण्डल के हट जाने पर वहाँ उसका स्थान रिक्त हो जाता है, वही रिक्त स्थान 'आकाश' है। उस आकाश को ध्येय बनाकर आकाश अनन्त है-ऐसी भावना करता है। इस प्रकार पृथ्वी आदि ध्येय वस्तु (आलम्बन) को मन में न करके केवल उसके रिक्त स्थान (खाली जगह = आकाश) को ही ध्येय बनाकर निरन्तर भावना की जाती है, तो साधक उपर्युक्त रूपावचर चतुर्थ या पंचम ध्यान के प्रति आसक्ति (निकन्ति) का त्याग कर देता है। तथा अनन्त आकाश के शान्त भाव को देखकर उस आकाश में अपने चित्त को प्रविष्ट करता है। जब इसका चित्त उस ध्येय में भली भांति अनुप्रविष्ट हो जाता है, तब अति सूक्ष्म उपेक्षा और एकाग्रता-ये दो अंग उत्पन्न होते हैं। इस समाधि अवस्था को ही 'आकाशानन्त्यायतन ध्यान' कहते हैं। यही 'प्रथम आरूप्य ध्यान' है। उस समय साधक रूप, संज्ञा, प्रतिघ संज्ञा और नानात्व संज्ञा को मन में न कर केवल 'आकाश अनन्त' है-इस प्रकार भावना करता है। अर्थात् इस समाधि के बल से सभी प्रकार की रूपतृष्णाओं के आलम्बन भूत (रूपावचर) धर्मों तथा सभी कामतृष्णाओं के आलम्बन भूत कामावचर धर्मों का प्रहाण कर दिया जाता है। अर्थात् उनके प्रति मन का झुकाव नहीं किया जाता है। साधक को आकाश के उत्पाद एवं भंग नामक दोनों अन्तों का ज्ञान नहीं रहता, अतः वह उस अनन्त आकाश में चित्त को स्थित रखता है, संस्थापित करता है और अनन्त का स्मरण करता है। इसलिए आकाश अनन्त है-यह कहा जाताहै।[1]

जब साधक द्वितीय अरूप ध्यान को प्राप्त करना चाहता है, तो उसे प्राप्त अरूप ध्यान के प्रति बार-बार प्रथम अरूप ध्यान (प्रथम अरूप समापत्ति) रूपावचर ध्यान का

---

१. 'तस्मिं आकासे चित्तं ठपेति सण्ठपेति अनन्तं फरति, तेन बुच्चति 'अनन्तो आकासो' ति'-विभ.-३१५।

नजदीकी है तथा यह विज्ञान की तरह शान्त नहीं है-इस प्रकार उस आकाशानन्त्यायतन ध्यान में दोष देखकर तथा विज्ञान के शान्त भाव को मन में करके उस आकाश में स्फरित होकर प्रवृत्त विज्ञान को ही 'अनन्तं विज्ञानं अनन्तं विज्ञानं' इस प्रकार मन में बार-बार भावना करता है। बार-बार अभ्यास करते-करते साधक का चित्त ध्येय आकाश का अतिक्रम करके केवल विज्ञान में ही प्रवृत्त हो जाता है। ध्यान की इस अवस्था को ही 'द्वितीय अरूप ध्यान' या विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान कहते हैं।[1]

जब साधक प्राप्त द्वितीय अरूप ध्यान में सन्तोष न कर उससे सूक्ष्म तृतीय अरूप ध्यान को प्राप्त करना चाहता है, तो वह द्वितीय अरूप ध्यान (विज्ञानानन्त्यायतन) में दोष देखकर तथा उसके प्रति आसक्ति को छोड़कर तृतीय अरूप ध्यान के शान्त भाव को मन में करके प्राप्त हुए विज्ञानन्त्यायतन ध्यान के आलम्बन भूत आकाशानन्त्यायतन चित्त (विज्ञान) के अभाव (शून्यता) को मन में करता है। जब साधक के मन में अपने ध्येय (आकाशानन्त्यायतन विज्ञान) का अतिक्रम होकर 'कुछ भी नहीं है, शून्य है, इस प्रकार का नास्तिभाव' ध्येय के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब वह अवस्था 'तृतीय अरूप ध्यान' या 'आकिंचन्यायतन ध्यान' कहलाती है।[2]

जब साधक प्राप्त तृतीय अरूप ध्यान में भी सन्तोष न कर इससे सूक्ष्म चतुर्थ अरूप ध्यान प्राप्त करना चाहता है, तो वह तृतीय अरूप ध्यान में दोष देखकर तथा 'वह नैवसंज्ञानासंज्ञा की तरह शान्त नहीं है'-इस प्रकार मन में करके प्राप्त तृतीय ध्यान की ही भावना करता है। या 'संज्ञा रोग है, संज्ञा फोड़ा है, संज्ञा कांटा है-यह शान्त है, यह उत्तम है, जो नैवसंज्ञानासंज्ञा है'- इस प्रकार मन में करके निरन्तर भावना करता रहता है। इससे साधक के मन से तृतीय अरूप ध्यान के प्रति होने वाली आसक्ति (निकन्ति) दूर हो जाती है तथा उसे 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' नामक चतुर्थ अरूप ध्यान की प्राप्ति हो जाती है। इस ध्यान में संज्ञा अतिसूक्ष्मरूप में रहती है, अतः इसे 'असंज्ञा' नहीं कहा जा सकता तथा संज्ञा के स्थूल रूप से न होने के कारण उसे संज्ञा भी नहीं कहा जा सकता, अतः इसे 'नैवसंज्ञानासंज्ञा' ही कहते हैं।[3]

उपर्युक्त चारों अरूप ध्यानों के अंग उपेक्षा और एकाग्रता ये दो ही होते हैं। रूप ध्यानों में क्रमशः अंगों का अतिक्रमण होता है, किन्तु अरूप ध्यानों में अंग का अतिक्रमण नहीं होता, अपितु ध्येय (आलाक) पत्र ही अतिक्रमण होता है इन अरूप ध्यानों के ध्येय पातंजल योगदर्शन की तरह उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं।

---

१. 'सब्बसो आकासानंयातनं समतिक्कम्म अनन्तं विञ्ञणं ति विञ्ञाणं चायतनं उपसम्पज्ज विहरति'-विभ.-३६५।

२. 'सब्बसो विंञ्ञाणं चायतनं समतिक्कम्म नत्थिं किञ्ची ति अकिञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति'-विभत्र-३६५।

३. 'सब्बसो आकिञ्चायतनं समतिक्कम्म नेवसञ्ञानासंञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहरति'-विभ.-३६५।

चार अरूप ध्यान

ध्यान	अतिक्रमितव्य ध्येय	आलम्बितव्य ध्येय
१. आकाशानन्त्यायतन	पृथ्वी आदि	आकाश
२. विज्ञानन्त्यायतन	आकाश	विज्ञान
३. आकिंचञ्ञायतन	प्रथम आरूप्यविज्ञान	नास्तिभाव
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन	नास्तिभाव	तृतीय आरूप्य विज्ञान।

उपर्युक्त चार रूपावचर एवं चार अरूपावचर ध्यानों को ही 'आठ समापत्तियाँ' कहते हैं। अर्थात् योगी ध्यानों का पुनः पुनः विचार या मनन (समावर्जन) करता है। अतः वे ध्यान ही 'समापत्ति' कहलाते हैं।

पंतजलि ने भी कहा है कि 'जिसकी वृत्तियाँ नष्ट हो गयी हैं, उसका चित्त निर्मल स्फटिक मणि की तरह होता है तथा वह (साधक) ग्रहीता (आत्मा) ग्रहणशक्ति (बुद्धि) और ग्राह्य (विषय) इन तीनों में एकाग्र होकर तदाकार हो जाता है तो यही 'समापत्ति' (सम्प्रज्ञात समाधि) है।'[1]

योगदर्शन में सम्प्रज्ञात (सबीज) समाधि और असम्प्रजात समाधि भेद से समाधि के दो प्रकार बतलाये गये हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की तुलना उपर्युक्त ध्यानों से करना चाहिए तथा असम्प्रज्ञात समाधि की तुलना ज्ञानी योगी (अनागामी तथा अर्हत्) की निरोधसमापत्ति से करना चाहिए।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ (पृ. ५९५) में सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर को बौद्ध धर्म के प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध के अन्तर के समान कहा है। यह समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध समाधि नहीं है, अपितु वैभाषिक बौद्धों के निरोध (निर्वाण) के प्रभेद हैं।[2]

नीवरण– मनुष्य का चित्त विविध विषयों का ग्रहण करते रहने से सदा अशान्त रहता है। इन विविध विषयों (आलम्बनों) के कारण अनेक प्रकार की चित्तवृत्तियों का उत्पाद होता रहता है, तथापि लोभ (कामच्छन्द), द्वेष (व्यापाद), आलस्य (स्त्यान एवं मिद्ध), अनवस्थितता एवं पश्चात्ताप (औद्धत्य एवं कौकृत्य) और संशय (विचिकित्सा)- ये ही पाँच क्लेश (नीवरण) ध्यान के विघ्नकारक हैं। ध्यानांग के उत्पाद में विघ्नभूत होने से 'नीवरण' कहे जाते हैं। जा ध्यानचित्त (एकाग्रता) का आवरण करते हैं या उन्हें उत्पाद का अवसर नहीं

---

१. 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्गृहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तिः' यो. १:४१।

२. अभि. को.-१:६।

देते, वे लोभ, द्वेष आदि ही 'नीवरण' कहे जाते हैं। जब इन नीवरणों का प्रहाण हो जाता है, तब ध्यानांग उत्पन्न होते हैं। ध्यानप्राप्ति की पूर्व अवस्था (उपचार समाधि) में भी यद्यपि नीवरणों का प्रहाण हो जाता है, किन्तु वितर्क आदि ध्यान के अंग प्रादुर्भूत नहीं होते। ध्यान की अवस्था (अर्पणा समाधि) में ही वितर्क आदि ध्यानांगों का प्रादुर्भाव होता है। यद्यपि ६ प्रकार के नीवरणों में एक अविद्या भी है, तथापि वह अविद्या ध्यानों का आवरण नहीं करती, अपितु वह सत्यों के ज्ञान, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के ज्ञान का ही आवरण करती है। अतः ध्यानों के द्वारा प्रहातव्य नीवरणों में उस (अविद्या) की गणना नहीं की गयी है। योगदर्शन में भी चित्त को विक्षिप्त करने वाले समाधि के अन्तरायों के रूप में व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व- इन ६ धर्मों को बतलाया गया है। यही समाधि के विघ्नभूत ६ नीवरण हैं।[1] इनमें से व्याधि ज्वरादि रोग हैं। चित्त में काम न करने की इच्छा स्त्यान है। किसी एक का निश्चय न कर पाना 'संशय' है, समाधि के साधनों का पालन न करना, अर्थात् उनके लिए यत्न न करना, 'प्रमाद' है। कफ आदि के कारण शरीर का भारी होना 'आलस्य' है। विषयों से विरत न होने की इच्छा 'अविरति' है। अविद्या आदि विपर्यय ज्ञान 'भ्रान्तिदर्शन' है। समाधि का लाभ न होना ही 'अलब्धभूमिकत्व है तथा समाधि का स्थिर न होना 'अनवस्थितत्व' है।

वितर्क विचार आदि पाँच ध्यानांग उपर्युक्त पाँच नीवरणों का शमन करते हैं तथा निषेध करते हैं। यथा- वितर्क द्वारा आलस्य (स्त्यान एवं मिद्ध) का निवारण किया जाता है। विचार द्वारा संशय (विचिकित्सा) का, प्रीति द्वेष (व्यापाद) का, सुख द्वारा अनवस्थितत्व और पश्चात्ताप (औद्धत्य एवं कौकृत्य) का तथा एकाग्रता द्वारा लोभ (कामच्छन्द) का निवारण शमन, या निषेध किया जाता है। यह ठीक भी है, क्योंकि चित्त में कर्मरहित रहने की इच्छा वाले स्त्यान एवं मिद्ध का स्वभाव आलस्य का होता है। इसके विपरीत वितर्क का स्वभाव सर्वदा विषयों में चित्त को लगाना (आलम्बन ग्रहण करना) है। अतः विपरीत स्वभाव होने के कारण वितर्क आलस्य स्वभाव वाले स्त्यान एवं मिद्ध का निवारण करता है। वितर्क जिन धर्मों को विषय बनाता है, विचिकित्सा उनमें संशय उत्पन्न कर देती है और विचार चित्त को विषय से न हटने देने के लिए उस विषय का पुनः पुनः विचार-विमर्श करता है। अतः विपरीत स्वभाव होने के कारण विचार विचिकित्सा को शान्त करता है तथा आलम्बन का विमर्श भी करता है। द्वेष (व्यापाद) चण्डलक्षण वाला है। विचार के द्वारा पुनः पुनः विमर्श करने पर भी यदि द्वेष उसमें विघ्न उपस्थित करता है, तो विचार आलम्बन का भलीभांति विमर्श नहीं कर सकता। प्रीति आलम्बन के प्रति प्रिय स्वभाव वाली

---

१. 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' -यो. १:३०।

है। अतः विपरीत स्वभाव होने के कारण प्रीति द्वेष का शमन करती है तथा पुनः विमर्श किये गये आलम्बन में अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करती है। अनवस्थितता (औद्धत्य) का स्वभाव अनुपशम है तथा पश्चात्ताप (कौकृत्य) का स्वभाव अनुताप है। सुख आलम्बन के रस का अनुभव करने वाला है। अतः विपरीत स्वभाव वाला होने से सुख औद्धत्य और कौकृत्य का शमन करता है तथा चित्त को पुष्ट भी करता है। काम विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने वाला लोभ (कामच्छन्द) अस्थिर (चंचल) स्वभाव वाला होता है। चित्त का आलम्बन से विचलित न होना एकाग्रता है। अतः विपरीत स्वभाव वाली होने के कारण एकाग्रता लोभ (कामच्छन्द) का निवारण करती है।

अभिज्ञा– समाधि भावना से जब साधक रूपावचर चतुर्थ या पंचम ध्यान तक प्राप्त कर लेता है, तो उसमें विशेष प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। योगी के समाधिप्राबल्य के कारण शक्तियों के तीव्र हो जाने से एक विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उसे 'अभिज्ञा' कहते हैं। अभिज्ञा प्राप्त योगी को ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। योगदर्शन इन्हें 'सिद्धि' कहते हैं। योगदर्शन के अनुसार धारणा (ध्येय) ध्यान और समाधि-इन तीनों का एक विषय में होना 'संयम' कहलाता है।[1] इस संयम पर विजय प्राप्त होने से प्रज्ञा प्रकाशित होती है।[2] इस समाधि-जन्य प्रज्ञा को बौद्ध दर्शन में 'अभिज्ञा' कहते हैं।

तदनुसार अभिज्ञायें ६ प्रकार की होती हैं, यथा- १. ऋद्धिविध-यह नाना प्रकार के रूपों को धारण करने में समर्थ ज्ञान है। दिव्यश्रोत्र-यह अत्यन्त दूर एवं धीमे शब्दों को सुनने में समर्थ ज्ञान है। ३. परिचित विजानन-यह दूसरों के चित्त को जानने में समर्थ ज्ञान है। ४. दिव्यचक्षु-यह अत्यन्त दूर, परोक्ष एवं आवृत वस्तुओं को देखने में समर्थ ज्ञान है। ५. पूर्वनिवासज्ञान- यह पूर्व अनेक जन्मों को जानने में समर्थ ज्ञान है। तथा ६. अनागतांश ज्ञान-यह भविष्य में होने वाले जन्म आदि को जानने में समर्थ ज्ञान है।

पतंजलि के योग सूत्र के विभूतिपाद में भी इन सब अभिज्ञाओं का वर्णन उपलब्ध होता है, ऋद्धियों की प्राप्ति योगी का लक्ष्य नहीं होता। परम निर्वाण का साक्षात्कार करना ही उनका चरम लक्ष्य होता है। फिर भी ऋद्धियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं कि योगी अपने मार्ग में प्रगति कर रहा है। इन्हें (ऋद्धियों को) भावना में लगे सभी उत्साही योगी प्राप्त कर सकते हैं। बुद्ध ने इन ऋद्धियों के प्रदर्शन से अपने भिक्षुओं को न केवल रोका ही है, अपितु उसकी निन्दा भी की है। इन ध्यान (समाधि) एवं अभिज्ञाओं के सम्पन्न होने मात्र से दुःखों की अत्यधिक निवृत्ति नहीं हो सकती। जब प्रज्ञा (विपश्यना) द्वारा प्रगति कर ली जाती है, तभी दुःखों से अशेष निवृत्त होकर परम निर्वाण का साक्षात्कार किया जा

---

१. 'त्रयमेकत्र संयमः'-यो.-३:४

२. 'तज्जयात् प्रज्ञालोकः' - यो.-३:५।

सकता है। ये ऋद्धियां ज्ञान की प्राप्ति या परम निर्वाण के साक्षात् करने में विघ्नभूत भी होती हैं। इस बात को पतंजलि ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि 'ऋद्धियां' पुरुष (आत्म) ज्ञान के प्राप्त करने में विघ्न होती हैं।[1]

समाधि-भावना करने वाले योगी के मार्ग में ऋद्धियां स्वतः उपस्थित होती हैं। इन ऋद्धियों में हर्ष, गौरव आदि रखने से योगी अपने मार्ग में शिथिल एवं विचलित हो जात सकता है, अतः परम निर्वाण का साक्षात्कार करने के इच्छुक योगी को इन ऋद्धियों का परित्याग कर सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा (विपश्यना) करनी चाहिए।

प्रज्ञा-विमर्श

विपश्यना- समाधि का लाभ हो जाने पर संस्कार (नाम-रूप) धर्मों को प्रज्ञा द्वारा अनित्य, दुःख एवं अनात्म आदि विविध आकारों से बार-बार देखना या अभ्यास करना 'विपश्यना-भावना' कहलाता है। केवल समाधि के लाभ से निर्वाण का साक्षात्कार असम्भव है, इसके लिए प्रज्ञा भावना (विपश्यना भावना) की परम आवश्यकता होती है। यद्यपि प्रज्ञा शब्द द्वारा साधारण मनुष्य के ज्ञान से लेकर सर्वज्ञ के ज्ञान तक का ग्रहण होता है, किन्तु विपश्यना प्रज्ञा द्वारा धर्मविचय, सम्यक्दृष्टि आदि २१ प्रकार की प्रज्ञाओं का ही ग्रहण होता है।

शमथयानिक और विपश्यनायानिक भेद से योगी दो प्रकार के होते हैं। पहले समाधि लाभ करके बाद में जो विपश्यना भावना करता है, उसे शमथयानिक तथा समाधि के लिए अभ्यास न करके शुरू से ही जो विपश्यना भावना करता है उसे 'विपश्यनायानिक' कहते हैं। यद्यपि विपश्यना-यानिक के लिए प्रथम-ध्यान आदि समाधि (अर्पणा) आवश्यक नहीं है, फिर भी विपश्यना करते-करते उसे विपश्यना के बल से सामान्य समाधि (उपचार-समाधि) का लाभ हो जाता है।

विपश्यनाकर्मस्थान- प्रज्ञा द्वारा जिन संस्कार (नाम-रूप) धर्मो को ध्येय (आलम्बन) बनाकर भावना की जाती है, उस ध्येय (नामरूप) को या आलम्बन को 'विपश्यना कर्मस्थान' कहते हैं। समाधि की प्राप्ति के लिए आश्वास-प्रश्वास (प्राणायाम-आनापान) को सबसे उत्कृष्ट साधन (कर्मस्थान) माना जाता है। नासापुट के साथ घर्षण करके प्रविष्ट एवं निर्गत होने वाले वायु (आश्वास-प्रश्वास) को ध्येय बनाकर अभ्यास किया जाता है, तो समाधि का लाभ आनायास हो सकता है। विपश्यना भावना में केवल आश्वास-प्रश्वास वायु की ही भावना नहीं करनी चाहिए, अपितु उस आश्वास-प्रश्वास (आपापान) को आधार करके संस्कार (नामररूप) धर्मों की भावना करनी चाहिए। जैसे- आश्वास-प्रश्वास वायु

---

१. 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'-यो. ३:३७।

(रूप) के द्वारा घर्षण होने पर शरीर में जो स्प्रष्टव्य वेदना आदि होते हैं, उन्हें भी साधन बनाकर भावना करनी चाहिए। इस प्रकार नाम-रूप धर्मों के लक्षण आदि को निरन्तर ध्यान लगाकर देखते रहने पर, क्षण-क्षण में उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने वाले नाम-रूप धर्मों का ज्ञान हो जाता है तथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान इन पांच स्कन्धों में अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता का ज्ञान भी हो जाता है।

जो समाधि की प्राप्ति के अन्तर विपश्यना भावना करता है (शमथयानिक) उसे सर्वप्रथम अपने द्वारा प्राप्त ध्यान (समाधि) में से वितर्क आदि 'नाम' धर्मों को विपश्यना का आलम्बन बनाकर भावना करनी चाहिए। जो समाधि की प्राप्ति नहीं होने पर भी विपश्यना-भावना करना चाहता है उसे (विपश्यनायानिक को) सर्वप्रथम रूप से अभ्यास करना चाहिए, तदनन्तर नाम की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार नाम-रूप धर्मों के लक्षण आदि को निरन्तर ध्यान लगाकर देखते रहने पर, क्षण-क्षण में उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने वाले नाम-रूप धर्मों का ज्ञान हो जाता है तथा रूप, वेदना, संज्ञा एवं विज्ञान इन पाँच स्कन्धों में अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता का ज्ञान भी हो जाता है।

समाधि तथा विपश्यना-भावना– सदाचार (शील) द्वारा मनुष्य कायिक, वाचिक और मानसिक दुराचरणों से परिशुद्ध हो जाता है। समाधि-भावना द्वारा अनादिकाल से मनुष्य की चित्तसन्तति में वास करने वाले राग-द्वेष आदि क्लेशधर्म शान्त हो जाते हैं तथा विपश्यना-भावना द्वारा वे क्लेश धर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य जब तक समाधि की स्थिति में रहता है तब तक उसकी चित्तसन्तति में रागादि क्लेश शान्त रहते हैं, किन्तु जब समाधि भंग होती है तो क्लेशधर्मों की पुनरावृत्ति की संभावना रहती है। विपश्यना-भावना से ज्ञान प्राप्त होने पर यह बात नहीं होती। विपश्यना-भावना के द्वारा जब साधक को सत्यज्ञान (मार्गज्ञान) प्राप्त हो जाता है तो क्लेशधर्म नष्ट हो जाते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। अविद्या (मूल क्लेश) का नाश तो प्रज्ञा-भावना (विपश्यना-भावना) से ही हो सकता है। अविद्या को सर्वथा शान्त भी नहीं किया जा सकता। शील से पाप का, समाधि से कामतृष्णा (कामधातु) का तथा प्रज्ञा से समस्त भव (संसार) का अतिक्रम हो जाता है। यहाँ किसी आलम्बन को बार-बार देखना, मनन करना या अभ्यास करना ही भावना है। समाधि में यह बार-बार देखने वाली क्रिया किसी एक ध्येय को आलम्बन बनाकर होती है. किन्तु विपश्यना-भावना में ध्येय का एक होना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः चित्त में उत्पन्न होने वाले नामरूप धर्मों के उत्पाद और विनाश को विभिन्न ध्येयों में निरन्तर देखना, बार-बार मनन करना या अभ्यास करना ही विपश्यना-भावना है। समाधि-भावना में ध्येय बाह्य और आन्तर दोनों हो सकते हैं, लेकिन विपश्यना-भावना में केवल आन्तरिक ध्येय ही होता है। समाधि और विपश्यना भावना दोनों परम निर्वाण की प्राप्ति के लिए अत्यन्त उत्कृष्ट मार्ग (प्रतिपदा) हैं। विपश्यना-भावना के लिए अर्थात् नामरूप धर्मों के यथार्थज्ञान

के लिए समाधि की परम आवश्यकता होती है, क्योंकि जिस साधक का चित्त अचंचल एवं अविचलित अर्थात् समाधिस्थ होता है, उसी में विपश्यना की भावना सम्भव है। इसलिए समाधि चित्त की वह अवस्था है, जिसमें किसी विषय (ध्येय) पर चित्त अविचलित रूप से प्रवृत्त होता है।

अविद्यादि क्लेशों का नाश– जिस प्रकार बौद्ध साधना मार्ग में समाधि द्वारा रागादि क्लेशों का उपशम होता है तथा विपश्यना-भावना द्वारा ही अविद्या सहित समस्त क्लेश समूल नष्ट होते हैं, उसी प्रकार योगदर्शन में भी सम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था में अविद्यादि क्लेशों का समूल विनाश नहीं होता। विवेकज्ञान के उदय होने पर ही धर्ममेघसमाधि की अवस्था में अविद्यादि क्लेशों का समूल नाश हो जाता है। योगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांचों क्लेशों में अविद्या ही अन्य चार का मूल कारण है। अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म विषयों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि रखना अविद्या है। अविद्या मूलक्लेश है। चारों सम्प्रज्ञात समाधियों में जो समाधिप्रज्ञायें उत्पन्न होती हैं, वे सभी अविद्या से मिश्रित होती हैं। किसी भी सम्प्रज्ञातसमाधि प्रज्ञा में अविद्या अवश्य विद्यमान रहती है, वह चाहे प्रकट रूप से हो अथवा अप्रकट रूप से। यहाँ तक कि अविद्या के आधार के बिना समाधिप्रज्ञा भी प्रकाशित नहीं होती। सम्प्रज्ञातसमाधियों में किसी न किसी ध्येय का आलम्बन होने से तथा हर अवस्था में अविद्या बीज रूप से विद्यमान रहने के कारण इन सम्प्रज्ञातसमाधियों को सबीज समाधि भी कहते हैं। अन्तिम निर्विचार-समाधि की ऊँची अवस्था में योगी की बुद्धि अत्यधिक निर्मल हो जाती है। उस अवस्था में अविद्या आवरण के समाप्त हो जाने से रजस्तमो रूप मल का भी क्षय हो जाता है। चित्त की मलिनता मिट जाती है। सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव होने से साधक का अन्तःकरण प्रसन्नता से भर जाता है। इस अवस्था में योगी प्रकृतिपर्यन्त सभी पदार्थों का एक ही काल में साक्षात्कार कर लेता है। इसे अध्यात्मप्रसाद कहते हैं।[1] इस प्रकार के अध्यात्म प्रसाद (निर्मलता) से ही योगी को ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त होती है। अध्यात्मप्रसाद प्राप्त कर लेने पर अविद्यादि से रहित सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इसे ऋतम्भराप्रज्ञा कहते हैं। (यो. १:४८)। ऋतम्भराप्रज्ञा का उदय होने के अनन्तर योगी उस अवस्था विशेष पर पहुंच जाता है जो उसे संसारचक्र से निकाल कर कैवल्य की ओर ले जाती है। इसे विवेकख्याति कहते हैं। यह अत्यन्त महत्त्व की अवस्था है। विवेकख्याति की परिपक्व अवस्था धर्ममेघ समाधि कही जाती है। धर्ममेघ समाधि द्वारा ही अविद्या आदि समस्त क्लेश विनष्ट हो जाते हैं। धर्ममेघसमाधि सूक्ष्म रूप से विद्यमान अविद्या (मिथ्या ज्ञान) को समूल नष्ट कर देती है। अविद्या का क्षेत्र धर्ममेघसमाधि तक रहता है। इस अवस्था

१. 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः'-यो.-१:४७।

को प्राप्त करने पर अविद्या की पुनरावृत्ति नहीं होती। विवेकख्याति अथवा धर्ममेघसमाधि के द्वारा अविद्या समूल नष्ट हो जाती है तथा अविद्या की निवृत्ति से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

बौद्ध-साधना-मार्ग में भी समाधि लाभ होने के अनन्तर भी अविद्या आदि क्लेशों के विनाश के लिए विपश्यना-भावना करनी पड़ती है। विपश्यनाभावना से ज्ञान का क्रमिक विकास हो जाता है। प्रथम मार्गज्ञान प्राप्त करने के लिए साधक को १३ प्रकार के लौकिक विपश्यनाज्ञानों को प्राप्त करना अनिवार्य होता है। प्रथममार्गज्ञान (स्रोतापत्तिमार्गज्ञान) प्राप्त होने पर यद्यपि साधक एक काल में चार आर्यसत्यों का ज्ञान हो जाने से परम निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है, तथापि वह अविद्या आदि क्लेशों को विनष्ट नहीं कर सकता, केवल मिथ्यादृष्टि एवं विचिकित्सा का प्रहाण करता है। द्वितीय मार्ग ज्ञान एवं तृतीयमार्ग ज्ञान में भी स्थूल क्लेशों का प्रहाण किया जा सकता है। चतुर्थ मार्ग (अर्हत्) ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही अविद्या आदि क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं। बौद्ध विचारधारा में भी अविद्या को मूल क्लेश कहा जाता है। अविद्या के समूल विनष्ट हो जाने पर साधक जीवन-मरण रूपी संसार-चक्र से विमुक्त हो जाता है। उसका पुनर्भव नहीं होता। आयुःक्षय होने पर परम निर्वाण का लाभ हो जाता है।

योगदर्शन एवं बौद्धदर्शन का चरमलक्ष्य है सभी दुःखों से आत्यन्तिकी निवृत्ति। दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए अविद्या को समूल नष्ट करना तथा अविद्या को नष्ट करने के लिए मार्गज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक होता है। मार्गज्ञान प्राप्त करने के लिए विपश्यना-भावना की अनिवार्यता होती है, क्योंकि विपश्यना-भावना के द्वारा नामरूप (संस्कार) धर्मों का यथार्थज्ञान होने पर ही मार्गज्ञान की सम्भावना है।

विपश्यना ज्ञान– विपश्यना-भावना के प्रसंग में योगी को सत्यज्ञान (मार्गज्ञान) की प्राप्ति से पूर्व क्रमशः उच्च-उच्चतर १३ ज्ञानों की प्राप्ति होती है।

(१) नामरूपपरिच्छेद ज्ञान– जिसने ध्यान प्राप्त किया है, उस शमथयानिक को शुरू से ही सूक्ष्म 'नाम' धर्मों से भावना करनी चाहिए। निरन्तर अभ्यास (भावना) करते रहने पर उसे 'यह नाम है', 'यह रूप है', इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। जिसने ध्यान प्राप्त नहीं किया है, उसके लिए स्थूल 'रूप' से ही भावना का प्रारम्भ करना चाहिए। निरन्तर अभ्यास करने पर उसे भी 'यह रूप है', 'यह नाम है', इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार का ज्ञान ही 'नामरूपपरिच्छेद ज्ञान' कहलाता है।

(२) प्रत्ययपरिग्रह ज्ञान– नाम-रूप परिच्छेद ज्ञान होने अनन्तर जब आगे भावना की जाती है तो योगी को यह कारण (प्रत्यय) है, यह कार्य (फल) है, इसके होने पर यह होता है, रूप कारण है, नाम कार्य है, इस प्रकार कारण (प्रत्यय) के साथ नामरूपों का ज्ञान हो जाता है। इसे ही प्रत्यय-परिग्रह-ज्ञान कहते हैं।

(३) सम्मर्शन ज्ञान– नाम-रूप धर्मों का विमर्श करने वाला ज्ञान 'सम्मर्शन ज्ञान' कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है। यथा-कलाप सम्मर्शन, अध्वसम्मर्शन, सन्तति सम्मर्शन तथा क्षण सम्मर्शन। इनमें अतीत आदि के द्वारा विभाजन कर 'यह रूप समूह है', यह वेदना समूह है', यह संज्ञा समूह है'– इत्यादि प्रकार से विमर्श या विचार करने वाला ज्ञान 'कलाप सर्म्मशन ज्ञान' है। 'यह अतीतकालिक रूप-समूह (रूपस्कन्ध) है, यह वर्तमानकालिक रूप-समूह है, यह अनागतकालिक रूपसमूह है' इत्यादि प्रकार से पाँच स्कन्धों का काल की दृष्टि से विभाजन करके विचार करने वाला ज्ञान 'अध्वसम्मर्शन ज्ञान' है। एक जीवन (भव) में होने वाले रूपसमूह (रूपस्कन्ध) के प्रवाह (सन्तति) को देखकर यह शीतरूप सन्तति है, यह उष्ण रूप सन्तति है' इत्यादि प्रकार से सभी स्कन्ध-सन्तति का विचार-विमर्श करने वाला ज्ञान ही सन्ततिसम्मर्शन ज्ञान है। (एक प्रवाह के अन्तर्गत विद्यमान रूप आदि को) यह उत्पाद क्षण है, यह स्थिति क्षण है, यह विनष्ट (भंग) क्षण है' इत्यादि प्रकार से सभी नाम-रूप धर्मों का क्षण की दृष्टि से विचार-विमर्श करने वाला ज्ञान 'क्षण सम्मर्शन' कहलाता है।

(४) उदयव्ययज्ञान– जब योगी सम्मर्शन में अभ्यस्त हो जाता है, तब उसे नाम-रूप धर्मों के उत्पाद (उदय) एवं नाश (व्यय) का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् अभ्यास करते-करते योगी को नाम-रूप धर्मों का केवल उत्पाद (उदय) एवं नाश (भंगव्यय) ही दृष्टिगोचर होने लगता है। उसे नाम-रूप धर्मों का स्थितिक्षण दिखलाई नहीं देता, यह उदयव्ययज्ञान की अवस्था है। इस अवस्था में योगी को प्रकाश (अवभास) प्रीति, सुख आदि विपश्यना के विघ्न करने वाले उपक्लेश उत्पन्न होते हैं। योगी को इनसे बचना आवश्यक है, अन्यथा विपश्यना से उसके गिर जाने का भय है।

(५) भंगज्ञान– जब योगी उदय-व्यय ज्ञान द्वारा धर्मों के उदय एवं नाश (व्यय) की भावना करता है, तब अभ्यास करते-करते ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि योगी नाम-रूप धर्मों के उत्पाद-क्षण को पकड़ नहीं पाता है, क्योंकि नाम धर्मों का उत्पाद क्षण अत्यन्त शीघ्रता से घटित होता है। वह केवल उनके नष्ट (भंग) क्षण को ही देख पाता है, यह भंगज्ञान की अवस्था है।

(६) भयज्ञान– उन नाम-रूप धर्मों के केवल नाश (भंग) को ही देखने वाले योगी को ऐसा प्रतीत होता है कि नाम-रूप धर्मों का अतीत-काल में भी निरोध (भंग) हुआ था। वर्तमान काल में भी भंग हो रहा है। भविष्य (अनागत) काल में भी भंग होगा, इन नाम-रूप धर्मों के भंगज्ञान से योगी को भय उत्पन्न होता है, यह अभयज्ञान की अवस्था है।

(७-९) आदीनव ज्ञान, निर्वेदज्ञान, मुञ्चितुकाम्यता– नाम-रूप-धर्म भयोत्पादक धर्म हैं, इस प्रकार के भयज्ञान के उत्पाद के अनन्तर उन नाम-रूप धर्मों में दोष (आदीनव) देखने वाला 'आदीनव ज्ञान' उत्पन्न होता है। आदीनव ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर उन धर्मों

के प्रति संवेग 'निर्वेद' ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर उन धर्मों से छुटकारा चाहने वाले ज्ञान (मुञ्चितुकाम्यता ज्ञान) की उत्पत्ति होती है।

(१०) प्रतिसंख्याज्ञान– संस्कार (नाम-रूप) धर्मों के प्रति उनके अनित्यभाव, दुःख-भाव एवं अनात्मभाव को देखने वाला ज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान है। मुञ्चितुकाम्यता ज्ञान से यद्यपि वह (योगी) मुक्ति चाहता है, किन्तु वह संस्कार धर्मों से मुक्त नहीं हो पाता है। इस प्रतिसंख्या ज्ञान के द्वारा योगी मुक्त होने के लिए संस्कार धर्मों के अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों द्वारा पुनः पुनः भावना करता है, इस प्रकार की भावना करने वाला ज्ञान प्रतिसंख्याज्ञान है।

(११) संस्कारोपेक्षाज्ञान– प्रतिसंख्याज्ञान द्वारा संस्कार धर्मों को छोड़ देने के बाद उन संस्कार(नाम-रूप) धर्मों को भय, आदीनव आदि ज्ञानों द्वारा न देखकर योगी केवल उनकी उपेक्षा ही करता है। नाम रूप धर्मों की उपेक्षा करने में समर्थ ज्ञान 'संस्कारोपेक्षाज्ञान' है। उपेक्षा का तात्पर्य योगाभ्यास न करने से नहीं है। अनित्य आदि लक्षणों द्वारा भावना तो करता ही रहता है। किन्तु नाम-रूप धर्मों में न तो उसे अनुराग होता है और न भय, आदीनव (दोष) आदि होते हैं।

(१२) अनुलोमज्ञान– इस संस्कारोपेक्षा ज्ञान के अनन्तर योगी को सत्य ज्ञान (मार्ग एवं फल ज्ञान) की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान मार्ग एवं फल ज्ञान के अनुकूल है तथा उदयव्यय आदि नीचे के ज्ञानों के भी अनुरूप है इसलिए इसे 'अनुलोम ज्ञान' कहते हैं। यह अपने पूर्ववर्ती ज्ञानों की तरह संस्कार 'नाम-रूप' धर्मों का अनित्य आदि लक्षणों के द्वारा ही विपश्यना-भावना करता है।

(१३) गोत्रभूज्ञान– अनुलोम ज्ञान के अनन्तर प्रवृत्त चित्त को 'गोत्रभूचित्त' कहते हैं। यह चित्त निर्वाण का आलम्बन बनाकर उत्पन्न होता है। इसके द्वारा योगी साधारण मनुष्य (पुथुज्जन) गोत्र का अभिनव करके आर्य गोत्र में प्रविष्ट हो जाता है, इसलिए इसे 'गोत्रभूज्ञान' कहते हैं। यह गोत्रभूज्ञान निर्वाण का सर्वप्रथम द्रष्टा होने के कारण सत्यज्ञान (मार्ग-ज्ञान) का पूर्ववर्ती चित्त (आवर्जन चित्त) है। सत्यज्ञान (आर्यमार्गज्ञान) के पूर्वगामी उपर्युक्त सभी ज्ञान 'लौकिक ज्ञान' हैं। ये 'विपश्यनाप्रज्ञा' कहलाते हैं। तथा विपश्यना भूमि के ज्ञान भी कहलाते हैं।

गोत्रभूचित्त (गोत्रभूज्ञान) के निरोध होने के अनन्तर ४ कृत्यों को एक साथ उत्पन्न करने वाला मार्गचित्त उत्पन्न होता है। जिस प्रकार दीपक बत्ती को जलाना, अन्धकार को नष्ट करना, प्रकाश को उत्पन्न करना एवं तेल आदि को समाप्त करना-इन कृत्यों एक साथ सिद्ध करता है, उसी प्रकार मार्गचित्त भी दुःख सत्य का 'यह दुःख सत्य है, ये नाम-रूप सब दुःख ही हैं' इस प्रकार परिच्छेद करके जानना (परिज्ञाकृत्य), दुःख का कारण (समुदय) तृष्णा (समुदयसत्य) का प्रहाण करना (प्रहाण कृत्य), निरोध (निर्वाण) सत्य का

साक्षात्कार करना (साक्षात्क्रियाकृत्य) एवं मार्ग सत्य को स्वसन्तान में उत्पन्न करना (भावना-कृत्य)-इस प्रकार इन चार कृत्यों को एक साथ सम्पन्न करता है। योगी में निर्वाण का साक्षात् करने वाले मार्ग एवं फल चित्तों की प्रवृत्ति अतिशीघ्र घटित हो जाती है, अतः पूर्व दृष्ट निर्वाण तथा मार्ग एवं फल का पुनः विचार (आवर्जन) करने वाला (प्रत्यवेक्षण) ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रत्यवेक्षण पर्यन्त ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग रूपी स्रोतस् (प्रवाह) में सर्वप्रथम प्रवेश (प्राप्त) करने वाला पुद्गल (स्रोत-आपन्न पुद्गल) कहलाता है। यह पुद्गल नाम-रूप धर्मों में आत्मग्रह (सत्काय दृष्टि), बुद्ध, धर्म, संघ एवं आर्य मार्ग में संशय (विचिकित्सा) और अमार्ग को निर्वाण का मार्ग समझना (शीलव्रतपरामर्श) नामक तीन बन्धनों (संयोजनों) से विमुक्त हो जाता है। उनका जीवन दुर्गति (अपाय) में कभी नहीं जाता। वह संसार (कामभूमि) में अधिक से अधिक सात बार जन्म लेता है। इस बीच वह अर्हत् होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यही दर्शनमार्ग है।

प्रथम लोकोत्तरज्ञान (मार्गज्ञान) से सम्पन्न योगी में सम्यग्दृष्टि आदि आठ अंग उत्पन्न हो जाते हैं, अतः इसे 'मार्ग ज्ञान' कहते हैं। इस प्रकार के ज्ञान को योगदर्शन में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहते हैं। पतञ्जलि ने सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है।[1] मिथ्या ज्ञान (मिथ्या दृष्टि) का प्रहाण कर सम्यक् ज्ञान (सम्यग्दृष्टि) को धारण करना 'मार्ग ज्ञान' है। यही ऋतम्भरा प्रज्ञा है।

वह आर्य (स्रोतापन्न) पुद्गल यदि शेष क्लेशों के प्रहाण के लिए एवं ऊपर के मार्गज्ञान एवं फलज्ञान की प्राप्ति के लिए भावना (साधना) करना चाहता है तो उसे अपने शरीर (स्कन्ध) में होने वाले नाम-रूप धर्मों (उपादान स्कन्धों) को ध्येय बनाकर भावना करनी चाहिए। उनको ऊपर कथित १२ विपश्यना ज्ञानों में से उदयव्ययज्ञान से गोत्रभूज्ञान तक उत्पन्न करने के अनन्तर द्वितीय मार्ग एवं फल ज्ञान की उत्पत्ति होती है। मार्ग ज्ञान होने पर वह एक बार संसार (कामभूमि) में जन्म लेने वाला (सकृदागामी) आर्यपुद्गल कहलाता है। इनकी सन्तान में स्थूल कामविषयक इच्छा (कामराग = लोभ), द्वेष (व्यापाद) का उपशम हो जाता है, अतः वह इस संसार (कामभूमि) में एक से अधिक बार जन्म नहीं ले सकता। यह भावनामार्ग है।

वह सकृदागामी आर्यपुद्गल भी आगे के मार्ग एवं फल ज्ञान के लिए नाम-रूप संस्कार धर्मों को प्रज्ञा द्वारा देखता है (विपश्यना करता है) तो उसमें भी उदयव्यय ज्ञान से गोत्रभूज्ञान तक उत्पन्न होने के अनन्तर तृतीय मार्ग एवं फलज्ञान उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर वह संसार (कामभूमि) में फिर नहीं आने वाला आर्यपुद्गल (अनागामी) कहलाता है। उसने काम, द्वेष का अशेष प्रहाण किया है, अतः वह इस भूलोक (काम भूमि) में पुनः

---

१. यो. सू.-१:४८।

उत्पन्न न होकर ब्रह्मलोक में ही उत्पन्न होता है तथा वहीं अर्हत् होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

वह (अनागामी) आर्य भी अन्तिम मार्ग एवं फल ज्ञान के लिए नाम-रूप (संस्कार) धर्मों को प्रज्ञा से देखता (विपश्यना-भावना करता) है तो उपर्युक्त उदयव्ययज्ञान से गोत्रभूज्ञान तक उत्पन्न होने के अनन्तर अन्त में चतुर्थ मार्ग एवं फल ज्ञान होता है। उसको अब कुछ सीखना नहीं है, अतः यह अशैक्ष मार्ग है। यह क्लेशों का हनन (नाश) करने वाला अर्हत् आर्य पुद्‌गल कहलाता है। अर्हत् पुद्‌गल में रूपराग (रूपतृष्णा) अरूपराग (अरूपतृष्णा), मान, अविद्या आदि सभी क्लेश प्रहीण हो जाते हैं। फलतः अर्हत् का पुनः भव नहीं होता। पुनः भव न होने से जन्म-मरण आदि समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। इस जीवन में ही आयुःक्षय होने पर परम निर्वाण का लाभी होता है। यही स्थविरवादी बौद्धों का चरमलक्ष्य है।

जब योगी को चतुर्थ (अन्तिम) मार्ग एवं फल ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उनके लिए जीवन के कोई कृत्य शेष नहीं रहता है। अविद्या आदि क्लेश या संस्कार (अनुशय) सदा के लिए समूल नष्ट हो जाते हैं। योग-दर्शन में इस अवस्था को 'धर्ममेघ समाधि' कहते हैं। यह ठीक भी है। जब योगी जीवनमुक्त हो जाता है तो जन्म-मरण चक्र से छुटकारा पा जाता है। विवेक ज्ञान के उदय होने पर योगी का क्लेशों के बन्धनों से मुक्त हो जाना स्वाभाविक ही है। सम्प्रज्ञातसमाधि की ऊँची स्थिति को 'विवेकख्याति' कहते हैं। विवेकख्याति की अवस्था परिपक्व होने पर क्लेश, कर्म, कर्माशय (संस्कार-अनुशय) की समूल निवृत्ति होती है।[1]

समस्त विषयों से रागरहित होकर ध्येय पर एकाग्र होना सम्प्रज्ञातसमाधि कही जाती है, जिसकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है। विवेकख्याति की अवस्था स्थायी होने पर धर्ममेघ समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था में क्लेश नष्ट नहीं होते, अपितु शान्त हो जाते हैं, यदि ध्येय वस्तु से चित्त विचलित हो जाता है तो क्लेश पुनः उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अभी क्लेशों का मूल संस्कार या कर्माशय (अनुशय) नष्ट नहीं हुआ है। धर्ममेघ समाधि में ही क्लेश समूल नष्ट होते हैं, पुनः उत्पाद के लिए कोई बीज शेष नहीं रहता। इसी प्रकार बौद्ध साधना में भी यद्यपि रूपावचर और अरूपावचर ध्यान (समाधि) की अवस्था में चित्त के ध्येय आलम्बन पर एकाग्र हो जाने से उसमें रागादि क्लेश नहीं होते हैं, तथापि यदि चित्त ध्येय से हटकर दूसरे विषयों पर चला जाता है तो क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि क्लेश का मूल (जड़) विद्यमान रहता है। केवल समाधि के बल से वे क्लेश उदित नहीं हो पाते। इसलिए जो धर्म क्लेशों को शान्त (उपशम) करता है, उसे समाधि कहते हैं। समाधि

---

१. यो.सू.-४-२६-३०।

लाभ से क्लेशों का शमन तो होता है, किन्तु उनका समूल नाश नहीं होता। मार्ग ज्ञान से ही क्लेशों का नाश होता है इसलिए बौद्ध साधना में अर्हत् पद प्राप्त योगी और योग-दर्शन में धर्ममेघ समाधि प्राप्त योगी को जीवनमुक्त कहते हैं। वह जो कुछ कर्म करता है वह पाप या पुण्य कर्म नहीं है। उसका कोई कर्मफल (विपाक) देने वाला नहीं है, अतः उस योगी के कर्म को बौद्ध परिभाषा में 'क्रियामात्र' कहते हैं। जो करना मात्र है जिसका कोई फल नहीं है, वह कर्म 'क्रिया' कहलाता है। संसार का कारण अविद्या और तृष्णा के नष्ट हो जाने से उसे पुनर्जन्म भी लेना नहीं है। उनके लिए कोई कृत्य शेष नहीं है, अतः वह 'कृतकृत्य' आर्यपुद्गल कहा जाता है।

निरोधसमापत्ति- इस लोक में पुनः नहीं आने वाला आर्य (अनागामी) पुद्गल तथा जीवनमुक्त आर्य (अर्हत्) पुद्गल-ये दोनों ही निरोध समापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं। उपर्युक्त अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल भी समाधि प्रकरण में वर्णित (आठ या नव) ध्यानों को प्राप्त करने वाला होना चाहिए। अर्थात् ध्यान प्राप्त अनागामी एवं अर्हत् ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं। योग दर्शन की परिभाषा में सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होने के बाद ही योगी सभी वृत्तियों के निरोध स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर सकता है।

जब योगी प्रज्ञा भावना (विपश्यना) से सत्यज्ञान (मार्गज्ञान) प्राप्त करता है, उस समय वह निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। किन्तु वह साक्षात्कार स्थायी नहीं होता क्षण-मात्र के लिए होता है, क्योंकि मार्ग ज्ञान की अवस्था ही क्षण मात्र रहती है। जब वही आर्य अनागामी एवं अर्हत् हो जाता है तो मार्ग अवस्था में साक्षात्कृत निरोध (निर्वाण) को अपनी सन्तान में पुनः उत्पन्न करना चाहता है। नामरूपात्मक इस शरीर को धारण करके रहना अनागामी और अर्हत् के लिए बहुत भारस्वरूप प्रतीत होता है। वे कभी-कभी नामरूप (संस्कारों) से निवृत्त होकर रहना चाहते हैं। वे नामरूप (संस्कारों) के अनुत्पाद (निरोध) की अवस्था को परम शान्ति मानते हैं। अतः वे पहले प्राप्त ध्यानों को अपनी सन्तान में उत्पन्न करके अपने चित्त को किसी विषय में न रखकर रोक लेते हैं। चित्त बिना आलम्बन के कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः समाधि के बल से किसी विषय (आलम्बन) को ग्रहण न कर वे चित्तवृत्ति को रोक लेते हैं। आलम्बन (विषय) के न होने पर चित्त से उत्पन्न रूप (चित्तजरूप) भी निरुद्ध हो जाते हैं। इसे 'निरोध समापत्ति' कहते हैं। योगी निरोध समापत्ति में अधिक से अधिक एक सप्ताह तक रह सकता है। निरोध समापत्ति की अवस्था में चित्त-चैतसिक एवं चित्त से उत्पन्न रूप (चित्तजरूप) के निरुद्ध हो जाने के कारण उस योगी के सन्तान में रागादि क्लेश निरुद्ध हो जाते हैं। अपने पूर्व निर्धारित समय के पूर्ण होने पर अपने चित्त को पुनः उत्पन्न कर लेते हैं। निरोध समापत्ति की अवस्था में केवल कर्म से उत्पन्न रूप (कर्मजरूप), आहार से उत्पन्न रूप (आहारजरूप) तथा ऋतु

से उत्पन्न रूप (ऋतुजरूप) रह जाते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि मृत व्यक्ति और निरोध समापत्ति का समावर्जन करने वाले व्यक्ति में क्या अन्तर है? मृत व्यक्ति का आश्वास-प्रश्वास (काय संस्कार), वितर्क-विचार (वाक् संस्कार) तथा संज्ञा-वेदना (चित्त संस्कार) निरुद्ध हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं, आयु क्षीण हो जाती है, ऊष्मा शान्त हो जाती है तथा इन्द्रियाँ उच्छिन्न हो जाती हैं। निरोध समापत्ति का समावर्जन करने वाले योगी का भी आश्वास-प्रश्वास (काय संस्कार) वितर्क-विचार (वाक् संस्कार) तथा संज्ञा, वेदना (चित्त संस्कार) निरुद्ध हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं, किन्तु आयु क्षीण नहीं होती, ऊष्मा शान्त नहीं होती तथा इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं।[1] वस्तुतः योगी वर्तमान जीवन में भी शान्ति से रहना चाहता है अर्थात् निर्वाण को आलम्बन बनाकर सुखपूर्वक रहना चाहता है, अतः वह निरोध समापत्ति का समावर्जन कर विहार करता है।

योग-दर्शन में इस अवस्था (समापत्ति) को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं सम्प्रज्ञात समाधि में सभी वृत्तियों का निरोध नहीं होता। असम्प्रज्ञात समाधि में ही समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, केवल संस्कार मात्र शेष रहते हैं। इस अवस्था में योगी चित्तवृत्तियों को उदय करने में असमर्थ होता है। केवल स्वरूप मात्र ही शेष रहता है। चित्त की यह अवस्था परम वैराग्य के अभ्यास से प्राप्त होती है। इस अवस्था को ही असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधि कहा जाता है।[2] परम वैराग्य ही समस्त वृत्तियों के निरोध का कारण भी है। निरोध समाधि में समस्त वृत्तियों का निरोध होने पर संस्कारों का निरोध नहीं होता। यह संस्कार भी निरोध संस्कार है। यह वृत्तियों को समाप्त करने वाला है। असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्ण अवस्था ही निर्बीज समाधि है।[3] इस अवस्था में परवैराग्य के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का भी निरोध हो जाता है तथा सभी संस्कार निरुद्ध हो जाने से इस अवस्था को निर्बीज समाधि कहते हैं।

सप्तविशुद्धियाँ– विशुद्धियाँ सात होती हैं। यथा- शीलविशुद्धि, चित्त-विशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदा-ज्ञानदर्शनविशुद्धि तथा ज्ञानदर्शनविशुद्धि। इनमें से योगी जब सदाचार (शील) से सम्पन्न रहता है। तब उनका सदाचार (शील) परिशुद्ध कहा जाता है। अतः उस योगी का निर्मल सदाचार 'शीलविशुद्धि' कहलाता है। योगी का चित्त समाहित होने पर राग-द्वेष आदि क्लेश उत्पन्न नहीं होते हैं, अतः समाधिस्थ योगी का चित्त 'निर्मल चित्त' या 'चित्तविशुद्धि' कहलाता है। अर्थात् क्लेशों से चित्त की परिशुद्धि को ही चित्तविशुद्धि कहते हैं। 'यह आलम्बन की ओर अभिमुख (नमन) करने वाला 'नाम' है तथा यह भौतिक द्रव्य रूप है'-इस प्रकार नामरूप धर्मों को परिच्छेद

---

१. म. महावेदल्लसुत।

२. 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः'- यो. १:१८।

३. 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'-१:५१।

करके जानने वाला योगी का ज्ञान (दृष्टि) विशुद्ध होता है। अथवा- 'रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-इन पांच स्कन्धों से अतिरिक्त 'आत्मा' नामक कोई धर्म नहीं है' इस प्रकार का ज्ञान आत्मग्रह या आत्मोपादान नामक मल से विशुद्ध होने के कारण 'ज्ञान (दृष्टि) विशुद्धि' कहलाता है। मैं अतीत में था कि नहीं ? या सर्वज्ञ बुद्ध हुए कि नहीं ? इत्यादि प्रकार के सन्देहों के विनाश से होने वाली विशुद्धि, 'कांक्षावितरण विशुद्धि' कहलाती है। निर्वाण प्राप्त करने के मार्ग तथा अमार्ग को जानने वाला ज्ञान ही 'मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहलाता है। मार्गज्ञान तथा फलज्ञान प्राप्त करने में कारणभूत उपाय (प्रतिपदा) को जानने वाला ज्ञान ही 'प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहलाता है, चार आर्यसत्यों को जानने वाला ज्ञान ही 'ज्ञानदर्शन विशुद्धि' कहलाता है।

उपर्युक्त सात विशुद्धियों में से सदाचार की परिशुद्धि (शीलविशुद्धि तथा निर्मल चित्त (चित्तविशुद्धि) ही सब विशुद्धियों के मूल हैं। यदि ये दो विशुद्धियाँ नहीं प्राप्त होतीं, तो शेष विशुद्धियों का उत्पाद सम्भव नहीं है। अतः योगी में सर्वप्रथम सदाचार की परिशुद्धि (शीलविशुद्धि) होना चाहिए तथा चित्त को क्लेशमलों से विशुद्ध होना चाहिए। अर्थात् समाधिस्थ (चित्तविशुद्धि) होना चाहिए। सदाचार और चित्तविशुद्धि हो जाने पर ही प्रज्ञा-भावना (विपश्यना) करनी चाहिए। प्रज्ञा-भावना के नाम और रूप का पृथक्-पृथक् ज्ञान (नामरूप-परिच्छेद ज्ञान) होने पर दृष्टिविशुद्धि होती है। नामरूप धर्मों के कार्यकारणभाव का ज्ञान (प्रत्यय-परिग्रहज्ञान) उत्पन्न होने पर शंकाओं से विशुद्धि (कांक्षवितरण विशुद्धि) होती है। नाम-रूप धर्मों का विचार-विमर्श करने वाला ज्ञान (सम्मर्शन ज्ञान) तथा नाम-रूप के उत्पाद और भंग स्वभाव का ज्ञान (उदयव्ययज्ञान) होने पर ही 'यह निर्वाण का साक्षात्कार करने वाला मार्ग है या यह अमार्ग है'- ऐसा ज्ञान (मार्गामार्गज्ञानविशुद्धि) उत्पन्न होता है। नाम-रूप के उत्पाद-भंग स्वभाव के ज्ञान (उदयव्ययज्ञान) की परिपक्व अवस्था, नामरूप धर्मों के नाशस्वभाव का ज्ञान (भंगज्ञान), भयज्ञान, दोष देखने वाला (आदीनव) ज्ञान, निर्वेदज्ञान, नामरूप धर्मो से मुक्ति पाने की इच्छा वाला (मुञ्चितुकाम्यता) ज्ञान, संस्कार (नामरूप) धर्मों के अनित्य स्वभाव, दुःखस्वभाव तथ अनात्म-स्वभाव को जानने वाला (प्रतिसंख्या) ज्ञान, संस्कर (नाम-रूप) धर्मो को छोड़ने की इच्छा से उपेक्षा करने वाला (संस्कारोपेक्षा) ज्ञान तथा उत्पन्न हुए नामरूपों के परिच्छेद का ज्ञान आदि तथा आगे होने वाले सत्य (मार्ग) के अनुरूप (अनुलोम) ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही 'प्रतिपदाज्ञान दर्शन विशुद्धि' उत्पन्न होती है। निर्वाण का साक्षात्कार करने वाले गोत्रभूज्ञान तथा मार्गज्ञान के उत्पन्न होने पर 'ज्ञानदर्शन विशुद्धि' होती है। ज्ञानदर्शन विशुद्धि में कोई विपश्यना ज्ञान नहीं होता, क्योंकि निर्वाण का आलम्बन करने से नामरूप (संस्कार) धर्मों को अनित्य, दुःख एवं अनात्मा की दृष्टि से नहीं देखा जाता अर्थात् नामरूपों की भावना नहीं होती है।

विशुद्धि और ज्ञान

१.	शीलविशुद्धि	शील
२.	चित्तविशुद्धि	समाधि
३.	दृष्टिविशुद्धि	नामरूपपरिच्छेदज्ञान
४.	कांक्षावितरणविशुद्धि	प्रत्ययपरिग्रहज्ञान
५.	मार्गामार्गज्ञानविशुद्धि	सम्मर्शनज्ञान
		उदयव्ययज्ञान
		भंगज्ञानं
		भयज्ञान
		आदीनवज्ञान
६.	प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि	निर्वेदज्ञान
		मुञ्चतुकाम्यताज्ञान
		प्रतिसंख्याज्ञान
		संस्कारोपेक्षाज्ञान
		अनुलोमज्ञान
७.	ज्ञानदर्शनविशुद्धि	गोत्रभू ज्ञान
		मार्गज्ञान दर्शनमार्ग

विमोक्ष- क्लेश धर्मों से युक्त मार्ग एवं फल को 'विमोक्ष' कहते हैं। इस मार्ग एवं फल नामक विमोक्ष में प्रवेशद्वार की भांति होने से विविध प्रकार से देखने वाली प्रज्ञा (व्युत्थानगामिनी विपश्यना) 'विमोक्ष मुख' कहलाती है। यह तीन प्रकार की होती है। यथा-शून्यतानुपश्यना, अनिमित्तानुपश्यना तथा अप्रणिहितानुपश्यना। संस्कार (नामरूप) धर्मों को अनित्य और दुःख और अनात्मक के रूप में देखने को 'अनुपश्यना' कहते हैं। यदि योगी संस्कार धर्मों को अनात्मा के रूप में देखता है, तो उस प्रकार का देखना (अनुपश्यना) आत्मा में दृढ़ विश्वास (आत्माभिनिवेश) का त्याग करने में समर्थ होता है। अतः इस प्रकार की अनुपश्यना (अनात्मानुपश्यना) शून्यतानुपश्यना नामक 'विमोक्ष मुख' कही जाती है। अनित्य स्वभाव वाले नाम-रूप (संस्कार) धर्मों को नित्य समझने वाली संज्ञा, चित्त और दृष्टि को 'विपर्यास' कहते हैं। इन संज्ञा, चित्त और दृष्टि को क्लेश धर्मों की उत्पत्ति के कारण या निमित्त होने के कारण (विपर्यास निमित्त) भी कहते हैं। यदि योगी संस्कार धर्मों को अनित्य के रूप में देखता है, तो उसका उस प्रकार का देखना (अनुपश्यना) विपर्यासनिमित्त का त्याग करने में समर्थ होता है। अतः इस प्रकार की अनुपश्यना (अनित्यानुपश्यना) अनिमित्तानुपश्यना नामक 'विमोक्ष मुख' कहलाती है। संस्कार धर्मों में ही

चित्त को दृढ़तापूर्वक रखने वाली या उनकी अभिलाषा करने वाली तृष्णा 'तृष्णाप्रणिधि' कहलाती है। यदि योगी संस्कार धर्मों को दुःख के रूप में देखता है तो उसका उस प्रकार का देखना (अनुपश्यना) तृष्णा-प्रणिधि का त्याग करने में समर्थ होता है, अतः इस प्रकार की अनुपश्यना (दुःखानुपश्यना) 'अप्रणिहितानुपश्यना, नामक 'विमोक्ष मुख' कहलाती है। यदि योगी संस्कार धर्मो को अनात्म के रूप में देखते हुए (विपश्यना करते हुए) मार्ग ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो यह मार्ग 'शून्यताविमोक्ष' कहलाता है। यदि योगी संस्कार धर्मों को अनित्य के रूप में देखते-देखते मार्ग ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो वह मार्ग ज्ञान 'अनिमित्तविमोक्ष' कहलाता है। यदि योगी संस्कार धर्मों को दुःख के रूप में देखते-देखते (विपश्यना करते हुए) मार्ग ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह मार्ग ज्ञान 'अप्रणिहित विमोक्ष' कहलाता है। इस प्रकार विपश्यना के त्रिविध होने से मार्ग भी तीन प्रकार का हो जाता है। उसी प्रकार मार्गज्ञान के अनन्तर उत्पन्न फल ज्ञान के अनुसार ही शून्यता आदि विमोक्ष होते हैं। श्रद्धा-आधिक्य योगी प्रायः अनित्यता की विपश्यना करने वाला होता है। समाधि-आधिक्य योगी प्रायः दुःख की विपश्यना करने वाला होता है। तथा प्रज्ञा-आधिक्य योगी प्रायः अनात्म की विपश्यना करने वाला होता है। अतः श्रद्धा समाधि और प्रज्ञा- इन तीनों इन्द्रियों के भेद से मार्ग एवं फल क्रमशः अनिमित्तविमोक्ष, अप्रणिहितविमोक्ष तथा शून्यताविमोक्ष होते हैं।

मार्ग एवं फलज्ञान प्राप्त योगी का आलम्बन निर्वाण है। यदि योगी का मार्ग एवं फल अनिमित्तवविमोक्ष होता है तो उसका आलम्बन भूत निर्वाण भी 'अनिमित्त' कहा जाता है। उसी प्रकार मार्ग एवं फलज्ञान अप्रणिहित विमोक्ष अथवा शून्यता विमोक्ष होता है तो उसका आलम्बन निर्वाण भी अप्रणिहित अथवा शून्य कहा जाता है। मार्ग एवं फल ज्ञान अपने स्वभाव से भी शून्यताविमोक्ष होते हैं। यथा-मार्ग एवं फल राग आदि क्लेशों से सर्वथा रहित (शून्य) होते हैं। संस्कार निमित्त का आलम्बन न कर सर्वथा निर्वाण का ही आलम्बन करने के कारण वे स्वभावतः अनिमित्तविमोक्ष ही होते हैं तथा राग आदि क्लेशों की अभिलाषा न करने के कारण वे स्वभावतः अप्रणिहितविमोक्ष ही होते हैं।

यहाँ योगी नाम-रूप संस्कार धर्मों के प्रति केवल अनित्य या दुःख या अनात्म की भावनामात्र से मार्ग एवं फल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु उसे संस्कार धर्मों की अनित्य, दुःख एवं अनात्म-इन तीन स्वभावों (लक्षणों) से विपश्यना-भावना करनी पड़ती है। मार्ग प्राप्ति के पूर्व-क्षण में यदि संस्कार धर्मों के अनित्य स्वभाव को देखता है तो वह मार्ग एवं फल अनिमित्तविमोक्ष कहलाता है। यदि मार्ग प्राप्ति के पूर्व-क्षण में संस्कार धर्मों को दुःख स्वभाव अथवा अनात्म स्वभाव देखता है तो वह मार्ग एवं फल अप्रणिहित अथवा शून्यताविमोक्ष कहलाता है।

●

वैभाषिक दर्शन
(सर्वास्तिवाद)

इनका बहुत कुछ साहित्य नष्ट हो गया है। इनका त्रिपिटक संस्कृत में था। इनके अभिधर्म में प्रमुख रूप में सात ग्रन्थ हैं, जो प्रायः मूल रूप में अनुपलब्ध हैं या आंशिक रूप में उपलब्ध हैं। चीनी भाषा में इनका और इनकी विभाषा टीका का अनुवाद उपलब्ध है। वे सात ग्रन्थ इस प्रकार हैं-ज्ञानप्रस्थान, प्रकरणपाद, विज्ञानकाय, धर्मस्कन्ध, प्रज्ञप्तिशास्त्र, धातुकाय एवं संगीतिपर्याय। वैभाषिक और सर्वास्तिवादी दोनों अभिधर्म को बुद्धवचन मानते हैं।

विभाषा को प्रमाण मानने वाले वैभाषिकों के अलावा भी अन्य प्रकार के सर्वास्तिवादी विद्यमान थे। वैभाषिकों का एक प्रमुख केन्द्र कश्मीर था, अतः इनको 'कश्मीर-वैभाषिक' कहते हैं। कश्मीर के बाहर के जो सर्वास्तिवादी थे वे 'बहिर्देशक', कश्मीर से पश्चिम के सर्वास्तिवादी 'पाश्चात्त्य' एवं 'अपरान्तक' कहलाते थे। अभिधर्मकोश में अभिधार्मिकों के मत का भी उल्लेख है, जो सर्वास्तिवादी हैं, किन्तु विभाषा को प्रमाण नहीं मानते।

सर्वास्तिवादी मत के प्रतिपादक अभिधर्मकोश, अभिधर्मदीप एवं अभिधर्मामृत आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें अभिधर्मकोश ही सबसे अधिक प्रामाणिक, विस्तृत एवं पूर्णरूप में उपलब्ध है। इसके रचयिता आचार्य वसुबन्धु हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ में कश्मीर वैभाषिक मतानुसार अभिधर्म का व्याख्यान किया है। वैभाषिक ग्रन्थ की रचना करने पर भी परम्परानुसार वसुबन्धु को वैभाषिक नहीं माना जाता, अपितु उन्हें सौत्रान्तिक माना जाता है। ग्रन्थ में भी यत्र-तत्र उनका झुकाव सौत्रान्तिक मत की ओर अभिलक्षित होता है। वे अभिधर्म के स्थान पर सूत्र को ही प्रमाण मानते हैं। अभिधर्मकोश बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। बौद्ध संसार पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसकी अनेक व्याख्याएं है। चीनी और तिब्बती भाषा में भी इसका अनुवाद उपलब्ध है।

सौत्रान्तिक पक्षपाती होने के कारण इन्होंने अपने ग्रन्थ में जगह-जगह वैभाषिक मत की आलोचना की है। अतः संघभद्र ने अपने 'न्यायानुसार' नामक ग्रन्थ में इसका खण्डन किया और वैभाषिक मत की प्रस्थापना की है। न्यायानुसार ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

परिभाषा

सर्वास्तिवाद शब्द में 'सर्व' का अर्थ तीनों काल तथा 'अस्ति' का अर्थ द्रव्यसत्ता है। अर्थात् जो निकाय तीनों कालों में धर्मों की द्रव्यसत्ता करते हैं, वे सर्वास्तिवादी हैं **(तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादा इष्टाः-अभिधर्मकोशभाष्य)**। परमार्थ के अनुसार जो अतीत,

अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध-इन सबका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वे सर्वास्तिवादी हैं। वसुबन्धु कहते हैं कि जो प्रत्युत्पन्न और अतीत कर्म के उस प्रदेश (हिस्से) को, जिसने अभी फल नहीं दिया है, उसे सत् मानते हैं तथा अनागत और अतीत कर्म के उस प्रदेश (हिस्से) को, जिसने फल प्रदान कर दिया है, उसे असत् मानते हैं, वे विभज्यवादी हैं, न कि सर्वास्तिवादी। उनके मतानुसार जिनका वाद यह है कि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न सबका अस्तित्व है, वे सर्वास्तिवादी हैं। सर्वास्तिवादी आगम और युक्ति के आधार पर तीनों कालों की सत्ता सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि सूत्र में भगवान् ने अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न तीनों कालों में होनेवाले रूप आदि स्कन्धों की देशना की है (रुपमनित्यमतीतमनागतम्, इत्यादि)। युक्ति प्रस्तुत करते हुए वे कहते है कि अतीत, अनागत की सत्ता न होगी तो योगी में अतीत, अनागत विषयक ज्ञान ही उत्पन्न न हो सकेगा, जबकि ऐसा ज्ञान होता है तथा यदि अतीत नहीं है तो अतीत कर्म अनागत में कैसे फल दे सकेगा ? अर्थात् नहीं दे सकेगा। अतः इन और अन्य अनेक युक्तियों के आधार पर सिद्ध होता है कि अतीत, अनागत की सत्ता है।

सर्वास्तिवादियों के नयभेद

इस निकाय के चार नयभेद प्रसिद्ध हैं, यथा- भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, अवस्थान्यथिक एवं अन्यथान्यथिक।

(१) भदन्त धर्मत्रात भावान्यथात्ववादी हैं। इनके मतानुसार तीनों कालों में गमन करनेवाले धर्मों के भाव में अन्यथात्व होता है, द्रव्य में नहीं। जैसे सोने (स्वर्ण) को गलाकर दूसरा आभूषण बनाने पर केवल संस्थान (आकार) में परिवर्तन (अन्यथात्व) होता है, वर्ण में नहीं तथा जैसे दूध का दही के रूप में परिणाम होने पर केवल दूध के रस, वीर्य एवं विपाक में परिवर्तन होता है, वर्ण में नहीं। इसी तरह धर्म जब अनागत से वर्तमान में आते हैं, तब अनागत भाव का त्याग करते हैं, द्रव्य भाव का नहीं। इसी तरह प्रत्युत्पन्न से अतीत में गमन करते समय भी प्रत्युत्पन्न भाव का त्याग करते हैं, द्रव्यभाव का नहीं। द्रव्य अनन्य (अभिन्न) ही रहता है।

(२) भदन्त घोषक लक्षणान्यथात्ववादी हैं। इनके मतानुसार धर्म जब कालों (अध्वों) में प्रवृत्त होता है, तब अतीत धर्म यद्यपि अतीत लक्षण से युक्त होता है, फिर भी अनागत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से वह अवियुक्त रहता है। अनागत धर्म अनागत लक्षण से युक्त होता है, किन्तु अतीत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से वियुक्त नहीं होता। इसी तरह वर्तमान भी अतीत, अनागत लक्षणों से अवियुक्त रहता है। जैसे एक पुरुष किसी एक स्त्री में अनुरक्त रहने पर भी अन्य स्त्रियों में अविरक्त रहता है।

(३) भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथात्ववादी हैं। कालों (तीनों अध्वों) में प्रवृत्त हो रहे धर्म

भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त कर भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट होते हैं उनके द्रव्यत्व में भेद नहीं होता। अर्थात् अवस्था के अन्यथात्व से अध्वभेद होता है, न कि द्रव्य के अन्यथात्व से। जैसे एक अंक में निक्षिप्त गुलिका (गोली) एक कही जाती है, दश अंक में, सौ अंक में, सहस्र अंक में निक्षिप्त गुलिका दश, शत या सहस्र कहलाती है।

(४) भदन्त बुद्धदेव अन्यथान्यथात्ववादी हैं। इनके मतानुसार अध्वों में प्रवर्तमान धर्म पूर्व, पर की अपेक्षा से अन्य निर्दिष्ट होते हैं, द्रव्यान्तर की वजह से नहीं। अर्थात् धर्म अपेक्षावश संज्ञान्तर (अन्य नाम) ग्रहण करते हैं, द्रव्यान्तर नहीं होता। जैसे एक ही स्त्री अपने पिता की अपेक्षा से पुत्री है और पुत्रों की अपेक्षा से माता भी है।

वसुबन्धु के अनुसार प्रथम पक्ष एक प्रकार का परिणामवाद ही है, अतः उसे सांख्यमत में निक्षिप्त करके जैसे सांख्यों का खण्डन किया जाता है, वैसे ही खण्डन करना चाहिए। दूसरे पक्ष में कालमिश्रण (अध्वसङ्कर) होता है, क्योंकि तीनों लक्षणों का योग होता है। एक पुरुष में किसी स्त्री के प्रति राग का समुदाचार होता है और अन्य स्त्रियों में केवल राग की प्राप्ति होती है-इसमें साम्य क्या है ? चतुर्थ पक्ष में भी तीनों अध्व (काल) एक ही अध्व में प्राप्त होते है। एक ही अतीत अध्व में पूर्व, अपर क्षण की व्यवस्था है, यथा-पूर्व क्षण अतीत है, पश्चिम अनागत है, मध्यम क्षण प्रत्युत्पन्न है। इन सब में तृतीय अवस्थान्यथिक पक्ष, जो भदन्त वसुमित्र का है, वही शोभन या उत्तम है, जिसके अनुसार कारित्र की वजह से अध्व की व्यवस्था की जाती है। जो धर्म अपना कारित्र नहीं करता, वह अनागत है। जब वह अपना कारित्र करता है, तब वह प्रत्युत्पन्न है। जब कारित्र से उपरत हो जाता है, तब वह अतीत है।

धर्मप्रविचय

वैभाषिकों के मतानुसार धर्म वे हैं, जो स्वलक्षण धारण करते हैं। धर्म पुष्पों के समान बिखरे हुए हैं, उनका वर्गीकरण किया जाता है, विभाग किया जाता है। यह प्रक्रिया 'धर्मप्रविचय' कहलाती हैं। धर्मप्रविचय काल में प्रज्ञा यह कार्य सम्पन्न करती है, अतः प्रज्ञा ही 'धर्मप्रविचय' है। यही परम ज्ञान है और इसी से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। जैसे वैशेषिक दर्शन में तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि मानी जाती है और पदार्थों के साधर्म्य, वैधर्म्य ज्ञान से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। तदनन्तर निदिध्यासन से आत्मसाक्षात्कार और मिथ्याज्ञान आदि के नाश से मोक्ष माना जाता है। उसी प्रकार अभिधर्म के द्वारा स्वलक्षण, सामान्यलक्षण का परिज्ञान होता है। धर्मप्रविचय के अलावा क्लेशों के उपशम का अन्य उपाय नहीं है और क्लेशों की वजह से जीव दुःखमय संसार में निरन्तर भ्रमण करते हैं, अतः धर्मप्रविचय अर्थात् लौकिक, लोकोत्तर प्रज्ञा के उत्पाद के लिए भगवान् बुद्ध ने

करुणापूर्वक अभिधर्म की देशना की है, जिससे धर्मप्रविचय करके विनेय जन अपने क्लेशों का प्रहाण कर निर्वाण प्राप्त कर सकें। वैभाषिक धर्मों का अनेक प्रकार से विभाजन करते हैं, क्योंकि इसके द्वारा ही धर्मों (पदार्थों) का यथार्थ ज्ञान सम्भव होता है। इसीलिए वे विभज्यवादी भी कहलाते हैं। पदार्थों के विभाजन के उनके अन्य प्रकार निम्नलिखित हैं :

सास्रव-अनास्रव

आर्य मार्ग नानक धर्म भी संस्कृत हैं, किन्तु उन्हें छोड़कर अवशिष्ट सभी संस्कृत सास्रव हैं। वे सास्रव इसलिए हैं, क्योंकि आस्रव उन पर प्रतिष्ठित (स्थित) होकर पुष्टि-लाभ करते हैं। आस्रव 'मलों' को कहते हैं। अनुशय 'आस्रव' हैं। चित्तसन्तति में ये इतने सूक्ष्म रूप से अनुशयन करते हैं कि उनका ज्ञान ही नहीं हो पाता, इसलिए वे 'अनुशयन' कहलाते हैं। छह आयतन रूपी व्रणों से जो भवाग्र से लेकर अवीचि पर्यन्त क्षरित होते हैं, वे 'आस्रव' हैं। मार्गसत्य और तीन असंस्कृत धर्म 'अनास्रव' हैं, क्योंकि उनका आस्रव धर्मों से किसी तरह का सम्पर्क नहीं होता।

संस्कृत-असंस्कृत

जो हेतु और प्रत्ययों की अपेक्षा से, उनके परस्पर समागम से उत्पन्न होते हैं, वे 'संस्कृत' धर्म कहलाते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं है, जो एक हेतु या एक प्रत्यय से उत्पन्न होता हो। इन्हें 'अध्व' भी कहते हैं, क्योंकि संस्कृत धर्म ही अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न काल है। वे 'कथावस्तु' भी हैं, क्योंकि संस्कृत धर्म ही कथा (पद, वाक्य आदि) के विषय होते हैं। संस्कृत धर्मों से निःसरण आवश्यक है, अतः वे 'सनिःसार' हैं तथा सहेतुक होने से वे 'सवस्तुक' भी कहलाते हैं।

पाँचों स्कन्ध संस्कृत होते हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पाँच स्कन्ध हैं। जब ये सास्रव होते हैं, तो 'उपादान स्कन्ध' कहलाते हैं। ये पाँचों उपादान स्कन्ध 'दुःख', 'समुदय', 'लोक', 'दृष्टिस्थान' और 'भव' भी कहलाते हैं।

विस्तार

चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्व एवं काय ये पाँच इन्द्रियाँ, रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य ये पाँच विषय तथा अविज्ञप्ति = ये ११ धर्म ही 'रूप-स्कन्ध' है। सुख, दुःख और उपेक्षा ये वेदनाएं 'वेदनास्कन्ध', जिसके द्वारा नील, पीत, दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष, शत्रु, मित्र, सुख, दुःख आदि संज्ञाएं गृहीत होती हैं, वह 'संज्ञास्कन्ध' कहलाता है। रूप, शब्द आदि विषयों का ग्रहण जिसके द्वारा होता है, वह 'विज्ञान स्कन्ध' है तथा इन चारों स्कन्धों से अवशिष्ट सभी धर्म 'संस्कार स्कन्ध' में संगृहीत होते हैं। 'स्कन्ध' का अर्थ राशि है। इसमें अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न सभी संगृहीत होते हैं।

अविज्ञप्ति

जो धर्म काय और वाग् विज्ञप्ति के समान दूसरों को विज्ञापित नहीं करता, फिर भी विद्यमान होता है, वह 'अविज्ञप्ति' है। प्रश्न है कि जिस भिक्षु ने प्राणातिपात आदि अकुशलों से विरत रहने की प्रतिज्ञा ली है, किन्तु वह गहरी नींद में सो गया है, अथवा वह असंज्ञिसमापत्ति या निरोधसमापत्ति में लीन हो गया है, जहाँ कोई भी चित्त-चेतसिक नहीं है, ऐसी स्थिति में वह भिक्षु रहेगा या नहीं ? अथवा जिस पुरुष ने प्राणातिपात आदि की आज्ञा दी है और उसके बाद वह विक्षिप्त हो गया है अर्थात् उसका चित्त अन्य विषय में संसक्त हो गया है, प्रश्न है कि उसकी आज्ञानुसार प्राणातिपात हो जाने पर वह उस अवद्य (पाप) से युक्त होगा या नहीं ? इन सब प्रश्नों के समाधान हेतु वैभाषिक एक अविज्ञप्ति नामक धर्म स्वीकार करते हैं। विज्ञापित करने के अनन्तर विज्ञप्ति तो नष्ट हो जाती है, किन्तु उससे उत्पन्न एक अविज्ञप्ति धर्म विद्यमान रहता है, जिसकी वज़ह से भिक्षु भाव नष्ट नहीं होता और आज्ञा देनेवाला व्यक्ति पाप से युक्त होता है। संक्षेप में जिसका चित्त विक्षिप्त हो गया है अथवा जो अचित्तक है, उसका महाभूतहेतुक कुशल-अकुशल प्रवाह 'अविज्ञप्ति' है। वैभाषिक इसे रूपस्कन्ध के अन्तर्गत परिगणित करते हैं। अपराध और दण्ड की सामाजिक और नैतिक व्यवस्था के लिए वैभाषिक इसे मानना जरूरी समझते हैं।

असंस्कृत

जो धर्म हेतु-प्रत्यय से समुत्पन्न नहीं होते, ऐसे विद्यमान धर्म 'असंस्कृत' कहलाते हैं। आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध ये तीन असंस्कृत हैं। ये संस्कृत धर्मों के समान भावरूप नहीं हैं, फिर भी विद्यमान होते हैं। उत्पन्न न होने के कारण यद्यपि खर विषाण भी असंस्कृत है, किन्तु वह असंस्कृत धर्म नहीं है।

(क) आकाश- जो धर्म आवरण या प्रतिघात नहीं करता और जो स्वयं भी आवृत नहीं होता, वह 'आकाश' है। यह रूपी धर्मों के गमनागमन में अबाधक (अप्रतिघ) धर्म है। वैभाषिकों के अनुसार यह एक प्रकार का द्रव्य है। यह रूपाभाव मात्र है। आकाश और आकाशधातु में फर्क है। छिद्र 'आकाशधातु' है। द्वार, खिड़की आदि के छिद्र बाह्य आकाशधातु तथा मुख, नाक आदि के छिद्र आध्यात्मिक आकाशधातु हैं। वैभाषिक मतानुसार छिद्र नामक आकाशधातु आलोक और तमस् है अर्थात् वर्ण का, रूप का ए प्रकार है। छिद्र की उपलब्धि आलोक और तमस् से पृथक् नहीं है।

(ख) प्रतिसंख्यानिरोध- चार आर्य सत्यों का आलम्बन करनेवाली, क्लेशों की प्रतिपक्षभूत अनास्रव प्रज्ञा द्वारा जिन क्लेशों को प्रहाण किया जाता है, वह प्रहाण 'प्रतिसंख्यानिरोध' है। सभी क्लेशों का एक ही निरोध नहीं होता, अपितु जितने क्लेश होते हैं, उतने ही पृथक्-पृथक् निरोध होते हैं। अन्यथा जिस व्यक्ति ने दुःख दर्शनहेय क्लेशों का

प्रहाण कर लिया है, उसके लिए शेष क्लेशों के प्रहाणार्थ प्रतिपक्षभूत मार्ग की भावना व्यर्थ होगी। वैभाषिकों के अनुसार इस निरोध (सत्य) की 'प्राप्ति' प्रहाण से एक क्षण पूर्व ही हो जाती है।

(ग) अप्रतिसंख्यानिरोध- यह वह निरोध है जो अनुत्पन्न क्लेशों को उत्पन्न नहीं होने देता। जैसै दर्शनमार्ग द्वारा जिन क्लेशों का प्रहाण कर दिया गया है वे तो कभी उत्पन्न नहीं होंगे, किन्तु भावनाहेय क्लेश, जिनका प्रहाण अभी नहीं हुआ है, वे उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु यह निरोध मार्गक्षण में उन क्लेशों को उत्पन्न नहीं होने देता। प्रत्ययों की रहितता से उत्पाद का अत्यन्त विघ्नभूत धर्म 'अप्रतिसंख्यानिरोध' है।

रूपी एवं चित्त-चैतसिक धर्मों की प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन असंस्कृत धर्मों की व्यवस्था की गई है। रूपी धर्म सप्रतिघ होते हैं। अर्थात् अपने से व्याप्त देश में अन्य रूपी धर्मों को आने नहीं देते हैं। उनके आगमन में प्रतिघात (बाधा) करते है, इसलिए सप्रतिघ कहलाते हैं। किन्तु रूपी धर्म इधर-उधर प्रवृत्त होते हैं। अतः रूपी धर्मों की प्रवृत्ति के लिए 'आकाश' नामक असंस्कृत धर्म माना गया है।

जब कुशल चित्त उत्पन्न होता है, उस समय वह अकुशल चित्त को प्रवृत्त नहीं होने देता। उसका यह प्रवृत्त न होने देना दो दृष्टियों से होता है। एक तो उस अकुशल का प्रहाण कर देना तथा दूसरा प्रहाण न करने पर भी उसे उत्पन्न न होने देना। इन दो दृष्टियों से दो निरोध की व्यवस्था की गई है।

नित्य-अनित्य

अनित्य- प्रथम क्षण में उत्पन्न, द्वितीय क्षण में स्थित एवं तृतीय क्षण में विनष्ट होने वाले धर्म 'अनित्य' कहलाते हैं। वस्तु की अनित्यता प्रथम या द्वितीय क्षण में नहीं होती, अपितु उसके विनाश क्षण में अर्थात् तृतीय क्षण में उत्पन्न होती है। अपि च, वह अनित्यता (नाश या ध्वंस) उस वस्तु के उत्पादक हेतुओं से उत्पन्न नहीं होती, अपितु उसके उत्पादक हेतु उनसे भिन्न होते हैं। जैसे घट के विनाशक हेतु घट के उत्पादक मिट्टी आदि हेतु न होकर दण्ड, मुद्गर आदि होते हैं। इस तरह वैभाषिक मत में विनाश सहेतुक होता है, अहेतुक नहीं, जैसे सौत्रान्तिक आदि अन्य बौद्ध अहेतुक विनाश मानते हैं। जो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं होते, वे असंस्कृत धर्म 'नित्य' भी होते हैं।

स्कन्ध-आयतन-धातु

स्कन्ध का अर्थ 'राशि' (ढेर) होता है, जैसे- तण्डुलराशि, मुद्ग-राशि आदि। स्कन्ध पाँच होते हैं, यथा- रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध एवं विज्ञानस्कन्ध। रूपस्कन्ध में अतीत, अनागत, वर्तमान, हीन, मध्यम, उत्तम, दूरस्थ, निकटस्थ सभी रूपों का ग्रहण होता है। इसी तरह अन्य वेदना आदि स्कन्धों को भी जानना चाहिए।

आयतन- चित्त-चैतसिक की प्रवृत्ति के द्वार 'आयतन' कहलाते हैं। ये १२ होते हैं। इनमें छह आध्यात्मिक एवं छह बाह्य आयतन होते हैं।

	बाह्य-आयतन		आध्यात्मिक आयतन
(१)	रूपायतन	(७)	चक्षुरायतन
(२)	शब्दायतन	(८)	श्रोत्रायतन
(३)	गन्धायतन	(९)	घ्राणायतन
(४)	रसायतन	(१०)	जिह्वायतन
(५)	स्प्रष्टव्यायतन	(११)	कायायतन
(६)	धर्मायतन	(१२)	मन-आयतन

पाँच बाह्यायतन 'विषय' एवं पाँच आध्यात्मिक आयतन इन्द्रिय हैं। स्कन्ध की दृष्टि से इन विषय-आयतन और इन्द्रिय आयतनों अर्थात् १० आयतनों का संग्रह रूप स्कन्ध में होता है। विज्ञानस्कन्ध मन-आयतन है तथा रूप और विज्ञानस्कन्ध से अवशिष्ट वेदना, संज्ञा और संस्कार तीन स्कन्ध धर्मायतन हैं। धर्मायतन में ही निर्वाण, अविज्ञप्ति और विप्रयुक्त संस्कारों का भी ग्रहण होता है।

धातुएं- धातु का अर्थ गोत्र या बीज होता है। धातु १८ होती हैं। इसमें ६ धातु विषय, ६ धातुएं इन्द्रियाँ और छह विज्ञान होते हैं।

विषय धातु	इन्द्रिय धातु	विज्ञान धातु
रूपधातु	चक्षुर्धातु	चक्षुर्विज्ञानधातु
शब्दधातु	श्रोत्रधातु	श्रोत्रविज्ञानधातु
गन्धधातु	घ्राणधातु	घ्राणविज्ञानधातु
रसधातु	जिह्वाधातु	जिह्वविज्ञानधातु
स्प्रष्टव्यधातु	कायधातु	कायविज्ञानधातु
धर्मधातु	मनोधातु	मनोविज्ञानधातु

आयतन की दृष्टि से जो धर्मायतन है, वही धातु की दृष्टि से धर्मधातु होता है। छह विज्ञानधातु और मनोधातु विज्ञानस्कन्ध और मन आयतन है तथा शेष १० धातु रूपस्कन्ध के अन्तर्गत गृहीत हैं।

मनोधातु

समनन्तर निरुद्ध चक्षुरादि छह विज्ञान 'मनोधातु' कहलाते हैं। मनोधातु मनोविज्ञान धातु का अधिपतिप्रत्यय होता है।

पदार्थ-विभाजन का अन्य प्रकार

स्कन्ध, आयतन एवं धातु के अलावा वैभाषिक समस्त धर्मों का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी करते हैं, यथा- चित्त, चित्तसम्प्रयुक्त (चैतसिक), चित्तविप्रयुक्त, रूप एवं निर्वाण। इन पाँच धर्मों में समस्त धर्मों का संग्रह हो जाता है।

(१) **चित्त-** चित्त, मनस् एवं विज्ञान एकार्थक हैं। वह कुशल, अकुशल आदि का संचय करता है, अतः 'चित्त' है। वह मनन करता है, अतः 'मनस्' है तथा वह अपने आलम्बन को जानता है, अतः 'विज्ञान' है।

एक अन्य निर्वचन के अनुसार क्योंकि वह शुभ-अशुभ धातुओं से चित्रित होता है, अतः 'चित्त' है। क्योंकि वह दूसरे चित्तों का आश्रय होता है, अतः 'मन' हैं। क्योंकि वह इन्द्रिय और आलम्बन पर आश्रित होता है, अतः 'विज्ञान' है।

चित्त का स्कन्धों में परिगणन करने पर वह 'विज्ञान-स्कन्ध' है। आयतनों में वह 'मन आयतन' तथा धातुओं में सात विज्ञान धातु अर्थात् चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वविज्ञानधातु, कायविज्ञानधातु, मनोविज्ञानधातु एवं मनोधातु है।

वैभाषिक चित्त का अनेकविध विभाजन करते हैं, किन्तु स्थूल रूप से चित्त १२ प्रकार के हैं। कामधातु में चार प्रकार के चित्त होते हैं, यथा- कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत एवं अनिवृताव्याकृत। रूपधातु और अरूपधातु में तीन प्रकार के चित्त होते हैं, यथा- कुशल, निवृताव्याकृत एवं अनिवृताव्याकृत। इनमें अकुशल चित्त नहीं होते। लोकोत्तर धातु में दो अनास्रव चित्त होते हैं, यथा- शैक्ष और अशैक्ष। इस तरह कुल १२ प्रकार के चित्त होते हैं। इनके भी अनेक भेद होते हैं।

कुशल चित्त एक प्रकार का होता है। अकुशल चित्त के दो प्रकार हैं- (१) अविद्यामात्र से सम्प्रयुक्त और (२) राग आदि अन्य क्लेशों से सम्प्रयुक्त। अव्याकृत चित्त दो प्रकार के होते हैं- (१) निवृताव्याकृत एवं (२) अनिवृताव्याकृत। इन्हें अव्याकृत इसलिए कहते हैं, क्योंकि इनका कुशल और अकुशल में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। जो (अव्याकृत) सत्कायदृष्टि एवं अन्तग्राहदृष्टि से सम्प्रयुक्त होता है, वह 'निवृताव्याकृत' तथा विपाकज आदि चित्त 'अनिवृताव्याकृत' कहलाते हैं।

(२) **चित्तसम्प्रयुक्त (चैतसिक)-** वैभाषिक मत के अनुसार चैतसिक चित्त से पृथक् द्रव्य होते हैं। किन्तु चित्त के साथ इनका सहोत्पाद और सह निरोध होता हैं। चित्त के आश्रय को ही चैतसिक भी आश्रय बनाते हैं और चित्त के आलम्बन को ही अपना आलम्बन बनाते हैं। चित्त वस्तुमात्र या वस्तुसामान्य का ग्रहण करते हैं, जबकि चैतसिक उनके विशेष (अर्थात् नील, पीत, स्त्री, पुरुष, सुख, दुःख आदि) का ग्रहण करते हैं। अभिधर्मकोश के अनुसार चैतसिकों की संख्या ४६ होती है, यथा- १० महाभूमिक, जो

सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। १० कुशल महाभूमिक होते है, जो केवल सभी कुशल चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। ६ चैतसिक क्लेश महाभूमिक होते हैं, जो सभी क्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं। २ अकुशल महाभूमिक होते हैं, जो अकुशल चित्तों में पाये जाते हैं। १० चैतसिक परीत्तक्लेशभूमिक होते हैं, क्योंकि इनकी भूमि परीत्तक्लेश हैं। परीत्त का अर्थ 'अल्प' होता है। अर्थात् ये राग, द्वेष आदि क्लेशों से सम्प्रयुक्त नहीं होते, अविद्यामात्र से सम्प्रयुक्त होते हैं। इनके अलावा कौकृत्य, मिद्ध आदि कुछ अनियत चैतसिक भी होते हैं।

(३) **चित्तविप्रयुक्त-** ये वे धर्म हैं, जो ज्ञानजातीय नहीं होते, अतः इनका चित्त-चैतसिकों में ग्रहण नहीं होता। ये रूपस्वभाव भी नहीं होते, अतः इनका रूप स्कन्ध में भी ग्रहण नहीं होता। ये संस्कार-स्कन्ध में संगृहीत होते हैं, अतः 'चित्तविप्रयुक्त संस्कार' भी कहलाते हैं। ये चित्त से विप्रयुक्त होते हैं, फिर भी अरूपी होने के कारण चित्त के समानजातीय होते हैं। अभिधर्मकोश में इनकी संख्या १४ गिनाई गई है, किन्तु अन्त में 'आदि' शब्द का भी प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है ये चौदह से भी अधिक होते हैं। प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक, असंज्ञिसमापत्ति, निरोध-समापत्ति, जीवितेन्द्रिय, ४ लक्षण (उत्पाद, स्थिति, जरता एवं अनित्यता), नामकाय, पदकाय एवं व्यञ्जनकाय। इनके स्वरूप का विस्तार से ज्ञान अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

(४) **रूप-** अचेतन या जड़ होना 'रूप' का अर्थ है। **'रूप्यते' इति रूपम**-अर्थात् जो रूपित होता है, वह रूप है। यहाँ आचार्यों ने 'रूप्यते' का अर्थ तीन प्रकार से किया हैं- (१) जो नष्ट होता है, शीत, ताप आदि से, हाथ के स्पर्श से नष्ट होता है, वह रूप है। जो विकृत होता है अर्थात् जो दूसरे ही क्षण में अपने स्वरूप में नहीं रहता, वह 'रूप' है। जिसमें परिणमन होता है, वह रूप है। क्षण-क्षण में परिवर्तन होना, इन सबका अर्थ है। यद्यपि नष्ट होना, विकृत होना या परिणमित होना चित्त-चैतसिकों में भी होता है, किन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से लक्षित नहीं होता, अतः उन्हें रूप नहीं कहते। जड़ पदार्थों में नाश, विकार एवं परिणाम स्थूल होने से प्रकट होते हैं, अतः उन्हें ही 'रूप' कहते हैं।

(२) 'रूप्यते' का दूसरा अर्थ 'निरूप्यते' है। अर्थात् जिसका निरूपण किया जा सके। अर्थात् जिसके बारे में अंगुलि से यह निर्देश किया जा सके कि यह 'यहाँ' है, यह 'वहाँ' है-इत्यादि।

(३) 'रूप्यते' का तीसरा अर्थ 'बाध्यते' है। अर्थात् जो बाधित होता है या बाधित करता है। जिस स्थान में कोई रूप होता है, उस स्थान (देश) में वह अन्य रूप को आने नहीं देता। अर्थात् अन्य रूप को अपने देश में उत्पन्न नहीं होने देता। यही 'बाध्यते' का अर्थ है और इसी अर्थ में रूप सप्रतिघ कहा जाता है।

रूप का अर्थ 'रूपस्कन्ध' होता है। इसमें चक्षुष् आदि पाँच इन्द्रियाँ, रूप, शब्द आदि पाँच विषय एवं अविज्ञप्ति-इस तरह ११ पदार्थ संगृहीत हाते हैं। यहाँ पाँच विषयों में जो

रूप कहा गया है, उसका अर्थ नील, पीत, हरित, लोहित, कृष्ण, अवदात आदि वर्ण हैं। शब्द आठ प्रकार का, रस छह प्रकार का और गन्ध चार प्रकार का होता है तथा स्प्रष्टव्य ११ प्रकार का होता है। इन सबका वर्णन अभिधर्मकोश में विस्तार से किया गया है।

(५) निर्वाण-वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण एक असंस्कृत एवं नित्य द्रव्य है। वस्तु का स्वभाव उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग है। निर्वाण का वस्तुस्वभाव नहीं होने के कारण उसे नित्य कहा गया है। अर्थात् वह अवस्तुस्वभाव एक द्रव्य है। मेरे विचार में वैभाषिक अभाव को भी द्रव्य मानते हैं, जैसे वैभाषिक अभाव को पदार्थ मानते हैं। फिर भी वैभाषिक सभी अभावों को अर्थात् अभावमात्र को द्रव्य नहीं मानते, किन्तु क्लेशभाव और दुःखाभाव मात्र को द्रव्य मानते हैं। क्योंकि इस अवस्था में शान्त-आकार का अनुभव होता है। यह योगी के निर्विकल्प प्रत्यक्ष का गोचर भी होता है, अतः इसे वे द्रव्य मानते हैं। किन्तु उसकी कोई अर्थक्रिया नहीं होती, वह एक निष्क्रिय द्रव्यमात्र है और यही निर्वाण है।

चार आर्यसत्यों में निरोध आर्यसत्य ही निर्वाण है। निरोध भी वैभाषिकों के मतानुसार दो प्रकार का होता है-प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध। असंस्कृत का प्रतिपादन करते समय इनके स्वरूप का ऊपर प्रतिपादन किया जा चुका है।

हेतु-फलवाद

इसे वैभाषिकों का कार्य-कारणभाव भी कह सकते हैं। इनके मत में छह हेतु, चार प्रत्यय और चार फल माने जाते हैं। छह हेतु इस प्रकार हैं-कारणहेतु, सहभूहेतु, सभागहेतु, सम्प्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु एवं विपाकहेतु। चार प्रत्यय हैं, यथा- हेतु-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय एवं अधिपति-प्रत्यय। चार फल हैं, यथा-विपाकफल, अधिपतिफल, निष्यन्दफल एवं पुरुषकारफल।

'हेतु और प्रत्यय' के अर्थ के बारे में बौद्धों में मतभेद हैं। कुछ लोगों के अनुसार मुख्य कारण हेतु होते हैं और सहायक कारण प्रत्यय। जैसे बीज अङ्कुर का हेतु है और मिट्टी, पानी आदि प्रत्यय। किन्तु ऐसा लगता है कि वैभाषिक इस प्रकार का विभाजन नहीं मानते। अर्थात् उनके मत में हेतु और प्रत्यय दोनों एकार्थक हैं। इसलिए वे छह हेतुओं का चार प्रत्ययों में अन्तर्भाव भी करते हैं। यथा-छह हेतुओं में कारणहेतु को छोड़कर शेष पाँच हेतु 'हेतु-प्रत्यय' हैं। अर्हत् के चरम च्युति-चित को छोड़कर पूर्व उत्पन्न चित्त-चैतसिक अपने बाद उत्पन्न होनेवाले चित्त-चैतसिकों के 'समन्तर-प्रत्यय' हैं। सभी संस्कृत, असंस्कृत धर्म चित्त-चैतसिकों के आलम्बन प्रत्यय होते हैं तथा पूर्वोक्त छह हेतुओं में कारणहेतु 'अधिपति-प्रत्यय' कहलाता है।

कारणहेतु- सभी धर्म अपने से अन्य सभी धर्मों के कारणहेतु होते हैं। कोई भी धर्म अपना कारणहेतु नहीं होता। अर्थात् सभी धर्म उत्पन्न होनेवाले समस्त संस्कृत धर्मों के कारणहेतु होते हैं, क्योंकि इनका उनके उत्पाद में अविघ्नभाव से अवस्थान होता है। आशय यह है कि कार्यों के उत्पाद में विघ्न न करना कारणहेतु का लक्षण है।

सहभूहेतु- सहभूहेतु वे धर्म हैं, जो परस्पर एक-दूसरे के फल होते हैं। जैसे चारों महाभूत परस्पर एक दूसरे के हेतु और फल होते हैं, यथा-एक तिपाही के तीनों पाँव एक-दूसरे को खड़ा रखते हैं। सभी संस्कृत धर्म यथासम्भव सहभूहेतु हैं, बशर्ते कि वे अन्योऽन्यफल के रूप में सम्बद्ध हों।

सभागहेतु- सदृश धर्म सभागहेतु होते हैं। सदृश धर्म सदृश धर्मों के सभागहेतु होते हैं। यथा-कुशल धर्म कुशल के और क्लिष्ट धर्म क्लिष्ट धर्मों के सभागहेतु होते हैं।

सम्प्रयुक्तकहेतु- चित्त और चैतसिक सम्प्रयुक्तक हेतु होते हैं। वे ही चित्त-चैतसिक परस्पर सम्प्रयुक्तकहेतु होते हैं, जिनका आश्रय सम या अभिन्न होता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण एक चक्षुर्विज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त वेदना आदि चैतसिकों का आश्रय होता है। इसी तरह मन-इन्द्रिय का एक क्षण, एक मनोविज्ञान एवं तत्सम्प्रयुक्त चैतसिकों का आश्रय होता है। वे हेतु सम्प्रयुक्तक कहलाते हैं, जिनकी सम प्रवृत्ति होती है। चित्त और चैतसिक पाँच समताओं से सम्प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि उनके आश्रय, आलम्बन और आकार एक ही होते हैं। क्योंकि वे एक साथ उत्पन्न होते हैं। क्योंकि इनका काल भी एक ही होता है। इन पाँच समताओं में से यदि एक का भी अभाव हो तो उनकी सम-प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में वह सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते।

सर्वत्रगहेतु- पूर्वोत्पन्न सर्वत्रग स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु होते है। अर्थात् पूर्वोत्पन्न अर्थात् अतीत या प्रत्युत्पन्न स्वभूमिक सर्वत्रग बाद में उत्पन्न होने वाले स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु होते हैं। सर्वत्रग हेतु क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं। ये निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मों के भी हेतु होते हैं। अर्थात् इनके प्रभाव से अन्य निकायों (शरीरों) में सपरिवार क्लेश उत्पन्न होते हैं।

विपाकहेतु- अकुशल और सास्रव कुशल धर्म विपाकहेतु होते हैं। क्योंकि विपाक देना इनकी प्रकृति है। अव्याकृत धर्म विपाकहेतु नहीं हो सकते, क्योंकि वे दुर्बल होते हैं।

फलव्यवस्था- विपाकफल अन्तिम विपाकहेतु से उत्पन्न होता है। इसके दो अर्थ किये जाते हैं, यथा- एक विपाक का हेतु और दूसरा विपाक ही हेतु। विपाक शब्द के दोनों अर्थ युक्त हैं। प्रथम कारण हेतु का अधिपतिफल होता है। सभाग और सर्वत्रग हेतु का निःष्यन्द फल होता है तथा सहभूहेतु और सम्प्रयुक्तकहेतु का पुरुषकार फल होता है।

वैशिष्ट्य

वैभाषिकों को छोड़कर अन्य सभी बौद्ध कार्य और कारण को एककालिक नहीं मानते। किन्तु वैभाषिकों की यह विशेषता है वे कि हेतु और फल को एककालिक भी मानते हैं, यथा-सहजात (सहभू) हेतु।

सत्यद्वय व्यवस्था

वैभाषिक भी अन्य बौद्धों की भाँति दो सत्यों की व्यवस्था करते हैं। सत्य दो हैं, यथा-संवृतिसत्य एवं परमार्थसत्य।

संवृतिसत्य- अवयवों का भेद अर्थात् उन्हें अलग-अलग कर देने पर जिस विषय में तद्‌बुद्धि का नाश हो जाता है, उसे संवृति-सत्य कहते हैं, जैसे घट या अम्बु (जल)। जब घट का मुद्‌गर आदि से विनाश कर दिया जाता है और जब वह कपाल के रूप में परिणत हो जाता है, तब उस (घट) में जो पहले घटबुद्धि हो रही थी, वह नष्ट हो जाती है। इसी तरह अम्बु का बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर अम्बुबुद्धि भी समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार उपकरणों द्वारा या बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिन विषयों में तद्‌विषयक बुद्धि का विनाश हो जाता है, वे धर्म संवृतिसत्य कहलाते हैं। सांवृतिक दृष्टि से घट या अम्बु कहने वाला व्यक्ति सत्य ही बोलता है, मिथ्या नहीं, अतः इन्हें 'संवृतिसत्य' कहते हैं।

परमार्थ सत्य

संवृतिसत्य से विपरीत सत्य परमार्थसत्य है। अर्थात् उपकरण या बुद्धि द्वारा भेद कर देने पर भी जिन विषयों में तद्‌विषयक बुद्धि का नाश नहीं होता, वे धर्म 'परमार्थसत्य' यथा-रूप, वेदना, ज्ञान, निर्वाण आदि। रूप का परमाणु में विभाजन कर देने पर भी रूपबुद्धि नष्ट नहीं होती। इसी तरह अन्य विषयों के बारे में भी जानना चाहिए। ये धर्म परमार्थतः सत्य होते हैं, अतः 'परमार्थसत्य' कहलाते हैं। अथवा जो धर्म आर्य योगी के समाहित लोकोत्तर ज्ञान द्वारा जैसे गृहीत होते हैं, उसी रूप में पृष्ठलब्ध ज्ञान द्वारा भी गृहीत होते हैं, वे 'परमार्थसत्य' हैं। यदि वैसे ही गृहीत नहीं होते तो वे संवृति सत्य हैं।

दुःखसत्य, समुदयसत्य, निरोधसत्य एवं मार्गसत्य-इस तरह चार सत्य होते हैं। ऊपर जो दो सत्य कहे गये हैं, उनसे इनका कोई विरोध नहीं है। चार आर्यसत्य दो में या दो सत्य चार में परस्पर संगृहीत किये जा सकते हैं। जैसे निरोध सत्य परमार्थ सत्य है तथा शेष तीन संवृतिसत्य।

परमाणु विचार

वैभाषिक मत में परमाणु निरवयव माने जाते हैं। संघात होने पर भी उनका परस्पर स्पर्श नहीं होता। परमाणु द्विविध हैं, यथा- द्रव्यपरमाणु एवं संघातपरमाणु। अकेला निरवयव परमाणु द्रव्यपरमाणु कहलाता है। संघात परमाणु में कम से कम आठ परमाणु अवश्य रहते हैं, यथा ४ महाभूतों (पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु) के तथा चार उपादाय रूपों (रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य) के परमाणु एक कलाप (संघात) में निश्चित रूप से रहते हैं। यह व्यवस्था कामधातु के संघात के बारे में है। कामधातु का एक परमाणुकलाप, जिसमें शब्द और इन्द्रिय परमाणु नहीं है, वह निश्चय ही अष्टद्रव्यात्मक होता है।

सौत्रान्तिक द्रव्यपरमाणु की सत्ता नहीं मानते, वे केवल संघात परमाणु ही मानते हैं। आचार्य वसुबन्धु भी सौत्रान्तिक के इस मत से सहमत हैं।

परमाणु सप्रतिघ होता है। अभिप्राय यह है कि जब परमाणु किसी स्थान (देश) में स्थित होता है, तब वह किसी दूसरे सजातीय परमाणु को अपने देश में आने नहीं देता। किन्तु विजातीय परमाणु के आने में बाधा नहीं करता। अर्थात् सजातीय की दृष्टि से परमाणु सप्रतिघ है, विजातीय की दृष्टि से नहीं। आठ विजातीय परमाणु एक स्थान में स्थित रह सकते हैं। इनके बीच में आकाश नहीं होता-ऐसा एक प्रकार के वैभाषिक मानते हैं।

दूसरे प्रकार के वैभाषिकों का कहना है कि अणु विजातीय परमाणुओं की दृष्टि से भी सप्रतिघ होता है। अन्यथा सहस्रों परमाणुओं का संयोग होने पर भी स्थौल्य नहीं हो सकेगा तथा रूप और स्प्रष्टव्य परमाणु के एक देश में रहने पर उनमें अभेद हो जाएगा। फलतः संघात के अन्तर्गत होने वाले परमाणु परस्पर सन्निहित तो रहते हैं, किन्तु उनका देश एक ही नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके मत में उनके मध्य आकाश रहता है।

उपर्युक्त दोनों मतों में संघातपरमाणुओं में स्पर्श नहीं होता। दूसरे मत से आचार्य वसुबन्धु सहमत हैं। ऐसा उनके भाष्य से स्पष्ट होता है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार संघातपरमाणु एक और अविभक्त होता है। उसमें आठ द्रव्य शक्तिरूप में निहित रहते हैं। अर्थात् उसमें ८ द्रव्यों में परिणत होने का सामर्थ्य होता है। उसमें जिस द्रव्य की शक्ति या बीज प्रबल होता है, वह उसी का परमाणु कहलाता है। जैसे किसी में तेजस् की शक्ति उद्भूत है तथा अन्य शक्ति उद्भूत नहीं है तो वह तेजस् का परमाणु कहलाता है। इस मत से आचार्य वसुबन्धु भी सहमत हैं।

ज्ञानमीमांसा

वैभाषिक भी दो ही प्रमाण मानते हैं, यथा- प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष इनके मत में तीन ही हैं, यथा- इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष एवं योगिप्रत्यक्ष। ये स्वसंवेदनप्रत्यक्ष नहीं

मानते, जैसा कि सौत्रान्तिक आदि न्यायानुसारी बौद्ध मानते हैं। इसका कारण यह है कि ये ज्ञान में ग्राह्याकार नहीं मानते, इसलिए ग्राहकाकार (स्वसंवेदन) भी नहीं मानते। इनके मत में ज्ञान निराकार होता है। स्वसंवेदन नहीं मानने से इनके अनुसार ज्ञान की सत्ता का निश्चय परवर्ती ज्ञान द्वारा हुआ करता है। यह परवर्ती ज्ञान स्मृत्यात्मक या कल्पनात्मक ही होता है। आशय यह है कि इनके अनुसार ज्ञान स्मृत हुआ करता है। वह स्वयंप्रकाश नहीं होता।

इन्द्रियप्रत्यक्ष- इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष है। इनके मत में यद्यपि चक्षुष् ही रूप को देखता है, तथापि ये चक्षुर्विज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष पाँच हैं, यथा- चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान।

मानसप्रत्यक्ष- इन्द्रिय विज्ञानों के अनन्तर उन्हीं के विषय को ग्रहण करता हुआ यह मानसप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। समनन्तर अतीत छह विज्ञान अर्थात् मनोधातु इसका अधिपतिप्रत्यय होता है।

योगिप्रत्यक्ष- योगी दो प्रकार के होते हैं- लौकिक एवं लोकोत्तर। इनमें से लोकोत्तर योगी का प्रत्यक्ष ही योगिप्रत्यक्ष होता है, इसे लोकोत्तर मार्गज्ञान भी कह सकते हैं। चार आर्यसत्य, निर्वाण एवं नैरात्म्य इसके विषय होते हैं। लौकिक योगी की दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षुष् आदि अभिज्ञाएं मानसप्रत्यक्ष ही हैं, योगिप्रत्यक्ष नहीं।

कल्पना- जो ज्ञान वस्तु से उत्पन्न न होकर शब्द को अधिपतिप्रत्यय बनाकर उत्पन्न होता है अथवा जो ज्ञान चक्षुरादि प्रत्यक्ष विज्ञानों के अनन्तर अध्यवसाय करते हुए उत्पन्न होता है, वह 'कल्पना' या 'विकल्प' है।

वैभाषिक मत में शब्द सुनकर जो प्रतिभासाकार उत्पन्न होता है, उस आकार को ये लोग सौत्रान्तिकों की भाँति नित्य या अवस्तु नहीं मानते, अपितु उसे एक प्रकार की वस्तु ही मानते हैं। इसलिए इनका कहना है कि भगवान् ने ८० हजार धर्मस्कन्ध कहे हैं।

ज्ञानाकार- इनके मत में ज्ञान में आकार नहीं माना जाता। ये ज्ञान को साकार नहीं, अपितु निराकार मानते हैं। इसी प्रकार ये वस्तु में भी आकार नहीं मानते। निराकार ज्ञान परमाणु-समूह को देखता है। परमाणु वस्त्वाकार नहीं होते। यदि ज्ञान साकार वस्तु का ग्रहण करेगा तो आकारमात्र का दर्शन करेगा, वस्तु का नहीं।

मार्ग-फल-व्यवस्था- मार्ग पाँच होते हैं, यथा- प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग। प्रथम दो मार्ग पृथग्जन अवस्था के मार्ग हैं और ये लौकिक मार्ग कहलाते हैं। शेष तीन मार्ग आर्य पुद्गलल के मार्ग हैं और लोकोत्तर हैं। आर्य के मार्ग ही वस्तुतः 'मार्गसत्य' हैं। प्रथम दो मार्ग यद्यपि मार्ग हैं, किन्तु मार्गसत्य नहीं।

सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में १२ (४ स्मृत्युपस्थान, ४ प्रहाण और ४ ऋद्धिपाद) ये

सम्भारमार्ग में संगृहीत होते हैं। ये भी मृदु, मध्य एवं अधिमात्र भेद से त्रिविध हैं। अर्थात् ४ स्मृत्युपस्थान 'मृदु', ४ प्रहाण 'मध्य' तथा ४ ऋद्धिपाद 'अधिमात्र' होते हैं।

५ इन्द्रिय और ५ बल ये १० प्रयोगधर्म के अन्तर्गत परिगणित हैं। प्रयोगमार्ग की चार अवस्थाएं होती है- ऊष्मगत, मूर्धा, क्षान्ति और अग्रधर्म। इन चारों अवस्थाओं में ये १० बोधिपाक्षिक धर्म होते हैं। ७ बोध्यङ्ग और ८ आर्याष्टांगिक मार्ग ये १५ दर्शनमार्ग और भावनामार्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार सभी ३७ बोधिपक्षीय धर्म ४ मार्गों में संगृहीत हो जाते हैं। ये चारों मार्ग 'शैक्षमार्ग' कहलाते हैं।

वैभाषिकों के मत में प्रतिपक्ष (मार्ग) के काल में ही हेय धर्मों का भी अस्तित्व माना जाता है, जो (प्रतिपक्ष) हेय का प्रहाण करते हैं। प्रतिपक्ष के विनाश-क्षण में हेय का भी विनाश होता है।

अशैक्षमार्ग- अशैक्षमार्ग के क्षण में कोई हेय क्लेश अवशिष्ट नहीं रहता। केवल शरीर ही अवशिष्ट रहता है। अशैक्ष मार्ग लोकोत्तर प्रज्ञा है, जिसका आलम्बन केवल निर्वाण होता है।

त्रियानव्यवस्था- श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं बोधिसत्त्वयान-ये तीन यान होते हैं। श्रावकगोत्रीय पुद्गल का लक्ष्य प्रायः पुद्गलनैरात्म्य का साक्षात्कार करनेवाली प्रज्ञा द्वारा अपने क्लेशों का प्रहाण कर चार्य आर्यसत्यों का साक्षात्कार करके श्रावकीय अर्हत्त्व पद प्राप्त करना है। इसके लिए सर्वप्रथम अकृत्रिम निर्याण चित्त का उत्पाद आवश्यक है। सम्भारमार्ग प्राप्त होने के अनन्तर अत्यन्त तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल तीन जन्मों में अर्हत्त्व प्राप्त कर लेता है। स्रोतापत्ति मार्ग प्राप्त होने के अनन्तर आलसी साधक भी कामधातु में सात से अधिक जन्मग्रहण नहीं करता।

कम से कम १०० कल्पों तक पुण्यसंचय करके पुद्गल प्रत्येकबुद्ध होता है। इसके अतिरिक्त श्रावक और प्रत्येकबुद्ध अर्हत् दोनों की सारी प्रक्रियाएं और अवस्थाएं प्रायः समान होती हैं।

अर्हत् भी तीन प्रकार के होते हैं- श्रावक अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध अर्हत् एवं महा अर्हत् अर्थात् बुद्ध। आयु के ह्रास काल में जब मनुष्य की आयु १०० वर्ष होती है, तब बुद्ध का आविर्भाव होता है, इससे पहले प्रत्येकबुद्ध होते हैं।

श्रावकयान में चतुर्विध आर्य पुद्गल होते हैं, यथा- स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। विभाग करने पर इनकी संख्या २० हो जाती है। ये पुद्गल 'संघ' कहलाते हैं।

बोधिसत्त्व कम से कम तीन असंख्येय कल्पपर्यन्त पुण्यसम्भार का संचय करके जब मनुष्य की आयु १०० वर्ष या उससे कम होती है, तब बुद्धत्व प्राप्त करता है। जिस जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करता है, उस अन्तिम भव में पुद्गल सम्भारमार्ग की अवस्था में मातृकुक्षि में प्रवेश करता है और उसी अवस्था में मातृकुक्षि से निर्गत होता है। बुद्धत्व प्राप्त करने

के लिए जब वह बोधिवृक्ष के नीचे आसन लगाकर बैठता है, तब उसी एक आसन पर समाहित अवस्था में उसे प्रयोगमार्ग से लेकर अशैक्ष मार्ग तक की प्राप्ति होती है। बीच में वह उस आसन से व्युत्थित नहीं होगा और न उसकी समाधि टूटेगी। इसी पूरी प्रक्रिया में अधिक से अधिक ४ याम (प्रहर = १२ घंटे) लगते हैं।

सम्भारमार्ग और प्रयोगमार्ग की प्राप्ति के अनन्तर दर्शनमार्ग की प्राप्ति में १६ क्षण लगते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि १६वाँ क्षण भावनामार्ग होता है, अतः दर्शनमार्ग १५ क्षणों का ही होता है। इन मार्ग के क्षणों में चारों आर्यसत्यों का साक्षात्कार होता है और उसके बल से दर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण होता है। प्रत्येक सत्य के साक्षात्कार में चार क्षण होते हैं, यथा- दुःखसत्य के साक्षात्कार में (१) दुःखे धर्मक्षान्ति, (२) दुःखे धर्मज्ञान, (३) दुःखे अन्वयक्षान्ति और (४) दुःखे अन्वयज्ञान। इसी तरह समुदय सत्य आदि अवशिष्ट तीन सत्यों में ४-४ क्षण होने से कुल १६ क्षण होते हैं। इन १६ क्षणों में ८ क्षान्ति क्षण होते हैं और ८ ज्ञान क्षण। ८ क्षान्तिक्षण अनान्तर्य मार्ग कहलाते हैं और ८ ज्ञानक्षण विमुक्ति मार्ग। क्षान्तिक्षणों (आनन्तर्य मार्ग की अवस्था) में दर्शन हेय क्लेशों का प्रहाण होता है। ८ क्षान्ति क्षणों में भी ४ धर्मक्षान्ति क्षण और ४ अन्वयक्षान्ति क्षण होते हैं। अर्थात् प्रत्येक सत्य में एक धर्मक्षान्ति क्षण और एक अन्ववयक्षान्ति क्षण होता है। धर्मक्षान्ति में कामभूमिक क्लेशों का तथा अन्वयक्षान्ति क्षण में रूप-अरूप भूमि के क्लेशों का प्रहाण होता है। उदाहरणार्थ प्रथम क्षान्तिक्षण में दुःखालम्बन कामक्लेशों का तथा द्वितीय क्षान्तिक्षण में समुदयालम्बन कामक्लेशों का प्रहाण होता है। इसी प्रकार अन्य दो धर्म क्षान्ति क्षणों में निरोध और मार्ग का आलम्बन करनेवाली कामक्लेशों का प्रहाण जानना चाहिए। इसी तरह प्रथम अन्वयक्षान्ति के क्षण में रूप-अरूप भौमिक दुःखालम्बन क्लेशों का, द्वितीय अन्वय क्षान्तिक्षण में समुदयालम्बन रूप-अरूप-भूमिक क्लेशों का प्रहाण होता है। इसी तरह अन्य अन्वय क्षान्ति क्षणों में प्रहेय क्लेशों को जानना चाहिए। ८ विमुक्तिमार्ग किसी भी क्लेश का प्रहाण नहीं करते, अपितु वे केवल अपने पूर्ववर्ती क्षान्ति क्षणों द्वारा प्रहीण क्लेशों के प्रहाण का साक्षात्कार करते हुए स्थित रहते हैं या क्लेश प्रहाण को धारण करते हैं। उपर्युक्त १६ क्षणों में १५ क्षणपर्यन्त मुख्य दर्शनमार्ग हैं तथा १६वाँ क्षण भावना-मार्ग का प्रारम्भ है। दर्शनमार्ग प्राप्त पुद्गल (व्यक्ति) स्रोत-आपन्न कहलाता है।

भावनामार्ग की प्राप्ति में क्षणों की चर्चा नहीं है, फिर भी इसमें १८ क्षण होते हैं। भावनामार्ग के तीन भेद होते हैं, यथा- मृदुभावना मार्ग, मध्य-भावनामार्ग एवं अधिमात्र भावनामार्ग। मृदु-भावनामार्ग के पुनः तीन भेद होते हैं, यथा- मृदु-मृदुभावनामार्ग, मध्य मृदुभावनामार्ग तथा अधिमात्र मृदुभावनामार्ग। इसी तरह मध्य और अधिमात्र भावनामार्ग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। इस तरह भावनामार्ग कुल ९ प्रकार का होता है। इसके भी आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्ग ये दो भेद होते हैं। अर्थात् ९ आनन्तर्यमार्ग और ९

विमुक्तिमार्ग होते है। कामभूमि १, रूपभूमि ४ एवं अरूपभूमि ४ इस तरह कुल ६ भूमियों के भावनाहेय क्लेशों का ६ आनन्तर्यमार्गों द्वारा प्रहाण होता है। इनमें से जब कामराग, प्रतिघ, दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श एवं विचिकित्सा नामक अवरभागीय संयोजन दुर्बल कर दिये जाते हैं, तब पुद्गल सकृदागामी तथा जब इनका सम्यक् प्रहाण कर दिया जाता है और ऊपर के रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या नामक ऊर्ध्वभागीय संयोजन दुर्बल हो जाते हैं, तब पुद्गल अनागामी हो जाता है। भावनामार्ग के आनन्तर्य मार्ग द्वारा भावनाहेय क्लेशों का प्रहाण किया जाता है और विमुक्तिमार्ग उस क्लेशनिरोध का साक्षात्कारी या आधार (धारण करने वाला) होता है। ६वें भावनामार्ग का आनन्तर्य मार्गक्षण 'वज्रोपमसमाधि' कहलाता है। इसके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म भी भावनाहेय क्लेशों का सर्वथा प्रहाण हो जाता है और पुद्गल अर्हत् हो जाता है। इस अवस्था का पुद्गल अशैक्ष होता है। अर्हत्-मार्ग की प्राप्ति के साथ उसका शैक्ष्यत्व समाप्त हो जाता है। इसके पहले की अवस्थाओं में वह पुद्गल शैक्ष्य होता है। स्रोतापत्ति मार्ग द्वारा पुद्गल पृथग्जन गोत्र का प्रहाण कर 'आर्य' हो जाता है।

वैभाषिक मतानुसार अर्हत्त्व की प्राप्ति के बाद भी उससे च्युति सम्भव है, किन्तु उसकी स्रोतापन्नत्व से च्युति नहीं होती। उसकी दर्शनमार्ग से च्युति नहीं होती। वह स्रोतापन्न बना रहता है। मन्दप्रज्ञ पुद्गल, जो बिना ध्यान प्राप्त किये लोकोत्तर मार्ग द्वारा अर्हत् हो गया है, वह अत्यधिक सुखसाधन उपलब्ध होने पर अर्हत्त्व से च्युत हो सकता है। अर्हत् भी दो प्रकार के होते हैं- सोपधिशेष अर्हत् एवं निरुधिशेष अर्हत्। च्युति से पूर्व सोपधिशेष एवं च्युति के अनन्तर निरुधिशेष अर्हत् होता है।

बुद्ध-वैभाषिक मतानुसार बोधिसत्त्व जब बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है, तब भी उसका शरीर सास्रव ही होता है तथा वह दुःखसत्य और समुदयसत्य होता है, किन्तु उसकी सन्तान में क्लेश सर्वथा नहीं होते। क्लेशावरण के अलावा ज्ञेयावरण का अस्तित्व ये लोग बिल्कुल नहीं मानते। बुद्ध के १२ चरित्र होते हैं। उनमें से १. तुषित क्षेत्र से च्युति, २. मातृकुक्षिप्रवेश, ३. लुम्बिनी उद्यान में अवतरण, ४. शिल्प विषय में नैपुण्य एवं कौमार्योचित ललित क्रीड़ा तथा ५. रानियों के परिवार के साथ राज्यग्रहण-ये पाँच गृहस्थपाक्षिक चरित्र हैं तथा ६. रोगी, वृद्ध आदि चार निमित्तों को देखकर ससंवेग प्रव्रज्या, ७. नेरंजना के तट पर ६ वर्षों तक कठिन तपश्चरण, ८. बोधिवृक्ष के मूल में उपस्थिति, ९. मार का सेना के साथ दमन, १०. वैशाख पूर्णिमा की रात्रि में बुद्धत्वप्राप्ति, ११. धर्मचक्र प्रवर्तन तथा १२. कुशीनगर में महापरिनिर्वाण-ये सात चरित्र प्रव्रज्यापाक्षिक हैं।

श्रावक-अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध अर्हत् एवं बुद्ध इन तीनों को जब अनुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति हो जाती है, तब इनकी जड़ सन्तति एवं चेतन-सन्तति दोनों धाराएं सर्वथा समाप्त हो जाती हैं। इन दोनों धाराओं का अभाव ही अनुपधिशेषनिर्वाण है और इसकी भी द्रव्यसत्ता

वैभाषिक स्वीकार करते हैं। इनके मत में सभी धर्म द्रव्यसत् और अर्थक्रियाकारी माने जाते हैं। आकाश, निर्वाण आदि सभी धर्म इसी प्रकार के होते हैं। जो सर्वथा नहीं होते, जैसे शशविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि असत् होते हैं। कुछ ऐसे भी वैभाषिक थे, जो निरुधिशेषनिर्वाण के अनन्तर भी चेतनधारा का अस्तित्व मानते थे। वैभाषिकों के मत में सम्भोगकाय एवं धर्मकाय नहीं होता। केवल निर्माणकाय ही होता है।

●

सौत्रान्तिक दर्शन

सौत्रान्तिक निकाय का उद्भव एवं विकास

सामान्यतया विद्वानों की धारणा है कि सौत्रान्तिक निकाय का प्रादुर्भाव बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर द्वितीय शतक में हुआ। पालि-परम्परा के अनुसार वैशाली की द्वितीय संगीति के तत्काल बाद कौशाम्बी में आयोजित महासंगीति में महासांघिक निकाय का गठन किया गया और बौद्ध संघ दो भागों में विभक्त हो गया। थोड़े ही दिनों के अनन्तर स्थविर निकाय से महीशासक और वृजिपुत्रक (वज्जिपुत्तक) निकाय विकसित हुए। उसी शताब्दी में महीशासक निकाय से सर्वास्तिवाद, उससे काश्यपीय; उनसे संक्रान्तिवादी, फिर उससे सूत्रवादी निकाय का जन्म हुआ। आशय यह कि सभी अठारह निकाय उसी शताब्दी में विकसित हो गये।

विभिन्न मत

(क) बुद्ध के परिनिर्वाण के तृतीय शतक में प्रायः सभी निकाय विद्यमान थे, क्योंकि सम्राट् अशोक के काल में जो तृतीय संगीति आयोजित की गई थी, उस अवसर पर मुद्गलीपुत्र तिष्य ने स्थविरवाद से भिन्न सभी सत्रह निकायों का निराकरण करते हुए स्थविरवाद के समर्थन में 'कथावत्थु' (कथावस्तु) नामक ग्रन्थ की रचना की थी। स्थविर तिष्य ने यद्यपि सभी अन्य सिद्धान्तों की समालोचना की, किन्तु निकाय के नामों का समुल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया। यह काम उनके अनन्तर पाँचवी शताब्दी में उत्पन्न प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचार्य बुद्धघोष ने सम्पन्न किया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तिष्य स्थविर के काल में यद्यपि भिक्षु संघों में सिद्धान्तगत मतभेद थे और भिक्षुओं में अपने-अपने सिद्धान्त के प्रति दृढ़ आग्रह भी था, परस्पर विवाद भी प्रचलित थे, जिनका खण्डन स्थविर तिष्य ने किया, किन्तु फिर भी उस समय सिद्धान्तविशेष के साथ निकायविशेष का नाम सम्भवतः विकसित नहीं हुआ था। सिद्धान्त के साथ निकाय के नाम का संयोजन सम्भवतः पश्चात्कालिक है। इस तरह पालिपरम्परा के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के द्वितीय शतक में उस निकाय से सभी अन्य निकाय विकसित हो गये थे। इस क्रम में सौत्रान्तिक निकाय स्थविरवादी निकाय का अन्तिम विकास है।

(ख) इस बात की भी सम्भावना है कि निकायों के विकास के सम्बन्ध में स्थविरों में भी विभिन्न मत रहे हों, किन्तु बुद्धघोष द्वारा अट्ठकथाओं की रचना कर देने के अनन्तर वे सभी समाप्त हो गये। बुद्धघोष का मत अवश्य ही सिंहल देश में विकसित स्थविरवाद के अभयगिरिवासी, महाविहारवासी आदि उपनिकायों में से किसी एक के मत से प्रभावित

होगा, क्योंकि वहीं (सिंहल देश) में बैठकर बुद्धघोष ने अट्ठकथाओं की रचना की थी। आचार्य वसुमित्र, भव्य, विनीतदेव आदि ने अष्टादश निकायों के विकास की जो भिन्न-भिन्न प्रक्रिया और तालिकाएं प्रस्तुत की है, उनसे उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

(ग) अन्य निकायों के अनुसार, जिनका प्रचार-प्रसार उत्तरभारत में था, निकायभेद का यह क्रम यद्यपि आचरण सम्बन्धी विवादों के समाधानार्थ वैशाली में आयोजित द्वितीय संगीति के बाद ही प्रारम्भ हुआ, किन्तु उस संगीति के काल के विशेष में कुछ विवाद है। उनमें से कुछ के अनुसार यह संगीति बुद्ध के बाद ११०वें वर्ष में और कुछ के अनुसार ११६वें वर्ष में सम्पन्न हुई। सौत्रान्तिक निकाय का जन्म किस निकाय से हुआ ? इस विषय में परम्परा में कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं होता। आचार्य वसुमित्र के अनुसार जो निकायवादी धर्मोत्तर को अपना आचार्य मानते हैं, वे धर्मोत्तरीय ही कभी 'सूत्रान्तवादी' और कहीं 'संक्रान्तिवादी' कहलाते हैं। उन (वसुमित्र) के अनुसार सर्वास्तिवाद से इस सौत्रान्तिक निकाय का विकास हुआ। आशय यह है कि सौत्रान्तिक निकाय का विकास यद्यपि परम्परया स्थविरवाद से ही हुआ है, किन्तु साक्षात् जन्म सर्वास्तिवाद से हुआ।

(घ) इस निकाय-विभाजन के विषय में सर्वास्तिवादियों के दो प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक मतानुसार मूलसंघ से स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद आदि १० निकाय तथा महासांघिकों के साथ आठ निकाय विकसित हुए। द्वितीय मत के अनुसार मूलनिकाय चार हैं, यथा-स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद, महासांघिक एवं सम्मितीय। इनसे सभी निकाय विकसित हुए। दोनों ही मतों के अनुसार सौत्रान्तिक निकाय द्वितीय बुद्धाब्द में उत्पन्न हुआ।

(ङ) महासांघिक मतानुसार मूल निकाय तीन हैं, यथा-स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद एवं विभज्यवाद। इनके मतानुसार सौत्रान्तिक निकाय सर्वास्तिवाद से और द्वितीय बुद्धाब्द में उत्पन्न हुआ।

(च) भदन्त वसुमित्र इन उपर्युक्त मतों से भिन्न एक स्वतन्त्र मत उपस्थापित करते हैं। उनके अनुसार सौत्रान्तिक निकाय सर्वास्तिवाद से चतुर्थ बुद्ध शताब्दी में विकसित हुआ। आचार्य धर्मोत्तर इस निकाय के प्रवर्तक थे। इसीलिए यह निकाय उत्तरापथिक या उत्तरीय भी कहलाता है। कभी-कभी सूत्रवाद और कहीं-कहीं यह निकाय संक्रान्तिवाद भी कहलाता है। अनेक स्थलों पर संक्रान्तिवाद सौत्रान्तिकवाद का पूर्ववर्ती और उसका जनक भी कहा गया है। संक्रान्तिक और सौत्रान्तिकों का पर्याय रूप में उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें मतभेद भी था। कालान्तर में ये स्वतन्त्र निकाय के रूप में विकसित हुए।

समीक्षा

(१) निकायों के नामों और काल के विषय में जो मतभेद उपलब्ध होते हैं। उसका

कारण देशभेद और आवागमन की सुविधा का अभाव भी प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ भारत के पश्चिमोत्तर में अर्थात् कश्मीर, गान्धार आदि प्रदेशों में सौत्रान्तिक निकाय कश्मीर वैभाषिकों से पृथक् होकर विलम्ब से अस्तित्व में आया, अतः वसुमित्र उसका उद्भवकाल चतुर्थ बुद्ध शताब्दी निश्चित करते हैं। उस निकाय ने मध्य देश अर्थात् मथुरा आदि स्थानों में पहले ही अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया, अतः वसुमित्र से अन्य आचार्यों का मत भिन्न हो गया। इस प्रकार का मतभेद होने पर भी उनमें मौलिक एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के रूप में काश्यपीय निकाय के विभिन्न नाम विभिन्न प्रदेशों में थे।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक निकाय के बीज बुद्धकाल में ही विद्यमान थे। पालिभाषा में उपनिबद्ध और उपलब्ध प्रामाणिक बुद्धवचनों में तथा भोटभाषा और चीनी भाषा में उपलब्ध एवं सुरक्षित उनके अनुवादों में 'सुत्तन्तिक', 'सुत्तधर' (सूत्रधर), 'सुत्तवादी' (सूत्रवादी) आदि शब्द बहुलतया उपलब्ध होते हैं। ज्ञात है कि उस काल में सिद्धान्तविशेष के लिए 'वाद' शब्द प्रयुक्त होता था। सूत्रों में 'सुत्तधर', 'सुत्तवादी', 'सुत्तन्तिक', 'सुत्तन्तवादी' आदि शब्द उन भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता था, जो सूत्रपिटक के विशेषज्ञ होते थे, जिन्हें सूत्रपिटक कण्ठस्थ था और जो उसके व्याख्यान में निपुण थे।

पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं की जो प्रथम संगीति राजगृह में आयोजित थी, उसके विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि स्थविर आनन्द सूत्रान्तवादियों में तथा उपालि विनयधरों में अग्रगण्य थे। उपस्थित या सम्मिलित सभी अर्हत् भिक्षु यह भी जानते थे कि आनन्द बहुश्रुत हैं और न केवल समस्त बुद्धवचनों के ज्ञाता ही हैं, अपितु उनके आन्तरिक महत्त्व को भी जानते हैं, फिर भी विनय का संगायन उपालि द्वारा तथा मातृकाओं का संगायन महाकाशयप द्वारा सम्पन्न किया गया। आनन्द भी जब तक अर्हत् नहीं हुए तब तक सूत्र या धर्म का संगायन आरम्भ नहीं हुआ। इस घटना से आनन्द का सूत्रवादित्व या सूत्रधरत्व प्रकट होता है। इसी संगीति के विवरणों में सुत्तधर, सुत्तन्तिक, धर्मधर, विनयधर, मातृकाधर, त्रैपिटक भिक्षु आदि सम्बोधन भी भिक्षुओं के उपलब्ध होते हैं। इससे यह भी निष्कर्ष प्रतिफलित होता है कि जो भिक्षु सूत्ररहस्य के मर्मज्ञ थे अथवा सूत्रपिटक को अन्य पिटकों की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली समझते थे, वे सूत्रवादी या सूत्रधर कहलाते थे। इसी तरह जो विनय के मर्मज्ञ थे या उसे महत्त्वशाली समझते थे, वे विनयधर कहलाते थे। यद्यपि उस समय सूत्रधरों और विनयधरों के पृथक् संघटन नहीं थे, किन्तु बौद्धिक क्षेत्र में उनका पृथक् अस्तित्व था।

इन संकेतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सौत्रान्तिक निकाय के बीज या उसकी पृष्ठभूमि भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में ही निर्मित हो गई थी। यद्यपि उस समय सौत्रान्तिक निकाय के नाम से कोई निकाय अलग से संघटित नहीं हुआ था, फिर भी सूत्रविशेषज्ञों की स्वतन्त्र और विशेष स्थिति दृष्टिगोचर होती है। प्रतीत होता है कि ईसा-पूर्व

प्रथम शताब्दी में पृथक् निकाय या दर्शनप्रस्थान के रूप में इसका प्रादुर्भाव हुआ।

सौत्रान्तिक विचारों का उद्भव एवं विकास

परिभाषा-जो निकाय सूत्रों का या सूत्रपिटक का सबसे अधिक प्रामाण्य स्वीकार करता है, उसे सौत्रान्तिक कहते हैं। अट्ठसालिनी में सूत्र शब्द के अनेक अर्थ कहे गये हैं, यथा :

अत्थानं सूचनतो सुवुत्ततो सवनतो थ सूदनतो।
सुत्ताणा सुत्तसभागतो च सुत्तं सुत्तं ति अक्खातं।।

(अट्ठसालिनी, निदानकथावण्णना, पृ. ३६)

सूत्र को ही 'सूत्रान्त' भी कहते हैं अथवा सूत्र के आधार पर प्रवर्तित सिद्धान्त 'सूत्रान्त' कहलाते हैं। उनसे सम्बद्ध निकाय 'सौत्रान्तिक' है। जिन वचनों के द्वारा भगवान् जगत् का हित सम्पादित करते हैं, वे वचन 'सूत्र' हैं। अथवा जैसे मणि, सुवर्ण आदि के दानों को एक धागे में पिरोकर सुन्दर हार (आभूषण) का निर्माण किया जाता है, उसी तरह नाना अध्याशय एवं रुचि वाले सत्त्वों के लिए उपदिष्ट नाना बुद्धवचनों को निर्वाण के अर्थ में जिनके द्वारा आबन्धन किया जाता है, वे सूत्र हैं। महायानी परम्परा के अनुसार बुद्ध का कोई एक भी वचन ऐसा नहीं है, जिसमें ज्ञेय, मार्ग और फल संगृहीत न हो। इसलिए बुद्धवचन ही 'सूत्र' है। अतः 'सूत्र' यह बुद्धवचनों का सामान्य नाम है। यशोमित्र ने अभिधर्मकोशभाष्य की टीका में सौत्रान्तिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है : **'कः सौत्रान्तिकार्थः? ये सूत्रप्रामाणिकाः, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः'** (अभिधर्मकोशभाष्यटीका, स्फुटार्था, पृ. १५) अर्थात् सौत्रान्तिक शब्द का क्या अर्थ है ? जो सूत्र को, न कि शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, वे सौत्रान्तिक हैं। इन्हें ही दार्ष्टान्तिक भी कहते हैं, क्योंकि वे दृष्टान्त के माध्यम से बुद्ध वचनो का व्याख्यान करने में अत्यन्त निपुण होते हैं। इस निर्वचन के द्वारा त्रिपिटक के सम्बन्ध में सौत्रान्तिकों की दृष्टि का संकेत भी किया गया है।

त्रिपिटक-इस विषय में किसी का कोई विवाद नहीं है कि महाकाश्यप आदि महास्थविरों ने बुद्धवचनों का सकंलन करके उन्हें त्रिपिटक का स्वरूप प्रदान किया। काल क्रम में आगे चलकर बुद्धवचनों के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध विविध मत-मतान्तर और विविध साम्प्रदायिक दृष्टियाँ प्रस्फुटिक हुई। इस विषय में सौत्रान्तिकों की विशेष दृष्टि है। इनके मतानुसार स्थविरवादियों का अभिधर्मपिटक, जिसमें धम्मसंगणि, विभंग आदि ७ ग्रन्थ संगृहीत हैं, वह (अभिधर्मपिटक) बुद्धवचन नहीं माना जा सकता। इनका कहना है कि इन ग्रन्थों में असंस्कृत धर्मों की द्रव्यसत्ता आदि अनेक युक्तिहीन सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। भगवान्

बुद्ध कभी भी युक्तिहीन बातें नहीं बोलते, अतः इन्हें बुद्धवचन के रूप में स्वीकार करना असम्भव है। वस्तुतः ये (सातों) ग्रन्थ परवर्ती हैं और आभिधार्मिकों की कृति हैं। अतः ये शास्त्र हैं। उन्होंने इनके रचयिताओं के नामों का भी उल्लेख किया है, यथा-ज्ञानप्रस्थान के कर्ता आर्यकात्यायनीपुत्र, प्रकरणपाद के वसुमित्र, विज्ञानकाय के देवशर्मा, धर्मस्कन्ध के शारीपुत्र, प्रज्ञप्तिशास्त्र के मौद्गलयायन, धातुकाय के पूर्ण तथा संगीतिपर्याय के महाकौष्ठिल्ल कर्ता हैं। ये ग्रन्थ किसी प्रामाणिक पुरुष द्वारा रचित नहीं हैं और न प्रथम संगीति में इनका संगायन ही हुआ है, अतः पृथग्जनों द्वारा विरचचित होने से हम सौत्रान्तिक इन्हें बुद्धवचन नहीं मानते। इनका कहना है कि बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सूत्र ही हमारे मत में प्रमाण हैं, न कि कोई अन्य शास्त्र।

सौत्रान्तिकों की युक्तियों में कुछ-कुछ सत्यांश भी प्रतीत होता है। यह आश्चर्य की ही बात है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दो सौ वर्षों के अनन्तर (तृतीय संगीति के अवसर पर) मौद्गलीपुत्र तिष्य के द्वारा विरचित कथावत्थु नामक ग्रन्थ स्थविरवादियों के द्वारा बुद्धवचन के रूप में मान्य है। इसी तरह स्थविर धर्मत्रात द्वारा विरचित उदानवर्ग सर्वास्तिवादियों के द्वारा बुद्धवचन के रूप में माना जाता है। अपने मत की पुष्टि के लिए स्थविरवादियों द्वारा यह कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध अनागत के ज्ञाता और त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने यह भविष्यवाणी कर दी थी कि मेरे बाद भविष्य में मुद्गलीपुत्र तिष्य उत्पन्न होगा और वह मेरे द्वारा उपदिष्ट मातृकाओं का विस्तार करते हुए कथावत्थु नामक प्रकरण का निर्माण करेगा। अतः बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार निर्मित होने से यह प्रकरण बुद्धवचन है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि स्थविरवादियों की यह युक्ति मान ली जाए तो नागार्जुन के ग्रन्थों को भी बुद्धवचन मानना होगा, क्योंकि उनके बार में भी लङ्कावतार सूत्र एवं मंजुश्रीमूलकल्प आदि में बुद्ध की भविष्यवाणी उपलब्ध है।

इस विषय में स्थविरवादी, सर्वास्तिवादी आदि सौत्रान्तिकों पर आक्षेप करते हैं कि यदि धम्मसंगणि आदि और ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थ अभिधर्मपिटक के रूप में बुद्धवचन नहीं है तथा प्रथम संगीति आदि के अवसर पर उनका संगायन भी नहीं हुआ है तो बुद्धवचनों का त्रिपिटक में संग्रह और त्रिपिटकव्यवस्था सर्वथा निरर्थक हो जाएगी। इतना ही नहीं, सूत्रविरोध भी होगा, क्योंकि सूत्रों में बहुत स्थानों पर 'अभिधर्मपिटक', 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्द (सूत्रवचन) उपलब्ध होते हैं। ये सूत्रवचन (शब्द) न तो अप्रामाणिक हैं और न निरर्थक ही। इसलिए आप (सौत्रान्तिकों) का मत समीचीन नहीं है। अपि च, आपके मत के अनुसार तो अभिधर्मपिटक का अभाव ही हो जाएगा, क्योंकि उन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिन्हें अभिधर्मपिटक कहा जा सके।

दार्ष्टान्तिक इन आक्षेपों का युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आपका यह कहना सही है कि उन ग्रन्थों के अलावा अभिधर्म के अन्य ग्रन्थ नहीं हैं, फिर भी

अभिधर्म के अभाव का दोष नहीं है तथा अभिधर्म के अभाव का दोष भी हम पर लागू नहीं होता, क्योंकि धर्मसंगणि, ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थों को अभिधर्मपिटक के रूप में मानकर सूत्रों में 'अभिधर्मपिटक' और 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया गया है, और न तो भगवान् ने सूत्रपिटक और विनयपिटक से अतिरिक्त अभिधर्मपिटक की देशना ही की है, फिर भी उन्होंने अभिधर्म की देशना तो की है। सूत्रों में ही अनेक जगहों पर (अनेक सूत्रों में) उन्होंने धर्मों के स्वलक्षण और सामान्यलक्षण आदि की विवेचना की है, सूत्रों के ऐसे स्थल या वचन ही वस्तुतः अभिधर्म हैं। जिन सूत्रों में इस प्रकार का धर्मप्रविचय या धर्मों का विश्लेषण उपलब्ध होता है, ऐसे सूत्रविशेष ही हमारे मतानुसार अभिधर्म हैं, जैसे अर्थविनिश्चय आदि सूत्र, न कि धम्मसंगणि, ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थ। 'मातृका' शब्द भी अभिधर्म के पर्याय के रूप में सूत्रों में मिलता है। अभिधर्मधर के लिए मातृकाधर शब्द का प्रयोग स्वयं भगवान् ने ही किया। प्रथम पंचशतिका संगीति में भी अभिधर्म का संगायन महाकाश्यप आदि महास्थविरों ने मातृका के रूप में ही किया है। इसलिए 'अभिधर्मपिटक' 'त्रैपिटक भिक्षु' आदि शब्दों के आधार पर कोई दोष या सूत्रविरोध का आक्षेप हम पर नहीं दिया जा सकता। स्थविरवादी, सर्वास्तिवादी आदि द्वारा भी माना जाता है कि अभिधर्म की देशना भगवान् ने प्रकीर्ण रूप में की है, आर्य कात्यायनीपुत्र आदि ने बाद में उनका संकलन करके ग्रन्थरूप प्रदान किया। इसी से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रथम संगीति के अवसर पर अभिधर्म का अस्तित्व तो था, किन्तु अभिधर्म ग्रन्थों का जैसा स्वरूप आज उपलब्ध है, वैसा उस समय नहीं था।

प्रथम संगीति के प्राचीन वर्णनों के प्रसंग में अभिधर्मपिटक के संगायन का स्पष्ट उल्लेख समुपलब्ध नहीं होता। सर्वास्तिवादियों के क्षुद्रकागम में यद्यपि अभिधर्म के संगायन का उल्लेख मिलता है, तथापि वहाँ महाकाश्यप द्वारा अभिधर्म मातृकाओं के संगायन का ही उल्लेख है। हमारी इस सम्भावना का अपलाप करना शक्य नहीं है कि उस समय वर्तमान अभिधर्म ग्रन्थों का अस्तित्व ही नहीं था। सौत्रान्तिकों का यह कथन वस्तुस्थिति को ही प्रकट करता है कि सात ग्रन्थों वाला अभिधर्म शास्त्र है, न कि सूत्र तथा हम सूत्र को प्रमाण मानने वाले हैं, न कि शास्त्र को प्रमाण मानने वाले। उनका ऐसा कहना साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का द्योतक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब वैभाषिक ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थों को बुद्धवचन के रूप में प्रतिपादित करते हैं, तब स्थविर धर्मत्रात द्वारा संगृहीत उदानवर्ग को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् बुद्ध के द्वारा प्रकीर्ण (बिखरे हुए) रूप में उपदिष्ट वचनों का धर्मत्रात द्वारा किया हुआ 'उदान' नामक संग्रह जैसे बुद्धवचन माना जाता है। वैसे ही ज्ञानप्रस्थान आदि भी संगृहीत ग्रन्थ हैं। अतः उन्हें भी बुद्धवचन मानना चाहिए। किन्तु सौत्रान्तिक उदानवर्ग को भी शास्त्र ही मानते हैं, न कि सूत्र।

परवर्ती सौत्रान्तिक आचार्य, जिन पर महायान का अधिक प्रभाव था, वे भी यही मानते हैं कि सर्वास्तिवादी आदि निकायों के अभिधर्मग्रन्थ बुद्धवचन नहीं है। महायानी आचार्यों का मत भी प्रायः इसी प्रकार का है। सात अभिधर्म ग्रन्थों एवं धर्मत्रातकृत उदानवर्ग का आंशिक बुद्धवचनत्व ही उन्हें मान्य है। इन ग्रन्थों में जो सूत्रवचन उद्धृत हैं, उन सूत्रवचनों को ही वे बुद्धवचन के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। आचार्य वसुबन्धु का मत भी उनके अभिधर्मकोश और उसके स्वभाष्य आदि में इसी प्रकार परिलक्षित होता है।

बुद्धवचनों की नेय-नीतार्थता

बुद्ध के बाद उनके अनुयायियों में उनके वचनों की व्याख्या की दो पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक पद्धति में त्रिपिटक के विशिष्ट वचनों एवं सन्दर्भों की ही व्याख्या की जाती है, न कि समस्त बुद्धवचनों का सामंजस्य या समन्वय सिद्ध किया जाता है। दूसरी पद्धति में न केवल क्लिष्ट वचन और सन्दर्भों का ही अभिप्राय स्पष्ट किया जाता है, अपितु समस्त बुद्धवचनों का समन्वय भी सिद्ध किया जाता है। इसी दूसरी पद्धति द्वारा बुद्धवचनों को नेयार्थता एवं नीतार्थता का विभाजन एवं अभिप्राय और अभिसन्धि का आश्रय ग्रहण करके इष्ट की सिद्धि की गई है।

इस दूसरी पद्धति के पुरस्कर्ता एवं प्रथम प्रमुख आचार्य महायानपथ के प्रदर्शक नागार्जुन थे। स्थविरवाद, वैभाषिक आदि निकाय-परम्परा में भी सूत्रव्याख्यान के अवसर पर नेयार्थ-नीतार्थ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है। सौत्रान्तिक परम्परा में भी यह पद्धति उपलब्ध होती है। सौत्रान्तिकों के भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। यह सम्भव है कि प्राचीन सौत्रान्तिकों में यह मान्यता प्रचलित न हो, किन्तु आचार्य वसुमित्र (सौत्रान्तिक) ने अपने समयभेदों-परचनचक्र नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि क्योंकि सभी सूत्रवचन नीतार्थ विषयक नहीं हैं, अतः सभी सूत्र नीतार्थ ही न होकर वे नेयार्थ भी होते हैं।

आचार्य वसुमित्र एवं भदन्त सुभूतिघोष आदि के ग्रन्थों में यद्यपि यह लिखा हुआ है कि सौत्रान्तिकों को भी बुद्धवचनों की नेयार्थता और नीतार्थता अभीष्ट है, किन्तु कौन सूत्र नीतार्थ हैं और कौन नेयार्थ हैं-इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है। परवर्ती आचार्य धर्मकीर्ति एवं शुभगुप्त के ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि ये प्रथम धर्मचक्र से सम्बद्ध सूत्रों को नीतार्थ तथा प्रज्ञापारमिता सूत्रों को नेयार्थ मानते हैं, क्योंकि ये प्रज्ञापारमिता सूत्रों को बुद्धवचन मानकर उनका अभिप्राय प्रकट करते हैं। अतः वे सूत्र आभिप्रायिक अर्थात् नेयार्थ हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में प्रमाणसमुच्चय के दुरूह स्थलों की टीका करते हुए बाह्यार्थवादी दृष्टि से प्रज्ञापारमितासूत्रों का अभिप्राय प्रकट किया है। उन्होंने कहा है कि प्रज्ञापारमितासूत्रों में शून्यता, निःस्वभावता आदि शब्दों का जो कई बार प्रयोग हुआ है, उनका अर्थ शब्दशः नहीं ग्रहण करना चाहिए। भगवान् ने उनका प्रयोग साभिप्राय किया

है। अतः उनके अभिप्राय का अन्वेषण करना चाहिए। फलतः वे सूत्र आभिप्रायिक अर्थात् नेयार्थ हैं, न कि नीतार्थ।

आचार्य वसुमित्र के अनुसार महायानसूत्रों के सर्वधर्म-निःस्वभावता, शून्यता आदि पदों का अभिप्राय स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता (ईश्वर), कर्मकर्ता और फलभोक्ता (आत्मा) का निषेध है तथा सभी धर्मों की क्षणभङ्गता का प्रतिपादन है और अतीत, अनागत धर्मों की द्रव्यसत्ता का निषेध है। निःस्वभावता, शून्यता आदि निषेधावाचक पद खपुष्प के समान अत्यन्ताभाव का प्रकाशन नहीं करते, अपितु अल्पता प्रकट करते हैं। जैसे धन की अल्पता को धन का अभाव कहा जाता है। अथवा ये निषेधवचन कुत्सित अर्थ को प्रकट करते हैं, जैसे कुपुत्र को अपुत्र कहते हैं। क्योंकि सभी संस्कृत धर्मों की सत्ता अत्यल्प क्षणमात्र होती है और असंस्कृत धर्मों की तो सत्ता होती ही नहीं, अतः सभी संस्कृत, असंस्कृत धर्मों को भगवान् ने शून्य कहा है। क्योंकि निर्वाण से अतिरिक्त सभी धर्म रिक्त, तुच्छ एवं निःसार हैं, अतः कुत्सित एवं निरुपादेय होने से भी वे निःस्वभाव या शून्य कहे गये हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति ने अन्य प्रकार से उनका अभिप्राय प्रकट किया है। उनका कहना है कि धर्मों में जो सामान्य-विशेषभाव, कार्यकारणभाव, लक्ष्यलक्षणभाव, आश्रयाश्रयिभाव आदि दिखालाई पड़ते हैं, उन सारे सम्बन्धों की द्रव्यसत्ता या परमार्थसत्ता बिल्कुल नहीं है-इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान् ने प्रज्ञापारमितासूत्रों में सभी धर्मों को निःस्वभाव या शून्य कहा है, जैसे प्रमाणवार्तिक में उन्होंने कहा है :

व्यापारोपाधिकं सर्वं स्कन्धादीनां विशेषतः।
लक्षणं स च तत्त्वं न तेनाप्येते विलक्षणाः।।

(प्रमाणवार्तिक २ : २१६)

धर्मकीर्ति के बाद जो सौत्रान्तिक आचार्य हुए, उन सभी ने इन्हीं युक्तियों का अनुसरण किया है। मध्यमकालंकार और उसकी पंजिका में सौत्रान्तिकों के बारे में यही लिखा है कि वे बुद्धवचनों की नेयार्थता और नीतार्थता का विभाजन करते हैं। ऐसा कहकर वहाँ सौत्रान्तिक आचार्य शुभगुप्त के मतों का खण्डन भी किया गया है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि नागार्जुन से पूर्ववर्ती सौत्रान्तिक सभी बुद्धवचनों को नीतार्थ ही मानते थे। भद्रचर्या-प्रणिधानसूत्र, षडायतन आदि सूत्र ही उनके आधारभूत प्रमुख सूत्र थे। महायानसूत्रों को वे बुद्धवचन मानने के पक्ष में नहीं थे। परवर्ती सौत्रान्तिक अन्य निकायवादियों के समान बुद्धवचनों की नेयनीतार्थता पर विचार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी प्रमुख युक्तियाँ क्या थीं, इसका उल्लेख उपलब्ध नहीं है। आचार्य शुभगुप्त, धर्मकीर्ति आदि की युक्तियाँ ही प्रधान प्रतीत होती हैं। इतना होने पर भी ऐसा लगता है कि नेयार्थ-नीतार्थ विषयक चर्चा का सौत्रान्तिक मत में उतना महत्त्व नहीं है, जितना योगाचार और माध्यमिक मतों में है।

निष्कर्ष- सौत्रान्तिक निकाय का अस्तित्व तो तृतीय संगीति के अवसर पर सम्राट् अशोक के काल में विद्यमान था, किन्तु दार्शनिक प्रस्थान के रूप में उसका विकास सम्भवतः ईसा पूर्व प्रथम शतक में सम्पन्न हुआ।

निकाय के साथ सौत्रान्तिक शब्द का प्रयोग तो सम्भवतः तब प्रारम्भ हुआ, जब अन्य निकायों और मान्यताओं के बीच विभाजन-रेखा अधिक सुस्पष्ट हुई। सात अभिधर्म ग्रन्थों का संग्रह परवर्ती है, इसलिए बुद्धवचनों के रूप में सौत्रान्तिकों ने उन्हें मान्यता प्रदान नहीं की। सूत्रपिटक और विनयपिटक को प्रामाणिक बुद्धवचन मानकर सौत्रान्तिकों ने अपने सिद्धान्तों की अन्य निकायों से अलग स्थापना की। तभी से सौत्रान्तिक निकाय की परम्परा प्रारम्भ हुई। ऐसा लगता है कि अन्य लोगों ने जब बुद्धवचनों का अभिधर्मपिटक के रूप में संग्रह किया और उन्हें बुद्धवचन के रूप में माना, तब प्रारम्भ में सौत्रान्तिकों ने विरोध किया होगा, किन्तु अन्य निकाय वालों ने उनका विरोध मानने से इन्कार कर दिया होगा, तब विवश होकर उन्होंने पृथक् निकाय की स्थापना की। यह घटना द्वितीय बुद्धाब्द में घटनी चाहिए। महाराज अशोक के काल में सभी निकायों के त्रिपिटक अस्तित्व में आ गये थे। इसीलिए अशोक के समय कथावत्थु नामक ग्रन्थ में अन्य मतों की समालोचना सम्भव हो सकी। इसलिए यह निश्चित होता है कि अभिधर्म का बुद्धवचन सम्बन्धी विवाद एवं सौत्रान्तिक निकाय का गठन उससे पूर्ववर्ती है। यही विवाद अन्ततोगत्वा अन्य निकायों से सौत्रान्तिक निकाय के पृथक् होने के रूप में परिणत हुआ। यही सौत्रान्तिक निकाय के उद्गम का हेतु और काल है।

निकाय के लिए सौत्रान्तिक नाम अत्यन्त सार्थक है। श्रवण मात्र से उनके विचारों और सिद्धान्तों का स्थूल अवबोध हो जाता है। समय-समय पर उनके लिए अन्य नाम भी प्रयुक्त हुए, जैसे कभी हेतुवादी, कभी उत्तरापथिक आदि। दार्ष्टान्तिक भी एक अत्यधिक प्रचलित उनका नाम है। यशोमित्र ने सौत्रान्तिकों के लिए 'दार्ष्टान्तिक-विशेष' शब्द का प्रयोग किया है। इसका यह मतलब नहीं है कि दार्ष्टान्तिक नाम का सौत्रान्तिकों में कोई सम्प्रदाय था, अपितु ऐसा कहने के पीछे यशोमित्र का अभिप्राय यह था कि यह मत कुछ विशिष्ट सौत्रान्तिक आचार्यों का है। क्योंकि ये लोग बुद्धवचनों का अभिप्राय जनता के बीच दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते थे, अतः इस विशेषता के कारण उनका नाम 'दार्ष्टान्तिक' पड़ा। यह उचित भी था, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने भी अधिकतर दृष्टान्तों के द्वारा ही अपना अभिमत प्रकाशित किया था। इस विधि से बड़ी आसानी से लोग तत्त्व का अवबोध कर लेते हैं। भगवान् बुद्ध की इसी शैली का सौत्रान्तिकों ने अनुकरन किया। यही शैली आगे चलकर बौद्ध न्याय शास्त्र के विकास को आधार बनी। बौद्ध न्यायशास्त्र के विकास में सौत्रान्तिकों का योगदान विद्वानों से छिपा नहीं है। दार्शनिक प्रस्थान के रूप में उसका विकास चतुर्थ या पंचम बुद्धाब्द में सम्पन्न हुआ।

सारांश- भगवान् बुद्ध का आविर्भाव ऐसी परिस्थिति में हुआ था, जब मानवीय मूल्य गिर गये थे और सांस्कृतिक दृष्टि से समाज संकटापन्न अवस्था में था। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद ४५ वर्षों तक उन्होंने गाँव-गाँव और नगर-नगर में चारिका करके अनाथ, अनाश्वस्त और दुःखी जनों को अपने उपदेश रूपी अमृत से तृप्त एवं आश्वस्त किया। ८० वर्ष की आयु में जगत् के एक मात्र शरण और जगत् के एकमात्र हितैषी बुद्ध ने परिनिर्वाण प्राप्त कर लिया। उनके अनुयायियों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनके उपदेशों का संग्रह किया, संरक्षण किया और देश-विदेश में उनके विचारों का प्रचार-प्रसार किया। मानव-कल्याण का जो लक्ष्य बुद्ध के सम्मुख था, उसकी पूर्ति वे शताब्दियों तक करते रहे और आज भी अपनी शक्तिभर सम्पन्न कर रहे हैं। उनके अनुयायियों में बड़े-बड़े विद्वान्, साधक और अर्हत् हुए, जिन्हें सूत्रधर, विनयधर, धर्मधर और मातृकाधर कहते थे। कालक्रम में उनके अनुयायियों की वह परम्परा अनेक निकायों में विभक्त हो गई। उसी क्रम में सूत्रधरों की परम्परा पहले सौत्रान्तिक निकाय के रूप में और आगे चलकर सौत्रान्तिक दर्शनप्रस्थान के रूप में विकसित हुई।

सौत्रान्तिक आचार्य और उनकी कृतियाँ

सभी बौद्ध दार्शनिक प्रस्थान बुद्धवचनों को ही अपने-अपने प्रस्थान के आरम्भ का मूल मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विश्व के चिन्तन क्षेत्र में बुद्ध के विचारों का अपूर्व और मौलिक योगदान है। बुद्ध की परम्परा के पोषक, उन-उन दर्शन-सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों और परवर्ती उनके अनुयायियों का महत्त्व भी विद्वानों से छिपा नहीं है। यहाँ हम सौत्रान्तिक दर्शन के प्रवर्तक और प्रमुख आचार्यों का परिचय प्रस्तुत हैं।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को जो विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान की, स्वानुभव की प्रामाणिकता पर बल दिया और किसी भी शास्ता, शास्त्रों के वचनों को विना परीक्षा किये ग्रहण न करने का जो उपदेश दिया, उसकी वजह से उनका शासन उनके निर्वाण के कुछ ही वर्षों के भीतर अनेक धाराओं में विकसित हो गया। अनेक प्रकार की हीनयानी और महायानी संगीतियों का आयोजन इसका प्रमाण है। दो सौ वर्षों के भीतर १८ निकाय विकसित हो गये। इस क्रम में यद्यपि सूत्रवादियों का मत प्रभावशाली और व्यापक रहा है, फिर भी जब उन्होंने देखा कि दूसरे नैकायिकों के मत बुद्ध के साक्षात् उपदेशों से दूर होते जा रहे हैं तो उन्होंने शास्त्रप्रामाण्य का निराकरण करते हुए बुद्ध के द्वारा साक्षात् उपदिष्ट सूत्रों के आधार पर स्वतन्त्र निकाय के रूप में अपने मत की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने सूत्रों में अनेक प्रकार के प्रक्षेपों से बुद्धवचनों की रक्षा की और लोगों का ध्यान मूल बुद्धवचनों की ओर आकृष्ट किया। प्रथम और तृतीय संगीतियों के मध्यवर्ती काल में रचित धम्मसंगणि, कथावत्थु, ज्ञानप्रस्थान आदि ग्रन्थों की बुद्धवचन के रूप में प्रामाणिकता

का उन्होंने जम कर खण्डन किया। उन्होंने कहा कि ये ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचित शास्त्र हैं, न कि बुद्धवचन। जबकि सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी उन्हें बुद्धवचन मानने के पक्ष में थे।

आचार्य परम्परा-सामान्य रूप से आचार्य कुमारलात सौत्रान्तिक दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। तिब्बती और चीनी स्रोतों से भी इसकी पुष्टि होती है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुमारलात से पहले भी अनेक सौत्रान्तिक आचार्य हुए हैं। आचार्य कुमारलात कश्मीर के निवासी थे। ये नागार्जुन, आर्यदेव आदि के समकालीन थे। यह ज्ञात ही है कि सौत्रान्तिक मत अशोक के काल में पूर्णरूप से विद्यमान था। वसुमित्र आदि आचर्यों ने यद्यपि सौत्रान्तिक, धर्मोत्तरीय, संक्रान्तिवाद आदि का उद्भवकाल बुद्ध की तीसरी-चौथी शताब्दी माना था, किन्तु गणनापद्धति कैसी थी, यह सोचने की बात है। पालिपरम्परा और सर्वास्तिवादियों के क्षुद्रकवर्ग से ज्ञात होता है कि धर्माशोक के समय सभी १८ निकाय विद्यमान थे। उन्होंने तृतीय संगीति में प्रविष्ट अन्य मतावलम्बियों का निष्कासन सबसे पहले किया, उसके बाद संगीति आरम्भ हुई। महान् अशोक सभी १८ बौद्ध निकायों के प्रति समान श्रद्धा रखता था और उनका दान-दक्षिणा आदि से सत्कार करता था। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि अशोक के समय सौत्रान्तिक मत सुपुष्ट था और आचार्य कुमारलात निश्चय ही अशोक से परवर्ती हैं, इसलिए अनेक आचार्य निश्चय ही कुमारलात से पहले हुए होंगे, अतः कुमारलात को ही सर्वप्रथम प्रवर्तक आचार्य मानना सन्देह से परे नहीं है। इसमें कहीं कुछ विसंगति प्रतीत होती है।

सौत्रान्तिकों में दो परम्पराएं मानी जाती हैं-आगमानुयायी और युक्ति-अनुयायी। आगमानुयायियों की भी दो शाखाओं का उल्लेख आचार्य भव्य के प्रज्ञाप्रदीप के भाष्यकार अवलोकितेश्वर ने अपने ग्रन्थों में किया है, यथा-क्षणभङ्गवादी और द्रव्यस्थिरवादी। किन्तु इस द्रव्यस्थिरवाद के नाममात्र को छोड़कर उनके सिद्धान्त आदि का उल्लेख वहाँ नहीं है। इस शाखा के आचार्यों का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। संक्रान्तिवादी निकाय का काल ही इसका उद्भव काल है।

ऐसा संकेत मिलता है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद तीन चार सौ वर्षों तक निकाय के साथ आचार्यों के नामों के संयोजन की प्रथा प्रचलित नहीं थी। संघनायक ही प्रमुख आचार्य हुआ करता था। संघशासन ही प्रचलित था। आज भी स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी परम्परा में संघ प्रमुख की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। ऐसा ही अन्य निकायों में भी रहा होगा। सौत्रान्तिकों में भी यही परम्परा रही होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

सौत्रान्तिक प्रायशः सर्वास्तिवादी मण्डल में परिगणित होते हैं, क्योंकि वे उन्हीं से निकले हैं। सर्वास्तिवादियों के आचार्यों की परम्परा शास्त्रों में उपलब्ध होती है। और भी अनेक आचार्य सूचियाँ उपलब्ध होती हैं। उनमें मतभेद और विसंगतियाँ भी हैं, किन्तु इतना

निश्चित है कि बुद्ध से लेकर अश्वघोष या नागार्जुन तक के आचार्य पूरे बौद्ध शासन के प्रति निष्ठावान् हुआ करते थे।

सौत्रान्तिक दर्शन के प्रमुख आचार्य

(१) आचार्य भदन्त

साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि सौत्रान्तिक दर्शन के आचार्यों की लम्बी परम्परा रही है। भोटदेशीय साक्ष्य के अनुसार सौत्रान्तिकों के प्रथम आचार्य कश्मीर निवासी महापण्डित महास्थविर भदन्त थे। ये कनिष्क के समकालीन थे। उस समय कश्मीर में 'सिंह' नामक राजा राज्य कर रहे थे! बौद्ध धर्म के प्रति अत्यधिक श्रद्धा के कारण वे संघ में प्रव्रजित हो गये। संघ ने उन्हें 'सुदर्शन' नाम प्रदान किया। स्मृतिमान् एवं सम्प्रजन्य के साथ भावना करते हुए उन्होंने शीघ्र ही अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया। उनके विश्रुत यश को सुनकर महाराज कनिष्क भी उनके दर्शनार्थ पहुँचा और उनसे धर्मोपदेश ग्रहण किया। उस समय कश्मीर में शूद्र या सूत्र नामक एक अत्यन्त धनाढ्य ब्राह्मण रहता था। उसने दीर्घकाल तक सौत्रान्तिक आचार्य भदन्त प्रमुख पाँच हजार भिक्षुओं की सत्कारपूर्वक सेवा की। यद्यपि आचार्य भदन्त कनिष्ककालीन थे, फिर भी यह घटना कनिष्क के प्रारम्भिक काल की है। बहुत समय के बाद कनिष्क के अन्तिमकाल में उनकी संरक्षता में जालन्धर या कश्मीर में तृतीय संगीति (सर्वास्तिवादी सम्मत) आयोजित की गई। उसी संगीति में 'महाविभाषा' नामक बुद्धवचनों की प्रसिद्ध टीका का निर्माण हुआ। महाविभाषा शास्त्र में सौत्रान्तिक सिद्धान्तों की चर्चा के अवसर पर अनेक स्थानों पर स्थविर भदन्त के नाम का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थविर भदन्त सौत्रान्तिक दर्शन के महान् आचार्य थे और कनिष्ककालीन संगीति के पूर्व विद्यमान थे।

(२) श्रीलात

सौत्रान्तिक आचार्य परम्परा में स्थविर भदन्त के बाद काल की दृष्टि से दूसरे आचार्य श्रीलात प्रतीत होते हैं। ग्रन्थों में उनके श्रीलात, श्रीलाभ, श्रीलब्ध, श्रीरत आदि अनेक नाम उपलब्ध होते हैं। इनमें से उनका कौन नाम वास्तविक है, इसका निश्चय करना कठिन है। भोट-अनुवाद के अनुसार श्रीलात नाम ठीक प्रतीत होता है। अभिधर्मकोशभाष्य में अनेक जगह यही नाम प्रयुक्त हुआ है।

स्थविर श्रीलात से सम्बद्ध उनके जीवनवृत्त का व्यवस्थित और पर्याप्त विवरण कहीं उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध धर्म के इतिहास ग्रन्थों में और ह्वेनसांग की भारत यात्रा के विवरण में प्रसंगवश उनके नाम का उल्लेख हुआ है। अभिधर्मकोशभाष्य और उसकी टीकाओं में

सिद्धान्तों के खण्डन या मण्डन के अवसरों पर श्रीलात या श्रीलाभ के सिद्धान्तों के उद्धरण दिखलाई पड़ते हैं। इसी तरह माध्यमिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में आचार्य के नाम का उल्लेख किया है। इन सब आधारों पर स्थविर श्रीलात का जीवनवृत्तान्त संक्षेप में निम्नलिखित है :

आचार्य श्रीलात कश्मीर के निवासी थे। सम्भवतः तक्षशिला में आचार्य पद पर प्रतिष्ठत थे। इनके शिष्य परिवार में बहुसंख्यक श्रामणेर और भिक्षु विद्यमान थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इससे विपरीत चीनी यात्री हेनसांग इनका निवास स्थान अयोध्या बतलाते हैं। उस समय अयोध्या प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र था। हो सकता है कि श्रीलात जैसे प्रसिद्ध विद्वान् वहाँ भी आये हों और निवास किया हो। यह असंगत भी नहीं है, क्योंकि गान्धार देश में जन्मे आचार्य असंग और वसुबन्धु का भी विद्याक्षेत्र अयोध्या ही रहा है। अयोध्या उस समय बौद्ध और अबौद्ध सभी प्रकार के विद्वानों की समवाय-स्थली थी। हेनसांग अपने यात्राविवरण में आगे लिखते हैं कि अयोध्या से कुछ दूरी पर सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित एक संघाराम है, उसमें लगभग २०० फुट ऊँचा एक स्तूप है। उस स्तूप के समीप एक दूसरा भी भग्न (खण्डहर के रूप में) संघाराम है, जिसमें बैठकर श्रीलब्ध शास्त्री ने सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुरूप एक 'विभाषाशास्त्र' की रचना की थी। इस वृत्तान्त से बुद्धशासन से सम्बद्ध श्रीलात के कार्यों की सूचना मिलती है। अन्य ग्रन्थों में उनके जन्मस्थान की चर्चा नहीं मिलती, किन्तु अयोध्या या मध्यप्रदेश का सर्वत्र चारिका करने वाले बौद्ध भिक्षु का विद्याक्षेत्र अयोध्या होना आश्चर्यकर नहीं है।

स्थविर भदन्त और श्रीलात के काल में अधिक अन्तर नहीं है। भदन्त के कुछ ही वर्षों बाद आचार्य श्रीलात का समय निर्धारित किया जा सकता है। कनिष्क के निधन के बाद उनका पुत्र सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसी समय नागार्जुन के गुरु विद्वन्मूर्धन्य सरहपाद, सरोरुवज्र अथवा राहुलभद्र भी विद्यमान थे। उसी समय वाराणसी में वैभाषिक आचार्य बुद्धदेव भी हजारों भिक्षुओं के साथ विराजमान थे। ये सभी आचार्य समकालिक हैं। यह वह समय था, जब सौत्रान्तिक चिन्तन पराकष्ठा को प्राप्त था। इस तरह आचार्य श्रीलात का समय हम बुद्धाब्द चतुर्थ शतक के अन्तिम भाग अथवा ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में या इसके आसपास निश्चित कर सकते हैं, क्योंकि सम्राट् कनिष्क के अवसान के समय इनके अस्तित्व का साक्ष्य उपलब्ध है। यही आचार्य नागार्जुन के जीवन का आदिम काल भी है।

कृतियाँ

ऊपर कहा गया है कि आचार्य श्रीलात ने सौत्रान्तिक सम्मत विभाषाशास्त्र की रचना की थी। इनके अतिरिक्त भी उनकी रचनाएं सम्भावित हैं, किन्तु यह मात्र कल्पना ही है

इस समय विभाषाशास्त्र नहीं उपलब्ध है। आचार्य के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त तथा दार्शनिक विशेषताएं अभिधर्मकोशभाष्य और उसकी यशोमित्रकृत स्फुटार्था टीका में उद्धरण के रूप में मिलते हैं। किन्तु इतने मात्र से उनके सम्पूर्ण दर्शन का आकलन सम्भव नहीं है।

(३) कुमारलात

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद चौथे-पाँचवें शतक में प्रायः सभी निकाय विभिन्न स्थानों में वृद्धिंगत एवं पुष्ट होते हुए बुद्धशासन का प्रचार-प्रसार करते दृष्टिगोचर होते हैं। दक्षिण भारत में प्रायः स्थविरों का बाहुल्य और प्राबल्य था। मथुरा से लेकर मगध पर्यन्त मध्यप्रदेश में सर्वास्तिवादियों का अधिक प्रचार था। भारत के पश्चिमी भाग में जालन्धर से लेकर कश्मीर और गन्धार पर्यन्त सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिकों का विशेष प्रभाव था। इसी समय आचार्य कुमारलात का जन्म हुआ। विविध ग्रन्थों में कुमारलात के नाम में कुछ-कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, यथा- कुमारलात, कुमारलाभ, कुमारलब्ध, कुमाररत आदि। भोटदेशीय परम्परा कुमारलात का जन्मस्थान पश्चिमभारत निर्दिष्ट करती है। चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसांग दोनों का कहना है कि आचार्य का जन्मस्थान तक्षशिला था। ह्वेनसांग कुमारलात के बारे में निम्न विवरण प्रस्तुत करते हैं :

"तक्षशिला से लगभग १२-१३ 'ली' की दूरी पर महाराज अशोक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। यह वही स्थान है, जहाँ पर बोधिसत्त्व चन्द्रप्रभ ने अपने शरीर का दान किया था। स्तूप के समीप एक संघाराम है, जो भग्नावस्था में दिखाई देता है, उसी संघाराम में कुछ भिक्षु निवास करते हैं। इसी स्थान पर बैठकर (निवास करते हुए) सौत्रान्तिक दर्शनसम्प्रदाय के अनुयायी कुमारलब्ध शास्त्री ने प्राचीनकाल में कुछ ग्रन्थों की रचना की थी। अन्य इतिहासज्ञ भी तक्षशिला को आचार्य का जन्मस्थान कहते हैं"। ह्वेनसांग पुनः कहते हैं :

"कुमारलात ने तक्षशिला में निवास किया। बचपन से ही वे विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। कम उम्र में ही वे विरक्त होकर प्रव्रजित हो गये थे। उनका सारा समय पवित्र ग्रन्थों के अवलोकन में तथा अध्यात्मचिन्तन में व्यतीत होता था। वे प्रतिदिन ३२००० शब्दों का स्वाध्याय और उतने ही का लेखन करते थे। अपने साथियों और सहाध्यायियों में उनकी विलक्षण योग्यता की प्रायः चर्चा होती थी। उनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो गई थी। सद्धर्म के सिद्धान्तों को उन्होंने लोक में निर्दोष निरूपित किया और अनेक विधर्मी तैर्थिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। शास्त्रार्थ कला में उनके विलक्षण चातुर्य की लोक में चर्चा होती थी। शास्त्रसम्बन्धी ऐसी कोई कठिनाई नहीं थी, जिसका उचित समाधान करने में वे सक्षम न हों। सारे भारत के विभिन्न भागों से जिज्ञासु लोग उनके दर्शनार्थ आते रहते थे और उनका सम्मान करते थे। उन्होंने लगभग २० ग्रन्थों की रचना की। ये ही सौत्रान्तिक दर्शनप्रस्थान के प्रतिष्ठापक थे"।

इन विवरणों से ज्ञात होता है कि आचार्य कुमारलात पश्चिम भारत में तक्षशिला महाविहार में पण्डित पद पर प्रतिष्ठत थे। उनके अध्ययन-अध्यापन की कीर्ति विस्तृत रूप से फैली हुई थी। भोटदेशीय परम्परा भी इस मत की समर्थक है। सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम या प्रमुख आचार्य कौन थे ? इस विषय का हमने पहले विवेचन किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के मत का अनुसरण करते हुए प्रायः इतिहास-विशेषज्ञ स्थविर कुमारलात को ही सौत्रान्तिक दर्शन का प्रवर्तक निरूपित करते हैं।

कुमारलात का समय

आचार्य कुमारलात के काल के बारे में प्रायः सभी ऐतिहासिक स्रोत, सामग्री एवं विद्वान् एक मत है कि उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। ह्वेनसांग का कहना है :

पूर्व दिशा में अश्वघोष, दक्षिण में आर्यदेव, पश्चिम में नागार्जुन तथा उत्तर में कुमारलात समानकालीन थे। ये चारों महापण्डित संसार-मण्डल को प्रकाशित करनेवाले चार सूर्यों के समान थे। कश्य-अन्टो (?) देश के राजा ने उनके गुणों और पण्डित्य से आकृष्ट होकर उनका (कुमारलात का) अपहरण कर लिया था और उनके लिए वहाँ एक संघाराम का निर्माण किया था"।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि कुमारलात नागार्जुन के समकालिक थे। नागार्जुन के काल के बारे में भी विद्वानों में बहुत विवाद है। इस विषय की चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है, फिर भी उनका काल ईसा की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध समीचीन प्रतीत होता है। यही कुमारलात का भी काल है और आर्यदेव का भी, क्योंकि आर्यदेव नागार्जुन के साक्षात् शिष्य थे।

यद्यपि कुमारलात का नाम अभिधर्मकोश से सम्बद्ध भाष्य और टीकाओं में प्रचुर रूप से उपलब्ध होता है, किन्तु महाविभाषा, जो अभिधर्मपिटक की प्राचीनतम व्याख्या है, उसमें उनके नाम की चर्चा नहीं है। उसमें स्थविर भदन्त और उनके दार्ष्टान्तिक सिद्धान्तों की चर्चा है। यदि कुमारलात महाविभाषा की रचना के पूर्व विद्यमान होते तो यह सम्भव नहीं था कि इतने महान् और लोकविश्रुत महापण्डित के नाम का उल्लेख उसमें न होता। इसलिए यह निश्चय होता है कि कुमारलात महाविभाषाशास्त्र की रचना से परवर्ती हैं।

हमारे विचारों में कुमारलात सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम प्रवर्तक आचार्य नहीं थे, अपितु आचार्यपरम्परा के क्रम में उनका स्थान तृतीय है। शास्त्रनैपुण्य और गम्भीर ज्ञान की दृष्टि से उनका स्थान प्रथम हो सकता है, किन्तु काल की दृष्टि से वे प्रथम थे-विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर ऐसा कहने में हम असमर्थ हैं।

कृतियाँ

आचार्य कुमारलात ने २० ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु उनमें से आज कोई भी उपलब्ध नहीं होते हैं। परवर्ती शास्त्रों में उनके ग्रन्थों में से कुछ संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं। चीनीस्रोत के आधार पर 'दृष्टान्तपंक्ति' नामक ग्रन्थ उनके द्वारा प्रणीत है, ऐसा उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ कुमारलात से पूर्व स्थिर भदन्त के समय विद्यमान था, इसकी भी सूचना प्राप्त होती है। 'कल्पनामण्डितिका' आचार्य की ही कृति है, इसका संकेत और स्रोत उपलब्ध है। भोटदेशीय विद्वान् छिम्-जम्-पई-यंग महोदय ने आचार्य कुमारलात के मतों का निरूपण करते हुए उनके 'दुःखसप्तति' नामक एक ग्रन्थ से एक पद्य उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भी उनकी रचना है। इनके अलावा अन्य ग्रन्थों के साथ कुमारलात के सम्बन्ध की सूचना उपलब्ध नहीं है।

अन्य प्राचीन आचार्य

किसी जीवित निकाय का यही लक्षण है कि उसकी अविच्छिन्न आचार्यपरम्परा विद्यमान रहे। यदि वह बीच में टूट जाती है तो वह निकाय समाप्त हो जाता है। यही स्थिति प्रायः सौत्रान्तिक निकाय की है। भदन्त कुमारलात के अनन्तर उस निकाय में कौन आचार्य हुए, यह अत्यन्त स्पष्ट नहीं है। यद्यपि छिटपुट रूप में कुछ आचार्यों के नाम ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, यथा-भदन्त रत (लात), राम, वसुवर्मा आदि, किन्तु इतने मात्र से कोई अविच्छिन्न परम्परा सिद्ध नहीं होती और न तो उनके काल और कृतियों के बारे में ही कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। ये सभी सौत्रान्तिक निकाय के प्राचीन आचार्य 'आगमानुयायी सौत्रान्तिक' थे, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, क्योंकि नागार्जुनकालीन ग्रन्थों में इनके नाम की चर्चा नहीं है। यद्यपि अभिधर्मकोश आदि वैभाषिक या सर्वास्तिवादी ग्रन्थों में इनके नाम यत्र तत्र यदा कदा दिखलाई पड़ते हैं। वसुबन्धु के बाद यशोमित्र भी आगमानुयायी सौत्रान्तिक परम्परा के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपनी स्फुटार्था टीका में अपनी सौत्रान्तिकप्रियता प्रकट की है, यह अन्तःसाक्ष्य के आधार पर विज्ञ विद्वानों द्वारा स्वीकार किया जाता है।

(४) वसुबन्धु

बौद्ध जगत् में आचार्य वसुबन्धु के प्रकाण्ड पाण्डित्य और शास्त्रार्थ-पटुता की बड़ी प्रतिष्ठा है। अपनी अनेक कृतियों द्वारा उन्होंने बुद्ध के मन्तव्य का लोक में प्रसार करके लोक का महान् कल्याण सिद्ध किया है। उनके इस परहित कृत्य को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'द्वितीय बुद्ध' की उपाधि से विभूषित किया। आचार्य वसुबन्धु शास्त्रार्थ में अत्यन्त निपुण थे। उन्होंने महावैयाकरण वसुरात को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। सुना जाता है

कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी ने उनके गुरु बुद्धमित्र को पराजित कर दिया था। इस पराजय का बदला लेने के लिए वसुबन्धु विन्ध्यवासी के पास शास्त्रार्थ करने पहुँचे, किन्तु तब तक विन्ध्यवासी का निधन हो गया था। फलतः उन्होंने विन्ध्यवासी के 'सांख्यसप्तति' ग्रन्थ के खण्डन में 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ की रचना की।

गान्धार प्रदेश के पुरुषपुर (पेशावार) में आचार्य का जन्म हुआ था। ये कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे। ये तीन भाई थे। बड़े भाई का नाम असंग, छोटे का विरिञ्चिवत्स था और ये उन दोनों के मध्य में थे। भोटदेशीय इतिहासकार लामा तारानाथ और बुदोन के अनुसार इन्होंने संघभद्र से विद्याध्ययन किया था। आचार्य परमार्थ के अनुसार इनके गुरु बुद्धमित्र थे। ह्वेनसांग के मतानुसार परमार्थ इनके गुरु थे। सम्भव है कि इन्होंने विभिन्न गुरुओं के समीप बैठकर ज्ञानार्जन किया हो।

उस काल में अयोध्या प्रधान विद्याकेन्द्र के रूप प्रतिष्ठित थी। यहीं निवास करते हुए उन्होंने गम्भीर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन-अध्यापन और अभिधर्मकोश आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया था। तारानाथ के मतानुसार नालान्दा में प्रव्रजित होकर वहीं उन्होंने सम्पूर्ण श्रावकपिटक का अध्ययन किया था और उसके बाद विशेष अध्ययन के लिए ये आचार्य संघभद्र के समीप गये थे। इनकी विद्वत्ता की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर अयोध्या के सम्राट् चन्द्रगुप्त सांख्य मत को छोड़कर बौद्ध मत के अनुयायी हो गये थे। उन्होंने अपने पुत्र बालादित्य को और अपनी पत्नी महारानी ध्रुवा को अध्ययन के लिए इनके समीप भेजा था। तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ की पञ्जिका के रचयिता आचार्य कमलशील ने अपने ग्रन्थ में इनके वैदुष्य की बड़ी प्रशंसा की है। अस्सी वर्ष की आयु में अयोध्या में ही इनका देहावसान हुआ। तारानाथ के मतानुसार नेपाल में और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार गान्धार में इनका निधन हुआ।

जीवन के प्रारम्भिक काल में ये सर्वास्तिवादी थे। आचार्य संघभद्र के प्रभाव से ये 'कश्मीर-वैभाषिक' हो गए और उसी समय इन्होंने अभिधर्मकोश का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ का विद्वत्समाज में बड़ा आदर था। महाकवि बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित ग्रन्थ में अभिधर्मकोश का उल्लेख किया है। सिंहलद्वीप के महाकवि श्रीराहुल संघराज ने १५वीं विक्रम शताब्दी में प्रणीत अपने ग्रन्थ मोग्गलानपंचिकाप्रदीप में अभिधर्मकोश के वचन का उद्धरण दिया है।

आचार्य वसुबन्धु सभी अठारह निकाय के तथा महायान के दार्शनिक सिद्धान्तों के अद्वितीय ज्ञाता थे, यह बात उनकी कृतियों से स्पष्ट होती है। सर्वप्रथम वे सर्वास्तिवादी निकाय में प्रव्रजित हुए। तदनन्तर उन्होंने कश्मीर में वैभाषिक शास्त्रों का अध्ययन किया। उस समय कश्मीर में सौत्रान्तिकों का प्रभावक्षेत्र विस्तृत एवं घनीभूत हो रहा था। सौत्रान्तिकों का दार्शनिक परिवेश निश्चय ही वैभाषिकों की अपेक्षा सूक्ष्म भी था और युक्तिसंगत भी।

फलतः आचार्य ने अपने अभिधर्मकोश और उसके स्वभाष्य में यत्र तत्र वैभाषिकों की विसंगतियों की ओर इंगित भी किया और उनकी आलोचना भी की है। उनकी रचनाओं के अध्ययन से एक बात निश्चय ही स्पष्ट होती है कि वे एक स्वतन्त्र विचारक एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे सौत्रान्तिक विचारों की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी। यह बात इस घटना से भी पुष्ट होती है कि वैभाषिक आचार्य संघभद्र ने वसुबन्धु के अभिधर्मकोश के खण्डन में 'न्यायानुसार' नामक ग्रन्थ लिखा। जिन-जिन स्थलों पर वसुबन्धु वैभाषिक विचारों से दूर होते दृष्टिगोचर हुए, उन स्थलों पर संघभद्र उनकी समालोचना करते हैं। भोटदेशीय आचार्यों का कहना है कि वसुबन्धु अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में सौत्रान्तिक दर्शन से सम्बद्ध थे। वहाँ के तक्-छङ् लोचावा शेरब्-रिन्छेन का तो यहाँ तक कहना है कि वे सौत्रान्तिक दर्शन के प्रथम आचार्य थे। किन्तु उनके इस कथन में आंशिक ही सत्यता है। क्योंकि चतुर्थ-पंचम शताब्दी के आचार्य वसुबन्धु से बहुत पहले ही सौत्रान्तिकों की दार्शनिक विचारधारा पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य वसुबन्धु असाधारण विद्वान् थे, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे प्रथम आचार्य थे। सौत्रान्तिकदर्शन से सम्बद्ध उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। इतना ही नहीं, विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में उन्होंने सौत्रान्तिकों का जमकर खण्डन भी किया है। निश्चय ही वसुबन्धु सौत्रान्तिक दर्शन के मर्मज्ञ, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र एवं प्रामाणिक विद्वान् थे। वे केवल सौत्रान्तिक दर्शन के ही आचार्य नहीं थे।

समय- वसुबन्धु के काल के विषय में बहुत विवाद है। ताकाकुसू के अनुसार ४२०-५०० ईसवीय वर्ष उनका काल है। वोगिहारा महोदय के मतानुसार आचार्य ३९० से ४७० ईसवीय वर्षों में विद्यमान थे। सिलवां लेवी उनका समय पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं। एन. पेरी महोदय उनका समय ३५० ईसवीय वर्ष सिद्ध करते हैं। फ्राउ वाल्नर महोदय इसी मत का समर्थन करते हैं। इन सब विवादों के समाधान के लिए कुछ विद्वान् दो वसुबन्धुओं का अस्तित्व मानते हैं। उनमें एक वसुबन्धु तो आचार्य असङ्ग के छोटे भाई थे, जो महायानशास्त्रों के प्रणेता हुए तथा दूसरे वसुबन्धु सौत्रान्तिक थे, जिन्होंने अभिधर्मकोश की रचना की। विन्टरनित्ज़, मैकडोनल, डॉ. स्मिथ, डॉ. विद्याभूषण, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य आदि विद्वान् आचार्य को ईसवीय चतुर्थ शताब्दी का मानते हैं। परमार्थ ने आचार्य वसुबन्धु की जीवनी लिखी है। परमार्थ का जन्म उज्जैन में हुआ था और उनका समय ४९९ से ५६९ ईसवीय वर्षों के मध्य माना जाता है। ५६९ में चीन के कैन्टन नगर में उनका देहावसान हुआ था। ताकाकुसू ने परमार्थ की इस वसुबन्धु की जीवनी का न केवल अनुवाद ही किया है, अपितु उसका समीक्षात्मक विशिष्ट अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। उनके विवरण के अनुसार वसुबन्धु का जन्म बुद्ध के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष के अनन्तर हुआ। इस गणना के अनुसार ईसवीय पंचम शताब्दी उनका समय निश्चित होता

है। इससे विक्रमादित्य-बालादित्य की समकालीनता भी समर्थित हो जाती है। महाकवि वामन ने अपने काव्यालङ्कार में भी यह बात कही है।

आचार्य कुमारजीव ने वसुबन्धु के अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया है। वे ३४४ से ४१३ ईसवीय वर्ष में विद्यमान थे। सुना जाता है कि कुमारजीव ने अपने गुरु सूर्यसोम से वसुबन्धु के सद्धर्मपुण्डरीकोपदेशशास्त्र का अध्ययन किया था। आर्यदेवविरचित शतशास्त्र की वसुबन्धुरचित व्याख्या का चीनी भाषा में अनुवाद ४०४वें ईसवीय वर्ष में तथा वसुबन्धुप्रणीत बोधिचित्तोत्पादशास्त्र का ४०५वें वर्ष में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। बोधिरुचि ने वसुवन्धु वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्र की वज्रर्पिकृत व्याख्या का अनुवाद ५३५ ईसवीय वर्ष में सम्पन्न किया था। इन प्रमाणों के आधार पर महायान-ग्रन्थों के रचयिता वसुबन्धु का समय चतुर्थ ईसवीय शताब्दी निश्चित होता है। चतुर्थ शतक में उत्पन्न वसुबन्धु अभिधर्मकोशकार वसुबन्धु से भिन्न प्रतीत होते हैं। अभिधर्मकोश के व्याख्याकार यशोमित्र अपनी व्याख्या में वसुबन्धु नामक एक अन्य आचार्य की सूचना देते हैं। वे उन्हें 'वृद्धाचार्य वसुबन्धु' कहते हैं। तिब्बती परम्परा आचार्य को बुद्ध के नवम शतक में विद्यमान मानती है। बीसवीं शताब्दी में भोटदेशीय इतिहासकार गे-दुन्-छोस्-फेल महोदय का कहना है कि भोटदेशीय सम्राट् स्रोङ्-चन्-गम्पो, भारतीय सम्राट् श्रीहर्ष, आचार्य दिङ्नाग, कवि कालिदास, आचार्य दण्डी, इस्लाम धर्मप्रवर्तक मोहम्मद साहब ये सब महापुरुष कुछ काल के अन्तर से प्रायः समान कालिक थे। परमार्थ, ह्वेनसांग, तारानाथ, ताकाकुसू आदि इतिहासवेत्ताओं का कहना है दो वसुबन्धुओं की कल्पना निरर्थक है, वसुबन्धु एक ही थे और वे ४२० से ५०० ईसवीय वर्षों के मध्य विद्यमान थे। आधुनिक इतिहासकार भी इसी मत का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य वसुबन्धु की अनेक कृतियाँ है।

परवर्ती परम्परा

आचार्य वसुबन्धु के बाद सभी अठारह बौद्ध निकायों में तत्त्वमीमांसा की प्रणाली में कुछ नया परिवर्तन दिखाई देता है। तत्त्वचिन्तन के विषय में यद्यपि इसके पहले भी तर्कप्रधान विचारपद्धति सौत्रान्तिकों द्वारा आरम्भ की गई थी और आचार्य नागार्जुन ने इसी तर्कपद्धति का आश्रय लेकर महायान दर्शनप्रस्थान को प्रतिष्ठित किया था, स्वयं आचार्य वसुबन्धु भी प्रमाणमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और वादविधि के प्रकाण्ड पण्डित थे, फिर भी वसुबन्धु के बाद ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में कुछ इस प्रकार का विकास दृष्टिगोचर होता है, जिससे सौत्रान्तिकों की वह प्राचीन प्रणाली अपने स्थान से किञ्चित् परिवर्तित सी दिखाई देती है। उनके सिद्धान्तों और पूर्व मान्यताओं में भी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। अपनी तर्कप्रियता, विकासोन्मुख प्रकृति एवं मुक्तचिन्तन की पक्षपातिनी दृष्टि के कारण वे अन्य दर्शनों की समकक्षता में आ गये। ज्ञात है कि प्राचीन सौत्रान्तिक 'आगमानुयायी' कहलाते

थे। उनका साम्प्रदायिक परिवेश अब बदलने लगा। यह परिवर्तन सौत्रान्तिकों में विचारों की दृष्टि से संक्रमण काल कहा जा सकता है। इसी काल में आचार्य दिङ्नाग का प्रादुर्भाव होता है। उन्होंने प्रमाणमीमांसा के आधार पर सौत्रान्तिक दर्शन की पुनः परीक्षा की और उसे नए तरीके से प्रतिष्ठापित किया। दिङ्नाग के बाद सौत्रान्तिकों को प्राचीन आगमानुयायी परम्परा प्रायः नामशेष हो गई। उस परम्परा में कोई प्रतिभासम्पन्न आचार्य उत्पन्न होते दिखलाई नहीं देता।

(५) आचार्य दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग का जन्म दक्षिण भारत के काञ्चीनगर के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान पर विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था। उन्होंने अपने आरम्भिक जीवन में परम्परागत सभी तैर्थिकों शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था और उनमें पूर्ण पारंगत पण्डित हो गये थे। इसके बाद वे वात्सीपुत्रीय निकाय के महास्थविर नागदत्त से प्रव्रज्या ग्रहण कर बौद्ध भिक्षु हो गये। 'दिङ्नाग' यह नाम प्रव्रज्या के अवसर पर दिया हुआ उनका नाम है। महास्थविर नागदत्त से ही उन्होंने समस्त श्रावक पिटकों एवं शास्त्रों का अध्ययन किया था और उनमें परम निष्णात हो गये थे। एक दिन महास्थविर नागदत्त ने उन्हें शमथ और विपश्यना विषय को समझाते हुए अनिर्वचनीय पुद्गल की देशना की। दिङ्नाग अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के स्वतन्त्र विचारक पण्डित थे। उन्हें अनिर्वचनीय पुद्गल का सिद्धान्त रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। गुरु के उपदेश की परीक्षा के लिए अपने निवास-स्थान पर आकर उन्होंने दिन में सारे दरवाजों-खिड़कियों को खोलकर तथा रात में चारों ओर दीपक जलाकर कपड़ों को उतार कर सिर से पैर तक सारे अंगों को बाहर-भीतर सूक्ष्म रूप में निरीक्षण करते हुए अनिर्वचनीय पुद्गल को देखना शुरु किया। अपने साथ अध्ययन करने वाले साथियों के यह पूछने पर कि 'यह आप क्या कर रहे हैं' ? दिङ्नाग ने कहा- 'पुद्गल की खोज कर रहा हूँ'। सूक्ष्मतया निरीक्षण करने पर भी उन्होंने कहीं पुद्गल की प्राप्ति नहीं की। शिष्यपरम्परा से यह बात महास्थविर गुरु नागदत्त तक पहुँच गई। नागदत्त को लगा कि दिङ्नाग हमारा अपमान कर रहा है और अपने निकाय के सिद्धान्तों के प्रति उसे अविश्वास है। गुरु ने दिङ्नाग पर कुपित होकर उन्हें संघ से बाहर निकाल दिया। निकाल दिये जाने के बाद क्रमशः चारिका करते हुए वे आचार्य वसुबन्धु के समीप पहुँचे।

इस अनुश्रुति से यह निष्कर्ष निकलता है कि दिङ्नाग पहले वात्सीपुत्रीय निकाय में प्रव्रजित हुए थे, किन्तु उस निकाय के दार्शनिक सिद्धान्त उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं हुए। इसके बाद आचार्य वसुबन्धु के समीप रहकर उन्होंने समस्त श्रावक और महायान पिटक, सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्र और विशेषतः प्रमाणशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया।

कहा जाता है कि आचार्य वसुबन्धु के चार शिष्य अपने-अपने विषयों में वसुबन्धु

से भी अधिक विद्वान् थे। जैसे-(१) आचार्य गुणप्रभ विनय-शास्त्रों में, (२) आचार्य स्थिरमति अभिधर्म विषय में, (३) आचार्य विमुक्तिसेन प्रज्ञापारमिताशास्त्र में तथा (४) आचार्य दिङ्नाग प्रमाणशास्त्र में। कुछ विद्वानों की राय है कि आचार्य विमुक्तिसेन दिङ्नाग के शिष्य थे, वसुबन्धु के नहीं। भोटदेशीय विद्वत्परम्परा तो उन्हें वसुबन्धु का शिष्य ही निर्धारित करती है। भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ भोटविज्ञान् लामा तारानाथ का कहना है कि त्रिरत्न दास और संघदास भी वसुबन्धु के शिष्य थे।

समय

आचार्य दिङ्नाग के समय को लेकर विद्वानों में विवाद अधिक है। डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण उनका काल ईसवीय सन् ४५० से ५२० के बीच निर्धारित करते हैं। डॉ. एस. एन. दास गुप्त उन्हें ईसवीय पाँचवीं शताब्दी के अन्त में उत्पन्न मानते हैं। डॉ. विनयघोष भट्टाचार्य मानते हैं कि वे ३४५ से ४२५ ईसवीय वर्षों में विद्यमान थे। पण्डित दलसुखभाई मालवणियाँ इस मत का समर्थन करते हैं। न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन और प्रशस्तपाद के मतों की दिङ्नाग ने युक्तिपूर्वक समालोचना की है तथा न्यायवार्तिकार उद्योतकर ने दिङ्नाग के मत की समालोचना दिङ्नाग की रचनाओं का अनुवाद चीनी भाषा में ५५७ से ५६९ ईसवीय वर्षों में सम्पन्न हो गया था। इन सब साक्ष्यों के आधार पर आचार्य दिङ्नाग का काल ईसवीय पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना समीचीन मालूम होता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भी उन्हें ४२५ ईसवीय वर्ष में विद्यमान मानते हैं। आचार्य दिङ्नाग की अनेक रचनाएं हैं। उन्होंने विभिन्न विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक

आचार्य दिङ्नाग के प्रायः सभी ग्रन्थ विशुद्ध प्रमाणमीमांसा से सम्बद्ध तथा स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ हैं। इसीलिए वे भारतीय तर्कशास्त्र के प्रवर्तक महान् तार्किक माने जाते हैं। इन ग्रन्थों में जिन विषयों को आचार्य ने प्रतिपादित किया है, वे सौत्रान्तिक दर्शन सम्मत ही हैं। बाह्यार्थ की सत्ता एवं ज्ञान की साकारता को मानते हुए उन्होंने विषय का निरूपण किया है। प्रमाणसमुच्चय के अवलोकन से यह निश्चित होता है कि केवल प्रमाणफल के निरूपण के अवसर पर ही उन्होंने विज्ञानवादी दृष्टिकोण अपनाया है। प्रमाण और प्रमेयों की स्थापना उन्होंने विशेषतः सौत्रान्तिक दर्शन के अनुरूप ही की है। दिङ्नाग के इन विचारों ने सौत्रान्तिक निकाय के चिन्तन की एक अपूर्व दिशा उद्घाटित की है, जिससे उक्त निकाय के चिन्तन में नूतन परिवर्तन परिलक्षित होता है। दिङ्नाग के इस प्रयास से तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में तर्कविद्या की महती प्रतिष्ठा हुई और ज्ञान की परीक्षा के नए नियम विकसित हुए तथा वे नियम सभी शास्त्रीयपरम्पराओं और सम्प्रदायों में मान्य हुए। वास्तव में दिङ्नाग से ही विशुद्ध तर्कशास्त्र प्रारम्भ हुआ। फलतः सौत्रान्तिक निकाय ने आगम की

परिधि से बाहर निकल कर अभ्युदय और निःश्रेयस के साधक दार्शनिक क्षेत्र में पदार्पण किया।

दिङ्नाग के बाद आचार्य धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के ग्रन्थों में छिपे हुए गूढ तथ्यों का प्रकाशन करते हुए सात ग्रन्थों (सप्त प्रमाणशास्त्र) की रचना की। उन ग्रन्थों में न्यायपरमेश्वर धर्मकीर्ति ने बुद्धवचनों की नेयार्थता और नीतार्थता का विवेचन करते हुए शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि प्रज्ञापारमिता सूत्रों को बुद्धवचन के रूप में प्रमाणित किया। आचार्य धर्मकीर्ति के इस सत्प्रयास से दिङ्नाग के बारे में जो मिथ्यादृष्टियाँ और भ्रम उत्पन्न हो गये थे, उनका निरास हुआ। लोग कहते थे कि दिङ्नाग ने केवल वाद-विवाद एवं जय-पराजय मूलक तर्कशास्त्रों की रचना की है। उनमें मार्ग और फल का निरूपण नहीं है और ऐसे शास्त्रों की रचना करना अध्यात्मप्रधान बौद्ध धर्म के अनुयायी एक भिक्षु को शोभा नहीं देता। धर्मकीर्ति की व्याख्या की वज़ह से दिङ्नाग समस्त बुद्ध वचनों के उत्कृष्ट व्याख्याता और महान् रथी सिद्ध हुए। साथ ही, सौत्रान्तिकों की दार्शनिक परम्परा का नया आयाम प्रकाशित हुआ। फलतः इन दोनों के बाद सौत्रान्तिक दर्शन के जो भी आचार्य उत्पन्न हुए, वे सब 'युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिक' कहलाए। इसी परम्परा में आगे चलकर प्रसिद्ध सौत्रान्तिक आचार्य शुभगुप्त भी उत्पन्न हुए।

युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिक दर्शन-प्रस्थान के विकास में निःसन्देह आचार्य धर्मकीर्ति का योगदान रहा है, किन्तु इसका प्राथमिक श्रेय आचार्य दिङ्नाग को जाता है। यह सही है कि प्रमाणशास्त्र और न्यायप्रक्रिया के विकास में आचार्य धर्मकीर्ति के विशिष्ट मत और मौलिक उद्भावनाएं रही हैं, किन्तु सभी पारवर्ती आचार्य और विद्वान् उन्हें दिङ्नाग के व्याख्याकार ही मानते हैं। धर्मकीर्ति द्वारा प्रणीत सभी ग्रन्थों के विषय वे ही रहे हैं, जो दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के हैं। यद्यपि धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम परिच्छेद में प्रमेयव्यवस्था और प्रमाणफल की स्थापना के सन्दर्भ में विज्ञप्तिमात्रता की चर्चा की है और इस तरह विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की है, किन्तु इन थोड़े स्थानों को छोड़कर शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ में सौत्रान्तिक दृष्टि से ही विषय की स्थापना की है। इसलिए आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति यद्यपि महायान के अनुयायी हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि ये दोनों सौत्रान्तिक आचार्य थे। युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिक दर्शनपरम्परा का स्वरूप उसके दर्शन के स्वरूप का निरूपण करते समय आगे विवेचित है।

आचार्य धर्मकीर्ति के प्रमेय सम्बन्धी विचार आचार्य दिङ्नाग के समान ही हैं। धर्मकीर्ति द्वारा प्रणीत प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, सन्तानन्तरसिद्धि और वादन्याय सातों प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की टीका के रूप में उपनिबद्ध हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों में प्रमेयव्यवस्था के अवसर पर युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिक और युक्ति-अनुयायी विज्ञानवादियों की विचारधारा के अनुरूप तत्त्वमीमांसा की विशेष रूप से चर्चा की गई है, तथापि ये ग्रन्थ मुख्य रूप से प्रमाणमीमांसा के प्रतिपादक ही हैं।

प्रमाणसमुच्चय-यह ग्रन्थ आचार्य दिङ्नाग की कृति है। यह आचार्य की अनेक छिटपुट रचनाओं का समुच्चय है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह महनीय भावी बौद्ध न्याय के विकास का आधार और बौद्ध विचारों में नई उत्क्रान्ति का वाहक रहा है। इस ग्रन्थ के प्रभाव से भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा में नए एवं विशिष्ट परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। ज्ञान के सम्यक्त्व की परीक्षा, पूर्वाग्रहमुक्त तत्त्वचिन्तन, प्रमाण के प्रामाण्य आदि का निर्धारण आदि वे विशेषताएं हैं, जिनका विश्लेषण दिङ्नाग के बाद प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में बहुलता से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार हम विशुद्ध ज्ञानमीमांसा और निरपेक्ष प्रमाणमीमांसा का प्रादुर्भाव दिङ्नाग के बाद घटित होते हुए देखते हैं।

इस ग्रन्थ में छह परिच्छेद हैं, यथा- प्रत्यक्षपरिच्छेद, स्वार्थनुमान परिच्छेद, परार्थनुमान परिच्छेद, दृष्टान्तपरीक्षा, अपोहपरीक्षा एवं जात्युत्तर परीक्षा। इन परिच्छेदों के विषय उनके नाम से ही प्रकट है। इनमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की सुस्पष्ट स्थापना, प्रमाणद्वय का स्पष्ट निर्धारण, ज्ञान की ही प्रमाणता, साधन और दूषण का विवेचन, शब्दार्थ-विषयक चिन्तन (अपोहविचार), प्रमाण और प्रमाणफल की एकात्मकता एवं प्रसंग के स्वरूप का निर्धारण आदि विषय विशेष रूप से चर्चित हुए हैं।

(६) आचार्य शुभगुप्त

इतिहास में इनके नाम की बहुत कम चर्चा हुई। 'कल्याणरक्षित' नाम भी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वस्तुतः भोट भाषा में इनके नाम का अनुवाद 'द्गे-सुङ्' हुआ है। 'शुभ' शब्द का अर्थ 'कल्याण' तथा 'गुप्त' शब्द का अर्थ 'रक्षित' भी होता है। अतः नाम के ये दो पर्याय उपलब्ध होते हैं। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह की 'पंजिका' टीका में कमलशील ने 'शुभगुप्त' इस नाम का अनेकधा व्यवहार किया है। अतः यही नाम प्रामाणिक प्रतीत होता है, फिर भी इस विषय में विद्वान् ही प्रमाण हैं।

शुभगुप्त कहाँ उत्पन्न हुए थे, इसकी प्रामाणिक सूचना नहीं है, फिर भी इनका कश्मीर-निवासी होना अधिक संभावित है। भोटदेशीय परम्परा इस सम्भावना की पुष्टि करती है। धर्मोत्तर इनके साक्षात् शिष्य थे, अतः तक्षशिला इनकी विद्याभूमि रही है। आचार्य धर्मोत्तर की कर्मभूमि कश्मीर-प्रदेश थी, ऐसा डॉ. विद्याभूषण का मत है।

समय

इनके काल के बारे में भी विद्वानों में विवाद है, फिर भी इतना निश्चित है कि आचार्य शान्तरक्षित और आचार्य धर्मोत्तर से ये पूर्ववर्ती थे। आचार्य धर्माकरदत्त और शुभगुप्त दोनों धर्मोत्तर के गुरु थे। भोटदेश के सभी इतिहासज्ञ इस विषय में एकमत हैं। परवर्ती भारतीय विद्वान् भी इस मत का समर्थन करते हैं। आचार्य शुभगुप्त शान्तरक्षित से

पूर्ववर्ती थे, इस विषय में शान्तरक्षित का ग्रन्थ 'मध्यमकालङ्कार' ही प्रमाण है। सौत्रान्तिक मतों का खण्डन करते समय ग्रन्थकार ने शुभगुप्त की कारिका का उद्धरण दिया है।

पण्डित सुखलाल संघवी का कथन है कि आचार्य धर्माकरदत्त ७२५ ईसवीय वर्ष से पूर्ववर्ती थे। जैन दार्शनिक आचार्य अकलङ्क ने धर्मोत्तर के मत की समीक्षा की है। पण्डित महेन्द्रमार के मतानुसार अकलङ्क का समय ईसवीय वर्ष ७२०-७८० है। इसके अनुसार धर्मोत्तर का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित होता है। धर्मोत्तर शुभगुप्त के शिष्य थे, अतः उनके गुरु शुभगुप्त का काल ईसवीय सप्तम शतक निर्धारित करने में कोई बाधा नहीं दिखती।

डॉ. एस.एन. गुप्त धर्मोत्तर का समय ८४७ ईसवीय वर्ष निर्धारित करते हैं तथा डॉ. विद्याभूषण उनके गुरु शुभगुप्त का काल ईसवीय ८२६ वर्ष स्वीकार करते हैं। डॉ. विद्याभूषण के कालनिर्धारण का आधार महाराज धर्मपाल का समय है। किन्तु ये कौन धर्मपाल थे, इसका निश्चय नहीं है। दूसरी ओर आचार्य शान्तरक्षित जिस शुभगुप्त की कारिका उद्धृत करके उसका खण्डन करते हैं, उनका भोटदेश में ७६० ईसवीय वर्ष में निधन हुआ था। ७६२ ईसवीय वर्ष में भोटदेश में शान्तरक्षित के शिष्य आचार्य कमलशील का 'सम्या छिम्बु' नामक महाविहार में चीन देश के प्रसिद्ध विद्वान् 'ह्शंग' के साथ माध्यमिक दर्शन पर शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ में ह्शंग की पराजय हुई थी, इसका उल्लेख चीन और जापान के प्रायः सभी इतिहासवेत्ता करते हैं। इन विवरणों से आचार्य शान्तरक्षित का काल सुनिश्चित होता है। फलतः डॉ. विद्याभूषण का मत उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिनके सिद्धान्तों का खण्डन शान्तरक्षित ने किया हो और जिनका निधन ७६० ईसवीय वर्ष में हो गया हो, उनसे पूर्ववर्ती आचार्य शुभगुप्त का काल ८२६ ईसवीय वर्ष कैसे हो सकता है?

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन आचार्य धर्मकीर्ति का काल ६०० ईसवीय वर्ष निश्चित करते हैं। उनकी शिष्य-परम्परा का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है, यथा-देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, प्रज्ञाकर गुप्त तथा धर्मोत्तर। आचार्य देवेन्द्रबुद्धि का काल उनके मतानुसार ६५० ईसवीय वर्ष है। गुरु-शिष्य के काल में २५ वर्षों का अन्तर सभी इतिहासवेत्ताओं द्वारा मान्य है। किन्तु यह नियम सभी के बारे में लागू नहीं होता। ऐसा सुना जाता है कि देवेन्द्रबुद्धि आचार्य धर्मकीर्ति से भी उम्र में बड़े थे। और उन्होंने आचार्य दिङ्नाग से भी न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। धर्मोत्तर के दोनों गुरु धर्माकरदत्त और शुभगुप्त प्रज्ञाकरगुप्त के समसामयिक थे। ऐसी स्थिति में शुभगुप्त का समय ईसवीय सप्तम शताब्दी निश्चित किया जा सकता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की भी इस तिथि में विमति नहीं है।

कृतियाँ

भदन्त शुभगुप्त युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिकों के अन्तिम और लब्धप्रतिष्ठ आचार्य थे। उनके बाद ऐसा कोई आचार्य ज्ञात नहीं है, जिसने सौत्रान्तिक दर्शन पर स्वतन्त्र और मौलिक रचना की हो। यद्यपि धर्मोत्तर आदि भारतीय तथा जमयङ्-जद्-पई, तक्-छङ्-पा आदि भोट आचार्यों ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु वह पूर्व आचार्यों की व्याख्यामात्र है, नूतन और मौलिक नहीं है। आज भी दिङ्नागीय परम्परा के सौत्रान्तिक दर्शन के विद्वान् थोड़े-बहुत हो सकते हैं, किन्तु मौलिक शास्त्रों के रचयिता नहीं हैं।

आचार्य शुभगुप्त ने कुल कितने ग्रन्थों की रचना की, इसकी प्रामाणिक जानकारी नहीं है। उनका कोई भी ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। भोट भाषा और चीनी भाषा में उनके पाँच ग्रन्थों के अनुवाद सुरक्षित हैं, यथा-(१) सर्वज्ञसिद्धिकारिका, (२) बाह्यार्थसिद्धिकारिका, (३) श्रुतिपरीक्षा, (४) अपोहविचारकारिका एवं (५) ईश्वरभङ्गकारिका।

ये सभी ग्रन्थ लघुकाय हैं, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनका प्रतिपाद्य विषय इनके नाम से ही स्पष्ट है, यथा- सर्वज्ञसिद्धिकारिका में विशेषतः जैमिनीय दर्शन का खण्डन है, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं मानते। ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है। बाह्यार्थसिद्धि कारिका में जो विज्ञानवादी बाह्यार्थ नहीं मानते, उनका खण्डन करके सप्रमाण बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध की गई है। श्रुतिपरीक्षा में शब्दनित्यता, शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता और शब्द की विधिवृत्ति का खण्डन किया गया है। 'श्रुति' का अर्थ वेद है। वेद की अपौरुषेयता का सिद्धान्त मीमांसकों का प्रमुख सिद्धान्त है, उसका ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक निराकरण प्रतिपादित है। अपोहविचारकारिका में शब्द और कल्पना की विधिवृत्तिता का खण्डन करके उन्हें अपोहविषयक सिद्ध किया गया है। अपोह ही शब्दार्थ है, यह बौद्धों की प्रसिद्ध सिद्धान्त है, इसका इसमें मण्डन किया है। वैशिषिक सामान्य को शब्दार्थ स्वीकार करते हैं, ग्रन्थ में सामान्य का विस्तार के साथ खण्डन किया गया है। ईश्वरभङ्गकारिका में इस बात का खण्डन किया गया है, कि ईश्वर जो नित्य है, वह जगत् का कारण है। ग्रन्थ में नित्य को कारण मानने पर अनेक दोष दर्शाए गये हैं।

इन ग्रन्थों से सौत्रान्तिक दर्शन की विलुप्त परम्परा का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है।

प्रमुख सौत्रान्तिक सिद्धान्त

सौत्रान्तिकों की जो प्रमुख विशेषताएं हैं, जिनकी वज़ह से वे अन्य बौद्ध, अबौद्ध दार्शनिकों से भिन्न हो जाते हैं, अब हम उन विशेषताओं की ओर संकेत करना चाहते हैं।

ज्ञात है कि बौद्ध धर्म में अनेक निकायों का विकास हुआ। यद्यपि उनकी दार्शनिक मान्यताओं में भेद हैं, फिर भी बुद्धवचनों के प्रति गौरव बुद्धि सभी में समान रूप से पाई

जाती है। सभी निकायों के पास अपने-अपने त्रिपिटक थे। ऐतिहासिक क्रम में महायान का भी उदय हो गया। यह निःसन्दिग्ध है कि पुरुषार्थ-सिद्धि सभी भारतीय दर्शनों का परम लक्ष्य है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर बौद्धों में यानों की व्यवस्था की गई है। उनके दर्शनों का गठन भी यानव्यवस्था पर आधारित है। इसके आधारभूत तत्त्व तीन होते हैं, यथा-(१) आश्रय, वस्तु आलम्बन या पदार्थ, (२) आश्रित मार्ग (शील, समाधि, प्रज्ञा), (३) प्रयोजन या लक्ष्यभूत फल।

(१) आश्रय, वस्तु या पदार्थ-मीमांसा के अवसर पर दो सत्यों अर्थात् परमार्थ सत्य और संवृति सत्य की चर्चा की जाती है।

परमार्थ सत्य- सौत्रान्तिकों की दो धाराओं में से आगम-अनुयायी सौत्रान्तिकों के अनुसार यन्त्र आदि उपकरणों के द्वारा विघटन कर देने पर अथवा बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिस विषय की पूर्व बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह 'परमार्थ सत्य' है। यथा-नील, पीत, चित्त, परमाणु, निर्वाण आदि का कितना ही विघटन या विश्लेषण किया जाए, फिर भी नीलबुद्धि, परमाणुबुद्धि या निर्वाणबुद्धि नष्ट नहीं होती, अतः ऐसे पदार्थ उनके मत में परमार्थ सत्य माने जाते हैं। इस मत में चारों आर्यसत्यों के जो सोलह आकार होते हैं, वे परमार्थतः सत् माने जाते हैं। ज्ञात है कि प्रत्येक सत्य के चार आकार होते हैं। जैसे दुःखसत्य के अनित्यता, दुःखता, शून्यता एवं अनात्मता ये चार आकार हैं। समुदय सत्य के समुदय, हेतु, प्रत्यय और प्रभव ये चार आकार, निरोध सत्य के निरोध, शान्त, प्रणीत एवं निःसरण ये चार आकार तथा मार्गसत्य के मार्ग, न्याय, प्रतिपत्ति और निर्याण ये चार आकार होते हैं। इस तरह कुल १६ आकार होते हैं।

युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिक मत के अनुसार जो परमार्थतः अर्थक्रिया-समर्थ है और प्रत्यक्ष आदि प्रामाणिक बुद्धि का विषय है, वह 'परमार्थ सत्य' है, जैसे- घट आदि। इस मत के अनुसार योगी का समाहित ज्ञान संस्कार (हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न) स्कन्धों का ही साक्षात् प्रत्यक्ष करता है तथा उनकी आत्मशून्यता और निर्वाण का ज्ञान तो उस प्रत्यक्ष के सामर्थ्य से होता है।

संवृतिसत्य- इस मत में पाँच स्कन्ध संवृतिसत्य हैं। परमार्थतः अर्थक्रियासमर्थ न होना संवृतिसत्य का लक्षण है। संवृतिसत्य, सामान्यलक्षण, नित्य, असंस्कृत एवं अकृतक धर्म पर्यायवाची हैं। संवृति का तात्पर्य विकल्प ज्ञान से है। उसके प्रतिभास स्थल में जो सत्य है, वह संवृतिसत्य है। विकल्प को संवृति इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह वस्तु की यथार्थ स्थिति के ग्रहण में आवरण करता है। आगमानुयायी सौत्रान्तिकों के अनुसार यन्त्र आदि उपकरणों द्वारा विघटन करने पर या बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिन पदार्थों की पूर्वबुद्धि नष्ट हो जाती है, वे संवृतिसत्य हैं, यथा- घट, अम्बु आदि।

इस दर्शन में पाँच प्रकार के प्रमेय माने जाते हैं, यथा- रूप, चित्त, चैतसिक, विप्रयुक्त संस्कार एवं असंस्कृत निर्वाण। ये स्कन्ध, आयतन और धातुओं में यथायोग्य संगृहीत होते हैं।

(२) आश्रित मार्ग

जिस मार्ग की भावना की जाती है, वह मार्ग वस्तुतः सम्यग् ज्ञान ही है। नैरात्म्य ज्ञान, चारों आर्यसत्यों के सोलह आकारों का ज्ञान, सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म, चार अप्रमाण, नौ अनुपूर्व समापत्तियाँ-ये धर्म यथायोग्य लौकिक और अलौकिक मार्गों में संगृहीत होते हैं।

(३) फल

स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ये चार आर्य पुद्गल होते हैं। ये चारों मार्गस्थ और फलस्थ दो प्रकार के होते हैं, अतः आर्यपुद्गलों की संख्या आठ मानी जाती है। सोपधिशेष निर्वाण प्राप्त और निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त-इस तरह अर्हत् पुद्गल भी द्विविध होते हैं। प्रत्येकबुद्धत्व और सम्यक् संबुद्धत्व भी फल माने जाते हैं। बुद्धत्वप्राप्ति और अर्हत्वप्राप्ति के मार्ग में यद्यपि ज्ञानगत कोई विशेषता इस मत में नहीं मानी जाती, किन्तु पारमिताओं की पूर्ति का दीर्घकालीन अभ्यास अर्थात् पुण्यसंचय बुद्धत्वप्राप्ति के मार्ग की विशेषता मानी जाती है।

फलस्थ पुद्गल

जैसे श्रावकयान में चार मार्गस्थ और चार फलस्थ आठ आर्यपुद्गल माने जाते हैं, वैसे ही इस मत के अनुसार प्रत्येकबुद्धयान में भी आर्य पुद्गलों की व्यवस्था की जाती है। किन्तु खड्गोपम प्रत्येकबुद्ध निश्चय ही अर्हत् से भिन्न होता है। वह बुद्ध आदि के उपदेशों की बिना अपेक्षा किये आन्तरिक स्वतः स्फूर्त ज्ञान द्वारा निर्वाण का अधिगम करता है। उसका निरुपधिशेष निर्वाण बुद्ध से शून्य देश और काल में होता है। मार्गस्थ और फलस्थ आर्य पुद्गलों के पारमार्थिक संघ में बीस प्रकार के पुद्गल होते हैं। इनका विस्तृत विवेचना अभिसमयालङ्कार और अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।

सौत्रान्तिक दर्शन की दस विशेषताएं

(१) क्षणभङ्ग सिद्धि

बौद्ध लोग, जो प्रत्येक वस्तु के उत्पाद, स्थिति और भङ्ग ये तीन लक्षण मानते हैं, उनको लेकर बौद्धेतर दार्शनिकों के साथ उनके बहुत व्यापक, गम्भीर और दीर्घकालीन विवाद हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार उत्पाद के अनन्तर विनष्ट होनेवाली वस्तु ही क्षण है। उनके अनुसार उत्पादमात्र ही वस्तु होती है। वस्तु की त्रैकालिक सत्ता नहीं होती।

कारण-सामग्री के जुट जाने पर कार्य का निष्पन्न होना ही उत्पाद है। उत्पन्न की भी स्थिति नहीं होती, अपितु उत्पाद के अनन्तर वस्तु नहीं रहती, यही उसकी भङ्गावस्था है।

(२) सूत्रप्रामाण्य

सौत्रान्तिकों के मतानुसार ज्ञानप्रस्थान आदि सात अभिधर्मशास्त्र बुद्धवचन नहीं हैं, अपितु वे आचार्यों की कृति हैं। वसुमित्र आदि आचार्य उन ग्रन्थों के प्रणेता हैं, अतः वे शास्त्र हैं, न कि बुद्धवचन या आगम। ऐसा मानने पर भी अर्थात् सूत्रपिटक मात्र को प्रमाण मानने पर भी इनके मत में अभिधर्म का आभाव या त्रिपिटक का अभाव नहीं है। जिन सूत्रों में वस्तु के स्वलक्षण और सामान्यलक्षण आदि की विवेचना की गई है, वे सूत्र ही अभिधर्म हैं, जैसे अर्थविनिश्चयसूत्र आदि। बुद्धवचन ८४,००० धर्मस्कन्ध, १२ अङ्ग एवं तीन पिटकों में संगृहीत होते हैं। परवर्ती सौत्रान्तिक सूत्रों का नेयार्थ और नीतार्थ में विभाजन भी करते हैं।

(३) परमाणुवाद

सौत्रान्तिक मत में परमाणु निरवयव एवं द्रव्यसत् माने जाते हैं। ये परमाणु ही स्थूल रूपों के आरम्भक होते हैं। जब परमाणुओं से स्थूल रूपों का आरम्भ होता है, तब एक संस्थान में विद्यमान होते हुए भी इनमें परस्पर स्पर्श नहीं होता। सौत्रान्तिक मत में ऐसा कोई रूप नहीं होता, जो अनिदर्शन और अप्रतिघ होता हो, जैसा कि अविज्ञप्ति नामक रूप की सत्ता वैभाषिक मानते हैं। इनके अनुसार अविज्ञप्तिरूप की स्वलक्षणसत्ता नहीं है, उसकी मात्र प्रज्ञप्तिसत्ता है।

(४) द्रव्यसत्त्व-प्रज्ञप्तिसत्त्व

सौत्रान्तिकों के अनुसार वे ही पदार्थ द्रव्यसत् माने जाते हैं, जो अपने स्वरूप को स्वयं अभिव्यक्त करते हैं तथा जिनमें अध्यारोपित स्वरूप का लेशमात्र भी नहीं होता। उदाहरणस्वरूप रूप, वेदना आदि धर्म वैसे ही हैं। जब रूप आदि धर्म अपने स्वरूप का या अपने आकार का अपने ग्राहक ज्ञानों में, ज्ञानेन्द्रियों अथवा आर्य ज्ञानों में आधान (अर्पण) करते हैं, तब वे किसी की अपेक्षा नहीं करते, अपितु स्वतः अपने बल से करते हैं। अपि च, चक्षुरादि प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा योगिज्ञान जब रूप आदि का साक्षात्कार करते हैं, तब वे भी उसमें किसी कल्पित आकार का आरोपण नहीं करते। इसलिए रूप, वेदना आदि इनके मत में द्रव्यसत् या परमार्थसत् माने जाते हैं। पुद्गल आदि धर्म वैसे नहीं हैं। वे अपने स्वरूप का स्वतः ज्ञान में आधान नहीं करते। न तो ज्ञान में पुद्गल आदि का आभास होता है। जब यथार्थ की परीक्षा की जाती है, तब उनका स्वरूप विशीर्ण होने लगता

है। केवल उनके अधिष्ठान नाम-रूप आदि धर्म ही उपलब्ध होते हैं। पुद्गल कहीं उपलब्ध नहीं होता। अतः ऐसे धर्म प्रज्ञप्तिसत् माने जाते हैं।

यद्यपि सौत्रान्तिक भी वैभाषिकों के समान चैतसिकों की संख्या ४६ ही मानते हैं, फिर भी वे वैभाषिकों के समान सभी की पृथक् द्रव्यसत्ता नहीं मानते। उनके मत में कुछ चैतसिकों की ही द्रव्यसत्ता होती है, शेष प्रज्ञप्तिसत् होते हैं। जैसे वेदना, संज्ञा और मनस्कार ये तीन चैतसिक द्रव्यसत् हैं। बाकी के चैतसिक चित्त की अवस्था विशेष में प्रज्ञप्त होते हैं-ऐसा उपशमरक्षित नामक सौत्रान्तिक आचार्य का कहना है। इनके अनुसार चित्त एवं चैतसिक द्रव्यतः अभिन्न होते हैं। उनकी निरपेक्ष रूप से पृथग् उपलब्धि नहीं होती।

सामान्यतः चित्तों की संख्या छह है। धर्मसंग्रह के अनुसार चैतसिक चालीस होते हैं। अभिधर्मकोश के अनुसार उनकी संख्या ४६ है। अभिधर्मसमुच्चय में ५२ और पालि अभिधर्म में भी चैतसिक ५२ माने जाते हैं। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में ५१ चैतसिक वर्णित हैं। इन भेदों का कारण चैतसिकों का चित्त की अवस्थाविशेष में प्रज्ञप्त होना है। इसीलिए संख्या और नाम में भेद हो जाता है। यदि इनकी द्रव्यसत्ता होती तो इतना अधिक भेद सम्भव नहीं होता-ऐसा प्रतीत होता है।

चैतसिकों को जब प्रज्ञप्तिसत् कहा जाता है तो उसका यह अर्थ नहीं होता कि उनकी सत्ता ही नहीं है। चित्त और चैतसिक द्रव्यतः अथवा स्वभावतः अभिन्न होते हैं। जब चित्त द्रव्यतः सत् माना जाता है तो चित्त की अवस्थाएं, जो उससे अभिन्न हैं और जो चैतसिक कहलाती हैं, निश्चय ही वे भी द्रव्यसत् ही हैं। उन (चैतसिकों) का स्वभावतः चित्त से पृथक्त्व (भेद) और नामकरण आदि अवश्य प्रज्ञप्त है। वस्तुतः वेदना, संज्ञा आदि, करुणा, मुदिता आदि, राग, द्वेष आदि कुशल, अकुशल धर्म स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत होते हैं। स्वसंवेदन द्वारा जो जैसा अनुभूत होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है, अन्यथा स्वसंवेदन के प्रमाणत्व की हानि होगी। चित-चैतसिकों की प्रकाशात्मकता, जड़ से भिन्नता, विषय के आकार से आकारित ज्ञानस्वरूपता स्वतः (स्वसंवेदन द्वारा) अनुभूत हैं, अतः उनका स्वरूप वैसा ही है। संक्षेप में चित्त-चैतसिकों के प्रामाण्य, अप्रमाण्य, प्रत्यक्षत्व, अप्रत्यक्षत्व, यह चित्त है, यह चैतसिक है, यह वेदना है, यह संज्ञा हैं-इस प्रकार के भेद और नाम ये सब व्यवहार द्वारा सिद्ध होते हैं। अतः भेद और नामकरण आदि ही प्रज्ञप्तिसत् हैं। इस प्रकार सभी सम्प्रयुक्त धर्म (चैतसिक), विप्रयुक्त संस्कार, असंस्कृत धर्म, शब्द और कल्पना के विषय अर्थात् अपोह ये सब प्राज्ञप्तिक धर्मों में परिगणित होते हैं। वस्तुतः युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिकों के मत में सभी पराश्रित या द्रव्याश्रित धर्म प्रज्ञप्तिस्वभाव माने जाते हैं।

(५) ज्ञान की साकारता

वैभाषिक आदि दर्शन के अनुसार रूप आदि विषयों का ग्रहण चक्षु आदि इन्द्रियों के

द्वारा होता है, ज्ञान द्वारा नहीं। इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नील, पीत आदि विषयों का चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रिय-विज्ञान अनुभव करते हैं। अर्थात् इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित आकार ही इन्द्रियविज्ञानों का विषय हुआ करता है, अन्यथा विज्ञान बिना आकार के ही होता है।

सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार नील, पीत आदि विषय अपना आकार स्वग्राहक ज्ञान में अर्पित करते हैं, फलतः विज्ञान विषयों के आकार से आकारित हो जाते हैं। ज्ञानगत आकार के द्वारा ही विषय अपने को प्रकाशित करते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो विज्ञान की बिना अपेक्षा किये ही विषय का प्रकाश होने लगेगा। अतः जहाँ विषय का अवभास होता है, वह ज्ञान ही है। फलतः ज्ञान में प्रतिभासित नील, पीत आदि विषयों की बाह्यसत्ता सिद्ध होती है।

साकार ज्ञानों के भेद

ज्ञानगत आकार के बारे में तीन प्रकार के मत पाये जाते हैं, यथा- ग्राह्य-ग्राहक समसंख्या वाद, नाना अद्वैत वाद तथा नाना अनुपूर्वग्रहण वाद, इसे अर्धाण्डाकार वाद भी कहते हैं।

(क) ग्राह्य-ग्राहक समसंख्या वाद- नील, पीत आदि अनेक वर्णों से युक्त चित्र का दर्शन करते समय चित्र में जितने वर्ण होते हैं, उतनी ही संख्या में वर्णप्रतिबिम्बित विज्ञान भी होते हैं। जैसे चित्र के वर्ण परस्पर भिन्न और पृथक्-पृथक् अवस्थित होते हैं, वैसे ही वे विज्ञान भी होते हैं, अन्यथा विषय और ज्ञान का निश्चित नियम नहीं बन सकेगा। इस वाद के अनुसार चित्र में जितने वर्ण होते हैं, उतने ही विज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं।

(ख) नाना अद्वैत वाद- यद्यपि नाना वर्ण वाले चित्रपट को आलम्बन बनाकर अनेक आकारों से युक्त विज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि वह चक्षुर्विज्ञान एक ही होता है। एक विज्ञान का अनेक आकारों से युक्त होना न तो असम्भव है और न विरुद्ध ही। क्योंकि अनेक वर्णों का आभास ज्ञान में एकसाथ ही होता है। ज्ञान के अन्दर विद्यमान वे अनेक आकार एक ज्ञान के ही अंश होते हैं, न कि पृथक्। इस मत के अनुसार वह चित्र भी अनेक वर्णवाला होने पर भी द्रव्यतः एक और अभिन्न ही होता है। उसमें स्थित सभी वर्ण उस चित्र के अंश ही होते हैं।

(ग) नाना अनुपूर्वग्रहण वाद- जिस प्रकार एक चित्र में नील, पीत आदि अनेक वर्ण अलग-अलग स्थित होते हैं, वैसे ज्ञान में भी अनेकता होना आवश्यक नहीं है। उस चित्र को ग्रहण करनेवाला चक्षुर्विज्ञान एक होते हुए भी उन सभी वर्णों का साक्षात्कार करता है। इस मत के अनुसार अनेक वर्णों के ज्ञान के लिए ज्ञान का अनेक होना आवश्यक नहीं है।

यह विषय बड़ा गम्भीर है। घट, पट आदि अनेक वस्तुओं को एक साथ देखने वाला चक्षुर्विज्ञान क्या एक होता है या अनेक। फिर केवल एक विषय को देखनेवाला चक्षुर्विज्ञान

तो सम्भव ही नहीं है। क्योंकि प्रत्येक विषय के अपने अवयव होते हैं। चक्षुर्विज्ञान जब एक विषय को देखता है तो उसके अवयवों को भी देखता है। तब क्या उन अवयवों के अनुरूप अनेक चक्षुर्विज्ञान होते हैं अथवा एक ही चक्षुर्विज्ञान होता है ? इस विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं।

यह उपर्युक्त मत आगमानुयायी सौत्रान्तिकों का प्रतीत होता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिकों की दृष्टि से समीक्षा की है। इस मत के अनुसार चक्षुर्विज्ञान क्रमशः नीचे के, मध्य के तथा ऊपर के भाग को ग्रहण करता है। इसलिए समसंख्या वाद के और नाना अद्वैतवाद के दोष इस मत में नहीं आते।

यदि ज्ञान अनुक्रम से विषय का ग्रहण करता है तो एक साथ ग्रहण करने की प्रतीति कैसे होती है ? शीघ्रता से घटित होने के कारण एकसाथ ग्रहण करने की भ्रान्ति होती है, जैसे अलीतचक्र के ग्रहण के समय होती है।

(६) कार्य और कारण की भिन्नकालिकता

कारण हमेशा कार्य से पूर्ववर्ती होता है, इस पर सौत्रान्तिकों का बड़ा आग्रह है। कार्य सर्वदा कारण के होने पर होता है (अन्वय) और न होने पर नहीं होता है (व्यतिरेक)। यदि कार्य और कारण दोनों समान काल में होंगे तो कारण में कार्य को उत्पन्न करने के स्वभाव की हानि का दोष होगा, क्योंकि कारण के काल में कार्य विद्यमान ही है। इस स्थिति में कारण की निरर्थकता का भी प्रसंग (दोष) होगा। इसलिए वैभाषिकों को छोड़कर सौत्रान्तिक आदि सभी बौद्ध दार्शनिक परम्पराएं कारण को कार्य से पूर्ववर्ती ही मानती हैं। वैभाषिक कारण को कार्य का समकालिक तो मानते ही हैं, कभी-कभी तो कार्य से पश्चात्कालिक कारण भी मानते हैं। स्थविरवादी भी सहभू हेतु, पश्चाज्जात हेतु आदि मानते हैं।

(७) प्रहाण और प्रतिपत्ति

वैभाषिक आदि जैसे अर्हत् के द्वारा प्राप्त क्लेशप्रहाण और प्राप्त आर्यज्ञान की हानि (पतन) मानते हैं, वैसे सौत्रान्तिक नहीं मानते। सौत्रान्तिकों का कहना है कि क्लेशप्रहाण और आर्यज्ञान का अधिगम चित्त के धर्म हैं और चित्त के दृढ़ होने से उनके भी दृढ़ होने के कारण उनकी हानि की सम्भावना नहीं है। इस विषय का विस्तृत विवरण प्रमाणवार्तिक (१ : २०६) और उसके अलंकारभाष्य में अवलोकनीय है।

(८) ध्यानाङ्गों की विशेषता

नौ समापत्तियाँ (४ रूपी, ४ अरूपी और निरोधसमापत्ति) होती हैं। इसमें सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों में मतभेद नहीं है। किन्तु निरोधसमापत्ति के बारे में सौत्रान्तिकों की कुछ

विशेषता है। वैभाषिकों के अनुसार निरोधसमापत्ति अवस्था में चित्त और चैतसिकों का सर्वथा निरोध हो जाता है, यहाँ तक कि उनकी वासनाएं भी अवशिष्ट नहीं रहतीं। क्योंकि वासनाओं की आधार चित्तसन्तति का सर्वथा निरोध हो चुका है। हाँ, उनकी प्राप्ति आदि विप्रयुक्त संस्कार अवशिष्ट रह सकते हैं।

सौत्रान्तिकों के मतानुसार निरोधसमापत्ति चित्त की सूक्ष्म अवस्था है। ऐसा नहीं है कि उस अवस्था में केवल विप्रयुक्त संस्कार ही अवशिष्ट रहते हों। हाँ, वेदना, संज्ञा आदि स्थूल चित्त-चैतसिकों का उस अवस्था में अवश्य निरोध हो जाता है। इस प्रकार निरोधसमापत्ति सौत्रान्तिकों के अनुसार सूक्ष्म सचित्तावस्था है। उनका कहना है कि यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो उस अवस्था में निर्जीव हो जाने का प्रसंग होगा और शरीर के सूखने और सड़ जाने का भी प्रसंग होगा। और भी, यदि निरोधसमापत्ति अवस्था में चित्त की कुछ भी सत्ता नहीं होगी तो समापत्ति से उठते समय पुनः चित्त का उत्पाद भी न हो सकेगा, क्योंकि पूर्ववर्ती चित्त ही परवर्ती चित्त का उत्पादक होता है, न कि शरीर, इन्द्रिय आदि। समापत्ति अवस्था में व्यक्ति समापन्न होता है और उस समय समाधि उसका आहार होती है।

ध्यानाङ्गों के बारे में भी सौत्रान्तिकों की वैभाषिकों से कुछ विशेषता है। ध्यानाङ्ग पाँच होते हैं, यथा- वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता। वैभाषिकों के अनुसार 'प्रीति' नामक ध्यानाङ्ग मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त सुखा वेदना है, सौत्रान्तिकों के अनुसार वह सौमनस्य है। 'सुख' नामक ध्यानाङ्ग भी वैभाषिकों के अनुसार कायप्रश्रब्धि स्वरूप है। उन (वैभाषिकों) के मतानुसार इन्द्रियविज्ञानों से सम्प्रयुक्त वेदनाएं बाह्यमुखी होती हैं और ध्यानाङ्गों में परिगणित धर्मों का बहिर्मुखी होना युक्त नहीं है, अतः ध्यानावस्था की सुखा वेदना प्रश्रब्धिस्वरूप ही है। सौत्रान्तिकों के मत में वह 'सुख' ध्यानाङ्ग चैतसिक न होकर कायिक सुख ही होता है। अर्थात् वह सुख वेदना कायविज्ञान से सम्प्रयुक्त होती है। उनके अनुसार यह सही है कि इन्द्रियविज्ञान बहिर्मुखी होते हैं, किन्तु ध्यान के बल से उत्पन्न वे विज्ञान समाधि के उपकारक हो जाते हैं। प्रीति तो सभी बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार श्रद्धागत द्रव्य होती है। अर्थात् श्रद्धाविशेष ही प्रीति है।

(६) प्रमाण आदि सम्यग्ज्ञान

विज्ञान की साकारता के आधार पर सौत्रान्तिक प्रमाणों की व्यवस्था करते हैं। विज्ञान की साकारता का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। प्रमाणों में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की स्थापना सौत्रान्तिकों की विशेषता है। सौत्रान्तिकों की ज्ञानमीमांसा पर आगे पृथक् शीर्षक देकर लिखने जा रहे हैं। वहाँ ज्ञान और उनके भेदों की चर्चा की जाएगी।

(१०) बुद्ध, बोधिसत्त्व और बुद्धकाय

पारमिताओं की साधना के आधार पर बोधिसत्त्वों की चर्या का वर्णन सूत्रपिटक में प्रायः जातकों में उपलब्ध होता है। बुद्धत्व ही बोधिसत्त्वों का अन्तिम पुरुषार्थ है। क्योंकि उसके द्वारा ही वे बहुजन का हित सम्पादन करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। इसके लिए वे तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भार का अर्जन करते हैं। जम्बूद्वीप का आर्य बोधिसत्त्व बुद्धत्व के सर्वथा योग्य होता है। कामधातु के अन्य द्वीपों में तथा अन्य धातु और योनियों में उत्पन्न काय से बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

काय

महायान से अतिरिक्त अन्य बौद्ध निकायों की इस विषय में प्रायः समान मान्यता है कि भगवान् बुद्ध के दो काय होते हैं, यथा-रूपकाय और धर्मकाय। वैभाषिकों की यह मान्यता है कि भगवान् बुद्ध का रूपकाय, जो बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से प्रतिमण्डित है, वह सास्रव होता है तथा माता-पिता के शुक्र-शोणित से उत्पन्न 'करज काय' होता है। सौत्रान्तिक में कुछ आगमानुयायी भी प्रायः इसी मत के हैं। स्थविरवादी भी ऐसा ही मानते हैं। युक्ति-अनुयायी सौत्रान्तिक रूपकाय को 'बुद्ध' ही मानते हैं, क्योंकि वह अनेक कल्पों तक सम्भारों का सम्भरण करने से पुण्यपुञ्जात्मक होता है। धर्मकाय के स्वरूप के बारे में वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों में विशेष मतभेद नहीं है, किन्तु धर्मकाय से सम्बद्ध जो निर्वाण तत्त्व है, उसे वैभाषिक द्रव्यसत् मानते हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार निर्वाण समस्त क्लेशों और उपक्लेशों का अभाव, मलों और आवरणों से रहितता मात्र है। अर्थात् निर्वाण का अभावस्वरूप होना, उसकी धर्मता है और यही सर्व प्रपञ्चों का उपशम है। बुद्ध के कायिक, वाचिक और चैतसिक गुण, दस बल, दस वशिताएं, चार वैशारद्य, अष्टादश आवेणिक धर्म-इन सबकी चर्चा अभिधर्मकोश, धर्मसङ्ग्रहसूत्र, अर्थविनिश्चयसूत्र, अभिधर्मसमुच्चय आदि ग्रन्थों में विपुलता से चर्चित हैं।

ज्ञानमीमांसा

सौत्रान्तिकों की ज्ञानमीमांसा के विकास में आचार्य दिङ्नाग का योगदान विद्वानों से तिरोहित नहीं है। यद्यपि उनसे पहले भी न्यायविद्या से सम्बद्ध प्रमाणविद्या का अस्तित्व था, किन्तु वह इतना मिला-जुला था कि उसमें वैदिक, अवैदिक, आदि भेद करना सम्भव नहीं था। दिङ्नाग के बाद हम उनमें स्पष्ट विभाजन देख सकते हैं। बौद्धेतर शास्त्रों में आगम, शब्द, ऐतिह्य आदि ज्ञान से भिन्न साधन भी प्रमाण माने जाते हैं किन्तु आचार्य दिङ्नाग में सम्यग् ज्ञान को ही सर्वप्रथम प्रमाण निर्धारित किया।

विविध ज्ञान

(१) निर्विकल्प ज्ञान–अतीत, अनागत को विषय बनाने पर और प्रत्यक्षयके बाद वस्तु का जो आकार ज्ञान में भासित होता है, वह अर्थप्रतिबिम्ब 'अर्थसामान्य' कहलाता है तथा शब्द सुनने के अनन्तर वस्तु का जो आकार ज्ञान में भासित होता है, वह अर्थबिम्ब 'शब्दसामान्य' कहलाता है। जो ज्ञान इन बिम्बों (सामान्यों) से रहित होता है या इन अर्थबिम्बों से संसृष्ट (युक्त) होने योग्य नहीं होता, वह ज्ञान 'निर्विकल्प' कहलाता है।

(२) सविकल्प ज्ञान–जो ज्ञान उपर्युक्त शब्दसामान्य और अर्थसामान्य से संसृष्ट या संसृष्ट होने योग्य होता है, वह ज्ञान 'सविकल्पक' कहलाता है।

(३) वस्तु-प्रवृत्त ज्ञान–जो ज्ञान वस्तु के बल से उत्पन्न होता है और वस्तु में प्रवृत्त होता है, वह ज्ञान 'वस्तुप्रवृत्त ज्ञान' कहलाता है, जैसे-चक्षुर्विज्ञान आदि प्रत्यक्ष ज्ञान। ये ज्ञान शब्द के बल से उत्पन्न नहीं होते।

(४) अपोह-प्रवृत्त ज्ञान–जो ज्ञान साक्षात् वस्तु में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु एक वस्तु का जो अन्य वस्तुओं से भेद (व्यावृत्ति) होता है, उस भेद में या उस भेद की वजह से भिन्न हुई भेदगर्भित वस्तु में प्रवृत्त होता है, वह ज्ञान 'अपोहप्रवृत्तज्ञान' कहलाता है।

(५) सम्यग् ज्ञान–जो ज्ञान अपने विषय के प्रति अविसंवादक होता है। अर्थात् अपने विषय को प्राप्त कराने की क्षमता रखता है, उसे 'सम्यग् ज्ञान' या यथार्थ ज्ञान कहते हैं। ऐसा ज्ञान प्रमाण भी होता है।

ज्ञान के विषय तीन प्रकार के होते हैं, यथा- (१) प्रतिभास विषय या ग्राह्य विषय, (२) अध्यावसाय (निश्चय) विषय अर्थात् ज्ञान जिसका निश्चय करता है तथा (३) प्रवृत्ति विषय, अर्थात् ज्ञान प्रवृत्त होकर जिस विषय को प्राप्त कराता है। जो ज्ञान निर्विकल्प होते हैं, उनके दो ही प्रकार के विषय होते हैं; अर्थात् प्रतिभासविषय और प्रवृत्ति विषय। उनका अध्यवसाय विषय सर्वथा नहीं होता। अर्थात् वे किसी विषय का निश्चय नहीं करते। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–चक्षुर्विज्ञान का रूप ही प्रतिभास विषय भी होता है और वही प्रवृत्तिविषय भी। रूप की अनित्यता, कृतकता आदि प्रतिभास विषय तो होते हैं, किन्तु प्रवृत्तिविषय नहीं। यदि अनित्यता, कृतकता आदि प्रवृत्तिविषय भी माने जाएंगे तो उनके ज्ञान के लिए अनुमान का प्रयोग करना व्यर्थ होगा। श्वेत शंख को पीत शंख समझने वाले चक्षुर्विज्ञान का पीत शंख प्रतिभासविषय भी होता है और प्रवृत्तिविषय भी। किन्तु बाहर स्थित शंख पीत नहीं होता। इसलिए चक्षुर्विज्ञान भ्रान्त भी होता है। इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में निर्विकल्प ज्ञान भी भ्रान्त हुआ करता है।

शब्दसामान्य और अर्थसामान्य सविकल्प ज्ञानों के प्रतिभासविषय होते हैं, किन्तु वे प्रवृत्तिविषय नहीं होते। प्रवृत्तिविषय तो बाह्य घट आदि ही होते हैं। अध्यवसायविषय भी वे

ही होते हैं। बाह्य घट सविकल्प ज्ञानों के प्रतिभास विषय नहीं होते, क्योंकि अनावृत घट सविकल्प ज्ञानों में प्रतिभासित नहीं होता। शब्दसामान्य और अर्थसामान्य वहां आवरण होते हैं। सविकल्प ज्ञान प्रतिभास की दृष्टि से भले ही भ्रान्त हों, किन्तु प्रवृत्ति और अध्यवसाय की दृष्टि से भ्रान्त नहीं होते। उनके द्वारा अध्यवसित (निश्चित) विषय में प्रवृत्त होने पर कभी उस विषय की प्राप्ति भी होती है, अतः वे ज्ञान अविसंवादक भी होते हैं। किन्तु गृहीत का ग्रहण करने से वे प्रमाण नहीं माने जाते।

इसी तरह अनुमान भी यद्यपि सविकल्पक ज्ञान है और प्रतिभास की दृष्टि से भ्रान्त भी माना जाता है, किन्तु प्रवृत्ति और अध्यवसाय की दृष्टि से वह भ्रान्त नहीं होता अपितु अभ्रान्त होता है तथा क्योंकि वह अगृहीत का ग्रहण करता है, इसलिए प्रमाण भी होता है।

सम्यग् ज्ञान का तात्पर्य अविपरीत ज्ञान से है। वस्तु की जैसी स्थिति है, वैसा अवबोध सम्यग् ज्ञान है। सम्यग् ज्ञान ही अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) आदि पुरुषार्थ की सिद्धि का मुख्य उपाय है। वह सभी प्रकार से संशय, विपरीत या मिथ्या ज्ञानों से रहित होता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने की उसमें क्षमता होती है।

(६) प्रमाण ज्ञान–सम्यग् ज्ञान ही प्रमाण होता है। वही ज्ञान अविसंवादक भी होता है। अवसिंवादकत्व ही प्रामाण्य का नियामक होता है। विसंवाद का अर्थ वञ्चना है। जिस ज्ञान में वञ्चना (विसंवाद) का योग होता है, वह ज्ञान विसंवादी कहलाता है। जो विसंवादी नहीं होता, वह ज्ञान अविसंवादी या अविसंवादक कहा जाता है। कहने का आशय यह है कि ज्ञान में यदि अपने द्वारा दिखलाई गई वस्तु को प्राप्त कराने की क्षमता है तो वह ज्ञान वञ्चक नहीं होता, अपितु अविसंवादक होता है और वही ज्ञान प्रमाण होता है। ज्ञान जिस प्रकार वस्तु को देखता है, उसी प्रकार यदि वस्तु की स्थिति है तो यही अविसंवादन है, इस अविसंवादन का योग होने से ज्ञान अविसंवादी कहलाता है।

जो ज्ञान अपने बल से संशय, विपर्यास आदि का निराकरण करके वस्तु के स्वरूप को जानता हुआ, उस वस्तु को प्राप्त कराने में समर्थ होता है, वही ज्ञान अविसंवादक होता है।

प्रमाण शब्द में 'प्र' शब्द का अर्थ प्रथम भी होता है। अर्थात् जो ज्ञान पहले-पहल वस्तु को जानता है, वह प्रमाण कहलाता हे। अर्थात् किसी पूर्व ज्ञान द्वारा अगृहीत, अज्ञात या अप्रकाशित अर्थ (विषय) को जानने वाला ज्ञान 'प्रमाण' है। इस प्रकार अगृहीतग्राहिता, अज्ञातार्थप्रकाशकता या अपूर्वग्राहिता भी प्रमाण का दूसरा लक्षण है।

वास्तव में ये दोनों लक्षण एक ही वस्तु को कहने की शैली के भेद से है। वस्तुतः जो ज्ञान अविसंवादी होता है, वह अज्ञात अर्थ का प्रकाशक भी होता है। जो अज्ञातार्थप्रकाशक होता है, वह अविसंवादक भी होता है।

अलङ्कारभाष्य के रचनाकार प्रज्ञाकर गुप्त के मतानुसार अग्नि, वायु आदि

व्यावहारिक वस्तु को जो ज्ञान ठीक-ठीक जानता है, वह 'अविसंवादक' है। अर्थात् अविसंवादकत्व व्यवहारप्रमाण का लक्षण है तथा विज्ञप्तिमात्रता या वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप जो अभी तक अज्ञात है, उसको जानने वाला ज्ञान 'अज्ञातार्थप्रकाशक' है। अर्थात् अज्ञातार्थप्रकाशकत्व जो प्रमाण का द्वितीय लक्षण है, वह 'परमार्थप्रमाण' का लक्षण है। वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का होता है- एक व्यावहारिक तथा दूसरा पारमार्थिक। प्रमाण के उक्त दोनों लक्षणों द्वारा वस्तु के सर्वाङ्गीण स्वरूप का बोध हो जाता है। इसलिए एक ही प्रमाणज्ञान के ये दोनों स्वरूप होते हैं। बौद्ध नैयायिक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। अतः इन्द्रियाँ, जो जड़स्वभाव होती हैं, वे प्रमाण नहीं मानी जातीं। जबकि गौतम और कणाद के अनुयायी बौद्धेतर नैयायिक इन्द्रियों को भी प्रमाण मानते हैं। सौत्रान्तिकों का कहना है कि क्योंकि जड़ वस्तुओं में अर्थबोध का सामर्थ्य नहीं होता, अतः वे प्रमाण नहीं हो सकतीं तथा ज्ञान ही विषय के आकार से आकारित हो सकता है, अतः वही प्रमाण हो सकता है, इन्द्रियां नहीं। यदि ज्ञान विषयाकार न हो तो वस्तु ज्ञात नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तु में स्वयं को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं होता, नहीं तो ज्ञान के बिना भी उनकी अभिव्यक्ति होने लगेगी। पुनश्च, प्रहेय (प्रहाण करने योग्य) धर्मों का प्रहाण करने की तथा उपादेय (ग्रहण करने योग्य) धर्मों का उपादान (ग्रहण) करने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति मनुष्यों में होती है, उसका मूल ज्ञान ही होता है। इन्द्रिय होने मात्र से मनुष्य प्रवृत्त नहीं होते, अपितु ज्ञान होने से प्रवृत्त होते हैं। इसलिए इस प्रवृत्ति में साधकतम होने से ज्ञान में ही प्रामाण्य स्वीकार करना उचित है। अपि च, ज्ञानगत आकारों में भिन्नता की वजह से ही विषयों का भेद व्यवस्थापित होता है, यथा-यह नील है, यह पीत है-इत्यादि। अतः ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए।

प्रमाण के भेद–बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण के भेद होते हैं। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द और उपमान। उन चार के अलावा अनुपलब्धि के साथ पांच प्रमाण प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक मानते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक अभाव के साथ छह प्रमाण मानते हैं। ऐतिह्य आदि के साथ पौराणिक आठ प्रमाण मानते हैं।

दो प्रमाण–प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है, इस बात को प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं, किन्तु बौद्ध दार्शनिक प्रमाण की सिद्धि प्रमेय के अधीन भी स्वीकार करते हैं। प्रमेय दो प्रकार के होते है, यथा-स्वलक्षण और सामान्य लक्षण। कुछ विषय अर्थक्रिया में समर्थ होते हैं और कुछ असमर्थ। उनमें जो अर्थक्रियासमर्थ होते हैं, वे ही स्वलक्षण तथा जो अर्थक्रियासमर्थ नहीं होते, वे सामान्यलक्षण होते हैं। इसी तरह जो असाधारण होता है तथा शब्द का विषय होता, वह स्वलक्षण तथा इसके विपरीत जो साधारण होता है, शब्द का विषय होता है, वह सामान्य लक्षण होता है। स्वलक्षण और सामान्य लक्षण को छोड़कर कोई तीसरे प्रकार का विषय नहीं होता, अतः प्रमाण की संख्या भी दो में ही निश्चित है।

स्वलक्षण प्रत्यक्षय पत्र तथा सामान्य लक्षण अनुमान का विषय होता है। बौद्ध दार्शनिक प्रमाण और उसके विषय के बारे निश्चयवादी होते हैं। प्रत्यक्ष स्वलक्षण को छोड़कर कभी भी सामान्यलक्षण को विषय नहीं बनाता और न अनुमान भी सामान्यलक्षण को छोड़कर स्वलक्षण को कभी साक्षात् विषय बनाता है। जब कि नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिकों की स्थिति इससे भिन्न है। उनके मत में प्रत्यक्ष न केवल विशेष (स्वलक्षण) को ही विषय बनाता है, अपितु सामान्य को भी विषय बनाता है। इतना ही नहीं, उनके मत में एक ही विषय अनेक प्रमाणों का विषय हो सकता है। अतः इनके मत में प्रमाण और प्रमेय की नियत व्यवस्था नहीं है। बौद्धो के मत में यह व्यवस्था निश्चित होती है। फलतः प्रमाणों के विषय में नैयायिक सम्प्लववादी तथा बौद्ध व्यवस्थावादी होते हैं।

प्रत्यक्षप्रमाण–यद्यपि वैभाषिक इन्द्रियों को प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु बौद्ध नैयायिक उसकी समालोचना करते हैं और युक्तिपूर्वक ज्ञान की प्रमाणता का प्रतिपादन करते हैं। फलतः जो ज्ञान अर्थाकार होते हुए कल्पनारहित (कल्पनापोढ) एवं अभ्रान्त होता है, वह 'प्रत्यक्ष' है। शब्द से संसृष्ट होने योग्य प्रतीति 'कल्पना' है। प्रत्यक्ष उस प्रकार की कल्पना से विरहित बिलकुल अछूता होता है।

व्युत्पत्ति–इन्द्रियों पर आश्रित विज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। किन्तु यह प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ केवल शब्द (व्युत्पत्ति) पर आश्रित है। उसका वास्तविक या पारिभाषिक अर्थ तो 'अर्थसाक्षात्कारी' ज्ञान है। फलतः जो ज्ञान कल्पनारहित एवं अभ्रान्त होते हुए अर्थ का साक्षात्कारी होता है, वह 'प्रत्यक्ष' है।

प्रत्यक्ष के भेद

(१) इन्द्रियप्रत्यक्ष–चक्षुप् आदि इन्द्रियों को अधिपतिप्रत्यय बनाकर जो ज्ञान कल्पनारहित और अभ्रान्त रूप में उत्पन्न होता है, वह 'इन्द्रियप्रत्यक्ष' है। यह पांच प्रकार का होता है, यथा-नील पीत आदि रूप को विषय (आलम्बन) बनाने वाला चक्षुर्विज्ञान, शब्दग्राही श्रोत्रविज्ञान, गन्धग्राही घ्राणविज्ञान, रसग्राही जिह्वाविज्ञान तथा स्पर्शग्राही कायविज्ञान। यहाँ ज्ञान और विषय की निश्चित व्यवस्था होती है। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान रूप का ही ग्रहण करता है। वह कभी भी शब्द का ग्रहण नहीं कर सकता-इत्यादि।

(२) मानस प्रत्यक्ष–इन्द्रियप्रत्यक्षों के अव्यवहित समनन्तर(तत्काल बाद) मानस-प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। समनन्तर निरुद्ध पूर्ववर्ती इन्द्रियप्रत्यक्ष उसके समननन्तर प्रत्यय होते हैं और मन इन्द्रिय कहलाये हैं। मन-इन्द्रिय ही इस मानसप्रत्यक्ष की अधिपतिप्रत्यय होती है। इन्द्रिय-प्रत्यक्षों के ही विषय जो द्वितीययक्षण में उत्पन्न है, मानस-प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। इस मान-प्रत्यक्ष की अनुभूति पृथग्जनों की सन्तति में नहीं होती। आगम से ही इसके अस्तित्व की जानकारी होती है। बौद्ध न्याय के सभी ग्रन्थों में इसका निरूपण किया जाता

है। पृथग्जन की सन्तति में होने वाले मानसप्रत्यक्ष की प्रामाणिकता मान्य नहीं है। जितने इन्द्रियप्रत्यक्ष होते हैं, उनके अनन्तर होने वाला मानसप्रत्यक्ष भी उतनी ही संख्या में होता है। अर्थात् इन्द्रियप्रत्यक्ष पांच होते हैं। अतः मानसप्रत्यक्ष के भी पांच भेद माने जाते हैं।

(३) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष–सभी चि त्त-चैतसिक याने सभी ज्ञान अपने स्वरूप को स्वयं जानते हैं। उनका स्वयं अपने स्वरूप को जानना 'स्वसंवेदन' कहलाता है। अपने स्वरूप का साक्षात्कारी होने से, कल्पनापोढ और अभ्रान्त होने से तथा अतिसंवादक होने से यह 'स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष' कहलाता है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बारे में बौद्धों में बहुत आपसी वाद-विवाद है। सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी (योगाचार) इसकी प्रमाणिकता स्वीकार करते हैं, जबकि वैभासिक और प्रासङ्गिक माध्यमिक इसे नहीं मानते। स्वान्त्रितक माध्यमिकों में भावविवेक स्वसंवेदन का खण्डन करते हैं, किन्तु योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को अपने दर्शन के स्वभाव के अनुसार इसकी प्रमाणिकता माननी चाहिए, यद्यपि उनके ग्रन्थों में इस बारे में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

(४) योगि-प्रत्यक्ष–शमथ-विपश्यना युगनद्ध समाधि को अधिपतिप्रत्यय बनाकर आर्यसत्यों का साक्षात्कार करते हुए उत्पन्न आर्यों का ज्ञान जो कल्पनाभेद और अभ्रान्त होता है, वह 'योगि-प्रत्यक्ष' है। यह वस्तु के यथार्थ स्वरूप नैरात्म्य का आलम्बन करता है तथा समाहित अवस्था में ही उत्पन्न होता है। योग का अर्थ समाधि है, चित्त की एकाग्रता इसका लक्षण है और वस्तुतत्त्व की साक्षात्कार कर नेवाली प्रज्ञा भी योग है। यह योग जिसमें होता है, वह 'योगी' कहलाता है। ऐसे योगी का जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष ही होता है। सास्रव अथवा लौकिक तथा अनासव अथवा अलौकिक भेद से यह दो प्रकार का होता है। अभिज्ञा,समापत्ति आदि लौकिक तथा दर्शनमार्ग आदि अलौकिक प्रत्यक्ष है।

अनुमान प्रत्यक्ष–लिङ्ग (साधन) के ग्रहण और साध्य-साधन सम्बन्धय (अर्थात व्याप्ति के) स्मरण के पश्चात् उत्पन्न ज्ञान 'अनुमान' कहलाता है। सम्यग् लिङ्ग (कार्य स्वभाव और अनुपलब्धि) से उत्पन्न परोक्ष-अर्थ-विषयक अविसंवादी ज्ञान 'अनुमान' है। अनधिगत वस्तु को विषय बनाने पर वही 'अनुमान प्रमाण' होता है।

अनुमान के भेद–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ये अनुमान के दो भेद है। जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं परोक्ष अर्थ का ज्ञान करता है, वह 'स्वार्थानुमान' है। परार्थानुमान वचनात्मक होता है। व्याप्ति और पक्षधर्मतायका कथन करने वाला वचन अनुमान का उत्पादक होता है, अतः कारण में कार्य का उपचार करके वचन को भी अनुमान कहा जाता है।

जो ज्ञान कल्पनाभेद और अभ्रान्त नहीं होता, वह 'प्रत्यक्षाभास' तथा जो ज्ञान सम्यग् लिङ्ग से उत्पन्न नहीं होता, वह 'अनुमानाभास' कहलाता है।

मार्ग और फलव्यवस्था

श्रावकमार्ग, प्रत्येकबुद्धमार्ग एवं बोधिसत्वमार्ग तथा उन मार्गों से प्राप्त होने वाले फलों की व्यवस्था सौत्रान्तिक मत में प्रायः वैभाषिकों के समान ही है। दर्शनमार्ग आदि की अवस्था में उसके विषय चार आर्यसत्य एवं उन सत्यों के सोलह आकार आदि ही माने जाते हैं। इनसे अतिरिक्त मार्गज्ञान के अन्य विषय नहीं होते।

मार्ग की दो अवस्थाएं होती हैं-समाहित अवस्था एवं पृष्ठलब्ध अवस्था। समाहित मार्ग की अवस्था में मार्गज्ञान के विषय आर्यसत्व एवं नैरात्मय आदि ही होते हैं।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि नैरात्म्य तो आत्माभावमात्र है और मार्गज्ञान तो सत्यविषयक ही होता है तथा सौत्रान्तिकों के मतानुसार तो परमार्थ सत्य एकमात्र स्वलक्षण (वस्तु) ही होता है। नैरात्म्य तो स्वलक्षण-स्वरूप होता नहीं, अतः नैरात्म्य कैसे मार्गज्ञान का विषय हो सकता है ?

उत्तर–मार्गज्ञान का विषय निश्चय ही पुद्गलारोप के आधार पाँच स्कन्ध ही होते है। जो संस्कृत और स्वलक्षण ही होते हैं। यद्यपि मार्गज्ञान (प्रत्यक्ष) में साक्षात् प्रतिभास तो पाँच स्कन्धों का ही होता है, किन्तु उसके बल से नैरात्म्य का स्पष्ट अवबोध (परिच्छेद) भी मार्गज्ञान द्वारा हो जाता है। ज्ञान द्वारा परिच्छेद (अवबोध) दो प्रकार का हुआ करता है– एक साक्षात् परिच्छेद तथा उसके बल से होने वाला परिच्छेद। नैरात्म्य का अवबोध पञ्च स्कन्ध के साक्षात परिच्छेद के बल (सामर्थ्य) से ही होता है। ज्ञात है कि पाँच स्कन्ध ही पुद्गलारोप के आधार होते हैं। अतः पुद्गलाभाव (पुद्गलनैरात्म्य) के आधार भी वे पाँच स्कन्ध ही होंगे, अतः उन्हीं में नैरात्म्य भासित होता ह। बोधिसत्व जब बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है, तब उसके स्वरूप एवं कृत्य आदि वैभाषिकों की तरह ही सौत्रान्तिक मत में मान्य है।

•

योगाचार दर्शन
(विज्ञानवाद)

परिभाषा–जो 'बाह्यार्थ सर्वथा असत् हैं और एकमात्र विज्ञान ही सत् है'-ऐसा मानते हैं, वे विज्ञानवादी कहलाते हैं।

ये दो प्रकार के होते हैं, यथा- (१) आगमानुयायी और (२) युक्ति-अनुयायी। आर्य असङ्ग, वसुबन्धु आदि आगमानुयायी तथा आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि युक्ति-विज्ञानवादी हैं।

विज्ञानवादियों का एक भिन्न प्रकार से भी द्विविध विभाजन किया जाता है, यथा- (१) सत्याकारविज्ञानवादी एवं (२) मिथ्याकारविज्ञानवादी। भोटदेशीय विद्वानों के मतानुसार आगमानुयायी और युक्ति-अनुयायी दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में सत्याकारवादी और मिथ्याकारवादी होते हैं।

आगमानुयायी–आर्य असङ्ग ने श्रावकभूमिशास्त्र, प्रत्येकबुद्ध-भूमिशास्त्र आदि नामों से पाँच भूमिशास्त्रों की रचना की है, जो इन भूमिशास्त्रों के आधार पर अपने पदार्थों की व्यवस्था करते हैं और आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान आदि की सत्ता स्वीकार करते हैं, वे 'आगमानुयायी' कहलाते हैं।

युक्ति–अनुयायी-दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय एवं धर्मकीर्ति के सात (सप्तवर्गीय) प्रमाणशास्त्रों के आधार पर जो पदार्थमीमांसा की स्थापना करते हैं तथा घट, पट आदि पदार्थों को बाह्यार्थत्व से शून्य सिद्ध करते हुए आलयविज्ञान और किलष्ट मनोविज्ञान का खण्डन करते हैं, वे 'युक्ति-अनुयायी' कहलाते हैं।

सत्याकारवादी– ज्ञानगत नीलाकार, पीताकार आदि को जो ज्ञानस्वरूप (ज्ञानस्वभाव) स्वीकार करते हुए उनकी सत्यतः (वस्तुतः) सत्ता स्वीकार करते हैं, अर्थात् जो यह मानते हैं कि उनकी सत्ता कल्पित नहीं हैं, वे 'सत्याकारवादी' कहलाते हैं।

मिथ्याकारवादी– ज्ञान में उत्पन्न (ज्ञानगत) नीलाकार, पीताकार आदि ज्ञानस्वरूप नहीं है, अतः उनकी वस्तुतः (सत्यतः) सत्ता नहीं है, अपितु वे वासनाजन्य एवं नितान्त कल्पित हैं। इस प्रकार जिनकी मान्यता है, वे 'मिथ्याकारवादी' कहलाते हैं।

सत्याकार विज्ञानवादियों के भेद

सत्याकारवादी तीन प्रकार के होते है, यथा-(१) ग्राह्य-ग्राहकसमसंख्यावादी, (२) अर्धाण्डाकारवादी एवं (३) नाना अद्वयवादी।

(१) ग्राह्य-ग्राहकसमसंख्यावादी–जिस प्रकार किसी चित्रपट में विद्यमान नील, पीत आदि पांच वर्ण द्रव्यतः पृथक्-पृथक् अवस्थित होते हैं, उसी प्रकार उस चित्र पट के ग्राहक ज्ञान भी नीलाकार, पीताकार आदि भेद से द्रव्यतः पृथक्-पृथक पांच प्रकार के होते हैं।

(२) अर्धाण्डाकारवादी– नील, पीत आदि अनेकवर्ण वाले चित्रपट में विद्यमानसभी वर्ण द्रव्यतः पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु उस चित्रपट का ग्राहक चक्षुर्विज्ञान उतनी संख्या में पृथक्-पृथक् न होकर द्रव्यतः एक ही होता है।

(३) नाना अद्वयवादी– जैसे नाना वर्ण वाले चित्रपट को जानने वाले चक्षुर्विज्ञान में वर्ण के अनुसार द्रव्यतः पृथग्भाव (नानाभाव) नहीं होता, अपितु वह एक होता है, वैसे चित्रपट में विद्यमान नाना वर्ण भी द्रव्यतः पृथक् नहीं होते, अपितु तादात्म्यरूप से वे एक और अभिन्न होते हैं।

मिथ्याकारवादी- मिथ्याकारविज्ञानवादी भी दो प्रकार के होते हैं, यथा-(१) समल विज्ञानवादी एवं (२) विमल विज्ञानवादी।

(१) समल विज्ञानवादी– इनके मतानुसार बुद्ध की अवस्था में भी द्वैतप्रतिभास होता है।

(२) विमल विज्ञानवादी– इनके मतानुसार बुद्ध की अवस्था में द्वैतप्रतिभास सर्वथा (बिल्कुल) नहीं होता, क्योंकि बुद्ध की चित्तसन्तति में मल का लेश भी नहीं होता।

विशेष–समलविज्ञानवादियों के मतानुसार जैसे पृथग्जन की अवस्था में अविद्या के कारण ग्राह्य और ग्राहक की पृथक् सत्ता का द्वैतप्रतिभास हुआ करता है, वैसे अविद्या से रहित बुद्धावस्था में भी ग्राह्य-ग्राहक द्वैत का प्रतिभास होता है। यद्यपि बुद्धावस्था में अविद्या नहीं है, फिर भी उसके प्रभाव से यह द्वैतप्रतिभास होता है। बुद्ध की दो अवस्थाएं होती हैं, समाहित अवस्था एवं पृष्ठलब्ध अवस्था। ज्ञात है कि इन समलवादियों के मत में भी यह द्वैतप्रतिभास बुद्ध की पृष्ठलब्ध अवस्था में ही होता हैं। समाहित अवस्था में तो इनके अनुसार भी द्वैतप्रतिभास नहीं होता। आचार्य धर्मकीर्ति के सन्तानान्तरसिद्धि नामक ग्रन्थ के 'भगवतः सर्वार्थसम्बोधिरचिन्तनीया' इस वचन की व्याख्या के प्रसङ्ग में विनीतदेव कृत टीका में उक्त विषय उपवर्णित है।

विमलविज्ञानवादियों के मत में जैसे पृथग्जन की अवस्था में ग्राह्यकार और ग्राहकाकार की पृथक् सत्ता का द्वैत प्रतिभास होता है, वैसे बुद्ध की अवस्था में चाहे समाहितावस्था हो या पृष्ठलब्ध अवस्था हो, ग्राह-ग्राहक-द्वयप्रतिभास सर्वथा नहीं होता, क्योंकि द्वैतप्रतिभास का कारण विकल्प या अविद्या होती है, और बुद्ध की चि त्तसन्तति में विकल्प की वासना भी नहीं होती, क्योंकि उन्होंने वासना के साथ सभी प्रकार के विकल्पों या अविद्या का प्रहाण कर दिया है। अतः द्वयप्रतिभास के लिए उनमें अवसर ही नहीं है। प्रसिद्धि है कि आर्य असङ्ग विमलविज्ञानवादी थे।

व्याख्यानान्तर–समलविज्ञानवादियों के अनुसार सत्त्वों की सन्तान में होने वाले चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान आदि सभी छह विज्ञान मल से युक्त होते हैं, जब जब ये विज्ञान उत्पन्न होते हैं, तब तब उनमें भासित होने वाले नील, पीत, घट, पट आदि पदार्थ बाह्यतः सत् आभासित होते हैं। अर्थात् ऐसी प्रतीति होती है मानो वे बाह्याकार विज्ञान से निरपेक्ष होते हैं और उनकी विज्ञानबाह्य सत्त होती है। अथवा वे विज्ञान के गर्भ में नहीं है या विज्ञानस्वभाव नहीं हैं।

विमलविज्ञानवादियों के अनुसार यद्यपि अविद्या के कारण घट, पट, नील, पीत आदि पदार्थों की विज्ञान में बाह्यार्थतः सत् के रूप में प्रतीति होती है, फिर भी चित्त या विज्ञान स्वरूपतः मल से रहित अर्थात् विमल होता है। इनके अनुसार क्लेश आदि मल वस्तुतः आगन्तुक होते हैं, अतः जब इन आगन्तुक मलों का प्रहाण कर दिया जाता है तब चित्त का वास्तविक विमल स्वरूप स्पष्टतया प्रतीत होने लगता है। यदि चित्त स्वरूपतः (स्वभावतः) समल होगा तो मलों के प्रहाण के साथ चित्त का भी प्रहाण हो जाएगा और बुद्ध की अवस्था में भी विमल (निर्मल) चित्त उपलब्ध न हो सकेगा। विमलविज्ञानवाद का यह स्वरूप निःसंशय प्रामाणिक हैं। प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि में तथा मध्यमकालंकार मूल एवं उसके भाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में इसका उल्लेख मिलता है। मलों की आगन्तुकता का निरूपण महायानसूत्रालङ्कार में भी उपलब्ध होता है। पालि-पिटक में भी चित्त की स्वभावतः निर्मलता का उल्लेख मिलता है।

(१) आगमानुयायी विज्ञानवाद

पदार्थमीमांसा

विज्ञानवाद के अनुसार प्रमेयों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा- (१) परिकल्पित लक्षण, (२) परतन्त्रलक्षण तथा (३) परिनिष्पन्नलक्षण।

(१) परिकल्पित लक्षण- लक्षण को स्वभाव भी कहते हैं, अतः इसे परिकल्पित स्वभाव भी कहा जा सकता है। स्वग्राहक कल्पना द्वारा आरोपित होना परिकल्पित स्वभाव का लक्षण है। रूप, शब्द आदि बाह्य एवं जड़ पदार्थों में तथा इन्द्रिय, विज्ञान आदि आन्तरिक धर्मों में विकल्पों (कल्पनाओं) द्वारा ग्राह्य-ग्राहक की पृथक् द्रव्यसत्ता एवं बाह्यार्थता का आरोपण किया जाता है, वही बाह्यार्थारोप या ग्राह्य-ग्राहकद्वैत का आरोप 'परिकल्पित लक्षण' है। यहाँ जिस परिकल्पितलक्षण का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह परिनिष्पन्नलक्षण या धर्मनैरात्म्य का निषेध्य होता है।

परिकल्पित भी द्विविध होते हैं, यथा-सत्परिकल्पित एवं असत्परिकल्पित। रूप आदि धर्मों में विद्यमान अभिधेयत्व, अभिलाप्यत्व एवं आकाश आदि धर्म सत्परिकल्पित हैं। क्योंकि

उनका व्यवहारतः अस्तित्व होता है और ये परिनिष्पन्नलक्षण या धर्मधातु के प्रतिषेध्य नहीं
होते। बाह्यार्थता, अभिधेय की स्वलक्षणता, पुद्गलात्मा, खपुष्प, शशशृङ्ग आदि असतपरिकल्पित
हैं, क्योंकि इनका व्यवहारतः भी अस्तित्व नहीं होता। शास्त्रों में केवल बाह्यार्थत्व एवं
अभिधेयस्वलक्षणत्व का ही परिकल्पितलक्षण के रूप में उल्लेख मिलता है।

(२) परतन्त्रलक्षण– हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होना परतन्त्रस्वभाव का लक्षण है। समस्त
चित्त-चैतसिक एवं उनमें आभासित रूप आदि धर्म परतन्त्रलक्षण हैं। उदाहरणार्थ रूप और
रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान दोनों स्वभावतः अभिन्न और परतन्त्रलक्षण हैं, क्योंकि दोनों एक ही
वासनाबीज के फल हैं, एक ही काल में उत्पन्न होते हैं और एक ही काल में निरुद्ध होते हैं।

परतन्त्र भी द्विविधि है, यथा-अशुद्ध परतन्त्र एवं शुद्ध परतन्त्र। समस्त सांसारिक
वस्तुएं, जिन पर कर्म और क्लेशों का प्रभाव पड़ता है, अशुद्ध परतन्त्र है। आर्यों का
समाहित ज्ञान, सर्वज्ञ ज्ञान, बुद्ध के काय-वाक्-क्षेत्र आदि शुद्ध परतनत्र कहलाते हैं।
परतन्त्र इसलिए परतन्त्र कहलाता है, क्योंकि वह अपने से भिन्न हेतुओं एवं प्रत्ययों से
उत्पन्न होता है, उनके अधीन होता है। रूप आदि समस्त धर्म आलयविज्ञान एवं उसमें
स्थित वासनाओं के फल हैं, अतः उनका उत्पाद इन हेतु-प्रत्ययों के अधीन होता है।
व्याख्या-भेद से रूप आदि परतन्त्र लक्षण परमार्थसत् भी होते हैं।

(३) परनिष्पन्नलक्षण– ऊपर कहा गया है कि रूप आदि परतन्त्र धर्मों में आरोपित
बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व परिकल्पितलक्षण हैं, जो परतन्त्र धर्मों में नितान्त असत्
हैं। परतन्त्र धर्मों में परिकल्पितलक्षण की वस्तुतः अविद्यमानता या रहितता ही 'परिनिष्पन्नलक्षण'
है और विज्ञानवादी शास्त्रों में यही (परिनिष्पन्न लक्षण) धर्मधातु, तथता, भूतकोटि,
परमार्थसत्य आदि शब्दों से निर्दिष्ट है। यह परिनिष्पन्न लक्षण परतन्त्रलक्षण से न भिन्न
होता है और न अभिन्न। वह स्वभावतः अभिन्न और व्यावृत्तितः भिन्न होता है।

लक्षण विचार

'परतन्त्र' शब्दमें 'पर' का अर्थ 'हेतु और प्रत्यय' है। 'तन्त्र' का अर्थ 'अधीन या
वशीभूत होना' है। अर्थात् जिसका अस्तित्व हेतु-प्रत्यय के अधीन है, वह 'परतन्त्र'
कहलाता है। उदाहरणार्थ बीज आदि (हेतु) अङ्कुर को द्रव्यतः या स्वभावतः उत्पन्न करता
है। आशय यह है कि बीज की द्रव्यतः सत्ता है, बाह्यार्थतः नहीं। अर्थात् द्रव्यसत् बीज
द्रव्यसत् अङ्कुर को उत्पन्न करता है, बाह्यार्थतः सत् अङ्कुर को नहीं। यदि अङ्कुर
स्वभावतः (द्रव्यतः) उत्पन्न नहीं होगा तो वह उत्पन्न ही नहीं होगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में
अङ्कुर का कल्पित उत्पाद मानना पड़ेगा और कल्पित उत्पाद से उत्पाद की व्यवस्था नहीं
की जा सकती। यदि परतन्त्र स्वभावसत् रूप में उत्पन्न नहीं होगा तो उसमें परिकल्पित
स्वभाव (लक्षण) का आरोप नहीं किया जा सकेगा। अर्थात् वह (परतन्त्र) कल्पित स्वभाव

के आरोप का आधार नहीं हो सकेगा, जैसे कोई जाने की इच्छा वाल पुरुष पङ्गु के ऊपर नहीं चढ़ सकता। यदि उसमें आरोप नहीं किया जा सकेगा तो वह (परतन्त्र) कदापि आरोपित धर्म (परिकल्पित लक्षण) से शून्य भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। परतन्त्र में परिकल्पित (आरोपित) लक्षण से शून्यता (रहितता) परिनिष्पन्न लक्षण कहलाती है। स्वभावसत् न होने की स्थिति में वह (परतन्त्र) परिनिष्पन्नलक्षण का आधार भी न हो सकेगा। इस तरह यदि परतन्त्र को स्वभावसत् (द्रव्यसत्) न माना जाएगा तो तीनों लक्षणों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी, क्योंकि परतन्त्र ही परिकल्पित और परिनिष्पन्न दोनों का आधार हुआ करता है। अतः परतन्त्र को निःस्वभाव मानना (जैसे कि माध्यमिक मानते हैं) तीनों लक्षणों का अपवाद करना है। ऐसी स्थिति में उच्छेदवाद का प्रसङ्ग होगा। अतः परतन्त्र स्वभावतः (द्रव्यतः) सत् है। इसी के आधार पर संसार और निर्वाण की या व्यवहार और परमार्थ की सारी व्यवस्था सुचारू रूप से सम्पन्न हो सकती है।। आर्य-असङ्ग की बोधिसत्त्वभूमि, महायानसङ्ग्रह तथा आर्य मैत्रेयनाथ के महायानसूत्रालङ्कार आदि में इस विषय की विस्तृत चर्चा है। विशेषतः जानने के इच्छुक जिज्ञासुओं को उनका अवलोकन करना चाहिए।

उक्त प्रकार के परतन्त्रलक्षण में और शब्द और कल्पना द्वारा जो आरोपित किया जाता है, वह परिकल्पित लक्षण होता है। अर्थात् शब्द और कल्पना परतन्त्र में असत् (जो वस्तुतः नहीं है अर्थात् जो मिथ्या है) का समारोप करते हैं और उसी (आरोपित) को अपना विषय बनाते हैं। जैसे आधारभूत (परतन्त्र) घट में शब्द और कल्पना बाह्यार्थत्व का समारोप करते हैं और वही बाह्यार्थता उनका विषय होता है, जबकि बाह्यार्थता उस घट में में सर्वथा नहीं होती। इसी तरह वे (शब्द और कल्पना) घट को प्रमेय के रूप में, धर्म के रूप में भी विकल्पित करते हैं, तथापि प्रमेयत्व, धर्मत्व आदि मुख्य परिकल्पितलक्षण नहीं हैं, क्योंकि वे धर्मनैरात्म्य या परिनिष्पन्नलक्षण के प्रतिषेध्य नहीं होते। प्रमुख प्रतिषेध्य तो बाह्यार्थत्व या ग्राह्यग्राहक-द्वैत ही है और वही मुख्य परिकल्पित-लक्षण है।

ज्ञात है कि परतन्त्र में यद्यपि शब्द और कल्पना द्वारा बाह्यार्थता (परिकल्पितलक्षण) का आरोपण किया जाता है, फिर भी वस्तुतः परतन्त्र उस बाह्यार्थता से रहित ही होता है। यह जो परतन्त्र में वस्तुतः बाह्यार्थता (परिकल्पितलक्षण) से रहितता (शून्यता) है, यही शून्यता 'परिनिष्पन्नलक्षण' है। यही विज्ञानवादियों का परमार्थसत्य, धर्मधातु, तथता या भूतकोटि है। यह शून्यता प्रसज्यप्रतिषेध रूप है, पर्युदासप्रतिषेध नहीं है। अर्थात् घट, पट आदि परतन्त्र में बहिरर्थता का अभावमात्र परिनिष्पन्नलक्षण है और घट, पट आदि परतन्त्रलक्षण हैं। परिनिष्पन्न और परतन्त्र में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। परिनिष्पन्न परमार्थसत्य और परतन्त्र संवृतिसत्य है। परिनिष्पन्नता को सिद्ध करने के लिए विज्ञानवादी अनेक युक्तियों का प्रयोग करते हैं।

विशेष ज्ञातव्य- विज्ञानवादी पदार्थमीमांसा के सम्यग् ज्ञान के लिए सबसे पहले यह जान लेना जरूरी है कि जब वे बाह्यार्थ का खण्डन करते हैं, तब 'बाह्य' से उनका तात्पर्य क्या है। अर्थात् किसे वे 'बाह्य' कहते हैं। सारा प्रपञ्च विज्ञान में न मानकर ज्ञेय पदार्थ यदि ज्ञान से भिन्न या बाहर माने जाते हैं तो यही ज्ञान से भिन्नता 'बाह्यार्थता' है। अर्थात् व्यक्ति द्वारा ज्ञान से भिन्न माने गये पदार्थ ही 'बाह्य' हैं। कहने का आशय यह है कि विज्ञानवादियों के अनुसार यही 'बाह्य' की सीमा है। इसके विपरीत उन्हें (सारे पदार्थों को) ज्ञान से स्वभावतः अभिन्न मानना 'वास्तविकता' या आन्तरिकता की सीमा है। अर्थात् सारा प्रपञ्च ज्ञान के गर्भ में स्थित है और स्वभावतः ज्ञान से अभिन्न है। इसे ही 'विज्ञप्ति' कहते हैं। घट, पट आदि सभी यद्यपि विज्ञान से एकात्मक हैं, तथापि वे विज्ञान ही नहीं हैं। अपितु विज्ञान के परिणाम हैं। घट, पट आदि जड हैं, जबकि विज्ञान जड नहीं होता, चित्तसन्तति में अनेक प्रकार की वासनाएं स्थित होती हैं। उन वासनाओं में से कोई एक समर्थ वासना परिपक्व होने पर घट और चक्षुर्विज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। अर्थात् उस वासनापरिणाम का एक अंश घट (विषय) एवं एक अंश उस विषय का ग्राहक (विषयी) विज्ञान के रूप में भासित होता है। वह विषय अर्थात् घट यद्यपि रूप (जड) होता है, फिर भी वह परमाणुओं से सञ्चित घट नहीं होता। उन विभिन्न प्रकार की वासनाओं के आश्रय के बारे में विज्ञानवादियों के दो प्रकार के मत हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी कहते हैं कि उन वासनाओं का आश्रय आलयविज्ञान होता है, जबकि अन्य प्रकार के बौद्ध जो आलयविज्ञान नहीं मानते, वासनाओं का आश्रय मनोविज्ञान को मानते हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी प्रयत्नपूर्वक विभिन्न युक्तियों के द्वारा आलयविज्ञान को सिद्ध करते हैं।

ज्ञात है कि प्रायः सभी बौद्ध विज्ञानों की संख्या छह मानते हैं, यथा- चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान। यद्यपि स्थविरवादी चि त्तों की संख्या ८९ या १२१ मानते हैं, फिर भी उनका उपर्युक्त छह विज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है। चित्त, विज्ञान, मनस् एवं विज्ञप्ति पर्यायवाची हैं। किन्तु आगमानुयायी विज्ञानवादियों की स्थिति इससे भिन्न है। वे उपर्युक्त छह विज्ञानों के अलावा आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान की भी सत्ता मानते हैं। फलतः इनके मत में विज्ञानों की संख्या आठ हो जाती है। अर्थात् आगमानुयायी विज्ञानवादी अष्टविज्ञानवादी होते हैं। आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान को लेकर आगामनुयायी और उनसे भिन्न बौद्ध दार्शनिकों में बहुत वाद-विवाद हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी अन्य बौद्ध दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त युक्तियों का खण्डन करके प्रमाणपूर्वक आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान की सिद्ध करते हैं।

आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान

(क) आलयविज्ञान- आलयविज्ञान का प्रतिपादन हम उसका तीन विचारबिन्दुओं में

विभाजन करके प्रस्तुत करेंगे, यथा- (१) लक्षण (२) युक्ति तथा (३) एक या नौ विज्ञान मानने वालों का खण्डन।

ज्ञातव्य है कि वासनाओं के आश्रय विज्ञान को भी 'आलय' कहते हैं तथ उसमें आश्रित वासनाओं को भी 'आलय' कहते हैं। आश्रय विज्ञान को 'विपाक आलय' एवं आश्रित वासनाओं को 'बीज-आलय' कहते हैं। उनमें से प्रथम आश्रयभूत विपाक आलय ही 'आलयविज्ञान' कहलाता है।

(१) लक्षण- चक्षुष् आदि इन्द्रिय, रूप-शब्द आदि अर्थ तथा वासना इन तीनों को यथायोग्य आलम्बन बनाकर अपरिच्छिन्नालम्बन, अपरिच्छिन्नाकार एवं अनिवृताव्याकृत रूप में उत्पन्न मनोविज्ञान आलयविज्ञान का लक्षण है। इन्द्रिय शब्द से पांचों इन्द्रियों और उन इन्द्रियों से सम्पन्न सत्व (प्राणी) का ग्रहण करना चाहिए। 'अर्थ' शब्द से **रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य** इन पांचों विषयों का ग्रहण करना चाहिए। तथा 'वासना' शब्द से आत्मा और धर्मों को बाह्यार्थ के रूप में कल्पित (आरोपित) करके उनमें (आरोपित बाह्यार्थ में) अभिनिविष्ट विकल्पों द्वारा प्रक्षिप्त (आलयविज्ञान में स्थापित) वासनाओं का ग्रहण करना चाहिए।

अपरिच्छिन्न आलम्बन एवं आकार- यद्यपि आलय विज्ञान में भाजन (इन्द्रिय एवं अर्थ) और सत्वों का प्रतिभास तो होता है, किन्तु उन आलम्बनों का एवं उनके आकारों का आलयविज्ञान स्पष्टता परिच्छेद (अवबोध या निश्चय) नहीं कर पाता तथा न तो उस प्रतिभास के बाद आलयविज्ञान किसी निश्चायक (निश्चय करने वाले) ज्ञान को अपने बल से आनीत (उत्पन्न) करने में समर्थ होता है। अतः वह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार कहलाता है।

अनिवृताव्याकृत- वह आलयविज्ञान अनिवृत और अव्याकृत होता है। वह अनिवृत इसलिए है, क्योंकि स्वरूपतः वह क्लेश आवरणों से आवृत नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह आनन्तर्य समाहित मार्ग की अवस्था में भी विद्यमान होता है। समाधि की अवस्था में जिस समय आर्य साधक योगी में तत्त्व (शून्यता) का साक्षात्कारी ज्ञान (मार्ग) उत्पन्न होता है, उसे आर्य की 'समाहित अवस्था' कहते हैं। इस अवस्था के भी दो भाग होते हैं, यथा- आनन्तर्य समाहित अवस्था एवं विमुक्ति-समाहित-अवस्था। इसे ही क्रमशः आनन्तर्य आर्यमार्ग एवं विमुक्ति आर्य मार्ग भी कहते हैं। आनन्तर्य मार्ग की अवस्था में क्लेशों, आवरणों और मलों का आत्यन्तिक प्रहाण होता है। तथा विमुक्ति मार्ग उस प्रहाण को धारण करने वाला आधार होता है। यदि आलयविज्ञान आवरणों से युक्त होता तो आवरणों का प्रहाण करने वाले आनन्तर्य समाहित मार्ग की अवस्था में उसका विद्यमान रहना सम्भव नहीं होता। अतः वह अनिवृत है। आलयविज्ञान न कुशल होता है और न अकुशल, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में वह विद्यमान होता है और दोनों द्वारा स्थापित वासनाओं को धारण

करता है तथा दोनों के अनुकूल होता है तथा वह कुशल और अकुशल का विपाक हुआ करता है। जो विपाक होता है, उसका कुशल अथवा अकुशल में संग्रह नहीं किया जा सकता। अतः कुशल अथवा अकुशल के रूप में व्याकृत (विभाजित) नहीं किया जा सकने के कारण वह 'अव्याकृत' भी है।

मनोविज्ञान- आलयविज्ञान, क्योंकि चक्षुष् आदि रूपी इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान नहीं है, अतः 'मनस्' कहलाता है। वह विज्ञान इसलिए है, क्योंकि चित्त-चैतसिकों के अन्तर्गत वह एक चित्त है तथा चित्त और विज्ञान एकार्थक है।

यदि आलयविज्ञान चि त्त है तो उसमें चैतसिकों को सम्प्रयुक्त होना चाहिए, क्योंकि बिना चैतसिकों के कोई चित्त नहीं हुआ करता। विज्ञानवादी उसमें पाँच चैतसिकों का सम्प्रयोग मानते हैं, यथा-स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना। इन पांच चैतसिकों के अतिरिक्त कोई अन्य चैतसिक आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त नहीं होता। यद्यपि वेदना त्रिविध होती है- सुख, दुःख और उपेक्षा। किन्तु तीनों प्रकार की वेदनाएं आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त नहीं होतीं, अपितु केवल उपेक्षा वेदना ही उससे सम्प्रयुक्त होती है।

यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि आलयविज्ञान की आलम्बनभूत वासना, जो उसमें आभासित होती है, वह आलयविज्ञान से न तो द्रव्यतः भिन्न होती है और न अभिन्न। वह वस्तुतः आलयविज्ञान से भिन्नाभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय है।

कतिपय प्रश्न

यदि वासना आलयविज्ञान से अभिन्न है तो उसका आलयविज्ञान में आभासित होना कैसे सम्भव है ?

उत्तर- वासना आभासित होकर आलयविज्ञान की आलम्बन नहीं हुआ करती, अपितु उस वासना के बल से आलयविज्ञान में अर्थ, इन्द्रिय आदि भाजन एवं सत्त्व प्रतिभासित होते हैं। अतः कारण में कार्य का उपचार करके वह (वासना) भी आलयविज्ञान का आलम्बन कही जाती है।

प्रश्न- सभी प्राणियों में आलयविज्ञान होता है और उसमें रूप आदि अर्थ, इन्द्रिय (सत्त्व) और वासनाएं भासित होते हैं। अर्थात् ये (अर्थ आदि) उसके आलम्बन होते हैं। बौद्ध मान्यता के अनुसार तीन लोक होते हैं- कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक। काम और रूपलोक में तो रूपी (जड) पदार्थों का अस्तित्व होता है, किन्तु अरूपलोक में तो उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रश्न है कि अरूपलोक के प्राणियों में विद्यमान आलयविज्ञान में अर्थ, इन्द्रिय आदि भाजन एवं स त्त्वों का प्रतिभास होता है कि नहीं ?

उत्तर– नहीं होता। अरूपभूमि के सत्त्वों के आलयविज्ञान में यदि अर्थ, इन्द्रिय (भाजन और सत्त्व) आदि का साक्षात् प्रतिभास होगा तो उन सत्त्वों के मनोविज्ञान द्वारा उन (अर्थ, इन्द्रिय) का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानों में जिन विषयों का प्रतिभास होता है, उनका मनोविज्ञान द्वारा व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में वे अरूपी (अरूप लोक के) सत्त्व रूपी (रूपलोक के) सत्त्व हो जाएंगे। अपि च, यदि अरूपलोक के आलयविज्ञान में भाजन और सत्त्वों का प्रतिभास होगा तो अरूपी सत्त्व रूपी संज्ञा वाले होने लगेंगे। तथा अरूप भूमि के जिन सत्त्वों ने अरूप भूमि में उत्पन्न होने के लिए पहले रूपविरागभावना का अभ्यास करके रूप संज्ञा का प्रहाण किया है, उन्हें अरूप भूमि में उत्पन्न होने पर भी पुनः यदि रूपों (अर्थ, इन्द्रिय आदि) का प्रतिभास होने लगेगा तो उनकी ध्यान भावना व्यर्थ हो जाएगी।

प्रश्न– आलयविज्ञान क्यों कुशल या अकुशल न होकर केवल अनिवृताव्याकृत ही होता है ?

उत्तर– बात यह है कि आलयविज्ञान कुशल एवं अकुशल दोनों द्वारा वासित (वासना का आधार) होता है। यदि वह कुशल होगा तो अकुशल वासना द्वारा वासित नहीं किया जा सकेगा। इसी तरह अकुशल के बारे में भी जानना चाहिए। साथ ही वह एक ही सन्तान में कुशल की प्रवृत्ति के समय और अकुशल की प्रवृत्ति के समय साक्षात् रूप से विद्यमान होता है। इसलिए उसे अनिवृताव्याकृत पक्ष में व्यवस्थापित किया जाता है। ऐसा होने पर वह परस्पर विरोधी (कुशल-अकुशल) दोनों के अनुकूल होता है।

प्रश्न– आलयविज्ञान के साथ स्पर्श आदि केवल पांच सर्वत्रग चैतसिक ही क्यों सम्प्रयुक्त होते हैं, जबकि चैतसिक ५१ होते हैं ?

उत्तर– ज्ञात है कि आलयविज्ञान अनिवृताव्याकृत है, कुशल या अकुशल नहीं। अतः उसमें ११ कुशल चैतसिक, ६ क्लेश चैतसिक एवं २० उपक्लेश चैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि कुशल चित्त के साथ ही कुशल चैतसिक और अकुशल चित्त के साथ ही क्लेश-उपक्लेश चैतसिक सम्प्रयुक्त हो सकते हैं। इसमें ५ विनियत चैतसिक भी सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे अपने आलम्बन और उनके आकार का स्पष्टतया परिच्छेद करते हैं, जबकि आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है। अतः वे उसमें सम्प्रयुक्त नहीं होते। ४ अनियत चैतसिक भी उसमें सम्प्रयुक्त नहीं होते, क्योंकि जिस प्रकार के आधार (सविकल्पक ज्ञान) में उनका सम्प्रयोग हो सकता है, आलयविज्ञान वैसा आधार नहीं है।

पाँच सर्वत्रग चैतसिकों से आलयविज्ञान का सम्प्रयुक्त होना आवश्यक है। क्योंकि स्पर्श चैतसिक तो सभी चित्त-चैतसिकों का कारण होता है, अतः वह अवश्य सम्प्रयुक्त होगा। सभी चि त्तों में कोई न कोई वेदना अवश्य होती है, अतः सुख, दुःख और उपेक्षा–

इन त्रिविध वेदनाओं में से उपेक्षा वेदना आलयविज्ञान में सम्प्रयुक्त होती है। आलम्बन के सभी आकारों का ग्रहण सभी चित्तों का कृत्य होता है, अतः संज्ञा चैतसिक का सम्प्रयोग भी आवश्यक है। सभी चित्त विषय की ओर उन्मुख होते हैं, अतः चेतना चैतसिक भी सम्प्रयुक्त होता है तथा सभी चि त्त आलम्बन का सन्धारण करते हैं या आलम्बन में आधृत होते हैं, अतः मनस्कार चैतसिक के साथ भी उनका सम्प्रयोग होता है।

प्रश्न– आलयविज्ञान के साथ क्यों केवल मध्यस्थ अर्थात् उपेक्षा वेदना का ही सम्प्रयोग होता है, सुख और दुःख वेदनाओं का नहीं ?

उत्तर– यदि आलयविज्ञान के साथ वेदना का सम्प्रयोग माना जाएगा तो चतुर्थ ध्यान के ऊपर की अवस्थाओं एवं भूमियों में भी सुख वेदना विद्यमान होने लगेगी और नरक में भी विपाक सुख होने लगेगा।

यदि उसके साथ दुःख वेदना का सम्प्रयोग माना जाएगा तो रूपी और अरूपी ध्यान भूमियों में भी दुःख का प्रक्षेप लगेगा और वे दुःखा वेदना की भूमियाँ होने लगेंगी।

प्रश्न– उक्त प्रकार के विपाक की निवृत्ति कब होती है ?

उत्तर– यद्यपि आलयविज्ञान को विपाकविज्ञान कहा जाता है, फिर भी दोनों में फर्क करना चाहिए। जो आलय विज्ञान होता है, वह अवश्य विपाकविज्ञान होता है, किन्तु जो विपाकविज्ञान होता है, उसका आलयविज्ञान होना जरूरी नहीं है। विपाकविज्ञान निरूपधिशेष निर्वाण की अवस्था में विद्यमान नहीं रहता तथा महायानी दशमभूमि की वज्रोपमसमाधि के अनन्तर भी विद्यमान नहीं रहता। इन दो अवस्थाओं को छोड़कर कभी भी किसी भी अवस्था में उसका अभाव नहीं होता। पुद्गल जब किसी जन्म में अर्हत्व प्राप्त करता है, तब अर्हत्व प्राप्त करते ही उसके विपाकविज्ञान की निवृ त्ति नहीं होती, अपितु जब तक वह निरूपधिशेष निर्वाण प्राप्त नहीं करता, तब तक उसकी प्रवृत्ति होते रहती है। क्योंकि वह पूर्व कर्मों का विपाक है और विपाक यावज्जीवन प्रवृत्त होने वाला होता है। यही बात बोधिसत्व की वज्रोपम समाधि तक भी लागू है।

ज्ञात है कि आलयविज्ञान के दो अंश होते हैं-विपाकांश और वासना-अंश। ऊपर कहा गया है कि समस्त सांक्लेशिक धर्म आलयविज्ञान से कार्यरूप से सम्बद्ध रहते हैं तथा आलयविज्ञान उन सबमें कारण रूपेण सम्बद्ध रहता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान आलयविज्ञान को ही आत्मा के रूप में ग्रहण करता है। अर्थात् वह आलयविज्ञान से आत्मदृष्ट्या सम्बद्ध रहता है। इन सब कारणों की वजह से विपाक (विपाकांश) को 'आलयविज्ञान' यह संज्ञा प्राप्त होती है। जब क्लिष्ट मनोविज्ञान समाप्त हो जाता है तब विपाकविज्ञान 'आलयविज्ञान' नहीं रह जाता, फिर भी विपाकविज्ञान अवशिष्ट रहताहैं फलतः जब पुद्गल अर्हत्व प्राप्त करता है, तब उसकी सोपाधिशेष अवस्था में ही उसका क्लिष्टविज्ञान नहीं रहता और उसकी वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। इसी तरह महायान की अष्टम भूमि को प्राप्त

अवैवर्तिक बोधिसत्त्व की अवस्था में भी वासना-अंश समाप्त हो जाता है, फलतः आलयविज्ञान की 'आलयविज्ञान' यह संज्ञा समाप्त हो जाती है, फिर भी उस पुद्गल की सन्तति में जब तक निरूपधिशेष निर्वाण प्राप्त नहीं होता या वज्रोपम समाधि की अवस्था नहीं आती, तब तक विपाकविज्ञान प्रवृत्त होता है।

आश्रित 'बीज-आलय'

लक्षण– ज्ञात है कि आगमानुयायी विज्ञानवादी आठ विज्ञान मानते हैं- चक्षुर्विज्ञान, श्रोतविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, काय, मनोविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं आलय विज्ञान। इनमें से आलयविज्ञान वासनाओं का आधार होता है, अतः वह 'वास्य' (वासित करने योग्य) कहलाता है तथा बाकी के सात विज्ञान (अर्थात् सप्तगण) उसमें वासना स्थापित करते हैं, अतः 'वासक' कहलाते हैं। इनमें से केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान अव्याकृत होता है और बाकी के छह विज्ञान (षड्गण) कुशल, अकुशल और अव्याकृत तीनों होते हैं। उपर्युक्त सातों विज्ञान अपनी निरुद्ध होने की अवस्था में आलयविज्ञान में अपने बीज (वासना) स्थापित करते हैं। बीज के रूप में स्थापित यही शक्ति 'आश्रित बीज- आलय' कहलाती है। षड् गण अर्थात् छह विज्ञान कुशल, अकुशल और अव्याकृत तीनों प्रकार के बीज स्थापित करते हैं तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान केवल अव्याकृत ही होने से अव्याकृत बीज ही स्थापित करता है।

प्रश्न– उपर्युक्त सपरिवार वासक सातविज्ञान (सप्तगण) ही क्यों बीज स्थापित करने वाले के रूप में निश्चित है ?

उत्तर– उपर्युक्त सात विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' भी कहलाते हैं। प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान परस्पर हेतु- फलभाव के रूप में सम्बद्ध होते हैं। प्रवृत्तिविज्ञान अपने द्वारा आलयविज्ञान में पहले स्थापित बीजों को परिपुष्ट भी करते हैं और उस समय वे 'बीज-आलय' के अधिपतिप्रत्यय कहलाते हैं तथा नवीन बीजों को स्थापित भी करते हैं और उस समय वे 'बीज-आलय' के हेतुप्रत्यय होते हैं। ये प्रवृत्तिविज्ञान मृत्यु के अनन्तर अगले जन्म में प्रतिसन्धि करने वाले आलयविज्ञान में बीज स्थापित करते हैं।

प्रश्न– वास्य आलयविज्ञान को किन-किन विशेषणों से युक्त होना चाहिए ?

उत्तर-आलयविज्ञान निम्नलिखित पाँच विशेषणों से युक्त होता है:

(१) वास्य (वासना के आधार) आलयविज्ञान को एक स्थिर (दृढ़) विज्ञान होना चाहिए। अर्थात् उसे धारावाहिक क्षणिक परम्परा के रूप में सर्वदा प्रवाहित होते रहना चाहिए। तभी उस पर वासना स्थापित की जा सकेगी। उसे शब्द और विद्युत की भाँति नितान्त अस्थिर नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस स्थिति में उस पर न तो वासना आहित की जा सकेगी और आहित हो भी जाए तो भी वह व्यर्थ होगी। इसीलिए सप्तगण विज्ञान और रूप, शब्द आदि वासना के आधार नहीं माने जाते।

(२) वास्य आलविज्ञान को अव्याकृत होना चाहिए। क्योंकि अव्याकृत विज्ञान कुशल या अकुशल न होकर एक मध्यस्थ विज्ञान होता है और ऐसा मध्यस्थ विज्ञान ही वासना स्थापित करने के अनुकूल होता है। उदारणार्थ जैसे उग्र गन्ध वाले लहसुन, हींग आदि द्रव्यों में या चन्दन आदि में कोई दूसरा गन्ध-द्रव्य रखा भी जाए तो भी उस गन्धद्रव्य की गन्ध उन लहसुन या चन्दन आदि विषम गन्ध वाले द्रव्यों में स्थापित नहीं की जा सकती, किन्तु वही गन्ध-द्रव्य यदि पानी आदि समगन्ध वाले द्रव्य में रखा जाता है तो उसकी गन्ध स्थापित हो जाती है। इसी तरह मध्यस्थ अव्याकृत आलयविज्ञान में ही कुशल, अकुशल आदि की वासना स्थापित की जा सकती है। क्योंकि वह कुशल, अकुशल दोनों के विरुद्ध नहीं होता।

(३) उसे (आधार को) अवलेप्य (जिस पर लेप किया जा सके) होना चाहिए। अर्थात् उसे अनित्य एवं संस्कृत होना चाहिए, क्योंकि आकाश आदि नित्य पदार्थों पर कोई चीज चढ़ाई नहीं जा सकती।

(४) उसे स्थापन (आधान) क्रिया से सम्बद्ध होना चाहिए। अर्थात् वासक (स्थापक) और वास्य (स्थाप्य) में ऐसा सम्बन्ध होनाचाहिए कि दोनों का एक काल और एक सन्तान में उत्पाद और एक काल में निरोध हो। क्योंकि भिन्न सन्तान और भिन्न काल में होने वाले दो द्रव्यों में वास्य-वासकभाव नहीं हो सकता।

(५) उसे एकान्त रूप से सर्वदा आश्रय ही होना चाहिए। अर्थात् उसे कदापि आश्रित नहीं होना चाहिए। साथ ही गौण रूप से नहीं, अपितु मुख्य रूप से आश्रय होना चाहिए। आलयविज्ञान से सर्वदा सम्प्रयुक्त होने वाले स्पर्श आदि पांच सर्वत्रग चैतसिक भी वास्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे मुख्य आलयविज्ञान नामक चित्त में आश्रित होते हैं, अतः वे एकान्ततः आश्रय नहीं हैं।

वासना के प्रकार

वासनाओं के अनन्त प्रकार हैं, किन्तु शास्त्रों में विद्वानों ने उनके अनेक प्रकार के श्रेणी-विभाजन किये हैं, यथा- (१) छह प्रकार (२) तीन प्रकार तथा (३) चार प्रकार।

(१) छह प्रकार

(क) बाह्यवासना- यव, उत्पल (कमल) आदि बाह्य धर्मों के बीज 'बाह्यवासना' कहलाते हैं।

(ख) अन्तर्बीज- यह आलयविज्ञान में स्थित यह बीजांश हैं, जिससे भविष्य में पुनः आलयविज्ञान की उत्पत्ति होती है।

(ग) अव्यक्त बीज- दो प्रक'र के अव्याकृत बीज ही दो प्रकार के अव्यक्त बीज होते हैं। अर्थात् परीक्षा करने पर जिनका संक्लेश और व्यवदान में या कुशल या अकुशल में

व्याकरण या विभाजन नहीं किया जा सकता, वे अव्याकृत बीज ही द्विविधि अव्यक्त बीज हैं।

(घ) द्विबीज– कार्य बीज और कारण बीज या बहिर्बीज और अन्तर्बीज ही 'द्विबीज' कहलाते हैं, इनकी वजह से आलय भी कार्य आलय एवं कारण आलय- इस प्रकार द्विविध होता है।

(ङ) संवृतिबीज– यह बाह्य बीज के अन्तर्गत परिगणित व्यावहारिक बुद्धि का विषय है।

(च) परमार्थ बीज– यह अन्तर्बीज के अन्तर्गत परिगणित बीज है।

(२) तीन प्रकार

(क) अभिलाप वासना – रूप से लेकर सर्वज्ञ ज्ञान पर्यन्त सभी धर्मों के नाम और निमित्त के उत्पादक बीज, जो आलयविज्ञान में स्थित हैं 'अभिलाप वासना' कहलाते हैं। ये बीज ही विभिन्न नाम-व्यवहार करने वाले मनोविज्ञान के हेतु होते हैं। अर्थात् रूप से लेकर सर्वज्ञ ज्ञान तक होने वाले संक्लेश-व्यवदान नामक १०८ धर्म जब मनोविज्ञान में आभासित होते हैं तो इन बीजों की वजह से उनका नामव्यवहार सम्पन्न होता हैं नाम द्वारा मनोविज्ञान में इन धर्मों की आकृति बनती है। इसे 'प्रपञ्च-वासना' भी कहते हैं। विभिन्न विषयों में व्यावहारिक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति का बीज यह 'प्रपञ्चवासना' ही होती है। यह वासना इसलिए 'अभिलाप वासना' कहलाती है, क्योंकि 'चक्षुष्' 'रूप' इस प्रकार के अभिधानाकार वाले मानस ज्ञान की यह वासना (उत्पादिका) होती है। यह वासना सपरिवार मनोविज्ञान द्वारा स्थापित की जाती है तथा उसी के द्वारा सपरिवार मनोविज्ञान उत्पन्न होते हैं। 'परिवार' का तात्पर्य चैतसिकों से है।

(ख) आत्मदृष्टि वासना– यह वासना क्लिष्ट मनोविज्ञान और उससे सम्प्रयुक्त चैतसिकों द्वारा स्थापित की जाती है। यही वासना 'स्व' (आत्मा) और 'पर' के रूप में आभासित होने वाली विज्ञप्तियों के उद्भव का बीज होती है। इसे ही 'सत्कायदृष्टि वासना' भी कहते हैं, क्योंकि यह सत्कायदृष्टि का बीज है।

(ग) भवाङ्गवासना– यह कुशल एवं अकुशल नामक प्रवृत्तिविज्ञानों द्वारा स्थापित की जाती है। यही भवरूपी सुगति और दुर्गति तथा च्युति और उत्पत्ति जिसमें प्रतिभासित होती है, ऐसी विज्ञप्तियों के उद्भव की बीज है।

(३) चार प्रकार

(क) साधारण बीज– ये आलयविज्ञान में स्थित वे बीज हैं, जिनकी वहज से भाजनलोक प्रतिभासित होता है।

(ख) असाधारण बीज– ये आलयविज्ञान में स्थित वे बीज हैं, जिनसे सत्त्वलोक प्रतिभासित होता है।

(ग) सवेदन या सचेतन बीज– सत्त्वलोक को निष्पन्न करने वाले बीज ही 'सवेदन (वेदना से युक्त) बीज' या 'सचेतन (चेतना से युक्त) बीज' हैं, क्योंकि सत्त्वलोक चित्त से संगृहीत है।

(घ) अवेदन या अचेतन बीज– भाजनलोक को निष्पन्न करने वाले बीज ही 'अवेदन (वेदनारहित) या अचेतन (अविज्ञानक= चेतनारहित) बीज' हैं, क्योंकि भाजनलोक चित्त द्वारा संगृहीत नहीं है।

पुनश्च, वासना (बीज) आलयविज्ञान से द्रव्यतः अभिन्न नहीं है। यदि अभिन्न (एक) होगी तो आलयविज्ञान की भांति उस (वासना) में भी आलम्बन और आकार प्रतिभासित होने लगेंगे। जबकि आलम्बन और आकर ज्ञान में ही प्रतिभासित हो सकते हैं, आलयविज्ञानस्थित बीजांश में नहीं। अपि च, पांचों गतियों (नरक, प्रेत, तिर्यक् मनुष्य और देव) के सभी बीज मिश्रित होने लगेंगे, क्योंकि वे सब आश्रयभूत आलयविज्ञान के एक क्षण से द्रव्यतः अभिन्न (एक) हैं। क्योंकि आलयविज्ञान का एक क्षण एक निरवयव द्रव्य है, फलतः पांचों गतियों के बीज भी एक निरवयव द्रव्य होंगे। ऐसी स्थिति में सुगतिविपाक के बीज अकुशल (स्थापक) द्वारा स्थापित होने लगेंगे और दुर्गतिविपाक के बीज सुगतिविपाक के बीज होने लगेंगे। वासना को भिन्न भी नहीं माना जा सकता। वैसी स्थिति में एक सत्त्व में दो आलय होने लगेंगे। दो आलयविज्ञान होने से वह स व एक न रह सकेगा, अपितु वह अनेक होने लगेगा।

फलतः यह मानना चाहिए कि वासना आलयविज्ञान से न द्रव्यतः एक (अभिन्न) है और न भिन्न। वस्तुस्थिति यह है कि वासना वस्तुतः द्रव्य ही नहीं है। फिर उसका स्वरूप क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में यह माना जाता है कि वह आलयविज्ञान की एक अन्तःसुप्त शक्ति है, जिसकी गौण सत्ता है।

गोत्र विचार

गोत्र दो प्रकार के होते है, यथा- (१) प्रकृति गोत्र तथा (२) परिपुष्ट गोत्र।

(१) प्रकृति गोत्र– यह 'स्वभावगोत्र' भी कहलाता है। स्थापक से अनपेक्ष, स्वभावतः स्थित, अनास्रव धर्मों के बीज 'प्रकृतिगोत्र' कहलाते हैं। वे (बीज) पर तो घोष अर्थात् शास्ता आदि कल्याणमित्रों के वचन और योनिशोमनस्कार आदि प्रत्ययों से स्पृष्ट होने पर श्रुत, चिन्ता, भावना द्वारा वृद्धिंगत होने के योग्य होते हैं। ये 'स्वभावगोत्र' इसलिए कहलाते है।, क्योंकि ये स्थापकों द्वरा नए नए रूप में स्थापित न होकर अनादिकाल से स्वभावतः स्थित होते हैं। प्रकृतिगोत्र को श्रुतवासना भी कहते हैं, क्योंकि वह बुद्ध या बोधिस त्त्वों के साथ समागम होने पर विशुद्ध धर्मधातु के अनुकूल द्वादशाङ्ग प्रवचन आदि उपदेशों के श्रवण का कारण होता है। इसे षडायतन व्यावर्तक (भेदक) भी कहते हैं, क्योंकि वह जिस पुद्गल की सन्तान में होता है, उस पुद्गल के षडायतन दूसरों से भिन्न किये जा सकते हैं।

(२) परिपुष्ट गोत्र– उक्त प्रकृतिगोत्र ही दूसरे कल्याणमित्रों के वचन और योनिशो मनसिकार आदि प्रत्ययों से संस्पृष्ट होकर श्रुत, चिन्ता, भावना आदि द्वारा वृद्धिगत होकर प्रबल और शक्तिमान् हो जाता है।

प्रकृति और परिपुष्ट नामक उपर्युक्त दोनों गोत्र विपाक या आलयविज्ञान में स्थित अनास्रव बीज ही हैं, जो श्रुत, चिन्ता, भावना आदि द्वारा बढ़ाए जाते हैं, वे किसी स्थापक द्वारा नए रूप में स्थापित नहीं हैं।

इन्हें गोत्र इसलिए कहते हैं, क्योंकि इनके द्वारा तीनों यानों के गुण उत्पन्न होते हैं।

वासना यद्यपि वस्तु है, किन्तु द्रव्यसत् नहीं है। आर्य असङ्ग एवं वसुबन्धु दोनों भाइयों के मत मे दो प्रकार की वस्तु मानी जाती है, यथा– १. द्रव्यसत् तथा २. प्रज्ञप्तिसत्। विप्रयुक्तसंस्कार यद्यपि वस्तु है, किन्तु द्रव्यसत् नहीं। विप्रयुक्तसंस्कार वासनाविशेष है।

प्रश्न– वासना कुशल होती है, अकुशल होती है या अव्याकृत।

उत्तर– वासना के स्थापक कुशल, अकुशल या अव्याकृत कोई भी हों, वासना सर्वदा अव्याकृत ही होती है।

विशेष ज्ञातव्य– अनास्रव बीज धर्मकाय के बीज होते हैं। धर्मकाय अनेकविध हैं। उनमें से वासना के साथ क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का प्रहाण 'आगन्तुक विशुद्ध धर्मकाय' कहलाता है। बल, वैशारद्य आदि का आश्रय 'ज्ञानधर्म काय' कहलाता है। प्रकृतिस्थ गोत्र या स्वभावगोत्र 'स्वभाव धर्मकाय' का हेतु है। आर्य की समाहित अवस्था का निर्विकल्प ज्ञान धर्मकाय का हेतु एवं पृष्ठलब्ध अवस्था का ज्ञान रूपकाय अर्थात् सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय का हेतु होता है।

योगाचार से इतर अन्य ग्रन्थों में सम्भारद्वय अर्थात् ज्ञानसम्भार एवं पुण्यसम्भार क्रमशः कायद्वय अर्थात् धर्मकाय और रूपकाय के हेतु कहे गये हैं।

अतएव असंस्कृत काय एवं संस्कृत काय के गोत्रों का वैसे ही असंस्कृत गोत्र एवं संस्कृत गोत्र होना आवश्यक नहीं है। इसलिए जो लोग स्वभाव धर्मकाय (असंस्कृत काय) का एक असंस्कृत गोत्र मानते हैं, उनका वैसा मानना अयुक्त है। अन्यथा संस्कृत काय के सम्भोगकाय और निर्माणकाय ये दो भेद होने से उन दोनों के गोत्र भी भिन्न-भिन्न मानना पड़ेगा।

आलय द्विविध होता है। आलयविज्ञान स्थित बीजों को भी 'आलय' कहते हैं और पूर्व कुशल, अकुशल कर्मों से उत्पन्न विपाकविज्ञान को भी 'आलय' कहते हैं। बीजांश को आलय इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह क्लेश और कर्मों से उत्पन्न संक्लिष्ट धर्मों का हेतु होता है। अतः सभी फलरूपी संक्लिष्ट धर्म इसमें कार्यत्वेन उपनिबद्ध होते हैं अथवा यह उन सभी संक्लिष्ट धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध होते होता है।

विपाकांश (आश्रय) को 'आलय' इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें पाँचों गतियों के सभी सत्त्व क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन उपनिबद्ध कर दिये जाते हैं। अर्थात् वे सभी सत्त्व आलयविज्ञान को क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन गृहीत करते हैं।

प्रश्न– उक्त बीजांश आलय एवं विपाकांश आलय की निवृत्ति कब होती है ?

उत्तर– संक्लिष्ट धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध होने से तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन उपनिबद्ध होने से अष्टम भूमि के अवैवर्तिक बोधिसत्त्वों, श्रावक अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध अर्हत् एवं तथागतों में बीजांश आलय नहीं होता, और आलयविज्ञान भी नहीं होता, क्योंकि उन्होंने सभी क्लेशों और उनके बीजों का प्रहाण कर दिया है।

ज्ञातव्य है कि विपाकांश तब तक आलयविज्ञान कहलाता है, जब तक वह क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मत्वेन गृहीत होता रहता है। अष्टम भूमि के अवैवर्तिक बोधिसत्त्वों और अर्हतों में क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृ त्ति हो जाती है, अतः उसकी वजह से विपाकांश की जो 'आलयविज्ञान' संज्ञा हो गई थी, वह भी निवृत्त हो जाती है। अर्थात् आलयविज्ञान निवृत्त हो जाता है, किन्तु विपाकांश के निवृत्त होने की आवश्यकता नहीं है। उसकी निवृत्ति तो अर्हत् के निरूपधिशेष निर्वाण की अवस्था में या वज्रोपम समाधि के आनन्तर्य मार्ग की अवस्था में होती है।

प्रश्न– यदि अवैवर्तिक बोधिसत्त्व और अर्हतों की सन्तान में आलयविज्ञान नहीं होता तो प्रश्न यह है कि उन लोगों की सन्तान में ८ विज्ञान होते हैं कि नहीं ? यदि होते हैं तो आलयविज्ञान भी होने लगेगा अथवा आपको षड्विज्ञान से अतिरिक्त विज्ञान भी स्वीकार करना पड़ेगा। यदि नहीं होते हैं तो विपाकांश वज्रोपम समाधि या निरुपधिशेष निर्वाण तक प्रवृत्त नहीं हो सकेगा ?

उत्तर– दोष नहीं है। क्योंकि आलयविज्ञान यद्यपि विपाक से व्याप्त है, किन्तु विपाकविज्ञान आलयविज्ञान से व्याप्त नहीं है। अर्थात् जो जो आलयविज्ञान होता है, वह विपाकविज्ञान भी होता है, किन्तु जो जो विपाकविज्ञान होता है, उसका आलयविज्ञान होना भी जरूरी नहीं है। अवैवर्तिक बोधिसत्त्व एवं अर्हतों में आलयविज्ञान नहीं होता, फिर भी उनमें विपाक विज्ञान होता है। अर्थात् जिस वजह से हम विपाक का आलयविज्ञान नाम से व्यवहार करते हैं, वह वजह अब नहीं है। अन्यथा आर्य असङ्ग ने अर्हत् और अष्टम भूमि से ऊर्ध्वस्थ बोधिसत्त्वों को जो आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों से रहित कोटि में रखा है, वह सब अयुक्त हो जाएगा।

प्रश्न– तब तो अवैवर्तिक बोधिसत्त्वों और अर्हतों में चि त्त के अभाव का प्रसङ्ग होगा। अर्थात् उनमें कोई चित्त ही नहीं हो सकेगा ?

उत्तर– दोष नहीं है। चित्त का अभिप्राय है 'विषय का ग्रहण करना'। आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानोंके न होने पर भी विषय को ग्रहण करने वाला चित्तमात्र हो सकता है।

(२) आलयविज्ञान साधक युक्तियां

आलयविज्ञान सिद्ध करने के लिए असङ्गकृत महायानसंग्रह में पाँच युक्तियों तथा उन्हीं की भूमिशास्त्र की उत्तरटीका में सत्रह आगम और अनेक युक्तियां प्रदर्शित की गई हैं। वसुबन्धु के पञ्चस्कन्धप्रकरण में चार युक्तियाँ, तथा उनकी प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका में महायानसंग्रह में कथित युक्तियों के आधार पर अनेक युक्तियां प्रयुक्त की गई हैं। आचार्य वसुबन्धु ने अपनी अभिधर्मसमुच्चयटीका में उपर्युक्त सभी युक्तियों का आठ युक्तियों में संग्रह किया है। हम उन्हीं का यहाँ प्रतिपादन कर रहे हैं।

(१) उपादान का अयोग- यदि आलयविज्ञान न होगा तो क्लिष्ट मनोविज्ञान भी न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों को ही उपादान (जन्म) ग्रहण करना होगा, किन्तु निम्नलिखित कारणों से वे जन्म ग्रहण नहीं कर सकते।

(क) छह विज्ञान पूर्व जन्मों के कर्मों का विपाक नहीं हैं, अपितु वे आध्यात्मिक इन्द्रियों और बाह्य आलम्बनों पर आश्रित (निर्भर) विज्ञान हैं। वे दिदृक्षा (देखने की इच्छा), सुश्रूषा (सुनने की इच्छा) आदि समनन्तर प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए आलयविज्ञान तो विपाक होने से प्रतिसन्धि काल में उपथित रह सकता है, किन्तु इन्द्रियों, आलम्बनों तथा दिदृक्षा, सुश्रूषा आदि मनस्कारों के तो शरीर के उत्पन्न हो जाने पर प्रत्युत्पन्न कारणों से ही उत्पाद होने के कारण छह विज्ञान प्रतिसन्धि काल में उपस्थित नहीं रह सकते।

(ख) प्रवृत्तिविज्ञान भी पूर्वकर्म के विपाक होते हैं और मानस ज्ञान प्रतिसन्धि काल में उपस्थित होता है-ऐसी अवस्था में षड्गण भी जन्म का उपादान (ग्रहण) कर सकते हैं-यदि ऐसा कहा जाए तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो लक्षण-सम्पन्न विपाक और प्रतिसन्धि में प्रवृत्त होने वाला विज्ञान होगा, उसे किसी भी योनि के प्रथम प्रतिसन्धिलक्षण में एकान्तरूप से अव्याकृत ही होना चाहिए। षड्गणविज्ञान तो कुशल, अकुशल भी देखे जाते हैं, अतः वे एकान्त अव्याकृत नहीं हैं।

(ग) षड्गण विज्ञान कुशल, अकुशल होने के साथ-साथ अव्याकृत भी तो होते हैं, अतः जब वे अनिवृताव्याकृत होंगे, उस समय वे लक्षणसम्पन्न विपाक हो जाएंगे और उनके द्वारा जन्मग्रहण किया जा सकेगा-यदि ऐसा कहा जाए तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि जो अव्याकृत विपाक होता है, उसे यावज्जीवन अव्यवच्छिन्न रूप में प्रवृत्त भी होना चाहिए। किन्तु षड्विज्ञान उसी तरह यावज्जीवन निरन्तर प्रवृत्त होने वाले विज्ञान नहीं हैं।

(घ) षड्गणविज्ञानों मे से कोई एक यदि शरीरग्रहण करेगा तो उस जन्मग्रहण करने वाले चित्त से शरीर का जो भाग अव्याप्त होगा, वह स्थान चित्त द्वारा अगृहीत (अव्याप्त) होने से मृतवत् हो जाएगा। ज्ञात है कि चक्षुर्विज्ञान आदि शरीर के एकदेश में ही होते हैं, पूरे शरीर में व्याप्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में शरीर का वह भाग जो जन्मग्रहण करने वाले

विज्ञान से व्याप्त होगा, वह तो जीवित शरीर की भाँति सचेतन होगा, किन्तु अन्य भाग मृतशरीर की भाँति होंगे। क्योंकि छहों विज्ञानों के स्थान शरीर में अलग-अलग निश्चित हैं। जिस स्थान में चित्त होता है, वही चित्त द्वारा गृहीत होता है। शेष अगृहीत होता है, क्योंकि प्रवृत्तिविज्ञानों में एक ही काल में समस्त शरीर को व्याप्त करने की शक्ति नहीं है।

अपि च, यदि कहा जाए कि कायेन्द्रिय द्वारा सम्पूर्ण शरीर व्याप्त होने से उसके द्वारा शरीर के समस्त स्थान गृहीत हैं ? तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि वह (कायेन्द्रिय) तो स्वयं ज्ञानस्वभाव से वियुक्त है। अर्थात् वह स्वयं ज्ञान नहीं, अपितु जड़ है।

(ङ) यदि षड् गण (छह) विज्ञानों द्वारा जन्म-ग्रहण माना जाएगा तो एक ही भाव में अनेक बार शरीर ग्रहण करना होगा, क्योंकि वे कभी उत्पन्न होते हैं और कभी नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँच कारणों से षड्गण द्वारा जन्म ग्रहण अयुक्त है। किन्तु शरीरग्रहण (जन्मग्रहण) दिखाई देता है, अतः उसे ग्रहण करने वाला आलयविज्ञान है-यह मानना चाहिए।

(२) आदित्व का अयोग-यह पूर्वपक्षी को दिया गया प्रसङ्ग है। पूर्वपक्षी की मान्यता है कि एक काल में अनेक (एक से अधिक) विज्ञान नहीं हो सकते। यदि आलयविज्ञान माना जाएगा तो एक काल में अनेक विज्ञानों का अस्तित्व मानना पड़ेगा, क्योंकि आलयविज्ञान तो सदा निरन्तर प्रवृत्त होने वाला विज्ञान है और प्रवृत्तिविज्ञान भी कभी-कभी (प्रत्यय-सामग्री) होने पर प्रवृत्त होंगे ही। ऐसी स्थिति में जब प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होंगे, तब आलयविज्ञान भी विद्यमान रहेगा। फलतः एक काल में अनेक विज्ञानों की उपस्थिति माननी पड़ेगी, जो अयुक्तिसङ्गत है।

इस पर योगाचार विज्ञानवादियों का कथन है कि एक काल में अनेक विज्ञानों की उपस्थिति मानना कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक साथ अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति होती ही है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के सम्मुख रूप, शब्द आदि छहों आलम्बन समान रूप से उपस्थित हैं और उनमें से किसी एक के प्रति उस व्यक्ति में कोई खास आकर्षण नहीं है, अर्थात् समनन्तर प्रत्यय भी समान रूप से विद्यमान है। ऐसी स्थिति में आप (पूर्वपक्षी) ही बतलाइए कि किस विज्ञान का उत्पाद सर्वप्रथम होगा ? क्योंकि आप एक काल में एक ही विज्ञान का उत्पाद मानते हैं और यहां किसी भी एक विज्ञान के पहले उत्पन्न होने का कोई विशिष्ट कारण विद्यमान नहीं है। फलतः आपके मतानुसार कोई भी विज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा। हमारे सामने ऐसी परिस्थिति में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि हम एक काल में अनेक विज्ञानों का उत्पाद स्वीकार करते हैं। किन्तु आपके सामने यह कठिनाई है कि आप यह नहीं बतला पाते कि छह विज्ञानों में से कौन विज्ञान पहले उत्पन्न होगा। फलतः आलयविज्ञान न मानने पर आपके मत में आदित्य के अयोग का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

पूर्वपक्षी- सूत्र में उक्त है कि "इसके लिए अस्थान एवं अनवकाश है कि एक साथ (युगपद्) दो विज्ञान उत्पन्न हों"- इस सूत्र से आपके उपर्युक्त कथन का विरोध होगा ?

उत्तरपक्ष- विरोध नहीं होगा। क्योंकि उक्त सूत्र का आशय यह है कि दो सजातीय विज्ञान एक साथ नहीं होते। विजातीय दो विज्ञान एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं।

(३) स्पष्टत्व का अयोग - यह प्रसङ्ग उन लोगों को दिया जा रहा है, जिसके मत में एक काल में (युगपद्) अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। मनोविज्ञान में रूप आदि धर्मों का आभास कभी तो स्पष्ट होता है और कभी अस्पष्ट। उदाहरणार्थ रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अनुसरण करने वाले मनोविज्ञान में रूप का आभास स्पष्ट होता है तथा अन्य काल में अर्थात स्मृति आदि के काल में उत्पन्न मनोविज्ञान में रूप का आभास अस्पष्ट होता है। योगाचार विज्ञानवादियों के मतानुसार स्मृतिकालिक मनोविज्ञान में रूप का आभास इसलिए अस्पष्ट होता है, क्योंकि उस समय अनुभवकर्ता चक्षुर्विज्ञान अतीत रहता है। तथा चक्षुर्विज्ञानकालिक और रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान से उपकृत मनोविज्ञान में रूप का आभास इसलिए स्पष्ट होता है, क्योंकि उस समय चक्षुर्विज्ञान अतीत नहीं रहता। आशय यह है कि चक्षुर्विज्ञान के काल में विद्यमान मनोविज्ञान में रूप का आभास स्पष्ट होता है तथा चक्षुर्विज्ञान के काल में अविद्यमान अर्थात स्मृति आदि अन्य काल में विद्यमान मनोविज्ञान के रूप का आभास अस्पष्ट होता है। यदि आप (पूर्वपक्षी) रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अनुसरण करने वाले मनोविज्ञान के काल में चक्षुर्विज्ञान कों अतीत मानते हैं और ऐसा आप इसलिए मानते हैं, क्योंकि आपके यहां एक काल में दो विज्ञानों की उपस्थिति अमान्य है, तो ऐसी हालत में इस मनोविज्ञान में और स्मृति के काल में उत्पन्न (स्मृतिकालिक) मनोविज्ञान में फर्क नहीं रहेगा, क्योंकि दोनों मनोविज्ञानों के समय चक्षुर्विज्ञान अतीत है। फलतः दोनों समय में रूप का आभास अस्पष्ट ही रहेगा। परिणामतः चक्षुर्विज्ञान से उपकृत रूपज्ञ मनोविज्ञान में जो रूप का स्पष्ट प्रतिभास होता है, उस स्पष्टत्व का आपके मत में अयोग होगा। अर्थात् आपके मत में स्पष्टत्व के अयोग का प्रसङ्ग होगा।

(४) बीज की असम्भवता- यदि आलयविज्ञान न माना जाएगा तो कुशल एवं अकुशल चित्तों के बीज असम्भव हो जाएंगे, क्योंकि उनके बीजों को स्थापित करने के लिए उपयुक्त आश्रय (आधार) नहीं मिलेगा। आलयविज्ञान ही बीजों का उपयुक्त आश्रय हो सकता है, क्योंकि वह अव्याकृत होता है और अव्याकृत होने से कुशल एवं अकुशल दोनों के अनुकूल होता है। आलयविज्ञान न मानने पर छह विज्ञानों को ही बीजों का आश्रय मानना पड़ेगा, किन्तु वे किसी भी तरह आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वयं कुशल या अकुशल होते हैं। कुशल चित्त में अकुशल का बीज होना या अकुशल चित्त में कुशल का बीज होना सर्वथा असम्भव एवं विरुद्ध है।

अपि च, बीज स्थापित करते समय स्थापक (स्थापित करने वाले विज्ञान) और स्थाप्य (जिसमें स्थापित करना है) दोनों को एक साथ (युगपद्) उत्पन्न और निरुद्ध होना चाहिए। षड् विज्ञान ऐसे नहीं हैं। वे तो कुशल के बाद अकुशल, अकुशल के बाद कुशल, लौकिक के बाद लोकोत्तर-इत्यादि के रूप में उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें स्थाप्य-स्थापक भाव नहीं बन सकता।

अपि च, छह विज्ञान जिस समय उत्पन्न नहीं होंगे, उस काल में आपके मतानुसार वासना के आश्रय के भी विच्छिन्न हो जान से वासना भी निराश्रय होने से विच्छिन्न हो जाएगी। फलतः भविष्य में उत्पन्न होने वाले चित्त-चैतसिकों के अहेतुक उत्पाद का प्रसङ्ग होगा। इत्यादि अनेक दोष होंगे, जिनका पहले भी अनेकधा उल्लेख किया गया है।

(५) कर्म की असम्भवता– कर्म का तात्पर्य विज्ञप्ति, प्रतीति या चेतना से है। योगाचार नय में विज्ञप्ति ही कर्म है। विज्ञप्ति से अतिरिक्त कोई कर्म नहीं हुआ करता। विज्ञप्तियां अनेकविध होती हैं, यथा- (१) भाजनविज्ञप्ति (देश और पदार्थ की विज्ञप्ति) (२) स्थानविज्ञप्ति (३) अहंकारविज्ञप्ति एवं (४) रूप, शब्द आदि विषय विज्ञप्ति और (५) सत्त्वविज्ञप्ति आदि। यदि एक साथ अनेक विज्ञानों का उत्पाद न माना जाएगा, जैसे विज्ञानवादी उत्पाद मानते हैं तो उन विज्ञप्तियों का अर्थात् गमन, आगमन आदि कर्मों का निष्पन्न होना असम्भव हो जाएगा। फलतः अनेक विज्ञानों की युगपद् उपस्थिति न मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। उदाहरणार्थ जब हम किसी रास्ते से गुजर रहे होते हैं, उस समय हमें उस रास्ते (मार्ग) की प्रतीति, पैरों के उठाने और रखने की प्रतीति तथा दाएं-बाएं स्थित अन्य सत्त्वों और पदार्थों की एकसाथ (युगपत्) प्रतीति होती है और यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है। अनेक विज्ञानों की एक साथ उपस्थिति न मानने पर उक्त प्रतीतियों का अभाव होगा। फलतः आलयविज्ञान मानने पर अनेक विज्ञानों की युगपद् उपस्थिति हो जाने का जो दूषण पूर्वपक्षी ने दिया था, वस्तुतः वह दूषण ही नहीं है।

(६) कायवेदना की असम्भवता– मनोविज्ञान जिस समय समाहित अवस्था में स्थित होता है या किसी पाप कर्म में लिप्त रहता है, अथवा यों कहें कि जिस समय योनिशः चित्त या अयोनिशः चि त्त प्रवृत्त होता है, उस समय सारे शरीर में एक व्यापक वेदना, सुख वेदना या दुःख वेदना की अनुभूति होती है। प्रश्न है कि उस व्यापक वेदना का आश्रय कौन है ? मनोविज्ञान उसका आश्रय हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय अन्तर्मुखी होता है या अन्य विषय में प्रवृत्त रहता है। मनोविज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं है कि एक ओर तो वह अपने विषय का ग्रहण करता रहे और दूसरी ओर वेदना को भी आश्रय प्रदान कर सके। आलयविज्ञान न मानने वालों के पक्ष में आश्रय का अभाव होने से उस समय तक व्यापक कायिकों वेदना के अभाव का प्रसङ्ग होगा। हमारे मत में तो आलयविज्ञान ही उस वेदना का आश्रय होता है।

ज्ञात है कि समाहित अवस्था में पाँच इन्द्रियविज्ञान प्रवृत्त नहीं होते। मानस विज्ञान भी सर्वथा अन्तर्मुखी रहता है। यदि उस समय आलयविज्ञान भी न होगा तो उस समय जो कायिकी सुखा वेदना या उपेक्षा वेदना होती है, उसका आश्रय कौन होगा ? अतः अवश्य आलयविज्ञान स्वीकार करना चाहिए।

(७) समापत्ति की अनुपपत्ति– यदि आलयविज्ञान न होगा तो असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति ये समापत्तियां असम्भव हो जाएंगी, क्योंकि इन दो समापत्तियों में समापन्न पुद्गल में छह विज्ञान निरुद्ध हो जाते हैं और पूर्वपक्षी आलयविज्ञान मानता नहीं। साथ ही, विज्ञानों के न रहने से पुद्गल मृत हो जाएगा। किन्तु उन अवस्थाओं में व्यक्ति मृत तो होता नहीं, अपितु जीवित होता है। साथ ही, मृत होना आगम से भी विरुद्ध है। सूत्र में उक्त है कि उस पुद्गल का विज्ञान शरीर से निःसृत नहीं होता।

यदि पूर्वपक्षी कहें कि उन अवस्थाओं में एक सूक्ष्म मनोविज्ञान अवस्थित रहता है, अतः व्यक्ति मृत नहीं होगा-तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि यदि विज्ञान होगा तो विषय, इन्द्रिय और विज्ञान का स्पर्श भी होगा। और यदि स्पर्श होगा तो स्पर्शप्रत्यय से वेदना भी होगी और वेदना होने से संज्ञा भी प्रवृत्त होगी। ज्ञात है कि वेदना और संज्ञा ही उक्त दोनों समापत्तियों की निषेध्य है। अतः उक्त अवस्थाओं में आपके द्वारा सम्मत किसी भी तरह के सूक्ष्म सा स्थूल किसी विज्ञान का होना अयुक्त है।

पूर्वपक्षी यह भी कह सकता है कि आप (योगाचार) उन अवस्थाओं में आलयविज्ञान की विद्यमानता मानते हैं। यदि आलयविज्ञान होगा तो उससे सदा सम्प्रयुक्त होने वाले पाँच सर्वत्रग चैतसिक भी होंगे। स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना ही सर्वत्रग चैतसिक हैं। ऐसी हालत में आपके मत में भी इन समापत्तियों की अयुक्तता होगी ?

उत्तरपक्ष– सत्य है, किन्तु आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त वेदना और संज्ञा वैसी नहीं है, जैसे छह विज्ञानों से सम्प्रयुक्त वेदना और संज्ञा होती है। आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त ये चैतसिक आलयविज्ञान के ही सदृश अपरिच्छिन्नाकार और अपरिच्छिन्नालम्बन होते हैं। अर्थात् उनके द्वारा किसी आलम्बन का या आकार का परिच्छेद नहीं होता और वे अनिवृताव्याकृत होते हैं। अतः उन सूक्ष्म वेदना और संज्ञा का उन असंज्ञी और निरोध समापत्तियों से कोई विरोध नहीं है, जबकि छह विज्ञानों से सम्प्रयुक्त वेदना और संज्ञा स्थूल होती है। उनका उक्त समापत्तियों की अवस्था में होना, सर्वथा विरुद्ध है।

(८) च्युति की अनुपपत्ति– जिस समय मनुष्य की मृत्यु होती है, उस समय मरणासन्न अवस्था में शरीर की ऊष्मा क्रमशः संकुचित होती है। ऐसा नहीं होता कि सारे शरीर की ऊष्मा एक क्षण में ही समाप्त हो जाती हो। शारीरिक ऊष्मा और वेदना का क्रमशः विसर्जन करने वाला विज्ञान ही हो सकता है, जड़ पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते। विज्ञान में भी चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञान यह कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि वे सम्पूर्ण

शरीर में व्यापक नहीं होते, अपितु शरीर में उनका नियत स्थान होता है। यदि चक्षुरादि विज्ञान ऊष्मा और वेदना के आधार माने जाएंगे या उनका विसर्जन करने वाले माने जाएंगे तो जीवितावस्था में भी वे स्थान मृतवत् प्रतीत होने चाहिए, जो स्थान उन चक्षुरादिविज्ञानों से व्याप्त नहीं हैं। मनोविज्ञान भी सम्पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं होता, कभी कहीं और कभी कहीं होता है। साथ ही ये विज्ञान सर्वदा नहीं होते। गाढ निद्रा और मूर्च्छा की अवस्था में तो मनोविज्ञान भी नहीं होता। ऐसी अवस्थाओं में शारीरिक ऊष्मा का अभाव हो जाएगा। किन्तु ऊष्मा का अभाव नहीं होता, अतः यह निश्चित होता है कि छह विज्ञान ऊष्मा के आधार या नियामक नहीं है और मरणावस्था में शरीर का त्याग करने वाले विज्ञान नहीं हैं। आलयविज्ञान ही एक मात्र सम्पूर्ण शरीर में व्यापक विज्ञान है। जिन कर्मों द्वारा वह आलयविज्ञान प्रक्षिप्त किया जाता है, उन कर्मों की शक्ति क्षीण होने पर उसका शरीर में रहना असम्भव हो जाता है। शरीर के जिस अङ्ग में आलयविज्ञान नहीं रह जाता, वह अङ्ग वेदना और ऊष्मा से रहित हो जाता है। जिस क्रम से आलयविज्ञान शरीर के अङ्गों का त्याग करता है, उसी क्रम से वे अङ्ग ऊष्मा और वेदना से रहित हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण शरीर ऊष्मा और वेदना से रहित हो जाता है और मृत्यु हो जाती है। इस विवेचन से यह सुनिश्चित होता है कि आलयविज्ञान का अस्तित्व है।

उपर्युक्त आठ युक्तियों के द्वारा आलयविज्ञान की सिद्धि की गई है। उनमें से प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ सप्तम एवं अष्टम युक्ति द्वारा आलयविज्ञान न मानने पर पूर्वपक्षी को प्रसङ्ग (आक्षेप) देते हुए आलयविज्ञान मानने की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है तथा अवशिष्ट द्वितीय, तृतीय एवं पञ्चम युक्ति द्वारा पूर्वपक्ष द्वारा प्रदत्तआक्षेपों का समाधान किया गया है। इस तरह इन अवशिष्ट युक्तियों द्वारा भी परम्परया आलयविज्ञान की सिद्धि की गई है। गूढार्थटीका आदि योगाचार शास्त्रों में एक-एक युक्ति अनेकों प्रकार से प्रस्तुत की गई है तथा एक-एक युक्ति की भी अनेक शाखाएं प्रस्तुत की गई हैं, जो पठनीय, मननीय एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रश्न– आलयविज्ञान केवल महायानसूत्रों में ही उल्लिखित है या हैनयानिक सूत्रों में भी इसका उल्लेख है ?

उत्तर– महायानसूत्रों में ज्ञेयस्थान, आदानविज्ञान आदि विभिन्न नामों से आलयविज्ञान सम्पूर्ण लक्षणों के साथ उपदिष्ट है। केवल महायान सूत्रों में ही नहीं, अपितु श्रावकवर्गीय सूत्रों में भी दूसरे दूसरे नामों द्वारा आलयविज्ञान निर्दिष्ट है। अंगुत्तर निकाय में उल्लिखित है कि तथागत के लोक में उत्पाद का यह उद्देश्य है कि वे आलय के प्रति स्नेह रखने वाले जीवों को उसके त्याग का उपदेश करते हैं, जिसे सुनकर और तदनुकूल आचरण कर वे अपना लक्ष्य (निर्वाण) सिद्ध कर सकें। इस पर्याय द्वारा भगवान ने श्रावकवर्गीय पिटक में आलयविज्ञान की ओर संकेत किया है।

आलयरामा भिक्खवे, पजा आलयरता, आलयसमुदिता, सा तथागतेन अनालये धम्मे देसियमाने सुस्सूसति सोतं ओदहति अञ्ञा चित्तं उपट्ठपेति। (अंगुत्तरनिकाय, द्वितीयभाग, अच्छरियसु त्त)।

महासांघिक आगम में 'मूलविज्ञान' इस नाम से आलयविज्ञान निर्दिष्ट है, क्योंकि आलयविज्ञान सभी चित्त-चैतसिकों का मूल होता है। महीशासक आगम में यह (आलयविज्ञान) यावत्संस्कारस्कन्ध, आसंसारस्कन्ध या संसारकोटिनिष्ठ स्कन्ध नाम से संकेतित है, क्योंकि यह संसार की समाप्ति तक प्रवृत्त होते रहता है। स्थविरवादी आगम में यह 'भवाङ्ग' नाम से उपदिष्ट है। फलतः ज्ञेयस्थान, आदानविज्ञान, आलयविज्ञान, मूलविज्ञान, यावत्संसारस्कन्ध एवं भवाङ्ग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। ऐसा होने पर भी जैसे महायानसूत्रों में आलयविज्ञान का सांगोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है, वैसे उन-उन महायानेतर आगमों में उसके लक्षण, स्वरूप, क्रिया आदि स्पष्टतः और पूर्णतः उपदिष्ट नहीं है। हीनयानिक आगमों में उसके पूर्णतः स्वरूप-प्रतिपादन करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि एक तो उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं है और दूसरे उससे हानि की संभावना है।

आलयविज्ञान के स्वरूप का सांगोपाङ्ग वर्णन समस्त ज्ञेय धर्मों के सम्यग् अवबोध के लिए किया जाता है, जब कि श्रावकों को अपना लक्ष्य व्यक्तिगत निर्वाण सिद्ध करने के लिए समस्त सूक्ष्म ज्ञेयो को जानने की आवश्यकता ही नहीं है। वे तो कुछ ही गाथाओं या कारिकाओं के अभ्यास या आनुभाव से अपने क्लेशों को समाप्त कर मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

हानि की सम्भावना इस प्रकार है कि यदि श्रावकयानियों को यह कहा जाए कि "आलयविज्ञान ही समस्त धर्मों के बीजों का आश्रय है, वही समस्त भाजन और सत्त्वों का हेतु है, वही यावत्संसारप्रवृत्त होता रहता है तथा वही बन्ध और मोक्ष आदि सभी का आधार है"- तो निश्चय ही वे यह समझने लगेंगे कि आलयविज्ञान 'आत्मा' है; यथाः

आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो।
बालान एषोयमयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयुः।।

(आर्य सन्धिनिर्मोचनसूत्र)

ऐसी स्थिति में या तो वे वक्ता के प्रति अश्रद्धालु होकर उसके द्वारा उपदिष्ट धर्मों के श्रवण से विरत हो जाएंगे या फिर आत्मवादी बन जाएंगे। इस अनिष्ट की सम्भावना को ध्यान में रखकर उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने हीनयानिक पिटकों में आलयविज्ञान का सङ्केत तो किया, किन्तु उसके सम्पूर्ण स्वरूप का प्रदर्शन नहीं किया।

महायान के विनेयजन बोधिसत्त्व होते हैं, जिनका लक्ष्य सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होता है। अतः उन्हें आलयविज्ञान का पूर्ण स्वरूप बतलाना जरूरी था, क्योंकि समस्त सूक्ष्म ज्ञेयों का

अवबोध बिना किये उनका वह लक्ष्य सिद्ध ही नहीं हो सकता। अतः बोधिसत्त्वों के लिए इसका उपयोग भी है। बोधिसत्त्वों को जब आलयविज्ञान के सम्यक् स्वरूप का निर्देश किया जाता है तो इसमें उनके नैरात्म्यज्ञान में प्रकर्ष ही आता है। आत्मदृष्टि में पतन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि महायानसूत्रों में आलयविज्ञान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

(ख) क्लिष्ट मनोविज्ञान

इसका लक्षण एवं युक्तिप्रदर्शन इन दो भागों में विभाजन करके वर्णन किया जा रहा है।

(१) लक्षण-आलयविज्ञान को आलम्बन बनाकर उसे आत्मा के रूप में ग्रहण करने वाला निवृताव्याकृत विज्ञान 'क्लिष्ट मनोविज्ञान' कहलाता है।

आलय विज्ञान की आलम्बनता– क्लिष्ट मनोविज्ञान में आलयविज्ञान का प्रतिभास नहीं होता। अतः वह अपने में प्रतिभासित आलयविज्ञान को आलम्बन नहीं बनाता। अपितु वह (आलयविज्ञान) विपाकविज्ञान के वश से आत्मत्वेन ग्रहण करने वाले क्लिष्ट मनोविज्ञान का आधारमात्र है और इसी अर्थ में वह क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन कहा जाता है।

निवृत-अनिवृत विचार– जो क्लेशों से मलिन (समल) होता है, उसे 'निवृत' कहते हैं। क्लिष्ट मनोविज्ञान राग, मोह, दृष्टि और मान इन चार मूल क्लेशों से मलिन किया जाता है। अतः वह 'निवृत' कहा जाता है। जो क्लेशों से आवित (मलिन) नहीं होता, वह 'अनिवृत' कहा जाता है। जैसे श्रद्धा आदि पांच इन्द्रियां बल एवं ११ कुशल चैतसिक आदि। इस तरह क्लेशों से अनाविल 'अनिवृत' कहा जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि आर्यों की समाहित अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता, किन्तु आलयविज्ञान होता है। अतः जो समाहित ज्ञान का आवरण करता है, वह 'निवृत' है यथा- क्लिष्ट मनोविज्ञान। तथा जो आवरण नहीं करता वह 'अनिवृत' है, जैसे- आलयविज्ञान। इस तरह समाहित ज्ञान का आवरणकरने या न करने के आधार पर निवृत और अनिवृत की व्याख्या करते हैं।

कुछ अन्य लोगों का मानना है कि समस्त क्लेश 'क्लेशावरण' है और बिना क्लेशावरण का प्रहाण किये मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अतः क्लेशावरण मोक्ष का आवरण करने वाले हैं। इस तरह वे मोक्ष का आवरण करने या न करने के आधार पर निवृत और अनिवृत की व्याख्या करते हैं।

निवृत और अनिवृत की व्याख्या करने वाले उपर्युक्त दोनों पक्ष समीचीन नहीं है तथा उन व्याख्यानों का केन्द्रबिन्दु केवल आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान मात्र है, अतः उनकी व्याख्या सीमित है। वस्तुतः निवृत और अनिवृत के अर्थ का ग्रहण इस आधार पर

करना चाहिए कि वे स्वयं स्वरूपतः निवृत (आवृत या मलिन) है या अनिवृत। ऐसा नहीं कि वे दूसरों को आवृत करते हैं या नहीं अथवा दूसरों के द्वारा आवृत होते हैं या नहीं। अन्यथा आर्यों की असमाहित अवस्था के कुशल या अव्याकृत चित्त भी निवृत होने लगेंगे, क्योंकि उन्होंने समाहित अवस्था में विघ्न किया है। अपि च, पुनर्भव के नियत आक्षेपक सम्पूर्ण कर्मों का बिना प्रहाण किये तीनों प्रकार के मोक्षों (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्व के मोक्षों) में से कोई भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। फलतः पुण्य (कुशल) कर्म और आनेज्य कर्म भी पुनर्भव के नियत आक्षेपक होने से 'निवृत' कहलाने लगेंगे, क्योंकि उनके द्वारा भी मोक्ष का आवरण किया जाता है।

अव्याकृत विचार- क्लिष्ट मनोविज्ञान क्यों कुशल या अकुशन नहीं होता ? वह केवल अव्याकृत ही क्यों होता है ?

क्लिष्ट मनोविज्ञान क्योंकि क्लेशों से संक्लिष्ट है, अतः कुशल नहीं हो सकता। कुशलचित्तों के साथ एक ही काल में और एक ही सन्तान में प्रवृत्त होने से वह अकुशल भी नहीं हो सकता। यदि ऐसा (अव्याकृत) न माना जाएगा अर्थात् उसे कुशल या अकुशल माना जाएगा तो पृथग्जन की सन्तति में कुशल या अकुशल चित्त साक्षात् उत्पन्न नहीं हो जाएंगे, क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान आर्यमार्ग के उत्पाद पर्यन्त सर्वदा निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है और यदि वह अकुशल होगा तो आर्यमार्ग की प्राप्ति तक किसी में भी कुशल का उत्पाद न हो सकेगा।

प्रश्न- क्लिष्ट मनोविज्ञान चित्त के साथ कितने चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् उसके परिवार में कुल कितने चैतसिक होते हैं ?

उत्तर- स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना-ये पाँच सर्वत्रग चैतसिक सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं, अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ भी सम्प्रयुक्त होंगे। इनके अलावा राग, अविद्या (मोह), मान और आत्मदृष्टि-ये चार चैतसिक भी उससे सम्प्रयुक्त होते हैं। इस तरह क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ कुल ९ चैतसिक होते हैं। अर्थात् उसके परिवार में कुल ९ चैतसिक होते हैं।

इसके साथ जो वेदना सम्प्रयुक्त होती है, वह मात्र उपेक्षा वेदना ही होती है, सुख या दुःख वेदना नहीं। यदि सुख वेदना होगी तो निश्चय ही वह सौमनस्य होगी, क्योंकि वह मानसिक है। मानसिक सुख वेदना को सौमनस्य कहते हैं। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान का सौमनस्य वेदना से सम्प्रयोग होगा तो उसी के सर्वदा साक्षात् निरन्तर प्रवृत्त होने से पृथग्जन की सन्तति में दौर्मनस्य वेदना का सर्वथा अभाव हो जाएगा तथा चतुर्थ ध्यान के ऊपर की भूमियों के सत्त्वों में भी सुख वेदना के होने से वे सुखवेदनाभौमिक होने लगेंगे। साथ ही, अवीचि नामक नरक में भी सौमनस्य वेदना साक्षात् रूप से प्रवृत्त होने लगेगी। क्लिष्ट मनोविज्ञान के परिवार में होने वाले उपर्युक्त चैतसिक समानरूप से तीनों भूमियों में होते

हैं। क्लिष्ट मनोविज्ञान और उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक युगपद् उत्पन्न एवं निरुद्ध होते हैं। इन्हीं युक्तियों के आधार पर यह भी जान लेना चाहिए कि क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ दुःख वेदना का भी सम्प्रयोग नहीं हो सकता। क्लिष्ट मनोविज्ञान में जो प्रीत्याकार या मुदिताकार प्रतीत होता है, वह वेदना का आकार नहीं, अपितु राग (लोभ) का प्रीत्याकार है।

प्रश्न– क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति कब होती है। अर्थात् उसकी निवृत्ति का कला कौन सा है ?

उत्तर– क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति दो प्रकार की होती है, यथा- १. तात्कालिकी (अस्थायी) तथा २. आत्यन्तिकी (स्थायी) निवृत्ति। आर्यों की समाहित अवस्था में तथा निरोध समापत्ति की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान की तात्कालिकी निवृत्ति होती है। अर्थात् आर्य जब तक समाहित अवस्था में स्थित रहता है अथवा निरोधसमापत्ति में समापन्न रहता है, तब तक उसमें क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृत्त रहता है। यह उसकी तात्कालिक या अस्थायी निवृत्ति है, क्योकि इन अवस्थाओं से व्युत्थित होने पर पुनः क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त होने लगता है।

वाशित्वप्राप्त बोधिस त्त्व, जो आठवीं भूमि में स्थित है, उसमें तथा वहां से लेकर बुद्धावस्था तक की सभी अवस्थाओं में क्लिष्ट मनोविज्ञान का समुदाचार (प्रवृत्ति) बिलकुल नहीं होता। श्रावक और प्रत्येकबुद्धों की अर्हत् अवस्था में भी क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वथा प्रवृत्त नहीं होता। यह आत्यन्तिकी निवृत्ति की अवस्था है, क्योंकि फिर कभी उनमें क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त नहीं होता।

मन की द्विविधता– मनस् दो प्रकार का होता है, यथा- १. अहं बोधक तथा २. समनन्तर मन। इन्हें क्रमशः वास्तविक और व्यावहारिक मन भी कहते हैं। प्रथम (अहं-बोधक) मन अत्यन्त आध्यात्मिक (भीतरी) होता है और इसकी प्रक्रिया भीतर ही भीतर गुप्त रूप से चलती रहती है, जिसका हमारी सामान्य चेतना द्वारा अवबोध नहीं होता। इसकी वजह से हमारे चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानगण प्रपञ्च में फंसे रहते हैं तथा क्लेश और सास्रव धर्मों की अभिवृद्धि होती रहती है। यह एक प्रकार से छह विज्ञानों का आधार होता है और शास्त्रों में यही 'क्लिष्टमनोविज्ञान' कहा गया है।

द्वितीय समनन्तर मन चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों का समनन्तर प्रत्यय हुआ करता है और इसी से विविध कल्पनाओं का प्रादुर्भाव हुआ करता है। फलतः अनेक कल्पना-बुद्धियां उत्पन्न होती हैं। इसी को हम 'षष्ठ (छठवां) मनोविज्ञान' कहते हैं। इन दोनों का भेद अवश्य जान लेना चाहिए, अन्यथा दोनों को एक समझने का भ्रम हो सकता है।

ज्ञातव्य है कि सभी बौद्धों में क्लेश आगन्तुक ही माने जाते हैं। वे चित्त के स्वभावगत धर्म नहीं हैं, जैसे कोयले का कालापन उसका स्वभावगत धर्म होता है, किन्तु कपड़े की

कालिमा आगन्तुक होती है। कोयले से कालिमा को छुड़ाने के प्रयास में कोयला समाप्त हो जाता है, किन्तु वस्त्र से मैल को हटा देने पर वस्त्र अवशिष्ट रह जाता है। ठीक इसी प्रकार राग आदि क्लेशों की निवृत्ति हो जाने पर भी चित्त अवशिष्ट रहता है। उपर्युक्त समाहित आदि अवस्थाओं में यद्यपि उन राग आदि क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है, जिनकी वजह से मनोविज्ञान 'क्लिष्ट' कहलाता था, फिर भी क्लेशरहित मनोमात्र अवशिष्ट रहता ही है। वही मन या विविध मानसिक बुद्धियों का अधिपतिप्रत्यय हो सकता है। फलतः आर्यों की समाहित अवस्था एवं अर्हत् आदि की अवस्थाओं में मनोविज्ञान के अभाव का दोष हमारे मत में नहीं है।

उपर्युक्त शैक्ष्य आर्य कयी समाहित आदि अवस्थाओं में विद्यमान मन, जिसका क्लिष्ट विशेषण समाप्त हो गया है, 'वह सास्रव है कि अनासव'-इस विषय में योगाचार आचार्यों के दो मत हैं। कुछ आचार्यों का मानना है कि उक्त अवस्थाओं में सास्रव मन सम्भव नहीं है, क्योंकि अनासव ज्ञान और क्लेशों का एक काल में और एक सन्तान में युगपद् होना असम्भव है। अतः अवश्य ही वह मन अनासव होता हैं। दूसरेप्रकार के आचार्यों का कहना है कि वह मन सास्रव होता है, फिर भी क्लेशों की वजह से सास्रव नहीं होता। अर्थात् सास्रव होने पर भी क्लिष्ट नहीं है। वह सास्रव इसलिए है, क्योंकि भविष्य (पृष्ठलब्ध-अवस्था) में उससे क्लेशों का उत्पाद होता है। ज्ञातव्य है कि मन में दो प्रकार की शक्तियाँ निहित होती हैं, यथा-१. आलयविज्ञान को आत्मा के रूप में ग्रहण कर क्लेशों को उत्पन्न करने की शक्ति तथा २. विविध विकल्पात्मक बुद्धियों को उत्पन्न करने की शक्ति। पहली शक्ति क्लेशावरण की जनक होती है और उसी की वजह से क्लिष्ट मनोविज्ञान की व्यवस्था होती है। द्वितीय शक्ति ज्ञेयावरण की जनक है तथा वह समाहित अवस्था और अर्हत् आदि की अवस्थाओं में भी विद्यमान होती है। कहने का आशय यह है कि अर्हत् आदि अवस्थाओं में पुद्गलात्मदृष्टि (क्लेशावरण) का प्रहाण तो हो जाता है तथापि उनमें धर्मात्मदृष्टि (ज्ञेयावरण) अभी विद्यमान होती है। फलतः समाहित आर्य और अर्हत् आदि में समताज्ञान की प्रवृत्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि समता ज्ञान की प्राप्ति तो तब होती है, जब समस्त ज्ञेयावरणों से भी विमुक्ति हो जाती है। अर्थात् बुद्धावस्था में ही उसकी प्राप्ति होती है।

सारांश यह कि वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व, अर्हत् और आर्यों की समाहित अवस्था में यद्यपि क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता, फिर भी मनोमात्र तो होता ही है। इसी प्रकार यद्यपि आलयविज्ञान नहीं होता, फिर भी विपाकविज्ञान होता है।

प्रश्न यह है कि आदर्श ज्ञान, जो बुद्ध का ज्ञान है, उसमें वासना स्थापित होती कि नहीं ? यदि होती है तो पूर्व के बुद्धों में वासनाओं का सामर्थ्य अधिक और पीछे के बुद्धों में काल की अल्पता के कारण कम सामर्थ्य होगा, साथ ही, वासना के आधार को जो

अव्याकृत होना चाहिए, वह भी निश्चित नहीं होगा, क्योंकि आदर्शज्ञान कुशल ही होता है। यदि नहीं होती है तो उनके दशबल, चतुर्वैशारद्य आदि गुण अहेतुक होने लगेंगे ?

समाधान– वज्रोपम समाधि की अवस्था में सभी अनास्रव बीजों की शक्ति एकत्र एवं पराकाष्ठा-प्राप्त हो जाती है, अतः नई वासनाओं की बिना अपेक्षा किये सभी गुण धारा के रूप में स्वतः प्रवृत्त होते रहते हैं।

मनोविज्ञान साधक युक्तियाँ

क्लिष्ट मनोविज्ञान न मानने पर निम्न छह अभावों का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, यथा- (१) आवेणिक अविद्या का अभाव, (२) पाँच इन्द्रियविज्ञानों के साथ मनोविज्ञान की सदृशता का अभाव, (३) दोनों समापत्तियों में भेद (विशेष) का अभाव, (४) व्युत्पत्ति का अभाव, (५) असंज्ञी सत्त्व की सन्तान में अहं-दृष्टि का अभाव तथा (६) हमेशा अहं-बोधयहोते रहने का अभाव।

(१) आवेणिक अविद्या का अभाव– आवेणिक का तात्पर्य अमिश्रित होने से है। साधारण पृथग्जन नैरात्म्य का साक्षात्कार करने में इसलिए असमर्थ रहते हैं, क्योंकि उनकी सन्तति में कुशल, अकुशल, अव्याकृत आदि सभी चित्तावस्थाओं में आत्मा का आभास होता रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ऐसी अविद्या है, जो सर्वदा पृथग्जन की सन्तति में विद्यमान रहती है। यह अविद्या एक चैतसिक है, अतः उसे अवश्य किसी चित्त से सम्प्रयुक्त होना चाहिए। चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों से वह सम्प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वे मार्गोत्पाद पर्यन्त निरन्तर प्रवृत्त नहीं होते। वह आलयविज्ञान से भी सम्प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि अनिवृताव्याकृत होने से उसका क्लेशों से सम्प्रयुक्त होना सम्भव नहीं है।

इस अविद्या के आवेणिक होने में आचार्यों के दो मत हैं। भदन्त निःस्वभाव का कहना है कि यह अविद्या केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान पर ही आश्रित होती है, अतः यह आश्रयतः आवेणिक है। आचार्य निगूढ़ार्थ के मतानुसार क्योंकि इसकी शक्ति से ही क्लेश आनीत हो सकते हैं, अन्य ज्ञानों से नहीं, अतः यह शक्तितः आवेणिक है। उपर्युक्त दोनों मतों में से प्रथम मत समीचीन है। भोट देश के सुप्रसिद्ध विद्वद्वरेण्य आचार्य चोंखापा भी इसी मत को पसन्द करते हैं। क्योंकि जब तक अविद्या (मोह) के वश से राग आदि प्रवृत्त होते हैं, तब तक उन राग आदि द्वारा अविद्या भी प्रवृत्त होती है। आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मतानुसार क्लिष्ट मनोविज्ञान का परिवार परस्पर कार्यकारण भाव से स्थित होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अविद्या ही राग आदि का आकर्षण करती है और अन्य राग आदि उसका आकर्षण नहीं करते। ज्ञात है कि आगमानुयायी विज्ञानवादी कार्यकारण के समकालिक होने के पक्षधर हैं। फलतः आवेणिक का तात्पर्य आश्रयतः आवेणिक होने से

है। अर्थात इस अविद्या का आश्रय असाधारण है। वह कभी अन्य को आश्रय नहीं बनाती। क्योंकि उक्त अविद्या केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान से ही सर्वदा सम्प्रयुक्त होती है, अन्य विज्ञानों से नहीं, तो ऐसी स्थिति में यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न माना जाएगा तो उक्त अविद्या के अभाव का प्रसङ्ग होगा।

(२) पाँच इन्द्रियविज्ञानों के साथ मनोविज्ञान की सदृशता का अभाव – यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न होगा तो जैसे पाँच इन्द्रियविज्ञान अपने अधिपतिप्रत्यय से उत्पन्न होते हैं, वैसे षष्ठ मनोविज्ञान का अपने अधिपतिप्रत्यय से उत्पन्न होना असम्भव हो जाएगा। जिस प्रकार पाँच इन्द्रियविज्ञानों के आश्रय केवल अतीत ही नहीं होते, अपितु समकालीन आश्रय (अधिपतिप्रत्यय) भी होते हैं। ज्ञात है कि इन्द्रियविज्ञानों के दो आश्रय होते हैं, एक समनन्तर अतीत मनस् और द्वितीय पाँच समकालीन इन्द्रियाँ। ठीक उसी प्रकार मनोविज्ञान का आश्रय भी अतीत और समकालीन इस प्रकार द्विविधि होना चाहिए। ऐसा होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान अपने-आप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मनोविज्ञान का समकालीन आश्रय क्लिष्ट मनोविज्ञान ही हो सकता है। अन्य कोई भी ऐसा उपयुक्त विज्ञान नहीं है, जो मनोविज्ञान का सहज (साथ उत्पन्न) होते हुए उसे जन्म दे सके। उपर्युक्त मत निगूढार्थ उपाध्याय का माना जाता है। कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि क्लिष्ट मनोविज्ञान न होने पर भी षष्ठ मनोविज्ञान का समकालीन आश्रय हृदयवस्तु हो सकती है। किन्तु उनका यह कथन वास्तविकता से विरुद्ध होगा, क्योंकि यदि मनोविज्ञान हृदयवस्तु पर आश्रित होगा तो वह पांच इन्द्रियविज्ञानों की भाँति निर्विकल्पक ही हो जाएगा। अर्थात् सविकल्पक न हो सकेगा। बात यह है कि जिन विज्ञानों के आश्रय रूपी (जड) इन्द्रियां होती हैं, वे विज्ञान निर्विकल्पक होते हैं, जैसे पाँच इन्द्रियविज्ञान। रूपी (जड) हृदयवस्तु को मनोविज्ञान का आश्रय माना जाएगा तो वह भी निर्विकल्पक ही होन लगेगा। किन्तु स्मृति, निश्चय, तुलना आदि के रूप में सविकल्पक मनोविज्ञान भी होते हैं, उनका होना असम्भव हो जाएगा। फलतः यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वीकार नहीं किया जाता है तो मनोविज्ञान की पांच इन्द्रियविज्ञानों से समता के अभाव का प्रसङ्ग होगा।

(३) दोनों समापत्तियों में विशेषता (भेद) का अभाव– यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वीकार नहीं किया जाएगा तो असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति में भेद नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि दोनों समापत्तियों की अवस्था में छह विज्ञान निरुद्ध रहते हैं और क्लिष्ट मनोविज्ञान (पूर्वपक्ष को) स्वीकृत नहीं है। क्लिष्ट मनोविज्ञान मानने से योगाचार मत में यह दोष नहीं है। क्योंकि असंज्ञिसमापत्ति की अवस्था में अहं-दृष्टि, आत्मस्नेह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) आदि विद्यमान रहते हैं और निरोधसमापत्ति की अवस्था में वे विद्यमान नहीं रहते। इसलिए असंज्ञिसमापत्ति अशान्त होती है और निरोधसमापत्ति शान्त। इसी आधार पर दोनों समापत्तियों में भेद किया जा सकता है। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न माना जाएगा तो दोनों

समापत्तियों में भेद का कोई आधार न मिल सकेगा। किन्तु उनमें भेद होना आवश्यक है। अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष– भूमि और मनस्कार में भेद होने से दोनों समापत्तियों में भेद हो जाएगा ? अर्थात् अभेद का प्रसङ्ग न होगा ?

उत्तरपक्ष– यह अयुक्त है। क्योंकि इतना मात्र भेद होने पर भी उनके स्वरूप में कोई अन्तर (फर्क) नहीं होता।

पूर्वपक्ष– एक समापत्ति (निरोधसमापत्ति) आर्य की सन्तान में होती है और दूसरी (असंज्ञिसमापत्ति) पृथग्जन की सन्तान में होती है, इसलिए भेद हो जाएगा ?

उत्तरपक्ष– इसमें भेद नहीं हो सकेगा, क्योंकि आर्यजन असंज्ञिसमापत्ति को प्रपात की भाँति समझकर उसका परिवर्जन करते हैं, क्योंकि उसमें 'अहं-दृष्टि' विद्यमान रहती है और इस वजह से अशान्त रहती है। यदि छह विज्ञानों का निरोध होने मात्र से उसे छोड़ देंगे तब तो उन्हें निरोधसमापत्ति को भी छोड़ देना पड़ेगा। अर्हदृष्टि की विद्यमानता क्लिष्ट मनोविज्ञान की वजह से है। सैद्धान्तिक पक्ष के अनुसार तो शान्त एवं अशान्त का भेद होने से आर्य जन एक का ग्रहण करते हैं और दूसरी परित्याग करते हैं।

(४) व्युत्पत्ति का अभाव– क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वदा अहं का ग्राहक (ग्रहण करने वाला) होता है। शास्त्रों में उसे 'सर्वदा अहंकार का कारण' कहा गया है। वह क्योंकि अहंकार करता है, इसलिए 'अहंकार का कारण' कहा जाता है। यदि क्लिष्ट मनो विज्ञान न माना जाएगा तो क्लिष्ट मनोविज्ञान की उपर्युक्त व्युत्पत्ति (निर्वचन या व्याख्या) निरर्थक हो जाएगी, क्योंकि आलयविज्ञान या पाँच इन्द्रिय विज्ञानों द्वारा कभी भी अहंकार का ग्रहण नहीं होता। षष्ठ मनोविज्ञान द्वारा अहंकार का ग्रहण होने पर भी सर्वदा नहीं होता। अतः सर्वदा अहंकार का ग्राहक होने से क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है।

(५) असंज्ञी सत्त्व की सन्तान में अहं-दृष्टि का अभाव– यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न होगा तो असंज्ञी-देवों के रूप में उत्पन्न सत्त्वों की सन्तान में अहंदृष्टि का अभाव हो जाएगा, जो अहं-दृष्टि उसकी सन्तान में प्रतिसन्धि से लेकर च्युति-पर्यन्त सर्वदा विद्यमान रहती है। यद्यपि प्रतिसन्धि होते समय प्रथम क्षण में अहंदृष्टि मनस् हो सकता है, किन्तु उसके बाद च्युति होने तक उसकी सन्तति में अहं-दृष्टि नहीं हो सकेगी। क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान को तो पूर्वपक्ष मानता नहीं और षड् विज्ञान तो असंज्ञीसत्त्व में निरुद्ध ही रहते हैं। यदि अहंदृष्टि उनमें न रहेगी तो वे क्लिष्ट (क्लेशों से युक्त) भी न हो सकेंगे। अर्थात् क्लेशमुक्त हो जाएंगे। किन्तु वे क्लेशमुक्त नहीं हैं, अतः उनमें अहंदृष्टि का होना सिद्ध होता है और उसी वजह से क्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष– प्रथम उत्पत्ति क्षण में अहंदृष्टियुक्त मनस् उत्पन्न होगा तथा बाद में न होने पर भी उसको वासना विद्यमान रहेगी। फलतः वासना होने की वजह से हम कह सकते है। कि वह अहंदृष्टिसहित है ?

उत्तरपक्ष– यह अयुक्त है, क्योंकि उस अहंदृष्टि-वामना का आश्रय क्लिष्ट मनोविज्ञान होता है और वह उसकी सन्तति में नहीं है। असंज्ञी सत्त्व की सन्तति में कोई भी विज्ञान नहीं है। उसके सभी विज्ञान निरुद्ध हो गये हैं। केवल रूपस्कन्ध सन्तति ही विद्यमान होती है। रूपस्कन्ध कभी भी वासना का आधार नहीं हो सकता। यदि असंज्ञी देवों में अहंदृष्टि न होगी तो वह क्लेशो से रहित होंगे, फलतः आर्यजन उस भूमि को अक्षण (मार्ग आदि के उत्पाद के लिए अभव्य) स्थान समझ कर उसका त्याग नहीं करेंगे। यदि छह विज्ञानों के निरोध मात्र से उसे अक्षण मानेंगे तो निरोधसमापत्ति को भी अक्षण मानकर उसका त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि उसमें भी छह विज्ञान नहीं होते। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व माना जाता है तो असंज्ञी देवों में सर्वदा अहंदृष्टि प्रवृत्त होगी, षडविज्ञान नहीं होंगे। इस मिथ्यादृष्टि के कारण असंज्ञिदेवों को असंज्ञिभूमि में पाँच सौ महाकल्प तक निवास करना होता है और इस अवधि में वे अपना कुछ भी कल्याण नहीं साध सकते। फलतः वह भूमि अक्षण-स्थान सिद्ध हो सकेगी।

(६) हमेशा अहं-बोध होते रहने का अभाव– जब हम कोई पुण्य कर्म करते हैं, यथा- दान देते हं, उस समय यह समझते हैं कि 'मैं दान दे रहा हूँ'। जब कोई अकुशल कर्म करते हैं, यथा- प्राणतिपात (हत्या) करते हैं, उस समय यह समझते हैं कि 'मै। जान से मार रहा हूँ'। अव्याकृत कर्म करने की अवस्था में भी 'मैं स्नान कर रहा हूँ' इत्यादि का भान होता रहता है। इस तरह हम देखते हैं कि कुशल, अकुशल और अव्याकृत सभी अवस्थाओं में अहं-बोध रहता है। यह तभी सम्भव है, जब क्लिष्ट मनोविज्ञान माना जाए, क्योंकि उससे अवशिष्ट सात विज्ञानों में कोई भी एक ऐसा विज्ञान नहीं है, जो सभी अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान रहे और अहंदृष्टि का आश्रय हो। इन उपर्युक्त सभी कारणों से क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है।

(३) नौ विज्ञान तथा एक विज्ञान मानने वालों का खण्डन

(क) नौ विज्ञान मानने वालों का खण्डन– श्रावकवर्गीय पिटकों में विज्ञान की संख्या छह ही कही गयी है। महायन आचार्यों के इस विषय में दो मत पाए जाते हैं। (१) आचार्य नागार्जुन आदि माध्यमिकों के मतानुसार विज्ञान छह ही होते हैं, सात या आठ नहीं। वे छह विज्ञान से अतिरिक्त विज्ञानों की सत्ता का जोरदार खण्डन करते हैं। आचार्य भव्य ने अपने मध्यमकहृदय में कहा है- 'छह विज्ञानों से अतिरिक्त आलयविज्ञान आदि नहीं है, चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों के अन्तर्गत नहीं होने से, खपुष्प के समान। (२) दूसरा मत आर्य

मैत्रेयनाथ और उनके अनुयायियों का है, जो सुवर्णप्रभास आदि सूत्रों पर आधृत है। इस मत के अनुयायियों में तीन पक्ष उपलब्ध होते हैं।

प्रथम पक्ष– इस मत के प्रतिष्ठापक आचार्य 'बो देलेऊ' है। विज्ञप्तिमात्रता शास्त्रों के आधार पर उन्होंने यह प्रस्थापना की है कि चित्त या विज्ञान दो प्रकार का होता है। पहला धर्मता चित्त है, जो तत्त्वस्वभाव का होता है और सालम्बन नहीं होता। दूसरा सम्प्रयुक्त चित्त है, जो श्रद्धा आदि के शुक्ल तथा राग आदि अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है।

द्वितीय पक्ष– इसके प्रमुख वक्ता आचार्य 'परमार्थ' हैं, जिन्होंने विनिश्चयकोशशास्त्र के आधार पर नौ विज्ञानों की स्थापना की है। चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक तो वे ही प्रसिद्ध छह विज्ञान हैं, जिनका अन्य शास्त्रों और मतों में उल्लेख मिलता है। सातवां विज्ञान आदान विज्ञान है जो अष्टमविज्ञान के प्रति आत्मा-आत्मीय दृष्टि रखता है। यह केवल क्लेशावरण से युक्त होता है, इसके द्वारा धर्मात्म ग्रहण नहीं होता। अष्टम विज्ञान आलयदिज्ञान है। इसके तीन भेद होते हैं। यथा-स्वभाव-आलय, जो बुद्धत्व सिद्धि का आधार है। दूसरा विपाक-आलय है, जो अष्टादश धातुओं का आलम्बन करता है। तीसरा संक्लिष्ट आलय है जो तथता विषय को आलम्बन बनाकर चार प्रकार के मान को उत्पन्न करता है। यह केवल धर्मात्मा को ग्रहण करता है पुद्गलात्मा को नहीं। अर्थात् यह केवल धर्मात्मदृष्टि है, पुद्गलात्मदृष्टि नहीं। नवम विज्ञान विमलविज्ञान है, जो तथतास्वभाव है। तथता का तात्पर्य विषय और विषयी दोनों से है। इसमें दो अर्थ सम्मिलित हैं, एक आलम्ब्य विषयतथता है, जिसे धर्मता, तत्त्व या सम्यगन्त (बुद्धबीज) भी कहते हैं, दूसरा आलम्बक तथता है, जिसे विमलविज्ञान, आदिवित् आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

तृतीय पक्ष– यह आर्यलङ्कावतार आदि सूत्रों के आधार पर उपस्थित किया जाता है। इसके मतानुसार विज्ञानों की संख्या आठ मानी जाती है।

उपर्युक्त तीन पक्षों में से तृतीय पक्ष ही समीचीन है। दो विज्ञान मानने वाले प्रथम पक्ष का पृथक् खण्डन आवश्यक नहीं है, क्योंकि उन दोनों में एक जो धर्मताचित्त है, जो विचार करने पर द्वितीय पक्ष के विमलचित्त से भिन्न नहीं है। अतः विमलविज्ञान के खण्डन से उसका भी खण्डन हो जाता है। अतः विमलविज्ञान मानने वाले आचार्य परमार्थ के द्वितीय पक्ष का खण्डन किया जा रहा है :

आठ विज्ञानों से अतिरिक्त यदि नवम विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया जाएगा तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि संसार में नित्य वस्तु भी होती है, क्योंकि नवम (विमल) विज्ञान परमार्थ के अनुसार तथतास्वभाव होने के नाते नित्य भी होता है और सालम्बन होने के नाते उसका वस्तु होना भी आवश्यक है। इस तरह विमलविज्ञान संस्कृत और असंस्कृत दोनों पदार्थों का एक सम्मिलित रूप होगा, जो युक्ति और न्याय दोनों से सर्वथा विपरीत है। चाहे विज्ञानवाद हो या माध्यमिक नित्य विज्ञान कहीं भी नहीं माना जाता। जो लोग

शून्यता या परमार्थ सत्य को चैतन्य मानते हैं, उन्हीं पर यह दोष लागू होगा। विज्ञानवाद के प्रामाणिक शास्त्रों का सम्यग अध्ययन न होने के कारण विज्ञानवाद के मन्तव्यों के बारे में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ आजकल फैली हुई हैं। कुछ लोग कहते हैं कि विज्ञानवाद के अनुसार रूप, शब्द आदि धर्मों का अस्तित्व नहीं है। सर्वत्र विज्ञान ही विज्ञान है। तथा विज्ञान ही परमार्थ सत्य है- इत्यादि। इस तरह की बातें आर्य असङ्ग आदि विज्ञानवादी आचार्यों के शास्त्रों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होतीं, अपितु इनसे विपरीत बातें उपलब्ध होती हैं, जिनका थोड़ा-बहुत परिचय हमने पहले यत्र तत्र यथामति दिया है।

दूसरे ही पक्ष में जो सप्तम विज्ञान को 'आदानविज्ञान' संज्ञा प्रदान की गई है, वह भी किसी शास्त्र में उपलब्ध नहीं होती। इस तरह नौ विज्ञान मानना आर्य मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु, स्थिरमति आदि प्रामाणिक विद्वानों के अभिप्राय से सर्वथा विपरीत है, क्योंकि उनके ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख नहीं है।

(ख) एक विज्ञान मानने वालों का खण्डन- एक ही विज्ञान की सत्ता मानने वाले कुछ आचार्य थे, जो ब्राह्मणवर्ग और द्वादशायतनसूत्र के आधार पर एक ही विज्ञान की सत्ता स्थापित करते थे, तथा हि :

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना।।
(धम्मपद, चित्तवग्ग, का. ५)

द्वादशयतनसूत्र में भी उक्त है कि छहविज्ञान एक मनायतन है। उनका कहना है कि इन वचनों के द्वारा भगवान् ने एक ही चित्त दिखलाया है। फलतः समस्त चित्त एक ही मूलविज्ञान के भेद हैं। एक ही मनोविज्ञान के पृथक्-पृथक् इन्द्रिय द्वारों से प्रवृत्त होने के कारण भिन्न-भिन्न नाम पड़ जाते हैं। जैसे अनेक छिद्रों से युक्त घर में रखे हुए दीपक का प्रकाश छिद्रों की स्थिति और आकार के अनुसार नाना रूपों में निकलता हुआ दिखलाई पड़ता है, फिर भी उस घर में दीपक तो एक ही होता है, उसी प्रकार विज्ञान भी एक ही होता है। विज्ञान के एक होने पर भी उसके दो अंश होते हैं। एक वह, जिसमें विषयमात्र का प्रतिभास होता है और जिसमें कल्पनांश नहीं होता। दूसरा वह, जिसके द्वारा प्रतिभासित विषय का अध्यवसाय होता है, यह सविकल्पक होता है। फलतः एक विज्ञान मानने पर भी हमारे मत में विज्ञान के केवल निर्विकल्पक ही होने का दोष नहीं होता।

सिद्धान्त पक्ष- आपने जिस आगमों का उद्धरण किया है, उनसे एक विज्ञान की सिद्धि नहीं होती। ब्राह्मणवर्ग में चित्त को लेकर जो 'एकचर' कहा गया है, उसका अर्थ है- श्रुतमय अधिगम से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक के सभी दर्शन और भावना आदि मार्ग मनोविज्ञान द्वारा ही निष्पन्न होते हैं। इन्द्रियविज्ञानों के अर्थों (विषयों) में भी मनोविज्ञान प्रवृत्त

होता है तथा वह इन्द्रियविज्ञानों का हेतु भी होता है। यही कारण है कि मनोविज्ञान को अनेक स्थलों में प्रधान, शासक या श्रेष्ठ निर्दिष्ट किया गया है। द्वादशायतनसूत्र का अभिप्राय भी वैसा नहीं है, जैसा आपने समझा है। उस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि जब अष्टादश धातुओं का बाहर आयतनों में विभाजन किया जाता है, तब सभी छह विज्ञान मन आयतन में संगृहीत होते हैं। रूप आदि छह विषय-आयतन तथा चक्षुर्विज्ञान से मनोविज्ञान पर्यन्त छह विज्ञान विषयी-आयतन इस तरह बारह आयतन होते हैं। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मन और मनोविज्ञान में अन्तर है। मन तो सभी चित्तों को कह सकते हैं, किन्तु मनोविज्ञान केवल छठवें और सातवें विज्ञान एवं उनके परिवार का नाम है।

युक्ति विरोध– यदि समस्त विज्ञान द्रव्यतः एक है तो इन्द्रियविज्ञानों द्वारा भी परोक्ष विषयों का अनुमान होना चाहिए तथा उनके द्वारा अतीत, अनागत विषयों का भी ग्रहण होना चाहिए। अपि च, समस्त ज्ञान सर्वथा निर्विकल्पक हो जाएंगे, क्योंकि इन्द्रिय विज्ञान सदा निर्विकल्पक ही होते हैं और उनसे द्रव्यतः भिन्न अन्य कोई विज्ञान नहीं है। अथवा-समस्त ज्ञान सविकल्पक हो जाएंगे, क्योंकि मनोविज्ञान सविकल्पक है। और उनसे भिन्न किसी अन्य ज्ञान का अस्तित्व नहीं है।

एक ही विज्ञान के सविकल्पक और निर्विकल्पक ये दो अंश भी सम्भव नहीं हैं, क्योंकि एक ही वस्तु के परस्पर विरोधी दो स्वभाव नहीं हो सकते। यदि दो स्वभाव माने जाएंगे, तो वस्तु भी दो हो जाएंगी, क्योंकि स्वभाव ही वस्तुत्व का नियामक है। फलतः विज्ञान के एकत्व का सिद्धान्त नष्ट हो जाएगा। यदि विज्ञान एक माना जाएगा तो उसके दो स्वभाव या दो अंश होना अयुक्त होगा। फलतः एक विज्ञान मानने में न कोई आगम प्रमाण है और न युक्ति प्रमाण।

दो सत्य

सत्य दो हैं, यथा- संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। तीन लक्षणों में से परतन्त्रलक्षण संवृतिसत्य है। कहने का आशय यह है कि जितनी भी वस्तु हैं, अर्थक्रियासमर्थ हैं, हेतु हैं, कार्य हैं, अनित्य हैं, संस्कृत हैं, वे सब संवृत्ति सत्य हैं।

परिकल्पित लक्षण दो प्रकार से समझा जा सकता है, जैसे- आकाश आदि यद्यपि परिकल्पित लक्षण हैं, फिर भी उनकी सत्ता होती है। बाह्य अर्थ, आत्मा, शशशृङ्ग आदि ऐसे परिकल्पित हैं, जिनकी बिलकुल भी सत्ता नहीं है, वे सर्वथा अलीक हैं। आकाश आदि संवृतिसत्य हैं। बाह्य अर्थ, आत्मा एवं शशशृङ्ग आदि संवृतिसत्य भी नहीं है। इस तरह परिकल्पित का एक अंश और परतन्त्रलक्षण संवृतिसत्य हैं।

परिनिष्पन्न लक्षण एकान्त परमार्थ सत्य है। वह स्वलक्षण माना जाता है। इन आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में स्वलक्षण का बाह्य वस्तु होना आवश्यक नहीं है। वह प्रत्यक्ष का विषय है, अतः स्वलक्षण है। अर्थात् स्वलक्षण होने के लिए उसे प्रत्यक्ष का विषय होना चाहिए।

आवरणद्वय– आवरण दो होते हैं, यथा- क्लेशावरण और ज्ञेयावरण। अविद्या (मोह), राग, द्वेष आदि क्लेश 'क्लेशावरण' कहे जाते हैं। इनके द्वारा मोक्ष का अवरण किया जाता है। क्लेशों के अतिरिक्त (बाह्यार्थों को सत् समझने वाली दृष्टि) या ग्राह्य-ग्राहक द्वय ग्राहक दृष्टि अर्थात् जो दृष्टि ग्राह्य और ग्राहक को पृथक् और सत् ग्रहण करती है, 'ज्ञेयावरण' है। यह दृष्टि क्लिष्ट अविद्या नहीं है। इसे अक्लिष्ट अविद्या कहा जाता है।

आत्मदृष्टिद्वय– आत्मदृष्टि दो प्रकार की है, यथा- पुद्गलात्मदृष्टि एवं धर्मात्मदृष्टि। पुद्गल- आत्मा को ग्रहण करने वाला दृष्टि नामक चैतसिक पुद्गलात्म दृष्टि कही जाती है। इसके द्वारा एक ऐसे आत्मा का अभिनिवेशय (ग्रहण) किया जाता है, जो पाँच स्कन्धों से भिन्न, एक, नित्य, शाश्वत, कर्मों का कर्ता, फलों का भोक्ता तथा बन्ध-मोक्ष का आश्रय है। तथा बाह्य अर्थ सत् हैं तथा ग्राह्य और ग्राहक की पृथक् द्रव्यसत्ता है, इस प्रकार समझने वाली दृष्टि धर्मात्मदृष्टि है।

नैरात्म्यद्वय– पुद्गलनैरात्मय और धर्मनैरात्म्य– ये दो नैरात्म्य होते हैं। ऊपर जिस प्रकार के पुद्गल का निरूपण किया गया है, उसका अभाव पुद्गलनैरात्म्य है तथा बाह्यार्थ से शून्यता या ग्राह्य-ग्राहकद्वय से रहितता धर्मनैरात्म्य है।

यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि यद्यपि पुद्गल नित्य, शाश्वत आदि आत्मा से रहित है, फिर भी पुद्गल का अभाव नहीं है। वह आधार है, जिसमें आत्मा से रहितता होती है। विज्ञान के गर्भ में उसका अस्तित्व होता हे। इसी तरह घट, पट आदि वस्तुएं बाह्यार्थता से शून्य हैं, किन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं है। वे परतन्त्रलक्षण हैं। बाह्यार्थता से शून्य होने पर भी वे ज्ञानात्मक द्रव्य के रूप में सत् होते हैं।

आगमानुयायी विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गलनैरात्म्य का स्वरूप वैभाषिक, सौत्रान्तिक दर्शनों में मान्य स्वरूप से भिन्न नहीं है। पुद्गलात्मदृष्टि का जब अशेष प्रहाण हो जाता है, तब पुद्गल अर्हत् हो जाता है, किन्तु उसमें अभी भी धर्मात्मदृष्टि के विद्यमान होने से वह सर्वज्ञ नहीं होता।

कार्यकारणव्यवस्था

इनके मत में समकालिक कार्यकारणभाव मान्य है। जैसे क्लिष्ट मनोविज्ञान और उसके परिवार में होने वाले सम्प्रयुक्त चैतसिक परस्पर कार्यकारण के रूप में अवस्थित होते हैं। इसी प्रकार बाह्य धर्मों में भी समकालिक कार्यकारणभाव माना जाता है।

प्रमाणव्यवस्था

प्रमाणद्वय– प्रमाण दो होते हैं, यथा- प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके प्रत्यक्ष का लक्षण सौत्रान्तिकों से नितान्त भिन्न है। कल्पनापोढ एवं स्थिरवासना से उत्पन्न ज्ञान होना प्रत्यक्ष का लक्षण है। यहां इस लक्षण में अभ्रान्त शब्द का निवेश नहीं किया गया है, क्योंकि इनके मत में पृथग्जनों के चक्षुर्विज्ञान आदि सभी ज्ञान भ्रान्त ही हैं, क्योंकि इनमें बाह्यार्थ का प्रतिभास होता है। जब पृथग्जनों के सभी इन्द्रियज ज्ञान भ्रान्त होते हैं तब पीतशङ्ख आदि भ्रान्त ज्ञानों से भेद करने के लिए लक्षण में 'स्थिरवासनोत्पन्न' यह विशेषण दिया गया है। आशय यह है कि पीत शंखज्ञान भी यद्यपि कल्पनापोढ है, फिर भी वह क्योंकि स्थिर वासना से उत्पन्न नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है। अनादि काल से कल्पनाओं द्वारा प्रवृत्त वासना 'स्थिरवासना' कहलाती है। पीतशंखज्ञान उस प्रकार की वासना से उत्पन्न नहीं है, अपितु तात्कालिक इन्द्रियविकार से उत्पन्न है। प्रत्यक्ष- चतुर्विध है, यथा- इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष एवं योगी-प्रत्यक्ष। इन प्रत्यक्षों का लक्षण सौत्रान्तिकों की भाँति है। अनुमान का लक्षण, स्वरूप, भेद आदि भी सौत्रान्तिकों के समान ही है।

मार्ग-फलव्यवस्था

मार्ग के तीन प्रकार हैं, यथा- श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं महायान (या बोधिसत्त्वयान)।

श्रावकयान– इसमें सम्भारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग- ये पांचों मार्ग होते हैं। इनकी भावना का मुख्य विषय (अनुभाव्य) पुद्गलनैरात्म्यमात्र होता है। इसलिए इनकी फलावस्था में भी क्लेशक्षयमात्र ही प्राप्त होता है। अर्थात् इनके मत में निर्वाण क्लेशक्षयमात्र या क्लेशाभावमात्र ही होता है। जब श्रावक अर्हत्व पद प्राप्त करता है तब पहले सोपधिशेष निर्वाण प्राप्त करता है। उस अर्हत् को भी सोपधिशेष अर्हत् कहते हैं। जब अर्हत् का परिनिर्वाण होता है, तब उसकी ज्ञानधारा और जड़धारा दोनों निरुद्ध हो जाती है। इसे निरुपधिशेष निर्वाण कहते हैं। यदि परिनिर्वाण के बाद भी चित्तसन्तति अवशिष्ट रहेगी तो श्रावकयान की दृष्टि से यह दोष होगा कि उसे अवश्य जन्म ग्रहण करना होगा। इसलिए उस (निरूपधिशेष) अवस्था में सभी प्रपञ्चों से शान्त, जिसमें सभी संस्कारों की प्रवृत्ति निरुद्ध हो गई है, ऐसी अनिमित्तधातु निर्वाण ही विद्यमान होती है। उस अनिमित्त धातु (तथता) में वेदनात्मक सुख नहीं है, किन्तु दुःखों से अत्यन्त वियोग रूपी शान्त सुख होता है। वह निर्वाण प्रसज्यप्रतिषेध रूप भी नहीं है तथा द्रव्यसत् भी नहीं है। प्रसज्यप्रतिषेध के निषेध से सौत्रान्तिक प्रस्थान का तथा द्रव्यसत्ता के निषेध से वैभाषिक प्रस्थान का निराकरण किया गया है। वह अवस्था नित्य, अचल एवं अक्षर है। विज्ञानवाद के अनुसार निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त पुद्गल कभी भी महायान में प्रवेश नहीं करेगा।

प्रत्येकबुद्धयान– इस यान में भी पूर्वोक्त सम्भारमार्ग से लेकर अशैक्षमार्ग तक पांचो मार्ग होते हैं, इनकी भावना का विषय (अनुभाव्य) भी मुख्यतः पुद्गलनैरात्म्य ही होता है। इस यान का श्रावकयान से भेद पुण्यसंचय की दृष्टि से होता है, मुख्यतः ज्ञान की दृष्टि से नहीं। तीक्ष्णेन्द्रिय श्रावक तीन जन्मों में अर्हत् पद प्राप्त कर लेता है। वह इन तीन जन्मों में ही पुण्यसंचय कर पाता है, जब कि प्रत्येकबुद्ध सौ महाकल्पों तक पुण्यसंचय करने के अनन्तर अर्हत् होता है। वह अन्तिम जन्म में उपदेशक या मार्गदशर्क की बिना अपेक्षा किये बोधि का लाभ करता है। इसमें भी सोपधिशेष और निरुपधिशेष भेद श्रावकयान की भांति ही होते हैं। श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान दोनों के अनुयायी धर्मनैरात्म्य बिलकुल नहीं जानते।

महायान या बोधिसत्त्वयान- इस यान में भी सम्भारमार्ग से लेकर अशैक्षमार्ग तक पांचों मार्ग होते हैं। इस यान की भावना का मुख्य विषय (अनुभाव्य) धर्मनैरात्म्य होता है। दर्शनमार्ग से लेकर सभी समाहित ज्ञानों का आलम्बन धर्मनैरात्म्य ही होता है। जैसे सौत्रान्तिक मत में लोकोत्तर मार्ग का साक्षात् विषय तो पञ्चस्कन्धात्मक संस्कृत पुद्गल होता है, और उस प्रत्यक्ष के बल से उसमें आत्मशून्यता का स्पष्ट अवबोध हो जाता है, वैसे यहां नहीं होता, अपितु महायानी पुद्गल को धर्मनैरात्म्य का प्रत्यक्ष में साक्षात् प्रतिभास होता है। दर्शन मार्ग के अनन्तर भावनामार्ग की अवस्था में दस भूमियाँ होती हैं। पारमितायान (महायान) के अनुसार एक पुद्गल को बोधिसत्त्वसम्भारमार्ग से दर्शनमार्ग तक प्राप्त करने में एक असंख्येय महाकल्प लगता है। अष्टम भूमि से सर्वज्ञ होने तक या दशमभूमि तक एक असंख्येय महाकल्प लगता है। इस प्रकार तीन असंख्येय महाकल्पों में भावना एवं पुण्यसंचय करने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। ये तीन असंख्येय महाकल्प भी तीक्ष्ण बुद्धि एवं वीर्य वाले बोधिसत्त्वों की दृष्टि से हैं। अन्य मन्दवीर्य बोधिसत्त्वों को बुद्धत्व प्राप्ति में इससे अधिक समय भी लग सकता है।

फलव्यवस्था– दशमभूमि में स्थित बोधिसत्त्व अन्तिम जन्म अकनिष्ठ भूमि में ग्रहण करता है। उक्त भूमि में बोधिसत्त्व ने यद्यपि अभी बुद्धत्व प्राप्त नहीं किया है, अभी वह बोधिसत्त्व ही है, तथापि वह बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से विभूषित होकर सम्भोगकाय की तरह उत्पन्न होता है। जिस क्षण उसे बुद्धत्व प्राप्त होगा, उससे पहले वह वज्रोपम समाधि द्वारा सूक्ष्म ज्ञेयावरणों का प्रहाण करके बुद्ध होता है। जिस क्षण वह बुद्ध होगा, उस क्षण में वह सम्भोगकाय के रूप में परिणत होगा। जिस क्षण बुद्ध का सम्भोगकाय निष्पन्न होता है, उसी क्षण में इस ब्रह्माण्ड की समस्त लोकधातुओं में जितने जम्बूद्वीप हैं, सभी में एक ही काल में उतनी ही संख्या में निर्माणकाय निर्मित होते हैं। उस सम्भोगकाय और निर्माणकायों में विद्यमान सर्वज्ञ ज्ञान बुद्ध का ज्ञानधर्मकाय कहलाता है। उस ज्ञानधर्मकाय में दो शून्यताएं रहती हैं- आवरणद्वय शून्यता अर्थात् पुद्गलात्म शून्यता तथा

धर्मात्मशून्यता। इन दोनों शून्यताओं को स्वभाव काय कहते हैं। इस प्रकार स्वभावकाय, ज्ञानधर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय- ये चार काय होते हैं।

इस आगमानुयायी मत में अन्तिम रूप से तीन यानों की व्यवस्था की जाती है। ऐसा नहीं है कि अन्तिम रूप से एक ही यान (बुद्धयान) माना जाता हो, जैसा कि एकयानी बौद्ध मानते हैं। अपितु ये लोग त्रियानवादी होते हैं, यथा- श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान या महायान। अन्तिम यान का तात्पर्य यह है कि तीनों यानों के साधक अपने-अपने यान के अनुसार साधना करते हुए जब अन्तिम फल प्राप्त कर लेते हैं, तब उनकी अग्रगति समाप्त हो जाती है। ऐसा नहीं है कि उनका अन्य यान में प्रवेश हो जाता हो। अतः पूर्वोक्त तीनों यानों को अन्तिम यान कहा गया है। इतना अवश्य है कि श्रावकयानी या प्रत्येकबुद्धयानी पुद्गल चाहें तो निरुपधिशेष निर्वाण से पहले अर्थात् सोपधिशेष अवस्था में महायान में प्रविष्ट हो सकते हैं। किन्तु निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त हो जाने पर यह असम्भव है, क्योंकि उस अवस्था में पहुँचने पर पुद्गल की गति समाप्त हो जाती है। **(२) युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद**

दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में ऐसे अनेक दार्शनिक मुद्दे हैं, जिन पर उनका ऐकमत्य है। फिर भी ऐसे अनेक मुद्दे हैं, जिन पर उनका मतभेद है। यदि ऐसा न होता तो युक्त्यनुयायियों का पृथक् प्रस्थान विकसित न होता। हमने ऊपर आगमानुयायी विज्ञानवाद का यथासम्भव प्रतिपादन किया है। अतः जिन विषयों में दोनों का समान दृष्टिकोण है, हम उनकी चर्चा नहीं करेंगे, अन्यथा पुनरुक्ति दोष होगा और नाहक विस्तार होगा। अब हम केवल उन्हीं विषयों की चर्चा करने जा रहे हैं, जिनमें मतभेद के कारण युक्त्यनुयायी आचार्य आगमानुयायियों से पृथक् होते हैं।

(१) इनके मत में भी सभी पदार्थों के तीन स्वभाव माने जाते हैं, यथा- परिकल्पितलक्षण, परतन्त्रलक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण। इनके स्वरूप के विषय में दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में प्रायः समान मति है।

(२) ये (युक्त्यनुयायी) विज्ञानों की संख्या छह ही मानते हैं, आठ नहीं, जैसे आगमानुयायी विज्ञानवादी मानते हैं। ये आलयविज्ञान की सत्ता का खण्डन करते हैं। आलयविज्ञान खण्डित होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान भी अपने-आप खण्डित हो जाता है। क्योंकि आलयविज्ञान को ही क्लिष्ट मनोविज्ञान आत्मत्वेन ग्रहण करता है। फलतः चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक छह विज्ञान ही नके मत में मान्य हैं।

(३) आलयविज्ञान नहीं होने पर वासनाओं का आधार कौन होगा? इस विषय में इनका कहना है कि छठवां मनोविज्ञान ही वासना का आधार होगा। वह यद्यपि कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत तीनों प्रकार का होता हैं, तथापि वासना का आधार हो सकता है। अर्थात् उसमें वासना स्थापित (अहित) हो सकती है।

(४) आलयविज्ञान का निराकरण– इनका कहना है कि छह विज्ञानों से अतिरिक्त आलयविज्ञान नामक कोई विज्ञान होगा तो वह आत्मा ही हो जाएगा। पांच स्कन्धों से भिन्न, संसार और मोक्ष के आधार के रूप में आलयविज्ञान को मानना आत्मा को मानने की तरह ही है। विज्ञान होने के लिए उसका कोई स्पष्ट आकार या आलम्बन होना चाहिए, किन्तु उसका न कोई आकार उपलब्ध है और न आलम्बन तथा न वह किसी विषय का निश्चय ही कर पाता है, अतः उसे विज्ञान मानना ही अयुक्तिसंगत है। अपि च, अनादिकाल से प्रवृत्त उस आलयविज्ञान में न तो किसी तरह का कोई स्वरूप-परिवर्तन ही परिलक्षित होता है, अतः उसके नित्य होने का प्रसङ्ग होगा। ज्ञान का नित्य होना सम्भव नहीं, ऐसा होने पर अनेक दोष होंगे। ज्ञान को अवश्य ही अनित्य होना चाहिए-इत्यादि अनेंक युक्तियों द्वारा वे आलयविज्ञान का खण्डन करते हैं।

(५) बाह्यार्थ निराकरण– घट, पट आदि सभी वस्तुएं ज्ञानात्मक या बुद्धिद्रव्यात्मक हैं, बाह्यार्थ बिलकुल नहीं हैं। यह दोनों मानते हैं, किन्तु उनकी बुद्धिद्रव्यात्मकता सिद्ध करने के लिए विशेष रूप से ये सहोपलम्भनियम का हेतु के रूप में प्रयोग करते हैं। तथा हि -नील और नीलज्ञ बुद्धि (पक्ष), भिन्न द्रव्य नहीं है (साध्य), सहोपलम्भ होने से (हेतु) यथा-चन्द्रद्वय और उसका ज्ञान (सपक्ष दृष्टान्त)। नील और पीत इसका विपक्ष दृष्टान्त है।

इस सहोपलम्भ हेतु की पक्षधर्मता (अर्थात् नील और नीलज्ञबुद्धि पक्ष में रहना) प्रत्यक्षतः सिद्ध है। अर्थात् नील और नीलज्ञ बुद्धि का युगपद् (एक साथ) उपलब्ध होना (सहोपलम्भ) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है। जब नीलबुद्धि होती है, तब नील भी होता है और जब नील होता है, तब नीलबुद्धि भी होती है-इस प्रकार का दोनों में रहने वाला सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होता है।

जो द्रव्य भिन्न-भिन्न होते हैं, उनकी सर्वदा युगपद् उपलब्धि निश्चित नहीं होती। जैसे नील और पीत दोनों द्रव्यतः भिन्न-भिन्न हैं, अतः उन दोनो का युगपद् उपलम्भ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा निश्चित है। अतः हेतु और साध्य की व्याप्ति निश्चित होती है। यह सहोपलम्भ नियम दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों का बाह्यार्थ का निरास करने के लिए प्रधान हेतु है।

बाह्यार्थ का निराकरण करने के लिए अन्य युक्तियों का भी प्रयोग किया जाता है, यथा- (१) एक द्रव (तरल) पदार्थ को जब देव, मनुष्य और प्रेत एक साथ देखते हैं तो उनमें तीन प्रकार की बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। अर्थात् देव उसे (तरल पदार्थ को) अमृत के रूप में ग्रहण करता है, मनुष्य जल के रूप में तथा प्रेत उसे पूय या रुधिर के रूप में ग्रहण करता है। तीनों की वे तीन प्रकार की बुद्धियाँ मिथ्या हैं- यह नहीं कहा जा सकता। उनके (बुद्धियों के) यथार्थ ज्ञान होने से उनके विषय भी तीन प्रकार के होते हैं। एक ही तरल विषय एक ही काल में तीनों (अमृत, जल ओर पूय-रुधिर) नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि वे तीनों विषय उन उन बुद्धियों के ही अंश हैं। यदि वे बाह्यार्थ

सत्य होंगे तो देव को भी पूय-रुधिर दिखलाई पड़ना चाहिए और प्रेत को भी अमृत दिखलाई पड़ना चाहिए। अतः वे बाह्यार्थतः सत्य नही हैं, अपितु ज्ञानांश के रूप में सत्य हैं।

अपि च, जब किसी एक व्यक्ति का शत्रु और मित्र-इन दो व्यक्तियों द्वारा देखा जाता है तो वह दो प्रकार से दिखाई देता है, यथा- शत्रु को वह कुत्सित रूप में तथा मित्र को मनोज्ञ रूप में दिखाई देता है। किन्तु एक व्यक्ति एक साथ कुत्सित और मनोज्ञ दोनों नहीं हो सकता। अतः सिद्ध होता है कि विषय की बाह्यार्थतः अर्थात् ज्ञान से निरपेक्ष सत्ता नहीं होती, अपितु ज्ञानसापेक्ष, ज्ञानांश के रूप में या ज्ञान के गर्भ में सत्ता होती है।

बाह्यार्थ के निरास के लिए अन्य युक्तियाँ

(१) नाम-सङ्केत से पूर्व बुद्धि का उत्पाद होगा- घट वस्तु घटशब्द का अभिधेय है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु घट में स्थित शब्दाभिधेयता वस्तुसत् नहीं, घट वस्तुसत् है। घट अभिधेयत्व को स्वलक्षणसत् (वस्तुसत्) मानना बाह्यार्थ मानना है। अभिधेयस्वलक्षणता और बाह्यार्थता पर्यायवाची हैं। यदि घटशब्द का अभिधेयत्व वस्तुसत् होगा तो उसे कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड (वस्तु) का स्वभाव होना चाहिए। फलतः उसे नाम एवं कल्पना से अनपेक्ष होना चाहिए। अर्थात् जैसे अभिधेयत्व नाम और कल्पना-सापेक्ष होता है, वैसा नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति में कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड में 'यह घट है'-इस प्रकार के संकेतग्रह से पूर्व भी 'यह घट है'-इस प्रकार की बुद्धि का उत्पाद होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं, अपितु 'यह घट है' ऐसी बुद्धि तभी उत्पन्न होती है, जब कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड में 'यह घट शब्द का अभिधेय है'-इस प्रकार पहले से ही संकेतग्रह हुआ रहता है। फलतः यह सिद्ध होता है कि घट का घटशब्द का अभिधेय होना सर्वथा सङ्केत पर निर्भर करता है, न कि वस्तुवशात् वह घटशब्द का अभिधेय है। यदि वस्तुवशात् अभिधेय होगा तो घटबुद्धि का उत्पाद नाम-सङ्केत की बिना अपेक्षा किये नाम-सङ्केत से पूर्व भी होने लगेगा।

(२) एक वस्तु में अनेक वस्तुओं की प्रवृत्ति होगी- यदि शब्दाभिधेय की वस्तुवशात् प्रवृत्ति होगी तो एक ही वस्तु में अनेक वस्तु होने का प्रसङ्ग होगा। ज्ञात है कि एक ही चन्द्र के शशी, हिमांशु राकेश आदि या एक ही इन्द्र के शतक्रतु, पुरन्दर, गोत्रभिद्, सहस्राक्ष आदि अनेक नाम-पर्याय होते हैं। यदि चन्द्र या इन्द्र का उन नामों का अभिधेय होना वस्तुवशात् होगा तो उन नामों से जो बुद्धियाँ पैदा होती हैं और उन बुद्धियों में जैसा प्रतिभास होता है, वैसा स्वरूप चन्द्र या इन्द्र में भी विद्यमान होना चाहिए। शशी-बुद्धि शशी-आकार वाली है, हिमांशु आकारवाली नहीं है। इसी तरह शतक्रतु-आकारवाली है, सहस्राक्ष-आकारवाली नहीं। किन्तु इन्द्र या चन्द्र का उन-उन नामसंकेतों का अभिधेय होना

वस्तु-वश" किया जाएगा तो एक ही चन्द्र या इन्द्र वस्तु में अनेक वस्तु होने का प्रसङ्ग होगा।

(२) अनेक वस्तुएं एक नाम से व्यवहृत न हो सकेंगी– कभी-कभी दो व्यक्तियों के लिए एक ही नाम प्रवृत्त होता है। जैसे किन्हीं दो व्यक्तियों को 'उपगुप्त' कहा जाता है। यदि उन दोनों व्यक्तियों का 'उपगुप्त' नाम का अभिधेय होना वस्तुवशात् होगा तो वे दोनों व्यक्ति एक पुरुष हो जाएंगे। क्योंकि वे दोनों उपगुप्त-बुद्धि में भिन्न-भिन्न प्रतिभासित नहीं होते। किन्तु वे दोनों एक नहीं हैं, अतः वस्तु का शब्दाभिधेय होना वस्तुवशात् नहीं होता।

मार्ग एवं फल व्यवस्था

मार्ग के आधार गोत्र का विचार– सभी सत्त्वों की सन्तान में निश्चित रूप में बुद्धगोत्र होता है। चित्त की स्वभावतः निर्मलता की 'बुद्धगोत्र' है। पृथग्जन एवं शैक्ष की अवस्था में यद्यपि गोत्र आगन्तुक मलों से मलिन रहता है, फिर भी प्रकृति (स्वभाव) से वह निर्मल ही होता है। यदि वह स्वभावतः मलिन होगा तो प्रतिपक्ष (मार्गों) का अभ्यास (भावना) करने पर वह निर्मल न हो सकेगा, जैसे कोयले को कितना भी साफ किया जाए, धोया जाए फिर भी वह सफेद नहीं होता। वह गोत्र फलावस्था में बुद्ध के सर्वज्ञ ज्ञान या ज्ञानधर्मकाय के रूप में परिणत हो जाता है। यही गोत्र मार्ग का आश्रय है।

इनके मत में भी तीन यान होते हैं, यथा- श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं महायान (बोधिसत्त्वयान)। इनका स्वरूप आगमानुयायी विज्ञानवादियों की ही तरह है। किन्तु इनकी एक विशेषता है। ये एकयानवादी होते हैं। अर्थात् तीनों यानों के अनुसार साधना करते हुए जब साधक अन्तिम फल प्राप्त कर लेता है तो गन्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, अपितु अभी गन्तव्य अवशिष्ट रहता है। आशय यह है कि श्रावकयानी या प्रत्येकबुद्धयानी पुद्गल जब निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त कर लेता है, तो उस पुद्गल के सास्रव स्कन्धों की धारा यद्यपि समाप्त हो जाती है, किन्तु धारा समाप्त नहीं होती, अपितु अनास्रव स्कन्धों की धारा प्रवृत्त होते रहती है। अर्थात् चित्तधारा कभी समाप्त नहीं होती। कालान्तर में बुद्ध की महाकरुणा के बल से साधक का महायान में प्रवेश होता है और अन्त में बुद्धत्व का लाभ होता है। इस तरह इनके मत में एक ही यान अर्थात् महायान या बुद्धयान होता है। क्योंकि परवर्ती ज्ञान का उपादान पूर्ववर्ती ज्ञान होता है, अतः ज्ञानधारा के समाप्त होने का प्रश्न ही नहीं है। इसी के आधार पर ये लोग पुनर्जन्म सिद्ध करते हैं।

पुनर्जन्म की व्यवस्था– ज्ञान का उपादान कारण अवश्य पूर्ववर्ती ज्ञान ही होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि ज्ञान का उपादान जड़ पदार्थ हो। अर्थात् जड़ आदि पदार्थ ज्ञान के रूप में परिणत नहीं होते। यदि जड़ पदार्थ ज्ञान के कारण होंगे तो चार महाभूतों से भी ज्ञान उत्पन्न होने लगेगा। यदि महाभूत ज्ञान के कारण होंगे तो पृथ्वी आदि सविज्ञानक

(सजीव) होने लगेंगे और मृतशरीर भी ज्ञान से युक्त होने लगेगा। प्रकाश और वित्ति ज्ञान का लक्षण है। सूर्य में प्रकाश है, वित्ति नहीं; पुद्गल में वित्ति है, किन्तु प्रकाश नहीं। जिसमें वित्ति और प्रकाश दोनों होते हैं, वह धर्म 'ज्ञान' कहलाता है। फैलना, सिकुड़ना आदि क्रियायें भी ज्ञान के लक्षण नहीं हैं। ये क्रियाएं शीत, ऊष्मा एवं वायु के संघात आदि से निष्पन्न होती हैं। फलतः महाभूतों में ज्ञान नहीं होता। अन्यथा शिक्षा देने पर वृक्षों आदि को भी भाषाज्ञान हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः सिद्ध होता है कि पूर्ववर्ती ज्ञान परवर्ती ज्ञान का उपादान कारण होता है-यह व्याप्ति निश्चित होती है। माता के गर्भ से उत्पन्न शिशुओं की बुद्धियों में तीक्ष्णता, मन्दता आदि भेद होते हैं। ये भेद किसी पूर्ववर्ती अभ्यास से ही हो सकते हैं, अन्यथा महाभूत तो सबमें समान ही होते हैं। विश्व के सभी कर्म अभ्यास से ही होते हैं, उत्पन्न होते ही शिशु का हंसना, रोना, स्तनपान करना आदि भी पूर्वाभ्यास से ही होते हैं। ये पूर्वाभ्यास पूर्व जन्म मानने पर ही हो सकते हैं। अतः पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

युक्ति प्रयोग

(१) अभी उत्पन्न शिशु की बुद्धि (पक्ष), बुद्धिपूर्वगामिनी है (साध्य), बुद्धि होने से (हेतु), प्रत्युत्पन्न बुद्धि के समान (दृष्टान्त)।

(२) अभी उत्पन्न शिशु के श्वास-प्रश्वास (पक्ष), पूर्व श्वास-प्रश्वासानुगामी हैं (साध्य), श्वास-प्रश्वास होने से (हेतु), वर्तमान श्वास-प्रश्वास के समान (दृष्टान्त)।

(३) अभी उत्पन्न शिशु की इन्द्रियाँ (साध्य), इन्द्रिय-पूर्वगामिनी हैं (साध्य), इन्द्रिय होने से (हेतु), वर्तमान इन्द्रिय के समान (दृष्टान्त)।

पूर्व जन्म सिद्ध हो जाने पर उन्हीं युक्तियों से अपर जन्म भी अपने-आप (स्वतः) सिद्ध हो जाता है।

मरणकालिक अन्तिम चित्त (पक्ष), अपने से पश्चाद्वर्ती चित्त का उपादान कारण (उत्पादक) है (साध्य), चि त्त होने से (हेतु), प्रत्युत्पन्न चित्त के समान (दृष्टान्त)।

इन युक्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि चित्तसन्तति सर्वदा प्रवृत्त होती रहती है, कभी विच्छिन्न नहीं होती। इन युक्तियों के विस्तृत ज्ञान के लिए प्रमाणवार्तिक देखना चाहिए।

आत्मदृष्टि की संसारमूलकता– चित्त में विद्यमान दोषों का प्रहाण किया जा सकता है कि नहीं ? जब विचार किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रहाण किया जा सकता है, क्योंकि वे राग, अविद्या आदि दोष किन्हीं हेतुओं से उत्पन्न होते हैं, अतः अनित्य एवं आगन्तुक हैं। जब यह विचार प्रवृत्त होता है कि ये राग, द्वेश आदि दोष और दुःख किन हेतुओं से उत्पन्न होते हैं तो यह निश्चित होता है कि इन सारे दोषों और दुःखों का मूल आत्मदृष्टि है। जब हम इस विषय पर विचार करते हैं कि यह आत्मदृष्टि

सम्यग्ज्ञान है कि नहीं तो यह सोचना पड़ता है कि आत्मदृष्टि का विषय क्या है। यदि कहा जाए कि आत्मदृष्टि का विषय 'आत्मा' है, तब विचार करना होता है कि आत्मा की सत्ता है या नहीं ? नाना युक्तियों से चिन्तन करने पर यह सिद्ध होता है कि आत्मा नहीं है और नैरात्म्य (निरात्मकता) ही सत्य है। फलतः आत्मदृष्टि एक प्रकार का मिथ्याज्ञान है यह निश्चित हो जाता है।

युक्तिप्रयोग– आत्मदृष्टि (पक्ष), अवश्य प्रहीण होगी (साध्य), क्योंकि उसका प्रबल प्रतिपक्ष विद्यमान है अर्थात् नैरात्म्यज्ञान (= प्रज्ञा) विद्यमान है (हेतु), जैसे सूर्य रूपी प्रतिपक्ष के विद्यमान होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है (दृष्टान्त)।

इस युक्तिप्रयोग से मोक्ष भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि अविद्या, राग आदि का क्षय होता है और अविद्या तृष्णा आदि का क्षय ही 'मोक्ष' है। महायान का उद्देश्य क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का अशेष प्रहाण कर बुद्ध प्राप्त करना है। इसे ही 'महामोक्ष' भी कहते हैं। बाह्यार्थ दृष्टि ही इस महामोक्ष या सर्वज्ञता की बाधक है। विज्ञप्तिमात्रता के सम्यग् ज्ञान से बाह्यार्थदृष्टि का प्रहाण होता है, अतः महामोक्ष भी सिद्ध होता है।

युक्तिप्रयोग– बाह्यार्थदृष्टि (पक्ष), अवश्य समाप्त होगी (साध्य), मिथ्यादृष्टि होने से (हेतु), रज्जुसर्पदृष्टि के समान (दृष्टान्त)।

इससे ज्ञेयावरण का प्रहाण होना सिद्ध होता है और ज्ञेयावरण के प्रहाण से व्यक्ति बुद्ध होता है।

इन उपर्युक्त हेतुओं से यान एक ही है और वह महायान ही एकमात्र अन्तिम यान है, यह भी सिद्ध होता है।

इतना ज्ञान होने पर व्यक्ति का महायान में प्रवेश होता है। इस महायान में भी सम्भारमार्ग से लेकर अशैक्षमार्ग तक पाँच मार्ग होते हैं। उनके लक्षण और स्वरूप आदि वैसे ही हैं, जैसे आगमनानुयायी विज्ञानवाद के प्रतिपादन के अवसर पर पहले कहे गये हैं।

प्रमाण और प्रमाणफल व्यवस्था

(बौद्धन्याय)

इनके मत में भी दो प्रमाण और प्रत्यक्ष के चार प्रकार वैसे ही माने जाते हैं, जैसे सौत्रान्तिक मानते हैं।

प्रमाण– अविसंवादकता और अपूर्वगोचरता प्रमाण का लक्षण है। अर्थात् वही ज्ञान प्रमाण कहला सकता है, जिसमें यह सामर्थ्य हो कि अपने द्वारा दृष्ट वस्तु को प्राप्त करा सके तथा जो अपने बल से वस्तु को जाने, अन्य पर निर्भर होकर नहीं।

प्रामाण्य– ज्ञान की अविसंवादकता और अपूर्वगोचरता स्वतः सिद्ध होती है या परतः (अर्थात् अन्य प्रमाणों से) ? यदि स्वतः प्राणाण्य निश्चित होता है तो किसी भी व्यक्ति को प्रमाण और अप्रमाण के विषय में कभी अज्ञान ही नहीं होगा। यदि परतः (दूसरे प्रमाण से) प्रामाण्य निश्चित होता है तो उस दूसरे प्रमाण के प्रामाण्य के लिए अन्य (तीसरे) प्रमाण की आवश्यकता होगी। इस तरह अनवस्था दोष होगा ?

समाधान– जितने प्रमाण होते हैं, वे सभी न तो एकान्त रूप से स्वतः प्रमाण होते और न परतः प्रमाण होते हैं। उनमें कुछ स्वतः प्रमाण होते हैं और कुछ परतः।

प्रश्न– स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य क्या है ? याने प्रमाण स्वबल से विषय का निश्चय करता है या विषयी का निश्चय करता है ? अर्थात् विषय के निश्चय से प्रामाण्य निश्चित होता है कि विषयी के निश्चय से ?

समाधान– जो प्रमाण अपनी अविसंवादकता का निश्चय स्वतः अपने बल से कर लेता है, वह 'स्वतः प्रमाण' तथा जिसकी अविसंवादकता परतः (दूसरे प्रमाण से) निश्चित होती है, वह 'परतः प्रमाण' कहलाता है।

प्रश्न – यदि स्वतः या परतः प्रमाण का लक्षण उक्त प्रकार का है तो अनुमान स्वतः प्रमाण नहीं हो सकेगा, जब कि सिद्धान्ततः अनुमान स्वतः प्रमाण माना जाता है, क्योंकि चार्वाक का कहना है कि धूम हेतु से वह्नि को जानने वाला अनुमान अपनी अविसंवादकता का निश्चय स्वतः नहीं कर सकता ?

समाधान– दोष नहीं है। यद्यपि चार्वाक पूछने पर यह कहेगा कि अनुमान प्रमाण नहीं है, फिर भी उसकी चित्तसन्तति में धूम से वह्नि को जानने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है और उससे वह जानता है कि पर्वत में वह्नि है और उस ज्ञान को वह सही ज्ञान भी समझता है। अतः अनुमान स्वतः प्रमाण सिद्ध होता है।

सभी स्वसंवेदन स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे अपनी अविसंवादकता को स्वयं निश्चयपूर्वक जानते हैं। योगी प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण है। पृथग्जन का मानस प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। भावनाप्राप्त पृथग्जन योगी का मानस प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण होता है। आर्य का मानस प्रत्यक्ष भी स्वतः प्रमाण है।

साधनप्रवृत्त, अपोहप्रवृत्त, सामान्यलक्षण, सविकल्प, निर्विकल्प इत्यादि का स्वरूप एवं विचार सौत्रान्तिकों के समान ही इस मत में भी मान्य हैं।

ज्ञान सात प्रकार के होते हैं, यथा- १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. अधिगतविषयक ज्ञान, ४. मनोविचार, ५. प्रतिभास-अनिश्चयाक, ६. मिथ्याज्ञान एवं ७. सन्देह।

१. और २. स्पष्ट है।

३. चक्षुर्विज्ञान आदि ज्ञान अपने उत्पादन के द्वितीय क्षण से लेकर जब तक उनकी धारा समाप्त नहीं होती, 'अधिगतविषयक ज्ञान' हैं।

४. जो ज्ञान सम्यक् लिङ्ग पर आश्रित (अनुमान) नहीं होता तथा अनुभवात्मक (प्रत्यक्ष) भी नहीं होता, किन्तु अपने विषय का बिना संशय के ग्रहण करता है, ऐसा अध्यवसायात्मक ज्ञान 'मनोविचार' कहलाता है। इसके तीन प्रकार हैं- (क) अहेतुक मनोविचार, (ख) अनैकान्तिक मनोविचार, (ग) विरुद्ध मनोविचार।

(क) अहेतुक मनोविचार– बिना किसी हेतु के और बिना संशय के यह जानना कि 'शब्द अनित्य है' या 'सर्वज्ञ होता है'- यह 'अहेतुक मनोविचार' कहलाता है।

(ख) अनैकान्तिक मनोविचार– 'शब्द अनित्य है,-क्योंकि वह प्रमेय है'- इस प्रकार के अनैकान्तिक प्रमेय हेतु से उत्पन्न शब्दानित्यता का ज्ञान 'अनैकान्तिक मनोविचार' है।

(ग) विरुद्ध मनोविचार– 'शब्द अनित्य है, क्योंकि अकृतक है'- इस प्रकार के विरुद्ध हेतु से उत्पन्न शब्दानित्यता का ज्ञान 'विरुद्ध मनोविचार' है।

५. प्रतिभास-अनिश्चायक– विषय का प्रतिभास होने पर भी जब निश्चय नहीं होता, तो ऐसे ज्ञान को 'प्रतिभास-अनिश्चायक' कहते हैं। उदाहरणार्थ दूर से आते हुए अपने गुरु का ज्ञान में प्रतिभास होने पर भी यह निश्चय नहीं होता कि प्रतिभासित व्यक्ति गुरु ही है तथा अन्यगतमानस पुद्गल का श्रोत्रविज्ञान और पृथग्जन का रुपज्ञ, शब्दज्ञ आदि मानस प्रत्यक्ष 'प्रतिभास-अनिश्चायक' ज्ञान है।

६. और ७. स्पष्ट है।

सभी मनोविचार अविसंवादी ज्ञान नहीं होते, क्योंकि वे संशय एवं विपर्यय आदि मिथ्या विप्रतिपत्तियों का निरास कर विषय का स्पष्ट परिच्छेद (अवबोध) नहीं करते। अविसंवादी ज्ञान होने के लिए विप्रतिपत्तियों का निरास करना आवश्यक है। अन्यथा परवादी द्वारा संशय पैदा किया जा सकता है।

प्रमाणफल– इसकी दो प्रकार से व्यवस्था की जाती है, - (१) बाह्यार्थवादी-साधारण और (२) असाधारण।

(१) बाह्यार्थवादी-साधारण– नीन प्रमेय में अनधिगत अविसंवादी नीलाकार ज्ञान प्रमाण तथा विप्रतिपत्तिनिरास पूर्वक नील-परिच्छेद (अवपिरीत अवबोध) प्रमाणफल है।

(२) असाधारण– प्रज्ञप्त नील प्रमेय में अनधिगत अविसंवादी ज्ञान प्रमाण तथा प्रज्ञप्त नील का परिच्छेद 'प्रमाणफल' हैं।

●

माध्यमिक दर्शन
(शून्यवाद)

परिभाषा- सत्त्व (सत्ता) और असत्त्व (असत्ता) के मध्य में स्थित होना 'माध्यमिक' शब्द का अर्थ है। अर्थात् सभी सभी धर्म परमार्थतः (सत्यतः) सत् नहीं हैं और संवृतितः (व्यवहारतः) असत् भी नहीं हैं-ऐसी जिनकी मान्यता है, वे 'माध्यमिक' कहलाते हैं।

माध्यमिकों के भेद-माध्यमिक दो प्रकार के होते हैं, यथा-१. स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं २. प्रासङ्गिक माध्यमिक। 'स्वातन्त्रिक' और 'प्रासङ्गिक'-यह नामकरण भोट देश के विद्वानों द्वारा किया गया है। भारतीय मूल ग्रन्थों में यद्यपि उनके सिद्धान्तों की चर्चा और वाद-विवाद उपलब्ध होते हैं, किन्तु उपर्युक्त नामकरण उपलब्ध नहीं होता।

(१) स्वातन्त्रिक माध्यमिक

व्यावहारिक सत्ता की स्थापना में मतभेद के कारण इनके भी दो भेद होते हैं, यथा-(क) सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं (ख) योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक।

(क) सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक- ये लोग व्यवहार की स्थापना प्रायः सौत्रान्तिक दर्शन की भाँति करते हैं। इसलिए इन्हें 'सौत्रान्तिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक' भी कहते हैं। अर्थात् अठारह धातुओं में संगृहीत धर्मों की स्थापना व्यवहार में ये सौत्रान्तिकों की भाँति करते हैं। आचार्य भावविवेक या भव्य एवं ज्ञानगर्भ आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हैं।

विचार विन्दु- इनके मतानुसार व्यवहार में बाह्यार्थ की सत्ता मान्य है। इन्द्रियज ज्ञान मिथ्याकार नहीं होते, अपितु सत्याकार होते हैं। वे (ज्ञान) अपने विषय के आकार को ग्रहण करते हुए उन (विषयों) का ग्रहण करते हैं। सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक पूर्वापरकालिक कार्यकारणभाव मानते हैं, समकालिक नहीं। अर्थात् कारण और कार्य का एक काल में (युगपद्) समवस्थान नहीं होता। दशभूमक सूत्र के **"चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम्"** (अर्थात् बोधिसत्त्वों, ये तीनों अर्थात् काम, रूप और अरूप धातुएं चित्तमात्र हैं) इस वचन का अर्थ ये लोग ऐसा नहीं मानते कि इसके द्वारा बाह्यार्थ का निराकरण और चित्तमात्रता की स्थापना की गई है, अपितु इस वचन के द्वारा चित्त से अतिरिक्त कोई ईश्वर, महेश्वर आदि इस लोक का कर्ता है, जैसा तैर्थिक (बौद्धेतर दार्शनिक) मानते हैं, उस (मान्यता) का खण्डन किया गया है, बाह्यार्थ का नहीं। लङ्कावतार सूत्र के :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।।

(लङ्कावतारसूत्र, ३ : ३३)

(अर्थात् बाह्य दृश्य (अर्थ) विद्यमान नहीं हैं, चित्त ही विविध आकार में दिखलाई पड़ता है। देह, भोग, भाजन आदि सब कुछ चित्तमात्र हैं-ऐसा मैं कहता हूँ)।

इस वचन का अभिप्राय भी बाह्यार्थ के निषेध में नहीं है, अपितु बाह्यार्थों की परमार्थतः सत्ता नहीं है-इतना मात्र अर्थ है। इतना ही नहीं, जितने भी सूत्रवचन विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिपादन करते हुए से दृष्टिगोचर होते हैं, भावविवेक के मतानुसार उनका वैसा अर्थ नहीं है। अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता किसी भी सूत्र का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है।

क्योंकि बाह्यार्थ की व्यवहारतः सत्ता है, इसलिए रूप, शब्द आदि संघातवस्था के प्रत्येक परमाणु इन्द्रियविज्ञान के आलम्बन होते हैं। वे परमाणु इन्द्रियविज्ञान में आभासित नहीं होते-ऐसा नहीं, अपितु आभासित भी होते हैं। सेना, वन आदि विभिन्न आश्रयों में सञ्चित विजातीय परमाणुओं की राशि की द्रव्यसत्ता नहीं है। अर्थात् सेना, वन आदि द्रव्यसत् नहीं हैं। एक ही आश्रय में सजातीय परमाणुओं के सञ्चय की द्रव्यसत्ता होती है, जैसे-घट आदि। आशय यह है कि विजातीय परमाणुओं का सञ्चय द्रव्यसत् नहीं होता, जैसे- सेना, वन आदि। किन्तु सजातीय परमाणुओं का संचय द्रव्यसत् होता है, जैसे-घट आदि।

द्विचन्द्राभास आदि भ्रान्त ज्ञान भी एक चन्द्र के बिना नहीं हो सकते। अर्थात् द्विचन्द्रज्ञान के उत्पाद के लिए भी एक चन्द्र का आलम्बन आवश्यक है। यदि एक चन्द्र का भी अस्तित्व न माना जाएगा तो द्विचन्द्रज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि एक चन्द्र भी बाहर सत् नहीं होगा तो केवल वासना मात्र से द्विचन्द्रज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, जैसे- अमावस्या की रात्रि में चन्द्रज्ञान उत्पन्न नहीं होता। फलतः ज्ञान बाह्यार्थ-आलम्बन के बिना कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते।

अपि च, यदि बाह्यार्थों का अस्तित्व न माना जाएगा तो **"सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः"** (अर्थात् इन्द्रियविज्ञान संचित आलम्बन से उत्पन्न होते हैं)-इस वचन का भी अपवाद होगा। अर्थात् सूत्रविरोध का दोष होगा। क्योंकि उस स्थिति में इन्द्रियविज्ञानों का परमार्थतः या व्यवहारतः किसी भी तरह आलम्बन से उत्पन्न होना अयुक्त हो जाएगा।

बाह्यार्थ की सत्ता मानने के कारण आचार्य भावविवेक आलयविज्ञान की सत्ता नहीं मानते। यदि वे आलयविज्ञान मानते तो बाह्यार्थ न होने पर भी आलयविज्ञान स्थित बाह्यार्थवासनाओं से ही बाह्यार्थावभासी विज्ञप्तियाँ उत्पन्न हो जातीं, अतः उन्हें प्रयत्नपूर्वक बाह्यार्थ सिद्ध करने के लिए आयास नहीं करना पड़ता। मध्यमकहृदय नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि विज्ञानवादी लोगों ने आलयविज्ञान के नाम से वस्तुतः आत्मा की ही स्थापना कर दी है, दोनों में केवल नाममात्र का ही अन्तर (भेद) है। उनमें और आत्मवादी तैर्थिकों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। वे (भावविवेक) क्योंकि आलयविज्ञान नहीं मानते, अतः क्लिष्टमनोविज्ञान मानने की भी आवश्यकता नहीं रहती। फलतः चक्षुर्विज्ञान से मनोविज्ञान तक केवल छह (षड्गण) विज्ञान मानते हैं।

भावविवेक स्वसंवेदन भी नहीं मानते। उनका कहना है कि ज्ञान का स्वयं अपने को आलम्बन बनाना (स्वसंवेदन) व्यवहारतः भी अयुक्त है। ज्ञान चाहे जितना अभिव्यक्त हो, वह स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता, जैसे कितना भी शिक्षित नटबटु अपने स्कन्धों (कन्धों) पर आरूढ नहीं हो सकता। ज्ञान का अपने को आलम्बन बनाने में कर्मकर्तृविरोध होता है। अर्थात् किसी क्रिया का कर्ता ही उस क्रिया का कर्म नहीं हो सकता। ऐसा होना विरुद्ध है। अतः स्वसंवेदन व्यवहारतः भी असिद्ध है। विशेष ज्ञान के लिए उनके मध्यकहृदय का अवलोकन करना चाहिए।

स्वलक्षणपरीक्षा-विज्ञानवादियों के मतानुसार प्रज्ञापारमितासूत्रों में प्रतिपादित सर्वधर्मनिःस्वभावता का तात्पर्य यह है कि परिकल्पितलक्षण लक्षणनिःस्वभाव हैं, परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव हैं तथा परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थनिःस्वभाव हैं।

भावविवेक विज्ञानवादियों से पूछते हैं कि उस परिकल्पित लक्षण का स्वरूप क्या है, जो लक्षणनिःस्वभाव होने के कारण निःस्वभाव कहलाता है। यदि रूपादिविषयक शब्द एवं कल्पनाबुद्धि से इसका तात्पर्य है तो यह महान् अपवादक होगा, क्योंकि शब्द और कल्पनाबुद्धि पञ्चस्कन्धों में संगृहीत होने वाली वस्तु हैं। यदि यह कहें कि वे शब्द और कल्पनाबुद्धि परिकल्पित नहीं हैं, अपितु उनके द्वारा आरोपित अर्थ परिकल्पित हैं और वे ही लक्षणनिःस्वभाव हैं, क्योंकि उनकी स्वलक्षणसत्ता नहीं है, जैसे रज्जु में सर्पबुद्धि द्वारा आरोपित सर्प की सत्ता नहीं होती। भावविवेक कहते हैं कि तब भी दोष से मुक्ति नहीं है, क्योंकि रज्जु में सर्पबुद्धि द्वारा आरोपित अर्थ (सर्प) की यद्यपि सत्ता नहीं होती, तथापि सर्पबुद्धि के अर्थ (सर्प) की सत्ता तो होती है, क्योंकि सर्प की सत्ता है। उसी प्रकार समझने वाली बुद्धि का विषय तो होता है। यहाँ पर सत्ता का अभिप्राय स्वलक्षण सत्ता से है, क्योंकि यहाँ परिकल्पितलक्षण की निःस्वलक्षणता पर विचार हो रहा है।

भावविवेक पुनः कहते हैं कि शब्द, कल्पना और उनके द्वारा आरोपित विषय सबकी पारमार्थिक सत्ता का यदि प्रतिषेध करना चाहते हो तो तुम विज्ञानवादी हमारे माध्यमिक दर्शन का ही अनुसरण कर रहे हो। इन कथनों के द्वारा भावविवेक आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र के उन वचनों का अभिप्राय प्रकट करते हैं, जिनमें परिकल्पित लक्षण को लक्षणनिःस्वभाव कहा गया है। इस व्याख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि भावविवेक व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानते हैं। भावविवेक के अनुसार शून्यता का प्रतिषेध्य केवल स्वलक्षणसत्ता नहीं है, अपितु 'परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता' है। इसीलिए वे 'परमार्थतः' इस विशेषण पर बहुत बल देते हैं। उनके मतानुसार स्वलक्षणसत्ता और स्वभावसत्ता पर्यायवाची है। व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानने के कारण वे व्यवहार में स्वभावसत्तावादी हैं। नागार्जुन के शास्त्रों में जो निःस्वभावता उल्लिखित है, उसका अर्थ भावविवेक 'परमार्थतः निःस्वभावता' समझते हैं।

यों तो माध्यमिक शास्त्रों में स्वलक्षणसत्ता, स्वभावसत्ता, द्रव्यसत्ता आदि शब्दों का प्रयोग सभी ने सर्वत्र किया है, इसलिए यह भेद करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि कौन क्या मानता है, परन्तु भावविवेककृत मूलमाध्यमिक-कारिकाटीका प्रज्ञाप्रदीप के उपर्युक्त अंश से स्पष्ट हो जाता है कि भावविवेक के अनुसार 'परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता' शून्यता का प्रतिषेध्य है, 'स्वलक्षणसत्ता' नहीं। परमार्थतः स्वलक्षणसत्ता का प्रतिषेध शून्यता है। स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में होती है। अतः उसका प्रतिषेध नहीं किया जाता है।

स्वलक्षणसत्ता ही ऐसा मर्मस्थल है, जिसके आधार पर स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक माध्यमिकों का दर्शन एक दूसरे से भिन्न हो जाता है।

परमार्थतः सत्ता के निषेध की युक्तियाँ– हेतु और साध्य में अन्वयव्याप्ति के दृष्टान्त की सरलता देखकर वे निम्न युक्तियाँ प्रयुक्त करते हैं :

चक्षुर्विज्ञान (पक्ष), परमार्थतः रूप को नहीं देखता (साध्य), इन्द्रिय होने से (हेतु), श्रोत्रविज्ञान के समान (दृष्टान्त)।

पृथ्वी (पक्ष), परमार्थतः कठोर स्वभाव वाली नहीं है (साध्य), महाभूत होने से (हेतु), जल महाभूत के समान (दृष्टान्त)।

इसी प्रकार अन्य अनेक युक्तियों द्वारा परमार्थसत्ता का निषेध किया जाता है।

नागार्जुन और आर्यदेव के ग्रन्थों में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। भावविवेक उन्हीं प्रयोगों को लेकर उनका विस्तार करते हैं।

यदि पृथ्वी परमार्थतः कठोर स्वभाववाली (खरस्वभावा) होगी और चक्षुर्विज्ञान परमार्थतः रूप को देखने वाला होगा तो महाभूतों की समानता की वज़ह से कठोरता और मृदुता में अन्तर (भेद) नहीं किया जा सकेगा और इन्द्रियों में समानता की वज़ह से रूप को देखने और नहीं देखने में अन्तर नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि अन्तर (भेद) करने वाले हेतु उपलब्ध नहीं हैं।

यदि कोई वस्तु परमार्थतः सत् है तो वह जैसी अवभासित हो रही है, वैसी उसे अपनी स्थिति (सत्ता) के वश से अर्थात् स्वग्राहक बुद्धि की विना अपेक्षा किए अवभासित होना चाहिए। आशय यह है कि यदि वस्तु स्ववश से है याने स्वतः सिद्ध है तो उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं करना चाहिए, किन्तु वस्तु अपनी स्थिति के लिए बुद्धि की अपेक्षा करती है, अतः महाभूततुल्यता की वज़ह से कठोर और अकठोर में अन्तर (भेद) करने वाले प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरणार्थ यदि धूम अग्नि की विना अपेक्षा किए स्वतः उत्पन्न होगा तो सर्वत्र धूम होने का प्रसङ्ग होगा या कहीं भी न होने का प्रसङ्ग होगा।

इस तरह वस्तु की स्वभावतः (स्वलक्षणतः) सत्ता मानने पर भी भावविवेक उसकी परमार्थतः सत्ता नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि परमार्थतः सत्ता होगी तो

हेतु-प्रत्यय-सामग्री की विना अपेक्षा किए उसे (वस्तु को) हेतुप्रत्ययनिरपेक्षतया स्वतः उपलब्ध होना चाहिए। किन्तु भूत, भौतिक समस्त वस्तुएं अष्टद्रव्यात्मक संघात के रूप में ही उपलब्ध होती हैं। चित्त-चैतसिक भी परस्पर अविनाभूत रूप में ही उपलब्ध होते हैं। अर्थात् चित्त के विना चैतसिक और चैतसिक के विना चित्त स्वतन्त्रतया पृथक् उपलब्ध नहीं होते। अतः सभी वस्तुएं हेतु-प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा से ही उत्पन्न होती हैं। निरपेक्षतया कुछ भी उत्पन्न नहीं होते। फलतः सभी वस्तुएं अपरमार्थसत् एवं अद्रव्यसत् सिद्ध होती हैं।

सौत्रान्तिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत के शास्त्रों में इसी प्रकार की युक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, यथा- यदि वस्तु परमार्थतः सत् हो तो उसका स्वरूप अन्यनिरपेक्ष, स्वतन्त्रतया पृथक् उपलब्ध होना चाहिए। यदि स्वतन्त्र और पृथक् उपलब्ध होता है-ऐसा कहा जाए तो ये उसमें अनेक बाधाएं प्रदर्शित करते हैं। इनके ग्रन्थों में योगाचार माध्यमिक मत के आचार्यों के शास्त्रों की भाँति अवयव-अवयवी का खण्डन करने के लिए एकानेक-वियुक्तत्व युक्ति का अधिक प्रयोग उपलब्ध नहीं होता।

(ख) योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक- ये लोग निःस्वभावतावादी माध्यमिक होते हुए भी व्यवहार की स्थापना योगाचार दर्शन की भाँति करते हैं, अतः 'योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक' कहलाते हैं। ये व्यवहार में बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानते, अतः तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्र व्यवस्थापित करते हैं। आचार्य शान्तरक्षित, कमलशील आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हैं। हम निम्नलिखित बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में इनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं, यथा-(१) परमार्थतः पुद्गल और धर्मों की स्वभावसत्ता पर विचार, (२) व्यवहारतः बाह्यार्थ की सत्ता पर विचार, (३) आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र का वास्तविक अर्थ तथा (४) परमार्थतः सत्ता का खण्डन करनेवाली प्रधान युक्ति का प्रदर्शन।

(१) परमार्थतः पुद्गल और धर्मों की स्वभावसत्ता पर विचार-आर्य सन्धिनिर्मोचनसूत्र में लक्षणनिःस्वभावता एवं उत्पत्तिनिःस्वभावता की चर्चा उपलब्ध होती है। उसकी जैसी व्याख्या आचार्य भावविवेक करते हैं, उसी तरह का अर्थ मध्यमकालोक में भी वर्णित है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शान्तरक्षित भी व्यवहार में स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार करते हैं। ज्ञात है आचार्य शान्तरक्षित ही इस मत के पुरःस्थापक हैं। इनके मत में भी वे ही युक्तियाँ प्रयुक्त हैं, जिनका आचार्य धर्मकीर्ति के सप्त प्रमाणशास्त्रों में कार्य-कारण की स्थापना के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया। इससे प्रतीत होता है कि ये व्यवहार में स्वभावसत्ता मानते हैं। फलतः इनके मतानुसार पुद्गल और धर्मों की परमार्थतः सत्ता नहीं होती, किन्तु उनकी व्यवहारतः सत्ता मान्य है।

(२) व्यवहारतः बाह्यार्थ सत्ता पर विचार-आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालङ्कार भाष्य में कार्य और कारण की सांवृतिक सत्ता के स्वरूप पर विचार किया है। उन्होंने वहाँ यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया है कि संवृतिसत् धर्म मात्र चित्तचैत्तात्मक

(विज्ञप्तिमात्रात्मक) हैं या उनकी बाह्यार्थतः सत्ता होती है? इसका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि उनकी बाह्यार्थतः सत्ता कथमपि नहीं होती। अर्थात् उनकी बाह्यातः सत्ता मानना नितान्त युक्तिविरुद्ध है। इसके लिए उन्होंने सहोपलम्भ युक्ति का वहाँ प्रयोग किया है तथा स्वप्न, माया आदि दृष्टान्तों के द्वारा व्यवहारतः उनकी विज्ञप्तिमात्रात्मकता प्रतिपादित की है।

उनका कहना है कि समस्त धर्मों को व्यवहारतः विज्ञप्तिमात्र मानने से आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र एवं आर्यघनव्यूहसूत्र-आदि से किसी प्रकार विरोध नहीं होता तथाः

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।।
(लङ्कावतारसूत्र, ३ : ३३)

इस लङ्कावतारसूत्र से भी अविरोध होता है।

विज्ञप्तिमात्रता को मानने पर पुद्गल, आत्मा-आत्मीय, ग्राह्य-ग्राहक, अभिधान-अभिधेय आदि जितने द्वैत प्रपञ्च हैं, उनका निराकरण आसान हो जाता है। त्रैधातुक समस्त विज्ञप्तिमात्र हैं-ऐसा अवबोध हो जाने पर यह जानना सरल हो जाता है कि विज्ञप्तिमात्र भी परमार्थतः सत् नहीं है। क्योंकि परमार्थतः विज्ञप्तिमात्र भी सत् नहीं, अपितु संवृतितः सत् ही है। परमार्थतः सत्ता तो किसी की भी नहीं होती और यही असत्ता 'शून्यता' है, जो माध्यमिकों का परमार्थ सत्य है। घट, पट आदि समस्त पदार्थ यद्यपि पारमार्थिकी सत्ता से शून्य हैं, तथापि सर्वथा अलीक नहीं हैं। उनकी व्यावहारिक सत्ता है। वे संवृतितः सत् होते हैं। सर्वप्रथम विज्ञप्तिमात्रता के आधार पर बाह्यार्थभाव का बोध हो जाता है। तदनन्तर बाह्यार्थभाव जान लेने पर यह विज्ञप्तिमात्रता भी परमार्थसत् नहीं है, इस तरह के अत्यन्त नैरात्म्य का अवबोध कर लेना चाहिए। व्यवहार में विज्ञप्तिमात्र होना (बाह्यार्थभाव होना) और परमार्थतः विज्ञप्तिमात्र का भी न होना-इन दोनों के ज्ञान से माध्यमिक शब्द का वास्तविक अर्थ ज्ञात होता है और महायान में प्रवेश होता है।

शान्तरक्षित का कहना है कि व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता आर्य नागार्जुन का सिद्धान्त है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए वे उनके युक्तिषष्टिका का ग्रन्थ से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, यथा :

महाभूतादिविज्ञाने प्रोक्तं समवरुध्यते।
तज्ज्ञाने विगमं याति ननु मिथ्याविकल्पितम्।।
(युक्तिषष्टिका, का. ३० संस्कृत छाया)

अर्थात् महाभूत आदि जितने ख्यात धर्म हैं, वे सब विज्ञान में संगृहीत हैं। इसके ज्ञान से मिथ्या ज्ञान वियुक्त होता है।

इस योगाचार माध्यमिक मत में जितने ज्ञानगत नीलाकार, पीताकार आदि होते हैं, वे सब आकार वस्तु (अर्थात् वास्तविक) माने जाते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति भी ऐसा मानते हैं। अतः आचार्य शान्तरक्षित व्यवहार में सत्याकार विज्ञानवादी माध्यमिक हैं-यह निश्चित होता है। ये बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानते, अतः ये स्वसंवेदन मानते हैं। अर्थात् स्वसंवेदनवादी हैं। इनके मत में आलयविज्ञान की सत्ता मानी जाती है कि नहीं? इसके बारे में इनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से स्थिति स्पष्ट नहीं होती। फिर भी ग्रन्थों के वातावरण से ऐसा प्रतीत होता है कि ये आलयविज्ञान नहीं मानते। भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोंखापा का भी ऐसा ही मन्तव्य है।

(३) आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र का वास्तविक अर्थ- 'परिकल्पितलक्षण लक्षणनिःस्वभाव हैं तथा अवशिष्ट दोनों लक्षण (अर्थात् परतन्त्र और परिनिष्पन्न लक्षण) वैसे नहीं है'-आर्यसन्धिनिर्मोचन के इस वचन का आचार्य शान्तरक्षित यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि परतन्त्रलक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण लक्षणनिःस्वभाव नहीं है, अपितु उनकी स्वलक्षणसत्ता है। किन्तु उनकी वह स्वलक्षणसत्ता पारमार्थिक नहीं, अपितु व्यावहारिक (सांवृतिक) है। परतन्त्र और परिनिष्पन्न की परमार्थतः सत्ता मानना नितान्त परिकल्पित है और उस परिकल्पित की परमार्थतः सत्ता शशशृङ्गवत् सर्वथा अलीक है। आशय यह है कि परतन्त्र और परिनिष्पन्न की परमार्थतः सत्ता परिकल्पित है और वह परिकल्पित लक्षणनिःस्वभाव (शशशृङ्गवत्) है। विज्ञान के गर्भ में उनकी व्यावहारिक (संवृतितः) स्वलक्षणसत्ता मानने में आपत्ति नहीं है। जो आकाश आदि परिकल्पितलक्षण हैं, वे शशशृङ्गवत् सर्वथा अलीक नहीं हैं, अपितु उनकी सांवृतिक सत्ता होती है। पारमार्थिक सत्ता की तो सांवृतिक सत्ता भी नहीं है।

पुनश्च, सन्धिनिर्मोचन में 'परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव है'-ऐसा कहा गया है। आचार्य शान्तरक्षित का कहना है कि इस वचन का अर्थ यथाशब्द अर्थात् शब्द के अनुसार ग्रहण नहीं करना चाहिए। अपितु यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि 'परतन्त्रलक्षण परमार्थतः उत्पत्तिनिःस्वभाव है'। अन्यथा अर्थात् यदि ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करेंगे और यथाशब्द अर्थ स्वीकार करेंगे तो उत्पत्तिनिःस्वभाव होने से परतन्त्र की उत्पत्ति ही नहीं होगी।

(४) परमार्थतः सत्ता का खण्डन करने वाली प्रधान युक्ति- ज्ञात है कि माध्यमिक शून्यतावादी हैं। शून्यता के द्वारा जिसका निषेध किया जाता है, उस निषेध्य का पहले निश्चय कर लेना चाहिए। तभी शून्यता का स्वरूप स्पष्ट होता है, क्योंकि निषेध्य का निषेध ही शून्यता है। निषेध्य में फर्क होने के कारण माध्यमिकों के आन्तरिक भेद होते हैं। अतः इस मत के अनुसार निषेध्य के स्वरूप का निर्धारण किया जा रहा है।

प्रश्न- सभी धर्मों की जब व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानी जाती है तो उससे अतिरिक्त 'परमार्थतः सत्ता' क्या है, जो निषेध्य मानी जाती है ?

समाधान- यदि इस अवसर पर परमार्थतः सत्ता या सत्यतः सत्ता को ग्रहण करने वाली बुद्धि का विषय क्या है-उस सत्ता का ग्रहण कैसे होता है ? इस तरह निषेध्य के सामान्य आकार का सम्यक् परिचय न होगा तो सभी धर्मों की परमार्थतः नहीं, अपितु अपरमार्थतः सत्ता या असत्यतः सत्ता है-ऐसे शब्दमात्र का कथन करने से कुछ भी सिद्ध (लाभ) नहीं होगा, जैसे लक्ष्य का विना अनुसन्धान किये तीर फेंकने से कुछ भी लाभ नहीं होता है।

'पृथ्वी आदि की परमार्थतः सत्ता नहीं है', इस वाक्य में प्रयुक्त 'परमार्थ' की तीन प्रकार की व्याख्या उपलब्ध होती है, यथा- (१) 'परमार्थ' शब्द में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द का मतलब है-ज्ञेय, परीक्ष्य या अवबोद्धव्य विषय। 'परम' का अर्थ है-उत्तम या श्रेष्ठ। इस तरह परमार्थ शब्द का अर्थ है-उत्तम ज्ञेय। (२) परम का अर्थ है, निर्विकल्प ज्ञान, उसका 'अर्थ' या विषय 'परमार्थ' है। (३) 'परम' शब्द का अर्थ है 'वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि'। 'अर्थ' का मतलब है, उस बुद्धि द्वारा परीक्षा करने पर उपलब्ध विषय। फलतः वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि द्वारा उपलब्ध विषय 'परमार्थ' है। इन तीनों प्रकार के निर्वचनों में तृतीय निर्वचन इस अवसर पर प्रसङ्गप्राप्त या ग्राह्य है।

यहाँ माध्यमिकों और अन्य सिद्धान्तवादियों में प्रमुख विचारणीय विषय यह है कि वस्तुसत्ता का अन्वेषण करने वाली बुद्धि द्वारा अन्वेषण (परीक्षा) करने पर कुछ उपलब्ध होता है या नहीं ? सभी लोग इस पर विचार करते हैं। क्योंकि परमार्थसत्ता और अपरमार्थसत्ता के निश्चय की यही कसौटी है। यदि उपलब्ध होता है तो परमार्थसत्ता है, यदि उपलब्ध नहीं होता है तो परमार्थतः सत्ता नहीं, अर्थात् अपारमार्थिक सत्ता है। 'परमार्थ' शब्द के 'अर्थ' का निरूपण कर देने पर अब हम 'सत्ता'-शब्द पर विचार करते हैं।

तृण, काष्ठ, लोष्ठ आदि मन्त्र एवं माया आदि के प्रभाव से अश्व, हस्ती आदि के रूप में मन्त्र-माया आदि से दूषित नेत्र वालों को दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय तृण, काष्ठ आदि की ओर से भी अश्व, हस्ती आदि का प्रतिभास होता है और नेत्र के दूषित होने से इन्द्रिय की ओर से भी अश्व, हस्ती आदि का प्रतिभास होता है। ऐसे ही बीज से अङ्कुर उत्पन्न होने का प्रतिभास होता है। उस समय अङ्कुर की ओर से भी उत्पाद का प्रतिभास होता है और बुद्धि की ओर से भी उत्पन्न होने का आभास होता है। अर्थात् अश्व आदि और अङ्कुर आदि की बुद्धि की ओर से भी एक आरोपित सत्ता होती है और वस्तु की ओर से भी सत्ता होती है।

प्रश्न- यदि वस्तु की ओर से भी अश्व, हस्ती आदि का प्रतिभास होता है तो अश्व आदि की पारमार्थिकी सत्ता हो जाएगी ? इसी तरह यदि अङ्कुर की ओर से भी उत्पाद होता है तो वह परमार्थतः उत्पत्ति हो जाएगी ?

समाधान-जब नेत्र आदि इन्द्रिय दूषित होते हैं, तभी तृण, काष्ठ आदि अधिष्ठान की ओर से अश्व, हस्ती आदि प्रतिभासित होते हैं। दोषरहित शुद्ध नेत्र वालों को वे प्रतिभासित नहीं होते। यदि परमार्थतः सत्ता होगी तो अदुष्ट (शुद्ध) नेत्रवालों को भी उन्हें प्रतिभासित होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता।

इसी प्रकार बीज से अङ्कुर का उत्पन्न होना भी व्यावहारिक बुद्धि के वश से ही होता है, स्ववश से नहीं। अर्थात् अङ्कुर अपनी स्थिति के वश से उत्पन्न नहीं होता। यदि केवल अपनी ओर से उत्पन्न होता तो विना हेतु-प्रत्ययों के भी उत्पन्न होता। फलतः स्वविषयी (अपने को ग्रहण करने वाली=स्वग्राहिका) बुद्धि में अवभास के बल से विना आरोपित (स्थापित) हुए अङ्कुर आदि वस्तुएं अपनी स्थिति के बल से (स्ववश से) उत्पन्न नहीं हैं।

अतः अङ्कुर आदि वस्तु को विषय बनाने वाली बुद्धि में अवभास के बल से विना स्थापित हुए अपनी स्थिति (सत्ता या स्वभाव) के बल से उत्पन्न होने को ग्रहण करने वाली बुद्धि 'वस्तुतत्त्वान्वेषिणी बुद्धि' या 'सत्यतः (परमार्थतः) ग्रहण करनेवाली बुद्धि' कहलाती है। उस बुद्धि का विषय परमार्थतः सत्ता या सत्यतः सत्ता कहलाता है।

परमार्थतः निःस्वभाव होने पर भी वस्तु को परमार्थतः स्वभाव ग्रहण करनेवाली अनादिकालीन वासना से उत्पन्न भ्रान्त बुद्धि के बल से 'होने' को संवृतितः सत्ता कहते हैं।

परमार्थतः सत्ता और संवृतितः सत्ता के उपर्युक्त लक्षण (स्वरूप) सभी स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में समान हैं।

सहज आत्मदृष्टिद्वय अर्थात् पुद्गलात्मदृष्टि एवं धर्मात्मदृष्टि सरीखी अविमृश्यकारिणी बुद्धि में अवभास के बल के व्यवहार की स्थापना या व्यावहारिक सत्ता की स्थापना नहीं की जा सकती, किन्तु जो बुद्धि अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं है, ऐसी व्यावहारिक अर्थात् प्रामाणिक बुद्धि में अवभास के बल से व्यावहारिक सत्ता (सांवृतिक सत्त') स्थापित की जा सकती है।

क्योंकि स्वातन्त्रिकों के मत में उक्त प्रकार की व्यावहारिक बुद्धि में प्रतिभास के बल से स्थापित व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है, अतः निषेध्य (परमार्थसत्ता) का परिचय (अन्वेषण) करने की अवस्था में 'स्वग्राहिणी बुद्धि प्रतिभास के बल से विना स्थापित' इतना विशेषण जोड़ा जाता है।

संसार के सभी प्राणियों को प्रायः ऐसा भान हुआ करता है कि समस्त धर्म स्वग्राहिणी बुद्धि द्वारा बिना स्थापित हुए केवल अपनी ओर से (अपने बल से) सत् (वस्तुतः सत्) हैं। किन्तु वस्तुस्थिति में ऐसा नहीं होता। वे स्वाग्राहिणी बुद्धि की ओर से भी स्थापित (आरोपित) होते हैं। अतः सभी धर्म मिथ्या हैं। अर्थात् उनकी सत्ता बुद्धि द्वारा भी आरोपित है।

उक्त प्रकार की सत्यतः सत्ता या परमार्थतः सत्ता से रहितता अर्थात् शून्यता यद्यपि घट, पट आदि समस्त धर्मों की पारमार्थिकी स्थिति है, उनकी प्रकृति है, फिर भी वह पारमार्थिक स्थिति या शून्यता स्वग्राहिणी बुद्धि में अवभास के बल से बिना स्थापित हुए अपने स्वभाव (स्थिति) के वश से सिद्ध नहीं है। इस प्रकार 'शून्यताशून्यता' का अर्थ समझना चाहिए।

उक्त प्रकार की सत्यतःसत्ता-दृष्टि इस सिद्धान्त के अनुसार सहज सत्यतादृष्टि है। नाम और अर्थ के सम्बन्ध से अपरिचित या सङ्केतग्रह से अनभिज्ञ प्राणी इसका युक्तिपूर्वक ग्रहण नहीं करते, फिर भी उनमें सहज अर्थदृष्टि होती है। इस प्रकार की यह सत्यतःसत्तादृष्टि यदि सही हो तो इसके विषय अर्थात् सत्यतः सत् वस्तु को वस्तुतत्त्वान्वेषिणी युक्तियों के सम्मुख परीक्षासह, निरवयव वस्तु एवं त्रिविध विशेषणों ये युक्त स्वभाव वाला होना चाहिए[1], किन्तु सत्यतः सत्तादृष्टि इस प्रकार परीक्षासह, निरवयवस्तु एवं त्रिविध विशेषणों से युक्त का ग्रहण करनेवाली दृष्टि नहीं है। इनका निषेध कर देने पर भी असत्यतः सत्ता निष्पन्न नहीं होती। अर्थात् वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि द्वारा परीक्षासह, निरवयव वस्तु आदि का निषेध कर देने से भी असत्यतः सत्ता, अपारमार्थिक सत्ता या सांवृतिक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

स्वातन्त्रिक मत में सत्यतः सत्ता दृष्टि का जैसा स्वरूप मान्य है, उसका भलीभाँति परिचय न होने के कारण कुछ ऐसा कहते हैं कि वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि का प्रमेय ही नहीं होता, यदि प्रमेय होगा तो सत्यतःसत्ता हो जाएगी। कुछ लोगों का कहना है कि उसका विषय ही नहीं होता। अन्य लोग वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि एवं वस्तुस्थिति को जाननेवाले अनुमान में भेद करके क्रमशः विषय है और विषय नहीं है-ऐसा मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी लोगों को स्वातन्त्रिकों की सत्यतःसत्ता दृष्टि से भलीभाँति परिचय ही नहीं है।

इस तरह निषेध्य का निश्चय हो जाने पर यह जानना आवश्यक है कि इस मत में निषेध्य का निषेध करने वाली प्रधान युक्ति कौन है?

स्वातन्त्रिक आचार्य प्रायः (अधिकतर) सम्बन्ध्यनुपलम्भ हेतु द्वारा निषेध्य का निषेध करते हैं। यह हेतु लङ्कावतारसूत्र एवं पितापुत्रसमागमसूत्र में कथित एकानेकस्वभाववियुक्तत्व हेतु से सिद्ध होता है। इसका प्रयोग आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालङ्कार में किया है। मध्यमकालोक में वज्रकणयुक्ति, सदसदनुपपत्तियुक्ति, चतुष्कोट्युत्पादानुपपत्ति एवं प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व आदि युक्तियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व युक्ति विरोध्यनुपलम्भ हेतु है[2]।

---

१. यदि वस्तु सस्वभाव हो तो उसे-(१) अकृत्रिम होना चाहिए, (२) अन्य निरपेक्ष होना चाहिए तथा (३) उसके स्वभाव में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। (लमरिम छेनमो, पृ. ३५०-इ७ ल्हासा-संस्करण)

२. इन युक्तियों के स्वरूप के बारे में द्रष्टव्य प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. २६३

प्रश्न- विरोध दिखलाने का प्रकार क्या है ?

समाधान- योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के विरोध-प्रदर्शन का प्रकार इस प्रकार है :

अपने द्वारा अथवा दूसरों द्वारा स्वीकृत सभी धर्म काल के अंश, देश के अंश और बुद्ध्याकार आदि अनेक अवयवों से युक्त होते हैं। अतः वे निश्चित ही निरवयव नहीं है। यदि वस्तु एक है तो उसका अनेक अवयात्मक होना यद्यपि व्यावहारिक अर्थ में विरुद्ध नहीं है, किन्तु पारमार्थिक अर्थ में यदि अवयव-अवयवी आदि भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात् स्वरूपतः पृथक्-पृथक् हैं तो वे परस्पर असम्बद्ध हो जाएंगे। यदि अवयव-अवयवी आदि एकात्मक होंगे अर्थात् स्वरूपतः अभिन्न होंगे तो जैसे अवयवी एक है, वैसे सभी अवयव एक हो जाएंगे अथवा जैसे अवयव अनेक हैं, वैसे अवयवी भी अनेक हो जाएगा। इस प्रकार बाधा दिखलाकर धर्मों (वस्तुओं) की पारमार्थिक सत्ता का निषेध किया जाता है। इस विषय में आचार्य आर्यदेव की **'पर्वभ्योऽङ्गुलिर्भिन्ना नास्ति'** इत्यादि युक्तियों को आधार बनाकर आचार्य शान्तरक्षित ने उनका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।

परतः उत्पाद का निषेध करते समय भी पहले धर्मों का नित्य और अनित्य में विभाजन करके नित्य से उत्पाद का निषेध किया जाता है। अनित्य से उत्पाद मानने पर समकालिक और असमकालिक में विभाजन कर समकालिक अनित्य से उत्पाद का खण्डन किया जाता है। असमकालिक या विषमकालिक से उत्पाद मानने पर उसका विनष्ट और अविनष्ट में विभाजन करके विनष्ट कारण से उत्पाद का निषेध करते हैं। अविनष्ट से उत्पाद मानने पर उसका व्यवहित और अव्यवहित में विभाजन कर व्यवहित कारण से उत्पाद का निषेध किया जाता है। यहाँ तक खण्डन करना तो अपेक्षाकृत सरल है।

अव्यवहित से उत्पाद मानने पर भी उसका सर्वतः अव्यवहित या एकदेशतः अव्यवहित में विभाजन कर यदि सर्वतः अव्यवहित से उत्पाद माना जाता है तो दोनों काल मिश्रित हो जाएंगे। अर्थात् कारण और कार्य एककालिक हो जाएंगे, जैसे कलापान्तर्वर्ती दो परमाणु यदि सर्वतः अव्यवहित हों तो वे एकदेशवर्ती हो जाते हैं। अर्थात् उनका एक देश में मिश्रण हो जाता है। यदि एकदेशतः अव्यवहित होंगे तो सावयव होने से वे सांवृतिक हो जाएंगे। मध्यमकालोक में इनका विस्तृत निरूपण किया गया है। अतः विस्तारपूर्वक ज्ञान के लिए उसका अवलोकन करना चाहिए।

इसी क्रम में विरोध-प्रदर्शन के लिए अन्तिम युक्ति के रूप में अवयव-अवयवी में एकत्व और अनेकत्व की परीक्षा करके निषेध करना चाहिए। इस तरह परतः उत्पाद का निषेध करनेवाली अनेक युक्तियाँ हैं। आचार्य ज्ञानगर्भ ने अपने सत्यद्वयविभङ्ग नामक ग्रन्थ में सत्यतः सत्ता का निषेध करने के लिए चतुष्कोट्युत्पादानुपपत्ति युक्ति को प्रमुख बनाया है। इस युक्ति का वास्तविक मर्म भी वैसा ही है, जैसा शान्तरक्षित ने प्रदर्शित किया है। ये

सभी युक्तियाँ नागार्जुन के अनुयायियों के युक्तिमार्ग की महापथ हैं। अतः जो माध्यमिक दर्शन के प्रतिपाद्य (शून्यता) का स्पष्टतया अभ्रान्त अवबोध करना चाहते हैं, उन्हें इनका अभ्यास करना चाहिए।

२. प्रासङ्गिक माध्यमिक

जो माध्यमिक केवल 'प्रसङ्ग' का प्रयोग करते हैं, वे प्रासङ्गिक माध्यमिक कहलाते हैं। सभी भारतीय दर्शनों में स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के निराकरण की विधा दृष्टिगोचर होती है। माध्यमिक सभी धर्मों को निःस्वभाव (शून्य) मानते हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिकों का कहना है कि जब हेतु, साध्य, पक्ष आदि सभी शून्य है तो ऐसी स्थिति में यह उचित नहीं है कि शून्यता को साध्य बनाकर उसे हेतु प्रयोग आदि के द्वारा सिद्ध किया जाए। इस स्थिति में एक ही उपाय अवशिष्ट रहता है कि जो दार्शनिक हेतुओं के द्वारा वस्तुसत्ता सिद्ध करते हैं, उनके प्रयोगों (अनुमानप्रयोगों) में दोष दिखाकर यह सिद्ध किया जाए कि उनके साधन उनके साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। इस उपाय से जब स्वभावसत्ता (वस्तुसत्ता) सिद्ध नहीं होगी तो यही निःस्वभावता की सिद्धि होगी। अर्थात् स्वभावसत्ता का निषेध ही निःस्वभावता की सिद्धि है। इसलिए परपक्ष का निराकरणमात्र माध्यमिक को करना चाहिए। स्वतन्त्ररूप से हेतुओं का प्रयोग करके स्वपक्ष की सिद्धि करना माध्यमिकों के विचारों के वातावरण के सर्वथा विपरीत है। अतः परपक्ष निराकरणमात्र पर बल देने के कारण ये लोग 'प्रासङ्गिक' माध्यमिक कहलाते हैं। जबकि भावविवेक, शान्तरक्षित आदि माध्यमिक आचार्य इन विचारों से सहमत नहीं है, उनका कहना है कि सभी धर्मों के परमार्थतः निःस्वभाव (शून्य) होने पर भी व्यवहार में उनकी सत्ता होती है, अतः स्वतन्त्र रूप से हेतु, दृष्टान्त आदि का प्रयोग करके शून्यता की सिद्धि की जा सकती है। अतः ये लोग 'स्वातन्त्रिक' माध्यमिक कहलाते हैं। ज्ञात है कि प्रासङ्गिक व्यवहार में भी वस्तु की सत्ता नहीं मानते। इन्हीं उपर्युक्त बातों के आधार पर स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक माध्यमिकों ने अपने-अपने ढंग से अपने-अपने दर्शनों का विकास किया है।

दोनों प्रकार के माध्यमिकों का दावा है कि वे ही आचार्य नागार्जुन और आर्यदेव के मन्तव्यों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। ऊपर स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं। अब यहाँ प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य चन्द्रकीर्ति इस दर्शन के प्रवर्तक है। आचार्य शान्तिदेव, दीपंकरश्रीज्ञान आदि अनेक भारतीय अद्वितीय मनीषियों ने इस मत का विकास किया है। इतना ही नहीं, भोट देश में भी माध्यमिक दर्शन का अद्भुत विकास हुआ है। भोट देश में प्रचलित चारों (ञिङ्मा, कर्ग्युद, साक्या एवं गेलुक्) सम्प्रदायों में मूर्धन्य विद्वान् हुए हैं। सभी की रुझान प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन की ओर है। वस्तुतः प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन अवैदिक बौद्धदर्शन के विकास की

पराकाष्ठा है और यह दर्शन निश्चय ही न केवल भारतीय दर्शनों में, अपितु विश्व में अद्वितीय और बेजोड़ है।

ऊपर कहा गया है कि स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक-यह नामकरण भी भोटदेशीय विद्वानों की देन है। भारतीय शास्त्रों में यद्यपि पारस्परिक मतभेद और वाद-विवाद उपलब्ध हैं, किन्तु नामकरण उपलब्ध नहीं है। भोट विद्वानों द्वारा ही यह नामकरण विश्व में प्रचलित हुआ है। भोट देश के महापण्डित आचार्य चोंखापा ने प्रासङ्गिक दर्शन और स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के विचारों और भेदों को अपनी कृतियों द्वारा अत्यन्त स्पष्टतया प्रतिपादित किया है। आवश्यकता इस बात की है कि भोट विद्वानों की कृतियों का हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं और विश्व की अन्य भाषाओं में अनुवाद किया जाए, जिससे इन महनीय विचारों से विश्व ठीक-ठीक अवगत हो सके। हमारे विचार में सन्त्रस्त विश्व और सङ्कटग्रस्त मानव के त्राण का एकमात्र यही आसरा है, यह निःसन्दिग्ध है।

प्रासङ्गिक प्रस्थान के दर्शन का निरूपण हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं :

१. पुद्गल एवं धर्म की निःस्वभावता या सस्वभावता
२. परमार्थ सत्ता का निषेध करने वाली प्रधान युक्ति

१. पुद्गल एवं धर्म की निःस्वभावता या सस्वभावता

इस गूढ़ विषय पर विचार करते समय भी यदि हम उसका निम्नलिखित तीन भागों में वर्गीकरण कर लेते हैं तो प्रतिपादन में भी स्पष्टता होगी और समझने में भी आसानी होगी, यथा :

(क) पुद्गल और धर्म की सस्वभावता के निषेध की विशेषता
(ख) निषेध की इस विशेषता के द्वारा आर्य नागार्जुन के अभिप्राय को व्यक्त करने का असाधारण प्रकार
(ग) सूत्रविरोध का परिहार

(क) पुद्गल और धर्म की सस्वभावता के निषेध की विशेषता

इसका भी हम द्विधा विभाजन करके प्रतिपादन कर रहे है, यथा :

(ए) स्वलक्षण सत्ता (स्वभाव) के निषेध की विशेषता
(बी) निषेध्य के स्वरूप का परिचय और उसके माध्यम से शून्यता का प्रतिपादन

(ए) स्वलक्षण सत्ता (स्वभाव) के निषेध की विशेषता

आचार्य बुद्धपालित द्वारा प्रणीत मूलमाध्यमिककारिकाटीका के ऊपर यद्यपि आचार्य भावविवेक ने अनेक दोषारोपण किये हैं, तथापि नैरात्म्यद्वय (पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य के स्वरूप के विषय में न कोई विरोध प्रकट किया है और न दोषारोपण किया है। आचार्य

अवलोकितेश्वरव्रत का कहना है कि 'सभी आध्यात्मिक एवं बाह्य धर्म माया की भाँति, प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं अर्थक्रियासमर्थ हैं, किन्तु वे परमार्थतः सस्वभाव नहीं हैं-ऐसा जानना आर्यपितापुत्रसमागमसूत्र, भावविवेक एवं बुद्धपालित आदि माध्यमिकमतानुयायी आचार्यों की प्रज्ञापारमिता की विधि हैं'। ऐसा कहकर उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि 'व्यवहारतः माया की भाँति सत्ता' और 'परमार्थतः निःस्वभावता' के विषय में भावविवेक और बुद्धपालित इन दोनों आचार्यों के मतों में ऐकमत्य है। आचार्य ज्ञानगर्भ, आचार्य शान्तरक्षित एवं आचार्य कमलशील आदि ने भी अपने और आचार्य चन्द्रकीर्ति के मत में नैरात्म्य के विषय में कोई अन्तर (भेद) है-ऐसा नहीं कहा।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने ज़रूर यह स्पष्ट रूप से माना है कि आचार्य बुद्धपालित ने आर्य नागार्जुन का अभिप्राय अविपरीत रूप से प्रकट किया है तथा उनके और अपने विचारों में जहाँ तक परमार्थ और संवृति के स्वरूप की स्थापना का प्रश्न है, कुछ भी अन्तर (फ़र्क़) नहीं है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि अन्य माध्यमिकों ने आचार्य नागार्जुन का मत जैसा प्रकट किया है, उससे उन (चन्द्रकीर्ति) का मत असाधारण है। उपर्युक्त बातें उनके मध्यमकावतार भाष्य में प्रतिपादित है।

मध्यमकावतार भाष्य में चन्द्रकीर्ति ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि माध्यमिक शास्त्रों से अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में जैसे शून्यता प्रमुखरूप से, इष्टरूप से और विस्तृतरूप से स्पष्टतया प्रतिपादित नहीं है, वैसे ही विभिन्न और गम्भीर युक्तियों द्वारा जैसे शून्यता का प्रतिपादन हमने किया है, वैसा प्रतिपादन अन्य माध्यमिक शास्त्रों में नहीं है। विद्वानों को यह बात जान लेना चाहिए।

अतः कुछ लोग, जो ऐसा कहते हैं कि सौत्रान्तिक मत में जो परमार्थ है, वही माध्यमिकों का संवृतिसत्य है, उनका ऐसा कहना माध्यमिक शास्त्रों में अनभिज्ञता की वजह से ही है। जैसा सौत्रान्तिकों के बारे में कहा है, वैसे वैभाषिकों के बारे में कहकर अन्त में चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि लोकोत्तर धर्म का लौकिक धर्मों से तुल्य होना अयुक्त है, क्योंकि यह मत (जैसा चन्द्रकीर्ति आदि ने व्याख्यायित किया है) असाधारण है-ऐसा विद्वज्जनों को जानना चाहिए।

अपने मत को असाधारण कहने की वजह से वैभाषिक और सौत्रान्तिक नामक दो वस्तुवादी दार्शनिक प्रस्थानों में जिसे परमार्थ कहा गया है, वह माध्यमिकों का संवृतिसत्य है-ऐसा कथन माध्यमिक तत्त्व की अनभिज्ञता के कारण है-इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए :

आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने मत में स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में भी नहीं मानते, जबकि वैभाषिक और सौत्रान्तिक आचार्य स्वलक्षणसत्ता के ही आधार पर अपने दर्शन की स्थापना करते हैं।

संवृति और परमार्थ इन दो सत्यों में से एक से भी च्युत होने पर दोनों से च्युति हो जाती है। अतः दोनों सत्यों से अच्युत लोकोत्तर धर्म और दोनों सत्यों से च्युत लौकिक धर्म लौकिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से कथमपि तुल्य नहीं है। फलतः आर्य नागार्जुन का मन्तव्य परमार्थतः नहीं, अपितु संवृतितः भी वस्तुवादी सिद्धान्तों से असाधारण है।

(बी) निषेध्य के स्वरूप का परिचय और उसके माध्यम से शून्यता का प्रतिपादन

इस विषय का प्रतिपादन भी सुविधा की दृष्टि से दो शीर्षकों में विभाजित करके किया जा रहा है :

(स)- (अ) परिकल्पित आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और उस बुद्धि द्वारा विषय ग्रहण करने का प्रकार

(आ) सहज आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और बुद्धि द्वारा विषय ग्रहण करने का प्रकार

(श) श्रावकपिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है-इसका प्रतिपादन

(स-अ) परिकल्पित आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और उस बुद्धि द्वारा ग्रहण करने का प्रकार

प्रश्न है कि किस प्रकार ग्रहण करने से स्वलक्षण सत्ता का ग्रहण होता है ? इसका प्रतिपादन करने के प्रसंग में पहले स्वलक्षणसत्तावादियों का मत प्रस्तुत किया जा रहा है :

इस प्रकार का लोक में व्यवहार प्रचलित है कि 'अमुक पुद्गल ने यह कार्य किया और उसका यह फल भोग रहा है'। अतः (ऐसे व्यवहार के कारण) यह सोचा जा सकता है कि क्या 'पञ्च स्कन्ध ही पुद्गल हैं या पुद्गल इन स्कन्धों से भिन्न हैं ?'। ऐसा सोचना वस्तुतः पुद्गलव्यवहार के निहितार्थ को खोजना है। खोजने पर 'स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न'-इन दोनों पक्षों में से कोई एक पक्ष उपलब्ध हो तो उससे पुद्गल की स्थापना हो सकती है और कर्मों के कर्ता और फलों के भोक्ता आदि के सिद्धि हो सकती है। यदि खोज करने पर कोई भी पक्ष उपलब्ध न हो तो पुद्गल-व्यवहार की स्थापना नहीं की जा सकती। इस तरह पुद्गल व्यवहार के आरोपमात्र से सन्तुष्ट न होकर जिस आधार में वह व्यवहार होता है, उस आधार अर्थात् पञ्चस्कन्धों का विचार-विमर्श और अन्वेषण करके पुद्गल की स्थापना की जाती है। इस प्रकार की स्थापना ही पुद्गल की स्वलक्षणतः सत्ता की स्थापना है। स्वयूथ्य वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी लोग ऐसा ही मानते हैं। इसी तरह रूप, वेदना, संज्ञा आदि संस्कृत धर्म तथा प्रतिघस्पर्श से रहितता अर्थात् प्रसज्यप्रतिषेधरूपी आकाश आदि असंस्कृत धर्म, इस तरह जितने भी प्रमाणसिद्ध प्रमेय हैं, उनके नाम व्यवहारमात्र से सन्तुष्ट न होकर उस (नामव्यवहार) का अभिधेय अर्थात् आधार 'किस प्रकार का है'-ऐसा अन्वेषण करने पर यदि कोई अर्थ उपलब्ध होता है, तो उसकी 'सत्' के रूप में स्थापना की जा सकती है। यदि कुछ भी उपलब्ध नहीं हो तो उसे 'सत्' नहीं कह सकते।'

ज्ञातव्य है कि प्रमाणशास्त्रों में अर्थक्रियासमर्थ वस्तु को 'स्वलक्षण' कहा गया है। अभिधर्मशास्त्रों में असाधारण लक्षण को 'स्वलक्षण' कहते हैं, जैसे अग्नि का असाधारण लक्षण 'ऊष्मा' है। इन दोनों प्रकार के स्वलक्षणों में और यहाँ जो 'स्वलक्षणसत्' कहा गया है, उसमें प्रयुक्त 'स्वलक्षण' में बहुत अन्तर है।

माध्यमिकों की निषेध्य जो स्वलक्षणसत्ता है, उसका स्वरूप जैसा ऊपर वर्णित है, वैसा ही है। अर्थात् वस्तुसत्तान्वेषिणी या परमार्थगवेषिणी बुद्धि द्वारा खोज करने पर यदि उपलब्ध होता है तो वह 'सत्' तथा उपलब्ध न हो तो उसे 'असत्' कहा जाता है। आशय यह है कि माध्यमिक मतानुसार खोजने पर जो उपलब्ध होता है, वह स्वलक्षणसत् है और यही माध्यमिकों का निषेध्य है। इस स्वलक्षण सत् में और उपर्युक्त स्वलक्षण में अन्तर है। सामान्यतया वह्नि की ऊष्मा को माध्यमिक भी स्वलक्षण कहते हैं। यहाँ तक वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त 'सत्' और 'असत्' की जो सीमा मानी गई है, उसका निर्देश किया गया है।

चन्द्रकीर्ति के मत में उक्त प्रकार से निर्दिष्ट 'सत्' की स्थापना व्यवहार में भी मान्य नहीं है। चन्द्रकीर्ति के मतानुसार 'सत्' की सीमा निम्नलिखित प्रकार से है :

जितने भी नामव्यवहार हैं, उसका आधार (अभिधेय) खोजने पर उन नामव्यवहारों से अतिरिक्त कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ राहु के शिरस् में राहु का नामव्यवहार तथा शिलापुत्रक के शरीर में शिलापुत्र का सङ्केत किया जाता है। सङ्केतार्थ की खोज करने पर राहुशिरस् से भिन्न राहु उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः लौकिक व्यवहार में उस प्रकीर की (वस्तुसत्तान्वेषिणी बुद्धि द्वारा) खोज प्रवृत्त ही नहीं होती। सभी लौकिक वस्तुएं अविमर्शतः (विना विचार किये) 'सत्' हैं। अर्थात् अविचाररमणीय हैं। आशय है कि प्रासङ्गिक माध्यमिकों से भिन्न बौद्ध दार्शनिक प्रस्थान जिस प्रकार विमर्श (खोज) करके 'सत्' की स्थापना करते हैं, उस प्रकार 'सत्' की स्थापना यहाँ नहीं की जा सकती। विना विमर्श के ही जैसे 'सत्' की स्थापना की जाती है, उसका प्रकार निम्न है :

देवदत्त का रूप या देवदत्त का चित्त-इस प्रकार कहने पर उस प्रकार के नामव्यवहारों के आधार देवदत्त, रूप या चित्त की सत्ता किस प्रकार की है-यदि ऐसी परीक्षा (खोज या विचार-विमर्श) की जाए तो रूप और चित्त से अभिन्न या रूप और चित्त से भिन्न किसी भी प्रकार से 'देवदत्त' यह अर्थ उपलब्ध नहीं होगा। अतः विमर्श या अन्वेषण या परीक्षण द्वारा उपलब्ध अर्थ के रूप में 'देवदत्त' की स्थापना नहीं की जा सकती। इसके अर्थ हुआ 'देवदत्त' स्वलक्षणतः असत् (सत् नहीं) है। इसका यह अर्थ कथमपि नहीं है कि 'देवदत्त असत्' है। देवदत्त के असत् न होने से वह (देवदत्त) स्कन्धों पर आश्रित के रूप में संवृतितः सत् है। उसी प्रकार राहु और शिलापुत्रक की स्थापना भी संवृतितः ही है।

ऊपर जैसे सांवृतिक दृष्टि से पुद्गल की स्थापना की गई है, उसी प्रकार धर्मों की स्थापना भी होती है। तथा हि :

पृथ्वी (लक्ष्य) और खरत्व (लक्षण) आदि सभी लक्ष्य-लक्षणों की स्थापना करते समय लक्ष्यलक्षणव्यवहार की प्रवृत्ति के आधार की पूर्वोक्त विधि से खोज करके उपलब्ध अर्थ की लक्ष्य-लक्षण के रूप में स्थापना की जाएगी तो वे कदापि स्थापित नहीं किये जा सकते, फिर भी परस्परापेक्षा द्वारा वे 'सत्' स्थापित किये जाते हैं। यदि पूर्वोक्त प्रकार से मीमांसा (परीक्षा, अन्वेषण) करके वस्तुसत्ता की स्थापना की जाएगी तो वह परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी, सांवृतिकसत्ता की नहीं।

प्रश्न- स्वातन्त्रिक आचार्य ज्ञानगर्भ के 'सत्यद्वयविभङ्ग' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित है कि 'यथाप्रतिभास' अर्थात् प्रतिभास के अनुरूप ही वस्तु का स्वरूप होने से उसमें विचार या परीक्षा की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। यदि परीक्षा या विचार करके वस्तुस्वभाव की स्थापना की जाएगी तो भिन्न प्रकार की अर्थोपलब्धि होने से वस्तुस्वभाव की हानि होगी। अर्थात् कोई अर्थ उपलब्ध न होने से स्थापना न हो सकेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी युक्ति द्वारा अन्वेषण करके उपलब्ध अर्थ में संवृतितः सत्ता की स्थापना करने का निषेध करते हैं। ऐसी स्थिति में 'युक्ति द्वारा मीमांसित (परीक्षित) अर्थ में व्यावहारिक सत्ता की स्थापना न करना'-यह केवल तुम्हारी (प्रासङ्गिक माध्यमिक की) ही विशेषता कैसे होगी ?

उत्तर- यद्यपि दोनों प्रकार के (स्वातन्त्रिक एवं प्रासङ्गिक) माध्यमिक परमार्थसत्ता और संवृतिसत्ता की स्थापना के लिए अन्वेषण, विचार या मीमांसा करते हैं, किन्तु किस तरह के विचार, अन्वेषण या परीक्षण से परमार्थ का अन्वेषण होता है, इसका अन्तर न जानने के कारण उक्त प्रकार के प्रश्न उत्थित होते हैं।

प्रासङ्गिक मत में उक्त प्रकार के परीक्षण मात्र से तत्त्व (परमार्थ) का अन्वेषण हो जाता है। क्योंकि सभी भाव (पदार्थ) नाममात्र, सङ्केतमात्र, व्यवहारमात्र हैं-ऐसा अनेक बार कहा गया है।

स्पष्टीकरण- प्रासङ्गिक माध्यमिक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उक्त प्रकार की परीक्षा करने पर उपलब्ध अर्थ निश्चित ही परमार्थसत् हो जाएगा अर्थात् परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी, सांवृतिक सत्ता की नहीं। जबकि वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी दार्शनिक उक्त प्रकार की परीक्षा से उपलब्ध अर्थ की स्वलक्षणसत्ता स्थापित करते हैं। स्वलक्षणसत्ता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में व्यावहारिक है, क्योंकि वे व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानते हैं। अतः उनके मत में उक्त प्रकार की परीक्षा से व्यावहारिक (सांवृतिक) सत्ता की स्थापना होती है। किन्तु प्रासङ्गिक कहते हैं कि यदि उक्त प्रकार की परीक्षा की जाती है तो उससे सांवृतिक सत्ता की स्थापना न होकर परमार्थसत्ता की स्थापना हो जाएगी।

नाममात्र आदि का अर्थ- प्रासङ्गिकों का कहना है कि 'उक्त प्रकार के नामव्यवहार के व्यवहार्य अर्थ का अन्वेषण करने पर उसकी अनुपलब्धि' नाममात्र, सङ्केतमात्र आदि का अर्थ है, अन्य अर्थ बिलकुल नहीं है। अर्थात् "नाम है, किन्तु 'अर्थ' नहीं है या नाम से भिन्न अर्थ नहीं है"-यह नाममात्र का अर्थ नहीं। आशय यह है कि नाम भी है और अर्थ भी है, किन्तु परीक्षा करने पर उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रासङ्गिक मत में नामव्यवहार की आरोपिका बुद्धि (विकल्पों) द्वारा जो अर्थ आरोपित हैं, यद्यपि वे सब व्यवहारतः (संवृतितः) सत् नहीं हैं, (कुछ हैं भी); तथापि नामव्यवहार की आरोपिका बुद्धि द्वारा अस्थापित (अनारोपित) की व्यावहारिक सत्ता भी नहीं मानी जाती। अर्थात् जितने उस बुद्धि द्वारा आरोपित हैं, वे सब यद्यपि संवृतितः (व्यवहारत) सत् नहीं हैं, किन्तु जितने व्यवहारतः सत् हैं, वे सब आरोपितमात्र हैं।

स्वातन्त्रिक माध्यमिक नामव्यवहार की आरोपिका बुद्धि के वश मात्र से रूप, वेदना आदि की व्यावहारिक सत्ता की स्थापना नहीं कर सकते। अपितु वे अबाधित इन्द्रियज्ञान आदि में प्रतिभास के वश से व्यावहारिक सत्ता की स्थापना करते हैं। ऐसा स्वीकार करने के कारण 'बुद्धि के वश से स्थापित या अस्थापित'-ऐसा दोनों माध्यमिकों के द्वारा कहने पर भी बुद्धि के स्वरूप के बारे में दोनों माध्यमिकों में बड़ा अन्तर है।

स्वातन्त्रिक माध्यमिक 'अबाधित इन्द्रियज्ञान आदि बुद्धि के वश मात्र से स्थापित (आरोपित) न होकर वस्तु अपनी ओर से (स्वतः) या अपनी स्थिति के बल से सत् है कि नहीं'-इस प्रकार की मीमांसा करने से तत्त्व (सत्) का अन्वेषण होना मानते हैं। वे प्रासङ्गिक सम्मत पूर्वलिखित परीक्षामात्र से तत्त्व (परमार्थ) का अन्वेषण होना नहीं मानते। अतः वे व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानते हैं।

आगमों (बुद्धवचनों) में 'संवृतिसत् नाममात्र हैं, सङ्केत मात्र हैं, आरोपित मात्र हैं'-ऐसा अनेकधा कहा गया है। यहाँ 'मात्र' शब्द द्वारा जिसका निषेध किया जाता है, उस निषेध्य के स्वरूप के बारे में भी दोनों माध्यमिकों में बड़ा अन्तर है।

प्रश्न- लोक में गमन, आगमन, उत्पाद आदि व्यवहार होते हैं और उनकी परीक्षाएं भी होती हैं। अपने ऊपर जैसी परीक्षा की है, तदनुसार 'देवदत्त आता है, जाता है, अङ्कुर उत्पन्न होता है'-इत्यादि कहा जा सकता है या नहीं ?

उत्तर- यहाँ लोक में लौकिक परीक्षाएं होती हैं। ऊपर जिस प्रकार की परीक्षा वर्णित है, वह परमार्थ की गवेषणा करने वाली परीक्षा है। इन दोनों परीक्षाओं में महान् अन्तर है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए :

यहाँ 'देवदत्त आता है कि नहीं, अङ्कुर उत्पन्न होता है कि नहीं' इत्यादि के चिन्तन की अवस्था में गन्ता, आगन्ता, गमन, आगमन आदि का व्यवहार आरोपित होने पर उस व्यवहार के आरोप मात्र से सन्तुष्ट न होकर 'वह व्यवहृतार्थ (व्यवहार विषय) किस प्रकार

का है' ऐसा सोचकर परीक्षापूर्वक गमन-आगमन के बारे में नहीं पूछा गया है, अपितु गमन, आगमन के साधारण व्यवहार के प्रवृत्त होने पर साधारण परीक्षा की गई है। अर्थात् लौकिक व्यवहार की लौकिक परीक्षा की गई है। अतः इस प्रकार की परीक्षा के द्वारा परीक्षित अर्थ को स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है।

आरोपण करने वाली (आरोपिका) बुद्धि भी दो प्रकार की होती है, यथा-परिकल्पित आरोपिका बुद्धि और सहज आरोपिका बुद्धि। सिद्धान्तविशेष से प्रभावित बुद्धि 'परिकल्पित आरोपिका' है। इस बुद्धि की वजह से अपने द्वारा मान्य विषय की पुष्टि के लिए तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं और युक्तिपूर्वक विषय सिद्ध किया जाता है। सहज आरोपिका बुद्धि वह है, जो सिद्धान्तविशेष से प्रभावित नहीं होती, अपितु जो सहज (संस्कारवश) प्रवृत्त होती है। ऐसी बुद्धि विना पढ़े-लिखे लोगों में भी होती है, यहाँ तक कि पशु-पक्षी में भी होती है। जैसे 'अहं' के अस्तित्व की बुद्धि पशु, पक्षी, अशिक्षित मनुष्य सब में होती है। यह बुद्धि किसी सिद्धान्त के प्रभाव की वजह से उत्पन्न नहीं होती। अतः इसे 'सहज आरोपिका बुद्धि' कहते हैं।

यहाँ तक परिकल्पित-आरोपिका बुद्धि द्वारा अपने विषय का किस प्रकार ग्रहण किया जाता है, उसका निरूपण किया गया है। अब सहज आरोपिका बुद्धि के ग्रहणप्रकार के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

(स.आ) सहज आरोपिका बुद्धि का ग्राह्य और उस बुद्धि द्वारा ग्रहण करने का प्रकार

ऊपर जैसे मीमांसा या अन्वेषण की प्रक्रिया वर्णित है, उस विधि से मीमांसा और अन्वेषण करके स्वलक्षणतः सत्ता या स्वभावतः सत्ता का ग्रहण करना 'सहज आरोपिका बुद्धि' (आत्मदृष्टि) द्वारा ग्रहण करने का प्रकार नहीं है। समस्त प्राणियों को संसारचक्र में आबद्ध करने वाली प्रमुख दृष्टि तो यह 'सहज दृष्टि' ही है। अतः युक्तियों द्वारा इसी का निषेध करना चाहिए। इसलिए इसके द्वारा ग्रहण करने का प्रकार क्या है ? इसका प्रतिपादन किया जा रहा है :

"बाह्य और आध्यात्मिक सभी धर्म मात्र व्यवहार के वश से स्थापित होकर 'सत्' नहीं है, अपितु स्वभावतः (स्वतः या स्वरूपतः) अर्थात् अपने बल से 'सत्' हैं"-इस प्रकार यह सहज आत्मदृष्टि ग्रहण करती है। यह सहज आत्मदृष्टि यज्ञदत्त, देवदत्त आदि पुद्गलों के प्रति उसी प्रकार अर्थात् 'स्वतः सत्' रूप में ग्रहण करनेवाली 'पुद्गलात्मदृष्टि' है तथा चक्षुष्, श्रोत्र, रूप, शब्द आदि धर्मों के प्रति भी उसी रूप में अर्थात् 'स्वतः सत्' रूप में ग्रहण करने वाली 'धर्मात्मदृष्टि' है। अतः इस दृष्टि द्वारा उस प्रकार से गृहीत 'पुद्गलात्मा' और 'धर्मात्मा' के स्वरूप का भी परिचय कर लेना चाहिए। ऊपर जैसे पुद्गल और धर्मों के व्यवहार के 'व्यवहृत अर्थ' की परीक्षा की गई है, इस सहज आत्मदृष्टि द्वारा 'व्यवहृत अर्थ

कैसा है' इस प्रकार की परीक्षा करके ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि इसके द्वारा आगोपाल नर-नारी, पशु-पक्षी सभी के द्वारा 'आत्मा है, धर्म है'-ऐसा ग्रहण किया जाता है। किन्तु इसके द्वारा धर्म और पुद्गल का जैसे ग्रहण किया जाता है। किन्तु इसके द्वारा धर्म और पुद्गल का जैसे ग्रहण होता है, वैसी ही यदि वस्तुस्थिति भी हो तो इसके द्वारा आरोपित (गृहीत या अध्यस्त) की परीक्षा करने पर उसी रूप में उपलब्धि भी होना चाहिए। अतः परीक्षा करके ग्रहण नहीं करने वाली (अपरीक्षिका) यह सहज आत्मदृष्टि और इसके द्वारा गृहीत विषय (पुद्गल और धर्म) प्रासङ्गिक माध्यमिक युक्तियों के प्रधान निषेध्य हैं और ग्रन्थों में परीक्षा करके उस प्रकार का निषेध उपलब्ध भी होता है फिर भी इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अर्थात् सहज आरोपिका बुद्धि (सहज आत्मदृष्टि) द्वारा विना परीक्षा किये ग्रहण करना और ग्रन्थों में परीक्षा करके उनका निषेध करना-इन दोनों में कोई विरोध नहीं है।

सिद्धान्तविशेष की वज़ह से जिनकी बुद्धि प्रभावित नहीं है-ऐसे पुद्गलों (व्यक्तियों) में तथा नाम और सङ्केत को नहीं जानने वाले पुद्गलों में परिकल्पित आरोपिका (व्यवहार-आरोपिका) बुद्धि द्वारा अनारोपित और सहज आरोपिका बुद्धि द्वारा आरोपित (स्थापित) सत्ता के नाम और अर्थ के सम्बन्ध को जाननेवाली बुद्धि नहीं हो सकती, फिर भी उस प्रकार की सत्तादृष्टि होती है। जैसे घट सङ्केत को नहीं जानने वाले प्रणियों में भी घट अर्थ के अस्तित्व का बोध होता है।

सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक और योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक इन दोनों मतों में पुद्गल और धर्मों में जिस निषेध्य (पुद्गलात्मा और धर्मात्मा) का निषेध करने से नैरात्म्य (पुद्गल नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य) की स्थापना की जाती है, उन दोनों पुद्गलात्मा और धर्मात्मा में तथा उनमें अभिनिवेश करने के प्रकार में अत्यन्त भेद माना जाता है। अर्थात् ये दोनों मत पुद्गलात्मा और धर्मात्मा के स्वरूप और उनके प्रति अभिनिवेश के प्रकार में बड़ा भेद मानते हैं। अर्थात् दोनों आत्माओं के स्वरूप और उसके प्रति अभिनिवेश के प्रकार में भेद को दोनों मतवादी समान रूप से मानते हैं। किन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिक धर्मी (आधार) के भेदमात्र की दृष्टि से दोनों नैरात्म्यों में भेद मानते हैं। नैरात्म्य के निषेध्य धर्मात्मा और पुद्गलात्मा के स्वरूप में कोई तात्त्विक भेद नहीं मानते।

प्रश्न– आपने कहा है कि स्वयूथ्य वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक सभी दार्शनिक प्रमाणतः सिद्ध सभी अर्थों की स्वलक्षणतः सत्ता मानते हैं। किन्तु जहाँ तक योगाचार दार्शनिकों का प्रश्न है, वे तो रूप आदि (परतन्त्र) में आरोपित स्वभाव एवं विशेष की परिकल्पित सत्ता मानते हैं। अर्थात् उनके द्वारा उनकी स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है और उनकी परिकल्पित सत्ता मानी जाती है। ऐसी स्थिति में क्या आपके कथन में त्रुटि नहीं है ?

उत्तर- त्रुटि नहीं है। योगाचार जिस स्वलक्षणसत्ता का निषेध करते हैं, उसकी 'नाम और सङ्केत द्वारा स्थापना की जा सकती है'-इतना मात्र अर्थ है। वे नाम और सङ्केत के द्वारा आरोपित (व्यवहृत) की खोज करने पर उसकी अनुपलब्धि नहीं मानते। अतः प्रासङ्गिकसम्मत स्वलक्षणदृष्टि तो उनमें होती है। योगाचार साहित्य में यद्यपि स्वभाव और विशेष के रूप में आरोपित को नाममात्र कहा गया है, तथापि उसका अर्थ मात्र इतना है कि स्वभाव के रूप में और विशेष के रूप में आरोपित (परतन्त्र) में और आरोप करनेवाली आरोपिका बुद्धि में जैसे भिन्नता का प्रतिभास होता है, वैसी वस्तुस्थिति नहीं है। यही नाममात्र होने का उनके अनुसार अर्थ है। फलतः प्रासङ्गिकसम्मत 'नाममात्र' एवं योगाचारसम्मत 'नाममात्र' में बहुत अन्तर है।

(श) श्रावकपिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है-इसका प्रतिपादन

योगाचार और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों इस बात में सहमत हैं कि हीनयानपिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट नहीं हैं तथा पुद्गलनैरात्म्य का स्वरूप जैसे श्रावकों ने प्रतिपादित किया है, उससे अधिक महायान में नहीं है।

आचार्य बुद्धपालित ने अपनी मध्यमकस्ववृत्ति में कहा है कि हीनयान में भी धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है, क्योंकि भगवान् ने कहा है :

एतद्धि भिक्षवः, परमं सत्यं यदुत अमोषधर्मं निर्वाणम्, सर्वसंस्कारश्च मृषा मोषधर्माण इति। तथा च-नास्त्यत्र तथता वा अवितथता वा। मोषधर्मकमप्येतत्, प्रलोपधर्मकमप्येतत्, मृषाप्येतत्, मायेयं बाललापिनी इति।

(प्रसन्नपदा मूलमाध्यमिककारिकाटीका, पृ. १३)

अर्थात् अमोषधर्मक निर्वाण ही परम सत्य है। सभी संस्कार मृषा और मोषधर्मक हैं। इन (संस्कारों) में तथता (सस्वभावता), अविपरीतता नहीं है। यब सब कुछ मृषा है, मोषधर्मक है और नाशस्वभाव हैं और बाल-पृथग्जनों को भासित होने वाली माया है।

इसी तरह उन्होंने (भगवान् ने) पुनः कहा है :

फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा।
मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः।
मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना।।

(संयुक्तनिकाय, २-३, पृ. ३६०)

अर्थात् रूपस्कन्ध फेनपिण्ड के समान, वेदना बुलबले के समान, संज्ञा मृगमरीचिका के समान, संस्कार कदलीस्तम्भ के समान तथा विज्ञान माया के समान है।

धर्मनैरात्म्य

आचार्य बुद्धपालित का कहना है कि इन सब वचनों के द्वारा भगवान् ने सभी धर्मों को अनात्म कहा है। उन्हें माया, मरीचि, स्वप्न एवं प्रतिबिम्ब की तरह कहा है। इन सभी संस्कारों में तथता अर्थात् सस्वभावता नहीं है, सभी मिथ्या और प्रपञ्चात्मक है-ऐसा कहा है। बुद्धपालित कहते हैं कि यहाँ 'अनात्म' शब्द निःस्वभाव के अर्थ में है, क्योंकि 'आत्मा' शब्द स्वभाववाची है। इसलिए 'सभी धर्म अनात्म हैं' का अर्थ 'सभी धर्म निःस्वभाव हैं'-यह होता है। उपर्युक्त बुद्धवचन हीनयानपिटक में भी हैं, अतः वहाँ भी धर्मनैरात्म्य प्रतिपादित हैं। आचार्य चन्द्रकीर्ति भी बुद्धपालित के उपर्युक्त व्याख्यान से सहमत हैं। उनका भी कहना है कि श्रावकपिटक में भी धर्मनैरात्म्य प्रतिपादित है। इस बात का प्रतिपादन उन्होंने अपनी युक्तिषष्टिका-टीका में विस्तारपूर्वक किया है।

आचार्य भावविवेक का कहना है कि माया, मरीचि, स्वप्न, प्रतिबिम्ब आदि उदाहरणों के द्वारा हीनयानी श्रावकों के मतानुसार पुद्गलनैरात्म्य का निर्देश किया गया है, न कि धर्मनैरात्म्य का। 'आत्मा' शब्द धर्मस्वभाववाची नहीं, अपितु पुद्गलात्मवाची है।

आचार्य भावविवेक पुनः कहते हैं कि यदि श्रावकयान में भी धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन माना जाएगा तो महायान के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग होगा। इस प्रकार वे आचार्य बुद्धपालित के व्याख्यान का खण्डन करते हैं।

आचार्य चन्द्रकीर्ति आचार्य भावविवेक के इस कथन का निरास करते हैं कि 'यदि श्रावकयान में भी धर्मनैरात्म्य प्रतिपादित होगा तो महायान के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग होगा। अपने मध्यमकावतार भाष्य में उन्होंने स्पष्टरूप से कहा है कि महायान की व्यर्थता का प्रसङ्ग बिलकुल नहीं है, क्योंकि महायान में केवल धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट नहीं है, अपितु भूमि, पारमिता, प्रणिधान, संवर आदि अनेक विशिष्ट धर्म उपदिष्ट हैं, अतः महायान व्यर्थ नहीं है। अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने आर्य नागार्जुन की रत्नावलि के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।'

अपि च,

कात्यायनाववादे च अस्ति नास्तीति चोभयम्।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना।।
(मध्यमकशास्त्र, १५.७)

तथा

तन्मृषा मोषधर्म यद् भगवानित्यभाषत।
सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारास्तेन ते मृषा।।
(मध्यमकशास्त्र, १३.१)

अर्थात् भाव और अभाव को जानने वाले भगवान् ने कात्यायनाववादसूत्र में भावों के सत्त्व और असत्त्व और सदसत्त्व का निषेध किया है।

तथा

जो भगवान् ने (धर्मों को) मृषा और मोषधर्मक (विसंवादित) कहा है, फलतः सभी संस्कार मृषा और मोषधर्मक हैं।

इन उपर्युक्त कारिकाओं के द्वारा भगवान् ने सभी संस्कार धर्मों को विसंवादित (अर्थात् वे जैसे प्रतीत होते हैं, वैसा उनका वास्तविक स्वरूप नहीं होता)-कहा है, इसलिए वे मिथ्या है। नागार्जुन का कहना है कि यहाँ 'मिथ्या' का अर्थ 'स्वभावतः शून्य होना' है। यदि इससे विपरीत अर्थ किया जाता है तो नागार्जुन उसमें अनेक आक्षेप प्रदर्शित करते हैं और 'मिथ्या' को 'स्वभावशून्यता' के अर्थ में निश्चित करते हैं। अतः 'हीनयानपिटक में भी धर्मनैरात्म्य निर्दिष्ट है'-नागार्जुन के इस अभिप्राय को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों का कहना है कि यद्यपि हीनयान पिटक में धर्मनैरात्म्य उपदिष्ट है, फिर भी हम ऐसा नहीं कहते कि हीनयान पिटक में सभी धर्मों को स्वलक्षणतः सत् नहीं ही कहा गया है। अपितु दोनों बातें कही गई हैं। स्वलक्षणसत्ता तो अनेक बार कही गई है।

पुद्गलनैरात्म्य

वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी स्वयूथ्य सिद्धान्तवादियों के मत में यह माना जाता है कि 'पुद्गल स्कन्धों से भिन्न लक्षणवाला, स्वतन्त्र एवं द्रव्यसत् नहीं हैं'। इसे (पृथक् द्रव्यतः सत्ता के अभाव को) ही वे 'पुद्गलनैरात्म्य' कहते हैं।

उनका यह भी कहना है कि आत्मदृष्टि 'अहम्' के आश्रय (आधार) आत्मा को स्कन्धों के स्वामी की भाँति तथा स्कन्धों को उसके दास की भाँति ग्रहण करती है। क्योंकि 'मेरा रूप, मेरी वेदना, मेरी संज्ञा' इत्यादि प्रकार से ग्रहण किया जाता है, इसलिए वे स्कन्ध उस आत्मा के हैं और इसलिए वे आत्मा के अधीन हैं। इसलिए आत्मदृष्टि पाँचों स्कन्धों को आत्मा के अधीन रूप में ग्रहण करती है। अतः स्वामी की भाँति, स्कन्धों से पृथक् लक्षण वाले, स्वतन्त्र आत्मा का जैसा अवभास (प्रतीति) होता है तथा उसी के अनुरूप उसका 'सत्' के रूप में जो अभिनिवेश किया जाता है, वैसा अभिनिवेश ही पुद्गल को 'द्रव्यसत्' ग्रहण करने का आकार-प्रकार है। पुद्गल की उस प्रकार की द्रव्यसत्ता का खण्डन हो जाने पर 'पुद्गल' स्कन्धों में उपचरितमात्र या आरोपित मात्र रह जाता है। 'मात्र' शब्द द्वारा पुद्गल की स्कन्धों से भिन्नार्थता का निषेध किया जाता है।

आचार्य भावविवेक अपने 'तर्कज्वाला' नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि 'व्यवहार में विज्ञान में ही आत्मा का उपाचर किया जाता है, क्योंकि विज्ञान ही पुनर्भव का उपादान करता है।

अतः वही (विज्ञान ही) आत्मा है-इस प्रकार शरीरेन्द्रियसमूह में उपचार होता है'। अपने इस कथन की पुष्टि में वे :

यथा पि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति।

एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति।।

(संयुत्तनिकाय, सगाथवग्ग, वजिरासुत्त, पृ. १३५)

(अर्थात् जैसे रथ के (चक्र, नेमि, धुरा आदि) अङ्गों में 'रथ' इस प्रकार की शब्दप्रज्ञप्ति होती है, उसी प्रकार स्कन्धों के होने पर 'सत्त्व' इस प्रकार की प्रज्ञप्ति होती है।) इस आगम को प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार वे पुनः :

"चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं"

(धम्मपद, चित्तवग्ग)

(अर्थात् चित्त का दमन अच्छा है, क्योंकि दान्त (दमन किया हुआ) चित्त सुखावह (सुख लानेवाला) होता है।)

इस आगम को प्रस्तुत करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि विज्ञान (चित्त) में ही आत्मा का उपचार होता है। क्योंकि आत्मा पुनर्भव में स्कन्धों का समादान करने वाला माना जाता है और विज्ञान ही पुनर्भव का समादान करता है, अतः विज्ञान ही आत्मा है-यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। विज्ञान को ही आत्मा सिद्ध करने के लिए वे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

ज्ञात है कि आचार्य भावविवेक आलयविज्ञान नहीं मानते। अतः जिस विज्ञान में वह आत्मा का उपचार मानते हैं, वह विज्ञान 'मनोविज्ञान' ही है। जितने भी बौद्ध दार्शनिक आलयविज्ञान नहीं मानते, वे सभी इसी प्रकार मानेंगे। अर्थात् उन्हें मनोविज्ञान को आत्मा के उपचार का आश्रय (आधार) मानना पड़ेगा। जो दार्शनिक आलयविज्ञान मानते हैं, वे आलयविज्ञानसन्तति को ही पुद्गल मानते हैं। वे लोग उसी प्रकार के पुद्गल को मानने के पक्ष में अनेक आगम और युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। विस्तार भय से हम उन्हें छोड़ रहे हैं।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि उस प्रकार के स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् आत्मा का खण्डन हो जाने पर भी व्यवहार में उपचरितमात्र पुद्गल के अलावा उसकी स्वभावसत्ता का खण्डन नहीं हो सकेगा। उस प्रकार की स्वभावसत्ता का खण्डन न होने से वह दृष्टि पुद्गलसत्यतादृष्टि या पुद्गलस्वभावदृष्टि है। अर्थात् पुद्गलात्मदृष्टि ही है। जैसे घट आदि की सस्वभावता दृष्टि धर्मात्मदृष्टि होती है, वैसे पुद्गल की सस्वभावता दृष्टि पुद्गलात्मदृष्टि होती है। इसका खण्डन तो आप (भावविवेक आदि) के द्वारा हुआ नहीं। कहने का आशय यह है कि आपने स्कन्धों से भिन्न लक्षण, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् पुद्गल का खण्डन किया है और उस प्रकार के पुद्गल का खण्डन (निषेध) हो भी जाता है, फिर भी इतने मात्र

से पुद्गलनिःस्वभावता या निःस्वभाव पुद्गल सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आपके निषेध (खण्डन) का विषय अर्थात् आपका निषेध्य पुद्गल की स्वभावसत्ता (पुद्गलसस्वभावता) नहीं थी, अतः उसका खण्डन नहीं हुआ। खण्डन न होने से पुद्गलसस्वभावता दृष्टि अवशिष्ट ही रह गई। अर्थात् पुद्गलात्मदृष्टि अवशिष्ट रह गई।

अपि च, उक्त प्रकार का स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् आत्मा तो तैर्थिकों द्वारा कल्पित आत्मदृष्टि का विषय होता है। प्रत्यक्षतः उसका अभाव जानकर उस अभाव की भावना (अभ्यास) करने पर भी रूप आदि धर्मों के प्रति जो पहले से विद्यमान सत्यतादृष्टि है, उसका किञ्चित् मात्र क्षय नहीं होगा। अर्थात् रूपादि के प्रति विद्यमान सस्वभावता दृष्टि किञ्चित् मात्र भी क्षीण नहीं होगी। उसके क्षीण न होने से उस सत्यतादृष्टि से उत्पन्न राग आदि क्लेशों की कथमपि निवृत्ति नहीं होगी। यह बात मध्यमकावतार भाष्य, युक्तिषष्टिकावृत्ति, चतुःशतक मूल और उसकी वृत्ति (चन्द्रकीर्तिकृत) में विस्तारपूर्वक वर्णित है। विशेष जानकारी के लिए उनका अवलोकन करना चाहिए।

उपर्युक्त भावविवेक आदि आचार्यों द्वारा जिस प्रकार पुद्गलसमारोप की स्थापना की जाती है, वह श्रावकपिटक में कथित **"यथापि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति"** इस वचन के अनुकूल भी नहीं है। क्योंकि उस वचन के अनुसार तो जैसे चक्र, नेमि, धुरा आदि अङ्गों को आश्रय बना कर समारोपित रथ 'रथाङ्ग' नहीं है, वैसे ही स्कन्धों को आश्रय बनाकर समारोपित पुद्गल भी 'स्कन्ध' नहीं है, किन्तु आप (भावविवेक) ने तो विज्ञानस्कन्ध को पुद्गल कहा है।

यद्यपि अङ्गसमूह को आधार बनाकर समारोपित रथ चक्र, नेमि, धुरा आदि कोई अङ्ग नहीं है, तथापि अङ्गसमूह को 'रथ' कहा जाता है, उसी प्रकार स्कन्धसमूह 'पुद्गल' है। यदि ऐसा कहा जाए तो इसमें क्या आपत्ति है ?

यह भी अयुक्त है। क्योंकि समारोपित धर्म अर्थात् पुद्गल आश्रय (स्कन्ध) नहीं हो सकता तथा आश्रय (स्कन्धसमूह) समारोपित धर्म 'पुद्गल' नहीं हो सकता। जैसे महाभूतों को आश्रय (हेतु) बनाकर नील, चक्षुष् आदि समारोपित है। इस अवस्था में महाभूत कभी भी नील, चक्षुष् आदि नहीं होते और न तो नील, चक्षुष् आदि ही महाभूत होते हैं। ठीक वैसे ही 'घट' आदि धर्म भी पुद्गल की भाँति अपने अङ्गों (अवयवों) में आरोपित मात्र हैं। सूत्रों में कथित 'स्कन्धों को आश्रय करके आत्मा प्रज्ञप्त है' इत्यादि वचनों से स्कन्धों का संघात (समूह) आत्मा नहीं है, यही सिद्ध होता है।

जिज्ञासा- यदि कोई कहे कि सूत्रों :

"ये केचिद् भिक्षवः, श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति, त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धान्" (पुद्गलविनिश्चय, अभिधर्मकोश, पृ. १२०४, बौद्धभारती संस्करण)।

अर्थात् जो श्रमण और ब्राह्मण आत्मा और आत्मीय (के बारे में सोचते हुए, उन) को देखते हैं, वे इन पाँच स्कन्धों को ही आत्मा और आत्मीय के रूप में देखते हैं। जो ऐसा कहा गया है, उसके द्वारा स्कन्ध ही आत्मदृष्टि के आलम्बन कहे गये हैं। अतः वे ही आत्मा हैं ?

समाधान- 'वे पाँच स्कन्धों में ही देखते हैं'-इस वचन के द्वारा स्कन्ध मुख्य रूप से आत्मदृष्टि के आलम्बन निर्दिष्ट नहीं हैं, अपितु स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र, 'आत्मा' नामक अर्थ के आत्मदृष्टि के आलम्बन होने का निषेध किया गया है। 'एव' शब्द द्वारा उसी का निवारण किया गया है। अन्य सूत्रों में 'रूपं नात्मा रूपवान्नापि चात्मा रूपे नात्मा नात्मनि रूपं..... एवं यावद् विज्ञानं नात्मा विज्ञानवान्नात्मा विज्ञाने नात्मा नात्मनि विज्ञानम्, इत्यादि द्वारा भी प्रत्येक स्कन्ध के आत्मा होने का निषेध किया गया है। इसी युक्ति के आधार पर जिसे 'सत्कायदृष्टि' कहा गया है, उसका अर्थ भी जान लेना चाहिए।

उन उपर्युक्त सूत्रों द्वारा सहज अहंकार दृष्टि के जो आलम्बन और आकार दो होते हैं, उनमें से आलम्बन-विषय (अहम्) की व्यावहारिक सत्ता का निरूपण किया गया है। सहज आत्मदृष्टि 'आत्मा स्वलक्षणतः सत् है'-इस प्रकार ग्रहण करती है, 'स्वलक्षणतः सिद्ध आत्मा' जो उस (सहज आत्मदृष्टि) का विषयाकार है, उसकी व्यवहारतः भी सत्ता नहीं होती। अर्थात् वह विषयाकार व्यवहार में भी सत् नहीं है।

इसी तरह आत्मीय (ममकार) सहज सत्कायदृष्टि के जो आत्मीय (पदार्थ) आलम्बन हैं, उनकी व्यावहारिक सत्ता होती है। 'वे आत्मीय स्वलक्षणतः सत् हैं-इस प्रकार जो आत्मीय सहज सत्काय दृष्टि ग्रहण करती है। उन आत्मीय धर्मों की स्वलक्षणः सत्ता, जो उसका विषयाकार है, उसकी व्यवहारतः भी सत्ता नहीं है।'

जिज्ञासा- सहज अहंकार दृष्टि के आलम्बन यदि स्कन्ध-नहीं होंगे तो सूत्रों में **'रूपं नात्मा.....'** (रूप आत्मा नहीं है) इत्यादि रूप में जो आत्मनिषेध किया गया है, वह युक्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे स्कन्ध आत्मदृष्टिरूपी सहज सत्कायदृष्टि के विषय या आधार (आश्रय) नहीं हो सकेंगे ?

समाधान- स्कन्ध और आत्मा में एकता (अभिन्नता) और भिन्नता की दोनों दृष्टियाँ परिकल्पित दृष्टियाँ हैं, न कि सहज आत्मदृष्टि, अतः दोष नहीं है। फिर भी जिस रूप में वे सहज आत्मदृष्टि द्वारा गृहीत हैं, उसी रूप में सत् हों तो भिन्न या अभिन्न होने से अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की सत्ता नहीं हो सकती। इसलिए सूत्रों द्वारा 'नास्ति रूपम् आत्मा' इत्यादि प्रकार से परीक्षा करके खण्डन करना युक्तियुक्त है।

उपर्युक्त सभी निरूपण आगम द्वारा बाधित नहीं हैं, अपितु आगम द्वारा सिद्ध हैं-इस बात का ऊपर प्रतिपादन किया गया है। अब 'आत्मा नहीं है'-इसका युक्ति द्वारा निरूपण किया जा रहा है, तथा हि :

स्कन्ध आत्मा के उपादेय होते हैं और आत्मा स्कन्धों का उपादाता होता है। इसलिए विज्ञान का या किसी अन्य स्कन्ध का आत्मा होना सर्वथा अयुक्त है, अन्यथा अर्थात् स्कन्ध ही आत्मा होंगे तो कर्ता और कर्म के एक होने (एकत्व) का प्रसङ्ग होगा। आर्य नागार्जुन ने इस अभिप्राय को निम्नकारिका द्वारा व्यक्त किया है, यथा :

"यदिन्धनं स चेदग्निरेकत्वं कर्तृकर्मणोः"।

(मूलमाध्यमिककारिका १०.१)

अर्थात् जो इन्धन है, यदि वही अग्नि होगा तो कर्ता और कर्म का एकत्व हो जाएगा।

अग्नि और इन्धन की परीक्षा द्वारा आत्मा और उसके उपादान अर्थात् स्कन्धों के उपादेय होने का क्रम व्याख्यात हो जाता है। साथ ही, घट, पट आदि सभी का क्रम ज्ञात हो जाता है, यथा :

अग्नीन्धनाभ्यां व्याख्यात आत्मोपादानयोः क्रमः।
सर्वो निरवशेषेण सार्धं घटपदादिभिः।।

(मूलमाध्यमिककारिका १०.१५)

अपि च,

एवं विद्यादुपादानम्

(मूलमाध्यमिककारिका ८.१३)

अर्थात् इसी प्रकार उपादान को जानना चाहिए।

इस प्रकार कर्म और कर्ता सभी परस्पर की अपेक्षा से अर्थात् सापेक्षतया स्थित हैं। उनकी स्वभावतः सत्ता नहीं है। इस तरह उपादान और उपादाता की स्थापना करना चाहिए।

जब 'चक्षुष् द्वारा रूप देखा जाता है'-तब यज्ञदत्त ने रूप देखा-ऐसा कहा जाता है। जब यज्ञदत्त द्वारा रूप देखा जाता है, तब 'चक्षु ने रूप देखा'-ऐसा कहा जाता है। किन्तु रूप देखने वाला 'चक्षु' यज्ञदत्त नहीं है और रूप देखनेवाला 'यज्ञदत्त' भी चक्षु नहीं है। फिर भी इन दोनों में विरोध नहीं है।

इसी प्रकार चक्षु में व्याधि होने या नीरोगता होने पर क्रमशः मैं (अहं) रोगी हूँ या नीरोग (स्वस्थ) हूँ-इस प्रकार व्यवहार किया जा सकता है तथा मेरा चक्षु रोगग्रस्त या नीरोग है-ऐसा व्यवहार भी किया जा सकता है। किन्तु उसी चक्षु को आत्मा के रूप में या आत्मीय के रूप में लोकव्यवहार में व्यवस्थापित नहीं किया जाता। इसी विधि द्वारा बाह्य और आध्यात्मिक अवशिष्ट आयतन और आत्मा दोनों की एक की अपेक्षा से दूसरे की व्यवस्था भी जान लेना चाहिए।

यहाँ तैर्थिक लोग चक्षु आदि धर्मों की पुद्गल के रूप में व्यवस्था करने में अयुक्तता को देख कर चक्षु आदि से द्रव्यतः भिन्न द्रष्टा आदि स्वीकार करते हैं। स्वयूथ्य प्रासंगिकेतर सिद्धान्तवादी बौद्ध उस द्रव्यतः भिन्न पुद्गल में दोष देखकर विज्ञान या अन्य स्कन्धों को 'पुद्गल' स्वीकार करते हैं। बुद्धवचनों के अभिप्राय को अविपरीत रूप से जानने वाले प्रासङ्गिक मतानुयायी तो 'व्यवहार में प्रज्ञप्तिमात्र से पृथक् (अतिरिक्त) स्वभाव की सत्ता नहीं है'-ऐसा जानकर मुक्त हो जाते हैं। उस आरोपितमात्र में ही कर्म का सञ्चय करने वाले और उसको भोगनेवाले आदि सभी की सुचारुतया व्यवस्था हो जाती है-ऐसा जानना चाहिए।

"यथापि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति" इत्यादि वचनों का अभिप्राय मध्यमकावतार और उसके भाष्य में जिस प्रकार निर्णीत है, उसी प्रकार सात प्रकार के पुद्गलव्यवहार के व्यवहृतार्थ की खोज करने पर भी उपलब्ध नहीं होने से उसकी निःस्वभावता ही 'पुद्गलनैरात्म्य' कही जाती है। अतः अन्य लोगों की व्याख्या से इस व्याख्यान में बहुत अन्तर है और यही बुद्धपालित की वृत्ति का वास्तविक अभिप्राय है।

(ख) निषेध की इस विशेषता के द्वारा आर्य नागार्जुन के अभिप्राय को व्यक्त करने का असाधारण प्रकार

इस विषय का भी निम्नलिखित तीन उपशीर्षकों में विभाजन करके प्रतिपादन किया जा रहा है :

(क्ष) नैरात्म्य का अवबोध एवं स्थूल और सूक्ष्म आत्मदृष्टि की असाधारण विशेषता

(त्र) बाह्य अर्थ की स्थापना करके आलयविज्ञान और स्वसंवेदन के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

(ज्ञ) स्वतन्त्र हेतु के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

(क्ष) नैरात्म्य का अवबोध एवं स्थूल और सूक्ष्म आत्मदृष्टि की असाधारण विशेषता

उपर्युक्त प्रकार से 'आत्मा' और 'धर्म' के व्यवहार के व्यवहृत अर्थ की एक-अनेकयुक्ति द्वारा गवेषणा (खोज) करने पर उनकी 'एक' या 'अनेक' किसी भी रूप में उपलब्धि नहीं होती, फिर भी 'यह देवदत्त है' 'यह चक्षु है' इत्यादि व्यवहार की लोक में स्थापना अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि इसी के आधार पर सारे जगत्-व्यवहार चलते हैं। खोजने पर उपलब्ध होनेवाले धर्मों के आधार पर जगत्-व्यवहार नहीं चला करता। अतः व्यवहार के वश से विना स्थापित (अनारोपित) स्वभाव का न होना (परमार्थ सत्य) तथा व्यवहार के वश से स्थापित (आरोपित) स्वभाव (सत्ता) का होना (संवृति सत्य) और उसमें संसार एवं निर्वाण की सारी व्यवस्थाएं युक्तियुक्त ढंग से की जाती हैं। दोनों सत्यों की इस प्रकार की स्थापना

आचार्य बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति ने आर्य नागार्जुन और आर्यदेव के अभिप्राय के रूप में की है और यही आचार्य भावविवेक और शान्तरक्षित आदि माध्यमिक आचार्यों से इनकी विशेषता है।

व्यावहारिक अस्तित्व एवं व्यावहारिक उत्पाद आदि व्यावहारिक बुद्धि द्वारा उपचरित हैं। अत एव सूत्रों में उक्त है कि 'लोक में उत्पत्ति, स्थिति एवं भङ्ग आदि सब व्यवहार के बल से होते हैं। सत्यतः किसी भी धर्म की उत्पत्ति, स्थिति आदि नहीं होते। इसीलिए महाकारुणिक तथागत ने लोक को भय से मुक्त करने के लिए उत्पत्ति, स्थिति आदि सभी की देशना की है'। और भी, आर्य नागार्जुन ने भी शून्यतासप्तति में कहा है कि भगवान् ने उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग, अस्ति, नास्ति, हीन, मध्यम और उत्तम आदि सब की देशना लोकव्यवहार के वश से की है, तत्त्वतः नहीं। यथा :

उत्पादस्थितिभङ्गास्तिनास्तिहीनसमोत्तमम्।
लौकिकव्यवहारात्तु बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः।।
(शून्यतासप्तति, का.-१ तिब्बती संस्थान)

जननी (प्रज्ञापारमिता)-सूत्रों में अनेक बार अनेक स्थलों पर कहा गया है कि 'सभी धर्म लौकिक व्यवहार की दृष्टि से ही सत् हैं, उन्हीं वचनों के आधार पर माध्यमिक सभी धर्मों की व्यावहारिक सत्ता स्थापित करते हैं। वह इस प्रकार है-लोक में बीज से अङ्कुर के उत्पाद की व्यवस्था की जाती है। किन्तु इस व्यवहार के व्यवहृत अर्थ की 'यह अङ्कुर स्वतः उत्पन्न है कि परतः या उभयतः या अहेतुतः उत्पन्न है' ऐसी परीक्षा करके व्यवस्था नहीं की जाती, जैसे कि आर्य नागार्जुन ने मूलमाध्यमिककारिका में कहा है :

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।
(द्र.-मूलमाध्यमिककारिका, का.- १ : ३)

इस प्रकार विना परीक्षा किये व्यवहार की स्थापना करना, नागार्जुन का अभिमत है। विना परीक्षा किये व्यवहार की स्थापना का तात्पर्य एवं उसका प्रकार पुद्गल-व्यवहार की स्थापना के अवसर पर जैसा वर्णित है, उसी प्रकार जानना चाहिए। पाँच स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र द्रव्यसत् रूप में पुद्गल की स्थापना करना अथवा पाँच स्कन्धों के समूहमात्र की पुद्गल के रूप में स्थापना करना, लौकिक व्यवहार का अर्थ नहीं है, क्योंकि लोक में तो आत्मा और आत्मीय (अर्थात् पुद्गल और स्कन्ध) स्वामी एवं दास की भाँति व्यवहृत होते हैं।

पुद्गल और धर्म की निरात्मकता और उनकी व्यावहारिक सत्ता का स्वरूप उक्त प्रकार का ही होने से जब तक स्वसिद्धान्त के प्रभाव से मन में धर्मात्मा (धर्म स्वभाव) के अस्तित्व (सत्ता) के प्रति स्वीकृति का भाव रहेगा, तब तक पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान भी नहीं हो सकेगा।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार भाष्य में कहा है कि 'जब तक धर्म के प्रति आत्मदृष्टि निवृत्त नहीं होती, तब तक पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान नहीं होता'। अतः श्रावक और प्रत्येकबुद्ध में भी दोनों नैरात्म्यों का ज्ञान होना ही चाहिए (अर्थात् होता है)। ऊपर वर्णित आशय केवल आचार्य चन्द्रकीर्ति का ही नहीं है, अपितु आर्य नागार्जुन ने भी युक्तिषष्टिका में कहा है :

न चैवास्तितया मोक्षो भवादस्मान्न नास्तितः।
भावाभावपरिज्ञानान्महात्मा हि विमुच्यते।।

(युक्तिषष्टिका का. ४ संस्कृत छाया)

अर्थात् भावदृष्टि और अभावदृष्टि से संसार से मोक्ष नहीं होता। भाव और अभाव के सम्यक् परिज्ञान से ही महात्मा (बोधिसत्त्व) मुक्त होते हैं।

आशय यह है कि सभी धर्मों को स्वलक्षणतः सत् ग्रहण करना 'सत्-दृष्टि' है तथा कार्यकारणभाव (या हेतुफलभाव) को अयुक्त देखना 'असत्-दृष्टि' है। जब तक इन दोनों दृष्टियों से छुटकारा नहीं मिलेगा, तब तक मोक्ष सम्भव नहीं है, अपितु अन्तद्वय से रहित भाव और अभाव की तथता के परिज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। ऊपर की कारिका में प्रयुक्त **'विमुच्यते'** (मुक्त होता है) शब्द ज्ञेयावरण से मुक्त होने के अर्थ में नहीं है, क्योंकि द्वितीय पाद के **'भवादस्मात्'** (इस भव से) यह पद 'संसार से विमुक्त होने' के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रकार नागार्जुन ने 'रत्नावलि' में कहा है :

मरीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णतः।
नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते।।
नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिश्रितः।।

(रत्नावलि १ : ५६-५७)

अर्थात् मृगमरीचिका के समान इस लोक को 'सत्' रूप में या 'असत्' रूप में ग्रहण करनेवाले का उस प्रकार ग्रहण करना 'मोह' ही है और मोह के विद्यमान रहते मुक्ति (सम्भव) नहीं है।

नास्तिक दुर्गति को प्राप्त करता है तथा आस्तिक सुगति को प्राप्त करता है, किन्तु यथाभूत (तथता) के परिज्ञान से अद्वय (तत्त्व) में आश्रित व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकार संसार से मुक्ति के लिए अस्ति और नास्ति इन दोनों अन्तों से रहित होना नितान्त आवश्यक है। ऐसी स्थिति में आत्मदृष्टि (आत्मग्राह) क्लेशावरण और ज्ञेयावरण इन दो आवरणों में किस आवरण के अन्तर्गत गृहीत होगी ? इस विषय में दूसरे

माध्यमिकों (भावविवेक और शान्तरक्षित आदि) से इस प्रासङ्गिक मत की अत्यधिक विशेषता (भिन्नता) है। अन्य माध्यमिकों द्वारा जो धर्मात्मदृष्टि ज्ञेयावरण मानी जाती है, वह इस मत (प्रासङ्गिक) में क्लेशावरण मानी जाती है।

राग, द्वेष और मोह इन तीन विषों (त्रिविष) में से मोह विषय के प्रति 'सत्-दृष्टि' है तथा वही भव (संसार) का बीज भी है। उसकी निवृत्ति के लिए नैरात्म्यदर्शन अपेक्षित है और नैरात्म्यदर्शन वस्तुतः भावनिःस्वभावता का दर्शन ही है। इसलिए पुद्गल और धर्म के प्रति सत्-दृष्टि ही क्लिष्ट अविद्या मानी गई है। वही सत्-दृष्टि अर्थात् क्लिष्ट अविद्या प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश (बारह) अङ्गों में परिगणित अविद्या है। यह सहज क्लिष्ट अविद्या दो प्रकार की होती है, यथा- पुद्गलात्मदृष्टि और धर्मात्मदृष्टि। अतः सहज पुद्गलात्मदृष्टि भी क्लिष्ट अविद्या है। इसीलिए शास्त्रों में और सूत्रों में कभी-कभी 'अविद्या' संसार का मूल कही गई है और कभी-कभी सहज सत्कायदृष्टि संसार का मूल कही गई है। सहज सत्कायदृष्टि (अहं-दृष्टि) का आलम्बन 'अहम्' ही होता है। अतः भिन्न सन्तानवर्ती पुद्गल के प्रति स्वलक्षणसत्ता का ग्रहण करनेवाली दृष्टि यद्यपि आत्मदृष्टि है, किन्तु वह सत्कायदृष्टि नहीं है। यही आर्य नागार्जुन आदि का वास्तविक अभिप्राय है। शून्यतासप्तति में नागार्जुन ने कहा है।

हेतुप्रत्ययजा भावाः कल्प्यन्ते ये च तत्त्वतः।

प्रोक्ता शास्त्रा ह्यविद्या सा द्वादशाङ्गं ततो भवेत्।।

(शून्यतासप्तति, का. ६४, पृ. ६४)

अर्थात् हेतु-प्रत्यय से समुत्पन्न भावों के प्रति जो सत्यतः सत्ता की कल्पना की जाती है, उसे ही शास्ता ने 'अविद्या' कहा है। उसी से (प्रतीत्यसमुत्पाद के) बारह अङ्ग प्रवृत्त होते हैं।

प्रश्न- परस्पर विरुद्ध सहज धर्मात्मदृष्टि और सहज पुद्गलात्मदृष्टि का ग्रहण एक सन्तति में सम्भव नहीं है, अतः स्वातन्त्रिक माध्यमिकों द्वारा प्रतिपादित सहज आत्मदृष्टि (सहज धर्मात्मग्राह और पुद्गलात्मग्राह) का व्याख्यान किस प्रकार का है ?

समाधान- स्कन्धों से भिन्न, स्वतन्त्र पुद्गल का ग्रहण तथा द्रव्यतः (स्वतः) भिन्न सत्ता का ग्रहण सहज आत्मदृष्टि नहीं है। स्कन्ध से भिन्न, स्वतन्त्र, द्रव्यसत् पुद्गल का ग्रहण तो हस्त, पाद आदि अवयवों से द्रव्यतः भिन्न पुद्गल का ग्रहण करना होता है। ऐसा ग्रहण उन सामान्य जनों में नहीं होता, जिनकी बुद्धि सिद्धान्तों द्वारा विकृत नहीं की गई है। इसीलिए मध्यमकावतार में कहा गया है:

लोको यतो वक्ति च बीजमात्रमुप्त्वा मयोत्पादित एष सूनुः।

वृक्षोऽपि विन्यस्त इति ह्यवैति जनिः परस्मान्न च तेन लोके।।

(मध्यमकावतार, ६ : ३२)

अर्थात् क्योंकि जगत् में मात्र बीज का वपन करके कहा जाता है कि मैंने पुत्र का उत्पाद किया तथा मैंने वृक्ष का रोपण किया है-ऐसा जाना जाता है, अतः परतः उत्पत्ति लोक में भी नहीं है।

अपि च, बुद्धपालित ने भी कहा है कि "बीज मात्र को बो कर वृक्ष उत्पन्न होने पर उसे दिखाकर कहा जाता है कि मैंने इसे लगाया है", अतः बीज और वृक्ष का पृथक्त्या ग्रहण नहीं किया जाता, अन्यथा देवदार वृक्ष को दिखाकर मैंने शिंशपा वृक्ष बोया था-ऐसा व्यवहार भी होने लगेगा। और भी, हाथ की बीमारी को दिखाकर 'मैं बीमार हूँ' ऐसा लोग व्यवहार करते हैं। इस प्रकार वे 'हाथ' और 'मैं' में द्रव्यतः भिन्नता का ग्रहण नहीं करते। यह सब व्यवहार केवल कथनमात्र नहीं है, अपितु तदनुसार स्वीकार करना आवश्यक होता है। क्योंकि रोपित बीज और रोगग्रस्त हाथ के क्रमशः वृक्ष और पुद्गल न होने के कारण यदि रोपित वृक्ष और पुद्गल की व्यवस्था न की जा सकेगी तो ये दोनों असम्भव हो जाएंगे। अर्थात् व्यवस्था न की जा सकेगी। इन युक्तियों के सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है कि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों द्वारा मान्य सहज धर्मात्मदृष्टि और सहज पुद्गलात्मदृष्टि भी परिकल्पित आत्मदृष्टि ही है।

प्रश्न- जैसे कहा गया है, वैसा ही है तो ज्ञेयावरण क्या है ?

उत्तर- अविद्या की वासना ज्ञेय के सम्यक् अवबोध में बाधक होती है। राग आदि की वासनाएं भी उस प्रकार की कायिक और वाचिक प्रवृत्तियों की हेतु होती हैं, जैसी काय-वाक् प्रवृत्ति अर्हतों में विद्यमान होती है। राग आदि एवं अविद्या की वासना की सर्वथा निवृत्ति तो सर्वज्ञ या बुद्ध की अवस्था में ही होती है, दूसरी अवस्थाओं में नहीं-इस प्रकार का वर्णन मध्यमकावतार भाष्य में उपलब्ध है। इससे अधिक स्पष्ट ज्ञेयावरणों के स्वरूप का प्रतिपादन नागार्जुन और आर्यदेव के प्रामाणिक ग्रन्थों में नहीं है।

'वानर की भाँति उत्प्लवन एवं दूसरों को वृषल आदि कहना' आदि कायदौष्ठुल्य एवं वाग्दौष्ठुल्य शास्ता द्वारा निषिद्ध होने पर भी अर्हतों में निवृत्त नहीं होते। इस प्रकार की काय-वाक् प्रवृत्ति उनमें देखी जाती है।

राग, अविद्या आदि क्लेशों की वासनाएं ज्ञेयावरण हैं। वासना का स्वरूप मध्यमकावतार भाष्य में इस प्रकार वर्णित है, यथा- जिससे चित्तसन्तति वासित होती, मलिन होती है, जो चित्तसन्तति में अनुशयन करती है, जिससे चित्तप्रवाह प्रवर्तित होता है, वह 'वासना' है। क्लेशनिष्ठा, क्लेशाभ्यास, क्लेशमूल और वासना ये सभी पर्यायवाची हैं।

उक्त प्रकार के ज्ञेयावरण का प्रहाण करने में उक्त प्रकार के तत्त्वबोधक ज्ञान अर्थात् धर्मनैरात्म्य ज्ञान और पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान (मार्ग) के अलावा अन्य कोई भी मार्ग सक्षम नहीं है। तथापि उपाय की परिपूर्णता एवं अपरिपूर्णता तथा दीर्घकालीन अभ्यास एवं अनभ्यास आदि से हीनयान और महायान के प्रहाण में अन्तर होता है।

बुद्धवचनों में दोनों आत्मदृष्टियों का स्वरूप, दोनों नैरात्म्यों का स्वरूप तथा नैरात्म्यदर्शन से आवरणों से मुक्ति आदि के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की देशनाएं उपलब्ध होती हैं। अतः उनके नेयार्थ और नीतार्थ के भेद पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए।

जो लोग आलयविज्ञान नहीं मानते, उनके मत में वासना की स्थापना, वासना की स्थिति और उनका स्वरूप आदि के बारे में व्याख्यान करना यद्यपि आवश्यक है, किन्तु थोड़े में कहना सम्भव नहीं है, अतः विस्तार भय से उसका निरूपण नहीं किया जा रहा है।

स्वातन्त्रिक और प्रासङ्गिक मतों में पुद्गल और धर्म को लेकर दो सत्यों के स्वरूप में भिन्नता होने के कारण धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य के स्वरूप में भी भिन्नता होती है तथा हीनयान और महायान में उनका अवबोध होने और न होने में तथा दो आत्मदृष्टियों एवं दो आवरणों के स्वरूप में भी भिन्नता होने की विशेषताएं होती हैं।

(त्र) बाह्य अर्थ की स्थापना करके आलयविज्ञान और स्वसंवेदन के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

(i) पुद्गल एवं धर्म का अस्तित्व उसी प्रकार है, जैसे ऊपर कहा गया है। इसीलिए स्रोत-आपन्न आदि पुद्गल व्यवहारतया सत् हैं और नारकीय आदि पुद्गल असत् हैं-ऐसा भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमार्थतया दोनों ही असत् हैं और व्यवहारतया दोनों ही सत् हैं। इसी प्रकार स्कन्ध, धातु और आयतन नामक धर्मों में से रूपी धर्म असत् हैं और चित्त-चैतसिक सत् हैं-ऐसा भेद भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों ही परमार्थतः असत् हैं और संवृतितः (व्यवहारतः) सत् हैं।

इस अवसर पर कुछ माध्यमिक, जैसे भावविवेक आदि कहते हैं कि बाह्य घट, पट आदि और आन्तरिक चित्त-चैतसिक आदि दोनों ही समान रूप से सत् हैं तथा कुछ माध्यमिक जैसे शान्तरक्षित आदि कहते हैं कि चित्त-चैतसिक ज्ञानजातीय आन्तरिक पदार्थ सत् हैं तथा घट, पट आदि बाह्य जडजातीय धर्म असत् हैं। इन दोनों प्रकार के सूत्राचार एवं योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिकों की यह भी समान रूप से मान्यता है कि यदि (व्यवहारतः भी) सत् हैं तो वे धर्म स्वलक्षणतः सत् हैं और यदि स्वलक्षणतः असत् हैं तो सर्वथा असत् हैं। अर्थात् उनकी व्यवहारतः भी सत्ता नहीं हैं। अर्थात् वे सत्ता और स्वलक्षणतः सत्ता में फर्क नहीं करते।

इसी प्रकार प्रासङ्गिक मत में बाह्य (जडजातीय धर्म) यद्यपि स्वलक्षणतः असत् हैं, अर्थात् उनकी स्वलक्षण-सत्ता नहीं है, तथापि उनकी सत्ता का अभाव नहीं है। अर्थात् उनकी सत्ता और असत्ता के बारे में विवाद चलता है। आशय यह है कि जगत् के किसी एक धर्म की स्वलक्षणतः असत्ता होने पर भी सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) की स्थापना की जा सके

तो 'बाह्यार्थ नहीं है, विज्ञान हैं' इस प्रकार के भेद का निराकरण किया जा सकता है। अन्यथा युक्तियों का मर्म ज्ञात न हो सकेगा।

योगाचार माध्यमिक निरवयव परमाणु का निषेध करते हैं और उस निषेध के आधार पर कहते हैं कि उन परमाणुओं से आरब्ध स्थूल संचित पदार्थ का भी अभाव है। अर्थात् उनके मत में सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के बाह्यार्थों का अभाव है। इसलिए वे कहते हैं कि बाह्यार्थ सर्वथा नहीं हैं। यद्यपि उन योगाचार माध्यमिकों द्वारा प्रयुक्त युक्तियों के द्वारा निरवयव बाह्यार्थ की सत्ता का खण्डन किया जा सकता है, तथापि बाह्यार्थ की सत्ता का अपलाप (निषेध) नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, उनके मत में आगम और लोकप्रतीत-विरोध दोनों द्वारा बाधा उपस्थित होती है। दशभूमक सूत्र के **"चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्"** (बोधिसत्त्वों, तीनों धातुएं चित्तमात्र हैं) इस वचन में प्रयुक्त 'मात्र' शब्द द्वारा चित्त से अतिरिक्त किसी सृष्टिकर्ता (ईश्वर) के अस्तित्व का निषेध किया गया है, न कि बाह्यार्थ का निषेध किया गया है। अर्थात् उक्त वचन द्वारा बाह्यार्थ का निषेध उपदिष्ट नहीं है। यह आशय उसी सूत्र द्वारा स्पष्ट होता है। इस वचन के बारे में हमारा (प्रासङ्गिकों) का व्याख्यान आचार्य भावविवेक के व्याख्यान के समान ही है। **"दृश्यं न विद्यते बाह्यं"** (अर्थात् बाह्य दृश्य नहीं है) लङ्कावतार के इस आगम (वचन) द्वारा 'बाह्यार्थ का निषेध नहीं किया गया है'-ऐसा जो व्याख्या भावविवेक ने की है, चन्द्रकीर्ति उससे सहमत नहीं है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि उक्त लङ्कावतारसूत्र के वचन द्वारा बाह्यार्थ का निश्चित ही खण्डन किया गया है, किन्तु वह सूत्र (लङ्कावतार) नेयार्थ है, नीतार्थ नहीं। अर्थात् वे लङ्कावतारसूत्र को नेयार्थ प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि जननीसूत्रों में विना भेद किये पाँचों स्कन्धों की निःस्वभावता (शून्यता) की देशना की गई है तथा अभिधर्म में उन (स्कन्धों) की स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में समान रूप से सत्ता का निर्देश किया गया है, तदनुसार स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् चन्द्रकीर्ति का अभिप्राय है कि यदि सत्ता है तो बाह्य अर्थ और आन्तरिक विज्ञान दोनों की सत्ता है। यदि सत्ता नहीं है तो दोनों की सत्ता नहीं है। एक की सत्ता है और दूसरे की नहीं-इस प्रकार सत्ता भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता।

लोक में भी बाहर से आए हुए को 'बाह्य' कहते हैं। यदि वे बाहर न हों तो उनका आना सम्भव न होगा। बाह्य धर्म विज्ञान में अपने आकार की स्थापना के द्वारा उन (विज्ञानों) के विषय के रूप में या महाभूत आदि के रूप में प्रज्ञप्त होते हैं। विज्ञान में अपने आकार की स्थापना के विना सत्ता की स्थापना करना किसी के द्वारा भी सम्भव नहीं है। इसीलिए युक्तिषष्टिका में :

महाभूतादि विज्ञाने प्रोक्तं समवरुध्यते।
तज्ज्ञाने विगमं याति ननु मिथ्या विकल्पितम्।।

(युक्तिषष्टिका, का. ३० संस्कृत छाया)

अर्थात् सभी महाभूत आदि विज्ञान में संगृहीत हैं। क्योंकि वे विज्ञान द्वारा व्यवस्थापितमात्र हैं। जब विज्ञान का अनुत्पाद प्रत्यक्षतः ज्ञात हो जाता है, तब उसके द्वारा स्थापित अर्थ भी विलुप्त हो जाते हैं। अतः उक्त आगमों द्वारा बाह्यार्थ का खण्डन नहीं किया गया है। बाह्यार्थ और विज्ञप्ति (विज्ञान) दोनों के व्यवहृतार्थ की जब गवेषणा होती है तो दोनों की समानरूप से अनुपलब्धि होती है, फिर भी व्यवहार के वश से उनकी सांवृतिक सत्ता में कोई अन्तर नहीं है।

(ii) प्रासङ्गिक मत में आलयविज्ञान नहीं माना जाता। उनके मतानुसार आलयविज्ञान न मानने में कोई दोष भी नहीं है। कुछ लोगों (योगाचारों) की मान्यता है कि आलयविज्ञान मानना बहुत जरूरी है, क्योंकि कर्म तो अपने उत्पाद के द्वितीय क्षण में ही निरुद्ध (नष्ट) हो जाता है और भङ्ग से उत्पाद असम्भव है। अतः कर्म और उसके फल के आधारभूत आलयविज्ञान को मानना चाहिए। प्रासङ्गिकों का कहना है कि यद्यपि सभी धर्म स्वलक्षणतः असिद्ध हैं, फिर भी वस्तु की व्यवस्था की जा सकती है। अतः भङ्ग को भी वस्तु मानना युक्तियुक्त है। क्योंकि स्वभावतः किसी का निरोध नहीं होता। अतः कर्म भी स्वभावतः निरुद्ध नहीं होता, और उसमें अर्थक्रियासामर्थ्य विद्यमान होता है। फलतः आलयविज्ञान के न होने पर भी कभी-कभी चिरनिरुद्ध कर्म से फल का उत्पाद होता है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार में कहा है :

यस्मात् स्वभावेन न तन्निरुद्धं
विनालयं शक्तिरियं हि तस्मात्।
चिरान्निरुद्धादपि कर्मणस्तत्
क्वचित् फलं सम्भवतीति विद्धि।।

(मध्यमकावतार, ६ : ३९)

अर्थात् स्वभाव से वह (कर्म) निरुद्ध नहीं है, अतः आलयविज्ञान के विना भी यह अर्थक्रियाशक्ति है। इसलिए चिरनिरुद्ध कर्म से भी कभी-कभी फल उत्पन्न होता है-यह जानना चाहिए।

संवृति में भी स्वलक्षणतः सत्ता का निषेध करके जो लोग निःस्वभावता के आधार पर कार्य-कारणभाव की स्थापना करने में कुशल होते हैं, उन (प्रासङ्गिकों) के मत में आलयविज्ञान न होने पर भी आलयविज्ञान पर आधारित कर्म-फलव्यवस्था से भी अच्छी कर्म-कर्मफलव्यवस्था स्थापित की जा सकती है। उनके लिए न केवल दोनों सत्यों के प्रति शाश्वत और उच्छेद दृष्टियों का परिहार करने में सुगमता है, अपितु कर्म-फल आदि सभी व्यवस्थाओं की स्थापना करने में भी सुगमता है। उनके द्वारा ऐसा कर पाने का मूल आधार यही है कि वे लोग निःस्वभाव हेतु से निःस्वभाव फल की उत्पत्ति मानते हैं।

आलयविज्ञान न मानने पर अन्तिम च्युति चित्त और द्वितीय भव के प्रथम प्रतिसन्धि चित्त की सम्यग् व्यवस्था न हो सकेगी-यह दोष भी प्रासङ्गिक मत में नहीं होगा, यदि उपर्युक्त निःस्वभाव की उत्पत्ति की व्यवस्था भलीभाँति जान ली जाती है। बाह्यार्थ की सत्ता इस मत में मान्य होने के मर्म से भी आलयविज्ञान की अस्वीकृति जानी जा सकती है। यदि आलयविज्ञान माना जाता है तो बाह्यार्थ की सत्ताव्यवस्था टूट जाती है।

विनाश (भङ्ग) की वस्तुता की सिद्धि आचार्य चन्द्रकीर्ति ने मूलमाध्यमिककारिकाटीका प्रसन्नपदा में और युक्तिषष्टिकाटीका में विस्तारपूर्वक की है। विनाश को वस्तु मानने की वज़ह से त्रिकाल की व्यवस्था में भी इस मत में अनेक असाधारण विशेषताएं होती हैं।

(iii) स्वसंवेदन माननेवालों का पूर्वपक्ष और उस पूर्वपक्ष का खण्डन मध्यमकावतार और उसके भाष्य में निम्न प्रकार से वर्णित है :

पहले अनुभव हुए विना पीछे स्मृति भी नहीं होती, इसलिए जब-जब स्मृति होती है, तब-तब वह पूर्वानुभव से ही उत्पन्न होती है, यथा- 'मैंने पहले नील देखा'-इस प्रकार विषय की स्मृति होती है तथा 'मैंने देखा'-इस प्रकार विषयी की स्मृति होती है। इसलिए पूर्ववर्ती नीलज्ञान का अनुभव करनेवाला एक ज्ञान होना चाहिए, और उसे (अनुभव करनेवाले ज्ञान को) उस नीलज्ञान से भिन्न नहीं होना चाहिए। यदि अनुभव करनेवाला ज्ञान नीलज्ञान से भिन्न होगा तब उस अनुभव करनेवाले ज्ञान का भी अनुभव करनेवाला एक अन्य अपेक्षित होगा इस तरह अनवस्था होगी। यदि कहें कि पश्चाद्वर्ती ज्ञान पूर्ववर्ती ज्ञान का अनुभव करता है, तो पश्चाद्वर्ती ज्ञान द्वारा रूप आदि विषय का अनुभव न हो सकेगा। अतः स्वतः अनुभव मानना आवश्यक है। क्योंकि अनुभव स्वतः या परतः इन दो कोटियों में ही नियत है, तीसरी कोटि नहीं है। अतः पश्चाद्वर्ती स्मृति के बल से अनुभव करनेवाले पूर्ववर्ती स्वसंवेदन की सिद्धि होती है। इस तरह स्वसंवेदनवादियों का पूर्वपक्ष किया जाता है।

उत्तरपक्ष- पश्चाद्वर्ती स्मृति से पूर्ववर्ती अनुभव सिद्ध नहीं है, क्योंकि उस (स्मृति) की अनुभव के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ जाड़े की ऋतु में कभी मूषक द्वारा काट लिया जाता है और विष छोड़ दिया जाता है। तदनन्तर वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में मेघगर्जन होने पर मूषक-विष का परिपाक होता है और तज्जन्य पीड़ा आदि लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं। तब व्यक्ति को स्मरण होता है कि जाड़े में मूषक ने काटा था और विष डाल दिया था, किन्तु जब काटा था, उस जाड़े की ऋतु में मूषक के काटने और विष डालने का अनुभव नहीं हुआ था। आशय यह है कि जाड़े की ऋतु में विष डालने का अनुभव न होने पर भी बाद में स्मृति होती है। इस तरह अन्य अनेक उदाहरण भी लोक में उपलब्ध हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि विना अनुभव के भी स्मृति की सिद्धि होती है। अर्थात् अनुभव और स्मृति में व्याप्ति सिद्ध नहीं है।

अपि च, मात्र अनुभव करनेवाला सिद्ध हो भी जाए, फिर भी उससे स्वसंवेदन सिद्ध नहीं होता। सिद्धान्त में स्वसंवेदन न होने पर स्मृति की उपपत्ति इस प्रकार होती है :

पूर्ववर्ती नील विषय का अनुभव करनेवाला नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान और पश्चाद्वर्ती नीलज्ञ स्मृति दोनों एक ही विषय में प्रवृत्त होते हैं। इस समान प्रवृत्ति के बल से 'मैंने देखा' ऐसी स्मृति होती है। पूर्ववर्ती अनुभव और पश्चाद्वर्ती स्मृति दोनों के स्वलक्षणतः पृथक् नहीं होने के कारण विषय के स्मरण से विषयी का स्मरण तथा विषयी के स्मरण से विषय का स्मरण होता है और इस प्रकार परस्पर की अपेक्षा से दोनों के स्मरण होते हैं। पूर्ववर्ती अनुभव से आकृष्ट होकर ही पश्चाद्वर्ती स्मृति स्वविषय में प्रवृत्त होती है, स्वतः नहीं। अतः स्वसंवेदन की व्यवहार में भी स्वलक्षणतः सत्ता न होने के कारण व्यवहार में भी स्वसंवेदन सिद्ध नहीं है।

अनुभव स्वतः या परतः दोनों कोटियों में ही नियत है कि नहीं-इस विषय में चन्द्रकीर्ति-प्रणीत शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, फिर भी वातावरण से उनका ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है कि इनका कोई तीसरा ही पक्ष है, क्योंकि इन दोनों में नियत न होना, इनका अभिमत है। कारण यह है कि दीपक का अपने-आप को प्रकाशित करना ये (चन्द्रकीर्ति) नहीं मानते और दूसरे द्वारा प्रकाशित किया जाना भी नहीं मानते। फिर भी प्रकाशित होना तो स्वीकार करते ही हैं।

पूर्वपक्ष- दीपक अपने-आपको प्रकाशित न भी करे, फिर भी उसकी सत्ता में कोई हानि नहीं होती, किन्तु ज्ञान यदि अपने-आप को नहीं जानेगा तो उसकी सत्ता ही उपपन्न न हो सकेगी, अतः दीपक और ज्ञान में साम्य नहीं है ?

उत्तरपक्ष- दीपक यदि अपने-आपको प्रकाशित न करेगा तो कोई दूसरा भी उसको प्रकाशित न कर सकेगा। यदि दूसरा भी कोई प्रकाशित नहीं करेगा तो दीपक का प्रकाशित होना उपपन्न न हो सकेगा, अतः दीपक और ज्ञान में साम्य है।

पूर्वपक्ष- स्वतः या परतः प्रकाशित न होने पर भी दीपक घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करता है, अतः वह 'प्रकाशस्वभाव' सिद्ध है ?

उत्तरपक्ष- इसी तरह ज्ञान अपने-आपको नहीं जानता, फिर भी घट आदि वस्तुओं को जानता है, अतः 'ज्ञानस्वभाव' सिद्ध है।

पूर्वपक्ष- यदि ज्ञान अपने-आपको नहीं जानेगा, तो वह दूसरे (घट आदि) को कैसे जान सकेगा ? इसलिए ज्ञान अपने-आपको जानता है और घट आदि को भी प्रकाशित करता है ?

उत्तरपक्ष- यह भी अयुक्त है। यदि दूसरों को प्रकाशित करने से पहले अपने-आपको प्रकाशित करना आवश्यक माना जाएगा तो दूसरों को आवृत (ढंकन) करने से पहले

अपने-आपको आवृत करना भी आवश्यक होगा। ज्ञात है कि अन्धकार दूसरों का आवरण करता है। यदि वह दूसरों को ढंकने से पहले अपने-आपको ढंक लेगा तो अन्धकार दिखाई ही नहीं पड़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः दूसरों को प्रकाशित करने के लिए अथवा दूसरों को जानने के लिए पहले अपने-आपको प्रकाशित करना या जानना आवश्यक नहीं है।

उपसंहार- ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय पर आश्रित है, उसकी स्वलक्षणतः सत्ता नहीं है, उसी तरह ज्ञेय भी ज्ञान पर आश्रित है, उसकी भी स्वलक्षणतः सत्ता नहीं है। इस तरह ज्ञान और ज्ञेय दोनों का व्यवहार अन्योन्याश्रित या परस्परापेक्ष है। आर्य नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्तनी में कहा है :

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि।
भवति प्रमाणसिद्धिर्न परापेक्षा हि सिद्धिरिति।।

(विग्रहव्यावर्तनी, का. ४१)

अर्थात् यदि तुम्हारे मत में प्रमाण की स्वतः सिद्धि होती है तो विना प्रमेय की अपेक्षा के प्रमाणसिद्धि होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अपितु अन्य की अपेक्षा से ही सिद्धि होती है।

(ज्ञ) स्वतन्त्र हेतु के अस्वीकार की असाधारण विशेषता

इस विषय का प्रतिपादन भी दो उपशीर्षकों में विभाजन करके किया जा रहा है :

(i) (अ) स्वतन्त्र हेतु के निषेध का क्रमिक पर्यालोचन एवं
(ब) स्वतन्त्र हेतु का विविध व्याख्यान

(ii) (स) स्वमत में साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु का होना एवं
(द) स्वतन्त्र हेतु का न होना

(i) (अ) **स्वतन्त्र हेतु के निषेध का क्रमिक पर्यालोचन एवं (ब) स्वतन्त्र हेतु का विविध व्याख्यान**

(अ) बुद्ध के प्रवचनों का अभिप्राय अमुक प्रकार से (स्वलक्षणतः) प्रकाशित किया जाए तो स्वतन्त्र हेतु अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए तथा अमुक प्रकार से (प्रज्ञप्तितः) प्रकाशित किया जाए तो स्वतन्त्र हेतु स्वीकार करना अशक्य होगा-इस तरह का अर्थ यद्यपि प्रवचनों में निहित है, तथापि बौद्ध सिद्धान्तों के वाङ्मय में स्वतन्त्र हेतु मानना अयुक्त है तथा प्रसङ्ग मानना युक्त है-ऐसा प्रतिपादन आचार्य चन्द्रकीर्ति और उनके अनुयायियों ने तो किया है, किन्तु उन्हें छोड़कर अन्यों ने नहीं किया है। वह इस प्रकार है :

'न स्वतो नापि परतः' (स्वतः परतः आदि हेतुओं से भावों का उत्पाद नहीं होता) इत्यादि मूलमाध्यमिककारिका की बुद्धपालित ने जो व्याख्या की, उसमें आचार्य भावविवेक ने अनेकविध आक्षेप किये हैं। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपनी प्रसन्नपदा टीका में युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि भावविवेक द्वारा प्रदर्शित दोष आचार्य बुद्धपालित पर लागू नहीं होते, क्योंकि बुद्धपालित स्वतन्त्र-हेतु स्वीकार नहीं करते तथा यह भी कहा है कि माध्यमिकों द्वारा स्वतन्त्र हेतु मानना अयुक्त है। इस प्रकार उन्होंने विपक्ष में अनेक दोष और अपने पक्ष में अनेक युक्तियों का प्रदर्शन किया है। चतुःशतक की टीका में उन्होंने आचार्य धर्मपाल के मत का खण्डन करते हुए संक्षेप में स्वतन्त्र हेतु का निषेध किया है[1]। आचार्य भावविवेक को वस्तुतः यह भान ही नहीं था कि स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करने के बारे में उनमें और आचार्य बुद्धपालित में कोई मतभेद है। इतना ही नहीं, उन्हें ऐसा लगता था कि स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी वज़ह से वे अपने मत में और बुद्धपालित के मत में धर्म और पुद्गल के स्वभाव का निषेध करते समय निषेध्य के स्वरूप में कोई अन्तर (फर्क) है-ऐसा समझ ही न पाए।

आचार्य भावविवेक के अनुयायी अवलोकितेश्वरव्रत को मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति प्रसन्नपदा के बारे में जानकारी थी, अतः उन्हें प्रज्ञाप्रदीप (भावविवेक कृत मूलमाध्यमिक कारिका की टीका) की अपनी पञ्जिका में प्रज्ञाप्रदीप के उस स्थल पर, जहाँ भावविवेक ने बुद्धपालित पर दोषारोपण किया था और चन्द्रकीर्ति ने उन दोषों की अयुक्तता दिखलाई थी, उसकी व्याख्या करते समय चन्द्रकीर्ति के मत की युक्तता या अयुक्तता की समीक्षा करनी चाहिए थी, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसी तरह शान्तरक्षित, कमलशील और उनके अनुयायियों को भी चन्द्रकीर्ति द्वारा जो स्वतन्त्र हेतु का निषेध किया गया था, उसका खण्डन करना चाहिए था, किन्तु उन्होंने भी ऐसा नहीं किया।

सामान्यतया बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति दोनों आचार्यों के द्वारा व्यवहार में भी स्वलक्षणतः सिद्धि का निषेध किया जाता है तथा निःस्वभावता में ही हेतुफल आदि की समस्त व्यवस्थाएं सुचारुतया युक्तियुक्त ढंग से सिद्ध की जाती हैं। उसमें भी लौकिक और लोकोत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद को अनिवार्यतया स्वीकार करना चाहिए। प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु से उस निषेध्य का निषेध करने वाली जिन युक्तियों का प्रतिपादन किया गया है, वे निश्चय ही अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म हैं-ऐसा प्रतीत होता है। उन युक्तियों में भी स्वतन्त्र हेतु का निषेध करनेवाली युक्तियाँ निश्चय ही अत्यधिक सूक्ष्म हैं।

(ब) इस प्रसङ्ग में कुछ लोगों का कहना है कि साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु, व्याप्ति आदि साधन यदि प्रमाण से सिद्ध हों तो स्वतन्त्र हेतु का औचित्य सिद्ध किया जा

---

१. द्र.-चतुःशतकवृत्ति, १६ : २१, पृ. १५२ (आलोक-प्रकाशन, नागपुर)।

सकता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, अतः स्वतन्त्र हेतु अयुक्त है। वादी और प्रतिवादी दोनों द्वारा सिद्ध कोई हेतु हो नहीं सकता, क्योंकि वह (वादी) परचित का ज्ञाता नहीं है, साथ ही वह अपने द्वारा सिद्ध को भी नहीं जानना, क्योंकि जिस रूप में निश्चय किया गया है, उसमें विसंवाद (धोखा) हो सकता है। इस तरह कुछ लोग स्वतन्त्र हेतु के निषेध का अनौचित्य प्रतिपादित करते हैं अर्थात् उनके अनुसार स्वतन्त्र हेतु का अभिप्राय यह है।

यह वाद अत्यन्त अयुक्त है। जैसे कहा गया है, वैसा सही हो तो विपक्षी की प्रतिज्ञा को जानकर उसका खण्डन करना हमारे द्वारा असम्भव हो जाएगा, क्योंकि उस (विपक्ष) द्वारा उसी प्रकार स्वीकृत है कि नहीं है-ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि हम परचित्त के ज्ञाता नहीं है। अपि च, अपने द्वारा विपक्ष के पक्ष में जो दोष (आक्षेप) दिये गये हैं, वे दोष (प्रसङ्ग) 'सही दोष है, या दोषाभास है'-यह निश्चय भी न हो सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार निश्चय किया जाता है, उसमें बाद में विसंवाद (धोखा) भी हो सकता है। इस तरह अपने (प्रासङ्गिकों) द्वारा प्रयुक्त प्रसङ्ग भी युक्त न हो सकेगा। अतः जिस प्रकार स्वतन्त्र हेतु का खण्डन किया जाता है, उसी प्रकार प्रसङ्ग भी स्वतः खण्डित हो जाएगा।

अन्य दूसरे लोगों का कहना है कि व्याप्ति भी प्रमाणतः असिद्ध ही है, यथा- यद्यपि महानस में धूम और वह्नि की व्याप्ति प्रत्यक्ष द्वारा जानी जाती है, तथापि सभी देश एवं काल में धूम को वह्नि से व्याप्त के रूप में नहीं जाना जा सकता। अनुमान द्वारा भी सभी देश-कालों में उक्त व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है। अतः लोकप्रसिद्धि या लोक द्वारा स्वीकृति या लोक द्वारा स्वीकृति मात्र से व्याप्ति सिद्ध होती है, प्रमाणतः सिद्ध नहीं होती।

कुछ दूसरे लोगों का यह उपर्युक्त कथन भी अयुक्त है। बौद्ध न्यायशास्त्रों में व्याप्तिग्रहण का जैसा प्रकार वर्णित है, उसे इन्होंने समझा ही नहीं है या गलत समझा है। महानस (दृष्टान्त) में जो धूम और वह्नि की व्याप्ति गृहीत होती है, उसका कतई यह अभिप्राय नहीं है कि महानसीय धम के साथ महानसीय वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण होता है। यदि ऐसा समझा जाएगा तो धूमवान् पर्वत में महानसीय धूम होने से महानसीय वह्नि सिद्ध होने लगेगी। क्योंकि **'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्'** (अर्थात् धूम विद्यमान होने से पर्वत वह्निमान् है) इस अनुमान-प्रयोग में निश्चय ही धूम (हेतु) को साध्य (वह्नि) से व्याप्त होना चाहिए और उन्हें अर्थात् दोनों को ही पर्वत (पक्ष) में स्थित होना चाहिए। फलतः दोनों ही महानसीय सिद्ध हो जाएंगे। वस्तुतः महानस तो धूम और वह्नि के अविनाभाव नियम को निश्चित करने का आधारमात्र है और निश्चय ही 'व्याप्ति' है। इसी प्रकार कृतकत्व के साथ अनित्यत्व की व्याप्ति भी है, जिसके द्वारा शब्द को अनित्य सिद्ध किया जाता है और जिस व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा घट (दृष्टान्त) में किया जाता है। किन्तु वहाँ भी घटीय कृतकत्व के साथ घटीय अनित्यत्व की व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया जाता, अपितु कृतकत्व के साथ अनित्यत्व मात्र की व्याप्ति का ग्रहण होता है। घट तो केवल व्याप्ति ग्रहण करने का

आधारमात्र होता है। इसी प्रकार इस देश के धूम या इस काल के धूम अथवा इस देश के कृतकत्व या इस काल के कृतकत्व हेतु को अर्थात् देश और काल से विशिष्ट हेतु को साध्य वह्नि और अनित्य से व्याप्त नहीं समझा जाता, अपितु निर्विशेष धूममात्र को वह्नि से व्याप्त एवं कृतकत्व मात्र को अनित्यत्व से व्याप्त सिद्ध किया जाता है। फलतः सभी देश और सभी कालों में अभ्रान्त रूप से व्याप्ति का निश्चय होता है।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य लोगों का यह मानना है कि कोई भी अर्थ प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हुआ करता, अतः केवल दूसरों (विपक्ष) के द्वारा स्वीकृत अर्थ (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि) के आधार पर प्रसङ्ग द्वारा उनकी मिथ्यादृष्टि का अपाकरण किया जाता है, न कि निःस्वभावता की सिद्धि की जाती है। और यही 'स्वतन्त्र हेतु नहीं है, स्वतन्त्र प्रतिज्ञा नहीं है'-इसका अर्थ है। अन्य लोग कहते हैं कि संवृति और परमार्थ की सभी व्यवस्थाएं दूसरों की दृष्टि से ही की जाती है, स्वमत में तो कुछ (संवृति, परमार्थ) भी नहीं है। 'कुछ नहीं है'-यह बात भी दूसरी की दृष्टि में आभासमात्र के आधार पर कही जाती है, यह भी कोई स्वमत की प्रतिज्ञा नहीं है। अर्थात् प्रासङ्गिक मत में संवृति सत्य, परमार्थसत्य भी नहीं है-ऐसा दूसरों को आभासितमात्र है, उसी के आधार पर कहा जाता है, माध्यमिकों का तो यह भी कहना नहीं है। यदि वे ऐसा कहते हैं तो दूसरों को समझाने मात्र के उद्देश्य से कहते हैं, न कि स्वमत की मान्यता के आधार पर।

ऊपर जो स्वतन्त्र हेतु के निषेध करने वालों के कुछ विचार प्रस्तुत किये गये हैं, वे स्वतन्त्र हेतु के निषेधक प्राचीन लोगों का मत नहीं है, अपितु बाद के लोगों के कथनमात्र हैं। उनमें से कुछ लोगों ने तो प्रासङ्गिक मत के असाधारण निषेध्य को ठीक-ठीक स्वीकार किया है, किन्तु अधिकांश लोगों ने तो प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रामाणिक सिद्धि का भी खण्डन कर दिया है। इसलिए वस्तुतः ये (अधिकांश) लोग ही प्रासङ्गिकों के प्रमुख पूर्वपक्षी हैं।

(ii)(अ) स्वमत में साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु का होना एवं

(ब) स्वतन्त्र हेतु का न होना

(अ) 'धर्मों की स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार करके हेतु, व्याप्ति आदि की व्यवस्था करना'-स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करने का अर्थ है, जैसे स्वैकायिक वस्तुवादी एवं भावविवेक आदि आचार्य स्वीकार करते हैं तथा 'व्यवहार में भी किसी धर्म की स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार न करना'-स्वतन्त्र हेतु स्वीकार न करने का अर्थ है। अतः स्वतन्त्र हेतु को स्वीकार करने या न करने का मूल सूक्ष्म निषेध्य का खण्डन करने या न करने पर निर्भर है।

व्यवहार में भी स्वलक्षणतः सत्ता न होने पर स्वपक्ष में साध्य और उसके साधन तथा प्रमाण और प्रमेय में विरोध देखकर स्वतन्त्र हेतु का निषेध नहीं किया गया है, अपितु हेतु

और व्याप्ति आदि के व्यवहृतार्थ की परीक्षा करने पर उसके उपलब्ध न होने के कारण स्वतन्त्र हेतु नहीं माना जाता है। जैसे कि मध्यमकावतार और उसके भाष्य में "कारण कार्य से संस्पृष्ट होकर कार्य को उत्पन्न करता है या असंस्पृष्ट होकर कार्य को उत्पन्न करता है" ?-इन दोनों पक्षों की परीक्षा करके दोनों ही पक्षों का खण्डन किया गया है।

दोनों प्रकार की उक्त परीक्षाओं से उत्पन्न दोष परवादी के पक्ष में ही होंगे, स्वपक्ष में नहीं होंगे-इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए मध्यमकावतार में उल्लिखित है कि जो स्वलक्षणतः कार्यकारणभाव मानते हैं, उन्हीं के मत में उक्त परीक्षा प्रवृत्त होगी, जिस मत में स्वलक्षणतः सत्ता व्यवहार में भी नहीं मानी जाती, उस निःस्वभावता पक्ष में नहीं।

अपि च, दोष दूषणीय से संस्पृष्ट होकर दूषणीय को दूषित करता है या असंस्पृष्ट होकर दूषित करता है-इस प्रकार दो पक्ष उपस्थित करके परीक्षा की गई है और अन्त में मध्यमकावतारमूल में कहा गया है कि ये दोष उन्हीं के मत में निश्चित रूप से प्रवृत्त होंगे, जिनका कोई पक्ष है। हमारा कोई पक्ष नहीं है, अतः ये दोष हम पर लागू नहीं होंगे। उसी के भाष्य में उल्लिखित है कि दोष प्रवृत्त न होने का हेतु 'दोष और दूषणीय दोनों का स्वभावतः असत् होना है'। यहाँ 'पक्ष है' या 'नहीं है'-इसका तात्पर्य स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार करने या न करने से है। अर्थात् जिस मत में स्वलक्षणतः या स्वभावतः सत्ता स्वीकार की जाती है, उसके मत में 'पक्ष है' तथा जिस मत में स्वभावतः सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, उसके बारे में कहा जाता है कि 'पक्ष नहीं है'।

मध्यमकावतार भाष्य में उद्धृत सूत्र के अनुसार शारिपुत्र ने सुभूति से पूछा कि सुभूति, जात धर्म से अजात प्राप्ति (प्राप्य) को प्राप्त किया जाता है या जात धर्म से जात प्राप्ति को प्राप्त किया जाता है ? ऐसी परीक्षा करके पूछने पर सुभूति ने कहा कि दोनों विकल्प नहीं हैं। शारिपुत्र ने पुनः पूछा कि क्या प्राप्ति और अभिसमय नहीं हैं ? सुभूति ने कहा कि दोनों होते हैं, किन्तु उपर्युक्त दोनों दृष्टि से नहीं। अर्थात् जात से अजात प्राप्ति की या जात से जात प्राप्ति के रूप में नहीं।

अपि च, प्राप्ति, अभिसमय, स्रोत-आपन्न आदि लौकिक व्यवहारतया होते हैं। परमार्थतया तो प्राप्ति, अभिसमय और स्रोत-आपन्न आदि नहीं हैं। उपर्युक्त सूत्र को उद्धृत करके भाष्य में आगे आचार्य चन्द्रकीर्ति ने कहा कि जैसे विना परीक्षा किये लौकिक व्यवहारतया अविचाररमणीय प्राप्य की प्राप्ति स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार दोष और दूषणीय, कारण और कार्य आदि की 'संसृष्ट होकर या असंसृष्ट होकर' इस तरह विचार कर यद्यपि व्यवस्था नहीं की जा सकती, फिर भी विना इस तरह विचार किये व्यवहारतया दूषण द्वारा दूषणीय को भलीभाँति दूषित किया जाता है। स्वभावतः (स्वलक्षणतः) शून्य दूषण द्वारा दूषणीय को दूषित करना एवं स्वभावतः शून्य हेतु से साध्य को सिद्ध करना आदि इन दो महास्थविरों (सुभूति और शारिपुत्र) के उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों के अनुसार अर्थात् उन्हीं के समान करना चाहिए।

दोनों महास्थविरों के उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में प्रयुक्त 'प्राप्ति की प्राप्ति' में प्रथम 'प्राप्ति' का तात्पर्य 'प्राप्य' से है। उक्त प्रकार से दो तरह की परीक्षा करके 'किस प्राप्य की प्राप्ति होगी' ? ऐसा पूछने पर 'दोनों नहीं है' ऐसा उत्तर दिया गया है, किन्तु इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि प्राप्य ही नहीं है, अपितु इसका अर्थ 'परीक्षा करने पर अनुपलब्ध होना' है। 'नहीं है' का अर्थ अभाव समझकर शारिपुत्र ने 'क्या प्राप्य प्राप्त नहीं किया जा सकता'-ऐसा पूछा। तब सुभूति ने कहा 'प्राप्त होता है'। इसका तात्पर्य यह है कि परीक्षा करनेवाली बुद्धि के सामने प्राप्य के अनुपलब्ध होने पर भी प्राप्य का अभाव नहीं है। हाँ, खोज करने पर उपलब्ध नहीं होता, यही तात्पर्य है।

निष्कर्ष- दोनों प्रकार से परीक्षा करने पर उपलब्ध न होने का अर्थ 'परमार्थतः असत्ता' है। बिना परीक्षा किये उपलब्ध होना 'व्यवहारतः सत्ता' का अर्थ है।

व्यवहार के बल से स्थापित न होकर वस्तु का अपनी ओर से अर्थात् स्वबल से (स्वतः) होना स्वलक्षणतः सत्ता का अर्थ है। यदि स्वलक्षणसत् धर्म स्वीकार किया जाएगा तो उपर्युक्त दो प्रकार की परीक्षा प्रवृत्त होगी, किन्तु निःस्वभावता पक्ष में उस प्रकार की परीक्षा लागू नहीं होगी।

अत एव प्रसन्नपदा (पृ. २५) में प्रमाण-प्रमेय की स्वतः सिद्धि का खण्डन करके परस्पर की अपेक्षा से व्यवस्था करने के लिए कहा गया है।

विग्रहव्यावर्तनी (का. ६६) और उसकी स्ववृत्ति में भी निःस्वभाव होने पर भी साध्य को सिद्ध करने की विधि सोदाहरण प्रदर्शित की गई है। मूलमाध्यमिककारिका में भी कहा गया है कि जिस मत में शून्यता की स्थापना युक्तियुक्त ढंग से हो जाती है, उस पक्ष में प्रमाणप्रमेय आदि समस्त व्यवस्थाएं सुचारुतया स्थापित हो जाती हैं, यथा :

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।

(मूलमाध्यमिककारिका-२४ : १४)

अर्थात् जिसके मत में शून्यता युक्त होती है, उसके मत में सभी कुछ युक्त होता है।

इस तरह स्वलक्षणसत्ता से शून्यता वाले पक्ष में संक्लेश और व्यवदान आदि सभी की स्थापना भलीभाँति हो सकती है-ऐसा शास्त्रों में बारबार कहा गया है। अतः जो लोग ऐसा समझते हैं कि इस (शून्यता) पक्ष में हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि तथा प्रमाण द्वारा प्रमेय की उपलब्धि आदि की प्रक्रिया को अयुक्त समझा जाता है, वे अपनी बुद्धि की अक्षमता को ही प्रकट करते हैं।

अपि च,

यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र स्यादेष मे भवेद् दोषः।

नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः।।

(विग्रहव्यावर्तनी का. २६)

अर्थात् यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा हो तो मेरे मत में दोष हो सकता है, (किन्तु) मेरी कोई प्रतिज्ञा नहीं है, इसलिए मेरे ऊपर कोई दोष नहीं है।

विग्रहव्यावर्तनी की इस उपर्युक्त कारिका का अर्थ भी 'हमारा यह (स्वलक्षणतः सिद्ध) पक्ष तो है नहीं, अतः हमारे मत में प्रसङ्ग होना असम्भव है'-यह किया गया है। फलतः प्रतिज्ञा या पक्ष न होने का अर्थ जैसा मध्यमकावतार भाष्य में प्रतिपादित है, वैसा ही है।

तथा :

सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते।

उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते।।

(चतुःशतक, १६ : २५)

अर्थात् सत्, असत् या सदसत् जिसका कोई भी पक्ष नहीं है, उसे लाख प्रयत्न करे पर भी दोष नहीं दिया जा सकता।

चतुःशतक की इस उपर्युक्त कारिका द्वारा 'पक्ष के न होने से दोषों का आक्षेप असम्भव है'-जो ऐसा कहा गया है, इसका अर्थ 'विना परीक्षा किये अविचारित और उपचरितमात्र धर्मों की व्यवस्था करनेवाले (प्रासङ्गिक) पक्ष में उक्त प्रकार की सत्, असत् आदि परीक्षाओं द्वारा किसी भी तरह का दोषारोपण नहीं किया जा सकता-ऐसी व्याख्या मध्यमकावतार भाष्य में की गई है। ऐसा नहीं है कि अविचारित व्यवहार मानने वाले पक्ष में साध्य-साधन, प्रमाण-प्रमेय आदि की व्यवस्था मान्य नहीं है। आशय यह है कि परीक्षा करने पर कोई भी पक्ष उपलब्ध नहीं होता, अतः प्रासङ्गिक माध्यमिक उपचरित व्यवहारमात्र से सारी व्यवस्थाएं निष्पन्न करते हैं। इस व्यवस्था में साध्य-साधन, प्रमाण-प्रमेय आदि सभी निष्पन्न होते हैं।

ऊपर जिन आगमों को उद्धृत किया गया है, वे आगम इस बात को प्रमाणित करने के लिए नहीं है कि प्रासङ्गिक मत में व्यवहार में भी साध्य-साधन, प्रमाण-प्रमेय आदि नहीं हैं। अपितु वे व्यवहार में साध्य-साधन आदि होने का प्रमाण हैं। इसलिए प्रसन्नपदा में कहा गया है :

न च माध्यमिकस्य सतः स्वतन्त्रमनुमानं कर्तुं युक्तम्, पक्षान्तराभ्युपगमाभावात्।

अर्थात् माध्यमिक के लिए स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करना युक्त नहीं है, क्योंकि उन्हें कोई भी पक्ष स्वीकार्य नहीं है। ऐसा कहकर अपनी बात की पुष्टि के लिए पूर्वोक्त आगमों को उद्धृत करना परमार्थतः या स्वलक्षणतः सिद्ध प्रतिज्ञा के युक्तियुक्त न होने का प्रमाण है। यदि ऐसी प्रतिज्ञा युक्त नहीं है तो स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग भी अयुक्त है-इस प्रकार स्वतन्त्र हेतु का खण्डन किया गया है, न कि साध्य के साधक हेतु का ही खण्डन किया गया है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का आशय यह है कि उपर्युक्त आगमों का निहितार्थ सत्, असत् किसी भी पक्ष की अस्वीकृति है। माध्यमिक पक्ष में परमार्थतः सत्ता नहीं है। परमार्थ सत्ता के न होने से स्वलक्षणसत्ता भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। स्वलक्षणसत्ता के स्वीकार न करने से स्वतन्त्र अनुमान नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार स्वतन्त्र हेतु का निषेध किया जाता है, किन्तु साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु के प्रयोग का खण्डन नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के तीन पक्ष थे- १. शून्यता का निषेध्य 'सत्य' है और उसका निषेध (शून्यता) सत्यतः सत्य है। २. निषेध्य और निषेध दोनों स्वलक्षणतः सत् हैं तथा ३. सभी शशविषाण के समान अलीक हैं। इनमें कोई भी मत युक्तियुक्त नहीं है।

(b) यद्यपि पक्ष, हेतु, दृष्टान्त इनमें से किसी एक का भी स्वलक्षणतः सत् होना सम्भव नहीं है, अतः स्वलक्षणतः सत्ता के आधार पर तो न केवल स्वतन्त्र हेतु, अपितु किसी भी प्रकार के कर्म-कर्तृभाव आदि युक्ति-युक्त नहीं हैं, फिर भी उस (स्वलक्षणसत्ता) का निषेध करके साध्य-साधन, कर्म-कर्ता आदि सभी युक्तियुक्त सिद्ध किये जाते हैं।

इस प्रासङ्गिक मत में स्वतन्त्र हेतु एवं स्वतन्त्र साध्य-साधन, कर्म-कर्ता आदि के युक्तियुक्त न होने का कारण क्या है ?

समाधान- प्रसन्नपदा में स्वतन्त्र हेतु का खण्डन करनेवाली युक्ति, उस युक्ति के परवादी द्वारा भी अर्थतः स्वीकार करने का नय तथा पूर्वपक्ष को दिये गये दोषों का स्वपक्ष में लागू न होने का नय-इन बातों का प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य भावविवेक ने **'न स्वतो नापि परतः'** (न स्वहेतु से, न परहेतु से भाव उत्पन्न होते हैं) इत्यादि नागार्जुन की कारिका द्वारा निर्दिष्ट हेतु का स्वसिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार प्रयोग किया है :

न परमार्थत आध्यत्मिकान्यायतनानि स्वत उत्पन्नानि, विद्यमानत्वात्, चैतन्यवदिति (अर्थात् परमार्थतः आध्यात्मिक आयतन (चक्षु, श्रोत्र आदि) स्वतः उत्पन्न नहीं हैं, विद्यमान होने से चैतन्य के समान)। इस अनुमान प्रयोग में भावविवेक ने 'परमार्थतः' इस विशेषण का प्रयोग किया है। यदि भावविवेक ने 'परमार्थतः' इस विशेषण को अपनी प्रतिज्ञा का विशेषण बनाया है तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है। अर्थात् इसे अपनी प्रतिज्ञा का विशेषण बनाना निष्प्रयोजन है, क्योंकि स्वयं भावविवेक के लिए इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि स्वयं भावविवेक संवृति में भी स्वतः उत्पाद स्वीकार नहीं करते। अतः अपने मत की अपेक्षा से तो उन्हें इस विशेषण के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। यदि परमत के लिए इस (परमार्थतः) विशेषण का प्रयोग किया गया है तो भी इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि दोनों सत्यों से परिभ्रष्ट तैर्थिक लोगों का तो दोनों सत्यों की दृष्टि से स्वतः उत्पाद

का खण्डन करना युक्त है। उनके लिए तो विना कुछ विशेषण लगाए ही खण्डन करना उचित है। लोकव्यवहार की दृष्टि से भी स्वतः उत्पाद का खण्डन करने के लिए विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सामान्य लौकिक जन तो 'हेतु से कार्य उत्पन्न होता है' इतना मात्र जानते और मानते हैं, वह (कार्य) स्वतः उत्पन्न होता है कि परतः उत्पन्न होता है-ऐसी परीक्षा वे नहीं करते।

अपि च, परवादी सांख्य द्वारा स्वीकृत परमार्थसत् चक्षु आदि के संवृति में भी स्वतः उत्पाद का निषेध करने के लिए 'परमार्थतः' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है तो उस स्थिति में धर्मी के असिद्ध होने से यह पक्षदोष या हेतुदोष होगा, क्योंकि भावविवेक स्वमत में भी चक्षु आदि को परमार्थसत् स्वीकार नहीं करते। आशय यह है कि सांख्य द्वारा स्वीकृत परमार्थसत् चक्षु आदि के संवृतितः भी उत्पाद के निषेध के लिए यह विशेषण है तो यह 'परमार्थतः' विशेषण धर्मी का विशेषण हो जाएगा और परमार्थसत् धर्मी स्वयं आपको ही असिद्ध है। ऐसी स्थिति में यह पक्षदोष और हेतुदोष तो होगा ही, साथ ही, यदि आपको ही स्वयं धर्मी सन्दिग्ध रहेगा तो आप दूसरों को क्या समझा सकेंगे।

यदि भावविवेक कहें कि पारमार्थिक चक्षु आदि के असिद्ध होने पर भी सांवृतिक चक्षु आदि का अस्तित्व है, अतः दोष नहीं है, तो हमारा पूछना है कि तब 'परमार्थतः' यह विशेषण किसका है ? यदि वे कहें कि 'परमार्थतः' यह विशेषण 'उत्पाद' का है। अर्थात् सांवृतिक चक्षु का परमार्थतः उत्पाद नहीं है, क्योंकि हम परमार्थतः उत्पत्ति का निषेध करते हैं। इस पर हमारा कहना है कि प्रयोग करते समय पहले तो इस प्रकार आपने कहा नहीं है ? यदि वे कहें कि ठीक है, पहले हमने नहीं कहा, किन्तु अब कहते हैं, फिर भी आप (भावविवेक) दोषमुक्त नहीं हैं, क्योंकि उस स्थिति में परवादी सांख्य को धर्मी (सांवृतिक चक्षु) असिद्ध होगा। अर्थात् संवृतिसत् चक्षु आदि सांख्य को असिद्ध हैं, क्योंकि वे उन्हें परमार्थसत् मानते हैं। वस्तुतः प्रतिपक्ष को भी धर्मी का सिद्ध होना आवश्यक होता है। ऐसा न होने पर प्रयोग करनेवाले का ही दोष समझा जाता है। अतः आपके मत में उपर्युक्त दोष तदवस्थ ही हैं।

उपर्युक्त दोषों के निराकरण के सन्दर्भ में भावविवेक का कथन है कि सामान्य धर्मी का ही ग्रहण करना उचित है, अन्यथा विचार-विमर्श ही सम्भव नहीं होगा। तथा हि-बौद्ध लोग वैशेषिक के प्रति शब्द की अनित्यता सिद्ध करते समय सामान्य धर्मी का ही ग्रहण करते हैं, न कि विशेष का। विशेष धर्मी का ग्रहण करने पर साध्य-साधनभाव के अभाव का प्रसङ्ग हो जाएगा। उदाहरणार्थ यदि बौद्धों द्वारा मान्य भौतिक शब्द का धर्मी के रूप में ग्रहण किया जाए तो वह वैशेषिक को सिद्ध नहीं है। यदि वैशेषिकों द्वारा मान्य आकाशगुणक शब्द का ग्रहण किया जाए तो वह बौद्ध को सिद्ध नहीं है। अतः विशेषणरहित सामान्य शब्दमात्र का धर्मी के रूप में ग्रहण किया जाता है, उसी तरह 'परमार्थ' या 'सांवृत'

विशेषणों को छोड़कर चक्षुमात्र का धर्मी के रूप में ग्रहण किया जाएगा। फलतः धर्मी के असिद्ध होने का दोष नहीं है।

समाधान- चक्षु आदि धर्मी का स्वरूप विपर्यास (विपरीत बुद्धि) द्वारा लब्ध नहीं है-ऐसा स्वयं भावविवेक ने स्वीकार किया है तथा विपर्यास और अविपर्यास परस्पर भिन्न-भिन्न ही नहीं, अपितु साक्षात्-विरुद्ध हैं-इत्यादि युक्तियों द्वारा चन्द्रकीर्ति ने खण्डन किया है। इनका मर्म यह है कि चक्षुरादि को स्वतः अनुत्पन्न सिद्ध करते समय दो सत्यों को विशेषण के रूप में न लगाकर अर्थात् परमार्थतः या संवृतितः इन दो विशेषणों को छोड़कर मात्र चक्षु आदि को धर्मी नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस धर्मी को जाननेवाला प्रमाण अपने विषय अर्थात् चक्षु आदि की स्वभावतः सत्ता या स्वलक्षणतः सत्ता के प्रति अभ्रान्त ज्ञान है। जब अविपर्यास अर्थात् अविपरीत ज्ञान (प्रमाण) अभ्रान्त है तो ऐसी अवस्था में उसके द्वारा उपलब्ध (प्राप्त) विषय विपरीत ज्ञेय नहीं हो सकता। अर्थात् उसका विषय ऐसा नहीं हो सकता जो स्वलक्षणतः तो असत् हो, किन्तु वह स्वलक्षणतः सत् रूप में भासित हो रहा हो, जैसा कि विपर्यास (विपरीत) ज्ञानों में मिथ्याभास हुआ करता है। आशय यह है कि उस अविपर्यास ज्ञान द्वारा लब्ध विषय परमार्थतः सत् ही होगा। अतः विशेषणों को छोड़कर मात्र सामान्य धर्मी का ग्रहण सम्भव नहीं है। वह धर्मी निश्चय ही परमार्थतः सिद्ध होगा, सामान्य रूप से सिद्ध नहीं होगा।

उस चक्षु आदि धर्मी को जाननेवाले प्रमाण का उस चक्षु आदि की स्वभावतः सत्ता के प्रति अभ्रान्त होना, वस्तुतः भावविवेक ने स्वीकार किया है। अतः 'जो सत् है, वह स्वभावतः सत् है'-ऐसा जो मानते हैं, उनके मतानुसार जो ज्ञान स्वलक्षणाभास की दृष्टि से भ्रान्त होता है, उसके द्वारा अपने प्रमेय (स्वभावसत्) की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः जो ज्ञान प्रमाण होता है, चाहे वह निर्विकल्प हो या सविकल्प हो, उसे अपने अवभासित विषय स्वलक्षण के प्रति या अध्यवसेय विषय स्वलक्षण के प्रति अभ्रान्त होना चाहिए। उसे व्यवहार में नाममात्र या उपचरितमात्र के प्रति नहीं, अपितु अपने बल से (स्वतः) स्थित (स्वभावसत्) वस्तु के प्रति प्रमाण होना चाहिए। अर्थात् उसका विषय भी नाममात्र या उपचरितमात्र न होकर अपनी वस्तुस्थिति के वश से स्वभावतः सत् होना चाहिए। ऐसा भावविवेक स्वीकार भी करते हैं। उस प्रकार के प्रमाण द्वारा उपलब्ध अर्थ का विपरीत ज्ञेय होना असम्भव है। अर्थात् वह परमार्थतः सत् होगा।

उसी प्रकार भ्रान्त ज्ञान के द्वारा उपलब्ध अर्थ का अविपरीत ज्ञेय के रूप में होना असम्भव है। फलतः धर्मी की असिद्धि के दोष का परिहार आपके द्वारा अशक्य है। अर्थात् वह दोष हटाया नहीं जा सकेगा।

यदि ऐसा कहा जाए कि यद्यपि शब्दग्राहक प्रमाण नित्य या अनित्य इन दो कोटियों में से किसी एक में नियत है, क्योंकि कोई तीसरी कोटि नहीं है, फिर भी नित्य या अनित्य

विशेषण लगाकर उसका शब्दधर्मि-ग्राहक प्रमाण के रूप में सिद्ध होना आवश्यक नहीं है। केवल उसे (श्रोत्रविज्ञान को) शब्दग्राहक प्रमाण के रूप में सिद्ध किया जाता है। उसी प्रकार ज्ञान भी भ्रान्त या अभ्रान्त इन दो कोटियों में से किसी एक में नियत है, तीसरी कोटि नहीं है, फिर भी धर्मिग्राहक प्रमाण सिद्ध करते समय उक्त दोनों (भ्रान्त या अभ्रान्त) विशेषणों में से किसी एक को जोड़कर उसे सविशेष सिद्ध करना आवश्यक नहीं है। उसी तरह शब्द भी नित्य या अनित्य इन दो कोटियों में से किसी एक कोटि में नियत है, तीसरी कोई कोटि नहीं है, फिर भी शब्दग्राहक प्रमाण द्वारा नित्य शब्द या अनित्य शब्द किसी एक रूप में उपलब्ध न होने पर भी शब्द उपलब्ध होने में या शब्दबोध होने में विरोध नहीं है। उसी प्रकार चक्षु आदि ज्ञेय विपरीत (विपर्यस्त) या अविपरीत (अविपर्यस्त) इन दो कोटियों में से किसी एक में नियत हैं, कोई तीसरी कोटि नहीं है, फिर भी चक्षुरादि-ग्राहक प्रमाण द्वारा चक्षुरादि ज्ञेयों के विपरीत या अविपरीत किसी एक रूप में उपलब्ध न होने पर भी चक्षु-आदि का बोध होने में विरोध नहीं है। अर्थात् चक्षु-आदि के उपलब्ध होने में विरोध नहीं है। इसलिए सामान्य चक्षु आदि मात्र को धर्मी के रूप में ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। अर्थात् सामान्य चक्षुमात्र को धर्मी के रूप में होने की अयुक्तता को दिखलाने वाली आपकी युक्तियाँ युक्तिसङ्गत नहीं हैं।

उपर्युक्त प्रकार की आशङ्काएं भावविवेक को या अन्य वस्तुवादी विद्वानों को उत्पन्न नहीं हुई, इसलिए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने भी उनके निराकरण का प्रयास नहीं किया। फिर भी वे शङ्काएं किसी को भी हो सकती हैं, अतः इसके बारे में भोटदेश के महापण्डित आचार्य चोंखापा ने जिस प्रकार विचार प्रस्तुत किया है, तदनुसार संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

कोई भी अर्थ या तो प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है या असिद्ध होता है। 'प्रमाण द्वारा सिद्ध' का अर्थ है कि यदि वह प्रमाण निर्विकल्पक ज्ञान है, तो उसमें जिस प्रकार अर्थ का आभास के अनुरूप अर्थ (विषय) होना चाहिए। यदि वह प्रमाण सविकल्पक ज्ञान है तो उसके द्वारा जिस प्रकार अर्थ का अध्यवसाय किया जाता है, उसी प्रकार (अध्यवसाय के अनुरूप) अर्थ की स्थिति होना चाहिए। साथ ही, जिसके प्रति यह प्रतिपादन किया जा रहा है, उसे (प्रतिपक्षी) को भी यह सब ज्ञात होना चाहिए और मान्य भी होना चाहिए। यही अभ्रान्ति का अर्थ है, क्योंकि वह विषय ज्ञानगत आभास के अनुरूप स्थित है। इस व्यवस्था के द्वारा प्रमाण अपने विषय के प्रति, नियत विषय के प्रति और अध्यवसेय विषय के प्रति अभ्रान्त निश्चित किया जाता है। अतः ऐसा कथमपि नहीं हो सकता कि वस्तु तो परमार्थतः सत् या संवृतितः सत् इन दो रूपों में नियत हों, किन्तु बुद्धि के स्थल में (अर्थात् बुद्धि द्वारा) इन दोनों रूपों में दोनों निश्चित न हों। अतः स्वलक्षणाभासी अभ्रान्त ज्ञान द्वारा उपलब्ध सम्यक् ज्ञेय या परमार्थसत् ज्ञेय कहलाता है और भ्रान्त ज्ञान द्वारा

उपलब्ध अर्थ विपर्यस्त (मिथ्या) ज्ञेय कहलाता है। अतः वस्तु तो सम्यग् (परमार्थतः सत्) ज्ञेय और मिथ्या (संवृतितः सत्) ज्ञेय इन दो रूपों में नियत हों और बुद्धि के सम्मुख नियत न हों-यह कैसे सम्भव है। अतः जिस प्रकार विपर्यस्तत्व (मिथ्या) और अविपर्यस्तत्व वस्तु के स्थल में निश्चित हैं, अर्थात् इन दोनों में से एक रूप होना निश्चित है, उसी प्रकार ज्ञान के स्थल में भी निश्चित हैं। ये सब बातें 'जो सत् हैं, वे स्वभावतः सत् हैं'-ऐसा माननेवालों के अनुसार 'प्रमाण द्वारा सिद्ध' के अर्थ का प्रतिपादन करने की दृष्टि से कही गई हैं। अर्थात् भावविवेक आदि की दृष्टि से कही गई हैं, प्रासङ्गिक मत ऐसा नहीं है।

इसलिए स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार चक्षु आदि धर्मी यद्यपि अभ्रान्त ज्ञान द्वारा उपलब्ध होते हैं, फिर भी उन्हें अर्थात् शब्द के विषय और कल्पना के विषय चक्षु आदि धर्मी को, भी परमार्थतः सिद्ध या संवृतितः सिद्ध नामक विशेषणों से विशिष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। अतः सामान्य चक्षु आदि धर्मी को आधार (विशेष्य) के रूप में ग्रहण करके 'वह परमार्थतः सत् है कि नहीं'-इस प्रकार परीक्षा की जा सकती है। अतः सामान्य धर्मी का ग्रहण करने पर 'परमार्थसत् और संवृतिसत्' इन दो विशेषणों को लेकर की गई परीक्षा द्वारा प्रदत्त दोष हम पर कैस लागू हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं होंगे। भावविवेक का यह अभिप्राय है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि यदि अभ्रान्त ज्ञान (अर्थात् प्रमाण) द्वारा विषय की उपलब्धि हो जाती है तो वही (उपलब्ध अर्थ) स्वभावतः सत् अर्थ हो जाता है और वही परमार्थतः सत् भी है। अतः सामान्य धर्मी के रूप में गृहीत चक्षु आदि का निर्विशिष्ट होना (विशेषणरहित होना) कहाँ सम्भव है। अर्थात् विशेषण के आधार के रूप में गृहीत सामान्य धर्मी होना कैसा सम्भव है ? अर्थात् नहीं है। इसी अभिप्राय से चन्द्रकीर्ति ने निर्विशेष सामान्य धर्मी के ग्रहण का खण्डन किया है।

चन्द्रकीर्ति की युक्तियों का मर्म यदि भली प्रकार ज्ञात कर लिया जाए तो यह आसानी से जाना जा सकता है कि प्रासङ्गिक मत में विषयी (ज्ञान) में तथ्यसंवृति और मिथ्या संवृति ये भेद करना क्यों सम्भव नहीं हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिक केवल लोक की दृष्टि से विषय और विषयी दोनों में तथ्य संवृति और मिथ्या संवृति दोनों की व्यवस्था करते हैं। स्वमत की दृष्टि से वे ऐसी व्यवस्था नहीं करते। इन सब का कारण ज्ञात हो जाएगा।

सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों प्रमाण ज्ञानों में जैसा स्वलक्षण भासित हो रहा है, उसका अभाव है। अर्थात् स्वलक्षणाभास के अनुरूप वस्तु स्वलक्षणसत् नहीं है। फिर भी (ऐसा होने पर भी) उस भ्रान्त (सविकल्प एवं निर्विकल्पक) ज्ञान द्वारा धर्मी की सिद्धि की व्यवस्था की जाती है तो साध्य रूपी निःस्वभावता अपने-आप सिद्ध हो जाती है। अतः ऐसा कोई पूर्व पक्ष ही नहीं हो सकेगा, जिसके प्रति साध्य सिद्ध किया जा सके। इसलिए धर्मी की असिद्धि का दोष पूर्ववत् स्थित है।

जब बौद्ध वैशेषिक के प्रति शब्द की अनित्यता सिद्ध करते हैं, उस समय बौद्धसम्मत भौतिक और वैशेषिकसम्मत आकाशगुणक (आकाश के गुण वाला) शब्द धर्मी मान्य प्रमाणतः सिद्ध नहीं है, फिर भी प्रमाणसम्मत (धर्मी) मात्र का स्वरूप दिखलाया जा सकता है। किन्तु चक्षु आदि का स्वतः उत्पाद न मानने वाले स्वभावशून्यवादी और उनको स्वभावसत् माननेवाले अशून्यतावादी दोनों को यद्यपि स्वभावसत् और स्वभावतः असत् इन दोनों रूपों में से किसी की भी प्रमाण द्वारा उपलब्धि नहीं होती, फिर भी 'सामान्य धर्मी का स्वरूप इस प्रकार है'-ऐसा दिखलाना दोनों के लिए असम्भव है। अतः दोनों दृष्टान्तों में साम्य नहीं है। भावविवेक आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का कहना है कि उस प्रकार का सामान्य धर्मी (अर्थात् स्वभावतः सत् या स्वभावतः असत् विशेषणों से रहित निर्विशेष धर्मी) दिखलाया नहीं जा सकता, फिर भी परमार्थतः या सत्यतः सत् और परमार्थतः असत् या सत्यतः असत् इन विशेषणों के विना एक सामान्य धर्मी दिखलाया जा सकता है। आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि आप (स्वातन्त्रिक माध्यमिक) ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वभावतः सत्ता ही परमार्थतः या सत्यतः सत्ता है। इस प्रकार शून्यता के निषेध्य की सीमा (स्वरूप) में क्योंकि चन्द्रकीर्ति और भावविवेक दोनों आचार्यों के विचारों में असमानता या मतभिन्नता है, अतः उक्त प्रकार का वाद-विवाद उत्पन्न हुआ है।

इसलिए शब्द को अनित्य के रूप में सिद्ध करते समय भी उन स्वातन्त्रिक और वैशेषिकों के मतों से यद्यपि दोनों विशेषणों (चातुर्महाभौतिक या आकाशगुणक) से रहित धर्मी सिद्ध नहीं किया जा सकता, फिर भी सामान्य धर्मी सिद्ध हो सकता है-ऐसा कहा गया है, तथापि शब्दग्राहक प्रमाण शब्द के जिस स्वरूप में प्रमाणभूत हुआ है, शब्द के उस स्वरूप में वैसा प्रमाण नहीं होता, जैसा वे दोनों कहते हैं। वैसा अर्थात् ज्ञान में प्रामाण्य का आना समान नहीं होगा।

यह बात स्वभावसद्वादी पक्ष की दृष्टि से कही गई है। यदि प्रासङ्गिक पक्ष हो तो भी वैशेषिक एवं स्वातन्त्रिक आदि पूर्वपक्ष को स्वभावसत् एवं स्वभावतः असत् विशेषणों के विना सामान्य धर्मी की तद्ग्राहक प्रमाण द्वारा सिद्धि नहीं दिखाई जा सकती। उपर्युक्त युक्तियों से वादी एवं प्रतिवादी दोनों को परमार्थसत् और संवृतिसत् विशेषणों से रहित हेतु भी सिद्ध नहीं होगा-इस प्रकार का आक्षेप यदि दिया जाए तो वह प्रासङ्गिक मत में लागू नहीं होगा, क्योंकि हम प्रासङ्गिक स्वतन्त्र हेतु स्वीकार नहीं करते। हमारे अपने मत में साध्य को सिद्ध करनेवाले जितने सम्यक् प्रयोग हैं, उनका परवादी द्वारा सिद्ध होना मात्र पर्याप्त माना जाता है, क्योंकि वे प्रयोग परवादी की विप्रतिपत्ति के निराकरण मात्र के लिए हैं।

स्वपक्ष तथा परपक्ष दोनों में से किसी एक की सिद्धि से क्या अपर्याप्तता दोष नहीं है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि किसी एक पक्ष द्वारा सिद्ध

अनुमान द्वारा भी अनुमान में बाधा हो सकती है, वह बाधा भी स्वप्रसिद्ध अनुमान द्वारा होती है, न कि परप्रसिद्ध अनुमान द्वारा, लोक में भी ऐसा देखा जाता है। अतः अपर्याप्तता दोष नहीं है। लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि किसी वाद-विवाद में साक्षी के वचन से भी जय-पराजय होती हैं और स्ववचन से भी होती है। जैसा लोक में होता है, वैसा ही न्यायशास्त्र में भी होना चाहिए।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि 'साधन और दूषण दोनों को वादी और प्रतिवादी दोनों द्वारा सिद्ध होना चाहिए'-ऐसा माननेवाले दिङ्नाग आदि आचार्यों को भी हमारा उपर्युक्त कथन स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि आगमबाधा देते समय और स्वार्थानुमान के स्थल में स्वसिद्ध होना ही पर्याप्त होता है। इसीलिए प्रज्ञाप्रदीप (भावविवेक कृत मूलमाध्यमिककारिका की टीका) में किसी अन्य की आलोचना करते समय 'यह दूषण स्वतन्त्रतया है या प्रसङ्गतया'-ऐसा पूछा गया है। यहाँ प्रयुक्त 'स्वतन्त्र' शब्द का तात्पर्य स्वतन्त्र हेतु से है।

अतः स्वतन्त्र हेतु का अर्थ इस प्रकार होता है-परवादी की स्वीकृति की विना अपेक्षा किये वस्तुस्थिति के वश से स्वतः सिद्ध धर्मी और हेतु को प्रमाण द्वारा निश्चित करके साध्य के अवबोधक अनुमान का उत्पाद करने के लिए प्रयुक्त हेतु 'स्वतन्त्र हेतु' है। 'जो सत् है वह स्वभावतः सत् है'-ऐसा मानने वाला परवादी जब तक साध्य सिद्ध न हो तब तक स्वतः सत् या असत् दोनों में से किसी एक विशेषण को न लगाकर 'प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि का नय इस प्रकार है'-ऐसा दिखलनाने में समर्थ नहीं है। इसलिए प्रासङ्गिक माध्यमिक हेतु एवं साध्य स्वीकार करते हैं, किन्तु स्वतन्त्र हेतु एवं स्वतन्त्र साध्य नहीं मानते।

प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व हेतु और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त द्वारा अङ्कुर की निःस्वभावता सिद्ध करनेवाले परप्रसिद्ध हेतु का प्रयोग करते समय स्वयं (प्रासङ्गिक माध्यमिक अपने मत में) 'अङ्कुर को प्रतीत्यसमुत्पन्न' और 'प्रतीत्यसमुत्पाद के साथ निःस्वभावता की व्याप्ति' न मानने के कारण 'स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग नहीं किया जाता'-ऐसा नहीं कहते, अपितु परवादी भी प्रमाण द्वारा स्वतः सिद्ध हेतु और व्याप्ति आदि सिद्ध नहीं कर पाते, अतः स्वतन्त्र हेतु नहीं माना जाता। इसी को हम दूसरे शब्दों में 'प्रमाण द्वारा वादी और प्रतिवादी दोनों को हेतु एवं व्याप्ति आदि असिद्ध हैं और परप्रसिद्ध अनुमान है'-कहते हैं।

अङ्कुर और अङ्कुर के प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व को जाननेवाला व्यावहारिक सहज प्रमाणवादी और प्रतिवादी दोनों की चित्तसन्तति में विद्यमान होता है, किन्तु प्रतिवादी की सन्तति में अङ्कुर को जाननेवाला प्रमाण और उसे (अङ्कुर को) स्वभावतसत् जाननेवाली बुद्धि दोनों संसृष्ट (मिश्रित) होकर विद्यमान रहते हैं। उस परवादी की सन्तति में जब तक शून्यता दृष्टि उत्पन्न नहीं होती, तब तक उन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता।

सिद्धान्तवादी की सन्तति में दोनों का असंसृष्ट (अमिश्रित) ज्ञान है, फिर भी प्रतिवादी को शून्यताज्ञान होने तक वैसा दिखाया नहीं जा सकता।

प्रासङ्गिक माध्यमिक परस्पर स्वीकृति की अपेक्षा न करके प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि का नय दिखला सकते हैं, फिर भी वह प्रमाण नाम और व्यवहार के वश से स्थापित प्रमाण ही होता है, न कि वस्तु के स्वभाव के वश से स्थापित होता है। अतः उनके मत में उपर्युक्त नहीं होने से स्वतन्त्र हेतु नहीं माना जाता।

अङ्कुर के ग्रहण में तीन प्रकार की दृष्टियाँ होती हैं,-अङ्कुर का स्वभावतः सत् के रूप में ग्रहण, उसका स्वभावतः असत् रूप में ग्रहण तथा इन दोनों विशेषणों को छोड़कर अङ्कुर मात्र का ग्रहण। जिनकी सन्तति में शून्यतादृष्टि विद्यमान होती है, उन लोगों को यद्यपि तीनों प्रकार के ग्रहण होते हैं, किन्तु जिनकी सन्तति में शून्यतादृष्टि नहीं होती, उनकी सन्तति में प्रथम और तृतीय (अन्तिम साध्य) ग्रहण ही होता है, मध्यग्रहण नहीं होता। इस नय को ठीक प्रकार से जान लिया जाए तो व्यक्ति कल्पना द्वारा गृहीत सभी ग्राह्यों का निषेध नहीं करेगा तथा उसकी सन्तान में शून्यतादृष्टि के उत्पाद से पूर्व उत्पन्न बोधिचित्त एवं श्रद्धा आदि सभी सम्यक् विकल्पों को सत्यग्रहण एवं निमित्तोद्ग्रहण समझ कर चर्यापक्ष के प्रति उपेक्षा करनेवाली मिथ्या दृष्टियाँ भी उत्पन्न नहीं होंगी।

अत एव परप्रसिद्ध हेतु द्वारा साध्य को सिद्ध करने में प्रतिवादी द्वारा स्वीकृति मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु उनके मत में धर्मी एवं हेतु आदि प्रमाणतः सिद्ध होना चाहिए और स्वीकृत होना चाहिए। अन्यथा विपरीत ज्ञान होने पर यथार्थ तत्त्वदृष्टि (शून्यतादृष्टि) उत्पन्न न हो सकेगी। व्यवहार प्रमाण के विना परमार्थ को जाननेवाले प्रमाण उत्पन्न नहीं हो सकते। आचार्य नागार्जुन ने कहा है :

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।
(मूलमाध्यमिककारिका, २४ : १०)

इस प्रासङ्गिक मत के अनुसार भावविवेक आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिक आचार्य किसी भी धर्म को परमार्थतः सत् नहीं मानते, फिर भी उनकी स्वलक्षणसत्ता मानते हैं, अतः क्या वे माध्यमिक नहीं हैं ?

उन आचार्यों के द्वारा यद्यपि स्वलक्षणसत्ता स्वीकार की जाती है, फिर भी वे धर्मों की परमार्थतः सत्ता का अनेक युक्तियों से अच्छी प्रकार खण्डन करके समस्त जगत् को असत् सिद्ध करते हैं, अतः वे माध्यमिक हैं। हमारे इस कथन का 'माध्यमिक को स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग नहीं करना चाहिए' इस पूर्ववचन से कोई विरोध नहीं है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए, यथा- उपसम्पन्न भिक्षु को प्रज्ञप्त शील का उल्लंखन नहीं करना चाहिए,

ऐसा भगवान् ने कहा है, फिर भी यदि कुछ पालनीय धर्मों का उल्लंघन हो जाता है तो इतने मात्र से वह अभिक्षु नहीं हो जाता।

(ग) सूत्रविरोध का परिहार

इसे हम दो भागों में विभक्त करके प्रतिपादन करेंगे, यथा- (क) सन्धिनिर्मोचनसूत्र से विरोध का परिहार तथा (ख) सन्धिनिर्मोचनसूत्र और मैत्रेयपरिपृच्छा में असमानता का प्रतिपादन।

(क) सन्धिनिर्मोचनसूत्र से विरोध का परिहार

आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र में परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न-इन तीन लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें परिकल्पित लक्षण असत् है, परतन्त्र द्रव्यसत् है तथा परिनिष्पन्न परमार्थसत् है। विज्ञानवादी दार्शनिक इसे (इस सूत्र को) शत-प्रतिशत शब्दशः स्वीकार करते हैं और इसी सूत्र के आधार पर अपने दर्शन को प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु प्रासङ्गिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार यह सन्धिनिर्मोचनसूत्र नेयार्थ है, न कि नीतार्थ।

सन्धिनिर्मोचनसूत्र की नेय-नीतार्थता के बारे में नागार्जुन, आर्यदेव एवं बुद्धपालित के शास्त्रों में स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, फिर भी चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार में उसकी नेयार्थता का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि अन्य आगमों द्वारा भी यह (सन्धिनिर्मोचन) सूत्र नेयार्थ सिद्ध होता है, यथा :

आतुरे आतुरे यद्वद् भिषग् द्रव्यं प्रयच्छति।
बुद्धा हि तद्वत् सत्त्वानां चित्तमात्रं वदन्ति वै[1]।।

अर्थात् प्रत्येक रोगी को एक कुशल वैद्य अलग-अलग औषधि-द्रव्य देता है, उसी प्रकार भगवान् भी सत्त्वों को चित्तमात्र की देशना करते हैं।

इस आगम के द्वारा चित्तमात्रता की देशना करनेवाले (सन्धिनिर्मोचन आदि) सूत्रों को नेयार्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है।

इस प्रकार इन सूत्रों के आधार पर विज्ञानवादियों द्वारा प्रतिपादित निम्नलिखित सिद्धान्तों को अन्य आगमों और युक्तियों के आधार पर प्रासङ्गिक माध्यमिक नेयार्थ में ही प्रकाशित करते हैं। फलतः ऐसे सूत्र नेयार्थ सिद्ध होते हैं, यथा- (१) परिकल्पित स्वलक्षणतः असत् और परतन्त्र स्वलक्षणतः सत् (२) आलयविज्ञान का प्रतिपादन (३) बाह्यार्थ का अभाव एवं (४) पर्यन्त तीन गोत्रों का प्रतिपादन।

---

१. द्र.-लङ्कावतारसूत्र २ : १२३ पृ. ४६ (जापानी संस्करण १६५६)।

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र एवं अभिधर्मसमुच्चय आदि में एक ही यान सिद्ध किया गया है, अतः अन्तिम चतुर्थ सिद्धान्त नेयार्थ सिद्ध होता है।

विज्ञानवादी बाह्यार्थ का निषेध करने के लिए प्रमुखतः निम्न सूत्र उद्धृत करते हैं :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्त चित्रं हि दृश्यते[1]

अर्थात् चित्त ही विभिन्न आकार में दिखाई देता है, बाह्य दृश्य सर्वथा नहीं है।

माध्यमिक कहते हैं कि यह सूत्र बाह्यार्थ का निषेध करने वाला नहीं है, अपितु चित्त से अतिरिक्त ईश्वर आदि जगत् के कर्ता का निषेध करता है। इसके विपरीत अन्य सूत्र हैं, जो बाह्यार्थ का निषेध नहीं करते।

जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रोगियों को भिन्न-भिन्न औषधि देना वैद्य की इच्छा के वश से नहीं है, अपितु रोगी के रोग की स्थिति के वश से है[2], इसी प्रकार भगवान् द्वारा प्रदत्त चित्तमात्रता की देशना भी शास्ता तथागत के अपने नय के वश से नहीं, अपितु चित्तमात्रता में अभिनिविष्ट विनेयजनों के आशय के वश से है। इस प्रकार बाह्यार्थ के अभाव या चित्तमात्रता की देशना नेयार्थ के रूप में ज्ञापित की गई है।

आलयविज्ञान और तथागतगर्भ पर्यायवाची है, जैसे- लङ्कावतारसूत्र में उक्त है- **"तथागतगर्भ आलयविज्ञानसंशब्दितः सप्तभिर्विज्ञानैः सह[3]"** अर्थात् तथागतगर्भ आलयविज्ञान शब्द द्वारा कहा गया है और वह सात (प्रवृत्ति) विज्ञानों के साथ होता है। तथागतगर्भ और आलयविज्ञान दोनों में से एक (तथागतगर्भ) नित्य और दूसरा (आलयविज्ञान) अनित्य के रूप में प्रतिपादित है। अतएव शब्दशः दोनों का एक में प्रतिपादन नहीं किया गया है, फिर भी जिस आशय से तथागतगर्भ की देशना की गई है, उसी अभिप्राय से आलयविज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए आभिप्रायिकार्थ की अपेक्षा से दोनों एकार्थक हैं। क्योंकि तथागतगर्भ का लङ्कावतारसूत्र में नेयार्थ के रूप में प्रतिपादन किया गया है, अतः आलयविज्ञान का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र भी नेयार्थ सिद्ध होता है।

तथागतगर्भ का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र विज्ञप्तिमात्रतावादियों के मत में नीतार्थ माना जाता है-ऐसा हम नहीं कर रहे हैं। तथागतगर्भ की नेयनीतार्थता के विषय में विज्ञप्तिमात्रतावादी और माध्यमिक दोनों एकमत हैं। किन्तु तथागतगर्भ को नेयार्थ के रूप में प्रतिपादन करनेवाले सूत्र का उद्धरण देकर हम सन्धिनिर्मोचन में जो आलयविज्ञान को शब्दशः नीतार्थ सिद्ध किया गया है, उसको नेयार्थ के रूप में सिद्ध कर रहे हैं। तथागतगर्भ की देशना नीतार्थ नहीं है, ऐसा लङ्कावतार में स्पष्टतया वर्णित है। तथा हि :

---

१. द्र.-लङ्कावतारसूत्र, ३ : ३३ पृ. १५४ (जापानी संस्करण १९५६)।

२. द्र.-लङ्कावतारसूत्र २ : १२३ पृ. ४६ (जापानी संस्करण १९५६)।

३. लङ्कावतारसूत्र, क्षणिकपरिवर्त, पृ. २२०।

एतस्मात् कारणान्महामते, तीर्थकरात्मवादोपदेशतुल्यस्तथागतगर्भोपदेशो न भवति। एवं हि महामते, तथागतगर्भोपदेशमात्मवादाभिनिविष्टानां तीर्थकराणामाकर्षणार्थं तथागतगर्भोपदेशेन निर्दिशन्ति। कथं वताभूतात्मविकल्पदृष्टिपतिताशया विमोक्षत्रयगोचरपतिताशयोपेताः क्षिप्रमनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंबुध्येरन्निति। एतदर्थं महामते, तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धास्तथागतगर्भोपदेशं कुर्वन्ति। अत एतन्न भवति तीर्थकरात्मवादतुल्यम्। तस्मात्तर्हिमहामते, तीर्थकरदृष्टिविनिवृत्त्यर्थं तथागतनैरात्म्य-गर्भानुसारिणा च ते भवितव्यम्'[1]।

अर्थात् इस कारण महामति, तथागतगर्भ का उपदेश तैर्थिकों के आत्मवाद के तुल्य नहीं है। महामति, आत्मवाद में अभिनिविष्ट तैर्थिकों के आकर्षण के लिए तथागत 'तथागतगर्भ' के नाम से तथागतगर्भ का उपदेश इसलिए करते हैं कि किस तरह मिथ्या आत्मविकल्प और आत्मदृष्टि में पतित आशय वाले (तैर्थिक) लोग तीन विमोक्षों के गोचर (शून्यता) में स्थित होकर शीघ्र से शीघ्र अनुत्तर सम्यक् संबोधि प्राप्त कर लें। इसलिए महामति, तथागत अर्हत्, सम्यक् संबुद्ध तथागतगर्भ का उपदेश करते हैं। इसलिए यह तैर्थिकों के आत्मवाद के तुल्य नहीं है। इसलिए महामति, तैर्थिकों की आत्मदृष्टि के निवारण के लिए नैरात्म्य तथागतगर्भ का अनुसरण करनेवाला तुम्हें होना चाहिए।

इस तरह तथागतगर्भ की देशना आभिप्रायिक सिद्ध होती है। अभिप्रायिक या नेयार्थ देशना होने के लिए उसका अभिप्राय, प्रयोजन एवं शब्दशः अर्थ ग्रहण में आगमबाधा बतलानी चाहिए। तदनुसार अभिप्राय तो धर्मनैरात्म्य या शून्यता है तथा प्रयोजन है नैरात्म्य से भयभीत लोगों को भय से मुक्त करना तथा जो लोग आत्मवाद के प्रति अभिनिविष्ट हैं, उन्हें क्रमशः अनात्म की ओर ले जाना। इसी के लिए यह देशना की गई है। इसी दृष्टि से तथागतगर्भ और आत्मवाद दोनों असदृश सिद्ध किये गये हैं।

शास्ता ने जिस आशय से देशना की है, उसका अभिप्राय और शाब्दिक प्रतिपादन दोनों में बड़ा फर्क है। आत्मवादियों के द्वारा शाश्वत आत्मा आदि का प्रतिपादन तो उसके प्रति दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने के लिए है, जबकि शास्ता द्वारा जो तथागतगर्भ की देशना की गई है, वह तो पहले कुछ समय के लिए शब्दानुसारी अर्थ की सत्ता का ग्रहण करने के बाद जिस आशय (धर्मनैरात्म्य या शून्यता) से देशना की गई है, उस आशय की ओर ले जाने के लिए है। इसलिए वे दोनों समान नहीं हैं।

तथागतगर्भदेशना का शब्दशः अर्थग्रहण का अनुचित होना तो लङ्कावतार के **"तस्मात्तर्हि महामते, अर्थानुसारिणा भवितव्यम्, न देशनाभिलापाभिनिविष्टेन[2]"** (अर्थात् महामति, तुम्हें अर्थ का अनुसरण करनेवाला होना चाहिए, न कि शब्द का अनुसरण करने

---

१. द्र.-लङ्कावतारसूत्र, पृ. ७८-७९ (जापानी संस्करण १९५६)।
२. द्र.-लङ्कावतारसूत्र, पृ. ७७ (जापानी संस्करण १९५६)।

वाला)-इस वचन से ही सिद्ध हो जाता है। इस देशना का प्रयोजन तो आत्मवादियों को विनेय बनाना है। अर्थात् यह देशना विनेयजनों के आशय के अधिकार से प्रदत्त है, तथा हि : - **"बालानां स्वविकल्पसन्तोषणं न तु सा तत्त्वार्यज्ञानव्यवस्थानकथा'"**[1] अर्थात् बालपृथग्जनों के विकल्पों के सन्तोष के लिए है, न कि वह आर्य (बोधिसत्त्व) ज्ञान की दृष्टि से तत्त्व की व्यवस्था करनेवाली कथा है। तथागतगर्भ के नेयार्थ के रूप में दिखाना दोनों प्रकार के विनेयजनों के लिए हैं। एक तो स्वनैकायिक हैं और दूसरे परनैकायिक।

सामान्य स्वनैकायिक जो साधारण पुद्गलनैरात्म्य जानते हैं और स्थूल धर्मनैरात्म्य भी जानते हैं, उन्हें तत्त्व (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर आकृष्ट करने के लिए नेयार्थ देशना की गई है।

दूसरे बौद्धेतर परनैकायिक हैं, जो लाक्षणिक आत्मवादी हैं अथवा जिन्होंने पूर्वजन्मों में अत्यधिक आत्मदृष्टि का अभ्यास कर लिया है, जिसकी वज़ह से वे फिलहाल साधारण पुद्गलनैरात्म्य के भी पात्र नहीं हैं, इनके लिए तथागतगर्भ को आत्मा समझ लेने पर दोष दर्शाना अत्यन्त सरल है।

पहले कहा गया है कि तथागतगर्भ और आलयविज्ञान एकार्थक हैं। घनव्यूह सूत्र में उक्त है :

विविध स्थान आलय है। कुशल तथागतगर्भ भी वही है। इस तथागतगर्भ का 'आलय' शब्द के द्वारा तथागत ने निर्देश किया है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का कहना है कि निःस्वभावता सभी वस्तुओं का निजी स्वभाव है। अतः आलयविज्ञान द्वारा शून्यता ही प्रतिपादित की गई है। लङ्कावतारसूत्र में भी उक्त है-**"एतद्धि महामते, शून्यतानुत्पादाद्वयनिःस्वभावतालक्षणं सर्वबुद्धानां सर्वसूत्रान्तगतम्'"**[2] अर्थात् महामति, शून्यता, अनुत्पाद, अद्वय, निःस्वभावता तो सभी बुद्धों के सभी सूत्रों में अन्तर्निविष्ट है। अतः आलयविज्ञान की देशना जिनके लिए की गई है, वे विनेयजन साधारण पुद्गलनैरात्म्य और ग्राह्य-ग्राहकद्वय से या बाह्यार्थ से शून्यता के पात्र तो होते हैं, किन्तु सर्वधर्मनिःस्वभावता का अधिगम करने में असमर्थ होते हैं, उनके लिए उक्त सूत्रों के द्वारा तथागतगर्भ की देशना नेयार्थ सिद्ध की गई है।

विज्ञानवादियों का मानना है कि आलयविज्ञान की देशना की जाने पर बाह्यार्थतः शून्यता या ग्राह्य-ग्राहकद्वय शून्यता का ही प्रतिपादन करना चाहिए, न कि सर्वधर्मशून्यता का। ऐसे विनेयजनों के भ्रम का निवारण करने के लिए उक्त सूत्र उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि शून्यता आदि सभी बुद्धों के सभी सूत्रों का वास्तविक अर्थ है। अतः

---

१. द्र.-लङ्कावतारसूत्र, पृ. ७७ (जापानी संस्करण १६५६)।
२. द्र.-लङ्कावतारसूत्र, पृ. ७७ (जापानी संस्करण १६५६)।

उक्त सूत्र के द्वारा विज्ञानवादियों के 'परिकल्पित असत् है और परतन्त्र सत् है'-इस मत से भेद दिखलाया गया है। लङ्कावतारसूत्र में तो आगे यहाँ तक लिखा है- **"यत्र क्वचित् सूत्रान्तेऽयमेवार्थो विभावयितव्यः'"** अर्थात् जहाँ कहीं सूत्र में (ऐसा उल्लिखित हो, वहाँ) यही अर्थ जानना चाहिए।

(ख) सन्धिनिर्मोचन और मैत्रेयपरिपृच्छा में असमानता का प्रतिपादन

पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के 'मैत्रेयपरिपृच्छा' नामक परिच्छेद में जो त्रिविध लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है, वह प्रासङ्गिक माध्यमिक मत के अनुकूल है। सन्धिनिर्मोचन एवं मैत्रयपरिपृच्छा में जो त्रिविध लक्षणों की व्यवस्था की गई है, वह परस्पर अत्यन्त भिन्न है, तथापि दोनों में इतना सूक्ष्म अन्तर है कि उसका सुस्पष्ट भेदकर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। भोट देश के महान् पण्डित आचार्य चोंखापा ने इस विषय का सूक्ष्म विश्लेषण किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि मैत्रेयनाथ परिपृच्छा में प्रतिपादित त्रिविध लक्षणों की व्याख्या प्रासङ्गिक मत के सर्वथा अनुकूल है तथा आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र की व्याख्या से नितान्त असदृश है।

मैत्रेयनाथ परिपृच्छा के अनुसार संक्षेप में रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त समस्त धर्म परतन्त्र लक्षण हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, व्यवहारसत् हैं, किन्तु उनकी स्वलक्षणतः सत्ता या स्वभावतः सत्ता नहीं है। रूप आदि धर्मों की स्वभावतः या स्वलक्षणतः सत्ता परिकल्पित लक्षण है तथा उनकी निःस्वभावता परिनिष्पन्न लक्षण है। इसलिए त्रिविध लक्षणों की स्थापना केवल विज्ञानवादियों की ही विशेषता नहीं है। अर्थात् केवल विज्ञानवाद में ही त्रिविध लक्षणों की स्थापना नहीं की गई है, अपितु प्रासंगिक माध्यमिक भी इसकी व्यवस्था करते हैं।

मैत्रेयनाथ परिपृच्छा में त्रिविध लक्षणों का नाम कुछ भिन्न प्रकार से है, यथा- परिकल्पित रूप (लक्षण या स्वभाव), विकल्पित रूप एवं धर्मता रूप। इनमें परिकल्पित रूप अद्रव्यसत् है। विकल्पित (परतन्त्र) रूप द्रव्यसत् है, किन्तु उसका द्रव्यसत् होना स्वतन्त्रतः या स्वभावतः उत्पन्न होने की वजह से नहीं है तथा जो धर्मता रूप (परिनिष्पन्न) है, वह न द्रव्यसत् और न अद्रव्यसत् है। अतः उसे परमार्थ होने के कारण संवृति से पृथक् करके देखना चाहिए। रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त सभी धर्मों को इस सूत्र में विभिन्न युक्तियों से नाममात्रतः सिद्ध किया गया है।

बोधिसत्त्वचर्या की शिक्षा-ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्ति को रूप से लेकर बुद्धत्वपर्यन्त सभी धर्मों की शिक्षा किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए-इस प्रश्न के उत्तर में मैत्रेय ने कहा कि 'वे सभी धर्म नाममात्रतः सत् हैं' ऐसी शिक्षा लेना चाहिए। इसका अर्थ है कि 'नाम या प्रज्ञप्ति' आगन्तुक है, उसके विषय की सत्ता नहीं है। आगन्तुक का तात्पर्य कृत्रिम होने से

१. द्र.-वहीं।

है। इस प्रकार इस कथन के द्वारा उनके स्वभावतः होने का खण्डन किया गया है।

अतः नामतः प्रज्ञप्त सभी धर्म जो व्यवहार के वश से सत् के रूप में स्थापित हैं, वे कृत्रिम होते हैं। फलतः व्यवहार के वश से स्थापित हुए बिना उस नामप्रवृत्ति के आधार (विषय या आलम्बन) का अभाव है। पर सामान्यतया आधार वस्तु का अभाव नहीं है। फलतः उनकी व्यावहारिक सत्ता के होने और नामतः प्रज्ञप्तिमात्र होने में कोई विरोध नहीं है, यह इसका तात्पर्य है।

रूप आदि की यदि स्वलक्षणतः सत्ता होती तो जिसमें यह रूप है- ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे नाम की अपेक्षा के बिना भी उत्पन्न होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। जैसे अङ्कुर यदि स्वलक्षणतः सिद्ध हो तो उसे बीज की अपेक्षा के बिना भी उत्पन्न होना चाहिए। एक वस्तु के अनेक नाम तथा अनेक वस्तुओं का एक नाम स्वलक्षणतः सत् हो तो एक वस्तु अनेक हो जाएगी और अनेक वस्तुएं एक हो जाएंगी। यह दोष होगा। अतः नामप्रज्ञप्ति को आगन्तुक कहा गया है। इस प्रकार स्वलक्षणतः सिद्ध स्वभाव का अभाव होने पर भी संज्ञा की आधार वस्तु के होने और उसे नाम-प्रज्ञप्ति मात्र कहने में कोई विरोध नहीं है।

क्या रूप आदि का सर्वथा अभाव है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि स्वभाव, उत्पाद एवं निरोध तथा संक्लेश एवं व्यवदान का जो निषेध किया गया है, वह परमार्थ के वश से है तथा व्यवहार में रूप आदि सभी का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। इसलिए जो नामतः प्रज्ञप्तिमात्र है, वह भी व्यवहारतया ही है। अतः सन्धिनिर्मोचन के व्याख्यान से मैत्रेयनाथ परिपृच्छा का व्याख्यान नय कैसे अनुकूल होगा या समान होगा ?

उक्त सूत्र में मैत्रेय, जो उस संस्कृत लक्षण वस्तु में नाम, संज्ञा, आरोप और व्यवहार के आधार के वश से रूप-स्वभाव की कल्पना करता है, यह परिकल्पित रूप है। बुद्धत्वपर्यन्त यह परिकल्पित रूप ऐसा ही है-ऐसा कहा गया है।

उसी सूत्र में संस्कृतलक्षण वस्तु, जो विकल्पमात्र की तथता में स्थित है, को विकल्प के आधार के रूप में अभिलपित किया जाता है, जिसमें यह रूप है, यह वेदना है, से लेकर बुद्धत्वपर्यन्त नाम, संज्ञा, आरोप और व्यवहार होते हैं-ये सभी विकल्पित रूप हैं। ये विकल्पित रूप बुद्धत्व पर्यन्त ऐसे ही हैं-ऐसा कहा गया है।

यहाँ संस्कृत लक्षण वस्तु से तात्पर्य अभिधेय से हैं। विकल्पना पर आश्रित उस अभिलाप के अभिधेय वे रूप आदि ही हैं। इस प्रकार व्याख्या की जाने की कारण अभिधेय और विकल्पना भी विकल्पित के रूप में प्रतिपादित हैं।

धर्मता रूप भी उसी सूत्र में 'विकल्पित रूप में परिकल्पित रूप का जो अभाव है, और जो निःस्वभावतामात्र है, धर्मनैरात्म्य है, तथता है, सम्यगन्त है, धर्मतारूप है। ये धर्मतारूप बुद्धत्व पर्यन्त ऐसे ही हैं'-ऐसा कहा गया है। इस प्रकार प्रज्ञप्त रूप की स्वभावता

का अभाव और धर्मनैरात्म्य आदि 'धर्मतारूप' है। वह भी परिकल्पित स्वभाव का अभाव या आत्मा का अभाव है। आत्मा या स्वभाव परिकल्पित है, जिसका यहाँ अभाव है। उस प्रकार का स्वभाव या आत्मा तो परतन्त्र, जो कृतक और प्रतीत्यसमुत्पन्न है, में परिकल्पितमात्र है, क्योंकि तथागत ने स्वभाव को अकृत्रिम और परनिरपेक्ष कहा है। बुद्ध के विषय (गोचर) में तो केवल यथार्थ या तथता होती है, वहाँ परिकल्पित नहीं होता। बुद्ध तो कृतक वस्तु का स्पर्श किये बिना केवल वस्तुस्थिति अर्थात् शून्यता का ही साक्षात्कार करते हैं, इसलिए बुद्ध कहे जाते हैं।

इस प्रकार मैत्रेयनाथपरिपृच्छा माध्यमिकों के अनुकूल है। इसी के आधार पर वे तीनों लक्षणों की व्यवस्था करते हैं। इस जननीसूत्र के आधार पर मध्यमकावतार में स्पष्टतया कहा गया है कि विकल्पित रूप का तात्पर्य 'रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त' जो प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म हैं, वे परतन्त्र धर्म ही विकल्पित रूप हैं। इस परतन्त्र में सस्वभावता की प्रज्ञप्ति परिकल्पित रूप है, जो रूप से लेकर बुद्धत्व पर्यन्त सभी धर्मों में होती है। परतन्त्र का स्वभावतः सत् होना यद्यपि परिकल्पित है, तथापि जो बुद्ध के ज्ञान का विषय होती है, वह वस्तुस्थिति या स्वभाव परिनिष्पन्न है। परतन्त्र का परिकल्पित से शून्य होना परतन्त्र की वस्तुस्थिति है। वही वस्तुस्थिति या शून्यता बुद्ध के परमार्थ ज्ञान की विषय होती है और यही धर्मतारूप है।

फलतः एक ही वस्तुस्थिति का आधारभेद से परिकल्पित और परिनिष्पन्न-इन दोनों में व्यवस्था की जाती है। परमार्थ और सांवृतिक कोई भी धर्म स्वलक्षणतः सिद्ध नहीं है, फिर भी धर्मस्वभाव की जो व्यवस्था की गई है, उसमें परमार्थ सत्य सिद्ध होता है। परतन्त्र (कृतक) का स्पर्श किये बिना केवल धर्मता स्वभाव का ही साक्षात्कार करने की जो बात कही गई है, वह तो परमार्थ सत्य को प्रत्यक्षतया जानने वाले बुद्धज्ञान के समक्ष धर्मी की सत्ता का खण्डन करती है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

विकल्पित रूप के द्रव्यसत् होने की बात जो सूत्र में कही गई है, उसका कारण विकल्पना के द्रव्यसत् होने से उसकी द्रव्यसत् के रूप में व्यवस्था की गई है, न कि स्वतन्त्रतः या स्वलक्षणतः उत्पन्न होने की वज़ह से द्रव्यसत् होना कहा गया है। स्वतन्त्र का अर्थ वही है, जो आचार्य नागार्जुन और आर्यदेव के शास्त्रों में उल्लिखित है। अर्थात् स्वलक्षणतः सिद्ध ही स्वतन्त्र कहलाता है। अतः सन्धिनिर्मोचन आदि अन्य सूत्रों में जो परतन्त्र स्वलक्षणतः सिद्ध उपदिष्ट है, उससे इन जननी सूत्र का कोई साम्य नहीं है।

विकल्प के वश से स्थापित की सत्ता होने के कारण विकल्पित रूप की द्रव्यसत् के रूप यहाँ व्यवस्था की गई है, न कि स्वलक्षणतः सिद्ध सत्ता होने की वज़ह से द्रव्यसत् कहा गया है।

(२) परमार्थसत्ता का निषेध करनेवाली प्रधान युक्ति

'शास्त्रों में की गई तत्त्व मीमांसा विवाद-प्रियता के लिए नहीं, अपितु विमुक्ति (मोक्ष या निर्वाण) के लिए की गई है'-चन्द्रकीर्ति के मध्यमकावतार में उक्त इस वचन के अनुसार माध्यमिक शास्त्रों में वस्तुस्थिति की जितनी भी युक्तिपूर्वक परीक्षाएं की गई हैं, वे सभी प्राणियों के मोक्षलाभ के लिए ही की गई हैं। पुद्गल एवं धर्मों के प्रति स्वभावाभिनिवेश के कारण ही सभी प्राणी संसार में बंधे हुए हैं। 'अहम् अस्मि' (मैं हूँ) इस प्रकार की बुद्धि के आलम्बन पुद्गल एवं उसके सन्ततिगत धर्म हैं, उन (पुद्गल एवं धर्म) दोनों में पुद्गलात्मा और धर्मात्मा नामक आत्मद्वय का जो अभिनिवेश होता है, वहीं संसार में बाँधनेवाला प्रमुख बन्धन है। अतः जिन पुद्गल एवं धर्मों में आत्मा (पुद्गलात्मा और धर्मात्मा) के रूप में ग्रहण होता है, युक्ति द्वारा निषेध करने के भी मुख्य आधार वे दो ही होते हैं। अतः सभी युक्तियाँ इन दो आत्माओं की निषेधक के रूप में ही संगृहीत होती हैं।

शास्त्रकारों ने एकानेकस्वभावरहितत्व[1], वज्रकणयुक्ति[2], सदसदनुपपत्तियुक्ति[3], चतुष्कोटिकोत्पादानुपपत्तियुक्ति[4] तथा प्रतीत्यसमुत्पादयुक्ति[5] आदि अनेक युक्तियों का शास्त्रों में वर्णन किया है। दशभूमकसूत्र में दस समताओं द्वारा षष्ठभूमि में अवतरित होने की देशना की गई है। सर्वधर्म-अनुत्पाद के रूप में समता का प्रतिपादन करने से अन्य समताओं का प्रतिपादन सुकर हो जाता है-ऐसा सोचकर आचार्य नागार्जुन ने मूलामध्यमिककारिका में :

> **न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।**
> **उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।**

---

१. यदि आत्मा और स्कन्ध एक है तो वे दोनों अत्यन्त अभिन्न हो जाएंगे। फलतः जैसे स्कन्ध अनेक हैं, वैसे आत्मा को भी अनेक मानना पड़ेगा। अथवा जैसे आत्मा एक है, वैसे स्कन्धों को भी एक मानना पड़ेगा। स्कन्धों की भाँति आत्मा भी अनित्य हो जाएगा। अथवा आत्मा की भाँति स्कन्ध भी नित्य हो जाएंगे। यदि आत्मा और स्कन्ध भिन्न हैं तो युक्तियों द्वारा उन्हें सर्वथा भिन्न ही रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में शरीर के रुग्ण या जीर्ण होने पर मैं 'रुग्ण हूँ जीर्ण हूँ'-इस प्रतीति से विरोध होगा। अर्थात् ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। भेद के इस सिद्धान्त को वादी कल्पित नहीं मानता, अतः वह ऐसा नहीं कह सकता कि यह भिन्नता प्रातिभासिक दृष्टि से है। पुनश्च उसे आत्मा को पृथक दिखलाना होगा।

२. रूप आदि वस्तुएं, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, स्वतः परतः उभयतः एवं अहेतुकः उत्पन्न न होने से।

३. रूप आदि वस्तुएं, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, हेतु के काल में सत् अथवा असत् होते हुए उत्पन्न न होने से

४. रूप आदि वस्तुएं, स्वभावतः अनुत्पन्न हैं, एक हेतु से अनेक फल, अनेक हेतुओं से एक फल, अनेक हेतुओं से अनेक फल तथा एक ही हेतु से एक फल उत्पन्न न होने से

५. रूप आदि धर्म, निःस्वभाव हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से

इस कारिका को प्रस्तुत किया है। फलतः धर्मनैरात्म्य (शून्यता) को सिद्ध करने की प्रमुख युक्ति उनके अनुसार यही चतुष्कोटिकोत्पादानुपपत्ति युक्ति ही है।

यह चतुष्कोटिक उत्पाद की अनुपत्ति भी प्रतीत्यसमुत्पाद से ही सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तुओं की अहेतुक, ईश्वर, प्रकृति, काल आदि विषमहेतुक तथा स्वतः, परतः एवं उभयतः उत्पत्ति उनके प्रतीयसमुत्पन्न होने से सम्भव नहीं हो पाती। वस्तुओं के प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से ही अहेतुक, विषमहेतुक, स्वतः परतः उत्पाद आदि की ये कल्पनाएं युक्ति द्वारा परीक्षाक्षम नहीं हो पातीं। इसलिए इस प्रतीत्यसमुत्पाद युक्ति के द्वारा कुदृष्टि के समस्त जालों का समुच्छेद किया जाता है।

अङ्कुर आदि बाह्य वस्तुएं और संस्कार आदि आन्तरिक वस्तुएं क्रमशः बीज आदि तथा अविद्या आदि हेतुओं पर निर्भर होकर ही उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि उनके उत्पाद आदि सभी स्वलक्षणतः सिद्ध स्वभाव से शून्य हैं तथा वे स्वतः परतः, उभयतः, अहेतुतः या विषमहेतुतः उत्पन्न नहीं होते। इस तरह उनके स्वभावतः होने का निषेध किया जाता है। अतः समस्त कुदृष्टि जालों का उच्छेद करने वाली तथा परमार्थसत्ता का निषेध करने वाली प्रधान युक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। प्रासङ्गिक माध्यमिक तो इसे युक्तिराज कहते हैं।

●

महायान साहित्य

महायानसूत्र—महायानसूत्र अनन्त हैं। उनमें कुछ उपलब्ध हैं, और कुछ मूल रूप में अनुपलब्ध हैं। भोट-भाषा, चीनी भाषा में अनेक सूत्रों के अनुवाद उपलब्ध हैं। कुछ सूत्र अवश्य ऐसे हैं, जिन का महायान बौद्ध परम्परा में अत्यधिक आदर है। ऐसे सूत्रों की संख्या९ है। इन ९ सूत्रों को 'नव धर्म' भी कहते हैं तथा 'वैपुल्यसूत्र' भी कहते हैं। वे इस प्रकार हैं-सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लङ्कावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज, दशभूमीश्वर एवं अष्टसाहस्रिका आदि प्रज्ञापारमितासूत्र।

(१) सद्धर्मपुण्डरीक—महायान वैपुल्यसूत्रों में यह अन्यतम एवं एक आदृत सूत्र है। 'पुण्डरीक' का अर्थ 'कमल' होता है। 'कमल' पवित्रता और पूर्णता का प्रतीक होता है। जैसे पङ्क (कीचड़) में उत्पन्न होने पर भी कमल उससे लिप्त नहीं होता, वैसे लोक में उत्पन्न होने पर भी बुद्ध लोक के दोषों से लिप्त नहीं होते। इसी अर्थ में सद्धर्मपुण्डरीक यह ग्रन्थ का सार्थक नाम है।

चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत आदि महायानी देशों में इसका बड़ा आदर है और यह सूत्र बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी भाषा में इसके छह अनुवाद हुए, जिसमें पहला अनुवाद ई. सन् २२३ में हुआ। धर्मरक्ष, कुमारजीव, ज्ञानगुप्त और धर्मगुप्त इन आचार्यों के अनुवाद भी प्राप्त होते हैं। चीन और जापान में आचार्य कुमारजीव- कृत इसका अनुवाद अत्यन्त लोकप्रिय है। ईसवीय ६१५ वर्ष में जापान के एक राजपुत्र शी-तोकु-ताय-शि ने इस पर एक टीका लिखी, जो अत्यन्त आदर के साथ पढ़ी जाती है। इस ग्रन्थ पर आचार्य वसुबन्धु ने 'सद्धर्म-पुण्डरीकशास्त्र' नामक टीका लिखी, जिसका बोधिरुचि और रत्नमति ने लगभग ५०८ ईसवीय वर्ष में चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इसका सम्पादन १९९२ में प्रो. एच. कर्न एवं बुनियिउ नंजियों ने किया।

इस ग्रन्थ में कुल २७ अध्याय हैं, जिन्हें 'परिवर्त' कहा गया है। प्रथम निदान परिवर्त में इसमें उपदेश की पृष्ठभूमि और प्रयोजन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि यह 'वैपुल्यसूत्रराज' है। इस परिच्छेद का मुख्य प्रतिपाद्य तो भगवान् का यह कहना है कि "तथागत नाना निरुक्ति और निदर्शनों (उदाहरणों) से, विविध उपायों से नाना अधिमुक्ति, रुचि और (बुद्धि की) क्षमता वाले सत्त्वों को सद्धर्म का प्रकाशन करते हैं। सद्धर्म कत्तई तर्कगोचर नहीं है। तथागत सत्त्वों को तत्त्वज्ञान का सम्यग् अवबोध कराने के लिए ही लोक में उत्पन्न हुआ करते हैं। तथागत यह महान् कृत्य एक ही यान पर आधिष्ठित होकर करते हैं, वह एक यान है 'बुद्धयान' उससे अन्य कोई दूसरा और तीसरा यान नहीं है। वह बुद्धमय ही सर्वज्ञता को प्राप्त कराने वाला है। अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न तीनों कालों

के बुद्धों ने बुद्धयान को ही अपनाया है। वे बुद्धयान का ही तीन यानों (श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्त्वयान) के रूप में निर्देश करते हैं। अतः बुद्धयान ही एकमात्र यान है।

एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते
तृतीयं हि नैवास्ति कदापि लोके[1]।''

द्वितीय उपायकौशल्यं परिवर्त में भगवान् ने शारिपुत्र के लिए व्याकरण किया कि वह अनागत काल में पद्मनाभ नाम के तथागत होंगे और सद्धर्म का प्रकाश करेंगे। शारिपुत्र के बारे में व्याकरण सुनकर जब वहाँ उपस्थित १२ हजार श्रावकों को विचिकित्सा उत्पन्न हुई तब उसे हटाते हुए भगवान् ने तृतीय औपम्यपरिवर्त में एक उदाहरण देते हुए कहा कि किसी महाधनी पुरुष के कई बच्चे हैं, वे खिलौनों के शौकीन हैं। उसके घर में आग लग जाए, उसमें बच्चे घिर जाएं और निकलने का एक ही द्वार हो, तब पिता बच्चों को पुकार कर कहता है- आओ बच्चों, खिलौने ले लो, मेरे पास बहुत खिलौने हैं, जैसे- गोरथ, अश्वरथ, मृगरथ आदि। तब वे बच्चे खिलौन के लोभ में बाहर आ जाते हैं। तब शारिपुत्र, वह पुरुष उन सभी बच्चों को सर्वोत्कृष्ट गोरथ देता है। जो अश्वरथ और मृगरथ आदि हीन हैं, उन्हें नहीं देता। ऐसा क्यों ? इसलिए कि वह महाधनी है और उसका कोष (खजाना) भरा हुआ है। भगवान् कहते हैं कि उसी प्रकार ये सभी मेरे बच्चे हैं, मुझे चाहिए कि इन सबको समान मान कर उन्हें 'महायान' ही दूँ। क्या शारिपुत्र, उस पिता ने तीनों यानों को बताकर एक ही 'महायान' दिया, इसमें क्या उनका मृषावाद है ? शारिपुत्र ने कहा नहीं भगवन् तथागत महाकारुणिक हैं, वह सभी सत्त्वों के पिता हैं। वे दुःखरूपी जलते हुए घर से बाहर लाने के लिए तीनों यानों की देशना करते हैं, किन्तु अन्त में सबको बुद्धयान की ही देशना देते हैं।

व्याकरणपरिवर्त नामक षष्ठ (छठवें) परिच्छेद में श्रावकयान के अनेक स्थविरों के बारे में, जो महायन में प्रविष्ट हो चुके थे, व्याकरण किया गया है। बुद्ध कहते हैं कि महास्थविर महाकाश्यप भविष्य में 'रश्मिप्रभास' तथागत होंगे। स्थविर सुभूति, 'शशिकेतु', महाकात्यायन 'जाम्बूनदप्रभास' तथा महामौदलयायन 'तमालपत्र चन्दनगन्ध' नाम के तथागत होंगे। पञ्चभिक्षुशतव्याकरण परिवर्त में पूर्ण मैत्रायणीपुत्र आदि अनेक भिक्षुओं के बुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण किया गया है। नवम परिवर्त में आयुष्मान् आनन्द और राहुल आदि दो सहस्र श्रावकों के बारे में बुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण है।

---

१. द्र.-सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, २:५४, पृ. ३१ (दरभङ्गा-संस्करण १६६०।

उस समय वहाँ महाप्रजापति गौतमी और भिक्षुणी राहुलमाता यशोधरा आदि परिषद् में दुःखी होकर इसलिए बैठी थीं कि भगवान् ने हमारे बारे में बुद्धत्व का व्याकरण क्यों नहीं किया ? भगवान् ने उनके चित्त का विचार जानकर कृपापूर्वक उनका भी व्याकरण किया।

सद्धर्मपुण्डरीक के इस संक्षिप्त पर्यालोचन से महायान बौद्ध-धर्म का हीनयान से सम्बन्ध स्पष्ट होता है। पालि-ग्रन्थों में दो प्रकार की धर्म देशना है। एक दानकथा, शीलकथा आदि उपाय धर्म देशना हैं तथा दूसरी 'सामुक्कंसिका धम्मदेशना है', जिसमें चार आर्यसत्यों की देशना दी जाती है। इस सद्धर्मपुण्डरीक में चार आयसत्यों की देशना तथा सर्वज्ञताज्ञान पर्यवसायी दो देशनाएं हैं। यह सर्वज्ञताज्ञान प्राप्त कराने वाली देशना भगवान् ने शारिपुत्र आदि को जो पहले नहीं दीं, यह उनका उपायकौशल्य है। यह द्वितीय देशना ही परमार्थ देशना है। इसमें शारिपुत्र आदि महास्थविरों और महाप्रजापति गौतमी आदि स्थविराओं को बुद्धत्व प्राप्ति का आश्वासन दिया गया है। हीनयान में उपदिष्ट धर्म भी बुद्ध का ही है। उसे एकान्ततः मिथ्या नहीं कहा गया है, किन्तु वह केवल उपायसत्य है, परमार्थसत्य तो बुद्धयान ही है।

सद्धर्मपुण्डरीक में बुद्धयान एवं तथागत की महिमा का वर्णन है, तथापि इस ग्रन्थ के कुछ अध्यायों में अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वों की महिमा का भी पुष्कल वर्णन है। अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व करुणा की मूर्ति हैं। अवलोकितेश्वर ने यद्यपि बोधि की प्राप्ति की है, तथापि जब तक संसार में एक भी सत्त्व दुःखी और बद्ध रहेगा, तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं करने का उनका संकल्प है। वे निर्वाण में प्रवेश नहीं करेंगे। वे सदा बोधिसत्त्व की साधना में निरत रहते हैं। इससे उनकी महिमा कम नहीं होती। बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के नाम मात्र के उच्चारण में अनेक दुःखों और आपदाओं से रक्षण की शक्ति है। हम बोधिसत्त्वों की श्रद्धा के साथ उपासना का प्रारम्भ इस ग्रन्थ में देखते हैं।

(२) **ललितविस्तर**– वैपुल्यसूत्रों में यह एक अन्यतम और पवित्रतम महायानसूत्र माना जाता है। इसमें सम्पूर्ण बुद्धचरित का वर्णन है। बुद्ध ने पृथ्वी पर जो-जो क्रीडा (ललित) की, उनका वर्णन होने के कारण इसे 'ललितविस्तर' कहते हैं। इसे 'महाव्यूह' भी कहा जाता है। इसमें कुल २७ अध्याय हैं, जिन्हें 'परिवर्त' कहा जाता है। तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है। समग्र मूल ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. एस. लेफमान ने किया था।

प्रथम अध्याय में रात्रि के व्यतीत होने पर ईश्वर, महेश्वर, देवपुत्र आदि जेतवन में पधारे और भगवान् की पादवन्दना कर कहने लगे- "भगवन्, ललितविस्तर नामक धर्मपर्याय का व्याकरण करें। भगवान् का तुषितलोक में निवास, गर्भावक्रान्ति, जन्म, कौमार्यचर्या, सर्व मारमण्डल का विध्वंसन इत्यादि का इस ग्रंथ में वर्णन है। पूर्व के तथागतों

ने भी इस ग्रंथ का व्याकरण किया था।" भगवान् ने देवपुत्रों की प्रार्थना स्वीकार की। तदनन्तर अविदूर निदान (अर्थात् तुषितलोक से च्युति से लेकर सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति तक) की कथा से प्रारम्भ कर समग्र बुद्धचरित का वर्णन सुनाने लगे।

बोधिसत्त्व ने क्षत्रिय कुल में जन्म लेने का निर्णय किया। भगवान् ने बताया कि बोधिसत्त्व शुद्धोदन की महिषी मायादेवी के गर्भ में उत्पन्न होंगे। वही बोधिसत्त्व के लिए उपयुक्त माता है। जम्बूद्वीप में कोई दूसरी स्त्री नहीं है, जो बोधिसत्त्व के तुल्य महापुरुष का गर्भ धारण कर सके। बोधिसत्त्व ने महानाग अर्थात् कुञ्जर के रूप में गर्भावक्रान्ति की।

मायादेवी पति की आज्ञा से लुम्बिनी वन गईं, जहाँ बोधिसत्त्व का जन्म हुआ। उसी समय पृथ्वी को भेदकर महापद्म उत्पन्न हुआ। नन्द, उपनन्द आदि नागराजाओं ने शीत और उष्ण जल की धारा से बोधिसत्त्व को स्नान कराया। बोधिसत्त्व ने महापद्म पर बैठकर चारों दिशाओं का अवलोकन किया। बोधिसत्त्व ने दिव्यचक्षु से समस्त, लोकधातु को देखा और जाना कि शील, समाधि और प्रज्ञा में मेरे तुल्य कोई अन्य सत्त्व नहीं है। पूर्वाभिमुख हो वे सात पग चले। जहाँ-जहाँ बोधिसत्त्व पैर रखते थे, वहाँ-वहाँ कमल प्रादुर्भूत हो जाता था। इसी तरह दक्षिण और पश्चिम की दिशा में चले। सातवें कदम पर सिंह की भांति निनाद किया और कहा कि मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। मैं जाति, जरा और मरण दुःख का अन्त करूँगा। उत्तराभिमुख हो बोधिसत्त्व ने कहा कि मैं सभी प्राणियों में अनुत्तर हूँ। नीचे की ओर सात पग रखकर कहा कि मार को सेना सहित नष्ट करूँगा और नारकीय सत्त्वों पर महाधर्ममेघ की वृष्टि कर निरयाग्नि को शान्त करूँगा। ऊपर की ओर भी सात पग रखे और अन्तरिक्ष की ओर देखा।

सातवें परिवर्त में बुद्ध और आनन्द का संवाद है, जिसका सारांश है कि कुछ अभिमानी भिक्षु बोधिसत्त्व की परिशुद्ध गर्भावक्रान्ति पर विश्वास नहीं करेंगे, जिससे उनका घोर अनिष्ट होगा तथा जो इस सूत्रान्त को सुनकर तथागत में श्रद्धा का उत्पाद करेंगे, अनागत बुद्ध भी उनकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। जो मेरी शरण में आते हैं, वे मेरे मित्र हैं। मैं उनका कल्याण साधित करूँगा। इसलिए हे आनन्द, श्रद्धा के उत्पाद के लिए यत्न करना चाहिए।

बुद्ध की गर्भावक्रान्ति एवं जन्म की जो कथा ललितविस्तर में मिलती है, वह पालिग्रंथों में वर्णित कथा से कहीं-कहीं पर भिन्न भी है। पालिग्रंथों में विशेषतः संयुत्तनिकाय, दीघनिकाय आदि में यद्यपि बुद्ध के अनेक अद्भुत धर्मों का वर्णन है, तथापि वे अद्भुत धर्मों से समन्वागत होते हुए भी अन्य मनुष्यों के समान जरा, मरण आदि दुःख एवं दौर्मनस्य के अधीन थे। पालिग्रन्थों के अनुसार बुद्ध लोकोत्तर केवल इसी अर्थ में है कि उन्होंने मोक्ष के मार्ग का अन्वेषण किया था तथा उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने से दूसरे लोग भी निर्वाण और अर्हत्त्व पद प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु महासांघिक लोकोत्तरवादी

निकाय के लोग इसी अर्थ में लोकोत्तर शब्द का प्रयोग नहीं करते। इसीलिए लोकोत्तरता को लेकर उनमें वाद-विवाद था।

आगे का ललितविस्तर का वर्णन महावग्ग की कथा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ समानता है, वहाँ भी ललितविस्तर में कुछ बातें ऐसी हैं, जो अन्यत्र नहीं पाई जातीं। उदाहरणार्थ शाक्यों के कहने से जब शुद्धोदन कुमार को अपने देवकुल में ले गये तो सब प्रतिमाएं अपने-अपने स्वरूप में आकर कुमार के पैरों पर गिर पड़ी। इसी तरह कुमार जब शिक्षा के लिए लिपिशाला में ले जाये गये तो आचार्य, कुमार के तेज को सहन नहीं कर पाये और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। तब बोधिसत्त्व ने आचार्य से कहा- आप मुझे किस लिपि की शिक्षा देंगे। तब कुमार ने ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारि, अंग, बंग, मगध आदि ६४ लिपियाँ गिनाईं। आचार्य ने कुमार का कौशल देखकर उनका अभिवादन किया।

बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएं हैं- निमित्त दर्शन, जिनसे बुद्ध ने जरा, व्याधि, मृत्यु एवं प्रव्रज्या का ज्ञान प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त अभिनिष्क्रमण, बिम्बिसार के समीप गमन, दुष्करचर्या, मारधर्षण, अभिसंबोधि एवं धर्मचक्रप्रवर्तन आदि घटनाएं हैं। जहाँ तक इन घटनाओं का सम्बन्ध है, ललितविस्तर का वर्णन बहुत भिन्न नहीं है। किन्तु ललितविस्तर में कुछ अतिशयताएँ अवश्य हैं। २७वें परिवर्त में ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन है।

यह निश्चित है कि जिन शिल्पियों ने जावा में स्थित बोरोबुदूर के मन्दिर को प्रतिमाओं से अलंकृत किया था, वे ललितविस्तर के किसी न किसी पाठ से अवश्य परिचित थे। शिल्प में बुद्ध का चरित इस प्रकार उत्कीर्ण है, मानों शिल्पी ललितविस्तर को हाथ में लेकर इस कार्य में प्रवृत्त हुए थे। जिन शिल्पियों ने उत्तर भारत में स्तूप आदि कलात्मक वस्तुओं को बुद्धचरित के दृश्यों से अलंकृत किया था, वे भी ललितविस्तर में वर्णित बुद्ध कथा से परिचित थे।

(३) लङ्कावतार– वैपुल्यसूत्रों में यह एक महत्त्वपूर्ण महायानसूत्र है। ज्ञातव्य है कि महायान के अनुयायी दार्शनिक द्विविध हैं- योगाचार एवं माध्यमिक। दोनों ही महायानसूत्रों को प्रामाणिक बुद्धवचन मानते हैं। फिर भी अपने-अपने दर्शनों की पृष्ठभूमि के अनुसार उन सूत्रों का नीतार्थ एवं नेयार्थ में विभाजन करते हैं। उदाहरणार्थ :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।।

(लङ्कावतारसूत्र- ३:३३)

लङ्कावतारसूत्र के इस वचन के आधार पर योगाचार दार्शनिक बाह्यार्थ का निषेध मानते हैं तथा इसे नीतार्थ सूत्र मानते हैं। जबकि सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक

भावविवेक और उनके अनुयायियों का कहना है कि इसके द्वारा बाह्यार्थ का निषेध नहीं, अपितु सृष्टिकर्ता ईश्वर, महेश्वर एवं स्वतन्त्र कर्ता एवं भोक्ता आत्मा का निषेध होता है। प्रासङ्गिक माध्यमिक इस सूत्र को नेयार्थ मानते हैं। योगाचार दार्शनिक इसी सूत्र के आधार पर विज्ञप्तिमात्रता या चित्तमात्रता की स्थापना करते हैं। उनकी सृष्टि में लङ्कावतार सूत्र उनके दर्शन का पोषक एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसी के आधार पर वे बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध कर विज्ञान की द्रव्यसत्ता एवं आलयविज्ञान आदि की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

इस सूत्र में कुल १० परिवर्त हैं। प्रथम परिवर्त में लङ्केश्वर रावण को भगवान् ने धर्मोपदेश किया है। इसमें बुद्ध के साथ राक्षसाधिपति रावण का संवाद प्रतिपादित है। बोधिसत्त्व महामति के कहने पर रावण भगवान् से धर्म और अधर्म के बारे में प्रश्न करता है। द्वितीय परिवर्त में महामति बोधिसत्त्व भगवान् से एक सौ आठ प्रश्न पूछता है। ये सभी प्रश्न मूल विज्ञानवादी सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। इनमें निर्वाण, बन्ध-मोक्ष, आलयविज्ञान, मनोविज्ञान, शून्यता आदि गम्भीर विषयों के बारे में प्रश्न हैं। तृतीय परिवर्त में कहा गया है कि तथागत ने जिस रात्रि में सम्यक् संबोधि प्राप्त की और जिस रात्रि में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया, इसके बीच उन्होंने एक भी अक्षर का उच्चारण नहीं किया। सभी सत्त्वों ने अपनी पात्रता और पुण्य के अनुसार उनके मुख से निकलती हुई देशना का श्रवण किया[1]। सप्तम परिवर्त पर्यन्त प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा है। अष्टम परिवर्त में मांस भक्षण का निषेध है। नवम परिवर्त में अनेक धारणियों का निरूपण है। अन्तिम दसवाँ परिवर्त अत्यधिक लम्बा है। इसमें लगभग ८८४ श्लोक हैं, जिसमें विज्ञानवाद की चर्चा है, साथ ही, उसमें अनेक भविष्यवाणियों का वर्णन है।

लङ्कावतारसूत्र के चीनी भाषा में अनुवाद उपलब्ध हैं। ई. सन् ४४३ में गुणप्रभ ने, ई. सन् ५१३ में बोधिरुचि ने तथा ई. ७००-७०४ में शिक्षानन्द ने अनुवाद किये। इसके तिब्बती अनुवाद भी प्राप्त हैं।

(४) सुवर्णप्रभास– महायानसूत्रसाहित्य में सुवर्णप्रभास की महत्त्वपूर्ण सूत्रों में गणना की जाती है। चीन और जापान में इसके प्रति अतिशय श्रद्धा है। फलस्वरूप धर्मरक्ष ने ४१२-४२६ ईसवी में, परमार्थ ने५४८ ईसवी में, यशोगुप्त ने ५६१-५७७ ईसवी में, पाओक्की ने ५९७ ईसवी में तथा इत्सिंग ने ७०३ ईसवी में इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसी तरह जापानी भाषा में भी तीन या चार अनुवाद हुए। तिब्बती भाषा में भी

---

१. यस्यां रात्र्यां चा= चाधिगमा धिगमो यस्यां च परिनिर्वृतः।
एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किञ्चित् प्रकाशितम्।।
द्र. - लङ्कावतारसूत्र, ३:७, पृ. १४४ (जापानी संस्करण)

इसका अनुवाद उपलब्ध है। साथ ही उइगर (Uigur) और खोतन में भी इसका अनुवाद हुआ। इन अनुवादों से यह सिद्ध होता है कि इस सूत्र का आदर एवं लोकप्रियता व्यापक क्षेत्र में थी। इस सूत्र में दर्शन, नीति, तन्त्र एवं आचार का उपाख्यानों द्वारा सुस्पष्ट निरूपण किया गया है। इस तरह बौद्धों के महायान सिद्धान्तों का विस्तृत प्रतिपादन है। इसमें कुल २१ परिवर्त हैं।

प्रथम परिवर्त में सुवर्णप्रभास के श्रवण का माहात्म्य वर्णित है। द्वितीय परिवर्त में जिस विषय की आलोचना की गई है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बुद्ध ने दीर्घायु होने के दो कारण बताए हैं। प्रथम प्राणिवध से विरत होना तथा द्वितीय प्राणियों के अनुकूल भोजन प्रदान करना। बोधिसत्त्व रुचिरकेतु को सन्देह हुआ कि भगवान् ने दीर्घायुष्कता के दोनों साधनों का आचरण किया, फिर भी अस्सी वर्ष में ही उनकी आयु समाप्त हो गई। अतः उनके वचन का कोई प्रामाण्य नहीं है।

इस शंका का समाधान करने के लिए चार बुद्ध अक्षोभ्य, रत्नकेतु, अमितायु और दुन्दुभिस्वर की कथा की तथा लिच्छिविकुमार ब्राह्मण कोण्डिन्य की कथा की अवतारणा की गई। आशय यह है कि बुद्ध का शरीर पार्थिव नहीं है, अतः उसमें सर्षप (सरसों) के बराबर भी धातु नहीं है तथा उनका शरीर धर्ममय एवं नित्य है। अतः पूर्वोक्त शंका का कोई अवसर नहीं है। तथा हि :

यदा शशविषाणेन निःश्रेणी सुकृता भवेत्।
स्वर्गस्यारोहणार्थाय तदा धातुर्भविष्यति।।
अनस्थिरुधिरे काये कुतो धातुर्भविष्यति[1]।

अपि च,

न बुद्धः परिनिर्वाति न धर्मः परिहीयते।
सत्त्वानां परिपाकाय परिनिर्वाणं निदर्श्यते।।
अचिन्त्यो भगवान् बुद्धो नित्यकायस्तथागतः।
देशेति विविधान् व्यूहान् सत्त्वानां हितकारणात्[2]।

तृतीय परिवर्त में रुचिरकेतु बोधिसत्त्व स्वप्न में एक ब्राह्मण को दुन्दुभि बजाते देखता है और दुन्दुभि से धर्मगाथाएं निकल रही हैं। जागने पर भी बोधिसत्त्व को गाथाएं याद रहती हैं और वह उन्हें भगवान् के सामने निवेदित करता है। चतुर्थ परिवर्त में महायान के मौलिक

---

१. द्र.- सुवर्णप्रभाससूत्र, तथागतायुः प्रमाणनिर्देशपरिवर्त, पृ. ८ (दरभङ्गा-संस्करण १६६७)
२. द्र.-सुवर्णप्रभाससूत्र, तथागतायुःप्रमाणनिर्देशपरिवर्त, पृ. ६ (दरभङ्गा-संस्करण १६६७)

सिद्धान्तों का गाथाओं द्वारा उपपादन किया गया है। पञ्चम परिवर्त में बुद्ध के स्तव हैं, जिनका सामूहिक नाम कमलाकर है। इनमें बुद्ध की महिमा का वर्णन है। षष्ठ परिवर्त में वस्तुमात्र की शून्यता के परिशीलन का निर्देश है। सप्तम में सुवर्णप्रभास के माहात्म्य का वर्णन है। अष्टम परिवर्त में सरस्वती देवी बुद्ध के सम्मुख आविर्भूत हुईं और सुवर्णप्रभास में प्रतिपादित धर्म का व्याख्यान करने वाले धर्मभाणक को बुद्ध की प्रतिभा से सम्पन्न करने की प्रतिज्ञा की। नवम परिवर्त में महादेवी बुद्ध के सम्मुख प्रकट हुईं और घोषणा की कि मैं व्यावहारिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति से धर्मभाणक को सम्पन्न करूँगी।

दशम परिवर्त में विभिन्न तथागतों एवं बोधिसत्त्वों के नामों का संकीर्तन किया गया है। एकादश परिवर्त में दृढा नामक पृथ्वी देवी भगवान् के सम्मुख उपस्थित हुईं और कहा कि धर्मभाणक के लिए जो उपवेशन-पीठ है, वह यथासम्भव सुखप्रदायक होगा। साथ ही आग्रह किया कि धर्मभाणक के धर्मामृत से अपने को तृप्त करूँगी। द्वादश परिवर्त में यक्ष सेनापति अपने अट्ठाइस सेनापतियों के साथ भगवान् के पास आये और सुवर्णप्रभास के प्रचार के लिए अपने सहयोग का वचन दिया। साथ ही धर्मभाणकों की रक्षा का आश्वासन भी दिया। त्रयोदश परिवर्त में राजशास्त्र सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन है। चतुर्दश परिवर्त में सुसम्भव नामक राजा का वृत्तान्त है। पञ्चदश परिवर्त में यक्षों और अन्य देवताओं ने सुवर्णप्रभास के श्रोताओं की रक्षा की प्रतिज्ञा की। षोडश परिवर्त में भगवान् ने दश सहस्र देवपुत्रों के बुद्धत्व लाभ की भविष्यवाणी की। सप्तदश परिवर्त में व्याधियों के उपशमन करने का विवरण दिया गया है। अष्टादश परिवर्त में जलवाहन द्वारा मत्स्यों को बौद्धधर्म में प्रवेश कराने की चर्चा है। उन्नीसवें परिवर्त में भगवान् ने बोधिसत्त्व अवस्था में एक व्याघ्री की भूख मिटाने के लिए अपने शरीर का परित्याग किया था, उसकी चर्चा है। बीसवें परिवर्त में सुवर्णरत्नाकरछत्रकूट नामक तथागत की बोधिसत्त्वों द्वारा की गई गाथामय स्तुति प्रतिपादित है। इक्कीसवें परिवर्त में बोधिसत्त्वसमुच्चया नामक कुल-देवता द्वारा व्यक्त सर्वशून्यताविषयक गाथाएं उल्लिखित हैं।

(५) **गण्डव्यूह**– बोधिसत्त्वसाधना के अध्ययन में गण्डव्यूह एक महत्त्वपूर्ण महायानसूत्र है। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार होता है। एक समय भगवान् श्रावस्ती के जेतवन में महाव्यूह कूटागार में विहार कर रहे थे। उनके साथ समन्तभद्र, मञ्जुश्री प्रमुख पाँच हजार बोधिसत्त्व थे, जो समन्तभद्र बोधिसत्त्वचर्या में प्रतिष्ठित थे और सर्वज्ञताज्ञान के अभिलाषी थे। उन्होंने निवेदन किया कि भगवान् पूर्ण सर्वज्ञताप्रस्थान एवं तथागत सर्वसत्त्व देशनानुशासनी प्रातिहार्य आदि अनेक प्रातिहार्य बताएं। तब भगवान् सिंहविजृम्भित समाधि में समाहित हुए और उसी समय अवर्णनीय प्रातिहार्य दिखलाई पड़े। वहाँ शारिपुत्र, मौद्गलयायन, महाकाश्यप आदि महाश्रावक भी उपस्थित थे, किन्तु वे जेतवन में स्थित होने पर भी इस अद्भुत प्रातिहार्य को न देख सके, क्योंकि वे श्रावक सर्वज्ञता की विपक्ष अक्लिष्ट अविद्या से युक्त थे तथा

सर्वज्ञताभौमिक कुशलमूल से अपरिगृहीत थे। तब मञ्जुश्री बोधिसत्त्व अनेक देव, देवता और बोधिसत्त्वों के साथ अपने विहार से निकले और भगवान् की पूजा कर सत्त्वपरिपाक के लिए दक्षिणापथ की ओर चल पड़े।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने बुद्ध के आनुभाव और मञ्जुश्री की कृपा से इस विहार को देखा और भगवान् को प्रणाम कर ६० भिक्षुओं के साथ उन्होंने मञ्जुश्री का अनुगमन किया। प्रवास में शारिपुत्र ने मञ्जुश्री की महान् विभूति की प्रशंसा की। जैसे-जैसे शारिपुत्र उनके गुणों का कीर्तन करते रहे, वैसे-वैसे, उन साठ भिक्षुओं के चित्त प्रसाद (निर्मलता) को प्राप्त होते गये। उनका चित्त बुद्ध धर्मों में परिणत हुआ। उन्होंने मञ्जुश्री से प्रार्थना की कि उनको भी बोधिसत्त्व-विभूति प्राप्त हो।

तब मञ्जुश्री ने उन भिक्षुओं से कहा- भिक्षुओं, दस प्रकार के चित्तोत्पाद के समन्वागम से महायान में सम्प्रस्थित कुलपुत्र तथागतभूमि को प्राप्त होता है। जो कुलपुत्र श्रद्धायुक्त होकर चित्तोत्पाद करता है, वह तथागतभूमि को प्राप्त होता है। मञ्जुश्री से इस धर्मनय को सुनकर वे भिक्षु 'सर्वबुद्धविदर्शनासङ्गविषय' नामक समाधि को प्राप्त हुए। उस समाधि के आनुभाव से उन्होंने दशदिशाओं के तथागतों का और सत्त्वों का दर्शन किया। इस प्रकार सर्व बुद्धधर्मों की परिनिष्पत्ति में वे भिक्षु प्रतिष्ठित हुए।

मञ्जुश्री बोधिसत्त्व ने उन भिक्षुओं को सम्यक् संबोधि में प्रतिष्ठित करके दक्षिणापथ के धन्याकर नामक महानगर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने 'धर्मधातुनयप्रभास' नामक सूत्रान्त का प्रकाशन किया। वहाँ उनकी परिषद् में सुधन नामक एक श्रेष्ठी-पुत्र बैठा था। उसने यह सूत्रान्त सुना। अनुत्तर सम्यक् संबोधि की अभिलाषा से उसका चित्त व्याकुल हुआ और उसने मञ्जुश्री से बोधिसत्त्वचर्या के उपदेश की प्रार्थना की।

मञ्जुश्री ने श्रेष्ठीपुत्र सुधन का साधुकार किया और कहा- हे कुलपुत्र, सर्वज्ञता की परिनिष्पत्ति का आदि और अन्त कल्याणमित्रों का सेवन एवं पर्युपासन है। इसी से कुलपुत्र, समन्तभद्रचर्यामण्डल की परिपूर्णता होती है। हे कुलपुत्र, इसी दक्षिणपथ में सुग्रीव नाम का एक पर्वत है। वहाँ मेघश्री नामक भिक्षु हैं। तुम उनके पास जाकर बोधिसत्त्वचर्या पूछो। वह कल्याणमित्र तुम्हें समन्तभद्रचर्यामण्डल का उपदेश करेंगे।

तब आर्य सुधन से मञ्जुश्री से विदा ली और मेघश्री के पास पहुँचे। मेघश्री ने उन्हें सागरमेघ नामक भिक्षु के पास भेजा। इस प्रकार लगभग पचास भिन्न-भिन्न जगहों पर सुधन ने भिन्न-भिन्न कल्याणमित्रों की पर्युपासना की। प्रत्येक कल्याणमित्र ने उनका अभिनन्दन किया और उन्हें बोधिसत्त्वचर्या में एक-एक कदम आगे बढ़ाया। इस प्रकार भारतवर्ष के कोने-कोने में आर्य सुधन ने चक्रमण (भ्रमण) किया। उन्होंने बुद्धमाता महामाया और बुद्धपत्नी गोपा (यशोधरा) से भी भेंट की। कल्याणमित्र की खोज में

घूमते-घूमते वह अन्त में समुद्रकच्छ नामक जनपद में स्थित वैरोचव्यूहालङ्कार नामक विहार के कूटागार में मैत्रेय बोधिसत्त्व के दर्शनार्थ पहुँचे और उनसे कहा-आर्य, मैं अनुत्तर सम्यक् संबोधि में प्रस्थित हूँ, किन्तु बोधिसत्त्वचर्या नहीं जानता। आर्य, आप मुझे बोधिसत्त्वचर्या बताएं।

आर्य मैत्रेय ने आर्य सुधन की प्रशंसा की और बोधिचित्तोत्पाद का माहात्म्य बतलाया। कुलपुत्र, यदि तुम बोधिसत्त्वचर्या जानने के लिए उत्सुक हो तो इस वैरोचनव्यूहालङ्कारगर्भ के महाकूट में प्रवेश करके देखो। वहां तुम बोधिसत्त्वचर्या की परिपूर्ति और परिनिष्पत्ति को जानोगे। मैत्रेय के आनुभाव से सुधन ने कूटागार में समस्त लोकों के बुद्धों का और बोधिसत्त्वों का दर्शन किया। समाधि से उठकर मैत्रेय ने कहा-कुलपुत्र, धर्मों की यही धर्मता है। यह सारा विश्व माया, स्वप्न एवं प्रतिभासोपम है। कुलपुत्र, जो तुमने अभी देखा है, वह न कहीं से आया है, न कहीं गया है। कुलपुत्र, यही बोधिसत्त्वों की गति है।

हे कुलपुत्र, मैंने तुम्हें संक्षेप से बताया है। अब तुम बोधिसत्त्वचर्या के बारे में विशेष जानकारी के लिए कल्याणमित्र मञ्जुश्री के पास जाओ और उनसे प्रश्न करो। वह मञ्जुश्री बोधिसत्त्व परमपारमिता प्राप्त हैं।

तब सुधन ने परम श्रद्धा से मञ्जुश्री की प्रार्थना की। दश हजार योजन दूर स्थित होते हुए भी मञ्जुश्री बोधिसत्त्व ने महाकरुझणा से प्रेरित हो सुधन के मस्तक पर अपना हाथ रखकर उनका अभिनन्दन किया। उसे असंख्य बुद्ध धर्मों में प्रतिष्ठित किया, अनन्त ज्ञानमहावभास को प्राप्त कराया तथा अपर्यन्त धारणी, समाधि एवं अभिज्ञाओं से विभूषित किया और समन्तभद्रचर्यामण्डल में प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार गण्डव्यूह में बोधिसत्त्वचर्या का अद्‌भुत वर्णन है। यह सूत्र 'अवतंसक सूत्र' के नाम से परिचित है।

(६) तथागतगुह्यक-प्रारम्भिक तन्त्र महायानसूत्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उदाहरणार्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प अवतंसक के अन्तर्गत 'महावैपुल्यमहायानसूत्र', के रूप में प्रसिद्ध है। विद्वानों की राय है कि तथागतगुह्य, गुह्यसमाजतन्त्र तथा अष्टादशपटल तीनों एक ही हैं। अर्थात् तीनों नाम पर्यायवाची हैं, किन्तु डॉ. विन्टरनित्ज का कहना है कि शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में जो तथागतगुह्यसूत्र के उद्धरण मिलते हैं, वे गुह्यसमाज से भिन्न हैं। अतः तथागतगुह्यसूत्र एवं गुह्यसमाजतन्त्र का अभेद नहीं है। अर्थात् भिन्न-भिन्न हैं। 'अष्टादश' इस नाम से यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ में अठारह अध्याय या परिच्छेद हैं।

तथागतगुह्यसूत्र के अनुसार बोधिसत्त्व प्रणिधान करता है कि श्मशान में स्थित उसके मृत शरीर का तिर्यग् योनि में उत्पन्न प्राणी यथेच्छ उपभोग करें और इस परिभोग की वजह

से वे स्वर्ग से उत्पन्न हो। इतना ही नहीं, वह उनके परिनिर्वाण का भी हेतु हो[1]।

पुनश्च, तदनुसार बोधिसत्त्व धर्मकाय से प्रभावित होता है, इसलिए वह अपने दर्शन, श्रवण और स्पर्श से भी सत्त्वों का हित करता है[2]। उसी सूत्र में अन्यत्र उल्लिखित है कि जैसे शान्तमति, जो वृक्ष मूल से उखड़ गया हो, उसकी सभी शाखाएं डालियां और पत्ते सूख जाते हैं, उसी प्रकार सत्कायदृष्टि का नाश हो जाने से बोधिसत्त्व के सभी क्लेश शान्त हो जाते हैं[3]। अपि च, महायान में प्रस्थित बोधिसत्त्व के ये चार धर्म विशेष गमन के और अपरिहाणि के हेतु होते हैं। कौन चार ? श्रद्धा, गौरव, निर्मानता (अनहंकार) एवं वीर्य[4]। पुनश्च, बोधिसत्तत्त्व सर्वदा अप्रमादी होता है और अप्रमाद का अर्थ है 'इन्द्रियसंवर'। वह न निमित्त का ग्रहण करता है और न अनुव्यञ्जन का। वह सभी धर्मों के आस्वाद, आदीनव और निःसरण को ठीक-ठीक जानता है[5]। और भी, अप्रमाद अपने चित्त का दमन करता है, दूसरों के चित्तों की रक्षा, क्लेश में अरति एवं धर्म में रति है[6]। योनिशः प्रयुक्त बोधिसत्त्व 'जो है' उसे अस्ति के रूप में और 'जो नहीं है' उसे नास्ति के रूप में जानता है[7]।

तथागतगुह्यसूत्र के अनुसार जिस रात्रि में तथागत ने अभिसम्बोधि प्राप्त की तथा जिस रात्रि में परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे, इस बीच में तथागत ने एक भी अक्षर न कहा और न कहेंगे। प्रश्न है कि तब समस्त सुर, असुर, मनुष्य, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, नाग आदि

---

१. ये मे मृतस्य कालगतस्य मांसं परिभुञ्जीरन्, स एव तेषां हेतुर्भवेत् स्वर्गोपपत्तये यावत् परिनिर्वाणाय तस्य शीलवतः। द्र.-तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ. ८६ (दरभङ्गा संस्करण, १६६६)

२. स धर्मकायप्रभावितो दर्शनेनापि सत्त्वानामर्थं करोति, श्रवणेनापि स्पर्शनेनापि सत्त्वानामर्थं करोति। द्र.-तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ. ८६ (दरभङ्गा संस्करण १६६०)

३. तद्यथापि नाम शान्तमते, वृक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सर्वशाखापत्रपलाशाः शुष्यन्ति, एवमेव शान्तमते, सत्कायदृष्ट्युपशमात् सर्वक्लेशा उपशाम्यन्तीति-द्र. तथागतगुह्य-सूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ. १३० (दरभङ्गा संस्करण, १६६०)

४. चत्वार इमे महाराज, धर्मा महायानसंप्रतिस्थितानां विशेषगामितायै संवर्तन्तेऽपरिहाणाय च। कतमे चत्वारः ? श्रद्धा महाराज, विशेषगामितायै संवर्तते ऽपरिहाणाय....गौरवं...निर्मानता....वीर्यं महाराज विशेषगामितायै संवर्ततेऽपरिहाणाय। द्र.-तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ. १६८ (दरभङ्गा संस्करण, १६६०)

५. तत्र कतमोऽप्रमादः ? यदिन्द्रियसंवरः। स चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा न निमित्तग्राही भवति नानुव्यञ्जन-ग्राही।.....सर्वधर्मेष्वास्वादं चादीनवं च निःसरणं च यथाभूतं प्रजानाति। द्र.-तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ. १६१।

६. अप्रमादो यत् स्वचित्तस्य दमनम्, परचित्तस्य रक्षा, क्लेशरतेरपरिकर्मणा, धर्मरतेरनुवर्तनम्, यावदयमुच्यतेऽप्रमाद। द्र.-तथागतगुह्यसूत्र, शिक्षासमुच्चय में उद्धृत, पृ. १६१ (दरभङ्गा संस्करण, १६६०)

७. योनिशः प्रयुक्तो हि गुह्यकाधिपते, बोधिसत्त्वो यदस्ति तदस्तीति प्रजानाति, यन्नास्ति तन्नास्तीति प्रजानीति। द्र.-तथागतगुह्यसूत्र शिक्षासमुच्चय में उद्धृत पृ. १६१ (दरभङ्गा संस्करण, १६६०)

विनेयजनों को उन्होंने कैसे विविध प्रकार की देशना की ? मात्र एक क्षण की ध्वनि के उच्चारण से वह विविधजनों के मानसिक अन्धकार का नाश करने वाली, उनके बुद्धिरूपी कमल को विकसित करने वाली, जरा, मरण आदि रूपी नदी और समुद्र का शोषण करने वाली तथा प्रलयकालानल को लज्जित करने वाली शरत्कालिक अरुण-प्रभा के समान थी। वस्तुतः जैसे तूरी नामक वाद्ययन्त्र वायु के झोकों से बजती है, वहां कोई बजाने वाला नहीं होता, फिर भी शब्द निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की वाणी भी निःसृत होती है, जबकि उनमें किसी भी प्रकार की कल्पना नहीं होती[1]। नाना आशय वाले सत्त्व समझते हैं कि तथागत के मुख से वाणी निकल रही है। उन्हें ऐसा लगता है, मानों भगवान् हमें धर्म की देशना कर रहे हैं और हम देशना सुन रहे हैं, किन्तु तथागत में कोई विकल्प नहीं होता, क्योंकि उन्होंने समस्त विकल्प जालों का प्रहाण कर दिया है[2]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय और चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा मूलमाध्यमिककारिकाटीका में अनेक स्थलों पर तथागतगुह्यसूत्र के उद्धरण उपलब्ध हैं, जिनका हमने भी यथासम्भव पादटिप्पणी में उल्लेख किया है। यदि ये उद्धरण प्रकाशित वर्तमान गुह्यसमाज में उपलब्ध नहीं होते है- तो समझा जाना चाहिए कि तथागतगुह्यसूत्र और गुह्यसमाज अभिन्न नहीं है, जैसे कि कुछ विद्वानों की धारणा है। आचार्य शान्तिदेव और चन्द्रकीर्ति क काल में ये दोनों अवश्य भिन्न-भिन्न थे।

(७) समाधिराज– वैपुल्यसूत्रों में समाधिराजसूत्र भी एक पवित्रतम एवं समादृत महायानसूत्र है। इसमें उच्चतम एवं दार्शनिक उपदेशों का समावेश है। इसे 'चन्द्रप्रदीपसूत्र' भी कहते हैं। चीनी परम्परा और आचार्य शान्तिदेव इसे चन्द्रप्रदीपसूत्र कहना पसन्द करते हैं, जब कि प्रज्ञाकर दोनों नामों का प्रयोग पृथक् ग्रन्थ के रूप में करते हैं। तथा संस्कृत

---

१. यां च शान्तमते, रात्रिं तथागतोऽनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंबुद्धः, यां च रात्रिमुपादाय परिनिर्वास्यति, अस्मिन्नन्तरे तथागतेन एकाक्षरमपि नोदाहृतं न प्रव्यहृतं न प्रव्यहरिष्यति। कथं तर्हि भगवता ..... विनेयजनेभ्यो विविधप्रकारेभ्यो धर्मदेशना देशिता ? एकक्षणवागुदाहारेणैव तत्तज्जनमनस्तमोहरणी... शरदरुणमहाप्रभेति।
तदेव सूत्रे :
यथा यन्त्रकृतं तूर्यं वाद्यते पवनेरितम्।
न चात्र वादकः कश्चिनिरन्त्यथ च स्वराः।।
एवं पूर्वसुशुद्धत्वात् सर्वसत्त्वाशयेरिता।
वाग्निश्चरति बुद्धस्य न चास्यास्तीह कल्पना।।
द्र.-तथागतगुह्यसूत्र, प्रसन्नपदा में उद्धृत पृ. १५५ नाना (दरभङ्गा संस्करण, १९६०)

२. अथ च यथाधिमुक्ताः सर्वसत्त्वा नानाधातवाशयास्तां तां विविधां तथागतवाचं निश्चरन्तीं संजानन्ति। तेषामिदं पृथक् भवति- अथ। भगवान् अस्मभ्यमिमं धर्मं देशयति, वयं च तथागतस्य धर्मदेशनां शृणुमः। तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति सर्वविकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगतो हि शान्तमते, तथागतः। द्र.-तथागतगुह्यसूत्र, प्रसन्नपदा में उद्धृत, पृ. २३६ (दरभङ्गा संस्करण, १९६०)

नामों को सुरक्षित रखने वाली तिब्बती परम्परा के अनुसार वे इसे 'सर्वधर्मस्वभावसमताविपञ्चित समाधिराज' कहते हैं। एक अनुमान यह है कि चन्द्रप्रदीपसूत्र बहुत विशाल ग्रन्थ रहा होगा, इसका लघु संस्करण ही वर्तमान समाधिराज है।

समस्तसुगतोद्गीर्णसर्वसूत्राधिराजतः
आर्यचन्द्रप्रदीपाद्धि यथालब्धं ब्रवीम्यहम्'।।

उपर्युक्त अनुमान के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है, क्योंकि शान्तिदेव और प्रज्ञाकर द्वारा चन्द्रप्रदीप के लिए गये सम्पूर्ण उद्धरण समाधिराज के वर्तमान संस्करण में उपलब्ध होते हैं। दूसरी ओर मूल ग्रन्थ की गिलगित में प्राप्त मातृका का आकार बहुत छोटा है। इस ग्रन्थ में कुल ४० अध्याय या परिच्छेद हैं, जिन्हें 'परिवर्त' कहा गया है।

मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित इस ग्रन्थ का आधार डॉ. नलिनाक्षदत्त द्वारा विभिन्न मातृकाओं की सहायता से १९४१-५४ में सम्पादित ग्रन्थ है। तिब्बती अनुवाद में संस्कृत ग्रन्थ का पूरा नाम 'सर्वधर्मस्वभावसमता-विपञ्चित समाधिराज' उपलब्ध है। यह अनुवाद ९वीं शताब्दी में शैलेन्द्रबोधि और धर्मशील द्वारा किया गया है, जो 'क-ग्युर' नामक संग्रह में प्राप्य है। चीनी भाषा में इसके तीन अनुवाद पाये जाते हैं। पहला पूर्ण अनुवाद नरेन्द्रयशस् द्वारा ई. ५५० में, दूसरा अधूरा अनुवाद शिक्-सिया-कुङ् द्वारा ई. सन् ४२०-७९ में तथा तीसरा अधूरा अनुवाद नगान-शे-कास द्वारा ई. सन् १४८ में किया गया। अन्तिम अनुवाद इस समय अप्राप्य है। चीनी अनुवादों में सर्वत्र इसका नाम 'चन्द्रप्रदीपसूत्र' ही है।

ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शून्यता है, जो सर्वधर्मसमता का आश्रय है। इसमें विभिन्न चित्तसमाधियों का विस्तृत वर्णन है। विषय का प्रतिपादन प्रश्नोत्तरके रूप में किया गया है। प्रश्नकर्ता बोधिसत्त्व चन्द्रप्रभ है और बुद्ध उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं। सम्भवतः इस ग्रन्थ के 'चन्द्रप्रदीप' इस नाम का कारण भी यही है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में चन्द्रप्रदीप ने अनेक प्रश्न किये, जिसका उत्तर बुद्ध ने यह कह कर दिया कि एक गुण पर अधिकार कर लेने से सम्पूर्ण गुणों की प्राप्ति हो जाती है और बोधिसत्त्व अनुत्तर सम्यक् संबोधि को भी शीघ्र प्राप्त कर लेता है। वह एक गुण यह है कि बोधिसत्त्व सभी सत्त्वों में समचित्त, हितचित्त, अप्रतिहतचित्त और अविषमचित्त होता है[2]।

---

१. द्र.-पी.एल. वैद्य, समाधिराजसूत्र की प्रस्तावना, पृ. १४ (दरभङ्गा संस्करण, १९६०)

२. एकधर्मेण कुमार, समन्वागतो बोधिसत्त्वो महासत्त्व एतान् गुणान् प्रतिलभते, क्षिप्रं चानुत्तरां सम्यक् सम्बोधिमभिसंबुध्यते। कतमेनेकधर्मेण? इह कुमार, बोधिसत्त्वो महासत्त्वः सर्वसत्त्वेषु समचित्तो भवति हितचित्तो ऽप्रतिहतचित्तो ऽविषमचित्तः। द्रष्टव्य- समाधिराजसूत्र, निदानपरिवर्त, पृ. ३ (दरभङ्गा-संस्करण १९६१)

सभी सत्त्वों में समचित्त, हितचित्त, अप्रतिहत चित्त एवं अविषमचित्त रहने वाला बोधिसत्त्व सर्वधर्मस्वभावसमता समाधि क्या है ? वह कायसंवर, वाक्संवर और मनःसंवर ही है'। इसके बाद 'सर्वधर्मस्वभावानुबोध प्रतिवेधज्ञान' तक की, जो समस्त बुद्धधर्मों का आधार है, व्याख्या की गई है। ग्रन्थ में इस विषय का विस्तृत वर्णन है, क्योंकि यह वैपुल्यसूत्र है। शैली पुनरावृत्तिप्रधान है।

सर्वधर्मसमता का अर्थ शून्यता है, जो एक प्रकार से प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। माध्यमिक परम्परा में इसलिए इस ग्रन्थ का अत्यधिक आदर है। इसीलिए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इसका उल्लेख 'आर्यसमाधिराजभट्टारक' के रूप में अपने ग्रन्थों में अनेक बार किया है। माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि इस ग्रन्थ के द्वारा अधिक होती है। लङ्कावतारसूत्र भी माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए उद्धृत किया जाता है, किन्तु वह योगाचार एवं माध्यमिक दोनों की मिश्रित रूप से संपुष्टि करता है। अतः माध्यमिक परम्परा में समाधिराज का अधिक महत्त्व है। तुलनात्मक दृष्टि में समाधिराज में लङ्कावतार की अपेक्षा माध्यमिक बौद्धमत का प्राचीनतर रूप निहित है।

(८) दशभूमीश्वर– गण्डव्यूह की भाँति यह सूत्र भी अवतंसक का एक भाग माना जाता है। इसमें बोधिसत्त्व की दस आर्यभूमियों का विस्तृत वर्णन है, जिन भूमियों पर क्रमशः अधिरोहण करते हुए बुद्धत्व अवस्था तक साधक पहुँचता है। 'महावस्तु' में इस सिद्धान्त का पूर्वरूप उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में उक्त सिद्धान्त का परिपाक हुआ है।

महायान में इस सूत्र का अत्युच्च स्थान है। इसे दशभूमिक, दशभूमीश्वर एवं दशभूमक नाम से भी जाना जाता है। आर्य असङ्ग ने 'दशभूमक' शब्द का ही प्रयोग किया है। इसकी लोकप्रियता एवं प्रामाणिकता में यह प्रमाण है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में ही इसके तिब्बती, चीनी, जापानी एवं मंगोलियन अनुवाद हो गये थे। श्री धर्मरक्ष ने इसका चीनी अनुवाद ई. सन् २९७ में रि दिया था। इसके प्रतिपादन की शैली में लम्बे-लम्बे समस्त पद एवं रूपकों की भरमार है। मिथिलाविद्यापीठ ने डॉ. जोनेस राडर के संस्करण के आधार पर इसका पुनः संस्करण किया है।

ज्ञात है कि महायान में दस आर्यभूमियाँ मानी जाती हैं, यथा- प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती एवं धर्ममेधा। आर्यावस्था से पूर्व जो पृथग्जन भूमि होती है, उसे 'अधिमुक्तिचर्याभूमि' कहते हैं। महायान में पाँच मार्ग होते हैं- सम्भारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग।

---

१. तत्र कुमार, सर्वसत्त्वेषु समचित्तो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो हितचित्तोऽप्रतिहतचित्तोऽविषमचित्त इमं सर्वधर्मस्वभावसमताविपञ्चितं नाम समाधिं प्रतिलभते। कतमश्च स कुमार, सर्वधर्मस्वभावसमताविपञ्चितो नाम समाधि ? यदुत कायसंवरः, वाक्यसंवरः, मनःसंवर। द्र.- समाधिराजसूत्र, पृ. ४ (दरभङ्गा-संस्करण १९६१)

दर्शनमार्ग प्राप्त होने पर बोधिसत्त्व 'आर्य' कहलाने लगता है। उपर्युक्त दस भूमियाँ आर्य की भूमियाँ हैं। दर्शनमार्ग की प्राप्ति से पूर्व बोधिसत्त्व पृथग्जन होता है। सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग पृथग्जनमार्ग हैं और उनकी भूमि अधिमुक्तिचर्याभूमि कहलाती है।

महायानगोत्रीय व्यक्ति बोधिचित्त का उत्पाद कर महायान में प्रवेश करता है। पृथग्जन अवस्था में सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग का अभ्यास कर दर्शनमार्ग प्राप्त करते ही आर्य होकर प्रथम प्रमुदिता भूमि को प्राप्त करता है।

पारमिताएं भी दस होती हैं, यथा-दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल, प्रणिधान, बल एवं ज्ञान पारमिता। बोधिसत्त्व प्रत्येक भूमि में सामान्यतः इन सभी पारमिताओं का अभ्यास करता है, किन्तु प्रत्येक भूमि में किसी एक पारमिता का प्राधान्य हुआ करता है। ग्रन्थ में इन भूमियों के वैशिष्ट्य का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है, किन्तु हम संक्षेप में यहाँ परिचयात्मक निरूपण कर रहे हैं।

(१) प्रमुदिता– संबोधि को तथा सत्त्वहित की सिद्धि को आसन्न देखकर इस भूमि में प्रकृष्ट (तीव्र) मोद (हर्ष) उत्पन्न होता है, अतः इसे 'प्रमुदिता' भूमि कहते हैं। इस अवस्था में बोधिसत्त्व पांच भयों से मुक्त हो जाता है, यथा- जीविकाभय, निन्दाभय, मृत्युभय, दुर्गतिभय एवं परिषद्शारद्य (लज्जा का) भय। जो बोधिसत्त्व प्रमुदिता भूमि में अधिष्ठित हो जाता है, वह जम्बूद्वीप पर आधिपत्य करने में समर्थ हो जाता है। इस भूमि में बोधिसत्त्व सामान्यतः दान, प्रियवचन, परहितसम्पादन (अर्थचर्या) एवं समानार्थता (सर्वधर्मसमता)- इन कृत्यों का सम्पादन करता है। विशेषतः इस भूमि में उसकी दानपारमिता की पूर्ति होती है।

(२) विमला– दौःशील्य एवं आभोग आदि सभी मलो से व्यपगत (रहित) होने के कारण यह भूमि 'विमला' कही जाती है। इस भूमि में बोधिसत्त्व शील में प्रतिष्ठित होकर दस प्रकार के कुशलकर्मों का सम्पादन करता है। इस भूमि में चार संग्रह वस्तुओं[1] में प्रियवादिता एवं शीलपारमिता का प्राधान्य होता है।

(३) प्रभाकरी– विशिष्ट (महान्) धर्मों का अवभास कराने के कारण यह भूमि 'प्रभाकरी' कहलाती है। इस अवस्था में बोधिसत्त्व सभी संस्कार धर्मों को अनित्य, दुःख, अनात्म एवं शून्य देखता है। सभी वस्तुएं उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाती हैं। वे अतीत अवस्था में संक्रान्त नहीं होतीं, भविष्य में कहीं जाकर स्थित नहीं होतीं तथा वर्तमन में भी कहीं उनका अवस्थान नहीं होता। शरीर दुःखस्कन्धात्मक है- ऐसा बोधिसत्त्व अवधारण करता है। उसमें क्षान्ति, शम, औदार्य एवं प्रियवादिता आदि गुणों का उत्कर्ष होता है। इस भूमि में अवस्थित बोधिसत्त्व इन्द्र के समान बन जाते हैं। इस भूमि में सत्त्वहितचर्या बलवती होती है और क्षान्तिपारमिता का आधिक्य होता है तथा बोधिसत्त्व दूसरों में धर्म का अवभास करता है।

---

१. चार संग्रह ये हैं - दान, प्रियवादित्व, अर्थचर्या एवं समानार्थता।

(४) **अर्चिष्मती–** बोधिपाक्षिक प्रज्ञा इस भूमि में क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण का दहन करती है। बोधिपाक्षिक धर्म अर्चिष् (ज्वाला) के समान होते हैं। फलतः बोधिपाक्षिक धर्म और प्रज्ञा से युक्त होने के कारण यह भूमि 'अर्चिष्मती' कहलाती है। बोधिसत्त्व इस भूमि में दस प्रकार के धर्मालोक के साथ अधिरूढ होता है। बोधिपाक्षिक धर्म सैंतीस होते है।, यथा- चार स्मृत्युपस्थान, चार प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यङ्ग और आठ आर्यमार्ग (आर्यअष्टाङ्गिक मार्ग) बोधिसत्त्व इन बोधिपाक्षिक धर्मों का इस भूमि में विशेष लाभ करता है। अन्य पारिमताओं की अपेक्षा इस भूमि में वीर्यपारमिता की प्रधानता होती है तथा संग्रह वस्तुओं में समानार्थता अधिक उत्कर्ष को प्राप्त होती है।

(५) **सुदुर्जया–** बोधिसत्त्व इस भूमि में सत्त्वों का परिपाक और अपनी चित्त की विशेष रूप से रक्षा करता है। ये दोनों कार्य अत्यन्त दुष्कर हैं। इन पर जय प्राप्त करने के कारण यह भूमि 'सुदुर्जया' कहलाती है। बोधिसत्त्व इस भूमि में दस प्रकार की चित्तविशुद्धियों को प्राप्त करता है तथा चतुर्विध आर्यसत्व के यथार्थज्ञान का लाभ करता है। इस स्थिति में बोधिसत्त्व को यह उपलब्धि होती है कि सम्पूर्ण विश्व शून्य है। सभी प्राणियों के प्रति उसमें महाकरुणा का प्रादुर्भाव होता है तथा महामैत्री का आलोक उत्पन्न होता है। वह दान, प्रियवादिता एवं धर्मोपदेश आदि के द्वारा संसार में कल्याण के मार्ग का निर्देश करता है। इस भूमि में अन्य पारमिताआं की अपेक्षा ध्यानपारमिता की प्रधानता होती है।

(६) **अभिमुखी–** इस भूमि में प्रज्ञा का प्राधान्य होता है। प्रज्ञापारमिता की वजह से संसार और निर्वाण दोनों में प्रतिष्ठित नहीं होने के कारण यह भूमि संसार और निर्वाण दोनों के अभिमुख होती है। इसलिए 'अभिमुखी' कहलाती है। इस भूमि में बोधिसत्त्व बोध्यङ्गों की निष्पत्ति का विशेष प्रयास करते हैं। इस भूमि मे प्रज्ञापारमिता अन्य पारमिताओं की अपेक्षा अधिक प्रधान होती है। (७) **दूरङ्गमा–** संबोधि को प्राप्त कराने वाले एकायन मार्ग से अन्वित होने के कारण यह भूमि उपाय और प्रज्ञा के क्षेत्र में दूर तक प्रविष्ट है, क्योंकि बोधिसत्त्व अभ्यास की सीमा को पार कर गया है, इसलिए यह भूमि 'दूरङ्गमा' कहलाती है। इस अवस्था में बोधिसत्त्व शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित इन त्रिविधि विमोक्ष या समाधियों का लाभ करता है। इस भूमि में अन्य पारमिताओं की अपेक्षा 'उपायकौशल पारमिता' अधिक बलवती होती है।

(८) **अचला–** नाम से ही स्पष्ट है कि इस भूमि पर अधिरूढ होने पर बोधिसत्त्व की परावृत्ति (पीछे लौटने) की सम्भावना नहीं रहती। इस भूमि में वह अनुत्पत्तिक धर्मक्षान्ति से समन्वित होता है। निमित्ताभोगसंज्ञा और अनिमित्ताभोगसंज्ञा इन दोनों संज्ञाओं से विचलित नहीं होने के कारण यह भूमि 'अचला' कहलाती है। इस भूमि का लाभ करने पर बोधिसत्त्व निर्वाण की भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने पर सभी दुःखी प्राणियों का कल्याण करने की उनकी जो प्रतिज्ञा है, उसके भङ्ग होने की आशंका होती है। वे

लोक में ही अवस्थान करते हैं। इनका पूर्व प्रणिधान इस अवस्था में बलवान् होता है। जो बोधिसत्त्व इस भूमि में अवस्थान करते हैं, उनमें आयुर्वशिता, चेतोवशिता, कर्मवशिता आदि दश वशिताएं तथा आशयबल, अध्याशय बल, महाकरुणा आदि दश बल सम्पन्न होते हैं। इस भूमि में अन्य पारमिताओं की अपेक्षा 'प्रणिधान पारमिता' का आधिक्य रहता है।

(६) **साधुमती**– चार प्रतिसंविद् (विशेष ज्ञान) होती हैं, यथा- धर्मप्रतिसंविद्, अर्थप्रतिसंविद्, निरुक्तिप्रतिसंविद् एवं प्रतिभानप्रतिसंविद्। इस भूमि में बोधिसत्त्व इन चारों प्रतिसंविद् में प्रवीण (= साधु अर्थात् कर्मण्य) हो जाता है, इसलिए यह भूमि 'साधुमती' कहलाती है। धर्मप्रतिसंविद् के द्वारा वह धर्मों के स्वलक्षण को जानता है। अर्थप्रतिसंविद् के द्वारा धर्मों के विभाग को जानता है। निरुक्तिप्रतिसंविद् के द्वारा धर्मों की अविभक्त देशना को जानता है तथा प्रतिभानप्रतिसंविद् के द्वारा धर्मों के अनुप्रबन्ध अर्थात् निरवच्छिन्नता को जानता है। इस अवस्था में बोधिसत्त्व कुशल और अकुशलों की निष्पत्ति के प्रकार को ठीक-ठीक जान लेता है। इस भूमि में पारमिताओं में 'बल पारमिता' का प्राधान्य होता है।

(१०) **धर्ममेघा**– धर्मरूपी आकाश विविध समाधिमुख और विविध धारणीमुख रूपी मेघों से इस भूमि में व्याप्त हो जाता है, अतः यह भूमि 'धर्ममेघा' कहलाती है। यह भूमि अभिषेक भूमि आदि नामों से भी परिचित है। इस भूमि में बोधिसत्त्व की 'सर्वज्ञानाभिषेक समाधि' निष्पन्न होती है। बोधिसत्त्व जब इस समाधि का लाभ करते हैं तब वे 'महारत्नराजपद्म' नामक आसन पर उपविष्ट दिखलाई पड़ते हैं। वे अज्ञान से उत्पन्न क्लेश रूपी अग्नि का धर्ममेघ के वर्णन से उपशमन करते हैं। अर्थात् क्लेशरूपी अग्नि को बुझा देते हैं, इसलिए इस भूमि का नाम 'धर्ममेघा' है। इस भूमि में उनकी 'ज्ञानपारमिता' अन्य पारमिताओं की अपेक्षा प्राधान्य का लाभ करती है।

प्रज्ञापारमितासूत्र– प्रज्ञापारमितासूत्र प्रमुखतः भगवान् बुद्ध द्वारा गृध्रकूट पर्वत पर द्वितीय धर्मचक्र के काल में उपदिष्ट देशनाएं हैं। कालान्तर में ये सूत्र जम्बूद्वीप में विलुप्त हो गये। आचार्य नागार्जुन ने नागलोक जाकर उन्हें प्राप्त किया और वे वहाँ से पुनः जम्बूद्वीप लाए। प्रज्ञापारमितासूत्रों के दो पक्ष हैं। एक दर्शनपक्ष है, जिसे प्रज्ञापक्ष या शून्यतापक्ष भी कहा जाता है। दूसरा है साधनापक्ष, जिसे उपायपक्ष या करुणापक्ष भी कहा जाता है। नागार्जुन ने प्रज्ञापारमितासूत्रों के दर्शनपक्ष को अपनी कृतियों द्वारा प्रकाशित किया। प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर उन्होंने प्रमुखतः मूलमाध्यमिककारिका आदि ग्रन्थों में शून्यता-दर्शन को युक्तियों द्वारा प्रतिष्ठापित किया, जिसे आगे चलकर उनके अनुयायियों ने और अधिक विकसित किया। प्रज्ञापारमितासूत्रों के साधनापक्ष को आर्य असंग ने अपनी कृतियों द्वारा प्रकाशित किया। तदनन्तर उनके अनुयायियों ने उसे और अधिक पल्लवित एवं पुष्पित किया।

शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि पर्यायवाची शब्द हैं। सभी धर्मों की निःस्वभावता प्रज्ञापारमितासूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य है। प्रज्ञापारमितासूत्रों की संख्या अत्यधिक है। शतसाहस्रिका (एक लाख श्लोकात्मक) प्रज्ञापारमिता से लेकर एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता तक ये सूत्र पाये जाते हैं। महायानी वैपुल्यसूत्रों के दो प्रकार हैं। एक प्रकार के वे सूत्र हैं, जिनमें बुद्ध, बोधिसत्त्व, बुद्धयान आदि की महत्ता प्रदर्शित की गई है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि सूत्र इसी प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार में वे सूत्र आते हैं, जिनमें शून्यता और प्रज्ञा की महत्ता प्रदर्शित है, ये सूत्र प्रज्ञापारमितासूत्र ही हैं। शून्यता और महाकरुणा- इन दोनों का समन्वय प्रज्ञापारमितासूत्रों में दृष्टिगोचर होता है।

महायान साहित्य में प्रज्ञापारमितासूत्रों का अत्यधिक महत्त्व है। अन्य सूत्रों में अधिकतर बुद्ध और बोधिसत्त्वों का संवाद दिखलाई देता है, जबकि प्रज्ञापारमितासूत्रों में बुद्ध सुभूति नामक स्थविर से प्रश्न करते हैं। सुभूति और शारिपुत्र इन दो स्थविरों का शून्यता के बारे में संवाद ही तात्त्विक एवं गम्भीर है। इन सूत्रों की प्राचीनता इसी से प्रमाणित है कि ई. सन् १७६ में प्रज्ञापारमितासूत्र का चीनी भाषा में रूपान्तर हो गया था। प्रायः सभी बौद्ध धर्मानुयायी देशों में इन सूत्रों का अत्यधिक समादर है।

नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता महायान सूत्र सवा लाख श्लोकात्मक है। पुनः एक लक्षात्मक, पच्चीस हजार, दस हजार और आठ हजार श्लोकात्मक प्रज्ञापारमितासूत्र भी प्रकाशित हैं। चीनी और तिब्बती परम्परा में इसके और भी अनेक प्रकार हैं। संस्कृत में निम्नलिखित सूत्र अंशतः या पूर्णरूपेण उपलब्ध होते हैं- १. शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, २. पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ३. अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता, ४. सार्धद्विसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ५. सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, ६. वज्रच्छेदिका (त्रिशतिका) प्रज्ञापारमिता, ७. अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता, ८. भगवती प्रज्ञापारमितासूत्र आदि।

प्रज्ञापारमितासूत्रों को जननीसूत्र भी कहते हैं। प्रज्ञापारमिता के बिना बुद्धत्व का लाभ सम्भव नहीं है, अतः यह बुद्धत्व को उत्पन्न करने वाली है। इसी अर्थ में इसे जननी, बुद्धमाता आदि शब्दों से भी अभिहित करते हैं। इन्हें 'भगवती' भी कहते हैं, जो इनके प्रति अत्यधिक आदर का सूचक है। जननीसूत्रों का तीन में विभाजन भी किया जाता है, यथा- विस्तृत, मध्यम एवं संक्षिप्त जिनजननीसूत्र। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता विस्तृत जिनजननीसूत्र है, जिसका उपदेश भगवान् ने मृदु-इन्द्रिय और विस्तृतरुचि विनेयजनों के लिए किया है। मध्येन्द्रिय और मध्यरुचि विनेयजनों के लिए मध्यम जिनजननी अर्थात् पञ्चविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमिता का तथा तीक्ष्णेन्द्रिय और संक्षिप्तरुचि विनेयजनों के लिए संक्षिप्त जिनजननी अर्थात् अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का भगवान् ने उपदेश किया है। इन सभी में अष्टसाहस्रिका पूर्णतः उपलब्ध है, अतः उसका यहाँ निरुपण किया जा रहा है।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता— इसमें कुल बत्तीस परिवर्त हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार होता है- एक समय भगवान्, राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर साढ़े बारह हजार (१२,५००) भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे थे, उनमें आनन्द को छोड़कर सभी अर्हत्, क्षीणास्रव एवं कृतकृत्य थे। उस समय भगवान् ने अधिष्ठान किया- 'सुभूति, तुम्हें बोधिसत्त्व महासत्त्वों की प्रज्ञापारमिता का प्रतिभान हो'। भगवान् के वचन सुनकर शारिपुत्र को सन्देह हुआ कि क्या सुभूति स्थविर अपने सामर्थ्य से व्याख्यान करेंगे या बुद्धानुभाव से। स्थविर सुभूति ने बुद्धानुभाव से उनके मन की बात जानकर कहा- 'आयुष्मन् शारिपुत्र, श्रावक जो कुछ भी भाषण करते हैं, उपदेश करते हैं, प्रकाशन करते हैं, वह सब तथागत का ही पुरुषकार है, क्योंकि हे शारिपुत्र, धर्मता के अनुकूल (अविपरीत) जो कुछ भी श्रावक कहेंगे, वह बुद्धानुभाव ही है।

तब आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् को अञ्जलिबद्ध होकर कहा- भगवन्, बोधिसत्त्व-बोधिसत्त्व, प्रज्ञापारमिता-प्रज्ञापारमिता यद्यपि ऐसा कहा जाता है, किन्तु किस धर्म का यह अधिवचन (नाम) है ? मैं तो ऐसे किसी भी धर्म को नहीं देखता हूँ, जिसे मैं 'बोधिसत्त्व' कहूँ या प्रज्ञापारमिता कह सकूँ। ऐसा होने पर भी चित्त में विषाद न लाकर प्रज्ञापारमिता की भावना करते हुए बोधिसत्त्व को चाहिए कि वह बोधिचित्त को भी परमार्थतः न माने, क्योंकि वह चित्त अचित्त है, चित्त की प्रकृति प्रभास्वर है।

तब शारिपुत्र ने कहा- क्या आयुष्मन् सुभूति, ऐसा भी कोई चित्त है, जो अचित्त है? सुभूति ने कहा- क्या आयुष्मन् शारिपुत्र, जो अचित्तता है, उस अचित्तता में अस्तिता या नास्तिता की उपलब्धि होती है ?

शारिपुत्र ने कहा- नहीं। आयुष्मन् सुभूति, वह अचित्तता क्या है ?

सुभूति ने कहा- आयुष्मन् शारिपुत्र, वह अचित्तता अविकार और अविकल्प है (अविकारा आयुष्मन्, अविकल्पाऽचित्तता)।

सुभूति का वचन सुनकर शारिपुत्र ने साधुवाद किया और कहा जो श्रावकभूमि में, प्रत्येकबुद्धभूमि में और बोधिसत्त्वभूमि में भी शिक्षा ग्रहण करना चाहता है, उसे इसी प्रज्ञापारमिता का ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रज्ञापारमिता में सभी बोधिसत्त्व धर्म उपदिष्ट हैं। उपायकौशल के साथ इसी में योग करना चाहिए।

तब सुभूति ने भगवान् से फिर कहा- भगवन्, मैं 'बोधिसत्त्व' इस नामधेय को भी नहीं जानता हूँ, क्योंकि नामधेय भी अविद्यमान है। वह न स्थित है, न अस्थित है। साथ ही, यह भी है भगवन्, कि प्रज्ञापारमिता में आचरण करते हुए बोधिसत्त्व को न रूप में, न संज्ञा में, न वेदना में, न संस्कार में और न विज्ञान में स्थित होना चाहिए, क्योंकि वह रूप में स्थित होता है तो रूपाभिसंस्कार में ही स्थित होता है, प्रज्ञापारमिता में स्थित नहीं होता।

अतः प्रज्ञापारमिता की पूर्ति में संलग्न बोधिसत्त्व को 'सर्व धर्म अपरिगृहीत' नामक अप्रमाणनियत और असाधारण समाधि की प्राप्ति करनी चाहिए। वह रूप से लेकर विज्ञान तक का परिग्रह नहीं करता। यही उसकी प्रज्ञापारमिता है। वह प्रज्ञा को बिना पूर्ण किए बीच में तब तक परिनिर्वाण को भी प्राप्त नहीं करता, जब तक दस तथागतबलों से परिपूर्ण नहीं हो जाता। यह भी उसकी प्रज्ञापारमिता है। यह भी धर्मता है कि रूप रूपस्वभाव से विरहित है, वेदना वेदनास्वभाव से....विज्ञान विज्ञानस्वभाव से विरहित है। प्रज्ञापारमिता भी प्रज्ञापारमितास्वभाव से विरहित है। सर्वज्ञता भी सर्वज्ञतास्वभाव से विरहित है। लक्षण भी लक्षणस्वभाव से विरहित है। स्वभाव भी स्वभाव से विरहित है।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने सुभूति से प्रश्न किया - क्या आयुष्मन् जो बोधिसत्त्व यहाँ (प्रज्ञापारमिता में) शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा ?

सुभूति ने कहा- जो बोधिसत्त्व प्रज्ञापारमिता में शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा, क्योंकि हे आयुष्मन्, सभी धर्म अजात एवं अनिर्यात हैं। ऐसा जानने पर बोधिसत्त्व सर्वज्ञता के नजदीक होता है। जैसे-जैसे वह सर्वज्ञता के समीप होता है, वैसे-वैसे वह सत्त्वपरिपाचन, कायचित्तपरिशुद्धि, लक्षणपरिशुद्धि, बुद्धक्षेत्रपरिशुद्धि और बुद्धों से समवधान करता है। इस प्रकार हे आयुष्मन्, प्रज्ञापारमिता में विहार करने से सर्वज्ञता आसन्न होती है।

तब शारिपुत्र ने भगवान् से प्रश्न किया- इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने वाला बोधिसत्त्व किस धर्म में शिक्षा प्राप्त करता है ?

भगवान् ने कहा- शारिपुत्र, इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने वाला बोधिसत्त्व किसी भी धर्म में शिक्षा प्राप्त नहीं करता, क्योंकि शारिपुत्र, धर्म वैसे विद्यमान नहीं है, जैसे बाल और पृथग्जन उसमें अभिनिविष्ट हैं[1]।

शारिपुत्र ने पूछा- भगवन्, धर्म कैसे विद्यमान है ? भगवान् ने कहा- जिस प्रकार वे संविद्यमान नहीं हैं, उस प्रकार वे संविद्यमान हैं। इस प्रकार वे अविद्यमान हैं। इसीलिए कहा जाता है कि यह अविद्या है। उसमें बाल एवं पृथग्जन अभिनिविष्ट हैं। उन्होंने अविद्यमान सर्व धर्मों की कल्पना की है। वे उनकी कल्पना करके दो अन्तों में आसक्त हैं[2]। अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न धर्मों की कल्पना करते हैं और नाना रूपों में अभिनिविष्ट होते हैं। इसलिए वे मार्ग को नहीं जानते। यथाभूत मार्ग को बिना जाने वे त्रैधातुक संसार से मुक्त नहीं होंगे और न वे भूतकोटि को जान सकेंगे। इसीलिए वे बाल-पृथग्जन हैं। जो

१. न हि ते शारिपुत्र, धर्मास्तथा संविद्यन्ते, यथा बाल-पृथग्जना अश्रुतवन्तोऽभिनिविष्टाः। द्र.-अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ. ८ (दरभङ्गा संस्करण, १९६०

२. यथा शारिपुत्र, न संविद्यन्ते, एवमविद्यमाना, तेनोच्यन्ते अविद्येति....तैरसंविद्यमानानां सर्वधर्माः कल्पिताः ते तान् कल्पयित्वा द्वयोरन्तयोः सक्ताः। तान् धर्मान् न जानन्ति, न पश्यन्ति। द्र.- अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ. ८ (दरभङ्गा संस्करण, १९६०)

बोधिसत्त्व है।, वे किसी भी धर्म में अभिनिवेश नहीं करते। शारिपुत्र, वह बोधिसत्त्व सर्वज्ञता में भी शिक्षित नहीं होता, इसी कारण सभी धर्मों में शिक्षित होता है, सर्वज्ञता को प्राप्त होता है।

तब आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् से प्रश्न किया- भगवन्, जो ऐसा पूछे कि क्या मायापुरुष सर्वज्ञता में शिक्षित होगा ? सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा ? ऐसा पूछने पर क्या उत्तर दिया जाए ?

भगवान् ने कहा- सुभूति, मैं तुमसे ही प्रश्न करता हूँ कि क्या वह माया अलग है और रूप अलग है ? इसी तरह संज्ञा....विज्ञान अलग है और माया अलग है ? सुभूति ने कहा- नहीं भगवन्, रूप ही माया है, माया ही रूप है (रूपमेव भगवन्, माया मायैव रूपम्) विज्ञान ही माया है, माया ही विज्ञान है। भगवान् ने कहा- तो क्या सुभूति, इन पाँच उपादान स्कन्धों में ही क्या यह संज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार नहीं है कि यह 'बोधिसत्त्व' है ? सुभूति ने कहा- भगवन्, ठीक ऐसा ही है। भगवान् ने रूप आदि को मायोपम कहा है। ये पांच उपादान स्कन्ध ही मायापुरुष हैं। किन्तु भगवन्, फिर बोधिसत्त्व क्या पदार्थ है, उसे क्यों महासत्त्व कहा जाता है ?

भगवान् ने कहा- सुभूति, बोधिसत्त्व पदार्थ अपदार्थ है (अपदार्थः सुभूते, बोधिसत्त्वपदार्थः) सर्व धर्मों की असक्तता में ही वह शिक्षित होता है। उसी से वह सम्यक् संबोधि को अभिसंबुद्ध करता है। बोधि के ही अर्थ में वह बोधिसत्त्व महारसत्त्व है। महान् सत्त्वराशि में, महान् सत्त्वनिकाय में वह अग्रता (श्रेष्ठता) को प्राप्त करता है, इसलिए वह 'महासत्त्व' है।

इस विषय में अपना विचार प्रकट करते हुए शारिपुत्र ने कहा- मैं मानता हूँ कि आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, भव-विभव और शाश्वत - उच्छेद दृष्टि आदि महती दृष्टियों के प्रहाण के लिए धर्म का उपदेश करता है, इसलिए बोधिसत्त्व महासत्त्व है।

सुभूति ने कहा- भगवन्, बोधिचित्त, जो कि सर्वज्ञता-चित्त है, अनास्रव है और जो असाधारण है, ऐसे महान् चित्त में भी अनासक्त और अपर्यापन्न होने से बोधिसत्त्व महासत्त्व है।

शरिपुत्र ने पूछा- आयुष्मन् सुभूति, क्यों ऐसे महान् चित्त में वह अनासक्त एवं अपर्यापन्न है ?

सुभूति ने कहा - इसलिए कि वह चित्त अचित्त है।

इसी विषय पर पूर्ण मैत्रायणीपुत्र ने कहा- भगवन्, महासन्नाहसन्नद्ध, महायान में सम्प्रस्थित होने के कारण वह बोधिसत्त्व 'महासत्त्व' कहलाता है।

भगवान् ने कहा- सुभूति, वह महासन्नाहसन्नद्ध इसलिए है कि उसका ऐसा प्रणिधान है- "अप्रमेय सत्त्वों का मुझे परिनिर्वापण करना (निर्वाण प्राप्त कराना) है।" वह

असंख्येय सत्त्वों का परिनिर्वापण करता है। वास्तव में सुभूति, ऐसा कोई सत्त्व नहीं है, जो परिनिर्वृत्त (निर्वाणप्राप्त) हो या कोई परिनिर्वृत्त कराता हो। सुभूति, धर्मों की यह धर्मता है कि सभी धर्म मायाधर्म हैं। लेकिन वहां न कोई जन्म पाता है, न मरता है, न अन्तर्हित होता है, उसी प्रकार सुभूति, वह बोधिसत्त्व अप्रमेय, असंख्येय सत्त्वों को परिनिर्वृत्त करता है, तथापि न कोई निर्वाण को प्राप्त होता है और न कोई निर्वाण को प्राप्त कराता है।

तब सुभूति ने कहा- तब तो भगवान् के कहने का अर्थ यह है कि बोधिसत्त्व असन्नाहसन्नद्ध ही है ?

भगवान् ने कहा- ठीक ऐसा ही है सुभूति, सर्वज्ञता अकृत है, अनभिसंस्कृत है। वे सत्त्व भी अकृत हैं, अनभिसंस्कृत हैं, जिनके लिए वह बोधिसत्त्व सन्नाहसन्नद्ध है, क्योंकि निर्वाण को प्राप्त होने वाला और प्राप्त कराने वाला दोनों अविद्यमान हैं।

सुभूति ने कहा- जो महायान- महायान कहा जाता है, वह महायान क्या पदार्थ है ? भगवन् मैं मानता हूँ कि आकाशसम होने से, अतिमहान् होने से वह 'महायान' कहलाता है। इसका न कहीं से आगम है और न कहीं निर्गम है। इसका कोई स्थान संविद्यमान नहीं है...यह यान सम है, इसलिए यह 'महायान' है। भगवन्, महायान नाम को कोई पदार्थ नहीं है। 'बुद्ध' यह भी नामधेय मात्र है। बोधिसत्त्व, प्रज्ञापारमिता, यह भी नामधेयमात्र है। ऐसा क्यों है ? जब बोधिसत्त्व रूप आदि धर्मों की प्रज्ञापारमिता के द्वारा परीक्षा करता है, तब रूप न प्राप्त होता है, न नष्ट होता है, वह रूप का न उत्पाद देखता है, न विनाश देखता है (इसी प्रकार अन्य स्कन्ध भी हैं) क्योंकि जो रूप का अनुत्पाद है, वह रूप नहीं है, जो रूप का अव्यय (अविनाश) है, वह भी रूप नहीं है। इस प्रकार अनुत्पाद और रूप तथा अव्यय और रूप-ये दोनों अद्वय हैं, अद्वैधीकार हैं।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने कहा- आयुष्मन् सुभूति, आपकी देशना के अनुसार तो बोधिसत्त्व भी अनुत्पाद है। ऐसा होने पर बोधिसत्त्व दुष्करचर्या करने के लिए क्यों उत्साहित होगा ?

आयुष्मान् सुभूति ने कहा- शारिपुत्र, मैं नहीं चाहता कि बोधिसत्त्व दुष्कर चर्या करें या दुष्करसंज्ञा को प्राप्त करें। दुष्करचर्या या दुष्करसंज्ञा से अप्रमेय असंख्येय सत्त्वों का हित नहीं किया जा सकता। इसलिए बोधिसत्त्व को सभी सत्त्वों के-पति सुखसंज्ञा, मातृसंज्ञा, पितृसंज्ञा का उत्पाद करना चाहिए और उनके लिए आत्मविसर्जन (आत्मसमर्पण) करना चाहिए। ऐसा है, फिर भी आप (शारीपुत्र) ने जो पूछा कि क्या 'बोधिसत्त्व अनुत्पाद है' ? तो मैं फिर से कहता हूँ कि ठीक ऐसा ही है। बोधिसत्त्व अनुत्पाद हैं केवल बोधिसत्त्व ही नहीं, अपितु बोधिसत्त्व धर्म भी, सर्वज्ञता और सर्वज्ञताधर्म भी, पृथग्जन और पृथग्जनधर्म भी अनुत्पाद ही है।

आयुष्मन् शारीपुत्र, यही सभी धर्मों में अनश्चित पारमिता है। यही सार्वयानिकी पारिमता है, जो कि प्रज्ञापारमिता है। ऐसी गम्भीर प्रज्ञापारमिता की देशना करने पर जिसके चित्त में द्विविधा उत्पन्न नहीं होती, वही इस गम्भीर प्रज्ञापारमिता को, इस अद्वयज्ञान को प्राप्त करता है। तब बुद्ध और शारीपुत्र ने सुभूति के उक्त वचनों का साधुवाद देते हुए अभिनन्दन किया।

हमने यहाँ प्रथम परिवर्त का संक्षेप प्रस्तुत किया है। विराट् प्रज्ञापारमिता में प्रायः इन्हीं विषयों की बार-बार चर्चा आती है। व्यवहार और परमार्थ सत्य का एकत्र निरूपण करने पर जो कठिनाई आती है, उसकी झलक शारीपुत्र और सुभूति के संवाद में मिलती है। स्थविर सुभूति और शारीपुत्र द्वारा इस चर्चा का किया जाना और भी मार्मिक है। हीनयानी अर्हतों द्वारा शून्यवाद की स्थापना कराने का यह प्रयत्न है। बोधिसत्त्व, महासत्त्व, महायान आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ इस परिवर्त में बताये गये हैं। अद्वयज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही बोधिसत्त्वचर्या है। यह अद्वयज्ञान ही प्रज्ञा है, प्रज्ञापारमिता है। इस सिद्धान्त का यहाँ प्रतिपादन हैं इसी सिद्धान्त को नागार्जुन आदि आचार्यों ने दार्शनिक रूप में प्रतिष्ठित किया है।

अवतंसक– चीनी त्रिपिटक एवं तिब्बती कग्युर में 'अवतंसक' नामक एक महायानसूत्रों का विभाग पाया जाता है। अवतंसक नामक एक बौद्ध निकाय भी उत्पन्न हुआ था। बोधिसत्त्व - उपासना का प्रकर्ष हम 'आर्यबुद्धावतंसक' नामक महायानसूत्र में पाते हैं। महाव्युत्पत्ति में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख है। जापान का केगोन निकाय भी इसे मान्यता देता है। चीनी परम्परा के अनुसार छह भिन्न-भिन्न अवतंसकसूत्र थे, जिनमें छत्तीस हजार से लेकर एक लाख गाथाओं का संग्रह है। इनमें छत्तीस हजार गाथाओं का चीनी भाषान्तर बुद्धभद्र ने अन्य भिक्षुओं के सहयोग से ई. सन् ४१८ में किया था। शिक्षानन्द ने ४५०० गाथाओं का भाषान्तर सातवीं शताब्दी में किया था। अवतंसकसूत्र मूल संस्कृत में प्रायः उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु गण्डव्यूहसूत्र एवं दशभूमकसूत्र संस्कृत में उपलब्ध हैं, जो अवतंसक साहित्य में संगृहीत माने जाते हैं।

रत्नकूट– यह भी महायानसूत्रों के विभाजन का एक प्रकार है। चीनी भाषा में रत्नकूट अनूदित है तथा तिब्बती कग्युर में भी यह संगृहीत है। यह ४६ सूत्रों का एक संग्रह है, जिसमें अक्षोभ्यव्यूह, मञ्जुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूह, बोधिसत्त्वपिटक, पितापुत्रसमागम, काश्यपपरिवर्त, राष्ट्रपालपरिपृच्छा आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ सम्मिलित हैं। तारानाथ के अनुसार 'रत्नकूट धर्मपर्याय' नामक ग्रन्थ (जिसमें एक सहस्र अध्याय थे) कनिष्क के पुत्र के समय उपनिबद्ध हुआ था। इसके कुछ मौलिक संस्कृत अंश खोतान के समीप मिले थे। कुछ विद्वानों का मत है कि रत्नकूट और काश्यपपरिवर्त एक ही ग्रन्थ है। रत्नकूट में बाद में अन्य ग्रन्थों का भी संग्रह हुआ।

काश्यपपरिवर्त में भगवान् का महाकाश्यप भिक्षु से संवाद है। बोधिसत्त्वयान और शून्यता का उसमें मुख्यतः प्रतिपादन है। एक जगह लिखा है कि 'हे काश्यप, जिस प्रकार प्रतिपदा के चन्द्र की विशेष पूजा होती है, पूर्णिमा के चन्द्र की विशेष पूजा नहीं होती, उसी प्रकार मेरे अनुयायियों को चाहिए कि वे बोधिसत्त्वों की तथागत से भी विशेष पूजा करें, क्योंकि तथागत बोधिसत्त्वों से ही उत्पन्न होते हैं। काश्यप परिवर्त का चीनी अनुवाद ई. सन् १७८-१८४ के बीच हो गया था। रत्नकूट में अनेक परिपृच्छा ग्रन्थ संग्रहीत हैं।

राष्ट्रपालपरिपृच्छा– इसमें दो परिवर्त हैं। प्रथम निदानपरिवर्त है। एक समय भगवान् गृध्रकूट में अनेक बोधिसत्त्वों के साथ धर्म देशना कर रहे थे। उस समय प्रामोद्यराज नामक बोधिसत्त्व ने भगवान् की स्तुति की और अनिमेष नयनों से तथागतकाय को देखते हुए उसके मन में गम्भीर, दुरवगाह, दुर्दर्श, दुरनुबोध, अतर्क्य, तर्कापगत, शान्त एवं सूक्ष्म धर्मधातु का विचार आया। उसने देखा कि भगवान् बुद्ध अनालय गगनगोचर हैं। उसने अनावरण बुद्धविमोक्ष की अभिलाषा की। भगवान् बुद्ध का काय ध्रुव, शिव एवं शाश्वत है। वह सर्वसत्त्वानुगत और सभी बुद्धक्षेत्रों में प्रसृत हैं। इस गम्भीर धर्म का अवलोकन करके वह तूष्णीभूत हो गया। धर्मधातु का ही विचार करने लगा।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल तीन मास व्यतीत होने पर भगवान् के दर्शन के लिए श्रावस्ती आया। अभिवादन कर उसने भगवान् से बोधिसत्त्वचर्या के बारे में प्रश्न किया। भगवान् ने उसे बोधिसत्त्वचर्या का उपदेश किया। इस उपदेश का पालि के अङ्गुत्तर निकाय से साम्य है। हे राष्ट्रपाल, चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व परिशुद्धि को प्राप्त करता है। कौन चार? अध्याशयप्रतिपत्ति, सर्वसत्त्व समचित्तता, शून्यताभावना और यथावादी तथाकारिता। इन चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व परिशुद्धि का लाभ करता है। इसी प्रकार अन्य कई धर्मों की चर्चा यहाँ की गई है। प्रथम परिवर्त के अन्त में भगवान् द्वारा भविष्य का व्याकरण किया गया है, जैसे कि बुद्धशासन विकृत होगा और भिक्षु असंयमी होंगे। पालि की थेरगाथा में भी ऐसे व्याकरण हैं। अनात्मवाद की कठिनाई निम्न श्लोकों में अभिव्यक्त है।

यत्रात्मा नास्ति न च जीवो देशित पुद्गलोऽपि न कथञ्चित्।
व्यर्थः श्रमोऽत्र घटते यः शीलप्रयोग संवरक्रिया च।।
यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि आत्म सत्त्व मनुजो वा।
व्यर्थः श्रमोऽत्र हि कृतो मे यत्र न चात्म सत्त्व उपलब्धिः' ।।

द्वितीय परिवर्त में पुण्यरश्मि नामक राजकुमार की जातक कथा है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा का चीनी अनुवाद ई. सन् ५८५-५९२ के बीच हुआ। इसका तिब्बती अनुवाद भी

१. द्र.-राष्ट्रपालपरिपृच्छा, महायानसूत्रसंग्रह १ भाग, पृ. १३७ (दरभङ्गा-संस्करण १९६१)

उपलब्ध है। उरगपरिपृच्छा, उदयनवत्सराजपरिपृच्छा, उपालिपरिपृच्छा, चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा, नैरात्म्यपरिपृच्छा आदि अनेक परिपृच्छाग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, जिनका उल्लेख शिक्षासमुच्चय में मिलता है।

कारण्डव्यूह– इसमें बोधिसत्त्व की महिमा का वर्णन है। इसे गुणकारण्डव्यूह भी कहते हैं। यह गद्य और पद्य दोनों में मिलता है। गद्य कारण्डव्यूह को सत्यव्रत सामश्रमी ने सन् १६७३ में प्रकाशित किया था। पद्य कारण्डव्यूह में एक विशेष सिद्धान्त का उल्लेख है। इसमें 'आदिबुद्ध' की चर्चा है। आदिबुद्ध जगत् का कर्ता है। समस्त विश्व के प्रारम्भ में स्वयम्भू, आदिनाथ प्रकट हुए और उन्होंने समाधि से विश्व को निर्मित किया। उनके सत्त्व में से अवलोकितेश्वर प्रादुर्भूत हुए, जिनके शरीर से देवों की सृष्टि हुई। इसमें अवलोकितेश्वर की महाकरुणा विशेषतः प्रदर्शित है। गद्य कारण्डव्यूह का तिब्बती अनुवाद है, किन्तु पद्य कारण्डव्यूह का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध नहीं होता।

कारण्डव्यूह में अवलोकितेश्वर की महाकरुणा के अनेक वर्णन हैं। वह (महाकरुणा) अवीचि नामक नरक में जाकर नारकियों को दुःख से बचाती है। वह भूत, प्रेत एवं राक्षसों को भी सुख पहुँचाती है। अवलोकितेश्वर का रूप विराट है। वह स्रष्टा भी हैं। उनकी आंखों से चन्द्र और सूर्य, भ्रू से महेश्वर, भुजाओं से ब्रह्मा, हृदय से नारायण, दन्तों से सरस्वती, मुख से मरुत्, पैरों से पृथ्वी और पेट से वरुण उत्पन्न हुए। उनकी उपासना स्वर्ग और अपवर्ग की प्रापक है। कारण्डव्यूह में तन्त्र और मन्त्रों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। 'ओं मणिपद्मे हूँ' यह षडक्षर मन्त्र, जो तिब्बत में अत्यधिक प्रतिष्ठित है, वह कारण्डव्यूह में मिलता है।

अक्षोभ्यव्यूह एवं करुणा पुण्डरीक– अक्षोभ्यव्यूह और करुणापुण्डरीक नाम के दो महायानसूत्रों में क्रमशः अक्षोभ्य बुद्ध और पद्मोत्तर बुद्ध के लोकों का वर्णन है। इन दोनों का चीनी भाषा में अनुवाद ईसवीय चौथी शताब्दी से पूर्व ही हो गया था।

सुखावतीव्यूह– इस महायानसूत्र में अमिताभ बुद्ध के सुखावती लोक का वर्णन है। विस्तृत और संक्षिप्त दो सुखावतीव्यूह उपलब्ध होते हैं। मैक्समूलर ने पहले का अंग्रेजी भाषान्तर करके प्रकाशन किया है तथा दूसरे का फ्रेंच भाषान्तर जापानी विद्वानों ने किया है।

पुण्यसम्भार की चर्चा सुखावतीव्यूह में अधिक है। सुखावती में अमिताभ बुद्ध, जिन्हें अमितायु भी कहते हैं, का राज्य है। पुण्यसम्भार का अर्जन करके जो व्यक्ति मृत्यु के समय अमिताभ का चिन्तन करता है, वह बुद्धलोक को प्राप्त होता है। इस बुद्धलोक में नरक, प्रेत, असुर और तिर्यक् का अभाव है। वहाँ सर्वदा दिन ही दिन है, रात्रि नहीं। सुखावती में गर्भ से जन्म नहीं होता। वहाँ सभी सत्त्व औपपादुक ही हैं और कमलदल से उत्पन्न होते हैं। वहाँ के सत्त्व पाप से विरत और प्रज्ञा से युक्त होते हैं।

विस्तृत सुखावतीव्यूह के बारह भाषान्तर चीनी भाषा में हुए, जिनमें पाँच ही उपलब्ध हैं। इनमें सबसे पुराना अनुवाद ई. सन् १४७-१८६ के मध्य हुआ। संक्षिप्त सुखावतीव्यूह का चीनी भाषान्तर कुमारजीव, गुणभद्र और हेनसांग ने किया। अमितायुर्ध्यानसूत्र नाम का एक और ग्रन्थ चीनी भाषा में उपलब्ध है, जिसमें सुखावती को प्राप्त करने के लिए ध्यानों का वर्णन है। ये तीनों ग्रन्थ चीन और जापान में बड़े पवित्र माने जाते हैं। जापान के जोड़ो -शु और शिन्-शु ये दो बौद्ध सम्प्रदाय अमितायु के ही उपासक हैं।

अवदान साहित्य– इस शब्द की व्युत्पत्ति अज्ञात है। पालि में इसके समकक्ष 'अपदान' शब्द है। सम्भवतः इसका प्रारम्भिक अर्थ असाधारण या अद्‌भुत कार्य है। अवदान कथाएं कर्म-प्राबल्य को सिद्ध करती हैं। आजकल अवदान का अर्थ कथामात्र रह गया है। महावस्तु को भी 'अवदान' कहते हैं। अवदान कथाओं का प्राचीनतम संग्रह 'अवदानशतक' है। तीसरी शताब्दी में इसका चीनी अनुवाद हो गया था। प्रत्येक कथा के अन्त में यह निष्कर्ष दिया जाता है कि शुक्ल कर्म का शुक्ल फल, कृष्ण कर्म का कृष्ण फल तथा व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। इनमें से अनेक में अतीत जन्म की कथा दी है, जिसका फल प्रत्युत्पन्न काल में मिला। किसी अवदान में बोधिसत्त्व की कथा है। इसे हम जातक भी कह सकते हैं। क्योंकि जातक में बोधिसत्त्व के जन्म की कथा दी गयी है। किन्तु ऐसे भी अवदान हैं, जिनमें अतीत की कथा नहीं पाई जाती। कुछ अवदान 'व्याकरण' के रूप में हैं। अर्थात् इनमें प्रत्युत्पन्न कथा का वर्णन करके अनागत काल का व्याकरण किया गया है। तिब्बती भाषा में भी अवदान साहित्य अनूदित हुआ है।

अवदानशतक– यह हीनयान का ग्रन्थ है- ऐसी मान्यता है। इसके चीनी अनुवादकों का ही नहीं, अपितु इसके अन्तरङ्ग प्रमाण भी हैं। सर्वास्तिवादी आगम के परिनिर्वाणसूत्र तथा अन्य सूत्रों के उद्धरण अवदानशतक में पाये जाते हैं। यद्यपि इसकी कथाओं में बुद्धपूजा की प्रधानता है, तथापि बोधिसत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। अवदानशतक की कई कथाएं अवदान के अन्य संग्रहों में और कुछ पालि-अपदानों में भी आती हैं।

दिव्यावदान– इसमें महायान एवं हीनयान दोनों के अंश पाए जाते हैं। विश्वास है कि इसकी सामग्री बहुत कुछ मूल सर्वास्तिवादी विनय से प्राप्त हुई है। दिव्यावदान में दीर्घागम, उदान, स्थविरगाथा आदि के उद्धरण प्रायः मिलते हैं। कहीं-कहीं बौद्ध भिक्षुओं की चर्याओं के नियम भी दिये गये हैं, जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि दिव्यावदान मूलतः विनयप्रधान ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्यात्मक है। इसमें 'दीनार' शब्द का प्रयोग कई बार किया गया ह। इसमें शुङ्गकाल के राजाओं का भी वर्णन है। शार्दूलकर्णावदान का अनुवाद चीनी भाषा में २६५ ई. में हुआ था। दिव्यावदान में अशोकावदान एवं कुमारलात

की कल्पनामण्डितिका के अनेक उद्धरण हैं। इसकी कथाएं अत्यन्त रोचक हैं। उपगुप्त और मार की कथा तथा कुणालावदान इसके अच्छे उदाहरण हैं।

अवदानशतक की सहायता से अनेक अवदानों की रचना हुई है, यथा-कल्पद्रुमावदानमाला, अशोकावदानमाला, द्वाविंशत्यवदानमाला भी अवदानशतक की ऋणी हैं। अवदानों के अन्य संग्रह भद्रकल्यावदान और विचित्रकर्णिकावदान हैं। इनमें से प्रायः सभी अप्रकाशित हैं। कुछ के तिब्बती और चीनी अनुवाद मिलते हैं।

क्षेमेन्द्र की अवदानकल्पलता का उल्लेख करना भी प्रसङ्ग प्राप्त है। इस ग्रन्थ की समाप्ति १०५२ ई. में हुई। तिब्बत में इस ग्रन्थ का अत्यधिक आदर है। इस संग्रह में १०७ कथाएं हैं। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने न केवल इस ग्रन्थ की भूमिका ही लिखी, अपितु अपनी ओर से एक कथा भी जोड़ी है। यह जीमूतवाहन अवदान है।

बौद्धसंकर साहित्य– महावस्तु, ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में शुद्ध संस्कृत भाषा नहीं है। अधिकांशतया महायानसूत्रों में मिश्रसंस्कृत का प्रयोग हुआ है। यदि गद्य शुद्ध संस्कृत में है तो पद्य शुद्ध संस्कृत में नहीं है। कोई इसे गाथासंस्कृत, कोई मिश्रसंस्कृत और कोई बौद्ध संस्कृत कहते हैं। प्रोफेसर एजर्टन इसे बौद्ध संकर - संस्कृत नाम देते हैं।

प्रो. एजर्टन के अनुसार यह भाषा मूलतः मध्यदेश की कोई प्राचीन बोलचाल की भाषा थी या उस पर आश्रित थी। यह ईसा-पूर्व की भाषा है। किन्तु प्रारम्भ से ही इसका संस्कृत के प्रति झुकाव है। इन ग्रन्थों में बहुत से शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं, कुछ आंशिक रूप से संस्कृत है। और कुछ ऐसे हैं, जिन्होंने अपने रूप को अपरिवर्तित रखा है। इन ग्रन्थों का शब्द भण्डार बहुत कुछ मध्यदेशीय है। अर्थात् ये शब्द संस्कृत के नहीं हैं अथवा संस्कृत में उनका भिन्न अर्थ है।

कुछ लोगों का मानना है कि संकर संस्कृत कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं, अपितु भ्रष्ट संस्कृत है। किन्तु ऐसा समझना भारी भूल है। यह मध्यदेशीय भाषा है, अशुद्ध संस्कृत नहीं। इसलिए विद्वानों का कर्त्तव्य है कि उसके प्रत्येक शब्द और रूप को सुरक्षित रखें, उन्हें शुद्ध संस्कृत में परिवर्तित न करें। यह बताना मुश्किल है कि मध्यदेश कौन है और उसकी सीमा क्या है ? किन्तु इस भाषा की अपनी कुछ विशेषताएं हैं, जो अन्य भाषाओं में नहीं पाई जातीं। प्रो. एजर्टन ने इस भाषा का व्याकरण, कोश एवं रीडर लिख कर बड़ा उपकार किया है।

महावस्तु– लोकोत्तरवादी महासांघिकों का विनय ग्रन्थ है। यह एक अत्यन्त प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका प्रथम सम्पादन इ. सेना ने तीन भागों में किया है। महावस्तु का अर्थ है 'महाविषय' अर्थात् उपसम्पदा इत्यादि बौद्ध विनय सम्बन्धी कथा। पालि के महावग्ग में जिस प्रकार प्रारम्भ में बुद्ध के बोधि प्राप्ति का, धर्मचक्र प्रवर्तन तथा संघस्थापना

का वर्णन है, उसी प्रकार महावस्तु में भगवान् बुद्ध का जीवनचरित और संघस्थापना का वर्णन मिलता है। महावस्तु के प्रारम्भ में ही चार बोधिसत्त्वचर्याओं का वर्णन किया गया है- प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या एवं अनिवृत्तिचर्या। इन चार चर्याओं की पूर्ति से बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति करते हैं। इन चर्याओं का उल्लेख करके ग्रन्थ का नाम दिया है- आर्यमहासांघिकानां लोकोत्तरवादिनां मध्यदेशिकानां पाठेन विनयपिटकस्य महावस्तुनो... . इत्यादि। इस परिचय के बाद चतुर्विध उपसम्पदाओं का वर्णन है- स्वाभ उपसम्पदा, एहि भिक्षुक उपसम्पदा, दशवर्गेण गणेन उपसम्पदा एवं पञ्चवर्गेण गणेन उपसम्पदा।

बुद्ध के जीवनचरित का प्रतिपादन ही महावस्तु का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए इसे महावस्तु-अवदान भी कहा गया है। किन्तु ललितविस्तर में जैसे जीवनचरित का व्यवस्थित रूप पाया जाता है, वैसा महावस्तु में नहीं है। जातक, सूत्र, कथा और विनय जैसे कई अंगों का मिश्रण यहाँ मिलता है। बुद्ध के जन्म की कथा पालि निदानकथा और ललितविस्तर से काफी मिलती है। महावस्तु में कई भाग ऐसे हैं, जो पालि निकायों से मिलते हैं। सुत्तनिपात के पब्बज्जासुत्त, पधानसुत्त, खग्गविषाणसुत्त, धम्मपद का सहस्सवग्ग, दीघनिकाय का महागोविन्दसुत्त, , मज्झिमनिकाय का दीघनखसुत्त आदि अनेक ऐसे सुत्तन्त हैं, जो महावस्तु में पाए जाते हैं। महावस्तु का आधे से अधिक भाग जातक और अन्य कथाओं से भरा है, जो सामान्यतः पालि जातकों का अनुसरण करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि महावस्तु का मूलरूप अत्यन्त प्राचीन है। इसकी भाषा भी प्राचीनता का सूचक है। समग्र ग्रन्थ मिश्रसंस्कृत या बौद्ध संकर संस्कृत में हैं, जबकि महायानसूत्र ग्रन्थों में मिश्र संस्कृत और शुद्ध संस्कृत दोनों प्रयोग पाए जाते हैं। इस ग्रन्थ का लोकोत्तरवादी होना भी इसकी प्राचीनता का सूचक है।

अश्वघोष साहित्य- १८९२ ई. में सिलवां लेवी द्वारा बुद्धचरित के प्रथम सर्ग के प्रकाशन से पूर्व योरप में कोई नहीं जानता था कि अश्वघोष एक महान् कवि हुए हैं। तिब्बती और चीनी आम्नाय के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के समकालीन थे। जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके अनुसार वे अश्वघोष के समकालीन या उससे कुछ पूर्ववर्ती थे। चीनी आम्नाय के अनुसार अश्वघोष का सम्बन्ध विभाषा से भी था, किन्तु विद्वानों को इसमें सन्देह है।

अश्वघोष की काव्यशैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व थे। भास उनका अनुसरण करते हैं। शब्द प्रयोग से लगता है कि कौटिल्य के निकटवर्ती थे। अश्वघोष अपने को 'साकेतक' कहते हैं और माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' बताते हैं। रामायण का उनके ग्रन्थों पर विशेष प्रभाव है। उनका कहना है कि शाक्य इक्ष्वाकुवंशीय थे। अश्वघोष ब्राह्मण थे, उसी प्रकार उनकी शिक्षा भी हुई थी। बाद में वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। उनके

ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि वे बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में अत्यन्त व्यस्त थे। तिब्बती विवरण के अनुसार वे एक अच्छे संगीतज्ञ भी थे और गायकों की मण्डली के साथ भ्रमण करते थे तथा बौद्ध धर्म का प्रचार वे गानों के माध्यम से करते थे।

बुद्धचरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्रप्रकरण- ये तीनों ग्रन्थ उनकी रचनाएं हैं। बुद्धचरित में बुद्ध की कथा वर्णित है। इसमें २८ सर्ग हैं। बुद्ध कथा भगवान् के जन्म से प्रारम्भ होती है और संवेगोत्पत्ति, अभिनिष्क्रमण, मारविजय, संबोधि धर्मचक्रप्रवर्तन, परिनिर्वाण आदि घटनाओं का वर्णन कर प्रथम संगीति और अशोक के राज्यकाल पर समाप्त होती है। सौन्दरनन्द में बुद्ध के भाई नन्द के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा है। इस ग्रन्थ में १८ सर्ग हैं। समग्र ग्रन्थ सुरक्षित है। शारिपुत्रप्रकरण यह नाटक ग्रन्थ है। इसमें ९ अंक हैं। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा वर्णित है। यह खण्डित रूप में प्राप्य है। इसका उद्धार प्रोफेसर लुडर्स ने किया है। ये तीनों ग्रन्थ एक रचयिता द्वारा रचे हुए प्रतीत होते हैं। श्री जान्सटन ने बुद्धचरित का सम्पादन किया है। पूरा अविकल ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। प्रथम सर्ग और १४वें सर्ग का कुछ अंश खण्डित है। २-१३ सर्ग ठीक हैं। १५ सर्ग से आगे मूल संस्कृत में अनुपलब्ध है।

तिब्बती और चीनीपरम्परा अश्वघोष को अन्य ग्रन्थों का भी रचयिता मानती है। टामस ने उनकी सूची प्रकाशित की है, किन्तु वे संस्कृत में अप्राप्य हैं, इसलिए उनके बारे में कुछ कहना सम्भव नहीं है। प्रोफेसर लुडर्स को शारिपुत्रप्रकरण के साथ दो और नाटकों के अंश मिले हैं। एक के मात्र तीन पत्र मिले हैं, जिनमें बुद्ध के ऋद्धिबल का प्रदर्शन है। दूसरे में एक नवयुवक की कथा है, जिसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। किन्तु इनके अश्वघोष की रचना होने में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है।

तीन और ग्रन्थ अश्वघोष के बताये जाते हैं- वज्रसूची, गण्डीस्तोत्र एवं सूत्रालङ्कार। चीनी अनुवादक सूत्रालंकार को अश्वघोष की कृति मानते हैं। बाद में प्रोफेसर लुडर्स को मध्य एशिया में इस ग्रन्थ के मूल संस्कृत में कुछ अंश मिले हैं, उन्होंने सिद्ध किया है कि वहाँ ग्रन्थकार का नाम कुमारलात है और ग्रन्थ का नाम कल्पनामण्डितिका है। सामान्यतः विद्वान् इन्हें अश्वघोष की रचना नहीं मानते।

अपनी रचनाओं में अश्वघोष ने श्रद्धा की महिमा का जोरदार वर्णन किया है।

श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात् संवर्धयितुमर्हसि।
तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुमः।। (सौन्दरनन्द १२:)

विद्वानों का मानना है कि अश्वघोष बाहुश्रुतिक हैं। बाहुश्रुतिक महासांघिक की शाखा है। इसलिए ये महादेव की पांच वस्तुओं को स्वीकारते हैं। इनमें से चतुर्थ के अनुसार अर्हत्

परप्रत्यय से ज्ञानलाभ करते हैं। पर-प्रत्यय के लिए श्रद्धा आवश्यक है। जान्सटन के अनुसार अश्वघोष बाहुश्रुतिक या कौक्कुटिक या कौक्कुलिक हैं। तारानाथ के अनुसार मातृचेट अश्वघोष का दूसरा नाम है। मातृचेट का स्तोत्र अत्यन्त लोकप्रिय था। जातकमाला के रचयिता आर्यशूर अश्वघोष के ऋणी हैं। जातकमाला में ३४ जातककथाओं का संग्रह है, लगभग सभी कथाएं पालि जातक में पाई जाती हैं।

●

महायान के प्रमुख आचार्य

नागार्जुन– ह्वेनसांग के अनुसार अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलब्ध (= कुमारलात) समकालीन थे। राजतरंगिणी और तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन कनिष्क के काल में पैदा हुए थे। नागार्जुन के काल के बारे में इतने मत-मतान्तर हैं कि कोई निश्चित समय सिद्ध कर पाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी ई.पू. प्रथम शताब्दी से ईसवीय प्रथम-द्वितीय शताब्दी के बीच कहीं उनका समय होना चाहिए। कुमारजीव ने ४०५ ई. के लगभग चीनी भाषा में नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया था। ये दक्षिण भारत के विदर्भ प्रदेश में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। वे ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शन एवं तन्त्र आदि विद्याओं में अत्यन्त निपुण थे और प्रसिद्ध सिद्ध तान्त्रिक थे।

प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर उन्होंने माध्यमिक दर्शन का प्रवर्तन किया था। कहा जाता है कि उनके काल में प्रज्ञापारमितासूत्र जम्बूद्वीप में अनुपलब्ध थे। उन्होंने नागलोक जाकर उन्हें प्राप्त किया तथा उन सूत्रों के दर्शन पक्ष को माध्यमिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया।

अस्तित्व का विश्लेषण दर्शनों का प्रमुख विषय रहा है। भारतवर्ष में इसी के विश्लेषण में दर्शनों का अभूतपूर्व विकास हुआ है। उपनिषद्-धारा में आचार्य शङ्कर का अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध-धारा में आचार्य नागार्जुन का शून्याद्वयवाद शिखरायमाण है। परस्पर के वाद-विवाद ने इन दोनों धाराओं के दर्शनों को उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुंचाया है। यद्यपि आचार्य शङ्कर का काल नागार्जुन से बहुत बाद का है, फिर भी नागार्जुन के समय औपनिषदिक धारा के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, किन्तु उसकी व्याख्या आचार्य शङ्कर की व्याख्या से निश्चित ही भिन्न रही होगी। आचार्य नागार्जुन के आविर्भाव के बाद भारतीय दार्शनिक चिन्तन में नया मोड़ आया। उसमें नई गति एवं प्रखरता का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः नागार्जुन के बाद ही भारतवर्ष में यथार्थ दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ हुआ। नागार्जुन ने जो मत स्थापित किया, उसका प्रायः सभी बौद्ध-बौद्धेतर दर्शनों पर व्यापक प्रभाव पड़ा और उसी के खण्डन-मण्डन में अन्य दर्शनों ने अपने को चरितार्थ किया।

नागार्जुन के मतानुसार वस्तु की परमार्थतः सत्ता एक 'शाश्वत अन्त' है तथा व्यवहारतः असत्ता दूसरा 'उच्छेद अन्त' है। इन दोनों अन्तों का परिहार कर वे अपना अनूठा मध्यम मार्ग प्रकाशित करते हैं। उनके अनुसार परमार्थतः 'भाव' नहीं है तथा व्यवहारतः या संवृतितः 'अभाव' भी नहीं है। यही नागार्जुन का मध्यम मार्ग या माध्यमिक दर्शन है। इस मध्यम मार्ग की व्यवस्था उन्होंने अन्य बौद्धों की भाँति प्रतीत्यसमुत्पाद की

अपनी विशिष्ट व्याख्या के आधार पर की है। वे 'प्रतीत्य' शब्द द्वारा शाश्वत अन्त का तथा 'समुत्पाद' शब्द द्वारा उच्छेद अन्त का परिहार करते हैं और शून्यतादर्शन की स्थापना करते हैं।

नागार्जुन के नाम पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें मूलमाध्यमिककारिका, विग्रहव्यावर्तनी, युक्तिषष्टिका, शून्यतासप्तति, रत्नावली और वैदल्यसूत्र प्रमुख हैं। इनमें मूलमाध्यमिककारिका शरीरस्थानीय है तथा अन्य ग्रन्थ उसी के अवयव या पूरक के रूप में माने जाते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने मूलामाध्यमिककारिका पर 'अकुतोभया' नाम की वृत्ति लिखी थी, किन्तु अन्य साक्ष्यों के प्रकाश में आने पर अब यह मत विद्वानों में मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त सुहृल्लेख एवं सूत्रसमुच्चय आदि भी उनकी कृतियाँ हैं। भारतीय बौद्ध आचार्यों की कृतियों का तिब्बत के 'तन-ग्युर' नामक संग्रह में संकलन किया गया है, हम उसके आधार पर आचार्य नागार्जुन के ग्रन्थों की सूची वर्तमान परिच्छेद के अन्त में प्रस्तुत कर रहे हैं।

आर्यदेव– आर्यदेव आचार्य नागार्जुन के पट्ट शिष्यों में से अन्यतम हैं। इनके और नागार्जुन के दर्शन में कुछ भी अन्तर नहीं है। उन्होंने नागार्जुन के दर्शन को ही सरल भाषा में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। इनकी रचनाओं में चतुःशतक प्रमुख है, जिसे 'योगाचार चतुःशतक' भी कहते हैं। चन्द्रकीति के ग्रन्थों में इसका 'शतक' या 'शतकशास्त्र' के नाम से भी उल्लेख है। ह्वेनसांग ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। संस्कृत में यह ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं है। सातवें से सोलहवें प्रकरण तक भोट भाषा से संस्कृत में रूपान्तरित रूप में उपलब्ध होता है। यह रूपान्तरण भी शत-प्रतिशत ठीक नहीं है। प्रश्नोत्तर शैली में माध्यमिक सिद्धान्त बड़े ही रोचक ढंग से आर्यदेव ने प्रतिपादित किये हैं। कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं, जिन्हें आज के विद्वान् भी उपस्थित करते हैं, जिनका आर्यदेव ने सुन्दर समाधान किया है।

ह्वेनसांग के अनुसार ये सिंहल देश से भारत आये थे। इनकी एक ही आंख थी, इसलिए इन्हें काणदेव भी कहा जाता था। इनके देव एवं नीलनेत्र नाम भी प्रसिद्ध थे। कुमारजीव ने ई. सन् ४०५ में इनकी जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। 'चित्तविशुद्धिप्रकरण' ग्रन्थ भी इनकी रचना है- ऐसी प्रसिद्धि है। हस्तवालप्रकरण या मुष्टिप्रकरण भी इनका ग्रन्थ माना जाता है।

परम्परा में जितना नागार्जुन को प्रामाणिक माना जाता है, उतना ही आर्यदेव को भी। इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थ माध्यमिक परम्परा में मूलशास्त्र या आगम के रूप में माने जाते हैं।

बुद्धपालित– माध्यमिकों की आचार्य परम्परा में आर्यदेव के बाद बुद्धपालित ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने नागार्जुन की प्रमुख रचना मूलमाध्यमिककारिका पर एक प्रशस्त व्याख्या

लिखी, जो 'बुद्धपालिती' के नाम से प्रसिद्ध है। यह संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। भोटभाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है। यद्यपि इनके और नागार्जुन के बीच आर्यशूर और नागबोधि आदि आचार्य सम्भावित हैं, किन्तु उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है, अतः उनके बारे में ठीक-ठीक निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

विद्वानों की राय में बुद्धपालित के सिद्धान्त नागार्जुन से बिलकुल भिन्न नहीं हैं, फिर भी वे माध्यमिक परम्परा में अत्यधिक चर्चित हैं। मूलमाध्यमिककारिका की व्याख्या में उन्होंने सर्वत्र प्रसंग-वाक्यों का प्रयोग किया है, साधन वाक्यों का नहीं, जैसे कि बौद्ध नैयायिक साधनवाक्यों का प्रयोग करते हैं। इसी को लेकर भावविवेक ने उनका खण्डन किया और आचार्य चन्द्रकीर्ति ने भावविवेक का खण्डन कर बुद्धपालित के विचारों का समर्थन किया। इस तरह हम देखते हैं कि आगे चलकर स्वतन्त्रिक माध्यमिक और प्रासङ्गिक माध्यमिक के रूप में जो माध्यमिकों का विकास हुआ, उसकी नींव आचार्य बुद्धपालित के समय ही पड़ जाती है।

आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित निःस्वभावता (शून्यता) को स्वतन्त्र हेतुओं से सिद्ध करना चाहिए, अथवा नहीं - इस विषय को लेकर माध्यमिकों में दो शाखाएं विकसित हो गईं- स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं प्रासङ्गिक माध्यमिक। स्वातन्त्रिकों का कहना है कि निःस्वभावता को स्वतन्त्र हेतुओं से सिद्ध करना चाहिए, जबकि प्रासङ्गिकों का कहना है कि ऐसा करना माध्यमिक के लिए उचित नहीं है, क्योंकि वे हेतु, पक्ष आदि किसी की भी सत्ता नहीं मानते। इसलिए जो लोग स्वभावसत्ता की हेतुओं द्वारा सिद्धि करते हैं, माध्यमिक को चाहिए कि उनके हेतुओं में दोष दिखलाकर यह सिद्ध करना चाहिए कि उनके हेतु किसी की भी स्वाभावसत्ता सिद्ध करने में सक्षम नहीं है। इस प्रकार दोष दिखलाना ही 'प्रसङ्ग' का अर्थ है। केवल प्रसङ्ग का प्रयोग करने के कारण वे प्रासङ्गिक कहलाते हैं। आगे चलकर स्वातन्त्रिकों में भी दो शाखाएं विकसित हो गईं- सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक। प्रथम शाखा के प्रवर्तक आचार्य भावविवेक एवं दूसरी के आचार्य शान्तरक्षित हैं।

भावविवेक– माध्यमिक आचार्य-परम्परा में आचार्य भावविवेक या भव्य का विशिष्ट स्थान है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इन्हें प्रकाण्ड पण्डित एवं महान् तार्किक कहा है। आचार्य नागार्जुन की मूलमाध्यमिककारिका की टीका प्रज्ञाप्रदीप, मध्यमकहृदय एवं उसकी वृत्ति तर्कज्वाला तथा मध्यमकार्थसंग्रह आदि इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। तर्कज्वाला इनकी विशिष्ट रचना है, जो विद्वानो में अत्यधिक चर्चित है। इसमें उन्होंने बौद्ध एवं बौद्धेतर सभी दर्शनों की स्पष्ट एवं विस्तृत आलोचना की है। दुर्भाग्य से आज भावविवेक की कोई भी रचना संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। भावविवेक परमार्थतः शून्यवादी होते हुए भी व्यवहार में बाह्यार्थवादी हैं - यह उनकी रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है।

चन्द्रकीर्ति– आचार्य चन्द्रकीर्ति प्रासंगिक माध्यमिक मत के प्रबल समर्थक रहे हैं। आचार्य भावविवेक ने बुद्धपालित द्वारा केवल प्रसङ्गवाक्यों का ही प्रयोग किया जाने पर अनेक आक्षेप किये। उन (भावविवेक) का कहना है कि केवल प्रसङ्गवाक्यों के द्वारा परवादी को शून्यता का ज्ञान नहीं कराया जा सकता, अतः स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। इस पर चन्द्रकीर्ति कहना है कि असली माध्यमिक को स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग नहीं ही करना चाहिए। स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग तभी सम्भव है, जबकि व्यवहार में वस्तु की स्वलक्षणसत्ता स्वीकार की जाए। चन्द्रकीर्ति के मतानुसार स्वलक्षणसत्ता व्यवहार में भी नहीं है। यही नागार्जुन का भी अभिप्राय है। उनका कहना है कि परमार्थतः शून्यता मानते हुए व्यवहार में स्वलक्षणसत्ता मानकर भावविवेक ने नागार्जुन के अभिप्राय के विपरीत आचरण किया है। चन्द्रकीर्ति के अनुसार भावविवेक नागार्जुन के सही मन्तव्य को नहीं समझ सके।

चन्द्रकीर्ति प्रसङ्गवाक्यों का प्रयोजन परवादी को अनुमान विरोध दिखलाना मात्र मानते हैं। प्रतिवादी जब अपने मत में विरोध देखता है तो स्वयं उससे हट जाता है। यदि विरोध दिखलाने पर भी वह नहीं हटता है तो स्वतन्त्र हेतु के प्रयोग से भी उसे नहीं हटाया जा सकता, अतः स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग व्यर्थ है। स्वतन्त्र अनुमान नहीं मानने पर भी चन्द्रकीर्ति परप्रसिद्ध अनुमान मानते हैं, जिसके धर्मी, पक्षधर्मता आदि प्रतिपक्ष को मान्य होते हैं। न्यायपरम्परा के अनुसार पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों द्वारा मान्य उभयप्रसिद्ध अनुमान का प्रयोग उचित माना जाता है। अर्थात् दृष्टान्त आदि वादी एवं प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिए। किन्तु चन्द्रकीर्ति यह आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि यह उभयप्रसिद्धि स्वतन्त्र हेतु मानने पर निर्भर है। स्वतन्त्र हेतु स्वलक्षणसत्ता मानने पर निर्भर है। स्वलक्षणसत्ता मानना ही सारी गड़बड़ी का मूल है। अतः चन्द्रकीर्ति के अनुसार भावविवेक ने स्वलक्षणसत्ता मानकर नागार्जुन के दर्शन को विकृत कर दिया है। केवल प्रसङ्ग का प्रयोग ही पर्याप्त है और उसी से परप्रतिज्ञा का निषेध हो जाता है। विद्वानों की राय में चन्द्रकीर्ति ने आचार्य नागार्जुन के अभिप्राय को यथार्थरूप में प्रस्तुत किया।

आचार्य चन्द्रकीर्ति की अनेक रचनाएं हैं, जिनमें नागार्जुन - प्रणीत मूलमाध्यमिककारिका की टीका प्रसन्नपदा, आर्यदेव के चतुःशतक की टीका, मध्यमकावतार और उसकी स्ववृत्ति प्रमुख है। इन रचनाओं के द्वारा चन्द्रकीर्ति ने नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की सही समझ पैदा की है।

असङ्ग– आर्य असङ्ग, वसुबन्धु एवं विरिञ्चिवत्स तीनों भाई थे। इनमें आर्य असङ्ग सबसे बड़े एवं विरिञ्चिवत्स सबसे छोटे थे। गान्धार प्रदेश के पुरुषपुर में इनका जन्म हुआ था। ये कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे। एक अन्य परम्परा के अनुसार असङ्ग और वसुबन्धु की मां एक थीं, किन्तु पिता भिन्न-भिन्न थे। तारानाथ के अनुसार माता ब्राह्मणी

थी और उनका नाम प्रकाशशीला था। असङ्ग के पिता क्षत्रिय थे तथा वसुबन्धु के पिता ब्राह्मण। इनके काल के बारे में अत्यधिक वाद-विवाद है, किन्तु सबका परिशीलन करने के अनन्तर इनका काल चतुर्थ शताब्दी मानना उचित है।

आचार्य असङ्ग बौद्धदर्शन के योगाचार अर्थात् विज्ञानवाद प्रस्थान के प्रवर्तक हैं। परम्परा के अनुसार अनागत बुद्ध मैत्रेय बोधिसत्त्व ने तुषितलोक में आर्य असङ्ग को पांच ग्रन्थ प्रकाशित किये थे, जिनका असङ्ग ने लोक में प्रसार किया। इधर विद्वानों की यह धारणा बनी कि जिन ग्रन्थों के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है, वे असङ्ग के गुरु किसी मानवरूपी मैत्रेयनाथ की रचनाएं हैं। अतः अब यह सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि योगाचार प्रस्थान के प्रवर्तक वस्तुतः मैत्रेयनाथ हैं। जा कुछ हो, योगाचार (विज्ञानवाद) के विकास के इतिहास में असङ्ग अत्यधिक महत्वपूर्ण आचार्य हैं। मैत्रेयनाथ की समस्त रचनाएं विज्ञानवादविषयक ही हैं, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। उत्तरतन्त्र और अभिसमयालङ्कार तो निश्चय ही माध्यमिक ग्रन्थ हैं। असङ्ग के साहित्य में विज्ञानवाद का बहुल प्रतिपादन है। आचार्य असङ्ग की शैली आगमों की तरह है और उन्होंने युक्ति से अधिक आगमों का आश्रय लिया है। आचार्य असङ्ग की अनेक कृतियां हैं, जिनका संस्कृत मूल प्रायः अनुपलब्ध है। भोटभाषा में उनका अनुवाद उपलब्ध होता है। तथा वे वहाँ के 'तन-ग्युर' संग्रह में संकलित हैं। हम इस परिच्छेद के अन्त में 'तनग्युर' संग्रह के आधार पर उनके ग्रन्थों की सूची दे रहे हैं।

वसुबन्धु– बौद्ध जगत् में आचार्य वसुबन्धु की प्रतिभा, प्रखर पाण्डित्य एवं शास्त्रप्रणयनपटुता की बड़ी प्रतिष्ठा है। इनके ग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणभूत माने जाते हैं। अपनी कृतियों से इन्होंने शास्ता भगवान् बुद्ध के अभिप्राय का लोक में प्रकाशन कर उस (लोक) का महान् कल्याण सिद्ध किया है। इनकी इस परार्थवृत्ति के कारण विद्वज्जन इन्हें आदर के साथ 'द्वितीय बुद्ध' कहते थे। ये बड़े शास्त्रार्थी भी थे। वैयाकरण वसुरात को इन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

ये योगाचार विज्ञानवाद दर्शनप्रस्थान के प्रवर्तक आर्य असङ्ग के छोटे भाई थे। अतः इनका भी काल उनके आस-पास ही अर्थात् चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध एव पञ्चम शताब्दी का पूर्वार्ध मानना चाहिए। इनके गुरु के बारे में विभिन्न मत हैं। बुदोन के अनुसार काश्मीर में इन्होंने आचार्य संघभद्र से विद्याध्ययन किया था। परमार्थ के अनुसार उनके गुरु बुद्धमित्र थे तथा ह्वेनसांग के मतानुसार 'परमार्थ' थे। यह हो सकता है कि इन्होंने सभी से भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन किया हो।

अयोध्या उन दिनों विद्या का केन्द्र थी। कहा जाता है कि युवावस्था में ही ये अपने जन्मस्थान से अयोध्या चले आए थे। यहीं पर उन्होंने विभिन्न दर्शनशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया तथा अभिधर्मकोश आदि महनीय ग्रन्थों की रचना की। इससे विद्वत्समाज

में इनकी अपूर्व कीर्ति फैल गयी। इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर अयोध्या के राजा विक्रमादित्य ने इन्हें आश्रय प्रदान किया। इतना ही नहीं, अपने पुत्र बालादित्य और रानी ध्रुवा को इनके निकट अध्ययनार्थ भेजा। विक्रमादित्य के अनन्तर जब बालादित्य राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हुए तो उन्होंने इन्हें अपने दरबार में स्थान दिया तथा राजकीय सम्मान प्रदान किया। विक्रमादित्य सम्भवतः स्कन्दगुप्त हों और बालादित्य नरसिंहगुप्त। अस्सी वर्ष की आयु तक ये जीवित रहे और यहीं (अयोध्या में) उनका देवाहसान हुआ। तारानाथ के अनुसार वसुबन्धु अपने जीवन के अन्तिम काल में नेपाल गये और वहीं उनका शरीरपात हुआ। उन्होंने यह भी लिखा है कि वसुबन्धु लगभग सौ वर्ष तक जीवित रहे। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन के मतानुसार गान्धार में इन्होंने शरीर छोड़ा।

ज्ञातव्य है कि जीवन के प्रारम्भिक काल में आचार्य वसुबन्धु सर्वास्तिवादी थे। काश्मीर में इन्होंने वैभाषिक आचार्य संघभद्र से अध्ययन किया था। जब वैभाषिक थे, तब इन्होंने अभिधर्मकोश और उसके ऊपर भाष्य की रचना की थी। सर्वास्तिवादियों के अभिधर्मपिटक और उसकी 'विभाषा' टीका को आधार बनाकर लिखे गये इनके अभिधर्मकोश की विद्वत्समाज में बड़ी ख्याति हुई तथा देश-विदेश में उसका बड़े आदर के साथ अध्ययन किया जाने लगा। वैभाषिक सिद्धान्तों को जानने के लिए उसी का जोरदार अध्ययन होने लगा और अन्य शास्त्र प्रायः गौण हो गए। अपनी गम्भीरता एवं व्यापकता के कारण यह कोश समस्त बौद्ध धर्म का मान्य एवं प्रमाणभूत ग्रन्थ है। वास्तव में यह बौद्धदर्शन की रीढ़ है और आज भी सभी देशों एवं बौद्ध सम्प्रदायों में इसक प्रामाण्य एवं आदर असन्दिग्ध है। बाणभट्ट ने तो यहाँ तक लिखा है कि शाक्य भिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम में शाक्य शासन में कुशल सुग्गे (तोते) भी 'कोश' का उपदेश देते थे। यहाँ 'कोश' का तात्पर्य आचार्य वसुबन्धु के अभिधर्मकोश से ही है। कोश और भाष्य के अध्ययन से लगता है कि वसुबन्धु एक स्वतन्त्र विचारक पण्डित थे। उनका झुकाव सौत्रान्तिक मतवाद की ओर परिलक्षित होता है। विशेषतः भाष्य में उसकी सौत्रान्तिक प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट होती है। यही कारण है कि आचार्य संघभद्र ने अपने न्यायानुसार नामक अभिधर्मशास्त्र का प्रणयन प्रधानतः वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का खण्डन करने के लिए ही किया था। उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वसुबन्धु कहाँ-कहाँ वैभाषिक मत से दूर हट गये हैं। जहाँ-जहाँ वसुबन्धु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ-वहाँ न्यायानुसार उसका खण्डन करता है। अपनी वृद्धावस्था के कारण वसुबन्धु ने आचार्य संघभद्र के साथ वाद-विवाद करने से इन्कार कर दिया था। अभिधर्मकोश पर कई टीकाएं लिखी गईं, किन्तु उनमें से आज यशोमित्र की 'स्फुटार्था' ही अपने मूल रूप (संस्कृत) में उपलब्ध है। आचार्य दिङ्नाग, स्थिरमति, गुणमति आदि ने भी मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थटीका एवं लक्षणानुसारिणी आदि टीकाओं का प्रणयन किया था।

अपनी वृद्धावस्था में आचार्य वसुबन्धु ने अपने बड़े भाई आर्य असङ्ग के प्रभाव में आकर महायान धर्म स्वीकर कर लिया और योगाचार दर्शनप्रस्थान को एक निश्चित दार्शनिक एवं शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया। विज्ञानवाद को परिपुष्ट करने की दृष्टि से उन्होंने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका और त्रिंशिका प्रकरणद्वय) त्रिस्भावनिर्देश, मध्यान्तविभागभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। बुदोन ने उन्हें पञ्चस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति एवं कर्मसिद्धिप्रकरण का रचयिता कहा है। इसके अतिरिक्त उनके सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता एवं आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर वसुबन्धु ने स्वयं वृत्ति लिखी। त्रिंशिक पर अनेक टीकाएं थीं, किन्तु इनमें से आज केवल आचार्य स्थिरमति का भाष्य ही अपने मूलरूप (संस्कृत) में उपलब्ध है। ह्वेनसांग ने त्रिंशिका पर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र' नामक टीका चीनी भाषा में लिखी थी। पूसे ने इसका फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है, क्योंकि इसमें त्रिंशिका के समस्त टीकाकारों का मत उल्लिखित है और धर्मपाल की टीका भी समाविष्ट है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस टीका के कुछ अंश का संस्कृत में रूपान्तरण किया है, जो 'बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी' के जरनल के १९वें और २०वें खण्ड में प्रकाशित है। आचार्य की कृतियां अनेक हैं। उनका तिब्बती अनुवाद 'तन-ग्युर' संग्रह में सुरक्षित है। मूल संस्कृत में बहुत ही कम कृतियाँ उपलब्ध हैं। 'तन-ग्युर' संग्रह में उपलब्ध उनके ग्रन्थों की एक सूची हम इस परिच्छेद के अन्त में दे रहे हैं।

स्थिरमति– आचार्य स्थिरमति आचार्य वसुबन्धु के चार प्रख्यात शिष्यों में से अन्यतम हैं। उनके चार शिष्य अत्यन्त प्रसिद्ध थे। ये अपने विषय में अपने गुरु से भी बढ़-चढ़ कर थे, यथा- अभिधर्म में स्थिरमति, प्रज्ञापारमिता में विमुक्तिसेन, विनय में गुणप्रभ तथा तथा न्यायशास्त्र में दिङ्नाग। आचार्य स्थिरमति का जन्म दण्डकारण्य में एक व्यापारी के घर हुआ था। अन्य विद्वानों के अनुसार वे मध्यभारत के ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। परम्परा के अनुसार सात वर्ष की आयु में ही वे वसुबन्धु के पास पहुंच गये थे। तारानाथ के अनुसार तारादेवी उनकी इष्ट देवता थीं। वसुबन्धु के समान ये भी दुर्धर्ष शास्त्रार्थी थे। वसुबन्धु के अनन्तर इन्होंने अनेक तैर्थिकों को शास्त्रार्थ करके पराजित किया था। तारानाथ ने लिखा है कि स्थिरमति ने आर्यरत्नकूट और मूलमाध्यमिककारिका की व्याख्या भो लिखी थी तथा उन्होने मूलमाध्यमिकाकारिका का अभिप्राय विज्ञप्तिमात्रता के अर्थ में लिया था। तारानाथ ने आगे लिखा है कि अभिधर्मकोश पर टीका लिखने वाले स्थिरमति कौन स्थिरमति हैं ? यह अज्ञात है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें अभिधर्मकोश एवं त्रिंशिका की टीका लिखने वाले स्थिरमति के एक होने में सन्देह है। इनका काल पांचवी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।

कृतियाँ– तिब्बती भाषा में स्थिरमति की छह रचनाएं उपलब्ध हैं। ये सभी रचनाएं उच्चकोटि की हैं।

(१) आर्यमहारत्नकूट धर्मपर्यायशतसाहस्रिकापरिवर्तकाश्यपपरिवर्त टीका।
यह आर्यमहारत्नकूट की टीका है, जिसका उल्लेख तारानाथ ने किया है। यह बहुत ही विस्तृत एवं स्थूलकाय ग्रन्थ है।

(२) सूत्रालङ्कारवृत्तिभाष्य– यह वसुबन्धु की सूत्रालङ्कारवृत्ति पर भाष्य है।

(३) पञ्चस्कन्धप्रकरण–वैभाष्य– यह वसुबन्धु के पञ्चस्कन्धप्रकरण पर भाष्य है।

(४) मध्यान्तविभङ्ग-टीका- यह मैत्रेयनाथ के मध्यान्तविभङ्ग टीका है।

(५) अभिधर्मकोशभाष्यटीका - यह अभिधर्मकोश भाष्य पर तात्पर्य नाम की टीका है।

(६) त्रिंशिकाभाष्य।

इनके समस्त ग्रन्थ टीका या भाष्य के रूप में ही हैं। इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनके माध्यम से आचार्य वसुबन्धु का अभिप्राय पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है।

दिङ्नाग– आचार्य दिङ्नाग का जन्म दक्षिणभारत के काञ्चीनगर के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान में विद्या और विनय से सम्पन्न एक ब्राह्मणकुल में हुआ था। उन्होंने बाल्यावस्था में ही परम्परागत समस्त तैर्थिक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था और उनमें परिनिष्ठित विद्वान् हो गये थे। तदनन्तर उन्होंने वात्सीपुत्रीय निकाय के महास्थविर से प्रव्रज्या ग्रहण की और भिक्षु हो गये। उनका 'दिङ्नाग' यह नाम प्रव्रज्या के समय दिया हुआ नाम है। महास्थविर नागदत्त से ही उन्होंने समस्त श्रावकपिटक और शास्त्रों का अध्ययन किया था और उनमें वे निष्णात हो गये थे।

एक दिन नागदत्त ने शमथ और विपश्यना के आलम्बन के बारे में समझाते हुए उन्हें अनिर्वचनीय पुद्गल के बारे में उपदेश किया। दिङ्नाग अत्यन्त तीक्ष्णप्रज्ञ एवं स्वतन्त्र विचारक थे। उन्हें अनिर्वचनीय पुद्गल का सिद्धान्त थोड़ा भी रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने अपने निवासस्थान पर जाकर दिन में सभी दरवाजे और खिड़कियों को खोलकर तथा रात्रि में चारों ओर दीपक जलाकर, सारे वस्त्रों को उतार कर सिर से पैर तक सभी अवयवों का भीतर-बाहर सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए गुरु के द्वारा उपदिष्ट अनिर्वचनीय पुद्गल का अन्वेषण करना शुरू किया। ठीक तरह से देखने पर भी उन्हें कहीं अनिर्वचनीय पुद्गल का आभास नहीं हुआ। जब उनके सहपाठियों ने उनसे पूछा कि 'यह क्या कर रहे हो' तो उन्होंने कहा कि पुद्गल की खोज कर रहा हूँ। इस घटना को सुनकर उनके गुरु यह सोचकर कुपित हो गये कि दिङ्नाग हमारे सिद्धान्तों का अपमान एवं तिरस्कार कर रहा है। फलतः उन्होंने दिङ्नाग को संघ से निकाल दिया और उस स्थान से बाहर कर दिया। वहाँ से निकल कर दिङ्नाग चारिका करते हुए आचार्य वसुबन्धु के समीप उपस्थित हुए।

इस घटना से यह सिद्ध होता है कि आचार्य दिङ्नाग पहले वात्सीपुत्रीय निकाय से सम्बद्ध थे, किन्तु उन्हें उस निकाय के सिद्धान्त पसन्द नहीं आए। इसके बाद वे आचार्य वसुबन्धु के समीप गए और उनसे समस्त महायानपिटक और श्रावकपिकट का, सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्रों का और विशेषकर प्रमाणविषयक शास्त्रों का गम्भीरता के साथ अध्ययन किया। कुछ लोगों का मानना है कि आर्य विमुक्तिसेन दिङ्नाग के शिष्य थे, न कि वसुबन्धु के, किन्तु तिब्बती परम्परा उन्हें वसुबन्धु का शिष्य ही निश्चित करती है। तारानाथ के अनुसार संघदास और त्रिरत्नदास भी वसुबन्धु के ही शिष्य थे।

समय– दिङ्नाग के काल के विषय में अनेक मत पाए जाते हैं, किन्तु सब पर विचार करने के अनन्तर पांचवी शताब्दी ही उनका काल समीचीन प्रतीत होता है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन और वैशेषिक भाष्यकार प्रशस्तपाद के मतों का दिङ्नाग ने युक्तिपूर्वक खण्डन किया था तथा न्यायवार्तिककार आचार्य उद्योतकर ने दिङ्नाग का। ईसवीय वर्ष ५५७-५६९ में दिङ्नाग की कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इन सब साक्ष्यों के आधार पर दिङ्नाग का काल पांचवी शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित होता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन उनका काल ईसवीय वर्ष ४२५ मानते हैं।

कृतियाँ– आचार्य दिङ्नाग द्वारा विरचित ग्रन्थों की निश्चित संख्या का ज्ञान सम्भव नहीं है। कुछ विद्वान् उनकी संख्या १०८ बताते हैं। तारानाथ उनकी संख्या १०० कहते हैं, किन्तु कहीं भी वे उतनी संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। भोटभाषा तथा चीनी भाषा में उनके नाम से जो उपलब्ध ग्रन्थसूची भोटभाषा के देगे-संस्करण के 'तनग्युर' संग्रह का अनुसरण करती है।

धर्मकीर्ति– आचार्य दिङ्नाग ने जब प्रमाणसमुच्चय लिखकर बौद्ध प्रमाणशास्त्र का बीज वपन किया तो अन्य बौद्धेतर दार्शनिकों में उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। तदनुसार न्यायदर्शन के व्याख्याकारों में उद्योतकर ने, मीमांसक मत के आचार्य कुमारिल ने, जैन आचार्यों में आचार्य मल्लवादी ने दिङ्नाग के मन्तव्यों की समालोचना की। फलस्वरूप बौद्ध विद्वानों को भी प्रमाणशास्त्र के विषय में अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने का अवसर प्राप्त हुआ। ऐसे विद्वानों में आचार्य धर्मकीर्ति प्रमुख हैं, जिन्होंने दिङ्नाग के दार्शनिक मन्तव्यों का सुविशद विवेचन किया तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि दार्शनिकों की जमकर समालोचना करके बौद्ध प्रमाणशास्त्र की भूमिका को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने केवल बौद्धेतर विद्वानों की ही आलोचना नहीं की, अपितु कुछ गौण विषयों में अपना मत दिङ्नाग से भिन्न रूप में भी प्रस्तुत किया। उन्होंने दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन की भी, जिन्होंने दिङ्नाग के मन्तव्यों की अपनी समझ के अनुसार व्याख्या की थी, उनकी भी समालोचना कर बौद्ध प्रमाणशास्त्र को परिपुष्ट किया।

आचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणशास्त्र विषयक सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये सातों ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या के रूप में ही हैं। प्रमाणसमुच्चय में प्रतिपादित विषयों का ही इन ग्रन्थों में विशेष विवरण है। किन्तु एक बात असन्दिग्ध है कि धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के प्रकाश में आने के बाद दिङ्नाग के ग्रन्थों का अध्ययन गौण हो गया।

कृतियाँ–आचार्य धर्मकीर्ति के सात ग्रन्थ इस प्रकार हैं-१. प्रमाणवार्तिक, २. प्रमाणविनिश्चय, ३. न्यायबिन्दु, ४. हेतुबिन्दु, ५. वादन्याय, ६. सम्बन्धपरीक्षा एवं ७. सन्तानान्तरसिद्धि। इनके अतिरिक्त प्रमाणवार्तिक के स्वार्थानुमान परिच्छेद की वृत्ति एवं सम्बन्धपरीक्षा की टीका भी स्वयं धर्मकीर्ति ने लिखी है।

आचार्य धर्मकीर्ति के इस ग्रन्थों का प्रधान और पूरक के रूप में भी विभाजन किया जाता है। तथा हि-न्यायबिन्दु की रचना तीक्ष्णबुद्धि पुरुषों के लिए, प्रमाणविनिश्चय की रचना मध्यबुद्धि पुरुषों के लिए तथा प्रमाणवार्तिक का निर्माण मन्दबुद्धि पुरुषों के लिए है- ये ही तीनों प्रधान ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रमाणों से सम्बद्ध सभी वक्तव्यों का सुविशद निरूपण किया गया है। अवशिष्ट चार ग्रन्थ पूरक के रूप में हैं। तथाहि-स्वार्थानुमान से सम्बद्ध हेतुओं का निरूपण 'हेतुबिन्दु' में है। हेतुओं का अपने साध्य के साथ सम्बन्ध का निरूपण 'सम्बन्धपरीक्षा' में है। परार्थानुमान से सम्बद्ध विषयों का निरूपण 'वादन्याय' में है। अर्थात् इसमें परार्थानुमान के अवयवों का तथा जय-पराजय की व्यवस्था कैसे हो- इसका विशेष प्रतिपादन किया गया है। आचार्य धर्मकीर्ति दक्षिण के त्रिमलय में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने प्रारम्भिक अध्ययन वैदिक दर्शनों का किया था। तदनन्तर वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल, जो उन दिनों अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे, उनके पास विशेष रूप से बौद्धदर्शन का अध्ययन करने के लिए वे नालन्दा पहुँचे। उनको तर्कशास्त्र में विशेष रुचि थी, इसलिए दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से उन्होंने प्रमाणशास्त्र का विशेष अध्ययन किया तथा अपनी प्रतिभा के बल से दिङ्नाग के प्रमाणशास्त्र में ईश्वरसेन से भी आगे बढ़ गये। तदनन्तर अपना अगला जीवन उन्होंने वाद-विवाद और प्रमाणवार्तिक आदि सप्त प्रमाणशास्त्रों की रचना में बिताया। अन्त में कलिङ्ग देश में उनकी मृत्यु हुई।

समय–तिब्बती परम्परा के अनुसार आचार्य कुमारिल और आचार्य धर्मकीर्ति समकालीन थे। कुमारिल ने दिङ्नाग का खण्डन तो किया है, किन्तु धर्मकीर्ति का नहीं, जबकि धर्मकीर्ति ने कुमारिल का खण्डन किया है। ऐसी स्थिति में कुमारिल आचार्य धर्मकीर्ति के वृद्ध समकालीन ही हो सकते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने तर्कशास्त्र का अध्ययन ईश्वरसेन से किया था, किन्तु उनके दीक्षागुरु प्रसिद्ध विद्वान् एवं नालन्दा के आचार्य धर्मपाल थे। धर्मपाल को वसुबन्धु का शिष्य कहा गया है। वसुबन्धु का समय चौथी शताब्दी निश्चित किया गया है। धर्मपाल के शिष्य शीलभद्र ईसवीय वर्ष ६३५ में विद्यमान थे, जब ह्वेनसांग नालन्दा पहुँचे थे। अतः यह मानना होगा कि जिस समय धर्मकीर्ति दीक्षित हुए, उस समय

धर्मपाल मरणासन्न थे। इस दृष्टि से विचार करने पर धर्मकीर्ति का काल ५५०-६०० हो सकता है।

आचार्य धर्मकीर्ति के मन्तव्यों का खण्डन वैशेषिक दर्शन में व्योमशिव ने, मीमांसा दर्शन में शालिकनाथ ने, न्यायदर्शन में जयन्त और वाचस्पति मिश्र ने, वेदान्त में भी वाचस्पति मिश्र ने तथा जैन दर्शन में अकलङ्क आदि आचार्यों ने किया है। धर्मकीर्ति के टीकाकारों ने उन आक्षेपों का यथासम्भव निराकरण किया है। धर्मकीर्ति के टीकाकारों को तीन वर्ग में विभक्त किया जाता है। प्रथम वर्ग के पुरस्कर्ता देवेन्द्रबुद्धि माने जाते हैं, जो धर्मकीर्ति के साक्षात् शिष्य थे और जिन्होंने शब्दप्रधान व्याख्या की है। देवेन्द्र बुद्धि ने प्रमाणवार्तिक की दो बार व्याख्या लिखकर धर्मकीर्ति को दिखाई और दोनों ही बार धर्मकीर्ति ने उसे निरस्त कर दिया। अन्त में तीसरी बार असन्तुष्ट रहते हुए भी उसे स्वीकार कर लिया और मन में यह सोचकर निराश हुए कि वस्तुतः मेरा प्रमाण शास्त्र यथार्थ रूप में कोई समझ नहीं सकेगा। शाक्यबुद्धि एवं प्रभाबुद्धि आदि भी इसी प्रथम वर्ग के आचार्य हैं।

दूसरे वर्ग के ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने शब्दप्रधान व्याख्या का मार्ग छोड़कर धर्मकीर्ति के तत्त्वज्ञान को महत्त्व दिया। इस वर्ग के पुरस्कर्ता आचार्य धर्मोत्तर हैं। धर्मोत्तर का कार्यक्षेत्र कश्मीर रहा, अतः उनकी परम्परा को कश्मीर-परम्परा भी कहते हैं। वस्तुतः धर्मकीर्ति के मन्तव्यों का प्रकाशन धर्मोत्तर-परम्परा भी कहते हैं। वस्तुतः धर्मकीर्ति के मन्तव्यों क प्रकाशन धर्मोत्तर द्वारा ही हुआ है। ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन ने भी धर्मोत्तर कृत प्रमाणविनिश्चय की टीका पर टीका लिखी है, किन्तु वह अनुपलब्ध है। इसी परम्परा में शङ्करानन्द ने भी प्रमाणवार्तिक पर एक विस्तृत व्याख्या लिखना शुरू किया, किन्तु वह अधूरी रही।

तीसरे वर्ग में धार्मिक दृष्टि को महत्त्व देने वाले धर्मकीर्ति के टीकाकार हैं। उनमें प्रज्ञाकर गुप्त प्रधान है। उन्होंने स्वार्थानुमान को छोड़कर शेष तीन परिच्छेदों पर 'अलङ्कार' नामक भाष्य लिखा, जिसे 'प्रमाणवार्तिकालङ्कार भाष्य' कहते हैं। इस श्रेणी के टीकाकारों में प्रमाणवार्तिक के प्रमाणपरिच्छेद का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि उसमें भगवान् बुद्ध की सर्वज्ञता तथ उनके धर्मकाय आदि की सिद्धि की गई है। प्रज्ञाकर गुप्त का अनुसरण करने वाले आचार्य हुए हैं। 'जिन' नामक आचार्य ने प्रज्ञाकर के विचारों की पुष्टि की है। रविगुप्त प्रज्ञाकर के साक्षात् शिष्य थे। ज्ञानश्रीमित्र भी इसी परम्परा के अनुयायी थे। ज्ञानश्री के शिष्य यमारि ने भी अलङ्कार की टीका की। कर्णगोमी ने स्वर्थानुमान परिच्छेद की ही टीका लिखी, अतः उन्हें धर्मोत्तर की परम्परा में रखना चाहिए। मनोरथनन्दी ने चारों परिच्छेदों पर टीका लिखी है, किन्तु उसे शब्दार्थपरक व्याख्या ही मानना चाहिए।

धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की टीका-परम्परा केवल संस्कृत में ही नहीं रही, अपितु जब बौद्ध धर्म का प्रसार एवं विकास तिब्बत में हो गया तो वहाँ के अनेक भोट विद्वानो ने भी तिब्बती

भाषा में स्वतन्त्र टीकाएं प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थों पर लिखीं तथा उनका अध्ययन-अध्यापन आज भी तिब्बती-परम्परा में प्रचलित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिङ्नाग के द्वारा जो बौद्ध प्रमाणशास्त्र का बीजवपन किया गया, वह धर्मकीर्ति और उनके अनुयायियों के प्रयासों से विशाल वटवृक्ष के रूप में परिणत हो गया।

बोधिधर्म– बोधिधर्म एक भारतीय बौद्ध भिक्षु एवं विलक्षण योगी थे। इन्होंने ५२० या ५२६ ई. में चीन जाकर ध्यान-सम्प्रदाय (जैन बुद्धिज्म) का प्रवर्तन किया। ये दक्षिणभारत के कांचीपुरम् के राजा सुगन्ध के तृतीय पुत्र थे। इन्होंने अपनी चीन-यात्रा समुद्री मार्ग से की। वे चीन के दक्षिणी समुद्री तट केन्टन् बन्दरगाह पर उतरे।

प्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध अद्‌भुत ध्यानयोगी थे। वे सर्वदा ध्यान में लीन रहते थे। कहा जाता है कि उन्होंने सत्य-सम्बन्धी परमगुह्य ज्ञान एक क्षण में महाकाश्यप में सम्प्रेषित किया और यही बौद्ध धर्म के ध्यान सम्प्रदाय की उत्पत्ति का क्षण था। महाकाश्यप से यह ज्ञान आनन्द में सम्प्रेषित हुआ। इस तरह यह ज्ञानधारा गुरु-शिष्य परम्परा से निरन्तर प्रवाहित होती रही। भारत में बोधिधर्म इस परम्परा के अट्ठाइसवें और अन्तिम गुरु हुए।

एक बार उत्तरी चीन के तत्कालीन राजा बू-ति ने उनके दर्शन की इच्छा की। वे एक श्रद्धावान् बौद्ध उपासक थे। उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अनेक महनीय कार्य किये थे। अनेक स्तूप, विहार एवं मन्दिरों का निर्माण कराया था एवं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कराया था। राजा के निमन्त्रण पर बोधिधर्म की उनसे नान्-किंग में भेंट हुई। उन दोनों में निम्नप्रकार से धर्म संलाप हुआ।

बू-ति-भन्ते, मैंने अनेक विहार आदि का निर्माण कराया है तथा अनेक बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कराया है तथा अनेक व्यक्तियों को बौद्ध भिक्षु बनने की अनुमति प्रदान की है। क्या इन कार्यों से मुझे पुण्य-लाभ हुआ है ?

बोधिधर्म– बिलकुल नहीं।

बू-ति– वास्तविक पुण्य क्या है ?

बोधिधर्म– विशुद्ध प्रज्ञा, जो शून्य, सूक्ष्म, पूर्ण एवं शान्त है।

किन्तु इस पुण्य की प्राप्ति संसार में संभव नहीं है।

बू-ति– सबसे पवित्र धर्म सिद्धान्त कौन है ?

बोधिधर्म– जहाँ सब शून्यता है, वहाँ पवित्र कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

बू-ति– तब मेरे सामने खड़ा कौन बात कर रहा है ?

बोधिधर्म– मैं नहीं जानता।

उपर्युक्त संवाद के आधार पर बोधिधर्म एक रूक्ष स्वभाव के व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

उन्होंने सम्राट के पुण्य कार्यों का अनुमोदन भी नहीं किया। बाहर के कठोर दिखाई देने पर भी उनके मन में करुणा थी। वस्तुतः उन्होंने राजा को बताया कि दान देना, विहार बनवााना, आदि पुण्य कार्य अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं, वे अनित्य हैं। इस प्रकार उन्होंने सम्राट को अहंभाव से बचाया और शून्यता के उच्च सत्य का उपदेश किया, जो पुण्य-पाप, पवित्र-अपवित्र सत्-असत् आदि द्वन्द्वों और प्रपञ्चों से अतीत है।

उपर्युक्त भेंट के बाद बोधिधर्म वहाँ रहने में कोई लाभ न देखकर याङ्-त्सी नदी पार करके उत्तरी चीन के बेई नामक राज्य में चले गये। इसके बाद उनका अधिकतर समय उन राज्य की राजधानी लो-याङ् के समीप शुग-शन पर्वत पर स्थित 'शाश्व-शान्ति' (श्वा-लिन्) नामक विहार में बीता, जिसका निर्माण पांचवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ था। इस भव्य विहार का दर्शन करते ही बोधिधर्म मन्त्रमुग्ध हो गए और हाथ जोड़े चार दिन तक विहार के सामने खड़े रहे। यहीं नौ वर्ष तक रहते हुए बोधिधर्म ने ध्यान की भावना की। वे दीवार की ओर मुख करके ध्यान किया करते थे। जिस मठ में बोधिधर्म ने ध्यान किया, वह आज भी भग्नावस्था में विद्यमान है।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन में ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना मौन रहकर चेतना के धरातल पर की। बड़ी कठोर परीक्षा के बाद उन्होंने कुछ अधिकारी व्यक्तियों को चुना और अपने मन से उनके मन को बिना कुछ बोले शिक्षित किया। बाद में यही ध्यान-सम्प्रदाय कोरिया और जापान में जाकर विकसित हुआ।

बोधिधर्म के प्रथम शिष्य और उत्तराधिकारी का नाम शैन-क्कांग था, जिसे शिष्य बनने के बाद उन्होंने हुइ-के नाम दिया। पहले वह कनफ्यूशस मत का अनुयायी था। बोधिधर्म की कीर्ति सुनकर वह उनका शिष्य बनने के लिए आया था। सात दिन और सात रात तक दरवाजे पर खड़ा रहा, किन्तु बोधिधर्म ने मिलने की अनुमति नहीं थी। जाड़े की रात में मैदान में खड़े रहने के कारण बर्फ उनके घुटनों तक जम गई, फिर भी गुरु ने कृपा नहीं की। तब शैन-क्कांग् ने तलवार से अपनी बाईं बाँह काट डाली और उसे लेकर गुरु के समीप उपस्थित हुआ और बोला कि उसे शिष्यत्व नहीं मिला तो वह अपने शरीर का भी बलिदान कर देगा। तब गुरु ने ओर ध्यान देकर पूछा कि तुम मुझसे क्या चाहते हो ? शैन-क्कांग ने बिलखते हुए कहा कि मुझे मन की शान्ति चाहिए। बोधिधर्म ने कठोरतापूर्वक कहा कि अपने मन को निकाल कर मेरे सामने रखो, मैं उसे शान्त कर दूँगा। तब शैन्-क्कांग ने रोते हुए कहा कि मैं मन को कैसे निकाल कर आप को दे सकता हूँ ? इस पर कुछ विनम्र होकर करुणा करते हुए बोधिधर्म ने कहा-मैं तुम्हारे मन को शान्त कर चुका हूँ। तत्काल शैन्-क्कांग को शान्ति का अनुभव हुआ, उसके सारे संदेह दूर हो गए और बौद्धिक संघर्ष सदा के लिए मिट गए। शैन्-क्कांग् चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के द्वितीय धर्मनायक हुए।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त बोधिधर्म के जीवन और व्यक्तित्व के बारे में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है। चीन से प्रस्थान करने से पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाया और उनकी उपलब्धियों के बारे में पूछा। उनमें से एक शिष्य ने कहा कि मेरी समझ में सत्य विधि और निषेध दोनों से परे हैं। सत्य के संचार का यही मार्ग है। बोधिधर्म ने कहा- तुम्हें मेरी त्वचा प्राप्त है। इनके बाद दूसरी भिक्षुणी शिष्या बोली कि सत्य का केवल एक बार दर्शन होता है, फिर कभी नहीं। बोधिधर्म ने कहा कि तुम्हें मेरा मांस प्राप्त है। इसके बाद तीसरे शिष्य ने कहा कि चारों महाभूत और पाँचों स्कन्ध शून्य हैं और असत् है। सत् रूप में ग्रहण करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। बोधिधर्म ने कहा कि तुम्हें मेरी हड्डियाँ प्राप्त हैं। अन्त में हुई-के ने आकर प्रणाम किया और कुछ बोले नहीं, चुपचाप अपने स्थान पर खड़े रहे। बोधिधर्म ने इस शिष्य से कहा कि तुम्हें मेरी चर्बी प्राप्त है।

इसके बाद ही बोधिधर्म अन्तर्धान हो गए। अन्तिम बार जिन लोगों ने उन्हें देखा, उनका कहना है कि वे नंगे पैर त्सुग्-लिंग पर्वतश्रेणी में होकर पश्चिम की ओर जा रहे थे और अपना एक जूता हाथ में लिए थे। इन लोगों के कहने पर बाद में लोयांग में बोधिधर्म की समाधि खोली गई, किन्तु उसमें एक जूते के अलावा और कुछ न मिला। कुछ लोगों का कहना है कि बोधिधर्म चीन से लौटकर भारत आए। जापान में कुछ लोगों का विश्वास है कि वे चीन से जापान गए और नारा के समीप कतयोग-यामा शहर में एक भिखारी के रूप में उन्हें देखा गया।

बोधिधर्म ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु ध्यान सम्प्रदाय के इतिहास ग्रन्थों में उनके कुछ वचनों या उपदेशों का उल्लेख मिलता है। जापान में एक पुस्तक 'शोशित्सु के छह निबन्ध' नाम प्रचलित है, जिसमें उनके छह निबन्ध संगृहीत माने जाते हैं। सुजुकी की राय में इस पुस्तक में निश्चित ही कुछ वचन बोधिधर्म के हैं, किन्तु सब निबन्ध बोधिधर्म के नहीं है। चीन के तुन-हुआङ् नगर के 'सहस्र बुद्ध गुहा विहार' के ध्वंसावशेषों में हस्तलिखित पुस्तकों का एक संग्रह उपलब्ध हुआ था, जिसमें एक प्रति बोधिधर्म द्वारा प्रदत्त प्रवचनों से सम्बन्धित है। इसमें शिष्य के प्रश्न और बोधिधर्म के उत्तर खण्डित रूप में संगृहीत हैं। इसे बोधिधर्म के शिष्यों ने लिखा था। इस समय यह प्रति चीन के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।

ध्यान सम्प्रदाय में सत्य की अनुभूति में प्रकृति का महान् उपयोग है। प्रकृति ही ध्यानी सन्तों का शास्त्र है। ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया में वे प्रकृति का सहारा लेते हैं और उसी के निगूढ प्रभाव के फलस्वरूप चेतना में सत्य का तत्क्षण अवतरण सम्भव मानते हैं।

बोधिधर्म के विचारों के अनुसार वस्तुतत्त्व के ज्ञान के लिए प्रज्ञा की अन्तर्दृष्टि आवश्यक है, जो तथता तक सीधे प्रवेश कर जाती है। इसके लिए किसी तर्क या अनुमान की आवश्यकता नहीं है। इसमें न कोई विश्लेषण है, न तुलनात्मक चिन्तन, न अतीत एवं

अनागत के बारे में सोचना है, न किसी निर्णय पर पहुँचना है, अपितु प्रत्यक्ष देखना ही सब कुछ है। इसमें संकल्प-विकल्प और शब्दों के लिए भी कोई स्थान नहीं है। इसमें केवल 'ईक्षण' की आवश्यकता है। स्वानुभूति ही इसका लक्ष्य है, किन्तु 'स्व' का अर्थ नित्य आत्मा आदि नहीं है।

ध्यान सम्प्रदाय एशिया की एक महान् उपलब्धि है। यह एक अनुभवमूलक साधना-पद्धति है। यह इतना मौलिक एवं विलक्षण है, जिसमें धर्म और दर्शन की रूढियों, परम्पराओं, विवेचन-पद्धतियों, तर्क एवं शब्द प्रणालियों से ऊबा एवं थका मानव विश्रान्ति एवं सान्त्वना का अनुभव करता है। इसकी साहित्यिक एवं कलात्मक अभिव्यक्तियाँ इतनी महान् एवं सर्जनशील हैं कि उसका किसी भाषा में आना उसके विचारात्मक पक्ष को पुष्ट करता है। इसने चीन, कोरिया और जापान की भूमि को अपने ज्ञान और उदार चर्याओं द्वारा सींचा है तथा इन देशों के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में अपूर्व योगदान किया है।

शान्तरक्षित–आचार्य शान्तरक्षित सुप्रसिद्ध स्वातन्त्रिक माध्यमिक आचार्य हैं। उन्होंने 'योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक' दर्शनप्रस्थान की स्थापना की। उनका एक मात्र ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' संस्कृत में उपलब्ध है। उन्होंने 'मध्यमकालङ्कार कारिका' नामक माध्यमिक ग्रन्थ एवं उस पर स्ववृत्ति की भी रचना की है। इन्हीं में उन्होंने अपने विशिष्ट माध्यमिक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। किन्तु ये ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उसका भोट भाषा के आधार पर संस्कृत रूपान्तरण तिब्बती-संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित हुआ है, जो उपलब्ध है।

आचार्य कमलशील और आचार्य हरिभद्र इनके प्रमुख शिष्य हैं। आचार्य हरिभद्र विरचित अभिसमयालङ्कार की टीका 'आलोक' संस्कृत में उपलब्ध है। यह अत्यन्त विस्तृत टीका है, जो अभिसमयालङ्कार के साथ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की भी टीका है। उन्होंने अभिसमयालङ्कार की स्फुटार्था टीका भी लिखी है, जो अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है। तिब्बत में अभिसमय के अध्ययन के प्रसंग में उसी का पठन-पाठन प्रचलित है। उसका भोटभाषा से संस्कृत में रूपान्तरण हो गया है और यह केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित है।

आचार्य शान्तरक्षित वङ्गभूमि (आधुनिक बंगलादेश) के ढाका मण्डल के अन्तर्गत विक्रमपुरा अनुमण्डल के 'जहोर' नामक स्थान में क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे। ये नालन्दा महाविद्या विहार के आचर्य पद पर आसीन थे। जीवन के अन्तिम काल में ये वहाँ के राजा के निमन्त्रण पर तिब्बत गये और उन्होंने बौद्ध धर्म की स्थापना की। अस्सी से अधिक वर्षों तक ये जीवित रहे और तिब्बत में ही उनका देहावसान हुआ। आठवीं शताब्दी प्रायः इनका काल माना जाता है।

आचार्य शान्तरक्षित ने अपनी रचनाओं में बाह्यार्थों की सत्ता मानने वाले भावविवेक का खण्डन किया और व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना की है। उनकी राय में आर्य नागार्जुन का यही वास्तविक अभिप्राय है।

यद्यपि आचार्य शान्तरक्षित बाह्यार्थ नहीं मानते, फिर भी बाह्यार्थशून्यता उनके मतानुसार परमार्थ सत्य नहीं है, जैसे कि विज्ञानवादी उसे परमार्थ सत्य मानते हैं, अपितु वह संवृति सत्य या व्यवहार सत्य है। भावविवेक की भाँति वे भी 'परमार्थतः' निःस्वभावता' को परमार्थ सत्य मानते हैं। व्यवहार में वे साकार विज्ञानवादी हैं। विज्ञानवाद का शान्तरक्षित पर अत्यधिक प्रभाव हैं। वे चन्द्रकीर्ति की निःस्वभावता को परमार्थ सत्य नहीं मानते। भावविवेक की भाँति वे स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग भी स्वीकार करते हैं। वे आलयविज्ञान को नहीं मानते। स्वसंवेदन का प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है, अतः वे स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं।

कृतियाँ– आचार्य शान्तरक्षित भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित थे। यह उनके 'तत्त्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ से स्पष्ट होता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने प्रायः बौद्धेतर भारतीय दर्शनों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर बौद्ध दृष्टि से उनका खण्डन किया है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से भारतीय दर्शनों के ऐसे-ऐसे पक्ष प्रकाशित होते हैं, जो इस समय प्रायः अपरिचित से हो गये हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ भारतीय दर्शनों का महाकोश है। इनकी अन्य रचनाओं में मध्यमकालङ्कारकारिका एवं उसकी स्ववृत्ति है। इसके माध्यम से उन्होंने गोगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक शाखा का प्रवर्तन किया है। वे व्यावहारिक साधक और प्रसिद्ध तान्त्रिक भी थे। तत्त्वसिद्धि, वादन्याय की विपञ्चितार्था वृत्ति एवं हेतुचक्रडमरू भी उनके ग्रन्थ माने जाते हैं।

कमलशील– आचार्य कमलशील आचार्य शान्तरक्षित के प्रमुख शिष्यों में अन्यतम थे। यद्यपि आचार्य के जन्म आदि के बारे में किसी निश्चित तिथि पर विद्वान् एकमत नहीं हैं, फिर भी भोट देश के नरेश ठिसोङ् देउचन (७४२-७९८) के शासनकाल में ७९२ ईसवीय वर्ष के आसपास तिब्बत पहुँचे थे। आचार्य नालन्दा के अग्रणी विद्वानों में से एक थे। उनकी विद्वता का प्रमाण उनकी गम्भीर एवं विशाल कृतियाँ हैं।

भोट देश में उनका पहुँचना तब होता है, जब समस्त भोट जनता चीनी भिक्षु ह्शङ्ग के कुदर्शन से प्रभावित होकर दिग्भ्रमित हो रही थी और भारतीय बौद्ध धर्म के विलोप का खतरा उपस्थित हो गया था। मन की विचारहीनता की अवस्था को ह्शङ्ग-बुद्धत्व-प्राप्ति का उपाय बता रहे थे। उस समय शान्तरक्षित की मृत्यु हो चुकी थी और आचार्य पद्मसम्भव तिब्बत से अन्यत्र जा चुके थे। यद्यपि राजा ठिसोङ् देउचन भारतीय बौद्ध धर्म के पक्षपाती थे, किन्तु ह्शङ्ग के नवीन अनुयायियों को समझा पाने में असमर्थ थे। तब आचार्य शान्तरक्षित के तिब्बती शिष्य ने उन्हें आचार्य शान्तरक्षित की भविष्यवाणी का

स्मरण कराया, जिसमें कहा गया था कि जब तिब्बत में बौद्ध धर्म के अनुयायियों में आन्तरिक विवाद उत्पन्न होगा, उस समय आचार्य कमलशील को आमन्त्रित करके उनसे शास्त्रार्थ करवाना।

तदनुसार राजा के द्वारा आचार्य कमलशील को तिब्बत बुलाया गया और वे वहाँ पहुँचे। उन्होंने चीनी भिक्षु ह्शङ्ग को शास्त्रार्थ में पराजित किया और भारतीय बुद्धशासन की वहाँ पुनः प्रतिष्ठा की। भोट नरेश ने आचार्य कमलशील का सम्मान किया और उन्हें आध्यात्मिक विद्या के विभाग का प्रधान घोषित किया तथा चीनी भिक्षु ह्शङ्ग को देश से निकाल दिया। इस तरह आचार्य ने वहाँ आर्य नागार्जुन के सिद्धान्त एवं सर्वास्तिवादी विनय की रक्षा की।

कृतियाँ–उनकी प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं, जिन्हें भोटदेशीय तन-ग्युर संग्रह के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है :

(१) आर्य सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता टीका,
(२) आर्य वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता टीका,
(३) मध्यमकालङ्कारपञ्जिका,
(४) मध्यमकालोक,
(५) तत्त्वालोक प्रकरण,
(६) सर्वधर्मनिःस्वभावतासिद्धि,
(७) बोधिचित्तभावना,
(८) भावनाक्रम,
(९) भावनायोगावतार
(१०) आर्य विकल्पप्रवेशधारणी-टीका,
(११) आर्यशालिस्तम्ब-टीका
(१२) श्रद्धोत्पादप्रदीप
(१३) न्यायबिन्दु पूर्वपक्षसंक्षेप
(१४) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
(१५) श्रमणपञ्चाशत्कारिकापदाभिस्मरण
(१६) ब्राह्मणीदक्षिणाम्बाये अष्टदुःखविशेषनिर्देश
(१७) प्रणिधानद्वयविधा।

आचार्य पद्मसंभव–भारत के पश्चिम में ओड्डियान नाम एक स्थान है। इन्द्रभूति नामक राजा वहाँ राज्य करते थे। अनेक रानियों के होने पर भी उनके कोई सन्तान न थी। उन्होंने महादान किया। याचकों की इच्छाएँ पूर्ण करने के लिए स्वर्णद्वीप में स्थित नागकन्या से चिन्तामणि रत्न प्राप्त करने के लिए उन्होंने महासमुद्र की यात्रा की। लौटते

समय उन्होंने एक द्वीप में कमल के भीरत स्थित लगभग अष्टवर्षीय बालक को देखा। उसे वे अपने साथ ले आए और उसका उन्होंने राज्याभिषेक किया। राजपुत्र का नाम सरोरुहवज्र रखा गया। राज्य के प्रति अरुचि के कारण उन्होंने त्रिशूल और खट्वाङ्ग लेकर, अस्थियों की माला धारण कर नंगे वदन होकर व्रताचरण आरम्भ कर दिया। नृत्य करते समय उनके खट्वाङ्ग से एक मन्त्री के पुत्र की मृत्यु हो गई। दण्डस्वरूप उन्हें वहां से निष्कासित कर दिया गया। वे ओड्डियान के दक्षिण में स्थित शीतवन नामक श्मशान में रहने लगे। वहाँ रहते हुए उन्होंने मन्त्रचर्या के बल से कर्म-डाकिनियों को अपने वश में कर लिया और लोगों ने उन्हें 'शान्तरक्षित' नाम दिया।

वहाँ से वे जहोर प्रदेश के आनन्दवन नामक श्मशान में गए और विशिष्ट चर्या के कारण डाकिनी मारजिता द्वारा अभिषेक के साथ अधिष्ठित किये गए। तदनन्तर वहाँ से पुनः उस द्वीप में गयें, जहाँ वे पद्म में उत्पन्न हुए थे। वहाँ उन्होंने डाकिनी के संकेतानुसार गुह्यतन्त्र की साधना की और वज्रवाराही का दर्शन किया। वहीं पर उन्होंने समुद्रीय डाकिनियों को वश में किया और आकाशीय ग्रहों पर अधिकार प्राप्त किया। डाकिनियों ने इनका नाम 'रौद्रवज्रविक्रम' रखा।

एक बार उनके मन में भारतीय आचार्यों से बौद्ध एवं बौद्धेतर शास्त्रों के अध्ययन की इच्छा उत्पन्न हुई। तदनुसार जहोर प्रदेश के भिक्षु शाक्यमुनि के साथ आचार्य प्रहति के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और उनका नाम 'शाक्यसिंह' रखा गया।

तदनन्तर वे मलय पर्वत पर निवास करने वाले आचार्य मञ्जुश्रीमित्र के पास गए। उन्होंने उन्हें भिक्षुणी आनन्दी के पास भेजा। भिक्षुणी आनन्दी ने उन्हें अनेक अभिषेक प्रदान किये। उनके सानिध्य में उन्हें आयुर्विद्या एवं महामुद्रा में अधिकार प्राप्त हुआ। तदनन्तर अन्य आचार्यों से उन्होंने प्रज्रकीलविधि, पद्मराग्विधि, शान्त-क्रोध माया धर्म एवं उग्र मन्त्रों का श्रवण किया।

तदनन्तर वे जहोर प्रदेश गये और वहाँ की राजकुमारी को वश में करके पोतलक पर्वत पर चले गए। उस पर्वत की गुफा में उन्होंने अपरिमितायु मण्डल का प्रत्यक्ष दर्शन करके आयुःसाधना की और तीन माह की साधना के अनन्तर वैरोचन अमितायु बुद्ध का साक्षात् दर्शन किया। इसके बाद वे जहोर और ओड्डियान गए और वहाँ के लोगों को सद्धर्म में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अनेक तैर्थिकों को शास्त्रार्थ में परास्त किया तथा नेपाल जाकर महामुद्रा की सिद्धि की।

तिब्बत में बौद्धधर्म की स्थापना– भोट देश में बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठित करने में अचार्य पद्मसंभव की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यद्यपि भारतीय आचार्य शान्तरक्षित ने तत्कालीन भोट -सम्राट् ठिसोङ् देचन की सहायता से भोट देश में बौद्ध धर्म का प्रचार

किया, किन्तु पद्मसंभव की सहायता के बिना वे उसमें सफल नहीं हो सके। उनकी ऋद्धि के बल से राक्षस, पिशाच आदि दुष्ट शक्तियाँ तिब्बत छोड़कर चामर द्वीप चली गईं।

तिब्बत में उनकी शिष्य परम्परा आज भी कायम है, जो समस्त हिमालयी क्षेत्र में भी फैले हुए हैं। पद्मसंभव का बीज मन्त्र 'ओं आः हूँ वज्रगुरु पद्म सिद्धि हूँ' का जप करने में बौद्ध धर्मावलम्बी अपना कल्याण समझते हैं। आर्य अवलोकितेश्वर के बीज मन्त्र 'ओं मणि पद्मे हूँ' के बाद इसी मन्त्र का तिब्बत में सर्वाधिक जप होता है। प्रत्येक दशमी के दिन गुरु पद्मसंभव की विशेष पूजा बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदायों में आयोजित की जाती है, जिसके पीछे यह मान्यता निहित है कि दशमी के दिन गुरु पद्मसंभव साक्षात् दर्शन देते हैं।

ज्ञात है कि आचार्य शान्तरक्षित ने ल्हासा में 'समयस्' नामक विहार बनाना प्रारम्भ किया, किन्तु दुष्ट शक्तियों ने उसमें पुनः-पुनः विघ्न उपस्थित किया। जो भी निर्माण कार्य दिन में होता था, उसे रात्रि में ध्वस्त कर दिया जाता था। अन्त में आचार्य शान्तरक्षित ने राजा से भारत से आचार्य पद्मसंभव को बुलाने के लिए कहा। राजा ने दूत भेजकर आचार्य को तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित किया। आचार्य पद्मसंभव महान् तान्त्रिक थे। तिब्बत आकर उन्होंने अमानुषी दुष्ट शक्तियों का निग्रह किया और कार्य-योग्य वातावरण का निर्माण किया। फलतः महान् 'समयस्' विहार का निर्माण संभव हो सका, जहाँ से चारों दिशाओं में धर्म का प्रकाश फैला। उन्होंने तिब्बत में अनेक विनेयजनों को धर्ममार्ग पर आरूढ किया तथा प्रत्येक मास की दशमी तिथियों में प्रत्यक्ष दर्शन देने का वचन दिया। क्रूर लोगों को विनीत करने के लिए वे यावत्-संसार लोक में स्थित रहेंगे- ऐसी बौद्ध श्रद्धालुओं की मान्यता है।

शान्तिदेव- माध्यमिक आचार्यों में आचार्य शान्तिदेव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी रचनाएं, अत्यन्त प्राञ्जल एवं भावप्रवण हैं, जो पाठक के हृदय का स्पर्श करती हैं और उसे प्रभावित करती हैं। माध्यमिक दर्शन और महायान धर्म के प्रसार में इनका अपूर्व योगदान है।

दार्शनिक मान्यता- माध्यमिकों में भी सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वातन्त्रिक एवं प्रासङ्गिक भेद अत्यन्त प्रसिद्ध है। स्वातन्त्रिक माध्यमिकों में भी सूत्राचार स्वातन्त्रिक और योगाचार स्वातन्त्रिक ये दो भेद हैं। आचार्य शान्तिदेव प्रासङ्गिक मत के प्रबल समर्थक हैं। विचारों और तर्कों में ये आचार्य चन्द्रकीर्ति का पूर्णतया अनुगमन करते हैं। उनकी रचनाओं में बोधिचर्यावतार प्रमुख है। इसमें दस परिच्छेद हैं। नौवें प्रज्ञापरिच्छेद में इनकी दार्शनिक मान्यताएं परिस्फुटित हुई हैं। इस परिच्छेद में संवृति और परमार्थ इन दो सत्यों का इन्होंने सुस्पष्ट निरूपण किया है। इस निरूपण में इनका चन्द्रकीर्ति से कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होता।

मूल सैद्धान्तिक आधार पर ही माध्यमिकों के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में वे माध्यमिक दार्शनिक आते हैं, जो पदार्थों की स्वलक्षणसत्ता स्वीकार करते हैं और परमार्थतः उनकी निःस्वलक्षणता या निःस्वभावता मानते हैं, जिसे वे 'शून्यता' कहते हैं। दूसरे वर्ग में वे दार्शनिक परिगणित होते हैं, जो स्वलक्षणसत्ता कथमपि स्वीकार नहीं करते और उस निःस्वलक्षणता को ही 'शून्यता' कहते हैं। इनमें प्रथम वर्ग के माध्यमिक दार्शनिक स्वातन्त्रिक तथा दूसरे वर्ग के माध्यमिक प्रासङ्गिक कहलाते हैं। इन दोनों की मान्यताओं में यह आधारभूत अन्तर है, जिसकी ओर जिज्ञासुओं का ध्यान जाना चाहिए, अन्यथा माध्यमिक दर्शन का निगूढ अर्थ परिज्ञात नहीं होगा। व्यवहार में किसी धर्म का अस्तित्व या उसकी सत्ता को स्वीकार करना या न करना मूलभूत अन्तर नहीं है, अपितु उस निषेध्य के स्वरूप में जो मूलभूत अन्तर है, वह महत्त्वपूर्ण है, जिस (निषेध्य) का निषेध शून्यता कहलाती है तथा जिसके निषेध से सारी व्यवस्थाएं सम्पन्न होती हैं। वस्तुतः स्वतन्त्र अनुमान या स्वतन्त्र हेतुओं का प्रयोग या अप्रयोग भी इसी निषेध्य पर आश्रित है। शून्यता के सम्यक् परिज्ञान के लिए उसके निषेध्य को सर्वप्रथम जानना परमावश्यक है, अन्यथा उस (शून्यता) का अभ्रान्तज्ञान असम्भव है। बिना निषेध्य को ठीक से जाने शून्यता का विचार निरर्थक होगा और ऐसी स्थिति में शून्यता का अर्थ अत्यन्त तुच्छता या नितान्त अलीकता के अर्थ में ग्रहण करने की सम्भावना बन जाती है। इसलिए आचार्य नागार्जुन ने भी आगाह किया है।

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता।।
(मूलमाध्यमिककारिका २४:११)

जब स्वभावसत्ता या स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है तो उसका यह अर्थ कतई नहीं होता है कि स्वलक्षण सत्ता कहीं हो और सामने स्थित किसी धर्म में, यथा- घट या पट में उसका निषेध किया जाता हो। अथवा शश (खरगोश) कहीं हो और शृङ्ग (सींग) भी कहीं हो, किन्तु उन दोनों की किसी एक स्थान में विद्यमानता का निषेध किया जाता हो, अपितु सभी धर्मों अर्थात् वस्तुमात्र में स्वलक्षणसत्ता का निषेध किया जाता है। कहने का आशय यह है कि घट स्वयं (स्वतः) या पट स्वयं स्वलक्षणसत्तावान् नहीं है। इसी तरह कोई भी धर्म स्वभावतः सत् या स्वतः सत् नहीं है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वस्तु किसी भी रूप में नहीं है। स्वभावतः सत् नहीं होने पर भी वस्तु का अपलाप नहीं किया जाता, अपितु इसका सापेक्ष या निःस्वभाव अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और उसी के आधार पर कार्य-कारण, बन्ध-मोक्ष आदि सारी व्यवस्थाएं सुचारुतया सम्पन्न होती हैं। यद्यपि सभी धर्म स्वलक्षणतः या स्वभावतः सत् नहीं हैं, फिर भी वे अविद्या के कारण स्वभावतः सत् के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और स्वभावतः सत् के रूप में उनके प्रति

अभिनिवेश भी होता है। धर्म जैसे प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनका वैसा अस्तित्व नहीं होता। उनके यथादर्शन या प्रतीति के अनुरूप अस्तित्व में तार्किक बाधाएं हैं, अतः अविद्या के विषय को बाधित करना ही निषेध का तात्पर्य है।

इस तरह निःस्वभावता के आधार पर आचार्य शान्तिदेव ने जन्म-मरण, पाप-पुण्य, पूर्वापर जन्म आदि की व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसी तरह अत्यन्त सरल एवं प्रसाद गुणयुक्त भाषा में उन्होंने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के बिना स्मरण की उत्पत्ति, व्यवहृतार्थ का अन्वेषण करने पर उसकी अनुपलब्धि तथा अविचारित रमणीय लोकप्रसिद्धि के आधार पर सारी व्यवस्थाओं का सुन्दर निरूपण किया है। व्यावहारिक सत्ता पर उनका सर्वाधिक जोर इसलिए भी है कि जागतिक व्यवस्थाएं सुचारू रूप से सम्पन्न हो सकें।

जीवन परिचय– आचार्य शान्तिदेव सातवीं शताब्दी के माने जाते हैं। ये सौराष्ट्र के निवासी थे। बुस्तोन के अनुसार ये वहाँ के राजा कल्याणवर्मा के पुत्र थे। इनके बचपन का नाम शान्ति वर्मा था। यद्यपि वे युवराज थे, किन्तु भगवती तारा की प्रेरणा से उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया। कहा जाता है कि स्वयं बोधिसत्त्व मञ्जुश्री ने योगी के रूप में उन्हें दीक्षा दी थी और वे भिक्षु बन गए।

रचनाएँ– प्रसिद्ध इतिहासकार लामा तारानाथ के अनुसार उनकी तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं, यथा- बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय एवं सूत्रसमुच्चय। बोधिचर्यावतार सम्भवतः उनकी अन्तिम रचना है, क्योंकि अन्य दो ग्रन्थों का उल्लेख स्वयं उन्होंने बोधिचर्यावतार में किया है।

सर्वप्रथम बोधिचर्यावतार का प्रकाशन रूसी विद्वान् आई.पी. मिनायेव ने किया। तदनन्तर म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जरनल में इसे प्रकाशित किया। फ्रेंच अनुवाद के साथ प्रज्ञाकर मति की टीका 'ला वली पूँसे' ने बिब्लिओथिका इण्डिका में सन् १९०२ में प्रकाशित की। नांजियों के कैटलाग में बोधिचर्यावतार की एक भिन्न व्याख्या है, उसमें तीन तालपत्र उपलब्ध हुए, जिनमें शान्तिदेव का जीवन चरित दिया हुआ है। इसके अनुसार शान्तिदेव किसी राजा के पुत्र थे। राजा का नाम मञ्जुवर्मा लिखा हुआ है, किन्तु तारानाथ के अनुसार वे सौराष्ट्र के राजा के पुत्र थे। भोट भाषा में बोधिचर्यावतार का प्राञ्जल एवं हृदयावर्जक अनुवाद है।

आचार्य शान्तिदेव पारमितायान के साथ-साथ मन्त्रनय के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। इतना ही नहीं, वे महान् साधक भी थे। चौरासी सिद्धों में इनकी गणना की जाती है। तन्त्रशास्त्र पर इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। हमेशा सोते एवं खाते रहने के कारण इनका नाम 'भुसुकु' पड़ गया था। वस्तुतः 'भुसुकु' नामक समाधि में सर्वदा समापन्न रहने के कारण ये 'भुसुकु' कहलाते थे। संस्कृत में इनके 'श्री गुह्यसमाजमहायोगतन्त्र-बलिविधि'

नामक तन्त्रग्रन्थ की सूचना है। चर्याचर्यविनिश्चय से ज्ञात होता है कि भुसुकु ने वज्रयान के कई ग्रन्थ लिखे। बंगाली या अपभ्रंश में इनके कई गान भी पाए जाते हैं। ये गीत बौद्ध धर्म के सहजिया सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।

शान्त, मौन एवं विनोदी स्वभाव के कारण लोग उनकी विद्वता से कम परिचित थे। नालन्दा की स्थानीय परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष में प्रतिवर्ष धर्मचर्या का आयोजन होता था। नालन्दा के अध्येता युवकों ने एक बार उनके ज्ञान की परीक्षा करने का कार्यक्रम बनाया। उनका ख्याल था कि आचार्य शान्तिदेव कुछ भी बोल नहीं पाएंगे और अच्छा मजा आएगा। वे आचार्य के पास गए और धर्मासन पर बैठकर धर्मोपदेश करने का उनसे आग्रह किया। आचार्य ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। नालन्दा महाविहार के उत्तर पूर्व में एक धर्मागार था। उसमें पण्डित एकत्र हुए और शान्तिदेव एक ऊँचे सिंहासन पर बैठाए गए। उन्होंने तत्काल पूछा- "मैं आर्ष (भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट) का पाठ करूँ या अर्थार्ष (आचार्यों द्वारा व्याख्यायित) का पाठ करूँ ? पण्डित लोग आश्चर्यचकित हुए और उन्होंने अर्थार्ष का पाठ सुनाने को कहा। उन्होंने (शान्तिदेव ने) सोचा कि स्वरचित तीन ग्रन्थों में से किसका पाठ करूँ ? अन्त में उन्होंनें बोधिचर्यावतार को पसन्द किया और पढ़ने लगे।

सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान्
प्रणिपत्यादरतोऽखिलांश्च वन्द्यान् (बोधिचर्यावतार १:१)

यहाँ से लेकर

यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति।। (बोधिचिर्यावतार ९:३५)

तक पहुँचे तब भगवान् सम्मुख प्रादुर्भूत हुए और शान्तिदेव को अपने लोक में ले गए। यह वर्णन उपर्युक्त तीन तालपत्रों से प्राप्त होता है। पण्डित लोग आश्चर्यचकित हुए। तदनन्तर उनकी पदु-कुटी ढूंढी गई, जिसमें उन्हें उनके तीनों ग्रन्थ प्राप्त हुए।

दीपङ्कर श्रीज्ञान- अद्वितीय महान् आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान आर्यदेश के सभी निकायों तथा सभी यानों के प्रामाणिक विद्वान् एवं सिद्ध पुरुष थे। तिब्बत में विशुद्ध बौद्ध धर्म के विकास में उनका अपूर्व योगदान है। भोट देश में 'लङ् दरमा' के शासन काल में बौद्ध धर्म जब अत्यन्त अवनत परिस्थिति में पहुँच गया था तब 'ङारीस' के 'ल्हा लामा खुबोन्' द्वारा प्राणों की परवाह किये बिना अनेक कष्टों के बावजूद उन्हें तिब्बत में आमन्त्रित किया गया। 'ङारीस' तथा 'वुइस् चङ्' प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में निवास करते

हुए उन्होंने बुद्धशासन का अपूर्व शुद्धीकरण किया। सूत्र तथा तन्त्र की समस्त धर्मविधि का एक पुद्गल के जीवन में कैसे युगपद् अनुष्ठान किया जाए- इसके स्वरूप को स्पष्ट करके उन्होंने हिमवत्-प्रदेश में विमल बुद्धशासनरत्न को पुनः सूर्यवत् प्रकाशित किया, जिनकी उपकारराशि महामहोपाध्याय बोधिसत्त्व आचार्य शान्तरक्षित के समान ही है।

जीवन परिचय– वर्तमान बंगला देश, जिसे, 'जहोर' या 'सहोर' कहते हैं, प्राचीन समय में यह एक समृद्ध राष्ट्र था। यहाँ के राजा कल्याणश्री या शुभपाल थे। इनके अधिकारक्षेत्र में बहुत बड़ा भूभाग था। इनका महल स्वर्णध्वज कहलाता था। उनकी रानी श्रीप्रभावती थी। इन दोनों की तीन सन्तानें थीं। बड़े राजकुमार 'पद्मगर्भ', मझले राजकुमार 'चन्द्रगर्भ' तथा सबसे छोटे 'श्रीगर्भ' कहलाते थे। आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान मध्य के राजकुमार 'चन्द्रगर्भ' हैं, जिनका ईसवीय वर्ष ९८२ में जन्म हुआ था।

बोधगया स्थित मतिविहार के महासांघिक सम्प्रदाय के महास्थविर शीलरक्षित से २९ वर्ष की आयु में इन्होंने प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा ग्रहण की। ३१ वर्ष तक पहुंचते-पहुंचते इन्होंने लगभग चारों सम्प्रदायों के पिटकों का श्रवण एवं मनन कर लिया। साथ ही, विनय के विधानों में भी पारङ्गत हो गए। अपनी अद्वितीय विद्वत्ता के कारण वे अत्यन्त प्रसिद्ध हो गए और अनेक जिज्ञासु जन धर्म, दर्शन एवं विनय से सम्बद्ध प्रश्नों के समाधान के लिए उनके पास आने लगे।

तिब्बत में उनके अनेक शिष्य थे, किन्तु उनमें 'डोम' प्रमुख थे। अपने जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने डोम से कहा कि अब बुद्ध शासन का भार तुम्हारे हाथों में सौंपना चाहता हूँ। यह सुनकर डोम को आभास हो गया कि अब आचार्य बहुत दिन जीवित नहीं रहेंगे। उन्होंने आचार्य की बात भारी मन से मान ली। इस तरह अपना कार्यभार एक सुयोग्य शिष्य को सौंपकर वे महान् गुरु दीपङ्कर श्रीज्ञान १०५४ ईसवीय वर्ष में शरीर त्याग कर तुषित लोक में चले गये।

रचनाएँ– तिब्बती क-ग्युर एवं तन-ग्युर के अवलोकन से आचार्य दीपङ्कर विरचित ग्रन्थों की सूची बहुत बड़ी है। लगभग १०३ ग्रन्थ उनसे सम्बद्ध हैं। संस्कृत में उनका एक भी ग्रन्थ उपलब्ध न था। किन्तु इधर केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनथ से भोट भाषा से संस्कृत में पुनरुद्धार कर कुछ ग्रन्थ प्रकाशित किये गये हैं। उनमें बोधिपथप्रदीप, एकादश लघुग्रन्थों का एक संग्रह तथा उनके पाँच लघुग्रन्थों का एक संग्रह उल्लेखनीय है। साथ ही त्रिस्कन्धसूत्रटीका के अन्तर्गत दीपङ्कर का कर्मावरणविशोधनभाष्य भी प्रकाशित है।

●

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ

अक्षयमतिनिर्देशनसूत्र

अंगुत्तरनिकाय पालि

अट्ठसालिनी धम्मसंगणि-अट्ठकथा

अनन्तद्वारधारणी

अनवतप्तनागराजपरिपृच्छासूत्र

अर्थविनिश्चय महायानसूत्र

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र

अभिधर्मकोश (आचार्य वसुबन्धु)

अभिधर्मकोशभाष्य (आचार्य वसुबन्धु)

अभिधर्मकोशभाष्य-टीका (आचार्य यशोमित्र)

अभिधर्मकोशभूमिका (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)

अभिधर्मदीप

अभिसमयालङ्कारकारिका (आर्य मैत्रेयनाथ)

अभिधर्मसमुच्चय (आचार्य असङ्ग)

अभिधर्मसमुच्चय-टीका

अभिधर्मामृत

आर्यघनव्यूहसूत्र

उत्तरटीका (आचार्य असङ्गकृत भूमिशास्त्र की टीका)

कथावत्थुपालि

कथावत्थु-अट्ठकथा (आचार्य बुद्धघोष)

गूढार्थटीका (महायानसंग्रह की टीका)

चतु:शतकवृति (आयार्य चन्द्रकीर्ति)

जम् यङ् जद् पई डुब् था।

तर्कज्वाला (आचार्य भावविवेककृत मध्यमकहृदयकारिका-टीका)

थोङ् कन् छोस् क्यि ञिमा डुब् था।

दशभूमकसूत्र

टीपवंस
द्वादशायतनसूत्र
धर्मसंग्रहसूत्र
नागराजपरिपृच्छासूत्र
पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र
पञ्चस्कन्धप्रकरण (आचार्य वसुबन्धु)
पितापुत्रसमागमसूत्र
प्रज्ञाप्रदीप, मूलमाध्यमिककारिका टीका (आचार्य भावविवेक)
प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका (आचार्य वसुबन्धु)
प्रमाणयुक्तिनिधि (साक्या पण्डित कुनगा ग्यल् छन्)
प्रमाणवार्तिक (आचार्य धर्मकीर्ति)
प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य (आचार्य प्रज्ञाकर गुप्त)
प्रमाणविनिश्चय (आचार्य धर्मकीर्ति)
प्रमाणसमुच्चय (आचार्य दिङ्नाग)
प्रमाणशास्त्रन्यायालङ्कार (भोटदेशीय आचार्य गेदुन् डुब्)
प्रसन्नपदा, मूलमाध्यमिककारिकाटीका (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
बाह्यार्थसिद्धिकारिका (आचार्य शुभगुप्त)
बुद्धपालिती मूलमाध्यमिककारिकाटीका (आचार्य बुद्धपालित)
बोधिचर्यावतार (आचार्य शान्तिदेव)
बोधिसत्त्वभूमि (आचार्य असङ्ग)
ब्राह्मणवर्ग
भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र
भद्रचर्याप्रणिधानसूत्र
भारतयात्रा का विवरण (चीनी यात्री ह्वेनसांग)
भारहारसूत्र
भेदोपरचनचक्र (आचार्य वसुमित्र)
मध्यमकहृदयकारिका (आचार्य भावविवेक)
मध्यमकालङ्कार (आचार्य शान्तरक्षित)
मध्यमकालङ्कारभाष्य (आचार्य शान्तरक्षित)

मध्यमकालोक (आचार्य कमलशील)
मध्यमकावतार (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
मध्यमकावतारभाष्य (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
महायानसंग्रह (आचार्य असङ्ग)
महायानसंग्रहलङ्कार (आर्य मैत्रेयनाथ)
महावंस-टीका
मुनिशासनसुमेरु (भोटदेशीय आचार्य चङ् क्या रोल पई दोर्जे)
मूलमाध्यमिककारिका (आचार्य नागार्जुन)
मैत्रेयपरिपृच्छापरिवर्त (पञ्चविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र)
युक्तिषष्टिका (आचार्य नागार्जुन)
युक्तिषष्टिकावृत्ति (आचार्य चन्द्रकीर्ति)
योगदर्शन
रत्नावली (आचार्य नागार्जुन)
लङ्कावतारसूत्र
लमरिम छेनमो (भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोङ्खा-पा सुमतिकीर्ति)
विग्रहव्यावर्तनी (आचार्य नागार्जुन)
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वय (विंशिका एवं त्रिंशिका, आचार्य वसुबन्धु)
विनिश्चयकोश भाष्य
विभाषाप्रभावृत्ति (अभिधर्मदीपटीका)
विसुद्धिमग्ग
षडायतनसूत्र
शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र
श्रावकभूमि (आचार्य असङ्ग)
सत्यद्वयविभङ्गशास्त्र (आचार्य ज्ञानगर्भ)
सन्धिनिर्मोचनसूत्रङ्क
सप्तप्रमाणशास्त्रप्रवेशद्वार (भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोंखापा सुमतिकीर्ति)
सप्तप्रमाणशास्त्रलङ्कार (भोटदेशीय आचार्य खेडुब् जे)
समाधिराजसूत्र की प्रस्तावना (डॉ. पी.एल. वैद्य)
सुवर्णप्रभाससूत्र
सौत्रान्तिकदर्शनम् (प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, तिब्बती संस्थान, सारनाथ)

संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

द्वादश खण्ड

जैन-बौद्ध-चार्वाक दर्शन

चार्वाक-दर्शन

सम्पादक

प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी

डॉ. पीयूषकान्त दीक्षित

श्रीनिवास रथ

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

चार्वाक दर्शन

अनुक्रम

चार्वाक दर्शन - प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी

चार्वाक-लोकायत - डॉ. पीयूषकान्त दीक्षित

चार्वाक दर्शन

प्रास्ताविक

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

मनुस्मृति (२।६) के इस वाक्य में आये हुए 'अखिल' शब्द को काकाक्षि-गोलक न्याय से 'वेद' तथा 'धर्म' दोनों शब्दों के साथ जोड़ना चाहिये। इस प्रकार वाक्य का स्वरूप होगा- 'वेदोऽखिलोऽखिलधर्ममूलम्'। इसका स्पष्ट अर्थ है कि समस्त वेद अर्थात् ऋग् यजुः साम और अथर्व नामक चारों वेद अखिल धर्म अर्थात् आस्तिक नास्तिक सभी धर्मों के विषय में मूल अर्थात् प्रमाण हैं। इस प्रकार चार्वाक से लेकर संसार में प्रचलित सारे धर्मों एवं दर्शनों का मूल उत्स वेद हैं-ऐसा सुनिश्चित होता है। वेदों के अभिधेयार्थ से उनका निहितार्थ भिन्न होता है। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' (बृ.उ. ४।२।२) सिद्धान्त के अनुसार वेद अपने अभिप्राय को साङ्केतिक या व्यङ्ग्य रूप में कहते हैं। वेदों में चार्वाक दर्शन के संसूचक वाक्य इसी प्रकार के हैं फिर भी वेदों को चार्वाक दर्शन का मूल स्रोत मानने में कोई हर्ज नहीं है। ऋग् यजुः साम संहिताओं में चार्वाक मत का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं मिलता किन्तु अथर्व संहिता इसका अपवाद है। इसमें सांसारिक मूल्यों के उन्नयन संरक्षण एवं परिवर्द्धन पर विशेष बल दिया गया है। बुद्धिवर्द्धन, रोगोपशमन, मूत्रमोचन, सुखप्रसव, रोगनाश, कामलारोगनाश, श्वेतकुष्ठनाश, ज्वरनाश, दीर्घायुष्ट्वप्राप्ति, क्षेत्रियरोगनाश, पशुसम्वर्धन, कामिनीवशीकरण, कृमिजम्भन, कृमिनाश, दुःखनाश, पशुगोशाला, पतिवेदन, वाणिज्य, कृषि, कामबाण, स्वापन, विषनाश, अपामार्ग, गर्भाधान, भैषज्य, सर्प से रक्षा, जलचिकित्सा, आनृण्य, सपत्नीनाश, राष्ट्ररक्षा, काम, विजयप्राप्ति, विवाह, दुःस्वप्ननाश इत्यादि विषयों का वर्णन करने वाला अथर्ववेद स्पष्टरूप से शरीर और संसार से अपना सम्बन्ध घोषित करता है।

वेदों के विषय में प्राच्य एवं पाश्चात्त्य दो विचारधारायें चलती हैं। प्राच्य मत के अनुसार वेद अनादि एवं अपौरुषेय हैं। अथर्ववेद के उपर्युक्त विषयों को देखने से यह सिद्ध होता है कि देह एवं भौतिक संसार को ही प्रधानता देने वाला एक ऋषिवर्ग इस धराधाम पर सदा विद्यमान रहा है। अर्थात् जिस प्रकार वेद अनादि हैं उसी प्रकार चार्वाक मत भी अनादि है। पाश्चात्त्य मत के अनुसार वेद विश्व के सर्वप्राचीन ग्रन्थ हैं। इस प्रकार उसमें वर्णित चार्वाक मत भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित सिद्ध होता है। प्राच्य एवं पाश्चात्त्य दोनों मतों से चार्वाक मत अथवा चार्वाक दर्शन की प्रचीनता किं वा अनादिता उभयप्रकारेण सिद्ध होती है।

चार्वाक दर्शन के अनेक नाम-विद्वानों ने 'चार्वाक' शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति की हैं-

१. 'चार्वाक' शब्द चारु वाक् का अपभ्रष्ट रूप है। 'चारु' का अर्थ होता हैं-सुन्दर मनोरम और 'वाक्' का अर्थ होता हैं-वचन। जो वचन सुनने में कानों को मधुर अर्थात् प्रिय लगे, जिसको सुनने की बार-बार इच्छा हो ऐसे वाक्य को बोलने वाला चारुवाक् या चार्वाक कहलाता है। 'खाओं पियो मौज उड़ाओ' इत्यादि वचन शरीर इन्द्रिय को सुख देने वाले मनोहारी वचन हैं। चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन ऐसे ही मनोहारी वाक्यों के द्वारा किया गया है, अतः इस दर्शन को चार्वाक दर्शन कहा जाता है।

२. 'चार्वाक' शब्द 'चर्व' भक्षणे धातु से बना है। जिसका अर्थ हैं-चबाना-भोजन करना। भोजन करने का अर्थ है इन्द्रिय, शरीर एवं मन को तृप्त करना। चूँकि यह दर्शन शरीर इन्द्रिय एवं मन को सब प्रकार से सुख पहुँचाने की बात करता है अतः इसे चार्वाक दर्शन कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षवादी होने के कारण यह पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, सदृश परोक्ष विषयों का चर्वण कर जाता है उन्हें चाट जाता है इसलिये भी इसे चार्वाक कहा जाता है।

३. आचार्य बृहस्पति के एक शिष्य थे जिनका नाम चार्वाक था। उन्होंने इस मत का प्रचार-प्रसार किया। अतः इस मत का नाम चार्वाक मत पड़ा।

इस दर्शन का एक नाम लोकायत भी है। 'लोकायत' शब्द का अर्थ हैं-लोक अर्थात् समाज में आयत अर्थात् आया हुआ, फैला हुआ, विस्तृत। शास्त्रीय सिद्धान्तों से अनभिज्ञ सामान्य जन शरीर को ही अपना आराध्य मानते हैं। उनके लिये शुद्ध बुद्धि या शुष्क तर्क के द्वारा वेद, इतिहास, पुराण आदि का खण्डन कर उपभोक्तृवाद की स्थापना चरम प्रतिपाद्य होता है। अतः वेदविरोधी होने के साथ यह दर्शन जैन और बौद्ध शास्त्रों की भी निन्दा करता है। इसीलिये वेदानुयायी रामचन्द्र ने भरत से लोकायत मत का अनुसरण न करने को कहा। भगवान् बुद्ध ने विनय पिटक में भिक्षुओं को लोकायत शास्त्र का अध्ययन और उसके अनुसार आचरण करने को मना किया है। जैनाचार्यगण इस प्रकार के आचरण को मिथ्या दृष्टि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि तीनों धर्म इस लोकयत मत की निन्दा करते हैं, अतः इसे लोकायत दर्शन या गँवारों का दर्शन कहा जाता है। इस दर्शन के संस्थापक बृहस्पति नामक आचार्य थे। अतः इसे बार्हस्पत्य दर्शन भी कहा जाता है।

चार्वाक दर्शन : ऐतिहासिक दृष्टि

वैदिक काल-

सृष्टि के प्रारम्भ में ही दैवी एवं आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष की कथा शास्त्रों में वर्णित है। वेद इसके अपवाद नहीं। वहाँ भी देह और भौतिक संसार की समृद्धि वाञ्छित है। इस सृष्टि का प्रारम्भ ही काम से हुआ ऐसा ऋग्वेद आदि में कहा गया हैं 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' (ऋग्वेद १०.१२६.४), 'कामो यज्ञे प्रथमो' (अथर्ववेद ६.२.१६), 'कामस्तदग्रे समवर्त्तत' (अथर्ववेद १६.५२.१) इत्यादि। पाश्चात्त्य दृष्टि से भी वेद प्राचीनतम ग्रन्थ हैं।

औपनिषदकाल-

संहिता के अनन्तर उपनिषदों का क्रम आता है। डॉ सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने उपनिषदों का रचनाकाल ७०० ई.पू. से ६०० ई.पू. माना है। ईश आदि ग्यारह प्रमुख उपनिषदों में भी चार्वाक दर्शन के तत्त्व इतस्ततः विकीर्ण हैं। सन्देहवाद चार्वाक दर्शन का एक प्रमुख आयाम है। कठोपनिषद् के-

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं.........................।।

(क.उ. १।१।२०)

तथा-

दैवेरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।

(क.उ. १।१।२१)

वचनों में शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह व्यक्त किया गया है। यही नहीं अर्थ और काम का महत्त्व भी वहाँ स्पष्ट रूप से सङ्केतित हैं-

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।
एततुल्यं यदि मन्यते वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके ताँस्तान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रमा सरथा सतूर्या न लम्भनीया मर्त्यलोके मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व......................।।

(क.उ. १।१।२३-२५)

बृहदारण्यक उपनिषद् शरीर को चैतन्य अर्थात् आत्मतत्त्व मानती है-'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति। न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति।'

(बृ.उ. २।४।१२)

माण्डूक्योपनिषद् में 'आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्।' वाक्य के द्वारा समस्त कामों के लाभ की चर्चा है। तैत्तिरीयोपनिषद्-'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य' (११।१) कह कर धन की प्रियता को महत्त्वपूर्ण बतलाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन उपनिषत्काल में अर्थ और काम का प्राधान्य रहा है। परवर्त्ती उपनिषदों में भी देहात्मवाद की चर्चा मिलती है-

यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वद् देहोऽपि चिन्मयः।
सर्पत्वेन यथा रज्जू रजतत्वेन शुक्तिका।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता।।
गृहत्वेन हि काष्ठानि खड्गत्वेनैव लोहता।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः।।

(यो.शि.उ. २१, २२, २४)

यद्यपि इस देहात्मवाद को योगशिखोपनिषत् में निषेधात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है तथापि इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि उस काल में जन सामान्य एवं अध्यात्मज्ञानरहित प्रबुद्धवर्ग में भी चार्वाकदर्शन के देहात्मवाद के प्रति दृढ़ आग्रह था।

रामायण महाभारत काल-

उपनिषदों के अनन्तर आदिकाव्य रामायण तथा इतिहासकाव्य महाभारत का क्रम आता है। इन ग्रन्थों में अर्थ और काम का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। राजा दशरथ के पुत्रेष्टि याग से लेकर राम रावण युद्ध तक के काण्डों में सर्वत्र अर्थ और काम की महिमा का वर्णन किसी से छिपा नहीं है। रामायण की रचना पार्जिटर के अनुसार १६०० ई.पू. के पहले हुई थी। याकोबी उसे ८००-६०० ई.पू. का मानते हैं। इसी प्रकार महाभारत का रचना काल ४०० ई.पू. माना गया है। उस समय भी चार्वाक दर्शन के दो मुख्य आयाम थे-अर्थ और काम प्रबल रूप में व्याप्त थे। रामायण में कामात्मता का वर्णन विश्वामित्रमेनका-संवाद में मिलता है-

दृष्ट्वा कन्दर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत्।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे।।
अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन विमोहतम्।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत्।।

तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव।
विश्वामित्राश्रमे तस्मिन् सुखेन व्यतिचक्रमुः।।

मेनका को देखकर काम के वशीभूत मुनि ने उससे कहा- हे अप्सरा ! तुम्हारा स्वागत है। काम से मोहित मेरे ऊपर अनुग्रह करो। तुम्हारा कल्याण हो। ऐसा कही गयी उस सुन्दरी ने उस विश्वामित्र आश्रम में निवास किया। हे राघव ! उसको वहाँ रहते हुए सुखपूर्वक दश वर्ष बीत गये।

(वा.रा. १।६३।६-६)

इसके अतिरिक्त रामायण में नास्तिक सम्प्रदाय के विचारों की भी चर्चा आयी है-राजा दशरथ की मृत्यु के बाद भरत एवं राम के समक्ष जाबालि नामक एक ब्राह्मण पण्डित का वचन धर्मविरोधी परिलक्षित होता है-

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः।
उवाच रामं धर्मज्ञं धमपितमिदं वचः।।

जाबालि नामक उत्तम ब्राह्मण ने धर्मज्ञ राम को आश्वासित करते हुए धर्म-रहित इस वचन को कहा-

(वा.रा. २।१०८।१)

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किं कार्यं कस्य केनचित्।
यदेको जायते जन्तुरेक एव विलीयते।।
तस्मान् माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चित् हि कस्यचित्।।

कौन पुरुष किसका बन्धु है, किसको क्या करना चाहिये। क्योंकि आदमी अकेला उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। इसलिये हे राम ! जो आदमी ये माता पिता है-ऐसा मानता है उसे पागल समझना चाहिये। कोई किसी का नहीं है।

(वा.रा. ३।१०८।३-४)

न ते कश्चिद् दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन।
अन्यो राजा त्वमन्यः स तस्मात् कुरु यदुच्यते।।
बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च।
संयुक्तं ऋतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत्।।
अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान्।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य भेजिरे।।

दशरथ तुम्हारे कोई नहीं थे और तुम दशरथ के कुछ नहीं हो। वे राजा अन्य हैं और तुम अन्य हो। पिता जीव का केवल बीज होता है। शुक्र और शोणित जब ऋतुमती माता से संयुक्त होता है तो वही इस संसार में पुरुष का जन्म कहलाता है। जो लोग अर्थ-धर्म परायण हैं मैं उन्हीं के बारे में सोचता हूँ औरों को नहीं। वे इस संसार में दुःख भोगकर मरने के बाद नष्ट हो गये।

(वा.रा. २।१०८।१०-१३)

अष्टका पितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति।।

लोग जो पितरों के उद्देश्य से प्रतिवर्ष अष्टका आदि श्राद्धकर्म किया करते हैं। देखो, वे लोग अन्न का कैसा नाश करते हैं ? भला कहीं मृत प्राणी भोजन करता है ?

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत्।।

यदि एक का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में पहुँच जाता है तो पथिक को मार्ग में भोजन करने के लिए भोज्य पदार्थ को अपने साथ ले जाने का प्रयोजन ही क्या है क्योंकि उसके सम्बन्धी उसके नाम से घर पर ही श्राद्ध कर दिया करते और वही उस पथिक के लिये मार्ग के भोजन का कार्य करता।

दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व सन्त्यज।।

अन्य उपायों से धनोपार्जन में क्लेश देखकर मेधावी लोग दान के द्वारा लोगों को वश में करने के लिये धर्मशास्त्रों की रचना की। यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास ग्रहण करो-इत्यादि उपदेशों के द्वारा लोगों को धोखा देकर उनका धन हरण करना ही उन धर्म ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य है।

स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु।।

हे महामति ! वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है-इसे आप भलीभाँति समझ लीजिए। अतः जो प्रत्यक्ष है उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष है उसकी उपेक्षा कीजिए।

(वा.रा. २।१०८।१४-१७)

जहाँ तक महाभारत का प्रश्न है यहाँ भी अर्थ और काम का प्राबल्य एवं प्रभुत्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है। दर्प के साथ-साथ राज्यलिप्सा का ही परिणाम था कि दुर्योधन ने कृष्ण से कहा-'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।' काम के सन्दर्भ में अम्बा की कामातुरता को जब देवव्रत (भीष्म) के द्वारा तिरस्कार पूर्ण उपेक्षा मिली तब उसने भीष्मवध की प्रतिज्ञा तक कर डाली। महाराज पाण्डु ऋषि-शाप के कारण यह जानते हुए भी कि स्त्रीसमागम करने पर उनका देहान्त हो जायेगा, काम की प्रबलता से अभिभूत होकर पत्नी-समागम कर बैठे और मृत्यु को प्राप्त हो गये। महाभारत के ही अन्य कथानक इस तथ्य के प्रमाण हैं कि चार्वाक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य काम कैसे उस काल में उद्दाम अवस्था को प्राप्त था। गृहस्थों और राजाओं की बात छोड़िये ऋषि तथा महर्षि भी अपने अन्तिम वय एवं जीर्ण अवस्था में कामासक्त होकर विवाह करते थे। परम वृद्ध तथा तपस्या के कारण जीर्णकाय ऋषि च्यवन ने राजा शर्याति की राजकुमारी सुकन्या से विवाह करने का कातर प्रस्ताव रखा और राजा शर्याति शाप के भय से जब अपनी कन्या को उनकी पत्नी के रूप में उन्हें समर्पित कर दिये तब ऋषि च्यवन परम प्रसन्न हो उठे-

अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम्।।
तामेव प्रतिगृह्याहं राजन् दुहितरं तव।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।।
ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन्।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने।।
प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान् प्रससाद ह।

(महाभा० वन० १२२।२४-२७)

महर्षि पराशर की भी कथा इस तथ्य की ओर सङ्केत करती है कि महाभारत काल में काम का कितना वर्चस्व था। तीर्थयात्रा के उद्देश्य से विचरण कर रहे महर्षि पराशर ने वसुकन्या सत्यवती को देखते ही उसके समक्ष अपनी कामुकता प्रकट कर दी। उस कन्या के साथ महर्षिसमागम के फलस्वरूप तत्काल महर्षि व्यास का जन्म हुआ-

दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम्।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः।।
जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा।
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा।।

(महाभा० आदि० ६३।७१, ८१, ८४)

इसी प्रकार वनवास के समय भीम ने हिडिम्बा नामक राक्षसी के साथ समागम किया और घटोत्कच की उत्पत्ति हुई। सुभद्रा और द्रौपदी नामक दो स्त्रियों के होते हुए भी अर्जुन ने नागलोक जाकर उलूपी नामक नागकन्या से विवाह किया और बभ्रुवाहन पैदा हुए। इसके अतिरिक्त आधुनिक मणिपुर में भी अर्जुन ने विवाह किया। इस प्रकार वे चार पत्नियों के पति हुए महाभारत के ये सब कथानक चार्वाक दर्शन के कामपक्ष के निदर्शन हैं।

पौराणिक काल-

पुराणों में अग्निपुराण सर्वप्राचीन माना जाता है। इसमें यद्यपि स्पष्टरूप से चार्वाक का नाम नहीं आया है तथापि बौद्ध एवं जैन मतानुयायियों की स्पष्ट चर्चा मिलती है। अग्निपुराण की यह चर्चा पद्म एवं विष्णु पुराणों की कथा से मिलती जुलती है। देवासुर संग्राम में देवता लोग दैत्यों के द्वारा पराजित होने पर भगवान् विष्णु के पास गये और उन्होंने राजा शुद्धोदन के मायामोहस्वरूप पुत्र के रूप में अवतीर्ण होकर दैत्यों को मुग्ध कर दिया। फलस्वरूप वे वेदबाह्य बौद्ध एवं जैन धर्मों के अनुयायी हो गये-

पुरा देवासुरायुद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः।
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम्।।
मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत्।
मोहयामास दैत्यांस्तांस्त्याजितावेदधर्मकान्।।
ते च बौद्धा बभूवुर्हि तेभ्योऽन्ये वेदवर्जिताः।
आर्हतः सोऽभवत् पश्चादार्हतानकरोत् परान्।।
एवं पाखण्डिनो जाता वेदधर्मादिवर्जिताः।।

(अ.पु. १६।१-४)

इसके अतिरिक्त चार्वाक दर्शन के विचार पद्म एवं विष्णु पुराणों में मिलते हैं। इन पुराणों में श्राद्ध आदि क्रियाओं का खण्डन किया गया है। प्राचीनतर होने से यहाँ पहले पद्म पुराण का वेदविरोधी वर्णन प्रस्तुत है-

ज्ञानं वक्ष्यामि वो दैत्या अहं च मोक्षदायि तु।
एषा श्रुतिर्वैदिकी या ऋग्यजुःसामसंज्ञिता।।

वृहस्पति ने कहा-हे दैत्यो ! मैं तुम्हें मोक्षसाधक ज्ञान बतलाऊँगा। वह है ऋग्, यजु और साम संज्ञक वैदिकी अनुभूति।

वैश्वानरप्रसादात्तु दुःखदा इह प्राणिनाम्।
यज्ञः श्राद्धं कृतं क्षुद्रैरैहिकस्वार्थतत्परैः।।

वह ईश्वरसिद्ध वैदिकी साधना प्राणीमात्र के लिये क्लेशसाध्य है और उन वैदिक श्राद्धादि यज्ञों की उपासना लौकिक स्वार्थ के वशीभूत क्षुद्र लोग ही करते हैं।

यथाऽऽसन्वैष्णवा धर्मा ये च रुद्रकृतास्तथा।
कुधर्मा भार्यासहितैर्हिंसाप्रायाः कृता हि ते।।

वैष्णव तथा रुद्रकृत अर्थात् शैव धर्मों का पालन भी पत्नी सहित करने का नियम है और उनमें भी हिंसा का विधान है, अतः इन्हें कुत्सित ही समझना चाहिये।

अर्धनारीश्वरो रुद्रः कथं मोक्षं गमिष्यति।
वृतो भूतगणैर्भूयो भूषितश्चास्थिभिस्तथा।।

अर्द्धनारीश्वर अर्थात् अर्ध शरीर से निरन्तर स्त्रीरूपधारी, भूत प्रेतों से परिवृत तथा हड्डियों की माला धारण करने वाले रुद्र किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं ?

न स्वर्गो नैव मोक्षोऽत्र लोकाः क्लिश्यन्ति वै वृथा।
हिंसायामास्थितो विष्णुः कथं मोक्षं गमिष्यति।।

न कहीं स्वर्ग है और न कोई मोक्ष। व्यर्थ ही लोग इनके लिये शारीरिक क्लेश उठाते हैं। भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर स्वयं दैत्यवधकारी विष्णु किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं ?

रजोगुणात्मको ब्रह्मा स्वां सृष्टिमुपजीवति।
देवर्षयोऽथ ये चान्ये वैदिकं पक्षमाश्रिताः।।

ब्रह्म स्वयं रजोगुणी हैं और स्वयं सृष्टिकार्य में लगे रहते हैं। देव तथा ऋषिगण वैदिक (हिंसात्मक) यज्ञ में भाग लेने वाले हैं-ये भी किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं ?

हिंसाप्रायाः सदा क्रूरा मांसादाः पापकारिणः।
सुरास्तु मद्यपानेन मांसादा ब्राह्मणास्त्वमी।।

हिंसावृत्ति, क्रूरस्वभाव तथा मांसभक्षक देवतागण पापकारी प्रमाणित हैं और ये ब्राह्मण भी मदिरा पीते तथा मांस का भक्षण करते हैं।

धर्मेणानेन कः स्वर्गं कथं मोक्षं गमिष्यति।
यच्च यज्ञादिकं कर्म स्मार्तं श्राद्धादिकं तथा।।

इस प्रकार के धर्माचरण से कौन व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त कर सकता और कैसे मोक्षगामी हो सकता है ? इसके अतिरिक्त अन्य जो यज्ञ श्राद्ध आदि स्मार्तकर्म हैं तथा-

तत्र नैवापवर्गोऽस्ति यत्रैषा श्रूयते श्रुतिः।
यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।।

जहाँ ऐसी श्रुति है कि यज्ञीय स्तम्भ को काटकर पशुओं की हत्या कर पृथ्वी पर रुधिर की धारा प्रवाहित करो उसमें भी मोक्ष का प्रश्न नहीं उठता।

यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते।
यदि भुक्तमिहान्येन तृप्तिरन्यस्य जायते।।

यदि इस प्रकार के विभत्स आचरण से कोई स्वर्गगामी हो सकता है तो फिर नरकगामी कौन होगा ? यदि यहाँ (श्राद्धादि में ब्राह्मण आदि) को खिला देने से परलोकगत मृत प्राणियों की तृप्ति होती है।

दद्यात् प्रवसतः श्राद्धं न स भोजनमाहरेत्।
आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात्।।

तो परदेशगत व्यक्ति का श्राद्ध कर देना चाहिये, उसे पाथेय ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहाँ का दिया भोजन वहाँ उसे प्राप्त हो ही जायगा। विप्र आकाश में स्वेच्छागमन करते थे, परन्तु वे मांस-भक्षण के कारण (आज) पतित हो गये।

न तेषां विद्यते स्वर्गो मोक्षो नैवेह दानवाः।
जातस्य जीवितं जन्तोरिष्टं सर्वस्य जायते।।

हे दानवों ! उनके लिये इस लोक में, न स्वर्ग है और न मोक्ष ही है। जन्म-ग्रहण करने वाले सारे प्राणियों को अपना जीवन प्रिय होता है।

आत्ममांसोपमं मांसं कथं खादेत पण्डितः।
योनिजास्तु कथं योनिं श्रयन्ते जन्तवस्त्वमी।।

ज्ञानी पुरुष अपने शरीर के मांस के समान दूसरे के शरीर का मांस कैसे खा सकेंगे। जननी की योनि से उत्पन्न होने वाले ये जन्तु क्यों जननी की योनि के समान अन्य स्त्रियों की योनि में विहार करते हैं ?

मैथुनेन कथं स्वर्गं यास्यन्ति दानवेश्वर।
मृद्भस्मना यत्र शुद्धिस्तत्र शुद्धिस्तु का भवेत्।।

हे दानवराज ! (तान्त्रिक साधना में जिस मैथुन का विधान है उस) मैथुन के द्वारा भला स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जहाँ मिट्टी और राख से शुद्धि का विधान है-यह कौन सी शुद्धि है ? मिट्टी तो स्वयं गन्दी वस्तु है।

विपरीतमिदं लोकं पश्य दानव यादृशम्।
विण्मूत्रस्य कृतोत्सर्गे शिश्नापानस्य शोधनम्।।

हे दानवेश्वर ! थोड़ा विपरीताचारी लोक के ऊपर दृष्टिपात करो जिसमें उदरस्थ मल-मूल के त्याग तथा शिश्नपान के पश्चात् गुदा और मूत्रेन्द्रिय का प्रक्षालन किया जाता है।

न सम्भवोऽस्ति वदने मृदा तोयेन वा पुनः।
भुक्ते वा भोजने राजन् कथं नापानशिश्नयोः।।

मिट्टी अथवा जल से मुख का प्रक्षालन सम्भव नहीं ? हे राजन ! यदि ऐसा सम्भव है तो भोजन करने पर गुदा और मूत्रेन्द्रिय के प्रक्षालन का विधान क्यों नहीं किया गया ?

तारां बृहस्पतेर्भार्यां हृत्वा सोमः पुरा गतः।
तस्यां जातो बुधः पुत्रो गुरुर्जग्राह तां पुनः।।

गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का उनके शिष्य चन्द्रमा हरण कर ले गये और इनसे बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, इस पर भी बृहस्पति ने उस (पत्नी) को निस्सङ्कोच ग्रहण कर लिया।

गौतमस्य मुनेः पत्नी अहल्या नाम नामतः।
अगृह्णत्तां स्वयं शक्रः पश्य धर्मं यथा स्थितः।।

गौतम मुनि की पत्नी जिसका नाम अहल्या था, को स्वयं इन्द्र ने सम्भुक्त किया-देखो, यही तुम्हारी धर्म की स्थिति है।

एतदन्यच्च जगति दृश्यते पारदारिकम्।
एवंविधो यत्र धर्मः परधर्मो मतस्तु कः।।

संसार में इतनी ही नहीं, इस तरह की अनेकों परदारसम्भोग की क्रियाएँ देखी गई हैं। भला, जिस समाज में धर्म की ऐसी अवस्था हो, वहाँ और परमार्थ हो ही क्या सकता है ?

(प.पु.सृ.खं. १३।३१४-३३३)

उसी पुराण से एक और उद्धरण प्रस्तुत है-

स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थाय वा पुनः।।
तदलं पशुघातादिदुष्टधर्मैर्निबोधत।
विज्ञानमयमेतद्वै त्वशेषमधिगच्छत।।
बुध्यध्वं मे वचःसम्यग्बुधैरेवमिहोदितम्।
जगदेतदनाधारं भ्रान्तिज्ञानानुतत्परम्।।
रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसङ्कटे।

हे दैत्यों ! यदि आपकी स्वर्ग अथवा मोक्ष के लिये इच्छा है तो पशु-हत्या आदि दुष्ट कर्मों को जानो। इस सम्पूर्ण स्वर्गादि को विज्ञानमय समझो मेरी बात को भलीभाँति समझो। ऐसा विद्वानों ने कहा है। यह संसार निराधार और भ्रमात्मक ज्ञान से युक्त है। राग आदि से दूषित जीव इस संसार के सङ्कट में भ्रामित किया जाता है।

(प.पु.सृ.सं. १३।३६०-३६३)

हवींष्यनलदग्धानि फलान्यर्हन्ति कोविदाः।
निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।।
स्वपिता यजनमानेन किं वा तत्र न हन्यते।
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेद्यदि।।
दद्याच्छ्राद्धं प्रवसतो न वहेयुः प्रवासिनः।
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येंद्रेण भुज्यते।।
शम्यादि यदिचेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः।
जनाश्रद्धेयमित्येतदवगम्य तु तद्वचः।।
उपेक्ष्य श्रेयसे वाक्यं रोचतां यन्मयेरितम्।।
नह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महासुराः।

अग्नि में हवि को जलाने पर विद्वान् उसके फल को प्राप्त करते हैं, यज्ञ में मारे गये पशु के कारण यदि स्वर्ग की प्राप्ति मानी जाती है तो यजमान यज्ञ में अपने पिता को क्यों नहीं मारता (और स्वर्ग प्राप्त करता), यदि अन्य व्यक्ति के द्वारा भोजन करने से पितरों की तृप्ति होती है तो विदेश में जाने वाले लोगों को श्राद्ध दे देना चाहिये वे मार्ग का भोजन क्यों ले जायें। अनेक यज्ञों के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर इन्द्र स्वर्ग का भोग करते हैं। यदि यज्ञ में शमी आदि काष्ठ के द्वारा इन्द्र भोग प्राप्त करते हैं तो उससे अच्छा तो पत्ता खाने वाला पशु (बकरी आदि) है उसे स्वर्ग क्यों नहीं मिलता। इसलिये इन सब बातों को अविश्वसनीय समझ कर उनकी उपेक्षा कीजिये और जो मैंने कहा उस पर ध्यान दीजिये।

हे राक्षसों ! आप्त वाणी बोलने वाले आसमान से नहीं टपकते (वो हमारे आप के ही बीच के होते हैं)।

(प.पु. १३।३६६-३७०)

इसी प्रकार के दृष्टान्त विष्णु पुराण में भी उपलब्ध होते हैं। कण्डु नामक महातपस्वी प्रम्लोचा नामक अप्सरा के रूपसौन्दर्य से क्षोभित होकर उसके साथ नौ सौ सात वर्ष छ मास तीन दिन तक कामलीला में संलिप्त रहे-

कण्डुर्नाम मुनिः पूर्वमासीद्वेदविदां वरः।
सुरम्ये गोमतीतीरे स तेपे परमं तपः।।
तत्क्षोभाय सुरेन्द्रेण प्रम्लोचाख्या वराप्सराः।
प्रयुक्ता क्षोभयामास तमृषिं सा शुचिस्मिता।।
क्षोभितः स तया सार्द्धं वर्षाणामधिकं शतम्।
अतिष्ठन्मन्दरद्रोण्यां विषयासक्तमानसः।।
तं सा प्राह महाभाग गन्तुमिच्छाम्यहं दिवम्।
प्रसादसुमुखो ब्रह्मन्ननुज्ञां दातुमर्हसि।।
तयैवमुक्तः स मुनिस्तस्यामासक्तमानसः।
दिनानि कतिचिद् भद्रे स्थीयतामित्यभाषत।।
एवमुक्ता ततस्तेन साग्रं वर्षशतं पुनः।
बुभुजे विषयांस्तन्वी तेन सार्कं महात्मना।।
अनुज्ञां देहि भगवन् व्रजामि त्रिदशालयम्।
उक्तस्तथेति स पुनः स्थीयतामित्यभाषत।।
पुनर्गते वर्षशते साधिके सा शुभानना।
यामीत्याह दिवं ब्रह्मन्प्रणयस्मितशोभनम्।।
उक्तस्यैवं स मुनिरुपगुह्यायतेक्षणाम्।
इहास्यतां क्षणं सुभ्रु चिरकालं गमिष्यसि।।
सा क्रीडमाना सुश्रोणी सह तेनर्षिणा पुनः।
शतद्वयं किञ्चिदूनं वर्षाणामन्वतिष्ठत।।
गमनाय महाभाग देवराजनिवेशनम्।
प्रोक्तः प्रोक्तस्तया तन्व्या स्थीयतामित्यभाषत।।
तस्य शापभयाद् भीता दाक्षिण्येन च दक्षिणा।
प्रोक्ता प्रणयभङ्गार्त्तिवेदिनी न जहौ मुनिम्।।

तया च रमतस्तस्य परमर्षेरहर्निशम्।
नवं नवमभूत्प्रेम मन्मथाविष्टचेतसः।।
एकदा तु त्वरायुक्तो निश्चक्रामोटजान्मुनिः।
निष्क्रामन्तं च कुत्रेति गम्यते प्राह सा शुभा।।
इत्युक्तः स तया प्राह परिवृत्तमहः शुभे।
सन्ध्योपास्तिं करिष्यामि क्रियालोपोन्यथा भवेत्।।
ततः प्रहस्य सुदती तं सा प्राह महामुनिम्।
किमद्य सर्वधर्मज्ञ परिवृत्तमहस्तव।।
बहूनां विप्र वर्षाणां परिवृत्तमहस्तव।
गतमेतन्न कुरुते विस्मयं कस्य कथ्यताम्।।

मुनिरुवाच-

प्रातस्त्वमागता भद्रे नदीतीरमिदं शुभम्।
मया दृष्टासि तन्वङ्गि प्रविष्टासि ममाश्रमम्।।
ततस्ससाध्वसो विप्रस्तां पप्रच्छायतेक्षणाम्।
कथ्यतां भीरु कः कालस्त्वया मे रमतः सह।।

प्रम्लोचोवाच-

सप्तोत्तराण्यतीतानि नववर्षशतानि ते।
मासाश्च षट् तथैवान्यत्समतीतं दिनत्रयम्।।

कण्डु नाम के ऋषि गोमती नदी के किनारे परम तपस्या कर रहे थे। तपस्या में विघ्न डालने के लिये प्रम्लोचा नाम की अप्सरा इन्द्र के द्वारा भेजी गयी। उसने ऋषि को कामाकुल कर दिया। फलस्वरूप डेढ सौ वर्ष तक मन्दराचल में उसके साथ कण्डु ने विहार किया। उसके बाद जब उसने जाने की आज्ञा चाही तो मुनि ने कहा-हे भद्रे ! कुछ दिन और रुको। पुनः एक वर्ष तक ऋषि ने प्रम्लोचा के साथ विषयभोग किया। जब पुनः अप्सरा ने जाने की इच्छा प्रकट की तो कण्डु ने पुनः कहा हे शुभ्रु ! कुछ दिन तक और यहाँ रुको और फिर दो सौ वर्ष तक उसके साथ वे ऋषि कामक्रीड़ा में लिप्त रहे। शाप के भय से प्रम्लोचा मुनि से अलग न हो सकी। एक दिन मुनि ने फिर पुछा-हे भद्रे ! तुम प्रातःकाल आयी थी और यह सन्ध्या का समय हो रहा है बोलो कितने समय तक मैंने तुम्हारे साथ विहार किया? प्रम्लोचा ने कहा-हे मुने ! आपको मेरे साथ विहार करते हुए नौ सौ सात वर्ष छह माह तीन दिन बीत गये।

(वि.पु. १।१५।११-३२)

विष्णु पुराण में ही एक कथा ययाति की आती है। ययाति का शरीर जीर्ण हो गया किन्तु कामवासना जीर्ण नहीं हुई। इस कारण उन्होंने अपनी कामतृप्ति के लिये यदु आदि अपने पुत्रों से यौवनदान की याचना की। उनके द्वारा याचना की स्वीकृति न मिलने पर अन्त में उन्होंने पुरु से यौवन माँगा और मिलने पर विषयों का भोग किया-

काव्यशापाच्च कालेनैव ययातिर्जरामवाप। प्रसन्नशुक्रवचनाच्च स्वजरां संक्रामयितुं ज्येष्ठं पुत्रं यदुमुवाच। एकं वर्षसहस्रमतृप्तोऽस्मि विषयेषु, त्वद्वयसा विषयानाहं भोक्तुमिच्छामि. ....स यदुर्नैच्छत्तां जरामादातुम्। अथ शर्मिष्ठातनयमशेषकनीयांसं पुरुं तथैवाह...स स्वकीयं च यौवनं स्वपित्रे ददौ। सोऽपि......यथोत्साहं विषयांश्चचार।

शुक्र के शाप वश ययाति बूढ़े हो गये किन्तु शुक्र ने यह भी कहा था कि आप अपना वृद्धत्व किसी दूसरे को देकर उसका यौवन ले सकते हैं। उन्होंने यदु आदि अपने पुत्रों से याचना की। सबने अस्वीकार कर दिया। अन्त में कनिष्ठ पुत्र पुरु ने अपना यौवन राजा को दिया और वे बहुत दिन तक यौवनाचार में उपलिप्त थे।

(वि.पु. ४।१०।७, १०, १५, १८)

कलि के स्वरूपवर्णन के माध्यम से चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा विष्णु पुराण में मिलती है-

स्वपोषणपराः क्षुद्रा देहसंस्कारवर्जिताः।
परुषानृतभाषिण्यो भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः।।

....

यदा यदा सतां हानिर्वेदमार्गानुसारिणाम्।
तदा तदा कलेर्वृद्धिरनुमेया विचक्षणैः।।

....

कस्य माता पिता कस्य यथाकर्मानुगः पुमान्।
इति चोदाहरिष्यन्ति श्वशुरानुगता नराः।।

कलियुग में स्त्रियाँ अपना पोषण करेंगी, नाटे कद की और देहसंस्कार से रहित होंगी। वे कर्कश और असत्य भाषण करेंगी। जब-जब वेद मार्ग का अनुसरण करने वाले महात्माओं का विनाश होने लगे तो विद्वानों को यह अनुमान करना चाहिये कि कलियुग बढ़ रहा है। उस युग में श्वसुर के अनुकूल आचरण करने वाले पुरुष माता पिता के बारे में कहेंगे किसकी माता और किसका पिता ये तो पुरुष कर्म के अनुसार बनता है। इत्यादि

(वि.पु. ६।१।३०, ४६, ५६)

दार्शनिक काल-

दार्शनिक ग्रन्थों में चार्वाक दर्शन की चर्चा एवं उसका खण्डन विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है। इस उपक्रम में **आचार्य हरिभ सूरि (वि.सं. ७५७-८२७)** द्वारा रचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' का नाम सर्वप्रथम ग्राह्य है। उसके अनुसार पृथ्वी जल तेज और वायु ये चार महाभूत ही चेतना के आकार में परिणत होते हैं। इनके अतिरिक्त आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है क्योंकि उसके विषय में प्रमाण नहीं मिलता-

चार्वाकश्चार्चयन्ति यथा-इह कायाकारपरिणतानि चेतनाकारणभूतानि भूतान्येवोपलभ्यन्ते, न पुनस्तेभ्यो व्यतिरिक्तो भवान्तरयायी यथोक्तलक्षणः कश्चनाप्यात्मा, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्। तथाहि-भूतव्यतिरिक्तात्मसद्भावे किं प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रवर्त्तत उतानुमानम् । न तावत् प्रत्यक्षं, तस्य प्रतिनियतेन्द्रियसम्बद्धरूपादिगोचरतया तद्विलक्षणे जीवे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ।.....ततः सिद्धं शरीरकार्यमेव चैतन्यम्। ततश्च चैतन्यसहिते शरीर एवाहंप्रत्ययोत्पत्तिः सिद्धा इति न प्रत्यक्षप्रमेय आत्मा। ततश्चाविद्यमान एव। प्रयोगश्चात्र-नास्त्यात्मा, अत्यन्ताप्रत्यक्षत्वात्, यदत्यन्ताप्रत्यक्षं तन्नास्ति, यथा खपुष्पम्। यच्चास्ति तत्प्रत्यक्षेण गृह्यत एव, यथा घटः। अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः किन्तु घटादिकार्यतया परिणतास्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति। न पुनरयमात्मा कदाचिदपि प्रत्यक्षभावमुपगच्छति। नाप्यनुमानं भूतव्यतिरिक्तान्य-सद्भावे प्रवर्त्तते । तस्याप्रमाणत्वात् ।.........किञ्च लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मरण-पूर्वकमनुमानम् ।..........नचैवमात्मना लिङ्गिना सार्धं कस्यापि लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण सम्बन्धः सिद्धोऽस्ति।

नाप्यागमगम्य आत्मा। अविसंवादिवचनाप्तप्रणीतत्वेन ह्यागमस्य प्रामाण्यम्। न चैवं भूतमविसंवादिवचनं कश्चनाप्याप्तमुपालभामहे यस्यात्मा प्रत्यक्षः। किञ्च आगमाः सर्वे परस्परविरुद्धप्ररूपिणः।

तथानोपमानप्रमाणोपमेयोऽप्यात्मा......................।
तथाऽर्थापत्तिसाध्योऽपि नात्मा....................।

चार्वाकों का विचार है कि इस संसार में शरीर के आकार में परिणत भूत ही चेतना के कारण हैं। उनसे अतिरिक्त जन्मान्तर देने वाला कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है। क्योंकि उसके बारे में कोई प्रमाण नहीं मिलता। प्रत्यक्ष प्रमाण सम्भव नहीं क्योंकि वह इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है और आत्मा के बारे में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती इसलिये चैतन्य शरीर का कार्य है यह सिद्ध होता है। इस विषय में अनुमान है-आत्मा नहीं है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता; जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता उसकी सत्ता नहीं होती जैसे आकाशकुसुम। अनुमान प्रमाण हेतु और साध्य के सम्बन्ध का स्मरण करने के बाद होता है। आत्मा को यदि साध्य माने तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि उसका किसी प्रत्यक्षहेतु के

साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के विषय में आगम प्रमाण भी सम्भव नहीं क्योंकि कोई भी अविसम्वादि आप्त पुरुष नहीं मिलता जिसने आत्मा को देखा हो। इसी प्रकार उपमान और अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकते। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक संग्रहीत हैं।

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पापपुण्ययोः।। ८० ।।
एतावानेव लोकोऽयं यावदिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ।। ८१ ।।

तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चना।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते।। ८२।।
यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्तावद्वैषयिकं सुखम्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। ८३।।

लोकायत कहते हैं कि न जीव है न उसका मोक्ष। धर्म-अधर्म और उनका फल पाप-पुण्य भी नहीं है। जितना इन्द्रियों के द्वारा दिखायी देता है उतना ही संसार है। तपस्या, अनेक प्रकार की यातनाएँ, संयम भोगरहित होना, अग्निहोत्र आदि ये सब बच्चों का खेल है। जब तक जीना है तब तक विषय का सुखभोग करना चाहिये। शरीर के जल जाने पर पुनः इस संसार में कहाँ आगमन होता है।

भूतेभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुत्पद्यते। जलबुद्बुदवज्जीवाः। चैतन्य-विशिष्टः कायः पुरुषः। 'गल चर्व अदने' चर्वन्ति भक्षयन्ति अर्थात् तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः। लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकाः। तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता।

शरीर के अन्दर चैतन्य चार महाभूतों से मदशक्ति के समान उत्पन्न होता है। जीव जल के बुदबुद के समान है। चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है

पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
आधारो भूमिरेतेषांमानं त्वक्षजमेव हि ।। ८३।।
पृथ्व्यादिभूतसंहत्या तथा देहपरीणतेः।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ।।८४।।
तस्माद् दृष्टपरित्यागाद् यददृष्टे प्रवर्त्तनम्।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ।। ८५।।

सैषा वृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात् परो नहि ।।

पृथ्वी जल तेज वायु ये चार ही भूत हैं। इस सभी का आधार केवल प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। जिस प्रकार (गुड जौ महुआ आदि) शराब के उपादानों से मद शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार पृथ्वी आदि संयुक्त होकर चैतन्य उत्पन्न करते हैं। इसलिये चार्वाकों का कहना है कि दृष्ट का परित्याग कर अदृष्ट की परिकल्पना मूर्खता है। संसार के विषयों के प्रति प्रेम निरर्थक है। काम से अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है।

ऐतिहासिक क्रम में इसके पश्चात् **शान्तरक्षित (८ वीं शती) विरचित** 'तत्त्व संग्रह' में चार्वाक दर्शन के तत्त्व मिलते हैं। यहाँ प्रमाण परीक्षा के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि एवं लोकायत परीक्षा के वर्णन में लोकायत मत को श्रेष्ठ मानते हुए चैतन्य अर्थात् आत्मा को चार महाभूतों का धर्म माना गया है। विस्तार के भय से यहाँ कुछ ही श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं-

यदि नानुगतो भावः कश्चिदप्यत्र विद्यते।
परलोकस्तदा न स्यादभावात्परलोकिनः।। १८५७।।

यदि आत्मा अनुगामी नहीं है अर्थात् इस वर्तमान शरीर से पूर्व आत्मा की परम्परा नहीं थी तो परलोक का अस्तित्व खण्डित हो जाता है और फिर परलोकवासी की तो बात ही नहीं उठती।

देहबुद्धीन्द्रियादीनां प्रतिक्षणविनाशने।
न युक्तं परलोकित्वं नान्यश्चाभ्युपगम्यते।।१८५८।।
तस्माद् भूतविशेषेभ्यो यथा शुक्रसुरादिकम्।
तेभ्य एव तथा ज्ञानं जायते व्यज्यतेऽथवा।। १८५९।।

देह, बुद्धि और इन्द्रिय आदि का क्षण-क्षण में विनाश हो रहा है-ऐसा देखकर परलोकिता तथा आत्मा आदि का विचार करना ही अयुक्त है। अतएव जैसे सड़ाये गये द्रव्यों से मादकता आदि तत्त्व स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही चार भूत तत्त्वों से ज्ञान-चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है और पुरुषविशेष का व्यक्तित्व उत्पन्न या अनुभूत होने लगता है।

सन्निवेशविशेषे च क्षित्यादीनां निवेश्यते।
देहेन्द्रियादिसंज्ञेयं तत्त्वं नान्यद्धि विद्यते।। १८६०।।

पृथिवी आदि चार भूतों के विशिष्ट मात्रा में सन्निविष्ट होने पर देह तथा चक्षु आदि इन्द्रियों की संज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त ओर कोई ज्ञेय तत्त्व नहीं है। प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य कोई प्रमाण भी नहीं, जिससे परलोक आदि की सिद्धि हो।

कार्यकारणता नास्ति विवादपदचेतसोः।
विभिन्नदेहवृत्तित्वात् गवाश्वज्ञानयोरिव।। १८६१।।

यदि अतीत देहस्थित चित्त का कारण तत्पूर्वजन्मगत चित्त को मान लिया जाए तो चित्त के अविच्छिन्नरूप बन्धन की निवृत्ति के कारण परलोक की कल्पना हो सकती थी, किन्तु विभिन्न देहधारी गोजाति और अश्वजातिगत दो विभिन्न ज्ञानों के समान तद्‌गत प्रथम दो (अतीत देह और तत्पूर्वजन्मीय देहगत) विवादग्रस्त चित्त कार्यों के लिये कारण का आरोप कहीं नहीं हो सकता।

सरागमरणं चित्तं न चित्तान्तरसन्धिकृत्।
मरणज्ञानभावेन वीतक्लेशस्य तद्यथा।। १८६३।।

जिस प्रकार मरणज्ञान रहने पर भी वीतक्लेश ज्ञानी का मन पुनर्जन्म धारण नहीं करता, उसी प्रकार मरणोन्मुख प्राणी का चित्त संसार में आसक्त रहने पर भी अन्य शरीर में प्रवेश नहीं करता।

कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।
युक्तं जायत इत्येतत् कम्बलाश्वतरोदितम् ।।१८६४।।

प्राण और अपान आदि वायुओं के आधारित शरीर से ही चैतन्य या ज्ञान की उत्पत्ति होती है-यह किसी कम्बलाश्वतर ऋषि का वचन है।

कललादिषु विज्ञानमस्तीत्येतच्च साहसम् ।
असञ्जतेन्द्रियत्वाद्धि न तत्रार्थोऽवगम्यते ।। १८६५।।
न चार्थावगतेरन्यद् रूपं ज्ञानस्य युज्यते।
मूर्च्छादावपि तेनास्य सद्भावो नोपपद्यते।। १८६६।।
न चापि शक्तिरूपेण तदा धीरवतिष्ठते।
निराश्रयत्वाच्छक्तीनां स्थितिर्नह्यवकल्पते ।। १८६७ ।।
ज्ञानधारात्मनोऽसत्त्वे देह एव तदाश्रयः।
अन्ते देहनिवृत्तौ च ज्ञानशक्तिः किमाश्रया।। १८६८ ।।

कलल (गर्भ) आदि में विज्ञान है-यह कहना दुःसाहस मात्र है। कलल आदि के रूप में विज्ञान अपनी सुप्तावस्था में रहता है, किन्तु चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों की स्पष्ट आकृति के

निर्मित होने के कारण रूप आदि इन्द्रियार्थों अर्थात् विषयों का अस्तित्व अनुभूत नहीं होता है रूप आदि पञ्च इन्द्रियविषयों की अनुभूति के अतिरिक्त ज्ञान का अन्य कोई रूप अपेक्षित नहीं, अतएव मूर्च्छा आदि की अवस्था में कभी विज्ञान का सद्भाव परिलक्षित नहीं होता। तत्कालीन विज्ञान के अस्तित्व की कल्पना शक्तिरूप में की जाए?-यह भी उचित नहीं, क्योंकि निराश्रय होने पर शक्तियों का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। ज्ञानाश्रित आत्मा की अविद्यमानता में चतुर्भूतमय देह में ही वह (विज्ञान) आश्रय ग्रहण करता है और अन्त (मरणावस्था) में देह का नाश हो जाने पर ज्ञान कहाँ ठहर सकता है? अर्थात् ज्ञान की अनवस्था में अनागत जन्म की असिद्धि सिद्ध हुई।

तदत्र परलोकोऽयं नान्यः कश्चन विद्यते ।
उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसन्ततेः।। १८७२ ।।

एकं नित्यस्वभावं च विज्ञानमिति साहसम् ।
रूपशब्दादिचित्तानां व्यक्तं भेदोपलक्षणात् ।।१८८३।।

नावयव्यात्मता तेषां नापि युक्ताऽणुरूपता ।
अयोगात् परमाणूनामित्येतदभिधीयते ।। १८८६ ।।

संसारानुचिता धर्माः प्रज्ञाशीलकृपादयः ।
स्वरसेनैव वर्त्तन्ते तथैव न मदादिवत् ।। १९५६।।

तो यहाँ कोई दूसरा परलोक नहीं है। उपादान और उसके उपादेय भूत-ज्ञानादि-सन्तान का कोई परलोक नहीं है। जो लोग यह कहते हैं कि एक नित्य स्वभाव वाले विज्ञान की सत्ता है उनका यह कहना साहस मात्र है क्योंकि रूप शब्द आदि वाले चित्तों का भेद स्पष्ट होता है। वे महाभूत आदि न तो अवयवी हैं और न उनकी अनुरूपता ही युक्त है क्या-कि परमाणुआ-का संयोग नहीं होता। संसार के अन्दर रहने वाले प्रज्ञा शील कृपा आदि धर्म स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। मद्य आदि की भाँति किसी के सम्मिश्रण से नहीं।

(त.सं. १८५७..........१९५६)

न्यायशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् **जयन्त भट्ट (नवीं शती ई.)** ने न्यायमञ्जरी की रचना की। उनकी दृष्टि में चार्वाक मत धूर्तों का दर्शन है।

चार्वाकधूर्तस्तु अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः इति प्रतिज्ञाय प्रमाणप्रमेय-संख्यालक्षणनियमाशक्यकरणीयत्वमेव तत्त्वं व्याख्यातवान् । प्रमाणसंख्यानियमाशक्यकरणीयत्वसिद्धये च प्रमितिभेदान् प्रत्यक्षादि-प्रमाणानुपजन्यानीदृशानुपादर्शयत्।

वक्राङ्गुलिः प्रविरलाङ्गुलिरेष पाणि-
रित्यस्ति धीस्तमसि मीलितचक्षुषो वा।
नेयं त्वगिन्द्रियकृता न हि तत्करस्थं
तत्रैव हि प्रमितिमिन्द्रियमादधाति ।।
दूरात् करोति निशि दीपशिखा च
दृष्टा पर्यन्तदेशविसृतासु मतिं प्रभासु।
धत्ते धियं पवनकम्पितपुण्डरीक-
षण्डोनुवात भुवि दूरगतेऽपि गन्धे।।
स एवंप्रायसंवित्तिसमुत्प्रेक्षणपण्डितः।
रूपं तपस्वी जानाति न प्रत्यक्षानुमानयोः।।
प्रत्यक्षाद् विरलाङ्गुलिप्रतीति
र्व्यापित्वादकुशलमिन्द्रियं न तस्याम्।
आनाभेस्तुहिनजलं जनैः पिबद्भि-
स्तत्स्पर्शः शिशितरोऽनुभूयते।।
संयोगबुद्धिश्च यथा तदुत्था
तथैव तज्जा तदभावबुद्धिः।
क्रियाविशेषग्रहणाच्च तस्मा-
दाकुञ्चितत्वावगमोऽङ्गुलीनाम्।।
पद्मामोदविदूरदीपकविभाबुद्धिः पुनर्लैङ्गिकी
व्याप्तिज्ञानकृतेति का खलु मतिर्मानान्तरापेक्षिणी।
संख्याया नियमः प्रमाणविषये नास्तीत्यतो नास्तिकै-
स्तत्सामर्थ्यविवेकशून्यमतिभिर्मिथ्यैव विस्फूर्जितम्।।
इयत्त्वमविलक्षणं नियतमस्ति मानेषु नः
प्रमेयमपि लक्षणादिनियमान्वितं वक्ष्यते।
अशक्तकरणीयतां कथयतां तु तत्त्वं सतां
समक्षममुनात्मनो जडमतित्वमुक्तं भवेत्।। (न्याय मञ्जरी २-३)

अथ सुशिक्षिताश्चार्वाका आहुः। यावच्छरीरभवस्थितमेकं प्रमातृतत्त्व-मनुसन्धानादिव्यवहारसमर्थमस्तु नाम कस्तत्र कलहायते। शरीरादूर्ध्वं तु तदस्ति इति किमत्र प्रमाणम्। न च पूर्वशरीरमपहाय शरीरान्तरं संक्रामति प्रमाता। यदि ह्येवं भवेत् तदिह शरीरे शैशवदशानुभूतपदार्थस्मरणवत् अतीतजन्मानुभूतपदार्थस्मरणमपि तस्य भवेत्। न हि तस्य नित्यत्वाविशेषे च स्मरणविशेषे कारणमुत्पश्यामो यदिह जन्मनि

एवानुभूतं स्मरति नान्यजन्मानुभूतमिति। तस्मादूर्ध्वं देहान्नास्त्येव प्रमातेति नित्यात्मवादमूलपरलोककथामपास्य यथासुखमास्यताम् । यथाह-

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुरागमनं कुतः।।

धूर्त चार्वाक, इसके बाद तत्त्व की व्याख्या करेंगे-ऐसी प्रतिज्ञा कर प्रमाण प्रमेय आदि तत्त्वों की चर्चा की। प्रमाण और संख्या के नियम को करना सम्भव नहीं इसलिये उसकी सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उत्पन्न प्रमिति के भेदों के बतलाया-

यह हाथ टेढ़ी उङ्गलियों वाला अथवा विरल अङ्गुलियों वाला है ऐसा ज्ञान अन्धकार में अथवा आँख बन्द करने वाले को नहीं होता। यह ज्ञान तो त्वगृइन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए इन्द्रियाँ वहीं पर प्रमा उत्पन्न करती हैं। रात में दूर से देखी गयी दीपशिखा आस पास के स्थानों में ज्ञान कराती है। उसी प्रकार दूरगम्य गन्ध का भी वायु के द्वारा कम्पित कमल से ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान को जानने में पण्डित तपस्वी रूप को जान सकता है या जानता है। न कि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा। विरल अङ्गुलि का ज्ञान प्रत्यक्ष व्यापक होने से इन्द्रियाँ उसको नहीं जान सकती जैसे कि नाभिपर्यन्त ठण्ढे जल का पान करने वाले लोगों के द्वारा उसका स्पर्श ठण्ढा जाना जाता है। जिस प्रकार संयोग की बुद्धि प्रत्यक्ष के कारण उत्पन्न होती है। उसी प्रकार संयोग के अभाव की बुद्धि भी प्रत्यक्ष से उत्पन्न होती है। क्रियाविशेष का ग्रहण होने से अङ्गुलियों का सङ्कोच भी मालूम होता है। कमल के गन्ध और दूरस्थ दीपक की प्रभा का ज्ञान किसी लिङ्ग से होता है। उसको व्याप्तिज्ञान से भी उत्पन्न मानते हैं। ऐसी बुद्धि किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षिणी कैसे हो सकती है। प्रमाण के विषय में संख्या का नियम नहीं है। इसलिए नास्तिक लोग उसको मिथ्या मानते हैं। प्रमाणों के विषय में हमारा इतना निश्चित सामान्य विचार है और प्रमेय भी लक्षण आदि नियमों से अन्वित कहा जाता है। जो लोग तत्त्वों की अशक्यकरणीयता को कहते हैं। उनके सामने इसके द्वारा अपनी मूखर्ता ही प्रकट की जाती है।

(न्यायमञ्जरी २-३)

इसके बाद सुशिक्षित चार्वाक कहते हैं कि पूरे शरीर में एक प्रमाता है जो अनुसन्धानादि व्यवहार करने में समर्थ है। उसमें कौन झगड़ा करे। यह प्रमातृ तत्त्व शरीर से अतिरिक्त है इसमें क्या प्रमाण है। ऐसा नहीं है कि एक प्रमाता अपने पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है। यदि ऐसा हो तो इस शरीर में शैशव दशा में अनुभूत पदार्थ का स्मरण जैसे होता है उसी प्रकार अतीत जन्म में अनुभूत पदार्थ का स्मरण उसको वर्त्तमान जन्म में भी होना चाहिये। उसके नित्य और स्मरण विशेष में कोई कारण नहीं देखते। यदि कोई व्यक्ति इस जन्म में किये गये अनुभव का स्मरण करता है और अन्य

जन्म में अनुभूत का अनुभव नहीं करता तो इससे यह सिद्ध होता है कि देह के मरने के बाद कोई प्रमाता नहीं रहता। इसलिये नित्यआत्मवाद के आधार पर परलोक की कथा छोड़कर सुख पूर्वक रहिये। जैसा कि कहा गया-

जीवनपर्यन्त सुख से जीना चाहिये क्योंकि कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं होता अर्थात् सबकी मृत्यु होती है। जले हुये शान्त देह का पुनः आगमन कैसे सम्भव है।

(आ. ७/६)

आचार्य हेमचन्द्र (११ वीं शती ई.) ने 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित' नामक ग्रन्थ में सत्रह श्लोकों के द्वारा नास्तिक मत का प्रतिपादन किया हैं-

त्यक्त्वा यदैहिकान् भोगान् परलोकाय यत्यते।
हित्वा हस्तगतं लेह्यं कूर्परालेहनं हि तत्।।

ऐहलौकिक सुखोपभोगा–को त्याग कर परलोक के लिये यत्न करना वैसा ही है जैसे हाथ में आये हुए सुस्वादु अवलेह को त्याग कर कोहनी को चाटना।

परलोकफलो धर्मः कीर्त्यते तदसङ्गतम्।
परलोकोऽपि नाऽस्त्येवाऽभावतः परलोकिनः।।

धर्माचरण का फल परलोक में मिलता हैं यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि परलोकी प्राणी के प्रत्यक्ष अभाव के कारण परलोक का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है।

पृथ्व्यप्तेजः समीरेभ्यः समुद्भवति चेतना।
गुडपिष्टोदकादिभ्यो मदशक्तिरिव स्वयम्।।

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-इनके मिलन से चेतना उत्पन्न हो जाती है, जिस प्रकार गुड और पिष्टोदकादि से मादक शक्ति स्वयं प्रादुर्भूत हो उठती है।

शरीरान्न पृथक् कोऽपि शरीरी हन्त विद्यते।
परित्यज्य शरीरं यः परलोकं गमिष्यति।।

इस प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न कोई आत्मादि तत्त्व नहीं जो शरीर का त्यागकर परलोक को जायेगा।

निःशङ्कमुपभोक्तव्यं ततो वैषयिकं सुखम् ।
स्वात्मा न वञ्चनीयोऽयं स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता।।

इस कारण निर्भीक होकर वैषयिक सुखोपभोग करना चाहिये। अपने को सुखोपभोग से वञ्चित रखना तो मूर्खता ही है।

धर्माधर्मौ च नाशङ्क्यौ विघ्नहेतू सुखेषु तत्।
तावेव नैव विद्येते यतःखरविषाणवत्।।

धर्म और अधर्म की शङ्का में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि वे सुखों में विघ्नरूप हैं। धर्म और अधर्म नामक कोई तत्त्व अस्तित्व में नहीं है, जिस प्रकार की गर्दभ के शृङ्ग का अस्तित्व नहीं है।

स्नपनेनाङ्गरागेण माल्यवस्त्रविभूषणैः ।
यदेकः पूज्यते ग्रावा पुण्यं तेन व्यधायि किम्।।

एक प्रस्तरखण्ड जब प्रतिमा के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अङ्गराग, माला, वस्त्र और अलङ्कारों से उसकी पूजा की जाती है। विचारणीय यह है कि उस प्रतिमारूप प्रस्तरखण्ड ने कौन सा पुण्य किया था?

अन्यस्य चोपरि ग्राव्णः आसित्वा मूत्र्यते जनैः।
क्रियते च पुरीषादि पापं तेन व्यधायि किम्।।

और एक अन्य प्रस्तरखण्ड है जिस पर उपविष्ट होकर लोग मल-मूत्र का त्याग करते हैं। उस प्रस्तरखण्ड ने कौन सा पापकर्म किया था?

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मणा यदि जन्तवः।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते बुद्बुदाः केन कर्मणा।।

यदि प्राणी कर्म के कारण जन्म ग्रहण करते और मरते हैं तो फिर ये जल के बुद्बुद किस पुण्यापुण्य कर्म से उत्पन्न और विलीन होते हैं?

तदस्ति चेतनो यावत् चेष्टयते तावदिच्छया।
चेतनस्य विनष्टस्य विद्यते न पुनर्भवः ।।

अस्तु, जब तक चेतन है तब तक ही इच्छानुसार चेष्टाएँ होती हैं। जब चेतन का विनाश हो गया तक उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

य एव म्रियते जन्तुः स एवोत्पद्यते पुनः।
इत्येतदपि वाङ्मात्रं सर्वथाऽनुपपत्तिभिः।।

जो प्राणी मरता है, वही पुनः उत्पन्न होता हैं यह वचन मात्र है, क्योंकि आत्मा की सिद्धि किसी प्रकार से नहीं होती।

शिरीषकल्पे तत्तल्पे रूपलावण्यचारुभिः।
रमणीभिः समं स्वामी रमतामविशङ्कितम्।।

शिरीषपुष्पा-के समान मृदुल शय्या पर रूपलावण्य से सम्पन्न रमणियों के साथ निःसङ्कोचभाव से रमण करना ही श्रेयस्कर है।

भोज्यान्यमृतरूपाणि पेयानि च यथारुचि।
खाद्यन्तां स्वामिना स्वैरं स वैरी यो निषेधति।।

अमृत के तुल्य भोज्य और पेय पदार्थों का रुचि के अनुसार स्वच्छन्दता से आस्वादन करना ही कल्याणकारक है। जो इसका निषेध करता है वह शत्रु है।

कर्पूरागुरुकस्तूरीचन्दनादिभिराचितः।
एकसौरभ्यनिष्पन्न इव तिष्ठ दिवानिशम्।।

कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी और चन्दन आदि विलास सामग्रियों से चर्चित अर्थात् उपलिप्त हो मनुष्य के लिए सौरभनिष्पन्न होकर अहर्निश विलासमय जीवन यापन करना उचित है ।

उद्यानयानजगतीचित्रशालादिशालि यत्।
तत्तत् क्षितीश प्रेक्षस्व चक्षुःप्रीत्यै प्रतिक्षणम्।।

संसार में उद्यान, यान और चित्रशाला आदि जो कुछ भी दृश्य है, नेत्रों की तृप्ति के लिये उन्हें निरन्तर देखना ही उचित है।

वेणुवीणामृदङ्गानुनादिभिर्गीतनिस्वनैः।
दिवानिशं तव स्वामिन्नस्तु कर्णरसायनम्।।

वेणु, वीणा और मृदङ्ग आदि (वाद्य-) की मधुर गीतध्वनियों से अहर्निश कर्णामृत का रसास्वादन करना श्रेयस्कर है।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् तावद्वैषयिकैः सुखैः।
ना ताम्येद्धर्मकार्याय धर्माधर्मफलं क्व तत्।।

मनुष्य के लिये आजीवन वैषयिक सुखोपभोग के द्वारा आनन्दमय जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर है। धर्माचरण के लिये चेष्टा करना निरर्थक है, क्योंकि धर्माधर्म का फल कहीं कुछ भी नहीं है।

(त्रिषष्ठि श. पु. च.)

आचार्य **कृष्णयति मिश्र** ने **११वीं शती** में प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाट्य ग्रन्थ की रचना की। इसमें उन्होंने भूतातिरिक्त आत्मवाद एवं स्वर्ग का खण्डन करते हुए चार्वाकसम्मत भोगवाद की (पूर्वपक्ष के रूप में) प्रशंसा की है। इसकी पुष्टि के लिए उक्त ग्रन्थ में पौराणिक उद्धरण भी प्रस्तुत किये गये हैं-

अहल्यायै जारः सुरपतिरभूदात्मतनयां
प्रजानाथोऽयासीदभजत गुरोरिन्दुरबलाम्।
इति प्रायः को वा न पदमपथेऽकार्यत मया
श्रमो मद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु।। १।१४ ।।

इन्द्र ने अहल्या के साथ जार का कर्म किया। ब्रह्मा अपनी पुत्री के ही साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाये। चन्द्रमा ने वृहस्पति की पत्नी के साथ समागम किया। इससे कौन ऐसा है जिसने कुमार्ग में कदम नहीं रखा। मेरे बाणों का श्रम सब जगह मन्थन कर देता है।।१।१४

वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितै-
र्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निचन्द्राः क्षपाः।
सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात् प्राप्ताग्निहोत्रा इति
ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद् वञ्च्यते ।।२।१।।

वेश्याओं के घर में मदिरा से सुगन्धित स्त्री के मुखों के आनन्द के साथ पूर्ण कामोत्सव रस में उपलिप्त होकर रात्रि जागरण करना चाहिये । ये सर्वज्ञ हैं, ये दीक्षित हैं, ये अग्निहोत्री हैं, ये ब्रह्मज्ञानि हैं, ये तपस्वी हैं, ऐसा दिन में कहने वाले धूर्तों के द्वारा संसार ठगा जाता है ।।२।१।।

यत्रास्त्येव तदस्ति वस्त्विति मृषा जल्पद्भिरेवास्तिकै-
र्वाचालैर्बहुभिस्तु सत्यवचसो निन्द्याः कृतो नास्तिकाः।
हंहो पश्यत तत्त्वतो यदि पुनश्छिन्नादितो वर्ष्मणां
दृष्टः किं परिणामिरूपितचितेर्जीवः पृथक्कैरपि ।।२।१७।।

मिथ्यावादी तथा वेदानुयायी आस्तिक सम्प्रदायों ने यथार्थतः अविद्यमान आत्म वस्तु की विद्यमानता घोषित कर सत्यवादी और वेदविरोधाचारी नास्तिक सम्प्रदायों की निन्दा की है। प्रेक्षावान् व्यक्तियों को विचार करना चाहिये कि शरीर के कट जाने पर उस शरीर से पृथक् जीवात्मा की सत्ता का क्या कभी अनुभव हुआ है। यदि कोई कहे कि आत्मा अदृश्य रूप से शरीर में व्याप्त है तो यह कथन भी निरर्थक है क्योंकि कालान्तर में अङ्गों के नष्ट हो जाने पर आत्मा का निराधार गुप्त रहना सम्भव नहीं।। २।१७।।

स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे यदि यज्वनाम्।
ततो दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरुहाम् ।। २।१९ ।।

यदि यज्ञ करने वालों को कर्त्ता क्रिया और द्रव्य के नष्ट होने पर भी स्वर्ग मिलता है तो दावाग्नि में दग्ध वृक्षों को भी स्वर्ग आदि फल मिलना चाहिये ।।२।१९।।

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन किं नु कस्मान्न हन्यते ।। २।२० ।।

यज्ञ में मारे गये पशु के कारण यदि स्वर्ग प्राप्ति मानी जाती है तो यजमान अपने पिता को यज्ञ में क्यों नहीं मार देता ।। २।२० ।।

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ।। २।२१ ।।

यदि श्राद्ध मरे हुए जीवों की तृप्ति का कारण बनता है तो बुझे हुए दीपक में पड़ा हुआ तेल भी उसके शिखा को बढ़ायेगा ।। २।२१ ।।

क्वालिङ्गनं भुजनिपीडितबाहुमूलं
भुग्नोन्नतस्तनमनोहरमायताक्ष्याः ।
भिक्षोपवासनियमार्कमरीचिदाहै-
र्देहोपशोषणविधिः कुधियां क्व चैषः ।। २।२२ ।।

रसानुभूति के साथ सहृदय प्रेमी के दोनों हाथों से मर्दन किये जाने पर शिथिल दोनों स्तनों से अत्यन्त मनोहर विशालाक्षी का कहाँ सुन्दर आलिङ्गन और कहाँ मूर्ख आस्तिक सम्प्रदायों के द्वारा अनुमोदित भिक्षावृत्ति, उपवास, नियम, पञ्चाग्नि तापना आदि क्लेशकारी तपः के द्वारा देह को शोषित तथा पीड़ित करने वाला यह विधान; इन दोनों में कोई तुलना नहीं ।। २।२२ ।।

त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ।। २।२३ ।।

विषयसङ्गम से उत्पन्न होने वाला अनुपम सुख आदमियो के लिये त्याज्य है क्योंकि यह दुःखोपसृष्ट है- ऐसा विचार मूर्खतापूर्ण है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो भूसी में छिपे हुए उत्तम स्वच्छ चावल को छोड़ना चाहेगा ।। २।२३ ।।

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।। २।२६ ।।

प्रातः और सायङ्काल में हवन ऋग् यजु और साम का आचारपालन तृदण्ड युक्त सन्यास और ललाट तथा शरीर में भस्म धारण यह सब बुद्धि और पराक्रम से रहित लोगों की जीविका है-ऐसा बृहस्पति कहते हैं ।। प्र.च. २।२६।।

नैषध चरित के प्रणेता **श्री हर्ष (१२ वीं शती ई.)** कन्नौज के राजा जयचन्द के दरबारी महामनीषी एवं प्रतिष्ठित कवि थे। उन्होंने वृहस्पति की उक्ति के माध्यम से चार्वाक मत का विस्तृत विवेचन अपने महाकाव्य के सत्रहवें सर्ग में किया है-

ग्रावोन्मज्जनवद् यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः कामाध्वा यत्खिलीकृतः।।

हे बुद्धिमानों ! श्रुतियों का प्रतिपादन है कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ कर्ता को स्वर्गादि फल देते हैं। इन यज्ञफलप्रतिपादक श्रुतियों की प्रामाणिकता में उतनी ही यथार्थता है, जितनी इस वाक्य में कि ग्रावा अर्थात् पत्थर जल के ऊपर तैरते हैं। परन्तु इस पाषाणतरण में प्रत्यक्षप्रमाण का नितान्त अभाव है। इसी प्रकार यज्ञ का फल मिलता है-यह किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया, इस कारण जिसकी सत्यता में प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव हो और जो काम का मार्ग अवरुद्ध कर दे उस भ्रामक तथा अप्रामाणिक श्रुतिसत्यता में क्यों विश्वास किया जाय?

केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम्।।

यज्ञविधायक वेद के प्रकृत रहस्य को प्रकट करने के लिये कोई तत्त्वज्ञानी बोधिसत्त्व उत्पन्न हो चुका है, जिसने सत्त्व हेतु के द्वारा जगत् को अनित्य या क्षणिक घोषित किया है। बौद्धसिद्धान्त के अनुसार जो 'सत्' (विद्यमान) है वह अनित्य है। अतएव यह दृश्यमान जगत् भी अनित्य है और जगत् के ही अन्तर्गत होने के कारण आत्मा भी अनित्य है। इस परिस्थिति में जिस आत्मा ने पाप या पुण्य किया वह भी क्षणमात्र के पश्चात् नष्ट हो गया। अतएव आत्मा पाप-पुण्य का फलभोक्ता कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार कालान्तर में आचरित पाप-पुण्य का फल आत्मा भोगता है-ऐसा प्रतिपादन करने वाली श्रुति भी अप्रमाणिक सिद्ध हो जाती है। इस कारण पाप से डर कर पारलौकिक सुख पाने की आशा से हस्तगत ऐहलौकिक सुख का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका।।

वृहस्पति की उक्ति है-१. प्रातःसायं काल में हवन, २. तीनों वेदों का आचारपालन, ३. तान्त्रिक अनुष्ठान, ४. दण्डयुक्त संन्यासधारण और ५. ललाट में भस्म धारण-ये पाँच कर्म बुद्धिपुरुषार्थहीन व्यक्तियों के जीविकायापन के उपाय मात्र हैं।

शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः।
तदानन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का।।

क्योंकि अपने माता-पिता के माता-पिता (= मातामही-मातामह तथा पितामही-पितामह) और फिर उनके माता-पिता (= प्रमातामही-प्रमातामह तथा प्रपितामही-प्रपितामह) इस प्रकार ब्रह्मा (= आदि सृष्टिकर्ता) पर्यन्त प्रत्येक की शुद्धि से उभय कुल की शुद्धि होती है। इसलिये प्रत्येक जाति का कुल अनन्त है तो कौन-सी जाति निर्दोष कही जा सकती है ? अर्थात् जाति धर्म छोड़कर स्वेच्छाचार करना चाहिये। कोई भी जाति शुद्ध और पवित्र नहीं है।

कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः सङ्क्रान्तपातकः।
नाश्नाति स्नाति हा मोहात्कामक्षामव्रतं जगत्।।

कामिनियों के संसर्ग से कौन व्यक्ति सङ्करता दोष से मुक्त कहा जा सकता है। यह खेद का विषय है कि अज्ञान के कारण लोग व्रतउपवास, तीर्थस्नान आदि कर्म करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् काम के जाल में बँधा है-कोई भी कामाचार से मुक्त नहीं।

ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः।।

कामवासना स्त्री और पुरुष-दोनों में स्वभावतः समान से होती है, किन्तु पुरुष ईर्ष्याद्वेष के कारण स्त्रियों को परपुरुषदर्शन से बचाते हैं, लेकिन पुरुष जाति को स्वतन्त्रता देते हैं-ऐसे रूढ़िपालक अथवा कुलमर्यादाभिमानी ढोंगियों को धिक्कार है।

परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना।।

परस्त्री का संसर्ग नहीं करना चाहिये-इस शास्त्रीय आदेशरूप दम्भ का उल्लंघन तो स्वयं वज्रधारी देवराज इन्द्र ने किया। उन्होंने गौतम की पत्नी अहल्या के साथ परोक्ष में सम्भोग किया।

गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः।।

हे द्विजातियों ! गुरुपत्नी के सम्भोग से पाप होता है-इस दाम्भिक पापभावना का त्याग कर दो, क्योंकि तुम्हारे कुलगुरु चन्द्रमा ने स्वयं अपनी गुरुपत्नी (बृहस्पति की पत्नी) तारा के साथ सम्भोग किया।

पापात्तापा मुदः पुण्यात्परासोः स्युरिति श्रुतिः ।
वैपरीत्यं द्रुतं साक्षात् तदाख्यात बलाबले।।

श्रुति बतलाती है-मरने पर पापाचरण से मनुष्य को नरक आदि दुःख भोगना पड़ता है और पुण्याचरण से स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु प्रत्यक्ष में तो फल नितान्त विपरीत पाये जाते हैं-प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि माघ मास में प्रातःस्नानरूप पुण्यकर्ता को शीतजन्य असह्य दुःख सहन करना पड़ता है, किन्तु परदारसम्भोगरूप पाप के कर्ता को अलौकिक सुख की अनुभूति होती है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण को परोक्ष प्रमाण की अपेक्षा बलवान् मानना क्या अधिक युक्तिसङ्गत है ?

सन्देहेऽप्यन्यदेहाप्तेर्विवर्ज्यं वृजिनं यदि।
त्यजत श्रोत्रिया सत्रं हिंसादूषणसंशयात्।।

कुछ विद्वानों का मत है कि जन्मान्तर में देही को नरक आदि दुःख भोगना पड़ता है, इस कारण पाप नहीं करना चाहिये तथा कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि जिस देह से पाप किया गया वह तो मरने पर जला दिया गया तो फिर जन्मान्तर में कैसे और किस देह को दुःख भोगना पड़ेगा? यदि एक के किये पाप से दूसरा पातकी हो तो देवदत्त के भोजन कर लेने से यज्ञदत्त को तृप्त हो जाना चाहिये, परन्तु ऐसा लोक में नहीं देखा जाता। मरने के उपरान्त देहान्तरप्राप्ति की सम्भावना नहीं रहने पर भी पाप का त्याग ही उचित है। इसलिये हे वैदिक विद्वानों ! यदि हम यज्ञ में पशुओं को मारेंगे तो उससे भी हिंसा की सम्भावना हो ही जाती है, इसलिये यज्ञ का त्याग करो, क्योंकि तुम्हारे धर्मशास्त्रों का भी यही आदेश है कि अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है।

यस्त्रिवेदीविदां वन्द्यः स व्यासोऽपि जजल्प वः।
रामाया जातकामायाः प्रशस्ता हस्तधारणा।।

जो त्रिवेदज्ञाताओं के वन्दनीय तथा शिरोमणि साक्षात् व्यासदेव हैं उनका यह वचन है कि कामपीड़ित रमणियों का पाणिग्रहण अर्थात् सम्भोग परम श्रेयस्कर है । जो पुरुष काम से व्यथित स्त्री की कामजनित वासना को परितृप्त नहीं करता उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है-यह व्यास की उक्ति है।

सुकृते वः कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा।
तत्कर्म पुरुषः कुर्याद्येनान्ते सुखमेधते।।

आप लोगों को सुकृत (= पुण्याचरण) में क्या श्रद्धा है और उतनी सुरत (= मैथुन) में क्यों नहीं ? पुरुष (चतुर व्यक्ति) को वही काम करना चाहिये जिसके करने के अन्त में सुख की अनुभूति हो। रति-केलि से प्रत्यक्ष और अद्‌भुत सुख की प्राप्ति होती है, इसका अनुभव प्रायः अशेष व्यक्तियों को है।

बलात् कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि वः।
सर्वान् बलकृतान् दोषानकृतान् मनुरब्रवीत्।।

हे ब्राह्मणों ! तुम लोग बलात्कार से भी परस्त्रीगमन रूप पापकर्म करो और इन पापकर्मों का फल तुम्हें नहीं मिलेगा क्योंकि भगवान् मनु का यह वचन है कि बल से किये गये दोषों का फल (कर्त्ता को) नहीं मिलता।

स्वागमार्थेऽपि मा स्यास्मिस्तीर्थिका विचिकित्सवः।
तं तमाचरतानन्दं स्वच्छन्दं यं यमिच्छथ।।

हे गुरुपरम्परासमागत शास्त्रों में निष्णात विद्वानों ! तुम लोग अपने आश्रम अर्थात् मनुनिर्दिष्ट सिद्धान्त में भी संशयालु मत बनो और जिस-जिस आनन्द को चाहते हो, उस-उस का स्वच्छन्द भाव से उपभोग करो।

श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु क्वैकमत्यं महाधियाम्।
व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा सा नोपेक्ष्या सुखोन्मुखी।।

श्रुति और स्मृति के अर्थज्ञान में महापण्डितों के भी मत भिन्न-भिन्न हैं। अपने-अपने बुद्धिबल के अनुसार पण्डितों ने श्रुतिस्मृतियों की व्याख्या की है। हमें उनके सुख बतलाने वाले अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिये।

यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्दाहे वः किमेनसा।
क्वापि तत्किं फलं न स्यादात्मेति परसाक्षिके ।।

जिस देह में मैं (गोरा, काला, मोटा या दुबला आदि) हूँ-ऐसी बुद्धि होती है उस (देह) के जलाने में तुम को पाप की भावना क्यों ? परप्रमाण या शब्द प्रमाण से यदि आत्मा को पापकर्म का फलभोक्ता मान लिया जाय तो भी सर्वशरीरगत आत्मा की एकता के कारण देवदत्त के द्वारा किये गये पाप का फल यज्ञदत्त को भी मिलना चाहिये और यदि ऐसा नहीं होता तो देहकृत पापफल का भोक्ता आत्मा क्यों होता?

मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः।
अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्तया।।

शरीरत्याग के पश्चात् (आत्मा को) पूर्व जन्म की घटना याद रहती है, पूर्वजन्मार्जित सुकर्म-कुकर्म का शुभ-अशुभ फल प्राप्त होता है तथा श्राद्धादि में ब्राह्मणादिकों को भोजन कराने से प्रेतात्मा की तृप्ति होती है, इत्यादि प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों के वचन धूर्तवचन और हेय हैं।

जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो श्रुत्यातिधूर्त्तया।।

जनसामान्य देह को ही प्रत्यक्ष आत्मा मानकर कहता है-मैं स्थूल हूँ, तुम दुबले हो, वह काला है, यह मेरी पत्नी है, वह मेरा पुत्र है इत्यादि। परन्तु तुम देह नहीं, यह अजन्मा, अजर और अमर आत्मा हो-इत्यादि प्रलापों के द्वारा श्रुति लोक से देह को अनित्य मानने को बाध्य करती हुई अन्य देह धारण कराती है-यह कैसे? ये परस्पर विरोधी दो सिद्धान्त कैसे सम्भव है?

एकं सन्दिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि।
हेतुमाहुः स्वमन्त्रादीनसङ्गानन्यथा विटाः।।

सन्तान (पुत्र) लाभ होगा या नहीं होगा-इस प्रकार की सन्दिग्ध दो विपरीत अवस्थाओं में एक (अवस्था) का होना अवश्यंभावी होता है। यदि पुत्रजन्म हुआ तो धूर्त (पुरोहितादि) लोग (दक्षिणादि के लोभ से) उसके हेतु में अपने मन्त्रानुष्ठान की कारणता बतलाते हैं और यदि पुत्र जन्म नहीं हुआ तो उसका हेतु अनुष्ठान-सामग्रियों का अभाव बतलाते हैं।

एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जतः।
कः श्रौतस्यात्मनो भीरो भारः स्याद्दुरितेन ते।।

श्रुति के अनुसार पृथक्-पृथक् शरीर तो उपाधि मात्र है और आत्मा तो सबका एक ही है-हे कायर! सम्पूर्ण विश्व के आचरित (परदार गमनादि) पाप से यदि तुम अपने को असीम नरक का दुःखभोक्ता समझते हो तो तुम्हारे एक (साधारण) पाप का मूल्य ही क्या है? श्रुति-प्रमाणित एवं विश्वाचरित पुण्य के भी फलभोक्ता तुम्हीं हो। अर्थात् एकात्मता के विचार से तुम स्वच्छन्दतापूर्वक सभी रमणियों के साथ विहार करने के अधिकारी हो।

किं ते वृन्तहृतातुष्पात् तन्मात्रे हि फलत्पदः।
न्यस्य तन्मूर्ध्नयनन्यस्य न्यास्यमेवाश्मनो यदि।।

पुष्प के डण्ठल को तोड़ने से तुम्हें क्या लाभ? क्योंकि उस डण्ठल में लगे रहने पर ही वह फलरूप में परिणत होता है । यदि पाषाणनिर्मिन देवमूर्त्तियों के मस्तक पर ही चढ़ाना अभिप्रेत हो तो (देवता तथा अपने में अभेद बुद्धि रखकर) अपने ही मस्तक पर धारण करो (क्योंकि श्रौतमत से ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता है।)

तृणानीव घृणावादान् विधूनय वधूरनु।
तवापि तादृशस्यैव का चिरं जनवञ्चना।।

हे पुरुष! स्त्री जाति के प्रति घृणात्मक निन्दावचनों का तृणों के समान त्याग करो, क्योंकि तुम्हारा शरीर भी उसी प्रकार मांस-मज्जा के समूह से निर्मित हुआ है। तो स्त्रियों को निन्दित बतला कर तुम घोर लोकप्रवञ्चना क्यों करते हो? जो स्वयं व्यभिचारी है उसे व्यभिचारिणी की निन्दा करने का स्वभावतः कोई अधिकार नहीं हैं।

कुरुध्वं कामदेवाज्ञां ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम्।
वेदोऽपि देवकीयाज्ञा तत्राज्ञाः काधिकार्हणा।।

हे मूर्खो! (ब्रह्मा ने अपनी तनया से और सुरपति ने गौतम की पत्नी अहल्या से सम्भोग किया) ब्रह्मा आदि देवताओं ने भी जिस कामदेव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया उस ब्रह्मा आदि देवताओं से अनुलङ्घित अर्थात् पालित कामदेव की आज्ञा का पालन करो (यदि कहो कि वेद का उल्लंघन कर कामवासना को क्यों पूर्ण करें तो इसका समधान यह है कि-) वेद भी देवता की आज्ञा है तथा परस्त्रीगमन भी देवता की आज्ञा ही है तो एक आज्ञा में अधिक आस्था क्यों? दोनों तो देवता की ही आज्ञायें हैं। यदि दोनों समानमूल्य की हैं तो फिर एक को पुरस्कार और अन्य को तिरस्कार क्यों?

प्रलापमपि वेदस्य भागं मन्यध्व एव चेत्।
केनाभाग्येन दुःखात्र विधीनपि तथेच्छथ।।

तुम मीमांसकों के मत में वेद एक अपौरुषेय और अनादि ग्रन्थ है, किन्तु उस वेद के किसी (अर्थवादमन्त्र नामक) भाग को प्रलाप मानते हो तो किस अभाग्य से कष्टकारक दूसरी विधि (अग्निष्टोमादि यज्ञविधानप्रतिपादक भाग) को प्रलाप नहीं मानते? जब तुम एक भाग को निरर्थक समझते हो तो 'अर्धजरतीय' न्याय के अनुसार दोनों भागों को प्रलाप समझते हुए क्यों नहीं छोड़ देते?

श्रुतिं श्रद्धत्थ विक्षिप्ताः प्रक्षिप्तां ब्रूथ च स्वयम्।
मीमांसामांसलप्रज्ञास्तां यूपद्विपदापिनीम्।।

वेदार्थ के विचार में स्थूल बुद्धि होने के कारण तुम श्रुति का आदर तो करते हो और साथ ही साथ विक्षिप्तचित्त होकर श्रुति के उन भागों को जहाँ प्रत्येक यज्ञस्तम्भ में हाथी बाँधकर ऋत्विजों के लिए दान देने का विधान है, प्रक्षिप्त कहते हो। ये दो परस्पर विरोधी निर्णय कैसे हो सकते हैं?

को हि वेदास्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुतिः।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम्।।

कौन जानता है कि उस परलोक में जीवात्मा जाता है यह श्रुति की भी सन्देहात्मक उक्ति है। जिसके अस्तित्व-नास्तित्व में श्रुति परलोक की सत्ता में सन्देह प्रकट करती है, उस श्रुति के ही प्रमाण से कौन प्रेक्षावान् व्यक्ति उस परलोक की सत्ता पर विश्वास करे?

धर्माधर्मौ मनुर्जल्पन्नशक्यार्जनवर्जनौ।
व्याजान्मण्डलदण्डार्थी श्रद्दधायि मुधा बुधैः।।

मनु ने अत्यन्त क्लेशसाध्य चान्द्रायण आदि व्रतों के नियम पालन को धर्म तथा अपालन को अधर्म कहा है और उस अनायास अधर्मजनित पाप से मुक्ति पाने के लिये सर्वसाधारण में प्रायश्चित्त आदि की जो व्यवस्था की है उस व्यवस्था का उद्देश्य धनलाभ ही हो सकता है। चतुर मनुष्यों के लिये मनुस्मृति के विधि-निषेधों का तिरस्कार करना ही श्रेयस्कर है। अपने को बुद्धिमान् समझने वाले व्यर्थ ही उसमें श्रद्धा रखते हैं।

व्यासस्यैव गिरा तस्मिन् श्रद्धेत्यद्धास्थ तान्त्रिकाः।
मत्स्यस्याप्युपदेश्यान् वः को मत्स्यानपि भाषताम्।।

पुराणों के रचयिता व्यास स्वयं मत्स्यगन्धा के जारज पुत्र थे और अपनी भ्रातृपत्नियों से सम्भोग किया था। उस व्यास के ही वचन से धर्म में, परलोक में या उस (व्यास) में ही श्रद्धालु तुम क्या यथार्थतः चतुर हो? व्यासरचित मत्स्यपुराण मत्स्यरूपधारी विष्णु का मनु के प्रति उपदेश मात्र है-यह विषय अत्यन्त उपहासास्पद है, क्योंकि मत्स्यजाति स्वयं निकृष्ट है और तुम्हारे आदिप्रवर्तक मनु को शिष्य मान कर उसी निकृष्ट मत्स्य ने शिक्षक बन कर उपदेश दिया था। शिक्षक की अपेक्षा शिष्य हीनतर होता ही है तो मनु से उत्पन्न तुम मनुष्यों को मत्स्यसम्बोधन से भी कौन अभिहित करे? व्यासरचित पुराण का अनुयायी होने के कारण तुम मत्स्य से भी नीचतर हो।

पण्डितः पाण्डवानां स व्यासश्चादुपटुः कविः।
निनिन्द तेषु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्न किम्।।

पाण्डवों के पक्ष में रहने वाले सभापण्डित, मधुरभाषी, कवित्वशक्तिसम्पन्न और आप लोगों के श्रद्धेय व्यास ने पाण्डवों के दुर्योधनादि की निन्दा करने पर क्या निन्दा नहीं की? या चाटुकार पाण्डवों के कृष्णादि की प्रशंसा करने पर प्रशंसा नहीं की? अर्थात् व्यास ने पाण्डवों का जैसा सङ्केत पाया वैसा ही किया।

न भ्रातुः किल देव्यां स व्यासः कामात्समासजत्।
दासीरतस्तदासीद् यन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम्।।

क्या उस व्यास ने अपने भाई (विचित्रवीर्य) की पत्नियों के साथ कामातुर होकर रतिक्रिया नहीं की थी? यदि आप कहें की पुत्रोत्पत्ति के लिये धर्मशास्त्रानुमोदित भ्रातृपत्नियों से सङ्गम के लिये माता का आदेश था तो उसी समय व्यास ने दासी के साथ सङ्गम किया था। उस कार्य के लिये तो माता का आदेश नहीं था।

देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषां तदादृतौ।
गां नतैः किं न तैर्व्यक्तं ततोप्यात्माऽधरीकृतः।।

तुम्हारे ब्रह्मा आदि देवताओं ने और याज्ञवल्क्य आदि द्विजों ने जिन ग्रन्थों की रचना की उन्हीं ग्रन्थों के कारण उनका लोक में आदर है। उनके आदेश से पशुरूप गौ के प्रति प्रणत रहने वाले तुम लोगों ने स्पष्ट ही पशु जाति से भी अपने को नीचतर प्रमाणित कर दिया, क्योंकि नमस्कार्य की अपेक्षा नमस्कर्त्ता हीनतर होता है।

साधुकामुकतामुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः।
सारङ्गलोचनासारां दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः।।

यजमान विषयवासनाओं से पराङ्मुखचित्त होकर यज्ञ करने के उपरान्त स्वर्गगामी होते हैं, परन्तु स्वर्ग में जाने पर भी कामना से मुक्ति नहीं पाते, क्योंकि वहाँ भी उन्हें (तिलोत्तमादि) अप्सराओं को प्राप्त करने की कामना बनी रहती है। वस्तुतः स्वर्ग में भी कामुकता से मुक्ति नहीं होती।

कः शमः क्रियतां प्राज्ञाः प्रियाप्रीतौ परिश्रमः।
भस्मीभूतभूतस्य पुनरागमनं कुतः।।

हे प्राज्ञो (प्र + अज्ञो = प्राज्ञो अर्थात्) महामूर्खों! इन्द्रियों के निग्रह से कहीं भी शान्ति नहीं, इसलिए अपनी प्रेमिका रमणी के सुखकर सम्भोग में लगे रहो। यदि कहो कि ऐसा करने से नरकादि की प्राप्ति होती है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा है ही नहीं। अतः देह के भस्म हो जाने पर फिर किसे नरकादि का भोग होगा।

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतम्।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि।।

शब्दशास्त्र के मत से 'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र का अर्थ होता है-फलप्राप्तिबोध होने से काल और मार्गवाचक शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है, परन्तु दार्शनिक मत से 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र के प्रणेता पाणिनि मुनि का भी मत है कि ब्रह्मचर्यादि पालन के द्वारा मोक्षादि पारलौकिक साधन में तो तृतीयाप्रकृति अर्थात् क्लीबों को यत्न करना चाहिये उभयीप्रकृति अर्थात् स्त्री पुरुषों को तो कामभोग में अधिकार है।

बिभ्रत्युपरियानाय जना जनितमज्जनाः।
विग्रहायाग्रतः पश्चाद् गत्वरोरभ्रविभ्रमम्।।

स्वर्ग का अस्तित्व ऊपर मानकर स्वर्ग को जाने के उद्‌देश्य से लोग गङ्गादि नदियों में नीचे उतर कर स्नान करने के लिये उत्तरोत्तर और अधिक निम्नमुख होकर डुबकी लगाते हैं। यह उस गमनशील भेड़े की चेष्टा के समान है जो युद्ध करने के लिये आगे से कुछ पीछे की ओर हट जाता है। गङ्गा स्नानादि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह भ्रान्तिमात्र है।

एनसानेन तिर्यक्स्यादित्यादिः का बिभीषिका।
राजिलोऽपि हि राजेव स्वैः सुखी सुखहेतुभिः।।

अमुक पापाचरण से तिर्यक् कीट, पतङ्ग तथा सर्प आदि घृणित योनियों में जन्म लेना पड़ता हैं-ऐसा निरर्थक भय प्रदर्शन क्यों? क्योंकि तिर्यग्योनियों में भी ऐसी ही समाजव्यवस्था है-वहाँ भी राजिल (जल-व्याल) जो तिर्यग्योनियों में हीन है, अपने सुख-साधनों से राजा के समान सुखी रहता है। इस कारण यथेच्छाचार ही श्रेयस्कर है।

हताश्चेद्दिवि दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे।
तत्रापि तेन युध्यन्तां हता अपि तथैव ते।।

तुम्हारे मत से संग्रामभूमि में मारे गये वीर पुरुष यदि स्वर्ग में अमर होकर क्रीड़ा करते हैं तो दैत्यारि विष्णु के द्वारा रण में मारे गये हिरण्यकशिपु प्रभृति दैत्य उनके साथ वहाँ (स्वर्ग में) भी युद्ध करें, क्योंकि (तुम्हारे मत से) स्वर्ग में मारे जाने पर भी वहाँ अमरत्व की ही अवस्था में रहेंगे।

त्वं च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्।
इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदग्धी वेदवादिनाम्।।

संसार में जीवात्मा और ब्रह्म-इन दोनों का अस्तित्व रहता है, परन्तु वेदान्तियों के मत से मोक्ष हो जाने पर केवल ब्रह्म शेष रह जाता है। इस प्रकार स्व (आत्मा) की नाश उच्छित्ति अर्थात् मोक्ष-प्रतिपादक वेदान्तियों की अतिचातुरी ही हैं।

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।।

जिसने चैतन्ययुक्त प्राणियों के पाषाणवत् जड़ हो जाने को ही अपने न्यायदर्शनशास्त्र में मुक्ति बतलाई, उस गोतम ऋषि (मुनि) को शब्दशास्त्रीय व्युत्पत्ति से जैसा जानते हो वह वैसा ही निकृष्ट पशु है भी। गोतमशब्द की व्युत्पत्ति (गो = पशु + तम = गोतम) पशुओं में भी पशु अर्थात् महापशु है।

दारा हरिहरादीनां तन्मग्नमनसो भृशम्।
किं न मुक्ताः कुतः सन्ति कारागारे मनोभुवः।।

विष्णु और महादेव आदि की लक्ष्मी और पार्वती आदि पत्नियों का मन तो निरन्तर उन्हीं (विष्णु और महादेव) में संलग्न रहता है, तो फिर वे क्यों नहीं मुक्त हो गईं? वे कामदेव के बन्धन में क्यों पड़ी रहती हैं?

देवश्चेदस्ति सर्वज्ञः करुणाभागवन्ध्यवाक्।
तत्किं वाग्व्ययमात्रान्नः कृतार्थयति नार्थिनः।।

यदि ईश्वर सर्वज्ञ और दयालु है और उसकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं होती तो हमारे माँगने पर वह हमें क्यों नहीं कृतार्थ कर देता? इतने विशेषणों से युक्त होने पर भी यदि हमारे मनोरथों को वह पूर्ण नहीं करता तो वास्तव में उसकी सत्ता नहीं है।

भाविनां भावयन् दुःखं स्वकर्मजमपीश्वरः।
स्यादकारणवैरी नः कारणादपरे परे।।

हमारे पूर्वकृत कर्म (पाप) के फल (दुःख) का विधायक ईश्वर अकारण ही वैरी ठहरता है। अन्य संसारी लोग तो धनादि के अपहरण करने के हेतु सकारण वैरी बनते हैं। कर्म की ही प्रधानता रहने से ईश्वर की अपेक्षा निष्प्रयोजन ही रह जाती है।

तर्काप्रतिष्ठया साम्यादन्योऽन्यस्य व्यतिघ्नताम्।
नाप्रामाण्यं मतानां स्यात् केषां सत्प्रतिपक्षवत्।।

तर्क की प्रतिष्ठा-सीमा नहीं रहने के कारण समानरूप से परस्पर विरोधी मतों में किसकी प्रमाणिकता स्वीकृत नहीं की जाए?

अक्रोधं शिक्षयन्त्यन्यैः क्रोधना ये तपोधनाः।
निर्धनास्ते धनायैव धातुवादोपदेशिनः।।

जो तपस्वी (दुर्वासा आदि) स्वयं तो क्रोध की मूर्त्ति हैं, परन्तु दूसरों को क्रोध न करने का उपदेश देते हैं। उनका यह व्यापार वैसा ही है जैसे कोई निर्धन न पाने के लिए धातुवाद विद्या का उपदेश करता है।

किं वित्तं दत्त तुष्टेयमदातरि हरिप्रिया ।
दत्त्वा सर्वं धनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान् बलिः।।

हे मनुष्यों! क्यों धन-दान करते हो? क्योंकि हरिप्रिया अर्थात् लक्ष्मी अदानी अर्थात् कृपण के ऊपर ही प्रसन्न रहती है। मूर्ख राजा बलि ने अपने सारी सम्पत्ति दान कर दी फिर भी उन्हें बन्धन में ही आना पड़ा।

दोग्धा द्रोग्धा च सर्वोऽयं धनिनश्चेतसा जनः।
विसृज्य लोभसङ्क्षोभमेकद्वा यद्युदासते।।

संसार में सब लोग धनिकों के धन हड़पने में लगे रहते हैं और मन में उनके साथ द्रोह-भाव रखते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति गिने-गिनाये एक-ही दो मिलेंगे, जिन्हें अन्य की सम्पत्ति ग्रहण से उपरति हो।

दैन्यस्यायुष्यमस्तैन्यमभक्ष्यं कुक्षिवञ्चना।
स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्दकन्दलीकन्दमेककम्।।

चोरी न करना अपनी दीनता को बढ़ाना है, स्वादिष्ट भोजन को अभक्ष्य बतलाना अपने उदर को वञ्चित करना है (इसलिए शास्त्रीय निषेधों को त्याग कर) सकल सुखों के एकमात्र मूल स्वेच्छाचारिता को भजो।

(नै.च. १७।३७-८३)

सायण माधव (१४ वीं शती ई.) रचित 'सर्वदर्शनसंग्रह' के प्रारम्भ में ही चार्वाक दर्शन वर्णित है। उन्होंने सम्पूर्ण चार्वाक दर्शन को क्रमबद्ध कर प्रस्तुत किया है-

अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमिधीयते। बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरोत्सारितत्वात्। दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्-

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

इति लोकगाथामनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थौ मन्यमानाः पारलौकिकमर्थपह्नुवानाश्चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते । अत एवास्य चार्वाकमतस्य लोकायतमित्यन्वर्थमपरं नामधेयम् ।

यह कैसे कहा जा सकता है कि परमेश्वर मोक्षप्रदाता है? बृहस्पति-मतानुयायी नास्तिकशिरोमणि चार्वाक ने तो (परमेश्वर की सत्ता को) दूर ही फेंक दिया है। चार्वाक का सिद्धान्त तो सर्वथा अकाट्य है। प्रायः सभी प्राणी-

'जब तब जीना है, सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहिये, क्योंकि मृत्यु किसी को छोड़ेगी नहीं। मृत्यु के उपरान्त शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर पुनः संसार में कहाँ आना होता है।'

इस लोकोक्ति पर विश्वास करते तथा नीति और कामशास्त्र के अनुसार अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ मानते हुए पारलौकिक सुख को तिरस्कृत कर चार्वाकमत के ही (व्यवहारतः) अनुयायी ज्ञात होते हैं । अतएव चार्वाकमत का दूसरा नाम लोकायत (= जगद् में- व्याप्त) है और वह यथार्थ ही है।

तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति । तदाहुः-विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति (बृ. उ. २।४।१२) इति। तच्चैतन्यविशिष्टो देह एवात्मा। देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितयानुमानादेरनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात् । अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न चास्य दुःखसम्भिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्तीति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा मत्स्यार्थी सशल्कान्सकण्टकान्मत्स्यानुपादत्ते स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद् दुःखभयान्नानुकूलवेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम्। न हि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते। न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। यदि कश्चिद् भीरुदृष्टं सुखं त्यजेत्तर्हि स पशुवन् मूर्खो भवेत्। तदुक्तम्-

उनके मत से पृथिवी आदि चार महाभूत ही तत्त्व हैं। देहरूप में परिणत हो जाने पर इन्हीं (तत्त्वों) से चैतन्य उस प्रकार उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार मादक द्रव्यों से मादक शक्ति। इनके विनष्ट हो जाने पर (चैतन्य) स्वयं विनष्ट हो जाता है। यही वचन बृहदारण्यक में हैं-विज्ञान के रूप में ही इन तत्त्वों से निकल कर (आत्मा) इन्हीं में विलीन हो जाता है, मरने पर कोई ज्ञान नहीं रहता।' अतः चैतन्ययुक्त देह ही आत्मा है, क्योंकि देह के अतिरिक्त अन्य आत्मा के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं। चार्वाक लोग केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, अनुमान आदि प्रमाणों की अमान्यता के कारण उनकी प्रमाणिकता

नहीं है। स्त्री आदि का आलिङ्गनादिजनित सुख ही पुरुषार्थ है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि दुःख से सम्मिश्रित होने के कारण (सुख) पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि सुख के साथ अनिवार्य रूप से सम्मिश्रित दुःख को हटाकर केवल सुख का ही उपभोग करना चाहिये। जैसे मछलियों का इच्छुक व्यक्ति छिलकों और काँटों के साथ ही मछलियों को पकड़ता है, उसे जितनी आवश्यकता होती है उतना (अंश) लेकर अलग हो जाता है, और जिस प्रकार धान्यार्थी पुआल के साथ धान्यों को (खेत) में से ले आता है, उसे जितनी आवश्यकता होती है उतना (अंश) लेकर अलग हो जाता है। अतएव दुःख के भय से (इच्छा के) अनुकूल लगने वाले सुख को त्यागना उचित नहीं है। ऐसा तो (व्यवहार में) नहीं देखा जाता कि मृग हैं, इस भय से धान नहीं रोपे जाते तथा भिक्षु हैं, इस भय से पात्र (चूल्हे पर) नहीं चढ़ाये जाते। यदि कोई भीरु दृष्ट सुख का त्याग कर देता है तो वह पशु के समान मूर्ख है । कामसूत्र में कहा भी है-

त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी।।

(२।४८)

यह मूर्खों की धारणा है कि मनुष्यों को सुख का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि उसकी उत्पत्ति विषयसङ्गम से होती है और वह दुःखों से युक्त है। भला, आत्महितैषी कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो श्वेत और सर्वोत्कृट चावलों को भूसी के कणों से मिले होने के कारण त्यागना चाहेगा?

ननु पारलौकिकसुखाभावे बहुवित्तव्ययशरीरायाससाध्येऽग्निहोत्रादौ विद्यावृद्धाः कथं प्रवर्तिष्यन्त इति चेत्तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे। अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषैर्दूषिततया वैदिकम्मन्यैरेव धूर्तवकैः परस्परं कर्मकाण्डप्रामाण्यवादिभिर्ज्ञानकाण्डस्य ज्ञानकाण्डप्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च प्रतिक्षिप्तत्वेन त्रय्या धूर्तप्रलापमात्रत्वेनाग्निहोत्रादेर्जीविकामात्रप्रयोजनत्वात्। तथा चाभाणकः-

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।

यदि (कोई पूछे कि)-पारलौकिक सुख (का अस्तित्व) नहीं हैं, तो विद्वान् लोग अग्निहोत्रादि (यज्ञों) में क्यों प्रवृत्त होते हैं, जब कि उनमें अपार धन का व्यय और शारीरिक श्रम भी लगता है?-यह (तर्क) भी प्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का

प्रयोजन जीविका के लिये है, तीनों (वेद) धूर्तों के प्रलापमात्र हैं, क्योंकि अपने को वेदज्ञ समझने वाले धूर्तवकों ने परस्पर में ही (वेद को) अनृत, व्याघात और पुनरुक्त आदि दोषों से दूषित किया है। उदाहरण के लिये यथा-कर्मकाण्ड के प्रामाण्य को मानने वालों ने ज्ञानकाण्ड को और ज्ञानकाण्ड के प्रामाण्य को मानने वालों ने कर्मकाण्ड को दोषयुक्त बतलाया है। लोकोक्ति भी है-

बृहस्पति का कथन है कि-अग्निहोत्र, त्रिवेद, त्रिदण्ड धारण और भस्मलेप-ये सभी वस्तुयें बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन लोगों की जीविका है।

अत एव कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहोच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादे च स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहमित्यादि सामानाधिकरण्योपपत्तिः। मम शरीरमिति व्यवहारो राहोः शिर इत्यादि- वदौपचारिकः। तदेतत्सर्वं समग्राहि-

अत एव काँटे इत्यादि से उत्पन्न दुःख ही नरक है, संसार में सम्मानित राजा ही परमेश्वर है। देह का नाश ही मोक्ष है। देह को ही आत्मा मानने पर 'मैं मोटा हूँ, दुबला हूँ, काला हूँ,' इत्यादि वाक्यों से दोनों का सामानाधिकरण्य होना भी सिद्ध हो जाता है। 'मेरा शरीर' यह प्रयोग 'राहु का शिर' के समान आलङ्कारिक है। इनका संग्रह इस प्रकार हुआ है-

अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते ।।१।।
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ।।२।।
अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।। ३।।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः।। ४।।
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी।। ५।।

स्त्रियों के आलिङ्गन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है। कण्टक से उत्पन्न दुःख ही नरक है। संसार में सम्मानित राजा ही परमेश्वर है, कोई अन्य नहीं। देह का नाश ही मुक्ति है, ज्ञान से मुक्ति नहीं होती । यहाँ भूमि, जल, अग्नि और वायु-ये ही चार तत्त्व हैं और इन्हीं (तत्त्वों) से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार मादक द्रव्यों के मिलने से मादकता (स्वयं) आ जाती है। 'मैं स्थूल हूँ, दुर्बल हूँ'-इस प्रकार समानाधिकार होने के कारण तथा 'स्थूलता', 'दुर्बलता' आदि से सम्भोग होने के कारण देह ही आत्मा है, कोई अन्य नहीं। 'मेरा शरीर' यह उक्ति तो केवल आलङ्कारिक है।

स्यादेतत् । स्यादेष मनोरथो यद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात्। अस्ति च प्रामाण्यम्। कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत । नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वचनश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरे प्रवृत्तिरिति । तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिङ्गं गमकमभ्युपतमनुमानप्रामाण्यवादिभिः। व्याप्तिश्चोभयविधोपाधिविधुरः सम्बन्धः। स च सत्तया चक्षुरादिवन्नाभावं भजते । किं तु ज्ञाततया। कः खलु ज्ञानोपायो भवेत्। न तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाऽभिमतम्। न प्रथमः। तस्य सम्प्रयुक्तविषयज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसम्भवेऽपि भूतभविष्यतोस्तदसम्भवेन सर्वोपसंहारवत्या व्याप्तेर्दुर्ज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरमिति मन्तव्यम् । व्यक्त्योरविनाभावाभावप्रसङ्गात् । नापि चरमः अन्तःकरणस्य बहिरिन्द्र यतन्त्रत्वेन बाह्येऽथ स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदुक्तम्-

अस्तु, यही सही । आपका यह मनोरथ तो तब पूर्ण होता, जब अनुमान आदि प्रमाण नहीं होते। यदि वे प्रमाण नहीं हैं तो धूम देखकर बुद्धिमान् लोगों की अग्नि के प्रति कैसे प्रवृत्ति होती है? नदी के किनारे फल के होने की बात सुनकर ही फलार्थी नदी की ओर कैसे चल पड़ते हैं? उत्तर है कि यह केवल मनोराज्य की कल्पना मात्र है । अनुमान को प्रमाणवादी सम्बन्ध बतलाने वाले लिङ्ग उसे मानते हैं, जो व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त रहता है। व्याप्ति का अर्थ है दोनों प्रकार की उपाधि (सन्दिग्ध और निश्चित) से रहित सम्बन्ध। व्याप्ति अपनी सत्ता से ही चक्षु आदि के समान (अनुमान का) अङ्ग नहीं बन सकता, किन्तु (इसके) ज्ञान से ही (अनुमान सम्भव है)। व्याप्ति के ज्ञान का कौन-सा उपाय है? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता। क्योंकि यह या तो बाह्य प्रत्यक्ष होगा या आन्तर प्रत्यक्ष। प्रथम (बाह्य प्रत्यक्ष) से (व्याप्तिज्ञान) सम्भव नहीं क्योंकि वह स्वसम्बद्ध (बाह्य) विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है, अतएव वर्तमान काल के विषय में समर्थ होता हुआ भी वह भूत और भविष्यत् के विषय में असम्भव हो जायेगा जिससे सभी वस्तुओं का निष्कर्ष निकालने वाली व्याप्ति नहीं जानी जा सकती। यह कथन भी ठीक नहीं कि सामान्य प्रमाण को देखकर व्याप्ति का ज्ञान होता है, क्योंकि तब दो व्यक्तियों के बीच अविनाभाव (व्याप्ति) का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। आन्तर प्रत्यक्ष से भी (व्याप्ति) का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। आन्तर प्रत्यक्ष से भी (व्याप्ति ज्ञान) नहीं हो सकता। अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों के अधीन है, इसलिये बाह्य विषयों में स्वतन्त्रता से उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कहा भी है-

चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः। (त.वि. २०) इति । नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः। तत्र तत्राप्येवमित्यनवस्थादौःस्थ्यप्रसङ्गात्। नापि शब्दस्तदुपायः । काणादमतानुसारेणानुमान एवान्तर्भावात्। अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गावगतिसापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात्। धूम धूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे

मन्वादिवद्विश्वासाभावाच्च। अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यार्थान्तरदर्शनेनार्थान्तरानुमित्यभावे स्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्वप्रसङ्गाच्च कैव कथा परार्थानुमानस्य । उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादिबोधकत्वेनानौपाधिकसम्बन्धबोधकत्वासम्भवात्।

मन बाह्य इन्द्रियों के अधीन है, क्योंकि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से ही उसे विषयों का ज्ञान होता है। अनुमान भी व्याप्तिज्ञान का साधन नहीं बन सकता क्योंकि उसमें भी दूसरी व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित है। इस प्रकार अनवस्था अर्थात् कभी समाप्त न होने वाला दोष होगा। शब्द भी व्याप्तिज्ञान का उपाय नहीं, क्योंकि कणाद के मत से वह अनुमान के ही अन्तर्गत है। और यदि अन्तर्गत न हो तो भी उसमें वृद्ध पुरुष के व्यवहार रूप लिङ्ग का ज्ञान तो चाहिए ही, अतएव फिर वही पूर्वकथित दोष (अनवस्था) आ जायेगा, जिसका उल्लंघन कठिन कार्य है। यदि यह कहें कि धूम और अग्नि में अविनाभाव सम्बन्ध पूर्वकाल से है तो इस बात पर वैसे ही विश्वास नहीं होगा जैसे मनु आदि ऋषियों के वचन पर। अविनाभाव सम्बन्ध को न जानने वाला पुरुष एक विषय देखकर अन्य विषय का अनुमान नहीं कर सकता, अतएव स्वार्थानुमान का प्रसङ्ग केवल नाममात्र रह जाता है-परार्थानुमान की तो बात ही क्या? उपमानादि तो (व्याप्तिज्ञान के विषय में) दूर से ही खिसक गये, क्योंकि वे संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध इत्यादि बतलाते हैं। अतएव उपाधि-रहित सम्बन्ध नहीं बतला सकते।

किञ्च उपाध्यभावोऽपि दुरवगमः। उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यप्रत्यक्षाणामभावस्याप्रत्यक्षतयानुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः। अपि च सा नाव्यापकत्वे सति साषयसमव्याप्तिरिति तल्लक्षणं कक्षीकर्तव्यम्। तदुक्तम्-

उपाधि का अभाव (व्याप्ति है, उसे) भी जानना कठिन है। उपाधियों के प्रत्यक्ष होने का नियम रखना असम्भव है। अतः प्रत्यक्ष वस्तुओं का अभाव दिखलाई पड़ने पर भी अप्रत्यक्ष वस्तुओं का अभाव दिखलाई नहीं पड़ता और वह (अभाव) अनुमानादि पर निर्भर भी है इसलिए पूर्वकथित दोष (अनवस्था) का विनाश नहीं होता। उपाधि का यही लक्षण मानना चाहिये कि जो हेतु में व्याप्त न हो परन्तु साषय के साथ जिसकी समान व्याप्ति हो। कहा भी है-

अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः।
शब्देऽनित्ये साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रवतां च।।
व्यावर्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि।
तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्यैश्च।।

जो साधन को व्याप्त न करे, किन्तु साषय के समान व्याप्तिमान् हो वही उपाधि है। जब शब्द को अनित्य सिद्ध किया जातः है, तब इसे हटाने के लिये क्रमशः ये तीन विशेषण

लगाये जाते हैं-कर्ता का होना, घट का होना और श्रवण योग्य न होना। अतएव यह लक्षण निर्दोष है तथा आचार्यों ने समासमा इत्यादि के द्वारा इसे कहा भी है।

तत्र विधिविषयाध्यवसायपूर्वकत्वान्निषेधाध्यवसायस्योपाधिज्ञाने जाते तद्भाव-विशिष्टसम्बन्धरूपव्याप्तिज्ञानं व्याप्तिज्ञानाधीनं चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रय-वज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः। धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते। क्वचित्फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधादिवद्यादृच्छिकः। अतस्तत्साध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति। नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्-न तद् भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्-

जब विधि का निश्चय होने पर निषेध का निश्चय होता है और उसके पश्चात् उपाधि का ज्ञान होता है, तब व्याप्ति का ज्ञान भी (उपाधि ज्ञान के) अभाव से होने वाले सम्वन्ध के द्वारा ही होता है। व्याप्ति का ज्ञान भी व्याप्तिज्ञान के अधीन है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष, जो वज्रप्रहार की तरह है, वज्रलेप सा दृढ़ हो जाता है। इसलिए अविनाभाव का ज्ञान न होने के कारण अनुमानादि का यहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। धूमादि के ज्ञान के पश्चात् जो अग्नि आदि का ज्ञान होता है, उसके मूल में या तो प्रत्यक्ष है या भ्रान्ति। कभी-कभी जो फल मिल जाता है, वह मणिस्पर्श, मन्त्र-प्रयोग, औषधि आदि के समान आकस्मिक है। इसलिए अनुमानादि से सिद्ध होने वाला अदृष्ट आदि भी नहीं है। यदि कोई शङ्का करे कि अदृष्ट नहीं मानने पर संसार की विचित्रता आकस्मिक हो जायगी तो यह बात नहीं, क्योंकि वह स्वभाव से ही वैसी है। कहा भी है-

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।।

अग्नि उष्ण जल शीतल तथा वायु समान स्पर्शवान् है-यह किसने रचा? सब कुछ स्वभाव से ही व्यवस्थित है।

तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाप्युक्तम्-

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।। १।।
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता।।२।।
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते।। ३।।

यह सब बृहस्पति ने भी कहा है-

न कहीं स्वर्ग है और न कोई मोक्ष, न कोई विशिष्ट आत्मा है और न परलोक, न कोई वर्णाश्रम धर्म है और न कर्मकाण्ड या जप-योगादि फलप्राप्ति के लिये ही है। प्रातः और सायङ्काल में हवन, तीनों वेदों का आचार-पालन दण्डयुक्त संन्यास धारण और ललाट में भस्म धारण-ये कर्म बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन व्यक्तियों के जीविका-यापन के लिए विधाता द्वारा बनाये गये हैं । यदि श्रौतनियम से ज्योतिष्टोम यज्ञ में हिंसित पशु भी स्वर्ग चला जा सकता है तो यज्ञकर्ता यजमान स्वयं अपने पिता की हिंसा क्यों नहीं कर देता, क्योंकि ऐसा करने से अनायास ही पिता को स्वर्ग प्राप्त हो जायेगा।

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्।। ४।।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता।।५।।
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते।। ६।।

ऐहलौकिक श्राद्ध से यदि मृत प्राणियों की तृप्ति-पुष्टि होती (यद्यपि ऐसा नहीं होता) तो बुझे हुए प्रदीप की प्रकाशशिखा को तेल बढ़ाता रहता, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । घर पर रहने वाले आत्मीय जनों के द्वारा किए गए श्राद्ध से स्वर्गपथिक को यदि स्वर्गपथ में तृप्ति-पुष्टि होती तो घर से यात्रा करने वाले व्यक्तियों को पथ के लिए भोजन देना व्यर्थ हो जाता। घर पर ही उनके नाम से किसी बुभुक्षु को भोजन करा दिया जाता और उसी से उन यात्रियों को मार्ग में तृप्ति हो जाती। यदि इस लोक में दान करने से स्वर्गस्थित प्राणियों को तृप्ति हो सकती तो अट्टालिका के उपरी भाग पर रहने वाले व्यक्तियों को निम्न भाग में दिये गये भोजनादि से तृप्ति-पुष्टि होती, किन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। ७।।
यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।। ८।।
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्।। ९।।

यथार्थ में देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है तथा देह का नाश भी अवश्यम्भावी है तो तपश्चार्या आदि से देह को कष्ट देना भी निरर्थक ही है। पुण्य-पाप

कर्मों के लिए सचमुच कोई फलविधान नहीं, अतएव स्वेच्छाचारिता- पूर्वक सुखमय जीवन-यापन ही श्रेयस्कर है। ऋण लेकर उत्तमोत्तम भोजन नहीं करना भी मूर्खता है। यदि ऋण नहीं भी चुकाया जाए तो भी किसी प्रकार की हानि नहीं, क्योंकि मृत्यु के उपरान्त दग्ध होने वाला देह पुनः आने वाला नहीं, तो फिर किये गए सुकर्म-कुकर्म का सुख-दुःखात्मक फलभोक्ता कोई नहीं रह जाता है। आत्मा यदि देह से निकल कर (आस्तिकों के मत से) परलोक में चला वेदविरोधी या नास्तिक जितने भी मत है वे सब के सब चार्वाक दर्शन की सीमा में परिगणित किये जाते हैं। किन्तु भारतीय परम्परा ने बौद्ध जैन सांख्य आदि को अलग नाम देकर चार्वाक से भिन्न माना है । इसका कारण यह है कि ये दर्शन परलोक का स्वीकार करते हैं तथा किसी न किसी रूप में आत्मा को पञ्चमहाभूतों से भिन्न मानते हैं। इस प्रकार विशुद्ध चार्वाक दर्शन के रूप में केवल देहात्मवाद इन्द्रियात्मवाद प्राणात्मवाद मनश्चैतन्यवाद विज्ञानवाद स्वभाववाद सन्देहवाद उच्छेदवाद और निरीश्वरवाद को देखा जाता है। उसमें भी विशेषता यह है कि उक्त सभी वाद अपने-अपने विचारों की पुष्टि एवं प्रमाणिकता के लिये वेदों और उपनिषदों के वाक्यों को उद्धृत करते हैं।

देहात्मवादी चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानते हैं । उनका विचार है कि भूतों से निर्मित यह शरीर ही आत्मा है । 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै.उ. २।१) वाक्य से देह के पुरुषत्व अर्थात् आत्मत्व की सिद्धि होती है।

इन्द्रियात्मवादी इन्द्रियों को आत्मा मानते हैं । उनका तर्क है कि इन्द्रियों के क्षीण होने पर उनके द्वारा सम्पाद्य ज्ञान का अभाव हो जाता है । चक्षु आदि के उपहत होने पर चाक्षुष आदि ज्ञान का अभाव उनकी आत्मता में प्रमाण है ।

कुछ लोग प्राण को आत्मा मानते हैं । अन्योऽन्यतर आत्मा प्राणमयः (तै.उ. २।२) 'प्राणो हि भूतानामायुः' इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण हैं । मन को आत्मा मानने वाले चार्वाक 'अन्योऽन्यतर आत्मा मनोमयः' (तै.उ. २।३) को मनश्चैतन्यवाद में प्रमाण मानते हैं ।

'अन्योऽन्यतर आत्मा विज्ञानमयः' वचन के आधार पर कुछ चार्वाक विज्ञान को आत्मा मानने की बात करते हैं । चैतन्य या आत्मा विशिष्ट एवं निश्चित मात्रा में मिले हुए भूतों का स्वभाव है अन्य कुछ नहीं । विशिष्ट मात्रा के उच्छिन्न होने पर आत्मा का उच्छेद हो जाता है यह उच्छेदवादी चार्वाकों का मन्तव्य है । इसी धराधाम पर सन्देहवादी चार्वाक भी हैं जो नासदीय सूक्त के मन्त्र को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं-

'किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।'

तथा-

कोऽद्धा वेद कुत आगता इयं विसृष्टिः।
योऽस्याध्यक्षःपरमेव्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद।।

(ऋ.वे. १०।१२९।६-७)

इसके अतिरिक्त वे कठोपनिषत् के वाक्य-

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्..................।

(क.उ. १।१।२०)

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।

(क.उ. १।१।२१)

के आधार पर आत्मा के विषय में सन्देह करते हैं कि यह मरने के बाद रहता है या नहीं। निरीश्वरवादी कहते हैं कि राजा को छोड़कर ईश्वर नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। इस प्रकार चार्वाकमत के अनेक आयाम शास्त्रों में दृष्ट होते हैं।

चार्वाकदर्शन के मूल स्रोत-

(१)

ऐतिहासिक ग्रन्थों में रामायण का नाम सबसे पहले आता है। उसमें 'लोकायत' शब्द का प्रयोग मिलता है-

'क्वचित्र लोकायतिकान् ब्राह्मणास्तात सेवसे।'

यह राम के द्वारा भरत से पूछा गया प्रश्न है। रामायण के अनन्तर महाभारत इस मत का प्राचीन उत्स है। दुर्योधन का मित्र छद्मवेषधारी चार्वाक दुर्योधन की मृत्यु के पश्चात् युधिष्ठिर की सभा में जाकर ब्राह्मणों के समक्ष नास्तिक मत का प्रतिपादन करता हुआ निम्नलिखित श्लोक पढ़ता है-

निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः।
राजानं ब्राह्मणच्छद्म चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत्।।
तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः।
साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः।।
वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
परःसहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंवृतैः।।
स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम्।

अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम्।।
इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि।
धिग् भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै।।
किं तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसङ्क्षयम्।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम्।
ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुङ्कारैः क्रोधमूर्च्छिताः।
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम्।
पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः।
ततस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवार्षिकम्।।
वरेणच्छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत।।
द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद्वरमनुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः।।

(म.भा.शा.प. ३८।२२-२७, ३५, ३९।३-५)

(२)

कामसूत्र के प्रणेता आचार्य वात्स्यायन के निम्नलिखित सूत्रों में चार्वाक दर्शन के बीज मिलते है-

१. न धर्मांश्चरेत्।
२. एष्यत्फलत्वात्।
३. सांशयिकत्वाच्च।
४. को ह्यबालिशो हस्तगतं परहस्तगतं कुर्यात्।
५. वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्।
६. वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लौकायतिकाः।

१. अर्थात् धर्माचरण कदापि नहीं करना चाहिये।
२. क्योंकि धर्माचरण का फल भविष्य में होता है।
३. इसमें संशय है कि भविष्य में भी फल मिले।
४. कौन बुद्धिमान् पुरुष अपना हस्तगत धन दूसरे को देगा?
५. कल मोर की प्राप्ति होगी इस आशा में न रहकर आज कबूतर ले लेने में ही बुद्धिमानी है।
६. आज सद्यः मिलने वाली चाँदी की मुद्रा त्यागकर कल स्वर्ण मुद्रा मिलेगी । इस आशा में रहना मूर्खता है। भविष्य पर भरोसा क्या?

लौकायतिकों का मत है कि जिसकी प्राप्ति में सन्देह है, ऐसी अशर्फी की अपेक्षा सन्देहरहित चाँदी का रूपया ले लेना ही श्रेयस्कर है।

(२)

चार्वाक दर्शन का स्पष्ट एवं प्रशस्त स्वरूप बृहस्पतिरचित सूत्रों में मिलता है।

अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः ।। १।।

इसके पश्चात् अब हम प्रकृत तत्त्व की सम्यग्व्याख्या की ओर प्रवृत्त होते हैं।

पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि ।
तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।। २।।

पृथिवी, जल तेजस् अर्थात् अग्नि और वायु-ये चार ही तत्त्व हैं । इन चार जड़तत्त्वों अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का यथोचित मात्रा में संयोग होने पर इनकी शरीर, इन्द्रिय और विषय संज्ञा होती है ।

तेभ्यश्चैतन्यम् ।। ३।।

उन पृथिव्यादि चार भूततत्त्वों के संघात से अपने आप चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। चैतन्योत्पत्ति में किसी अतीन्द्रिय कर्ता की अपेक्षा नहीं होती।

किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्।। ४।।

जिस प्रकार मादकता के उत्पादक अन्न या वनस्पत्यादि के रसादि के योग से निर्मित मदिरा में मादकता स्वयं आ जाती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय के आनुपातिक मात्रा में संघात होते ही चैतन्य भी स्वयं उत्पन्न हो जाता है।

काम एवैकः पुरुषार्थः ।। ५।।

आस्तिकवादी सम्प्रदाय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं, परन्तु नास्तिकवादी सम्प्रदाय में एकमात्र काम अर्थात् विषयासक्ति ही पुरुषार्थ है।

अनुमानमप्रमाणम् ।। ६।।

इस सम्प्रदाय में- अनुमान आदि प्रमाणों की मान्यता नहीं है।

चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ।। ७ ।।

चेतनाशक्ति से सम्पन्न यह चातुर्भौतिक स्थूलदेह ही आत्मा है। इन्द्रियातीत किसी आत्मा आदि का अस्तित्व नहीं है।

मरणमेवापवर्गः ।। ८ ।।

मृत्यु अर्थात् इस जड़तत्त्वविनिर्मित देह का नाश ही मोक्ष है, क्योंकि निर्विकल्परूप समाधि अर्थात् उच्चतम मोक्ष की उपलब्धि होने पर सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। अतः निर्बीज समाधि एवं मुक्ति में कोई अन्तर नहीं लगता। पृथिवी गन्धवती है, परन्तु उसे स्वयं गन्ध की, जल को रस की, अग्नि को उष्णता की, वायु को स्पर्श की और आकाश को शून्यता की अनुभूति कहाँ सम्भव है। इसी प्रकार जब आत्मा सम्पूर्ण रूप से परमात्मा में एकाकारता को प्राप्त कर लेता है तब उसको आत्मतत्त्वानुभूति कहाँ रह जाती है। इसी प्रकार मरण हो जाने पर जीवात्मा नामक कोई तत्त्व अवशिष्ट नहीं रहता, उच्छेद हो जाता है। तब किस बात की अनुभूति किसको होगी?

न धर्मांश्चरेत्।। ९।।

धर्मों का आचरण निष्फल है, क्योंकि प्रत्यक्ष में धर्माचरण के सद्यः फलों की प्राप्ति कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः धर्माचरण नहीं करना चाहिये।

एष्यत्फलत्वात् ।। १०।।

इस सूत्र का सम्बन्ध पूर्व सूत्र से है। अतः धर्माचरण के निषेध के पुष्टीकरण में नास्तिक सम्प्रदाय का यह प्रतिपादन है कि विहित ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के स्वर्गसुखादि फल इस लोक में उपलब्ध नहीं होते। अनुमितिगम्य अप्रत्यक्ष भविष्यत् के ऊपर फलप्राप्ति की निर्भरता है। इस कारण से धर्माचरण निष्प्रयोजन सिद्ध होता है।

सांशयिकत्वाच्च ।। ११।।

और सम्पादित यज्ञादि कर्मों के अलौकिक होने के कारण स्वर्गादिसुख रूप फल संशय से रहित नहीं है। इस कारण से भी धर्माचरण निष्प्रयोजन सिद्ध होता है।

कोह्यबालिशो हस्तगतं परगतं कुर्यात् ।। १२।।

कौन प्रेक्षावान् पुरुष अपने हस्तगत मूल्यवान् पदार्थों या द्रव्यों को अन्य पुरुष को देना चाहेगा? किसी नीतिकार ने ऐसा ही कहा है। अर्थात् जो व्यक्ति निश्चित वस्तुओं को त्यागकर अनिश्चित की प्रतीक्षा करता है उसे निश्चित वस्तुओं से तो वञ्चित हो ही जाना है और अनिश्चित वस्तुओं की प्राप्ति भी असम्भावित ही रहती है-

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।
वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात् ।। १३।।

कल अर्थात् सन्दिग्ध भविष्यत्काल में सुन्दर मयूर की प्राप्ति की प्रतीक्षा में रहने की अपेक्षा आज अर्थात् असन्दिग्ध वर्तमान काल में उपलब्ध अल्प सुन्दर कपोत का ग्रहण कर लेना अधिक श्रेयस्कर है ।

वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापणः ।।१४।।

संशययुक्त स्वर्णमुद्रा की अपेक्षा संशयरहित रजतमुद्रा अधिक श्रेष्ठ है, अर्थात् सुवर्ण मिलने में कुछ सन्देह है परन्तु रजत मुद्रा तुरन्त मिल रही है तो इस अवस्था में बहुमूल्य किन्तु सन्दिग्ध सोने की अपेक्षा अल्पमूल्य किन्तु असन्दिग्ध रजत को ले लेने में अधिक चतुराई है।

शरीरेन्द्रियसंघात एव चेतनः क्षेत्रज्ञः ।। १५।।

चातुर्भौतिक देह तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के समुदाय ही चेतन आत्मा है वही क्षेत्रज्ञ भी है।

काम एव प्राणिनां कारणम् ।। १६।।

एकमात्र कामक्रीड़ा के अतिरिक्त अन्य कोई भी ब्रह्मा या परमेश्वर आदि प्राणियों की उत्पत्ति का कारण नहीं है।

परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः ।।१७।।

ऐसा कोई भी प्रत्यक्षवादी व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं, जो स्वयं अपनी पारलौकिक या स्वर्गीय अनुभूति का संवाद सुनावे। अतएव परलोकी व्यक्ति के अभाव के कारण परलोक का भी अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है अर्थात् परलोक नामक किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है।

इहलोकपरलोकशरीरयोर्भिन्नत्वात्।।
तद्गतयोरपि चित्तयोर्न कः सन्तानः।। १८।।

ऐहलौकिक और पारलौकिक-दोनों शरीरों में विभिन्नता होने तथा तद्गत दो चित्तों में भी सादृश्याभाव के कारण और पारस्परिक सम्बन्धाभाव से आत्मा का अस्तित्व अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है।

एतावानेव पुरुषो यावदिन्द्रियगोचरः ।।१९।।

चक्षुरादि इन्द्रियों से जितना दृष्टिगोचर है उतना ही आत्मा है अर्थात् इस जड़ शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी विशिष्ट या इन्द्रियातीत आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् ।। २०।।

नास्तिक मत में केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण की ही मान्यता है, प्रत्यक्षेतर अनुमानादि प्रमाण सर्वथा अमान्य हैं।

प्रमाणस्यागौणत्वात् तदर्थनिश्चयो दुर्लभः ।।२१।।

यदि अनुमान प्रमाण का अनिवार्य रूप से स्वीकार कर लिया जाय तो त्रिकालव्यापी विश्व के समस्त पदार्थों के अर्थ का निश्चय करना दुर्लभ हो जायेगा । अतः अनुमान प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती और अनुमान के असिद्ध हो जाने से शब्दोपमानादि समस्त प्रमाण स्वयं असिद्ध हो जाते हैं ।

कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठिताद् युक्तं जायते ।।२२।।

प्राण, अपान आदि पाँच वायुओं के द्वारा अधिष्ठित इस शरीर से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतएव ज्ञान का आधार यह शरीर ही है।

सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः ।।२३।।

बृहस्पति के सूत्र स्वयं सर्वथा अखण्ड किन्तु परमत खण्डक होते हैं।

लोकायतमेव शास्त्रम् ।। २४।।

एकमात्र लोकायतविद्या ही शास्त्र है अर्थात् नास्तिक वाङ्मय के अतिरिक्त अन्य किसी भी साहित्य का शास्त्रत्व प्रमाणित नहीं है।

प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ।।२५।।

केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य किसी प्रमाण की प्रामाणिकता नहीं है।

पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि ।।२६।।

नास्तिक परम्परा में पृथिवी, जल, अग्नि और वायु-ये चार जड़ पदार्थ ही तत्त्व के रूप में स्वीकृत किये गये हैं ।

अर्थकामौ पुरुषार्थौ।। २७।।

अर्थ अर्थात् धनोपार्जन और कामाचरण-ये दो ही पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत किये गये हैं । यहाँ धर्म और मोक्ष की मान्यता नहीं । भौतिकवादी परम्परा में धन की तो सर्वदा, सर्वथा तथा सर्वत्र उपयोगिता रहती है, क्योंकि सुखमय जीवनयापन के लिए अर्थ की ही प्रयोजनीयता है। अर्थ के अभाव में सुखमय जीवन बिताना नितान्त असम्भव है। इसी प्रकार कामाचरण में भी अर्थ की ही अपेक्षा रहती है-अर्थ के बिना सन्तोषजनक कामाचरण असम्भव ही रहता है। इसी प्रकार भोजन पान और शृङ्गार सज्जा आदि क्रिया व्यापारों में मुख्य साधन अर्थ ही है।

भूतान्येव चेतयन्ति ।।२८।।

पृथिवी आदि चार जड़ तत्त्व ही चैतन्य को उत्पन्न करते हैं।

नास्ति परलोकः ।।२९।।

इस चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूयमान लोक के अतिरिक्त अन्य किसी परलोक की सत्ता नहीं है।

मृत्युरेवापवर्गः ।।३०।।

मर जाना ही मोक्ष है। मृत्यु से भिन्न मोक्ष की कल्पना कथञ्चित् विधेय नहीं हो सकती है । द्रष्टव्य-सूत्र ८ की व्याख्या ।

दण्डनीतिरेव विद्या ।। ३१।।

बृहस्पति तथा कौटिल्य आदि प्रणीत अर्थशास्त्र से भिन्न अन्य कोई भी अध्यात्म या वेदान्त आदि शास्त्र विद्यापदवाच्य नहीं हो सकता ।

अत्रैव वार्त्तान्तर्भवति ।। ३२ ।।

वार्त्ता अर्थात् कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा आदि व्यापार भी इसी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हो जाते हैं।

धूर्त्तप्रलापस्त्रयी ।। ३३।।

ऋक्, सामन् और यजुष्-ये तीनों वेद धूर्तों के प्रलापमात्र हैं, क्योंकि वेदों में साधार के साथ-साथ निराधार वचनों का भी अभाव नहीं है। जर्फरी-तुर्फरी आदि अनेक निरर्थक वचन वेदों में मिलते हैं। ऐसे भी वचन प्रचुर मात्रा में देखे जाते हैं, जिनके द्वारा

पुरोहितवर्ग सीधे-सादे परन्तु धनिक यजमानों से अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। इससे प्रतीत होता है कि वेद स्वार्थी तथा धूर्त्त ब्राह्मणों पुरोहितों की मनगढन्त रचना है।

स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात् ।। ३४।।

धूर्त्तों के प्रलाप होने के कारण वेदत्रयी यज्ञानुष्ठान के हेतु से यज्ञकर्ता यजमान को स्वर्ग प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है । अतएव वेद की सत्ता अपौरुषेयता और नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती।

लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपीष्यत एव, यत्तु कैश्चिल्लौकिकं
मार्गमतिक्रम्यानुमानमुच्यते तत् निषिध्यते ।।३५।।

लोकसिद्ध अनुमान चार्वाकों को भी मान्य है, किन्तु जिस अनुमान के द्वारा लौकिक मार्ग का अतिक्रमण कर इन्द्रियातीत परलोक का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है, चार्वाक उसी (अनुमान) का खण्डन करते हैं।

पश्यामि शृणोमीत्यादि प्रतीत्या मरणपर्यन्तं
यावन्तीन्द्रियाणि तिष्ठन्ति तान्येवात्मा।। ३६।।

मैं देखता हूँ, सुनता हूँ इत्यादि प्रतीति के द्वारा मृत्युपर्यन्त सहायता देने वाली इन्द्रियाँ ही आत्मा है। मृत्युपर्यन्त सहायक इन्द्रियजात के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है। मृत्यु के बाद किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व नहीं रहता।

इतरेन्द्रियाद्यभावेऽसत्त्वात् मन एवात्मा।।३७।।

अन्य इन्द्रियादि के अभाव में भी मन का अस्तित्व रहता है। अतएव मन ही आत्मा के रूप में मान्य होता है।

प्राण एव आत्मा ।।३८।।

सूक्ष्मतम दृष्टिसम्पन्न लोकायतिक सम्प्रदाय क्रमशः देह, इन्दिय और मन से ऊपर उठकर प्राण को आत्मा मानता है। अतः प्राण ही आत्मा के रूप में सिद्ध होता है।

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ।।३९।।

न कहीं स्वर्ग है, न कोई मोक्ष है और न कोई परलोकगामी आत्मा ही है। ब्राह्मणादि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के धर्मपालन का भी कोई फल-विधान नहीं

है। स्वर्ग, मोक्ष, आत्मा परलोक पुनर्जन्म आदि तत्त्व काल्पनिक मात्र है। इन तत्त्वों को प्रत्यक्षतः देखने वाला कोई व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता। ये सब अदृष्ट तत्त्व भावुक मस्तिष्क की उपज हैं। कोई भी प्रेक्षावान् व्यक्ति इनके अस्तित्व में विश्वास नहीं कर सकता; जो विश्वास करता है, वह भावुक हृदयता के ही कारण।

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता।। ४०।।

प्रातः और सायङ्काल में हवन, ऋक्, सामन् और यजुष् तीनों वेदों का आचार-पालन, दण्डयुक्त संन्यास और ललाट में भस्म धारण-ये बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन पुरुषों की आजीविका के लिये विधाता ने बनाया है।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ।।४१।।

श्रौतविधि से ज्योतिष्टोम यज्ञ में हिंसित पशु यदि स्वर्ग चला जा सकता है, तो यज्ञकर्ता यजमान स्वयं अपने पिता की हिंसा क्यों नहीं कर देता? ऐसा करने से यजमान का पिता अनायास ही स्वर्ग चला जायेगा।

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धञ्चेत् तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ।।४२।।

ऐहलौकिक श्राद्ध क्रिया से यदि मृत प्राणियों की तृप्ति और पुष्टि होती तो तेल ही बुझे हुए प्रदीप की शिखा को बढ़ाता रहता, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता कि श्राद्धान्न से प्राणी की तृप्ति होती है ।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ।।४३।।

घर पर रहने वाले आत्मीय जनों के द्वारा किये गये श्राद्धकर्म से परलोकगामी या स्वर्ग-यात्री पथिक को यदि स्वर्गपथ में तृप्ति होती तो घर से यात्रा पर जाने वाले व्यक्तियों को पथ के लिये भोजन देना व्यर्थ है। घर पर ही उनके नाम से किसी बुभुक्षु को भोजन करा दिया जाता और उसी से उन यात्रियों को मार्ग में तृप्ति होती जाती तथा यात्री भोजन वहन के भार से मुक्त रहता।

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ।।४४।।

यदि इस लोक में दान करने से स्वर्गस्थित प्राणियों की तृप्ति हो सकती तो अट्टालिका के ऊपरी भाग पर रहने वाले व्यक्तियों को निम्न भाग से दिये गये भोजनादिकों से तृप्ति हो जाती, किन्तु लोकव्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। ४५।।

यथार्थ में देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है तथा देह का नाश भी अवश्यम्भावी है इस परिस्थिति में तपश्चर्या आदि से देह को कष्ट देना भी व्यर्थ है। पुण्य-पाप कमाण के यथार्थतः कोई फल विधान नहीं, अतएव स्वेच्छाचारितापूर्वक सुखमय जीवनयापन ही श्रेयस्कर है। ऋण लेकर उत्तमोत्तम भोजनादि से अपने को तृप्त करने में ही चतुरता है। लिये गये ऋण को चुकाना भी निष्प्रयोजन ही है, क्योंकि मृत्यु के उपरान्त दग्ध हो जाने वाला शरीर पुनः आने वाला नहीं।

यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ।।४६।।

आत्मा यदि देह से निकल कर परलोक में चला जाता है और यदि उसका वहाँ जाना सिद्ध है तो वह बन्धु-बान्धवों के स्नेह से आओ होकर वहाँ (परलोक) से फिर लौट कर क्यों नहीं आता यदि ऐसा होता (परलोक होता) तो कभी-कभी वह अवश्य आ जाता ।

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ।।४७।।

मृत प्राणियों के उद्देश्य से जो श्राद्ध आदि क्रियायें की जाती हैं, वे निरर्थक हैं-यह ब्राह्मणों ने अपने जीवन यापन का उपाय बना लिया है ।

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ।।४८।।

भण्डधूर्त्त और निशाचर-ये ही तीन वेद के रचयिता थे। जर्फरी-तुर्फरी आदि निरर्थक तथा अस्पष्ट शब्दों के प्रयोग से उन धूर्तों ने लोकवञ्चना की है।

अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ।।४९।।

श्रुति प्रतिपादन है कि अश्व मेध यज्ञ में यज्ञकर्ता यजमान की पत्नी अश्व का शिश्न स्थापित करे। यह भण्डों की उक्ति प्रतीत होता है। यज्ञ में मांसभक्षण का जो विधान है वह

भी मांसभोजन प्रेमियों का ही प्रतिपादन अवगत होता है और वे मांसभक्षण प्रेमी निशाचर ही थे।

न कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणाञ्च।
माधुर्यमिक्षोः कटुताञ्च निम्बे स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ।।५०।।

कोई काँटों में तीक्ष्णता, मृग पक्षियों की विचित्रता, ईख में माधुर्य, नीम में तिक्तता नहीं पैदा करता ये गुण स्वभाव से ही निर्मित होते हैं।

नग्न-श्रमणक दुर्बुद्धे कायक्लेशपरायण।
जीविकाथ विचारस्ते केन त्वमसि शिक्षितः ।।५१।।

हे दुर्बुद्धि! नग्नरूप वाले श्रमणक! तुम अपनी मन्दबुद्धि के कारण ही अपने शरीर को क्लेशित करते हो। किसने तुम्हे जीवन यापन का यह उपाय सिखलाया है?

प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते।। ५२।।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध लोकसत्ता को मिथ्या प्रतिपादित करने वाले वेदान्त को यदि शास्त्र कहा जाय तो फिर बौद्धों ने क्या अपरा किया कि उनके त्रिपिटक आदि का षट् शास्त्रों में परिगणित क्यों नहीं किया गया?

लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः ।।५३।।

लोकायत व्यवहार का ही अनुसरण करना कल्याणकर है, अर्थात् पारलौकिक चिन्तन को निरर्थक समझने में ही दक्षता है।

लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बालपण्डितौ ।।५४।।

लोकव्यवहार में मूर्ख और पण्डित अथवा बालक और वृद्ध में कोई अन्तर नहीं अर्थात् दोनों समान ही है।

(४)

इसके अतिरिक्त बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र भी इसी कोटि का सूत्रसंग्रह है-

न भस्मधारणम् ।।१।।

ललाट में या शरीर में भस्म लगाना मिथ्या तथा दम्भमात्र है।

नाग्निहोत्रवेदपाठादीनि च ।।२।।

श्रौतग्रन्थों में जो प्रातःकाल एवं सायं काल अग्नि में हवन का विधान है उसके खण्डन में चार्वाकों का कथन है कि अग्निहोत्र और वेदपाठ आदि कार्य भी निष्प्रयोजन होने के कारण अविधेय है।

न तीर्थयात्रा ।।३।।

पारलौकिक सुखोपलब्धि की आनुमानिक भावना से तीर्थयात्रा करना भी निष्फल और अविधेय है।

सर्वोऽर्थार्थं करोत्यग्निहोत्रसन्ध्याजपादीन् ।।४।।

समस्त लोक धन की प्राप्ति के उद्देश्य से ही अग्नि में त्रिकाल हवन, सन्ध्या-पूजा तथा जप आदि दाम्भिक कृत्य करते हैं।

स्वदोषं गूहितुं कामार्तो वेदं पठति ।।५।।

अपने दोष को छिपाने के लिये ही कामी पुरुष वेदादि का पाठ करता है।

अग्निहोत्रादीन् करोति ।।६।।

अपने दोष को छिपाने के लिये त्रिकाल हवन आदि कृत्य करता है ।

सुरापानं महिलामेहनार्थं करोति ।।७।।

सुरा अर्थात् मदिरा का पान और महिलाओं के संगम के उद्देश्य से कामी पुरुष वेद पाठ और अग्निहोत्र आदि कर्म करता है।

विष्ण्वादयः सुरापायिनः ।।८।।

विष्णु आदि प्रसिद्ध देव भी मद्यपान करते थे।

शिवादयः ।।९।।

शिव आदि देवगण भी सुरापायी हैं।

शृङ्गारवेशं कुर्यात् ।।१०।।

विविध शृङ्गार रचनाओं से चतुर व्यक्ति को अपने को आभूषित तथा आकर्षक बनाना चाहिये।

अक्षैर्दीव्यात् ।।११।।

द्यूतक्रीडा अर्थात् पासों का खेलना पुरुषार्थ है।

नैव दिव्याच्च ।।१२ ।।

व्यर्थ स्वर्ग की कामना कभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि स्वर्ग नामक पदार्थ का कहीं भी अस्तित्व नहीं है।

आम्रवनानि सेवयेत् ।।१३।।

आम्र आदि सुन्दर उद्यानों में आनन्द विहार करना चाहिये। उसी में ही जीवनसाफल्य है।

मांसानि च ।।१४।।

और मांसादि पुष्टिकर भोजन करने में संकोच नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे शारीरिक पुष्टि की भी वृद्धि होती है।

मत्तकामिन्यः सेव्याः ।।१५।।

मदोन्मत्त तथा कामिनी सुन्दरियों संकोच नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसमें सद्यः तथा प्रत्यक्ष आनन्दानुभूति होती है।

दिव्यप्रमदादर्शनञ्च ।।१६।।

और सुन्दरी तथा मदान्ध कामिनियों का दर्शन करना चाहिये, क्योंकि इससे प्रत्यक्ष मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है।

नेत्राञ्जनञ्च ।।१७।।

नेत्रों में अञ्जनादि सुगन्धित तथा प्रसादक वस्तुओं को लगाना चाहिये, क्योंकि शरीरिक सौन्दर्य से सार्वत्रिक प्रसन्नता होती है।

आदर्शदर्शनञ्च ।।१८।।

दर्पण भी नियमित रूप से देखना चाहिये, क्योंकि रूपसौन्दर्य से मानसिक तृप्ति होती है।

ताम्बूलचर्वणञ्च ।।१९।।

ताम्बूल आदि सुगन्धित पदार्थ को चबाकर मुख को सुवासित रखना चाहिये, ऐसा करने से काम-वृद्धि होती है।

कर्पूरचन्दनागुरुधूपञ्च ।।२०।।

और शरीर में कर्पूर, श्वेतचन्दन, अगुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन और धूप की गन्ध लगाकर मन को परितृप्त करना चाहिये। इससे शारीरिक सौन्दर्य-वृद्धि के साथ मानसिक उत्साह का भी संचार होता है।

वेद के खण्डन में वृहस्पति प्रणीत निम्नलिखित पाँच सूत्र भी उपलब्ध होते हैं-

वृथाधर्मं वदत्यर्थसाधनं लोकायतिकः
पिण्डादायश्चौर इति च ।।२१।।

लोकायतिकों का प्रतिपादन है कि धर्म केवल धनोपार्जन का साधन मात्र और निरर्थक है और पिण्डादाय अर्थात् श्राद्धभोजी पुरोहित चोर होता है।

सोऽप्यशनार्थं धर्मं वदति ।।२२ ।।

पुरोहित ब्राह्मण भी भोजन प्राप्ति के उद्‌देश्य से धर्मोपदेश करता फिरता है ।

परापवादार्थं वेदधर्मशास्त्रादीन् पठति।। २३।।

पर अर्थात् अन्य यजमान आदि की निन्दा के लिये और अर्थ प्राप्ति के हेतु प्रायश्चित्त आदि विधान में वेद धर्मशास्त्र आदि पढ़ता है।

सर्वान्निन्दति ।।२४।।

पुरोहित ब्राह्मण किसी न किसी रूप में सबकी निन्दा ही करता है।

महेश्वरविष्ण्वादीनपि ।।२५।।

(वह) शिव और विष्णु आदि सम्पूर्ण देवताओं की भी निन्दा करता है।

ईश्वर के खण्डन में बृहस्पति प्रणीत एक सूत्र का विधान हैं

आत्मवान् राजा ।।२६।।

लौकिक राजा के अतिरिक्त अन्य किसी भी इन्द्रियातीत ईश्वर या परमेश्वर का अस्तित्व नहीं है।

लोकायतिक विद्या के ही एक मात्र शास्त्रत्व विधान में बृहस्पति के दो सूत्र मिलते हैं-

सर्वथा लोकायतिकमेव शास्त्रम् ।।२७।।

लोकायतिक विद्या ही एकमात्र शास्त्र है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई शास्त्र नहीं है।

इत्याहाचार्यो बृहस्पतिः ।।२८।।

इस प्रकार आचार्य बृहस्पति ने लोककल्याण की भावना से सिद्धान्त प्रतिपादन किया है।

(५)

निरीश्वरवादी कपिल, वेद की प्रामाणिकता को गौण मानने वाले गौतम के सूत्रों में भी अवैदिक अर्थात् चार्वाक दर्शन के विचार उपलब्ध होते हैं।

कपिल और अवैदिकवाद-

ईश्वरासिद्धेः (१।९२)

मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने से ईश्वर की सिद्धि न होगी, क्योंकि रूप आदि इन्द्रियविषय न होने से ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति नहीं हो सकती। जब ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुआ तो अनुमान भी न होगा, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष व्याप्तिपूर्वक होता है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः (१।९३)

संसार में कोई भी चेतन मुक्तावस्था और बद्धावस्था से भिन्न नहीं। यदि ईश्वर को बद्ध मान लिया जाय तो उसमें सृष्टि करने की शक्ति नहीं रह जाती और यदि मुक्त मान लिया जाय तो इच्छा के अभाव से वह सृष्टि नहीं कर सकता, क्योंकि कर्त्ता की इच्छा के बिना सृष्टि कार्य असम्भव है।

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः (५।२)

ईश्वर के नामोच्चारण मात्र से फलप्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसका हेतु कर्म है, जिसके सम्पादन से फल मिलता है। अतः ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् (५।३)

लौकिक प्राणियों के समान ही ईश्वर की भी आत्मकल्याण के साधन में ही प्रवृत्ति होती है और हमारे एवं ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। इस कारण भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

लौकिकेश्वरवदितरथा (५।४)

यदि ईश्वर को समस्त कर्मों के फलदाता के रूप में मान लिया जाए तो लौकिक

ईश्वर अर्थात् राजाओं के समान भिन्न-भिन्न कर्म फलदाता भिन्न-भिन्न ईश्वर मानने पड़ेंगे। अतः ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः (५।१०)

ईश्वर के संसार के कारण होने में कोई प्रमाण नहीं, अतएव ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वंश्रुतेः (५।४५)

वेद नित्य नहीं है, क्योंकि 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' श्रुतियों से ज्ञात होता है कि उस यज्ञरूप परमात्मा से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए। जब वेदों की उत्पत्ति सिद्ध है, तब यह निश्चय है कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। अतएव कार्यरूप होने के कारण वेद नित्य नहीं हो सकते।

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः (५।४८)

शब्द नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि उच्चारण से उत्पन्न शब्द मुहूर्त्त भर में नष्ट हो जाता है और उत्पन्न होने वाला पदार्थ नश्वरता के कारण अनित्य है। अतः वेद भी अनित्य ही है।

गौतम और अवैदिकवाद-

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानाऽसिद्धिः (२।१।४४)

अत्यन्त तथा एकदेशीय समानधर्मता के कारण उपमान का प्रमाण्य स्वीकार नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्त सधर्मता के कारण 'गौ के समान गौ'-इस वाक्य में उपमान की सिद्धि नहीं और एकदेशीय समानधर्मता के कारण 'वृषभ के समान महिष'-इस वाक्य में भी उपमान में प्रमाण की सिद्धि नहीं होती । उपर्युक्त दोनों वाक्य निरर्थक प्रतीत होते हैं।

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् (२।१।४९)

शब्द का अस्तित्व अनुमान से पृथक् नहीं है, क्योंकि शब्दगत अर्थ का ही अनुमान होता है। अर्थ का प्रत्यक्ष भाव नहीं होता। अतएव शब्द के अनुमान के ही अन्तर्गत सन्निकट हो जाने के कारण उस (शब्द) का स्वतन्त्र प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में शब्द की असिद्धि होने से शब्दमय वेद की भी स्वतः असिद्धि हो जाती है।

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः (२।१।५७)

अनृत अर्थात् असत्य, व्याघात परस्पर विरुद्धार्थप्रतिपादन और पुनरुक्त अर्थात् एक ही विषय की पुनरावृत्ति-इस दोषत्रय के कारण शब्दमय वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती है।

(६)

कुछ अंश में जैमिनि भी चार्वाक मत की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। यह तव जब वे 'अस्थानात् करोति शब्दात्' आदि के द्वारा वेद की अनित्यता का वर्णन करते हैं।

अस्थानात् (१।१।७)

मुहूर्त्तमात्र भी उच्चारित शब्द स्थिर नहीं रहता-तत्क्षण में ही विनष्ट हो जाता है। अतएव शब्द अर्थात् शब्दमय वेद की अनित्यता सिद्ध हो जाती है।

करोतिशब्दात् (१।१।८)

शब्द में क्रियमाणता होती है, जैसे देवदत्त ने यज्ञदत्त से कहा-'शब्द करो'-'यज्ञदत्त ने शब्द किया'-इस लोक व्यवहार से शब्द परतः प्रमाण की कोटि में आता है। अतएव शब्द की नित्यता प्रमाणित नहीं होती।

सत्वान्तरे यौगपद्यात् (१।१।९)

इस देश और अन्य देशों में एक ही समय में और एक ही साथ एक ही शब्द के उपलब्ध होने के कारण भी शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।

प्रकृतिविकृत्योश्च (१।१।१०)

प्रकृति और विकृति के कारण भी शब्द अनित्य प्रमाणित होता है। जैसे 'दधयत्र' इस पद में 'इ' कार प्रकृति है और 'य' कार विकृति। जिसमें विकार होता है वह अनित्य है और 'य' का इकार के साथ सादृश्य है। अतः शब्द अनित्य है।

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य (१।१।११)

जब बहुत लोग मिलकर एक साथ शब्दोच्चारण करते हैं, तब वह शब्द महान् प्रतीत होता है और वही शब्द एक पुरुष के द्वारा उच्चारित होने पर लघु प्रतीत होता है, इससे भी शब्द अनित्य सिद्ध होता है ।

नित्यदर्शनाच्च (१।१।२८)

वेद में 'प्रावाहणि' अर्थात् प्रवाहण के पुत्र 'बबर' और 'औद्दालकि' अर्थात् उद्दालक

के पुत्र कुसुरविन्द आदि जनन-मरणशील मनुष्यों का उल्लेख पाया जाता है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वेद के उन भागों की रचना, जहाँ 'प्रावाहणि' और 'औद्दालकि' प्रभृति मनुष्यों का उल्लेख है, उन (प्रावाहणि और औद्दालकि) मनुष्यों के पीछे हुई। इस कारण वेद की अनादिता और प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च (१।२।२)

शास्त्रों के पारस्परिक और सैद्धान्तिक विरोधी होने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्र परस्पर विरुद्धार्थप्रतिपादक हैं।

तथाफलाभावात् (१।२।३)

सुकृत और दुष्कृत कर्मों के सुख और दुःख रूप फलों के प्रत्यक्ष अभाव के कारण वेद की नित्यता सिद्ध नहीं होती।

अन्यानर्थक्यात् (१।२।५)

'यज्ञीय पूर्णाहुति होते ही कामनाएँ सिद्ध होती हैं, अश्वमेध यज्ञकर्त्ता यजमान मृत्यु को पार कर जाता है, ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है' इत्यादि निरर्थक वादों के कारण वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यज्ञीय पूर्णाहुति होते ही मनोरथों को पूर्ण होते नहीं देखा जाता।

अभागिप्रतिषेधाच्च (१।२।४)

अयुक्त प्रतिषेध किये जाने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती । वेद में कहीं-कहीं अभागिप्रतिषेधक वाक्य मिलते हैं। जैसे-'न पृथ्वी में अग्नि-चयन करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में और न स्वर्ग में, यहाँ अयुक्त प्रतिषेध किया गया है, क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि अन्तरिक्ष-आकाशादि में अग्नि-चयन नहीं होता, फिर भी पृथ्वी के साथ आकाश में भी अग्नि-चयन का प्रतिषेध किया गया है, इत्यादि अयुक्तप्रतिषेधता के कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

अनित्यसंयोगात् (१।२।६)

अनित्य संयोग होने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। अनित्य संयोग का अर्थ होता है-सामान्यश्रुति, अर्थात् केवल शब्दश्रवण। जैसे किसी व्यक्ति का अभिधान-नाम है 'बृहस्पति' परन्तु वह 'बृहस्पति' नामक व्यक्ति 'महामूर्ख' है । अतएव वह बृहस्पति नामक व्यक्ति अर्थतः बृहस्पति नहीं होकर केवल श्रुतितः 'बृहस्पति' है। इसी प्रकार, किसी दुराचारी पुरुष का नाम 'साधु' है और किसी व्याध का नाम 'दीनदयालु'।

परन्तु वह साधु नामक पुरुष व्यवहारतः चोर है और दीनदयालु नामक पुरुष व्यवहारतः व्याध-अर्थात् हिंसक है इत्यादि।

अपरा-कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् (१।२।१३)

यदाकदाचित् पुंश्चली पत्नी के अपरा , अर्थात् दुराचरण से भी यज्ञकर्ता पति को पुत्र का दर्शन होता है-यहाँ पुत्र के दर्शन में वैदिक यज्ञानुष्ठान की कारणता नहीं है, इस लौकिक प्रमाण के उदाहरण से भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

विधिश्चानर्थकः क्वचित् तस्मात् स्तुतिः प्रतीयते, तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् (१।२।२३)

कभी-कभी और कहीं-कहीं विधि-वाक्य अनर्थकारी सिद्ध होता है। उस (विधिवाक्य) से शाब्दिक स्तुति का बोध होता है और इसी प्रकार अन्यत्र भी स्तुति-बोधक मात्र ही रह जाता है, इस कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

तदर्थशास्त्रात् (१।२।३१)

वेद के मन्त्र शब्दप्रधान न होकर अर्थप्रधान होते हैं। यदि शब्द की प्रधानता होती, तब तो मन्त्रोच्चारण मात्र से कल्याण होता, किन्तु कल्याण तो अर्थप्रकाश में ही अन्तर्निहित रहता है, इस कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

वाक्यनियमात् (१।२।३२)

मन्त्रों में पद क्रम नियमित होता है। यदि पद-क्रम अनियमित कर दिया जाए, तो मन्त्र अर्थहीन हो जाते हैं । जैसे-'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋग्वेद १।१।१) का विपर्यय कर देने से रूप होगा-'भूतूहिरोपु लेमीग्निअ'। अतएव मन्त्रों के पद-क्रम में बाधक होने के कारण भी वेद प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

बुद्धशास्त्रात् (१।२।३३)

वेद ही एकमात्र ज्ञानप्रद शास्त्र है, अतएव वेद का स्वाध्याय अर्थावबोध के साथ होना चाहिए। ऐसा नहीं होने से वेद निरर्थक और अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

अविद्यमानवचनात् (१।२।३४)

शब्दों के अनुसार अर्थ न रहने के कारण और अर्थ के अनुसार शब्द न रहने के कारण अर्थसहित स्वाध्याय भी असम्भव है, इस कारण भी वेद की उपयोगिता अथवा प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

अचेतनेऽर्थबन्धात् (१।२।३५)

'हे औषधि! तुम इस रोगी का रोगहरण कर त्राण करो'-इस प्रकार जड़ पदार्थ में अपने अर्थों से बद्ध वेद पठन-पाठन के योग्य नहीं अपितु सर्वथा अयोग्य सिद्ध होता है।

अर्थविप्रतिषेधत् (१।२।३६)

परस्पर विरोधी अर्थों के प्रतिपादक अथवा तदर्थक वाक्यों की ही पुनरावृत्ति के कारण वेद का पठन-पाठन अयोग्य सिद्ध होता है ।

स्वाध्यायवदवचनात् (१।२।३७)

जिन वाक्यों में वेद के पठन-पाठन का विधान है, उन वाक्यों में अर्थसहित पठन-पाठन का विधान नहीं मिलता। अतएव सार्थक पठन-पाठन उपयुक्त नहीं है । इस परिस्थिति में वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है ।

अविज्ञेयात् (१।२।३८)

कुछ मन्त्रों की अज्ञेयार्थकता के कारण वेद का पठन-पाठन अनुपयुक्त है। वेद में कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनका अर्थ अविज्ञेय है या वे मन्त्र अर्थहीन अतएव निरर्थक है ।

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् (१।२।३९)

अनित्य पदार्थों यथा-जन्म, मरण, यौवन, जरा आदि का सम्बन्ध होने से मन्त्रों का पठन-पाठन निरर्थक है। वेद में 'कीकट' नामक जनपद, 'नैचाशाख' नामक नगर और 'प्रमद' नामक राजा के विषय में चर्चा है। ये सभी जनन-मरणशील तथा यौवन-जरा से युक्त थे और इसलिए अनित्य भी। इससे भी प्रतीत होता है कि इस अनित्य द्रव्यों के पीछे ही वेद की रचना हुई।

हेतुदर्शनाच्च (१।३।४)

ऋषियों के द्वारा प्रोक्त होने के साथ-साथ व्याख्या रूप होने के कारण भी वेदों का परतः प्रामाण्य है। अतएव वेद का प्रामाण्य असिद्ध ही रह जाता है ।

यहाँ तक कि भगवान् बादरायण के 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (२।१।११) सूत्र से भी चार्वाकमत ध्वनित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाक दर्शन के बीज संस्कृतवाङ्मय में इतस्ततः बिखरे पड़े हैं।

चार्वाक दर्शन की तत्त्व मीमांसा-

चार्वाक दर्शन के अनुसार पृथिवी जल तेज तथा वायु ये चार ही तत्त्व सृष्टि के मूल कारण हैं। जिस प्रकार बौद्ध उसी प्रकार चार्वाक का भी मत है कि आकाश नामक कोई तत्त्व नहीं है। यह शून्य मात्र है। अपनी आणविक अवस्था से स्थूल अवस्था में आने पर उपर्युक्त चार तत्त्व ही बाह्य जगत्, इन्द्रिय अथवा देह के रूप में दृष्ट होते हैं। आकाश की वस्त्वात्मक सत्ता न मानने के पीछे इनकी प्रमाणव्यवस्था कारण है। जिस प्रकार हम गन्ध रस रूप और स्पर्श का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए उनके समवायियों का भी तत्तत् इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। आकाश तत्त्व का वैसा प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उनके मत में आकाश नामक तत्त्व है ही नहीं। चार महाभूतों का मूलकारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर चार्वाकों के पास नहीं है। यह विश्व अकस्मात् भिन्न-भिन्न रूपों एवं भिन्न-भिन्न मात्राओं में मिलने वाले चार महाभूतों का संग्रह या संघट्ट मात्र है।

आत्मा-चार्वाकों के अनुसार चार महाभूतों से अतिरिक्त आत्मा नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं है। चैतन्य आत्मा का गुण है। चूँकि आत्मा नामक कोई वस्तु है ही नहीं अतः चैतन्य शरीर का ही गुण या धर्म सिद्ध होता है। अर्थात् यह शरीर ही आत्मा है। इसकी सिद्धि के तीन प्रकार है-तर्क, अनुभव और आयुर्वेद शास्त्र।

तर्क-से आत्मा की सिद्धि के लिये चार्वाक लोग कहते हैं कि शरीर के रहने पर चैतन्य रहता है और शरीर के न रहने पर चैतन्य नहीं रहता। इस अन्वय व्यतिरेक से शरीर ही चैतन्य का आधार अर्थात् आत्मा सिद्ध होता है।

अनुभव-'मैं स्थूल हूँ', 'मैं दुर्बल हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मैं निष्क्रिय हूँ' इत्यादि अनुभव हमें पग-पग पर होता है। स्थूलता दुर्बलता इत्यादि शरीर के धर्म हैं और 'मैं' भी वही है। अतः शरीर ही आत्मा है।

आयुर्वेद-जिस प्रकार गुड जौ महुआ आदि को मिला देने से कालक्रम के अनुसार उस मिश्रण में मदशक्ति उत्पन्न होती है, अथवा दही पीली मिट्टी और गोबर के परस्पर मिश्रण से उसमें बिच्छू पैदा हो जाता है अथवा पान कत्था सुपारी और चूना में लाल रंग न रहने पर भी उनके मिश्रण से मुँह में लालिमा उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार चतुर्भूतों के विशिष्ट सम्मिश्रण से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इन भूतों के विशिष्ट मात्रा में मिश्रण का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर चार्वाक के पास स्वभाववाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

ईश्वर-न्याय आदि शास्त्रों में ईश्वर की सिद्धि अनुमान या आप्त वचन से की जाती है। चूँकि चार्वाक प्रत्यक्ष और केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है अतः उसके मत में प्रत्यक्ष दृश्यमान राजा ही ईश्वर है। वह अपने राज्य का तथा उसमें रहने वाली प्रजा का नियन्ता होता है। अतः उसे ही ईश्वर मानना चाहिये।

ज्ञान मीमांसा-

प्रमेय अर्थात् विषय का यथार्थ ज्ञान अर्थात् प्रमा के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है। चार्वाक लोक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। विषय तथा इन्द्रिय के सन्निकार्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ने वाला संसार ही प्रमेय है। इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ असत् है। आँख कान नाक जिह्व और त्वचा के द्वारा रूप शब्द गन्ध रस एवं स्पर्श का प्रत्यक्ष हम सबको होता है। जो वस्तु अनुभवगम्य नहीं होती उसके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं होती । बौद्ध जैन नामक अवैदिक दर्शन तथा न्यायवैशेषिक आदि अर्द्धवैदिक दर्शन अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती। परन्तु चार्वाक का कथन है कि अनुमान से केवल सम्भावना पैदा की जा सकती है। निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। दूरस्थ हरे भरे वृक्षों को देखकर वहाँ पक्षियों का कोलाहल सुनकर, उधर से आने वाली हवा के ठण्डे झोके से हम वहाँ पानी की सम्भावना मानते हैं। जल की उपलब्धि वहाँ जाकर प्रत्यक्ष देखने से ही निश्चित होती है। अतः सम्भावना उत्पन्न करने तथा लोकव्यवहार चलाने के लिये अनुमान आवश्यक होता है किन्तु वह प्रमाण नहीं हो सकता। जिस व्याप्ति के आधार पर अनुमान प्रमाण की सत्ता मानी जाती है वह व्याप्ति स्वभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। धूम के साथ अग्नि का, पुष्प के साथ गन्ध का होना स्वभाव है। सुख और धर्म का दुःख और अधर्म का कार्यकारण भाव स्वाभाविक है। जैसे कोकिल के शब्द में मधुरता तथा कौवे के शब्द में कर्कशता स्वाभाविक है उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

जहाँ तक शब्द प्रमाण की बात है तो वह तो एक प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। आप्त पुरुष के वचन हमको प्रत्यक्ष सुनायी देते हैं। उनको सुनने से अर्थ ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष ही है। जहाँ तक वेदों का प्रश्न है उनके वाक्य अदृष्ट और अश्रुतपूर्ण विषयों का वर्णन करते हैं अतः उनकी विश्वसनीयता सन्दिग्ध है। साथ ही अधर्म आदि में अश्वलिङ्गग्रहण सदृश लज्जास्पद एवं मांसभक्षण सदृश घृणास्पद कार्य करने से तथा-

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरु ता मे जराटवजरं मरायु ।।

मन्त्र में जर्भरी तुर्फरी आदि अर्थहीन शब्दों का प्रयोग करने से वेद अपनी अप्रामाणिकता स्वयं सिद्ध करते हैं।

आचार मीमांसा-

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाक लोग इस प्रत्यक्ष दृश्यमान देह और जगत् के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को स्वीकार नहीं करते। धर्म अर्थ काम और

मोक्ष नामक पुरुषार्थचतुष्टय को वे लोग पुरुष अर्थात् मनुष्य देह के लिये उपयोगी मानते हैं। उनकी दृष्टि में अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ है। धर्म नाम की वस्तु को मानना मूर्खता है क्योंकि जब इस संसार के अतिरिक्त कोई अन्य स्वर्ग आदि है ही नहीं तो धर्म के फल को स्वर्ग में भोगने की बात अनर्गल है। पाखण्डी धूर्तों के द्वारा कपोलकल्पित स्वर्ग का सुख भोगने के लिये यहाँ यज्ञ आदि करना धर्म नहीं है बल्कि उसमें की जाने वाली पशुहिंसा आदि के कारण वह अधर्म ही है तथा हवन आदि करना तत्तद् वस्तुओं का दुरुपयोग तथा व्यर्थ शरीर को कष्ट देना है। इसलिये जो कार्य शरीर को सुख पहुँचाये उसी को करना चाहिये। जिसमें इन्द्रियों की तृप्ति हो मन आन्दित हो वही कार्य करना चाहिये। जिनसे इन्द्रियों की तृप्ति हो मन आनन्दित हो उन्हीं विषयों का सेवन करना चाहिये। शरीर इन्द्रिय मन को आनन्दाप्लावित करने में जो तत्त्व बाधक होते हैं उनको दूर करना, न करना, मार देना धर्म है। शरीरिक मानसिक कष्ट सहना, विषयानन्द से मन और शरीर को बलात् विरत करना अधर्म है। तात्पर्य यह है कि आस्तिक वैदिक एवं यहाँ तक कि अर्धवैदिक दर्शनों में, पुराणों स्मृतियों में वर्णित आचार का पालन यदि शरीर सुख का साधक है तो उनका अनुसरण करना चाहिये और यदि वे उसके बाधक होते हैं तो उनका सर्वथा सर्वदा त्याग कर देना चाहिये।

मोक्ष

चार्वाकों की मोक्ष की कल्पना भी उनके तत्त्व मीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा के प्रभाव से पूर्ण प्रभावित है। जब तक शरीर है तब तक मनुष्य नाना प्रकार के कष्ट सहता है। यही नरक है। इस कष्ट समूह से मुक्ति तब मिलती है जब देह चैतन्यरहित हो जाता है अर्थात् मर जाता है। यह मरना ही मोक्ष है क्योंकि मृत शरीर को किसी भी कष्ट का अनुभव नहीं होता। यद्यपि अन्य दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसी के मुक्त होने की चर्चा की गयी है और मोक्ष का स्वरूप भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न है, तथापि चार्वाक उनकी मान्यता को प्रश्रय नहीं देते। वे न तो मोक्ष को नित्य मानते हुए सन्मात्र मानते हैं, न नित्य मानते हुए सत् और चित् स्वरूप मानते हैं न ही वे सच्चिदानन्द स्वरूप में उसकी स्थिति को ही मोक्ष स्वीकार करते हैं।

●

चार्वाक लोकायत

चार्वाक दर्शन वह दर्शन है जो जन सामान्य में स्वभावतः प्रिय है। जिस दर्शन के वाक्य चारु अर्थात् रुचिकर हों वह चार्वाक दर्शन है। सभी शास्त्रीय गम्भीर विषयों का व्यावहारिक एवं लौकिक पूर्व पक्ष ही चार्वाक दर्शन है। सहज रूप में जो कुछ हम करते हैं वह सब कुछ चार्वाक दर्शन का आधार है। चार्वाक दर्शन जीवन के हर पक्ष को सहज दृष्टि से देखता है। जीवन के प्रति यह सहज दृष्टि ही चार्वाक दर्शन है। वास्तविकता तो यह है कि, विश्व का हर मानव जो जीवन जीता है वह चार्वाक दर्शन ही है।

ऐसे वाक्य और सिद्धान्त जो सबको रमणीय लगें लोक में आयत या विश्रुत अवश्य होंगे। सम्भवतः यही कारण है कि हम चार्वाक दर्शन को लोकायत दर्शन के नाम से भी जानते हैं। यह दर्शन बार्हस्पत्य दर्शन के नाम से भी विद्वानों में प्रसिद्ध है। इस नाम से यह प्रतीत होता है कि यह दर्शन बृहस्पति के द्वारा विरचित है।[1]

चार्वाक दर्शन के प्रणेता बृहस्पति

बृहस्पति भारतीय समाज में देवताओं के गुरु के रूप में मान्य हैं। परन्तु भारतीय साहित्य में बृहस्पति एक नहीं हैं। चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति कौन हैं, यह निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। आङ्गिरस एवं लौक्य रूप में दो बृहस्पतियों का समुल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। अश्वघोष के अनुसार आङ्गिरस बृहस्पति राजशास्त्र के प्रणेता हैं। लौक्य बृहस्पति[2] के मत में सत् पदार्थ की उत्पत्ति असत् से मानी जाती है। इसी प्रकार असत् पदार्थ की उत्पत्ति सत् से मानी गयी है। जड़ पदार्थों को ही असत् कहा जाता है। चेतन पदार्थों को इस मान्यता के अनुसार सत् कहा जाता है।

एक बृहस्पति का निर्देश महाभारत के वन पर्व मे भी प्राप्त होता है। यह बृहस्पति शुक्र का स्वरूप धारण कर इन्द्र का संरक्षण एवं दानवों का विनाश करने के उद्देश्य से

---

१. लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्तिस्मेति लोकायता लोकयतिका इत्यपि। बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति। षड्दर्शनसमुच्चय-पृ० ४५१

२. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायत। देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। ऋग्वेद, १० मण्डल, ७२ सूक्त, २ मन्त्र (ब्रह्मणः पतिः एता कर्मारः इव सं अधमत्) बृहस्पति या अदिति ने लोहार के समान इन देवों को उत्पन्न किया। (देवानां पूर्वे युगे असतः सत् अजायत) देवों के पूर्व युग में-आदि सृष्टि में असत् से सत् उत्पन्न हुआ (अव्यक्त ब्रह्म से व्यक्त देवादि उत्पन्न हुए) पृ० १४८ ऋग्वेद भाग ४, हिन्दी व्याख्या-सातवलेकर।

अनात्मवाद या प्रपंच विज्ञान की संरचना करता है। इस प्रपंच विज्ञान के फलस्वरूप शुभ को अशुभ एवं अशुभ को शुभ मानते हुए दानव वेद एवं शास्त्रों की आलोचना एवं निन्दा में संलग्न हो जाते हैं।

अन्य प्रसङ्ग में महाभारत में ही एक और बृहस्पति का वर्णन मिलता है जो शुक्राचार्य के साथ मिल कर प्रवंचनाशास्त्र की रचना करते हैं। विभिन्न शास्त्रों के आचार्यों की माने तो चार्वाक मत दर्शन की श्रेणी में नहीं माना जा सकता क्यों कि इस दर्शन में मात्र मधुर वचनों की आड़ में वंचना का ही कार्य किया गया है। यह बात और है कि यदि चार्वाक की सुनें तो वह भी विभिन्न शास्त्रज्ञों को वंचक ही घोषित करता है।[1]

एक ऐसे बृहस्पति का तैत्तरीयब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णन मिलता है जो गायत्री देवी के मस्तक पर आघात करता है गायत्री देवी को पद्‌म पुराण के अनुसार समस्त वेदों का मूल माना गया है। इस दृष्टि से यह बृहस्पति वेद का विरोधी माना जा सकता है। सम्भवतः वेद का विरोध प्रति पद करने के कारण इस बृहस्पति को चार्वाक दर्शन का प्रणेता भी माना जाना युक्तियुक्त होगा।

विष्णु पुराण में भी बृहस्पति का प्रसंग प्राप्त होता है। बृहस्पति की इस मान्यता के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड बहुवित्त के व्यय एवं प्रयास से साध्य है। विविध सुख के साधक ये वैदिक उपाय कुछ अर्थ लोलुप स्वार्थ केन्द्रित धूर्तों का ही विधान है।

तार्किक बृहस्पति का भी कहीं कहीं वर्णन मिलता है। ये बृहस्पति वेद के अनुगामी तो अवश्य हैं पर तर्कसम्मत अनुष्ठानों का ही समर्थन करते हैं। इनकी दृष्टि से तत्त्व निर्णय शास्त्र पर आधारित अवश्य होना चाहिए परन्तु यह शास्त्रीय अनुसन्धान तर्क पोषित होना नितान्त आवश्यक है। तर्क विरहित चिन्तन धर्म के निर्धारण में कभी भी सार्थक नहीं हो सकता है।

वात्स्यायन मुनि ने अपने विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ कामसूत्र में अर्थशास्त्र के रचयिता के रूप में बृहस्पति का उल्लेख किया है। बृहस्पति द्वारा विरचित अर्थशास्त्र के एक सूत्र के अनुसार शास्त्र के रूप में मात्र लोकायत को ही मान्यता दी गयी है। फलतः अर्थशास्त्र के प्रणेता बृहस्पति एवं लोकायत शास्त्र के प्रवर्त्तक बृहस्पति में अन्तर कर पाना अत्यन्त दुरूह कार्य है। कुछ समालोचकों ने अर्थशास्त्र के एवं लोकायतशास्त्र के निर्माता को अभिन्न मानने के साथ-साथ कामसूत्रों के प्रणेता भी बृहस्पति ही हैं, यह माना है। यदि लौकिक इच्छाओं

---

१. आचार्य आनन्द झा, चार्वाक दर्शन, हिन्दी समिति, लखनऊ, १६६६ पृ० ६

को पूर्ण करना ही चार्वाक दर्शन का उद्देश्य है तो कामशास्त्र के प्रवर्त्तक मुनि वात्स्यायन ही बृहस्पति हैं यह मानना उपयुक्त ही है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लोकायत दर्शन का सहज प्रतिपादन किया है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के रचनाकार कौटिल्य एवं लोकायत दर्शन के प्रणेता बृहस्पति एक ही हैं ऐसा माना जा सकता है। कोषकार हेमचन्द्र के अनुसार अर्थशास्त्र, कामसूत्र, न्यायसूत्र-भाष्य, पंचतन्त्र एवं चाणक्य नीति के रचयिता एक ही हैं।

इतनी विवेचना के बाद जो बृहस्पति वैदिक वाङ्मय में विभिन्न प्रसंगों में चर्चित हैं उनके यथा क्रम नाम इस प्रकार स्पष्ट होते हैं।

१. लौक्य बृहस्पति २. आंगिरस बृहस्पति ३. देवगुरु बृहस्पति ४. अर्थशास्त्रप्रवर्त्तक बृहस्पति ५. कामसूत्रप्रवर्त्तक बृहस्पति ६. वेदविनिन्दक बृहस्पति ७. तार्किक बृहस्पति।

पद्म पुराण के सन्दर्भ में अंगिरा ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। आंगिरस बृहस्पति अंगिरा के पुत्र एवं ब्रह्मा के पौत्र हैं।

फलतः इनकी देवों में गणना होती है। इस प्रकार देव गुरु बृहस्पति एवं आंगिरस बृहस्पति में कोई भेद नहीं माना जा सकता। देवों की संरक्षा के लिए देवताओं के गुरु द्वारा असुरों को प्रदत्त उपदेश विभिन्न लोकों में आयत हो गया यह कथन देव गुरु बृहस्पति के सन्दर्भ में विश्वसनीय नहीं हो सकता। असुर अपने गुरु शुक्राचार्य के रहते देवगुरु के उपदेश को क्यों आदर देंगे? अतः देवगुरु से अतिरिक्त कोई चार्वाक दर्शन का प्रवर्त्तक होना अपेक्षित है।

कुछ समालोचकों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि चार्वाक के गुरु बृहस्पति स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के आचार्य विश्वविख्यात बृहस्पति नहीं हैं। ये बृहस्पति किसी राजकुल के गुरु हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देंखे तो वशिष्ठ, विश्वामित्र, द्रोणाचार्य आदि का किसी राजकुल का गुरु होना इस मान्यता को आधार भी दे रहा है।

चार्वाक के सिद्धान्त

जिस प्रकार आस्तिक दर्शनों में शांकर दर्शन शिरोमणि के रूप में स्वीकृत है उसी प्रकार नास्तिक दर्शनों में सबसे उत्कृष्ट नास्तिक के रूप में शिरोमणि की तरह चार्वाक दर्शन की प्रतिष्ठा निर्विवाद है। नास्तिक शिरोमणि चार्वाक इसलिए भी माना जाता है कि वह विश्व मे विश्वास के आधार पर किसी न किसी रूप में मान्य ईश्वर की अलौकिक सर्वमान्य सत्ता को सिरे से नकार देता है। इनके मतानुसार ईश्वर नाम की कोई वस्तु

संसार मे नहीं है। नास्तिक शिरोमणि चार्वाक जो कुछ बाहरी इन्द्रियों से दिखाई देता है अनुभूत होता है, उसी की सत्ता को स्वीकार करता है। यही कारण है कि चार्वाक के सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड़ कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं माना गया है। जिस ईश्वर की कल्पना अन्य दर्शनों में की गई है उसकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं है। इनके मत से बीज से जो अङ्कुर का प्रादुर्भाव होता है उसमें ईश्वर की भूमिका को मानना अनावश्यक एवं उपहासास्पद ही है। अङ्कुर की उत्पत्ति तो मिट्टी एवं जल के संयोग से नितान्त स्वाभाविक एवं सहज प्रक्रिया से सर्वानुभव सिद्ध है। इस स्वभाविक कार्य को सम्पन्न करने के लिए किसी अदृष्ट कर्त्ता की स्वीकृति निरर्थक है।

ईश्वर को न मानने पर जीव सामान्य के शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल की व्यवस्था कैसे सम्भव होगी? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चार्वाक पूछता है कि किस कर्म फल की व्यवस्था अपेक्षित है? संसार में दो प्रकार के कर्म देखे जाते हैं। एक लौकिक तथा दूसरा अलौकिक कर्म। क्या आप लौकिक कर्मों के फल की व्यवस्था के सम्बन्ध में चिन्तित हैं? यदि हाँ, तो यह चिन्ता अनावश्यक है। लौकिक कर्मों का फल विधान तो लोक में सर्व मान्य[१] राजा या प्रशासक ही करता है। यह सर्वानुभव सिद्ध तथ्य, प्रत्यक्ष ही है। हम देखते हैं कि चौर्य कर्म आदि निषिद्ध कार्य करने वाले को उसके दुष्कर्म का समुचित फल, लोक सिद्ध राजा ही दण्ड के रूप में कारागार आदि में भेज कर देता है। इसी प्रकार किसी की प्राण रक्षा आदि शुभ कर्म करने वाले पुरुष को राजा ही पुरस्कार रूप में सुफल अर्थात् धन धान्य एवं सम्मान से विभूषित कर देता है।

यदि आप अलौकिक कर्मों के फल की व्यवस्था के सन्दर्भ में सचिन्त हैं तो यह चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि पारलौकिक फल की दृष्टि से विहित ये सभी यज्ञ, पूजा, पाठ, तपस्या आदि वैदिक कर्म जन सामान्य को ठगने की दृष्टि से तथा अपनी आजीविका एवं उदर के भरण पोषण के लिए कुछ धूर्तों द्वारा कल्पित हुए हैं। वास्तव मे अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्ड का धारण तथा शरीर में जगह जगह भस्म का संलेप बुद्धि एवं पुरुषार्थ हीनता के ही परिचायक हैं। इन वैदिक कर्मों का फल आज तक किसी को भी दृष्टि गोचर नहीं हुआ है। यदि वैदिक कर्मों का कोई फल होता तो अवश्य किसी न किसी को इसका प्रत्यक्ष आज तक हुआ होता। यतः आज तक किसी को भी इन वैदिक या वर्णाश्रम-व्यवस्था से सम्बद्ध कर्मों का फल-स्वर्ग, मोक्ष, देवलोक गमन आदि प्रत्यक्ष अनुभूत नहीं है अतः ये समस्त वैदिक कर्म निष्फल ही हैं, यह स्वतः युक्ति पूर्वक सिद्ध हो जाता है।

---

१. लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, न्या.कु.का. हरिदासी, पृ-०३

अदृष्ट एवं ईश्वर का निषेध

यहाँ यदि आस्तिक दर्शन यह कहे कि परलोक स्वर्ग आदि को सिद्ध करने वाला व्यापार अदृष्ट या धर्म एवं अधर्म है जिससे स्वर्ग की सिद्धि होती है तो यह चार्वाक को स्वीकार्य नहीं है। अलौकिक अदृष्ट का खण्डन करते हुए चार्वाक स्वर्ग आदि परलोक के साधन में अदृष्ट की भूमिका को निरस्त करता है तथा इस प्रकार आस्तिक दर्शन के मूल पर ही कुठाराघात कर देता है। यही कारण है कि अदृष्ट के आधार पर सिद्ध होने वाले स्वर्ग आदि परलोक के निरसन के साथ ही इस अदृष्ट के नियामक या व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर का भी निरास चार्वाक मत में अनायास ही हो जाता है।

जीव एवं चैतन्य की अवधारणा

चार्वाक मत में कोई जीव शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर ही जीव या आत्मा है। फलतः शरीर का विनाश जब मृत्यु के उपरान्त दाह संस्कार होने के बाद हो जाता है तब जीव या जीवात्मा भी विनष्ट हो जाता है। शरीर में जो चार या पाँच महाभूतों का समवधान है यह समवधान ही चैतन्य का कारण है। यह जीव मृत्यु के अनन्तर परलोक जाता है यह मान्यता भी, शरीर को ही चेतन या आत्मा स्वीकार करने से निराधार ही सिद्ध होती है। शास्त्रों में परिभाषित मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ भी चार्वाक नहीं स्वीकार करता है। चेतन शरीर का नाश ही इस मत में मोक्ष है। धर्म एवं अधर्म के न होने से चार्वाक सिद्धान्त में धर्म-अधर्म या पुण्य-पाप का, कोई अदृश्य स्वर्ग एवं नरक आदि फल भी नहीं है यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है।[1]

यहाँ यह प्रश्न सहज रूप में उत्पन्न होता है कि चार या पाँच भूतों के समवहित होने पर चैतन्य कैसे प्रादुर्भूत हो जाता है? समाधान में चार्वाक कहता है कि जैसे किण्व[2], मधु, शर्करा[3], चावल, यव, द्राक्षा, महुआ, सेव आदि पदार्थ पानी आदि के साथ कुछ दिन विशेष-विधि से रखने के बाद विकृत हो कर मद्य में परिवर्तित हो जाते हैं तथा अचेतन होने पर भी मादकता शक्ति को उत्पन्न कर देते हैं ठीक उसी प्रकार शरीर रूप में विकार

१. लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः। धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः।।
षड्दर्शनसमुच्चय-पृ० ४५२

२. सुरायाः प्रकृतिभूतो वृक्षविशेषनिर्यासः, एक तरह की औषधि या बीज जिससे शराब का निर्माण किया जाता है।

३. यद्वद्यथा सुराङ्गेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिः उन्मादकत्वं भवति।
षड्दर्शनसमुच्चय-पृ० ४५८

युक्त भूत-समूह भी चैतन्य को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार ताम्बूल, सुपारी, तथा चूने के संयोग से जैसे लाल रंग उत्पन्न होता है वैसे ही भूत, शरीर में जब परस्पर संयुक्त होते हैं, तो जड़ के रूप में प्रसिद्ध भूतों से भी चैतन्य उत्पन्न हो जाता है।[1]

चार्वाक के मत में चेतन शरीर में विद्यमान चैतन्य ज्ञान नामक गुण ही है। यह शरीर में समवाय सम्बन्ध से रहता है। शरीर में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति में तादात्म्य सम्बन्ध से शरीर कारण है, ऐसा कार्यकारण भाव ज्ञान एवं शरीर के मध्य चार्वाक को अभिमत है। आस्तिक दर्शनों के अनुसार मुक्त आत्मा में जैसे ज्ञान नहीं होता है उसी तरह चार्वाक मत में भी मृत शरीर में ज्ञान के अभाव का उपपादन हो जाता है। ये लोग प्राण के अभाव से मृत शरीर में ज्ञान के अभाव को सिद्ध करते हैं।

तात्पर्य यह है, यदि यह कहा जाय कि जहाँ शरीर होता है वहाँ ज्ञान होता है। तो यह कार्य कारणभाव मृत शरीर में ज्ञान के कारण शरीर के होने के बाद भी कार्य ज्ञान के न होने से अन्वय व्यभिचार होने के कारण स्वीकार नही किया जा सकता। इस अन्वय व्यभिचार का समाधान करते हुए चार्वाक का कथन है कि ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए केवल शरीर कारण नहीं, प्रत्युत प्राण से युक्त शरीर कारण है। फलतः मृत शरीर में ज्ञान का कारण प्राण से संयुक्त शरीर भी नहीं है और कार्य ज्ञान भी नहीं है अतः अन्वय व्यभिचार का वारण चार्वाक मत में हो जाता है। इस प्रकार शरीर ही आत्मा है, यह चार्वाक दर्शन के अनुसार सिद्ध होता है। मैं मोटा हूँ। मैं दुबला हूँ। मैं करता हूँ। इस प्रकार के व्यवहार का आधार स्थूलता, कृषता एवं क्रिया को जन्म देने वाली कृति या प्रयत्न, शरीर में प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। परिणाम स्वरूप अहं पद का विषय शरीर से भिन्न कुछ भी नहीं है यह निराबाध सिद्ध हो जाता है।

कुछ चार्वाक चैतन्य का अर्थ चेतनता अर्थात् आत्मत्व करते हैं। इस प्रकार ज्ञान का मतलब ज्ञान की अधिकरणता ही है। इस तरह मृत शरीर में ज्ञान के न होने पर भी ज्ञान की अधिकरणता ठीक उसी प्रकार है जैसे आस्तिकों के सिद्धान्त में मुक्त आत्मा में ज्ञान के न होने पर भी ज्ञान की अधिकरणता अक्षुण्ण मानी जाती है। मृत शरीर के ज्ञान का अधिकरण होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति का आश्रय न होना शरीर में प्राण के न होने से सूपपन्न हो जाता है।

शरीरात्मवाद में स्मरण का उपपादन

चार्वाक मत में शरीर को ही आत्मा मान लेने पर बाल्यावस्था में अनुभूत कन्दुक

---

१. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते। ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम्।। स०सि०सं०,२/७

क्रीडा आदि का वृद्धावस्था या युवावस्था में स्मरण कैसे होता है? यह एक ज्वलन्त प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि बाल्यावस्था का शरीर, वृद्धावस्था का शरीर एवं युवावस्था का शरीर एक ही है। यदि तीनों अवस्थाओं का शरीर एक ही होता तो इन तीनों अवस्थाओं के शरीरों में इतना बड़ा अन्तर नहीं होता। अन्तर से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि शरीर के अवयव जो मांस पिण्ड आदि हैं इनमें वृद्धि एवं ह्रास होता है। तथा इन ह्रास एवं वृद्धि के कारण ही बाल्यावस्था के शरीर का नाश एवं युवावस्था के शरीर की उत्पत्ति होती है यह भी सिद्ध होता है। यदि यह कहें कि युवावस्था के शरीर में यह वही शरीर है, यह व्यवहार होने के कारण शरीर को एक मान कर उपर्युक्त स्मरण को उत्पन्न किया जा सकता है, तो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि यह वही शरीर है यह प्रत्यभिज्ञान तो स्वरूप एवं आकृति की समानता के कारण होता है। फलतः दोनों अवस्थाओं के शरीरों को अभिन्न नहीं माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में पूर्व दर्शित बाल्य-काल के स्मरण को सम्पन्न करने के लिए चार्वाक बाल्य-काल के शरीर में उत्पन्न क्रीडा से जन्य संस्कार दूसरे युवा-काल के शरीर में अपने जैसे ही नये संस्कार पैदा कर देते हैं। इसी प्रकार युवावस्था के शरीर में विद्यमान संस्कार वृद्धावस्था के शरीर में अपने जैसे संस्कार उत्पन्न कर देते हैं। एतावता इन बाल्यावस्था के संस्कारों के उद्‌बोधन से चार्वाक मत में स्मरण बिना किसी बाधा के हो जाता है। अन्ततः चार्वाक दर्शन में शरीर ही आत्मा है यह सहज ही सिद्ध होता है।

यदि शरीर ही आत्मा है तो चार्वाक से यह पूछा जा सकता है कि 'मम शरीरम्' यह मेरा शरीर है, ऐसा लोकसिद्ध जो व्यवहार है वह कैसे उत्पन्न होगा? इस व्यवहार से तो यह प्रतीत हो रहा है कि शरीर अलग है एवं शरीर का स्वामी कोई और है, जो शरीर से भिन्न आत्मा ही है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए चार्वाक कहता है कि जैसे दानव विशेष के सिर को ही राहू कहा गया है, फिर भी जन-सामान्य 'राहू का सिर' यह व्यवहार बड़े ही सहज रूप में करता है, उसी प्रकार शरीर के ही आत्मा होने पर भी 'मेरा शरीर' यह लोकसिद्ध व्यवहार उपपन्न हो जायेगा। चार्वाकों में कुछ चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं परन्तु यह मत अधिकांश चार्वाकों को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि इन्द्रिय को आत्मा मानने पर इन्द्रिय के नष्ट होने पर स्मरण की आपत्ति का निरास नहीं हो पाता है। किन्हीं चार्वाकों ने प्राण एवं मन को भी आत्मा के रूप में माना है।

शरीर ही आत्मा है यह सिद्ध करने के लिए चार्वाक 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, स न प्रेत्य संज्ञास्ति'[1] इस वेद के सन्दर्भ को भी आस्तिकों के

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/१२

सन्तोष के लिए प्रस्तुत करता है। इस वेद वचन का तात्पर्य है कि 'विज्ञान से युक्त आत्मा इन भूतों से उत्पन्न हो कर अन्त में इन भूतों में ही विलीन हो जाता है। यह भूतों में शरीर स्वरूप आत्मा का विलय ही मृत्यु है।'

परलोक का प्रतिषेध

इस प्रकार चार्वाक दर्शन, मात्र शरीर केन्द्रित हो कर समस्त अलौकिक एवं पारलौकिक तत्त्वों से स्वयं को दूर कर नास्तिकता की पराकष्ठा का वरण कर लेता है। यही कारण है कि यह नितान्त निरङ्कुश हो कर वेद सम्मत सभी मान्यताओं का रोचक शब्दों में खण्डन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक वह विचार है जो जन सामान्य के दैनिक जीवन में सहज रूप में अनुस्यूत है। चार्वाक वह मत है जो हर व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति को उजागर करता है। जिस प्रकार पारलौकिक तथ्यों को विशेष प्रयास के साथ विभिन्न दार्शनिकों ने सुव्यवस्थित कर विभिन्न ग्रन्थों के रूप में समाज के समक्ष रखा उसी प्रकार एक प्रयास जन सामान्य में व्याप्त सहज प्रवृत्ति को भी लिपि बद्ध करने के लिए चार्वाक द्वारा किया गया जो चार्वाक दर्शन के रूप में हमारे समक्ष है।

परलोक की मान्यता को उपहासास्पद बताते हुए चार्वाक प्रत्यक्ष, 'मनुष्य लोक' को ही एक लोक मानता है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात पदार्थ ही इस संसार में माने जा सकते हैं। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा एवं श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ ही प्रसिद्ध हैं, इनसे जिन पदार्थों का साक्षात्कार होता है वे पदार्थ ही चार्वाक को स्वीकार्य हैं। इन बाह्य इन्द्रियों से क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द का अवबोध होता है। इस संसार में सुरभि असुरभि गन्ध का अनुभव कर लोगों को प्रफुल्लित होते हुए देखा गया है। तिक्त, कटु, कषाय आदि छः रसों के आस्वाद से आह्लादित होते जन-सामान्य को देखा जाता है। भूमि, भूधर, भुवन, भूरुह-वृक्ष, स्तम्भ, सरोरुह आदि का निरीक्षण कर पुलकित होते लोक को सुना गया है। वस्तु के मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, एवं अनुष्णाशीत स्पर्श से रोमांचित जनों का प्रत्यक्ष किया गया है। विविध वेणु, वीणा, एवं मनुष्य पशु पक्षिओं से सम्बद्ध मधुर वाणी को अविचल हो सुनते देखा गया है।

यहाँ चार्वाक पूछता है कि क्या इन अनुभवों से अतिरिक्त भी कोई अनुभव कहीं शेष बचता है? कथमपि नहीं। पृथ्वी जल तेज वायु से समुत्पन्न चैतन्य को छोड़ कर चैतन्य के हेतु के रूप में परलोक जाने वाले किसी जीव की कल्पना, जिसका किसी को आज तक साक्षात्कार नहीं हो सका है, कथमपि संगत नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यदि जीव नहीं है तो इसके सुख दुःख की सुव्यवस्था के लिए अदृष्ट या धर्म अधर्म की कल्पना करना तथा धर्म अधर्म के द्वारा प्रसूत फल के समुपभोग के लिए स्वर्ग एवं नरक के रूप में

आधार भूमि की परिकल्पना, इसी प्रकार पुण्य एवं पाप दोनों के क्षय से समुत्पन्न मोक्ष सुख की वर्णना, क्या आकाश में विचित्र चित्र की रचना की तरह उपहासास्पद नहीं है?

इतना सब कुछ होने पर भी यदि कोई अनाघ्रात, अनास्वादित, अदृष्ट, अस्पृष्ट एवं अश्रुत जीव का समादर करता हुआ स्वर्ग एवं अपवर्ग आदि सुख की समीहा से विभ्रम वश सिर एवं दाढ़ी के केशों का मुण्डन करवा कर, अत्यन्त दुरूह व्रतों का धारण कर, कठिन तपश्चर्या कर, अत्यधिक दुःसह प्रखर सूर्य के ताप को सहन कर इस दुर्लभ मानव जन्म को नीरस बनाता है तो वह वास्तव में महामोह के दुष्चक्र में घिरा दया का ही पात्र कहा जा सकता है[1]। आवश्यक यह है कि हम इस प्रकार के दुष्चक्र से बाहर निकल कर वास्तविकता को स्वीकार करें। इस प्रकार की भूमिका का निर्माण ही चार्वाक दर्शन का मूल लक्ष्य है।

चार्वाक का नव्य एवं प्राच्य भेद

चार्वाक दर्शन की प्रस्तावना के साथ ही प्रायः हर दर्शन अपने मत की स्थापना करता है। जब चार्वाक का खण्डन अपने-अपने सम्प्रदाय के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने किया तब चार्वाक ने भी आवश्यकतानुसार अपनी मान्यताओं में अपरिहार्य एवं लोकानुमत परिष्कार को सहर्ष मान्यता दी। जिस प्रकार न्याय दर्शन में प्राचीन एवं नव्य दो धाराएँ काल क्रम से आवश्यकता के आधार पर विद्वानों के समक्ष उपस्थित हुईं उसी प्रकार चार्वाक दर्शन की भी दो विचारधाराओं का प्राच्य एवं नव्य रूप में समाज के समक्ष प्रादुर्भाव हुआ।

जब चार्वाक ने प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण मानने वालों से कहा कि प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है इससे अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं है। तब कुछ सहज प्रश्न अन्य दर्शन के आचार्यों ने उठाये जो चार्वाक को भी समुचित लगे।

उदाहरणार्थ जब न्यायदर्शन के आचार्यों ने कहा कि यदि अनुमान प्रमाण नहीं है तो किसी व्यक्ति के मुख मण्डल पर आविष्कृत रेखाओं को देख चार्वाक भी सुख दुःख आदि भावों को कैसे जान सकता है? जब कहीं भवन के ऊपर गगन को चूमती धूएँ की रेखा दिखायी पड़ती है तो क्या जन सामान्य को जो मकान पर आग की निश्चयात्मक अनुमिति होती है वह चार्वाक को नहीं होती है? इस तरह के तलस्पर्शी प्रश्नों के फलस्वरूप चार्वाक की नव्य परम्परा ने अपने विचारों को किंचित् परिष्कृत अवश्य कर लिया।

---

१. तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवंचना। अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते।।
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्तवद्वैषयिकं सुखम्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।
षड्दर्शनसमुच्चय-पृ० ४५३

नव्य परम्परा में अनुमान एवं गगन मान्य

यही कारण है कि नव्य चार्वाकों ने अनुमान को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लिया। इतना अवश्य है कि उसी अनुमान को चार्वाक की इस नवीन धारा ने स्वीकार किया जो लोक प्रसिद्ध व्यवहार को उपपन्न करने के लिए अपरिहार्य थे।[1] जैसे धूएँ को देख आग का अनुमान। मुख पर उभरी रेखाओं को देख सुख या दुःख का अनुमान। परन्तु अलौकिक धर्म एवं अधर्म को स्वर्ग या नरक को सिद्ध करने वाले अनुमान का तो चार्वाकों ने एक मत से खण्डन ही किया है।

इसी क्रम में नव्य चार्वाकों ने चार भूतों को मानने की परम्परा को परिष्कृत कर पाँच भूतों को स्वीकार कर लिया। सर्वमान्य अवकाश रूप आकाश को न मानना सम्भवतः चार्वाक के लोकायत स्वरूप को ही छिन्न-भिन्न कर देता। इसीलिए अपने स्वरूप की रक्षा करते हुए अवकाश के रूप में प्रसिद्ध आकाश को स्वीकार कर[2] नव्य चार्वाकों ने बुद्धिमानी का ही परिचय दिया है।

इस प्रकार आत्मा शरीर ही है। परमात्मा लोक में प्रसिद्ध राजा है। मोक्ष शरीर का नष्ट होना ही है।[3] स्वर्ग आदि लौकिक दृष्टि से परे कोई परलोक नहीं हैं। इस लोक में अनुभूत विशिष्ट सुख ही स्वर्ग है। इसी प्रकार दुःख के कारण कण्टक आदि से उत्पन्न इस लोक में अनुभूत दुःख ही नरक है।[4] कोई अमर नहीं है। सबकी मृत्यु एक दिन होती ही है। इन धारणाओं से अभिभूत चार्वाक की स्पष्ट अवधारणा है कि जब तक मानव जीवन है तब तक सुख के साथ जीना चाहिए। दूसरों से ऋण लेकर भी घी पीना सम्भव हो तो निःसंकोच पीना चाहिए[5]। ऋण न दे पाने के डर से या पुनर्जन्म होने पर लिए गये ऋण का कई गुना अधिक उस व्यक्ति को वापस करना पड़ेगा इस भय से व्यग्र न हों क्योंकि शरीर के श्मशान में भस्म हो जाने पर देह का पुनः जन्म कथमपि सम्भव नहीं है।

---

१. "मानं त्वक्षजमेव हि" हिशब्दोऽत्र विशेषणार्थो वर्तते। विशेषः पुनश्चार्वाकैर्लोकयात्रानिर्वहणप्रवणं धूमाद्यनुमानमिष्यते क्वचन न पुनः स्वर्गादृष्टादिप्रसाधकमलौकिकमनुमानमिति।
-षड्दर्शनसमुच्चय- पृ० ४५७

२. केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पंचमं भूतमभिमन्यमानाः पंचभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति।
षड्दर्शन समुच्चय-पृ०४५०

३. लोकसिद्धो भवेद् राजा परेशो नाऽपरः स्मृतः। देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते।।
सर्वदर्शन सं०- पृ० ६

४. अंगनाऽऽलिंगनाजन्यसुखमेव पुमर्थता। कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते।। सर्वदर्शन सं०-पृ० ६

५. यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

तत्त्व मीमांसा

इस दर्शन में पृथिवी जल तेज एवं वायु ये चार भूत ही तत्त्व के रूप में माने गये हैं। वास्तव में ये तत्त्व द्रव्य ही हैं। काल दिशा आत्मा एवं मन द्रव्य या तत्त्व के रूप में चार्वाक दर्शन में मान्य नहीं हैं। क्यों कि इनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। चार्वाक यदि चार द्रव्यों को मानता है तो इन चार द्रव्यों में रहने वाले इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण ही इस दर्शन में स्वीकृत हो सकते हैं। ऐसे गुणों में रूप, रस गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार ये बाइस गुण सम्भव हैं। कर्म या क्रिया भी चार्वाक दर्शन अवश्य स्वीकार करेगा क्यों कि यह कर्म भी इस दर्शन में स्वीकृत चार द्रव्यों का असाधारण धर्म है। इनके पाँच भेद उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, एवं गमन के रूप में भी चार्वाक दर्शन में अवश्य स्वीकार्य होंगे। पर एवं अपर भेद से सामान्य भी ये मानेंगे ही। इसी प्रकार विशेष एवं समवाय एवं अभाव भी इन्हें मानना होगा क्यों कि इनका भी सम्बन्ध इनके द्वारा अभिप्रेत चार भूतों से है। यह सम्भव है कि प्राचीन चार्वाक इन गुणों में से मात्र उन गुणों को ही स्वीकार करे जो मात्र प्रत्यक्ष हैं क्योंकि इसके सिद्धान्त में अनुमान प्रमाण की मान्यता नहीं है।

काम ही परम-पुरुषार्थ

शरीर रूपी आत्मा को जो अच्छा लगे चार्वाक की दृष्टि में वही सुख है। अंगना आदि के आलिंगन आदि से जो सुख मिलता है, वही काम रूप प्रमुख पुरुषार्थ है। ये लौकिक सुख, दुःख से मिश्रित होने के कारण पुरुषार्थ कैसे हो सकते हैं? यह प्रश्न नहीं करना चाहिए। सांसारिक हर सुख, दुःख से मिश्रित तो होता ही है। बुद्धिमान् व्यक्ति दुःख को छोड़ कर केवल सुख का ही उपभोग ठीक वैसे ही करता है, जैसे आम, संतारा आदि फल का सेवन करने वाल व्यक्ति छिलके एवं गुठली का त्याग कर फल का रसास्वाद लेता है, जैसे मछली खाने वाला व्यक्ति छिलके एवं काँटे के साथ मिली मछली से काँटों एवं छिलकों को निकाल कर मात्र खाद्य अंश को ही खाता है। धान की कामना करने वाला व्यक्ति खेत से पुवाल के साथ धान को लाता तो अवश्य है, परन्तु अनपेक्षित अंश पुवाल को छोड़ कर मात्र धान का ही सङ्ग्रह करता है। फलतः संसार में दुःख के भय से अनुकूल लगने वाले सुख का त्याग कथमपि समुचित नहीं है ऐसा चार्वाक दर्शन का अभिमत है।

संसार में कभी भी यह नहीं देखा गया है कि खेतों में किसान धान के बीज इस लिए नहीं बोता है कि धान को हरिण भविष्य में खा कर नष्ट कर देंगे। देश में भिक्षुक

हैं इसलिए भोजन निर्माण के लिए कोई बटलोई चूल्हे पर न रखता हो ऐसा भी कभी नहीं देखा जाता है। इसी प्रकार यदि कोई दुःख से अत्यन्त डरने वाला व्यक्ति सुख को छोड़ देता है तो वह पशु से भी बड़ा मूर्ख ही माना जायेगा। वास्तव में यह मूर्खता से भरा ही विचार होगा कि सुख दुःख के साथ उत्पन्न होता है अतः सुख का सर्वथा परित्याग कर देना श्रेयस्कर है। क्या अपना हित चाहने वाला कोई मनुष्य कभी भी सफेद एवं अच्छे धान के दानों को केवल इस लिए छोड़ता है कि वह धान भूसी एवं अनपेक्षित धूल से युक्त है। कभी नहीं। परिणाम स्वरूप सुख पुरुषार्थ है यह सिद्ध होता है।

यदि संसार में कोई स्वर्ग आदि के रूप में अलौकिक सुख मान्य नहीं है तो विद्वान् लोग पर्याप्त धन एवं प्रयास से साध्य, यज्ञ यागादि कर्मों के अनुष्ठान में सोत्साह प्रवृत्त क्यों होते हैं? लोग अत्यन्त श्रद्धा एवं उत्साह से इन भव्य आयोजनों में तत्पर देखे जाते हैं। फलतः अलौकिक सुख स्वर्ग आदि के रूप में अवश्य मानना चाहिए यह तर्क युक्त नहीं है। इन वैदिक अनुष्ठानों को; झूठा, परस्पर विरोधी एवं पुनरुक्ति दोष से दूषित होने के कारण प्रामाणिक किसी भी प्रकार से नहीं माना जा सकता है। अपने को वैदिक मानने वाले धूर्त्त आपस में ही एक दूसरे का खण्डन करते देखे जा सकते हैं। कर्म काण्ड को प्रमाण मानने वाले विद्वान् ज्ञान काण्ड की, तथा ज्ञान काण्ड को प्रमाण स्वीकार करने वाले वैदिक विद्वान् कर्मकाण्ड की परस्पर निन्दा करते देखे जाते हैं। इस प्रकार इन वैदिको के व्यवहार से ही इन दोनों वैदिक मतों की निःसारता स्वतः सिद्ध हो जाती है।[1]

अनुमान एवं शब्द के प्रामाण्य का प्रतिषेध

स्वर्ग आदि परलोक नहीं हैं। धर्म एवं अधर्म की सत्ता नहीं है। ईश्वर कोई पारलौकिक तत्त्व नहीं है। सब कुछ इस लोक में ही है। यह तभी प्रामाणिक रूप में चार्वाक सिद्ध कर सकता है जब वह अनुमान की प्रामाणिकता का खण्डन करे। यदि अनुमान प्रमाण है तो इन पारलौकिक पदार्थों की अनुमान प्रमाण से हो रही सिद्धि को कौन रोक सकता है। इस प्रकार का प्रश्न अनुमान को प्रमाण मानने वाले विद्वानों की ओर से उठाया जाता है।

यदि अनुमान प्रमाण नहीं होता तो धूएँ को देखने के अनन्तर जनसामान्य को कभी भी आग की अनुमिति नहीं होती। जो लोग प्रेक्षावान्[2] विवेचक हैं अर्थात् प्रकृष्ट फल का

---

१. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।
सर्वदर्शन सङ्ग्रह-पृ० ६

२. प्रेक्षावतां विवेचकानां, प्रकृष्टफलोद्देशमन्तरेण शास्त्राध्ययनेऽप्रवर्तमानानाम् इति यावत्।
प्रमाण्यवाद गादाधरी-पृ० ३

नाम से उल्लेख हुए बिना जो शास्त्र के चिन्तन आदि में प्रवृत्त नहीं होते हैं, वे भी सहज रूप से अनुमान करने में प्रवृत्त देखे जाते हैं। फलतः अनुमान को प्रमाण अवश्य मानना चाहिए।

'नदी के किनारे फल रखे हुए हैं', यह वाक्य सुनने के बाद फल की कामना करने वालों में नदी के किनारे जाने के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है। इस प्रवृत्ति से यह सिद्ध होता है कि वाक्यों को सुनने के बाद भी जन सामान्य में जो सहज क्रिया होती है वह स्वतन्त्र शब्द प्रमाण मान कर शब्दबोध होने पर ही सम्भव है।

इस शब्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि, यह शब्द बिना किसी भेद भाव के अपने अर्थ का साक्षात्कार सभी को करा देता है। बस अपेक्षा इतनी ही होती है कि इसका प्रयोग व्यवस्थित रूप में किया जाना चाहिए। यहाँ व्यवस्थित रूप से तात्पर्य है कि जिन शब्दों का प्रयोग हो रहा है उनमें परस्पर आकाङ्क्षा योग्यता एवं आसत्ति आवश्यक रूप में हो। यही कारण है कि शब्द को प्रमाण मानने वालों के यहाँ शब्दमयी देवी सरस्वती[1] की विशेष मान्यता अन्य देवताओं की अपेक्षा मुक्त कण्ठ से स्वीकार की गई है।

शब्द से होने वाले बोध को चार्वाक प्रत्यक्ष नहीं कह सकता। कारण यह है कि शब्द से होने वाले बोध में, नियमित रूप से वृत्ति ज्ञान के होने के बाद आकाङ्क्षा योग्यता एवं आसत्ति के निर्णय हो जाने पर पद से होने वाले स्मरण के विषय पदार्थों के सम्बन्ध विशेष ही विषय होते हैं। शाब्दबोध में इस सम्बन्ध या अन्वय का ही विशेष रूप से बोध होने के फलस्वरूप इस शाब्दबोध को अन्वयबोध नाम से भी विद्वत् समाज में जाना जाता है।

यदि शाब्दबोध प्रत्यक्ष होता तो जैसे प्रत्यक्ष अन्य प्रकार से उपस्थित पदार्थों का भी ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से होता है उसी प्रकार शाब्दबोध भी अन्य प्रकार से ज्ञात पदार्थों का अवश्य होता। यतः शाब्दबोध में अन्य प्रकार से उपस्थित पदार्थों का बोध अनुभव सिद्ध नहीं है अतः इसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। शब्द से होने वाले बोध के अनन्तर मुझे शाब्दबोध हो रहा है इस प्रकार अनुव्यवसाय या शाब्दबोध का प्रत्यक्ष होता है। मुझे प्रत्यक्ष हो रहा है यह बोध किसी को नहीं होता है। इस कारण भी शब्द से प्रत्यक्ष होता है यह नहीं माना जा सकता है।

---

१. अनुभवहेतुः सकले सद्यः समुपासिता मनुजे। साकाङ्क्षाऽऽसन्ना च स्वार्थे योग्या सरस्वती देवी।।
शब्दशक्तिप्रकाशिका-पृ० २६५

शाब्दबुद्धि को प्रत्यक्ष मानने पर, किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष के प्रति जो शाब्दबोध की सामग्री को अवरोधक या प्रतिबन्धक माना जाता है वह नहीं माना जा सकेगा। क्यों कि जो शाब्दबोध-स्वरूप प्रत्यक्ष है उसको इस शाब्दबोध की सामग्री रोकेगी यह कैसे कहा जा सकता है? यदि कहें कि शाब्दबोध-स्वरूप प्रत्यक्ष से भिन्न प्रत्यक्ष में शाब्द सामग्री प्रतिबन्धक मानी जा सकती है। तो इस प्रकार की लम्बी कल्पना की अपेक्षा शाब्दबोध को अलग एक प्रमा मान लेने में ही लाघव है।

इन युक्तियों के आधार पर यदि प्रमाण के रूप में अनुमान एवं शब्द भी सिद्ध हो जाएँ तो जिन पदार्थों का निराकरण चार्वाक करता है वह सम्भव नहीं हो पायेगा। यही कारण है कि चार्वाक अत्यन्त प्रबल एवं स्वाभाविक युक्तियों के आधार पर अनुमान एवं शब्द की अलग प्रमाण के रूप में मान्यता का उपहास पूर्वक अत्यन्त मनोरंजक पद्धति से खण्डन करता है।

व्याप्ति की दुरवबोधता

जो लोग अनुमान को पृथक् प्रमाण मानते हैं, उनसे चार्वाक जानना चाहता है कि आप अनुमान का स्वरूप क्या मानते हैं? व्याप्ति एवं पक्षधर्मता से युक्त ज्ञान ही तो अनुमान होगा। यह ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है जब तक इस विशिष्ट ज्ञान में विशेषण के रूप में स्वीकृत व्याप्ति को न जान लिया जाय। अनुमान को प्रमाण मानने वालों के मत में उभय विध उपाधि से विधुर सम्बन्ध ही व्याप्ति है। इस व्याप्ति का ज्ञान होने पर ही अनुमिति होती है। प्रत्यक्ष की तरह चक्षु का स्वरूपतः जैसे प्रत्यक्ष प्रमा में उपयोग होता है उस प्रकार व्याप्ति की स्वरूपतः अनुमिति में कोई भूमिका सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ यह प्रश्न होता है कि व्याप्ति का ज्ञान किस उपाय से सम्भव है?

क्या व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव है? यदि हाँ तो क्या यह व्याप्ति का बाह्य प्रत्यक्ष है या आन्तर प्रत्यक्ष? व्याप्ति का बाह्य प्रत्यक्ष है यह नहीं माना जा सकता है क्यों कि वर्तमान काल में विद्यमान वस्तु में व्याप्ति का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष भले हो जाये परन्तु भूत एवं भविष्य काल में विद्यमान वस्तुओं में इस व्याप्ति का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से कथमपि सम्भव नहीं है। वस्तु में विद्यमान धर्म धूमत्व आदि के माध्यम से सभी धूम में चाहे वह भूत में हो या भविष्य में, व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है यह नहीं माना जा सकता। क्यों कि ऐसा स्वीकार करने पर व्यक्ति में व्याप्ति के अभाव की आपत्ति दुष्परिहर हो जायेगी।

व्याप्ति का आन्तर अर्थात् मन से प्रत्यक्ष होता है, यह भी नहीं मान्य हो सकता। क्यों कि अन्तःकरण या मन बहिरिन्द्रियों के सर्वथा अधीन होता है।[1] इसी लिए कभी भी

---

१. चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः। तत्त्वविवेक- २०

मन स्वतन्त्र रूप से बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए उद्यत नहीं देखा जाता है। फलतः व्याप्ति का बाह्य एवं आन्तर प्रत्यक्ष कथमपि नहीं हो सकता यह सुनिश्चित हो जाता है।

व्याप्ति का अनुमान प्रमाण से भी साक्षात्कार सम्भव नहीं है। यदि व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से माना जाएगा तो इसका तात्पर्य यह होगा कि व्याप्ति के इस अनुमान में व्याप्ति साध्य है। व्याप्ति रूप साध्य को सिद्ध करने के लिए कोई हेतु भी होगा ही। इस हेतु में भी व्याप्ति स्वरूप साध्य की व्याप्ति स्वीकार करनी होगी। और इस प्रकार इस हेतु में रहने वाली व्याप्ति की व्याप्ति के ज्ञान के लिए भी पुनः अनुमान तथा इस अनुमान में भी पुनः हेतु में विद्यमान व्याप्ति के ज्ञान के लिए पुनः अनुमान का अनुसरण करना पड़ेगा। इस तरह जब कहीं अप्रामाणिक रूप में अनन्त पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है तो इसे अनवस्था दोष कहते है। परिणाम में यह निष्कर्ष निकलता है कि व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से अनवस्था दोष के कारण असम्भव है।

व्याप्ति को शब्द प्रमाण से भी नहीं जाना जा सकता। जब शब्द से किसी अर्थ के बोध के लिए जन सामान्य प्रवृत्त होता है तब कुछ प्रसिद्ध हेतुओं या लिंगों के द्वारा उसे अर्थ विशेष में शब्द विशेष की शक्ति का बोध होता है। वे हेतु- व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्य शेष, विवृति एवं सिद्ध पद की सन्निधि के रूप में विख्यात हैं।[1] इन हेतुओं में व्यवहार को अर्थ में शब्द की शक्ति का ज्ञान कराने में सर्वोपरि माना गया है। यदि शक्ति का बोध कराने के लिए वृद्धों के व्यवहार को हेतु के रूप में प्रस्तुत करेंगे तो शक्ति रूप साध्य का अनुमान करने के लिए वृद्धव्यवहार हेतु होगा, तथा इस हेतु में व्याप्ति होगी। इस व्याप्ति का ज्ञान करने के लिए पुनः शब्द प्रमाण का सहयोग लेना पड़ेगा फलतः पुनः पूर्वदर्शित पद्धति से अनवस्था दोष की प्रसक्ति अपरिहार्य हो जाएगी। ऐसी स्थिति में शब्द भी व्याप्ति के ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है यह सिद्ध हो जाता है।

महर्षि मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि के वचनों में जैसे जन सामान्य में अगाध श्रद्धा दृष्टि गोचर होती है वैसी श्रद्धा या विश्वास धूएँ में आग की व्याप्ति या अविनाभाव है इस वचन में नहीं देखी जाती है। अतः व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए आप्त वाक्य रूप शब्द को प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता।[2]

---

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।। - शब्दशक्तिप्रकाशिका

२. "धूमधूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वासाभावाच्च।" माधवाचार्य द्वारा लिखित सर्वदर्शन की इस पङ्क्ति की हिन्दी व्याख्या करते हुए उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' लिखते हैं- "यदि कहें कि धूम और अग्नि (धूमध्वज) में अविनाभाव सम्बन्ध पहले से ही है तो इस बात पर वैसे ही विश्वास नहीं होगा जैसे मनु आदि ऋषियों की बातों पर विश्वास नहीं होता है।" मेरी दृष्टि में मूल सर्वदर्शन सङ्ग्रह का यह हिन्दी भाष्य ठीक नहीं है। - सर्वदर्शन सङ्ग्रह, पृ० १२

इतने उपयों का सहारा ले कर भी यदि व्याप्ति का बोध सम्भव नहीं होता है तो अविनाभाव या व्याप्ति के ज्ञान के बिना धूम आदि को देख कर वह्नि आदि का स्वार्थानुमान भी नहीं हो सकता। स्वर्थानुमान की असम्भावना की स्थिति में परार्थानुमान की कल्पना तो स्वतः निरस्त हो जाती है।

अनुमान को प्रमाण मानने वालों की यह मान्यता है कि दूसरे प्रमाण से अर्थात् प्रत्यक्ष से हेतु में व्याप्ति का ज्ञान करने के अनन्तर धूम को पर्वत पर देखने के बाद व्याप्ति का स्मरण होता है तथा व्याप्ति से विशिष्ट धूम के पर्वत में रहने का ज्ञान या पक्षधर्मता ज्ञान होने के अनन्तर पर्वत में आग है यह अनुमिति होती है। यदि शब्द से ही, व्याप्ति से विशिष्ट धूम है यह व्याप्ति-ज्ञान माना जाएगा तो जिस व्यक्ति को शब्द के माध्यम से व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है उसे धूम आदि हेतु से व्याप्ति का ज्ञान नहीं होने के कारण आग आदि का अनुमान नहीं होना चाहिए। जब कि अनुभव यही है कि शब्द से व्याप्ति के ज्ञान के बिना भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से व्याप्ति का ज्ञान होने पर भी अनुमान होता ही है। फलतः शब्द से ही व्याप्ति का ज्ञान होगा यह सिद्धान्त भी स्थिर नहीं हो पाता है।

उपमान आदि प्रमाणों से भी हेतु में रहने वाली व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है। उपमान प्रमाण से संज्ञा एवं संज्ञि अर्थात् नाम एवं नामी के बीच विद्यमान सम्बन्ध का ही बोध माना जाता है। यह सम्बन्ध वाच्यत्व वाचकत्व, वाच्यवाचकभाव, अथवा शक्ति एवं लक्षणा स्वरूप, शब्द के सम्बन्ध के रूप में विभिन्न सम्प्रदायों में प्रसिद्ध हैं। ये सम्बन्ध तो व्याप्ति के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकते। इस तरह उपमान आदि प्रमाणों की भूमिका भी व्याप्ति के अवबोध में सहज रूप में निरस्त हो जाती है।

उपाधि से विधुर सम्बन्ध रूप व्याप्ति का भी ग्रह असम्भव

दोनों प्रकार की उपाधि से विधुर या रहित सम्बन्ध को व्याप्ति कहा गया है। यह सम्बन्ध-स्वरूप व्याप्ति कभी भी दोनों प्रकार के उपाधियों से विरहित नहीं हो सकती है। संसार में जितनी उपाधियाँ हैं सब दो प्रकार की ही सम्भव हैं। या तो उपाधि प्रत्यक्ष होगी या वह अप्रत्यक्ष होगी। प्रत्यक्ष उपाधियों का विरह योग्यानुपलब्धि से हेतु में सुसिद्ध होने पर भी अप्रत्यक्ष उपाधियों का प्रत्यक्ष तो सम्बन्ध में सम्भव ही नहीं है। यदि कहें कि अप्रत्यक्ष उपाधियों का अनुमान प्रमाण से हेतु में अभाव सिद्ध किया जा सकता है तो पुनः इस अप्रत्यक्ष उपाधि के अनुमान में भी जो हेतु होगा उसमें उभयविध-उपाधि-विधुर सम्बन्ध की अपेक्षा होगी तथा यहाँ भी अप्रत्यक्ष उपाधि को सिद्ध करने के लिए पुनः अनुमान का

आश्रय लेना अपरिहार्य हो जाएगा। फलतः अनवस्था दोष वज्रलेप हो जाता है। इस तरह दोनों प्रकार की उपाधियों से विधुर सम्बन्ध रूप व्याप्ति की कल्पना भी अनुचित सिद्ध होती है।

उपाधि-लक्षण

उपाधि किसे कहते हैं? इस प्रश्न का समाधान उपाधि के लक्षण से किया जाता है। जो धर्म साध्य का व्यापक हो तथा साधन का अव्यापक हो उसे उपाधि कहते हैं।[1] उदाहरणार्थ जब हम पर्वत पर धूएँ को अग्नि से सिद्ध कर रहे होते हैं तब यहाँ अग्नि हेतु उपाधि से युक्त होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध या व्यभिचारी होता है। व्याप्यत्व का मतलब व्याप्ति ही होता है। जिस हेतु में व्याप्ति असिद्ध हो उसे ही व्यभिचारी भी तार्किकों की आप्त परम्परा में स्वीकार किया जाता है। उपर्युक्त प्रसिद्ध व्यभिचारी हेतु वाले स्थल में आर्द्र अर्थात् गीले इन्धन के संयोग को उपाधि मानते हैं। यह आर्द्र इन्धन का संयोग जो वह्नि में है वही वास्तव में धूएँ का कारण होता है, यह हर व्यक्ति का अनुभव है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पर्वत में जो धूआँ है वह आग के कारण नहीं अपितु गीली लकड़ी एवं आग से सम्बन्ध के ही कारण है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि जहाँ-जहाँ धूआँ रूप साध्य होता है वहाँ-वहाँ गीली लकड़ी का संयोग होता है, अतः गीली लकड़ी का संयोग, साध्य का व्यापक है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ आग रूप हेतु होता है वहाँ-वहाँ गीली लकड़ी का संयोग नहीं होता है, अतः गीली लकड़ी का संयोग साधन का व्यापक नहीं है अर्थात् अव्यापक है यह सिद्ध हो जाता है। अन्ततः प्रस्तुत सन्दर्भ में आर्द्र इन्धन संयोग के साध्य का व्यापक एवं साधन के अव्यापक होने के कारण गीली लकड़ी के संयोग को उपाधि की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। इस उपाधि से युक्त होने के कारण वह्नि रूप हेतु सोपाधिक होता है। यही कारण है कि वह्नि व्यभिचारी या व्याप्यत्वासिद्ध माना जाता है।

कोई हेतु उपाधि के होने मात्र से व्यभिचारी एवं उपाधि के न होने से अव्यभिचारी या सद्धेतु कैसे और क्यों हो जाता है यह प्रश्न सहज रूप में समुपस्थित होता है। यद्यपि इस प्रश्न के ऊपर विस्तार से कई तार्किक ग्रन्थों में विचार है पर विस्तार भय से यहाँ संक्षेप में ही विचार करते हैं। जब प्रस्तुत प्रसंग में उपाधि-आर्द्र इन्धन का संयोग, साध्य-धूम का व्यापक है तथा साध्य का व्यापक यह आर्द्र इन्धन का संयोग प्रकृत हेतु-वह्नि का व्यापक नहीं है यह सिद्ध हो जाता है तब यह स्वतः सिद्ध होने में कोई कठिनाई नहीं

---

१. साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः-तर्कसङ्ग्रह पृ० १५

होती कि प्रकृत साध्य-धूम भी प्रकृत हेतु-वह्नि का व्यापक नहीं है। फलतः हेतु में व्यभिचरितत्व या स्वाभाववद्वृत्तित्व सम्बन्ध से विद्यमान यह उपाधि अनायास ही साध्य के व्यभिचार का अनुमान करा देता है।

इतनी चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी हेतु में व्याप्ति तभी हो सकती है जब उस हेतु में उपाधि न हो। साध्य हेतु के मध्य सम्बन्ध व्याप्ति ही है। एक अधिकरण हेतु में यदि व्याप्ति है एवं उपाधि नहीं है तो उपाधि विधुर व्याप्ति (सम्बन्ध) हो जाती है।

साध्य का जो समव्याप्त होगा वह भी साध्य का व्यापक होगा ही। इसी लिए साध्य का जो समव्याप्त हो तथा साधन का अव्यापक हो उसे भी उपाधि कह सकते हैं। एक प्रकार से उपाधि के लक्षण में तीन विशेषण हैं। पहला विशेषण है 'साध्यव्यापकत्व'। दूसरा विशेषण है 'साधनाव्यापकत्व' तथा तीसरा विशेषण है 'साध्यसमव्याप्तत्व'। उपाधि के लक्षण में इन तीनों विशेषणों की उपादेयता है।[1]

उपाधि के लक्षण से यदि प्रथम विशेषण को हटा दिया जाय तो साधनाव्यापकत्व उपाधि का लक्षण होगा। शब्दः, अनित्यः, कार्यत्वात् इस स्थल में घटत्व उपाधि नहीं है परन्तु इसमें भी साधन कार्यत्व का अव्यापकत्व होने के कारण उपाधि का लक्षण समन्वित होने से अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। इस दोष का निवारण करने के लिए साध्यव्यापकत्व उपाधि के लक्षण में विशेषण देना होगा। घटत्व साधन का अव्यापक होने पर भी साध्य-अनित्यत्व का व्यापक नहीं है अतः अतिव्याप्ति का सरलता से निरास हो जाता है।

उपाधि के लक्षण से यदि द्वितीय विशेषण को हटा दें तो उपाधि का लक्षण साध्यव्यापकत्व होगा। यह उपाधि का लक्षण कार्यत्व हेतु में अतिव्याप्त होने लगेगा क्यों कि अनित्यत्व का व्यापक कार्यत्व भी होता है। यदि साधनाव्यापकत्व विशेषण उपाधि के लक्षण में दे दें तो कार्यत्व अनित्यत्व के व्यापक होने पर भी कार्यत्व का अव्यापक नहीं है। फलतः अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।

साध्य की समव्याप्ति उपाधि में अपेक्षित है, ऐसा अगर नहीं कहेंगे तो उपर्युक्त स्थल में अश्रावणत्व में उपाधि के लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगेगी। जहाँ जहाँ अनित्यत्व है वहाँ वहाँ अश्रावणत्व होने के कारण प्रथम विशेषण साध्यव्यापकत्व संघटित हो जाता है।

---

१. अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः। शब्देऽनित्ये साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रुण्वताम्।।
व्यावर्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमता विशेषणानि त्रीणि। तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्यैश्च।।
सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पृ० ९७

साधन कार्यत्व जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ और जगह अश्रावणत्व के रहने पर भी शब्द में अश्रावणत्व के न होने से अश्रावणत्व में साधनाव्यापकत्व भी है ही। फलतः उपाधि लक्षण की अतिव्याप्ति अपरिहार्य हो जाती है। इस अतिव्याप्ति का वारण साध्यसमव्याप्तत्व का लक्षण में निवेश कर देने से हो जाता है। अश्रावणत्व जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ आत्मा आदि में अनित्यत्व के न रहने से अश्रावणत्व का व्यापकत्व साध्य-अनित्यत्व में नहीं होता है। परिणामस्वरूप साध्य की समव्याप्तता अश्रावणत्व में न होने से अतिव्याप्ति सविधि निरस्त हो जाती है।

सम एवं असम व्याप्ति

व्याप्ति का सम एवं असम भेद से दो भेद आचार्यों को अभिमत है।[1] जहाँ साध्य एवं हेतु एक दूसरे के परस्पर व्याप्य एवं व्यापक होतें हैं उनमें सम-व्याप्ति है, यह व्यवहार होता है। जैसे शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए कार्यत्व या सकर्तृकत्व हेतु में अनित्यत्व-साध्य की सम-व्याप्ति होती है। आर्द्रेन्धन संयोग एवं धूम के बीच भी समव्याप्ति मानी जाती है।

यह देखा जाता है कि जहाँ-जहाँ साध्य-अनित्यत्व रहता है वहाँ-वहाँ हेतु-कार्यत्व रहता है। फलतः साध्य की व्यपकता हेतु में सिद्ध होती है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ हेतु-कार्यत्व होता है वहाँ-वहाँ साध्य-अनित्यत्व भी होता है। फलस्वरूप हेतु की व्यापकता भी साध्य में प्रसिद्ध हो जाती है।

पर्वतः धूमवान् वह्नेः, इस असद्धेतु वाले स्थल में हेतु- वह्नि एवं साध्य-धूम के मध्य समव्याप्ति नहीं है। इस प्रकार इन दोनों के बीच असम-व्याप्ति है यह प्रामाणिकों का व्यवहार होता है। यहाँ धूम एवं आर्द्रेन्धन संयोग के बीच समव्याप्ति होती है। पर आर्द्रेन्धन संयोग एवं आग के बीच असम व्याप्ति ही सिद्ध होती है।

जब सम एवं असम व्याप्ति एक जगह पर हो, जैसे-पर्वतः धूमवान् वह्नेः, इस असद्धेतु वाले स्थल में आर्द्रेन्धन संयोग में साध्य-धूम की सम व्याप्ति है एवं इसी आर्द्रेन्धन संयोग में हेतु-वह्नि की असम व्याप्ति है, ऐसी स्थिति में साध्य-धूम के सम व्याप्त आर्द्रेन्धन संयोग से यदि हेतु या साधन-वह्नि व्याप्त नहीं होता है अर्थात् वह्नि की व्याप्ति यदि सम-आर्द्रेन्धन संयोग में नहीं हो पाती तो हेतु को व्याप्ति हीन माना जाता है। इस प्रकार ऐसा हेतु अनुमिति में प्रयोजक भी नहीं माना जाता।

---

१. समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा तदा। समेन यदि नो व्याप्तस्तया हीनो प्रयोजकः।। - खण्डनखण्डखाद्य- पृ० ७०७

व्याप्ति ज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष

अभाव की बुद्धि के लिए अभाव के प्रतियोगी का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है, ऐसा सर्वमान्य शास्त्रीय सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में व्याप्ति-रूप सम्बन्ध में उपाधि के अभाव का ज्ञान करने के लिए उपाधि का पहले बोध अत्यावश्यक हो जाता है। इस उपाधि को जानने के लिए व्याप्ति का ज्ञान होना अनिवार्य है क्यों कि उपाधि का लक्षण व्याप्ति से समन्वित है। इस आवश्यकता को ध्यान में रख कर जब हम व्याप्ति के ज्ञान के लिए प्रवृत्त होते हैं, तब व्याप्ति के लक्षण में उपाधि का समावेश मिलता है। फलतः व्याप्ति के विज्ञान के लिए उपाधि का अवबोध अनिवार्य हो जाता है। इस तरह परस्पर व्याप्ति एवं उपाधि को जानने के लिए परस्पर एक दूसरे के ज्ञान के अपेक्षित होने से अन्योन्याश्रय दोष रूपी वज्रलेप हो जाता है।

अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि अविनाभाव या व्याप्ति का ज्ञान ऊपर चर्चित रीति से कथमपि सम्भव नहीं है। इस प्रकार व्याप्ति के दुर्बोध हो जाने से अनुमान का प्रत्यक्ष से अलग प्रमाण मानने की कल्पना दिवास्वप्न की भाँति कोरी कपोल कल्पना मात्र बन कर रह जाती है। निष्कर्ष रूप में फिर 'नाऽप्रत्यक्षं प्रमाणम्' अर्थात् प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण की मान्यता असम्भव है, यह चार्वाक का लोकायत मत ही सिद्ध होता है। चार्वाक का अभीष्ट भी यही है।

अनुमान को न मानने पर व्यवहार की अनुपपत्ति का वारण

चार्वाक यदि अनुमान प्रमाण नहीं मानेगा तो धूम को देख कर आग को जानने की प्रवृत्ति का अपलाप होने लगेगा। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए चार्वाक का कहना है कि यह प्रवृत्ति या तो प्रत्यक्ष-मूलिका है या तो भ्रम वश होती है। प्रवृत्ति होने के बाद सफलता एवं असफलता तो मणि मन्त्र एवं औषधि की तरह कभी होती है एवं कभी नहीं होती है। लोक में यह देखा जाता है कि कार्य विशेष को सम्पन्न करने के लिए हम मणि मन्त्र एवं औषधियों का जीवन में प्रयोग तो अवश्य करते हैं पर कार्य कभी सम्पन्न होता है तो कभी नहीं। ठीक उसी प्रकार धूम को देख कर वह्नि के बोध में प्रवृत्त पुरुष को पर्वत के ऊपर वह्नि के मिल जाने पर सफलता भी कभी प्राप्त होती है और कभी नहीं होती है। मणि के स्पर्श से, मन्त्र के प्रयोग से एवं औषधि विशेष के उपयोग से हमें प्रतीत होता है कि हमारा अभिलषित कार्य पूर्ण हो रहा है। परन्तु कार्य तो स्वभावतः सम्पूर्ण होता है। यदि कार्य विशेष को सम्पन्न करने के लिए विशेष कारण के रूप में मणि, मन्त्र एवं औषधियाँ

सुनिश्चित होतीं तो नियम से मणि के स्पर्श के बाद, मन्त्रों का विनियोग करने के अनन्तर एवं औषधियों के उपयोग करने के बाद निर्दिष्ट फल ऐश्वर्य आदि का लाभ एवं रोग आदि का निरास होता ही पर ऐसा लोक सामान्य में अनुभव नहीं है। फलतः जिस प्रकार ऐश्वर्य एवं रोग आदि को दूर करने की कारणता मणि, मन्त्र एवं औषधियों में नहीं है। उसी प्रकार धूम एवं वह्नि में भी कोई कार्य कारण भाव नहीं है।

स्वभाव-वाद

अब तक के विचार से यह स्पष्ट होता है कि ऐश्वर्य एवं रोग आदि की कादाचित्क अर्थात् संयोग वश कभी प्राप्ति तो कभी निवृत्ति को देख कर इनकी कारणता का निर्धारण मणि, मन्त्र एवं औषधि आदि में करना युक्तिसंगत नहीं है। इसी लिए किसी पुरुष में ऐश्वर्य का दर्शन कर इसके कारण के रूप में अदृष्ट या पाप पुण्य की कल्पना करना भी अन्याय ही है। अदृष्ट को जगत का कारण न मानने पर इस संसार की विचित्रता कैसे उपपन्न की जा सकती है? यह प्रश्न होता है। इसका समाधान करते हुए चार्वाक का बड़ा ही सहज कथन है कि यह संसार स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाता है।[1] आग गरम है, जल शीतल है एवं वायु न ठढा है न गरम अर्थात् अनुष्णाशीत है, कैसे? यह सब किसी ने बनाया नहीं है। यह सब स्वभाव से ही होता है।

चार्वाक कथा के माध्यम से एक रोचक प्रसंग प्रस्तुत कर अनुमान की निस्सारता को अत्यन्त रोचक शैली में प्रमाणित करता है -

एक परम नास्तिक चार्वाक, सपरिवार सुख पूर्वक जीवन जी रहा था। इसकी पत्नी परम आस्तिक कुल से सम्बद्ध थी। चार्वाक सदा अपनी पत्नी को अपने सिद्धान्तों को समझाने का प्रयास करता था। इसकी पत्नी पर इसके किसी भी कथन का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता था। चार्वाक धार्मिक कार्यों को करने से मना करते हुए अनुमान एवं धर्म अधर्म के प्रभाव एवं भय का निषेध करता था। पत्नी पर अपने प्रयास का प्रभाव न होता देख एक दिन उसके मन में एक उपाय सूझा। अपनी योजना के अनुसार वह अपनी आस्तिक पत्नी को एक दिन ब्राह्म मूहूर्त में बाहर ले कर निकला। नगर की बाहरी सीमा पर पहुँच कर अपनी पत्नी से मधुर भाषा में निवेदन किया। प्राण प्रिये, इस विशिष्ट शहर में अनेक प्रकाण्ड तार्किक एवं शास्त्रार्थी विद्वान् रहते हैं। जो अनुमान एवं शब्द प्रमाण का आश्रय ले कर पारलौकिक तत्त्वों की सुप्रतिष्ठा में ही अनवरत निरत रहते हैं। इन पारलौकिक पदार्थों का प्रलोभन दे कर अनुमान एवं शब्द की प्रमाणता को भी सिद्ध करने

---

१. अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथोऽनिलः। केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।।
सर्वदर्शनसङ्ग्रह- पृ० १६

का अथक प्रयास करते हैं। ये धूर्त अपने पल्लव-ग्राही पाण्डित्य से नगर के विशिष्ट विद्वान् बने बैठे हैं। इन्हीं बुद्धिहीनों के निस्सार वचनों से प्रभावित हो कर तुम स्वर्ग नरक आदि परलोकों के सम्बन्ध में निरन्तर चिन्तित रहा करती हो। आओ आज इन धूर्तों के बुद्धि वैभव की तनिक परीक्षा ले कर देखते हैं।

ऐसा कह कर नास्तिक शिरोमणि चार्वाक ने नगर के प्रमुख प्रवेश द्वार से आरम्भ कर चौराहे तक पूरे समतल धूलि भरे रास्ते में अपने हाथ के अँगूठे एवं तर्जनी तथा बीच की अँगुलियों को मिला कर दोनों हाथों के बल पर चल कर अत्यन्त कौशल का प्रदर्शन करते हुए भेड़ियों के पैरों जैसा चिह्न बना दिया। जब प्रातः काल नगरवासी भेड़िये के पैर का निशान देख कर एकत्र होने लगे तब वहाँ कई तार्किक विद्वान् भी एकत्र हो कर तर्क से, भेड़िया रात्रि में आया था क्यों कि भेड़िये के पैर का निशान दिखाई पड़ रहा है। यह सिद्ध करने लगे। वहाँ पर उपस्थित चार्वाक अपनी पत्नी का ध्यान इन चर्चाओं की ओर आकृष्ट करते हुए उपहास पूर्वक कहा कि- प्रियतमे! भेंड़ के पदचिह्नों को देखो। इतने प्रकाण्ड विद्वान् किस तरह इन चिह्नों को भेड़िये के पदचिह्न के रूप में व्यवस्थित कर अनुमान प्रमाण से रात्रि में भेड़ियों के आगमन को सिद्ध कर रहे हैं। जैसे ये विशिष्ट विद्वान् भेड़ के पदचिह्नों एवं मनुष्य द्वारा निर्मित पदचिह्नों में विवेक नहीं कर पा रहे हैं, उसी प्रकार ये सुधी-जन अन्य स्थलों में भी धर्म एवं अधर्म आदि की अनुमिति के क्रम में नितान्त भ्रान्त ही होते हैं।

ये तथाकथित विद्वान् जैसे भेड़िये के अवास्तविक पद चिह्नों को समझने वाले की दृष्टि में उपहास के पात्र बनते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति की दृष्टि में धर्म एवं अधर्म की आड़ में इन विद्वानों द्वारा किया जाने वाला ढोंग सर्वथा उपेक्षा का ही विषय बनता है। ये धूर्त विद्वान् जन सामान्य को अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए स्वर्ग, आदि सुखविशेष का प्रलोभन दे कर यह वस्तु खाने के योग्य है तथा यह वस्तु खाने के योग्य नहीं है। यह गम्य है तथा यह अगम्य है। यह छोड़ने के योग्य है तथा यह छोड़ने के योग्य नहीं है। इस प्रकार की अनेक कोरी कल्पना कर विविध द्वन्द्वों में जकड़ देते हैं। इस पद्धति से अनेक विद्वानों के द्वारा जन सामान्य प्रतारित होते रहते हैं। जन सामान्य इनकें द्वारा निर्मित मोह जाल में फँस कर इनके संकेत पर बड़े बड़े अनुष्ठानों को सम्पन्न करने एवं करवाने में अपना अमूल्य समय एवं बुद्धि वैभव का दुरुपयोग करते प्रायः देखे जाते हैं। जो लोग इनकी दुरभिसन्धि को समझते हैं उनकी तो घोर उपेक्षा के ही पात्र ये माने जाते हैं।

इस प्रकार चार्वाक अपनी पत्नी की बुद्धि-परिवर्तन में सफल हो गया। जिस प्रकार इसकी पत्नी स्वर्ग एवं नरक आदि पारलौकिक विषयों में विश्वास एवं आस्था कभी रखती थी उसी प्रकार अब चार्वाक के कथनों में अत्यन्त श्रद्धा एवं विश्वास करने लगी। इस घटना

के माध्यम से अपनी प्रेयसी की बुद्धि को अपने मत के अनुकूल बना कर पुनः आगे भी चार्वाक ने जो सदुपदेश दिया वह इस प्रकार है-

हे दिव्य दृष्टि से युक्त मेरी प्रिये! यथेच्छ भोजन करो। क्या भक्ष्य है एवं क्या अभक्ष्य है इसकी चिन्ता किए बिना मांस आदि जो कुछ अच्छा लगे निःसंकोच स्वीकार करो। यथा रुचि अभीष्ट रस का पान करो। क्या पेय है एवं क्या पेय नहीं है इसका विचार बिना किए रुचि के अनुसार मदिरा आदि का पान भी अवश्य करो। जब हम खाओ-पीयो इस वाक्य का प्रयोग करते हैं तो इसका तात्पर्य मात्र खाने एवं पीने से ही नहीं होता है। इस वाक्य के प्रयोक्ता का तात्पर्य होता है कि हर प्रकार का स्वेच्छाचरण करो। यह मानव जीवन कुछ दिनों का खेल है। जैसे बिजली कुछ समय के लिए चमकती है और कब फिर गायब हो जाती है यह कल्पना से भी परे है। इसी प्रकार यह जीवन भी क्षणभंगुर है। अतः युवावस्था बीते इसके पूर्व, पूर्ण जीवन का सुख विस्तार से अवश्य भोग लेना चाहिए। जीवन का जो रमणीय क्षण व्यतीत हो जाता है वह पुनः लौट कर कभी भी वापस नहीं आता है। इस तथ्य को भली भाँति समझ कर स्वर्ग एवं नरक के लोभ एवं भय से कभी भी विभ्रम में पड़ कर अमूल्य अवसरों का एवं अप्रतिम लौकिक सुखों का परित्याग नहीं करना चाहिए। भावी सुख के लोभ में वर्तमान सुख का कभी भी परित्याग करना बुद्धिमानी का कार्य नहीं कहा जा सकता। यह पाँच भूतो से निर्मित शरीर इसी संसार में विनष्ट हो जाता है। फलतः परलोक के भय से भयभीत नहीं होना चाहिए। इस प्रकार चार्वाक यही निष्कर्ष निकालता है कि जब तक जीवित रहो तब तक पूर्ण आनन्द के साथ खाते पीते हुए ससुख जीवन बिताओ। यही मानव सामान्य के लिए समुचित मार्ग है।

अपने कर्त्तव्य में कष्ट उठा कर भी जो उद्यत होता है वह विलक्षण सुख का एवं सन्तोष का अनुभव करता है। यह सुख वर्णनातीत है। जो मानव के कर्त्तव्य कोटि में नहीं आता है उसका अत्यन्त पीडा सह कर भी परित्याग एक तरह से आनन्द एवं सुख का ही कारण है। इस प्रकार की व्यर्थ बातें वास्तव में निस्सार ही हैं। वस्तुस्थिति तो यही है कि संसार में काम से बड़ा पुरुषार्थ कुछ और नहीं है। वर्णाश्रम से सम्बद्ध क्रियाएँ भी वस्तुतः अभीष्ट फल देने वाली नहीं हैं।[1]

कर्म एवं कर्म फल पर चार्वाक की अवधारणा

वर्णाश्रम धर्म में समुपदिष्ट स्वर्ग आदि लोक, यदि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में 'पशु की बलि के उपरान्त इस पशु को सुनिश्चित रूप से प्राप्त होता है, यह सच होता तो यजमान

---

१. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।।
सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पृ०२०

सबसे पहले अपने वृद्ध पिता की ही यज्ञ में बलि क्यों नहीं दे देता है।[1] यह प्रश्न पूछ कर चार्वाक यह तर्क बल पर सिद्ध करता है कि बलि के रूप में प्रयुक्त पशु को स्वर्ग का लाभ नहीं होता है। पशु आसानी से बलि के लिए मिल जाए एतदर्थ यह कर्म काण्ड के विद्वानों की समाज को मूर्ख बनाने का मात्र एक निन्दनीय उपक्रम ही है।

मृत प्रणियों को कर्मकाण्ड की विधि से यदि श्राद्ध कर्म करने से तृप्ति का लाभ होता तो बुझे हुए दीपक को भी दीये में विद्यमान तेल से तृप्ति अवश्य मिलती तथा प्रमाण स्वरूप प्रदीप्त दीपक में जैसे बत्ती जलते हुए आगे बढ़ती है वैसे ही बुझे हुए दीपक की भी बाती आगे अवश्य बढ़ती। ऐसा व्यवहार दीपक में नहीं देखा जाता है।[2] फलतः मृत मनुष्य को श्राद्ध से तृप्ति की बात करना भी, प्रतारण कर्म में दक्ष कर्मकाण्ड के प्रकाण्ड विद्वानों की कपोल कल्पना मात्र ही है, यह चार्वाक युक्ति पूर्वक सिद्ध करता है।

इसी प्रकार श्राद्ध कर्म यदि पितरों की तृप्ति में कारण होता तो जो लोग विदेश प्रवास के लिए जाते हैं वे अपने साथ खाद्य एवं पेय सामग्री नहीं ले जाते। घर के बन्धु जनों द्वारा घर पर ही श्राद्ध कर देने से या ब्राह्मणों को भोजन करा देने से प्रवासी परिजनों की भूख एवं प्यास अवश्य बुझ जाती।[3] पर यह होता नहीं है। परिणमस्वरूप श्राद्ध कर्म से पितरों की संतृप्ति की सम्भावना भी नितान्त उपहास का ही विषय है।

यदि स्वर्ग निवासी देवता इस पृथ्वी लोक में दान देने से संतृप्त हो जाते तो अत्यन्त ऊँचे छत पर विद्यमान परिवार के लोगों को भी नीचे स्थित गरीबों को दान देने से तृप्ति अवश्य ही होती। पर ऐसा देखा नहीं जाता है जिससे यह वैदिक कल्पना भी निराधार ही सिद्ध होती है।[4]

यदि जीव इस अत्यन्त प्रिय शरीर को छोड़ कर परलोक स्वर्ग आदि में जाता तो यह जीव इतना तो निष्ठुर नहीं ही होता कि अपने प्रियजनों के वियोग में किये जा रहे करुण क्रन्दन को सुन कर कम से कम एक बार परिजनों को आश्वस्त करने के लिए भी

---

१. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते?।। सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पृ०२० निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते। स्वपिता यजमानेन किन्तु तस्मान्न हन्यते।। विष्णुपराण, चार्वाक वर्णन, (३. १८. २५-२८) पृ० २७०

२. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्। निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः सम्वर्धयेच्छिखाम्।। सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पृ०२०

३. गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्। गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता।। सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पृ०२१ तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः। कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः।। विष्णुपराण, चार्वाक वर्णन, (३. १८. २५-२८) पृ० २७०

४. स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः। प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते।। सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पृ०२१

नहीं आता।[1] नहीं आता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई जीव नहीं है जो शरीर को छोड़ कर मृत्यु के बाद कहीं भी जाता हो।

अन्ततः चार्वाक यह सिद्ध करता है कि अपनी जीविका को समृद्ध एवं जीवित रखने के लिए कर्मकाण्ड की विविध लुभावनी योजनाओं को कुछ ब्राह्मणों ने ही बड़ी कुशलता के साथ क्रियान्वित किया है[2] तथा ये वेद के रचनाकार भण्ड, धूर्त एवं निशाचर के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यह वेद कोई अपौरुषेय वचन नहीं है। न ही इस वेद की रचना किसी सर्वशक्ति सम्पन्न परमेश्वर ने ही की है। ये वेद में विद्यमान वाक्य तो जर्भरी तुर्फरी आदि पण्डितों द्वारा ही उपदिष्ट हैं।[3]

चार्वाक वैदिक विधानों पर आपत्ति करते हुए कहता है कि हिंसा चाहे वेद में निर्दिष्ट हो या लोक में कभी भी इसे युक्तियुक्त नहीं ठहराया जा सकता।

इस प्रकार चार्वाक परलोक स्वर्ग आदि एवं धर्म अधर्म आदि की सिद्धि में उपयोगी अनुमान का सविधि खण्डन कर प्रत्यक्ष मात्र प्रमाण है एवं जो प्रत्यक्ष एवं लोकव्यवहार सिद्ध है वही तत्त्व है यह सयुक्ति सिद्ध करने में पूर्ण रूप से सफल होता है।

प्रामाणिक ग्रन्थ न होने का कारण

कभी आपने सोचा है? चार्वाक का कोई ग्रन्थ क्यों नहीं प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में, पूर्व पक्ष स्थापित करने के लिए एक मत उन-उन दार्शनिक ग्रन्थों में बना लिया गया वास्तव में कोई चार्वाक या चार्वाक का कोई मत नहीं है, ऐसा कुछ लोगों का मानना है। पूर्व पक्ष के बिना सिद्धान्त का मण्डन सम्भव नहीं है इस लिए चार्वाक के रूप में पूर्व पक्ष की कल्पना करना समुचित भी प्रतीत होता है।

ऐसा कैसे कह सकते हैं कि पूर्व पक्ष का निर्माण करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने एक कोरी कल्पना कर ली तथा ऐसी कल्पना ही चार्वाक दर्शन की पृष्ठ भूमि है? जब कि वे सारे सिद्धान्त जो शास्त्रों में कहे जाते हैं वे उन शास्त्रकारों की दृष्टि में भी सर्वसाधारण हैं, सबको मान्य हैं। जो विद्वान् पूर्वपक्ष के रूप में चाहे वेदान्त में हो, चाहे न्याय

---

१. यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः। कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।।
सर्वदर्शनसङ्ग्रह-पृ०२१

२. ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह। मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्।।
सर्वदर्शनसङ्ग्रह-. पृ०२१

३. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड धूर्तनिशाचराः। जर्भरीतुर्फरीत्यादिपण्डितानां वचः स्मृतम्।।
सर्वदर्शनसङ्ग्रह- पृ०२१

में हो, चाहे अन्य किसी भी दर्शन में हो, चार्वाक के मत को रखता है, वह मत सबको स्वीकार्य है यह स्वयं वह भी मानता है। अपने शास्त्र से सम्बद्ध लोगों को छोड़ कर, जब भी वह बात करता है तो वह स्पष्ट करता है कि यह मत सर्वमान्य है, सबको अच्छा लगता है, सब लोग इस मत को प्रायः मानने वाले हैं, ऐसा कहता है और बड़े सम्मान के साथ चार्वाक के मत को उपस्थापित करता है। एक ही किसी शास्त्र में चार्वाक का मत है यह नहीं कहा जाता है। आज से हजारों वर्ष पहले वेदों में, हर दर्शनों में, हर दर्शन की शखाओं में, चाहे वह मीमांसा हो, वेदान्त हो, व्याकरण हो, न्याय हो, सांख्य हो, योग हो और इन सारे दर्शनों की जो टीकायें और प्रटीकायें हैं उनमें चार्वाक का हम अवश्य स्मरण करते हैं तथा इसको विशेष स्थान भी देते हैं।

इतना सब कुछ होने के बाद भी चार्वाक दर्शन का कोई ग्रन्थ-स्वरूप समाज के सामने नहीं है, क्यों? आचार्य बृहस्पति के अनन्तर कोई स्वतन्त्र आचार्य-परम्परा नहीं बनी जो चार्वाक के सिद्धान्तों का सूत्र भाष्य एवं टीका प्रटीकाओं के रूप में विस्तार कर पाती। चार्वाकों का जो विभिन्न सम्प्रदायों में खण्डन हुआ उसका प्रतिखण्डन भी इसी लिए नहीं हुआ। यही कारण है कि आज चार्वाक के सिद्धान्तों का विस्तार से स्पष्ट निरूपण करने वाला कोई भी विशिष्ट ग्रन्थ सुलभ नहीं है।

चार्वाक दर्शन की समाज में समरसता

चार्वाक तो पूरे समाज में समव्याप्त है। इसे अपनी पहचान बनाये रखने के लिए विशेष वेश-भूषा, कर्मकाण्ड, एवं ग्रन्थों के अम्बार की आवश्यकता कथमपि नहीं है। चार्वाक दर्शन तो सारे समाज में हर मस्तिष्क में अनायास ही परिव्याप्त है। यहाँ तक कि विभिन्न शास्त्रों के विद्वान् भी अपने दैनिक जीवन में प्रायः चार्वाक दर्शन का ही सहज रूप में अनुसरण कर रहे होते हैं।

चार्वाक दर्शन तो इतना सहज एवं स्वाभाविक रूप में सर्वत्र समाज में आज भी अनुस्यूत है कि इसके संस्कार एवं वासना को मानव मस्तिष्क से हटाने के लिए विभिन्न भारतीय दार्शनिकों को हर स्तर पर इनके मतों का सादर उपन्यास करते हुए निरास करने के लिए कठिन प्रयास करना पड़ा है।

निष्कर्ष रूप में अन्त में यह कहा जा सकता है कि चार्वाक दर्शन में भी कई वर्ग हैं। चार्वाक दर्शन के भी कई शास्त्रीय एवं लौकिक पक्ष हैं जिनमें कुछ अवश्य संग्राह्य हैं परन्तु कुछ त्याज्य भी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम चार्वाक के वास्तविक लोकोपकारक स्वरूप को अध्ययन कर समझें एवं समाज के संगठन एवं व्यवस्था में चार्वाक

की महत्त्व पूर्ण विशिष्ट भूमिका को लोक हित की दृष्टि से उजागर करें। इस प्रकार लोक तन्त्र में लोकायत इस जनमत की क्या भूमिका है यह हम भली भाँति समझने एवं समाझाने में सफल हो सकेंगे।

इस लोकायत मत की अवहेलना करना इतना सुकर कार्य नहीं जितना कुछ लोग समझते हैं। यही कारण है कि चार्वाकों का युक्ति युक्त खण्डन करने के उपरान्त भी एक प्रकार से पराजित एवं विवशता के स्वर में न्यायकुसुमांजलिकारिका के लेखक महान् तार्किक उदयनाचार्य को नास्तिक शिरोमणि चार्वाक के लिए इस प्रकार अपने पवित्र भाव एवं सहज हृदयोद्गार व्यक्त करने पड़े-

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते।
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः।
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः।।

●●

संस्कृत वाङ्मय के बृहद इतिहास के द्वादश खण्ड में भारतीय दर्शन के प्रमुख जैन-बौद्ध-चार्वाक मतों के अवतरण से लेकर उसके विकास का क्रमबद्ध सारगर्भ विश्लेषण किया गया है।

भारतीय दर्शन की उदार चेतना "अर्हत" और "बुद्ध" को भी ईश्वर का अवतार मानती है। वैदिक दर्शन के सिद्धान्तों से भिन्न होने पर भी जैन और बौद्ध धर्म के आचार-विचार मानव जीवन की समुन्नति में उपादेय है। इस खण्ड में जैन दर्शन के अन्तर्गत-जैन दर्शन, जैन संस्कृति, जैन तार्किक और उनके न्याय ग्रन्थ, जैन दर्शन में अध्यात्म, जैन कर्म सिद्धान्त, जैन आचार मीमांसा तथा जैन पुराण साहित्य दर्शन का विस्तृत विवेचन किया गया है।

बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत-भगवान बुद्ध की शिक्षा, अट्ठारह बौद्ध निकाय, स्थविरवाद, वैभाषिक दर्शन, सौत्रान्तिक दर्शन, योगाचार दर्शन, माध्यमिक दर्शन, महायान साहित्य और उनके प्रमुख आचार्य आदि पर विचार के साथ ही चार्वाक दर्शन और चार्वाक-लोकायत के अन्तर्गत वैदिक काल से लेकर उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण तथा दार्शनिक काल में चार्वाक दर्शन के मुख्य स्रोत, तत्वज्ञान, आचार-मीमांसा, चार्वाक के सिद्धान्त, तत्व-मीमांसा तथा चार्वाक दर्शन की समाज में समरसता का सविस्तार ऐतिहासिक प्रामाणिक वर्णन इस खण्ड का वैशिष्ट्य है।